"IT IS A REPRODUCTION OF EARLIER EDITION OF BENGALI SCRIPT PUBLISHED IN THE YEAR 1955"

✲ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ✲

श्रीमत् महाकवि श्रील कविकर्णपूर गोस्वामि प्रभुपादविरचितः

श्रीश्रीअलङ्कारकौस्तुभः

श्रीहरिदास शास्त्री

* श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् *

श्रीमन् महाकवि श्रील-कविकर्णपूर गोस्वामि विरचितः

श्रीमदलङ्कारकौस्तुभः

श्रीवृन्दावनधामवास्तव्येन न्यायवैशेषिकशास्त्रि, नव्यन्यायाचार्य्य,

काव्यव्याकरणसांख्यमीमांसा वेदान्ततर्कतर्कतर्क

वैष्णवदर्शनतीर्थाद्युपाध्यलङ्कृतेन

श्रीहरिदासशर्म्मणा

सम्पादितः ।

सद्ग्रन्थ प्रकाशक :

श्रीहरिदास शास्त्री

श्रीगदाधर गौरहरि प्रेस * श्रीहरिदास निवास

कालीदह, वृन्दावन, जिला-मथुरा

(उत्तर प्रदेश) पिन-२८११२१

मुद्रक—प्रकाशक :
श्रीहरिदास शास्त्री
श्रीगदाधर गौरहरि प्रेस * श्रीहरिदास निवास
कालीदह, वृन्दावन, जिला-मथुरा (उ० प्र०)
पिन : २८११२१

प्रकाशन-तिथि—२३-२-८८

"If any defect is found in this book, please return the copy by V.P.P. to the Publisher for exchange free of cost or postage"

प्रथम संस्करण—१०००

"This publication has been brought out with Financial assistance from Government of India Ministry of Human Resource Development"

Price : Rs. 77—. (Rupees Seventy Seven only.)

प्रकाशन सहायता—७७.००

※ श्रीश्रीगौरगदाधरौ जयतः ※

विज्ञप्तिः

कलियुग पावन स्व भजन विभजन प्रयोजनावतार श्रीश्रीभगवच्छ्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु कृपालब्ध कवित्व शक्ति सम्पन्न श्रीकवि कर्णपूर गोस्वामी रचित श्रीमदलङ्कार कौस्तुभ नामक अन्वर्थनामा अनवद्य ग्रन्थ प्रकाशित हुआ।

'परमानन्द सेन' कवि कर्णपूर का पूर्वनाम है, पुरीदास नामसे भी आप ख्यात हैं। श्रीमन् महाप्रभु प्रदत्त नाम ही कर्णपूर है। श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थके आदि १०।८२ में उक्त है।

"चैतन्यदास, रामदास, आर कर्णपूर। शिवानन्देर तीन पुत्र प्रभुर भक्तशूर"

आप का जन्म—१५२४ खृष्टाब्द में काञ्चन पल्ली—कांचड़ापाड़ा नामक वङ्ग प्रदेश में हुआ था। १४९४ शकाब्दा में इन्होंने श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक की रचना की उसके चार वत्सर के पश्चात् "श्रीगौरगणोद्देशदीपिका नामक ग्रन्थ प्रणयन किया, एवं क्रमशः आनन्दवृन्दावन चम्पू, श्रीचैतन्य चरितमहाकाव्य, आर्याशतक, कृष्णाह्निक कौमुदी, अलङ्कार कौस्तुभ, श्रीमद् भागवत के दशमस्कन्ध की टीका, श्रीचैतन्य सहस्रनाम स्तोत्र प्रभृति ग्रन्थों की रचना की। पदावली साहित्य रचना में भी आपका दान अनवद्य है।

सात वत्सर वयस के समय सस्त्रीक शिवानन्द सेन जिस समय पुत्र परमानन्द सेन को पुरीधाम में अवस्थित श्रीचैतन्य महाप्रभु के समीप में उपस्थित किये थे उस समय आपने श्रीमन् महाप्रभु के पदाङ्गुष्ठ लेहन कर अपूर्व कवित्व पूर्ण एक श्लोक का विरचन इस प्रकार किया।

"श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।
वृन्दावनरमणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति ॥

चैतन्य चरितामृत ग्रन्थके अन्त्य १६।१७—७५ में लिखित है—"आर दिन प्रभु कहेन पड़ पुरीदास' एक श्लोक करि तिंहो करिला प्रकाश, सात वत्सरेर शिशु, नाहि अध्ययन। ऐछे श्लोक करे लोके चमत्कृत हन।"

रस मात्र में ही काव्य का वैशिष्ट्य है, श्रीकृष्ण भक्ति विज्ञ व्यक्तिवृन्द उस रस को प्राकृत रस एवं भगवद् विषयक रस रूप में विभक्त करते हैं।

"प्राकृत विषया भगवद्विषयश्चास्मिन् मता भेदाः।
पूर्वे पुरुबीभत्साः स्फुटमपरे सर्वशर्म दातारः।
श्रीमद् भागवताख्यः पञ्चमवेदः प्रमाणं हि ॥

यथा—न यद्वचश्चित्र पदं हरेर्यशो जगत् पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद् वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः।
नूनं दैवेन निहता ये चाच्युतकथासुधां।
हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथां पुरीषमिव विड्भुजः ॥

त्वक् श्मश्रु, रोमनख केशपिनद्धमन्त मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्त-वातं ।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढ़ा याते पदाब्ज मकरन्दमजिघ्रती स्त्री ॥
निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोभिरामात् ।
क उत्तम श्लोक गुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् । इत्यादि ।
तत् काव्यं पुं वदुद्दिष्टं दोषाद् दुष्टं गुणाद् गुणि ।
अलङ्कारादलङ्कारि क्रूराद् दोषाद् विनश्यति ।
रसा भागवतास्तेतु विज्ञातव्या रसामृतात् :
ते गम्या व्यञ्जनावृत्या यागम्या शब्दवृत्तिषु ॥''

प्राकृत में रस शब्द से निबिड़ बीभत्स रस का बोध होता है । किन्तु श्रीभगवद् विषयक रस तो प्राणि मात्र में आत्मीय बुद्धि उत्पन्न कर परम कल्याण प्रदान करता है, इस विषय में पञ्चम वेद स्वरूप श्रीमद् भागवत ही प्रमाण है । उक्त है—

सर्व सुलक्षणान्वित हृदय हारिणी वाणी भी यदि श्रीहरि के यशः वर्णन में प्रवृत्त नहीं होती है तो, उसको वायस तीर्थ कहते हैं । उच्छिष्ट गर्त्त में काक की प्रवृति होती है, किन्तु कमनीय मानस सरोवर में विहरण रत हंसगण उसको सेवन नहीं करते हैं । अर्थात् समदर्शी श्रीहरि के गुण वर्णन रत मन कभी भी मांसलनायिका वर्णन में लुब्ध नहीं होता है ।

सर्व जन हित कारिता में जो हित है, वह हित दुःखद कृत्रिम भोग्यास्पद विषय सेवन से नहीं होता है । अतएव कथित है—जो लोक विड्भोजनकारी पशु के समान असत् वार्त्ता को सुनते रहते हैं, उन सब को देवने विनष्ट किया है, जानना होगा, कारण सर्वजन हितकर अमृतमय अच्युत की चरित्र कथा को परित्याग उन्होंने किया है ।

प्राकृत में आरोपित नश्वर कान्त कान्ता बुद्धि के द्वारा रसास्वादन होता है, किन्तु विवेकी व्यक्ति का कथन है—स्त्री वृन्द, त्वक् श्मश्रु, रोम, नख केश युक्त, मांस अस्थि रक्त, कृमि, विट्, कफ, पित्त, एवं वायु पूर्ण जीवित शव का भजन कान्त मति से करती रहती हैं, वे सब ही विमूढ़ा हैं, किन्तु जिन्होंने श्रीहरि के चरणारविन्द की सुगन्ध को प्राप्त किया है, वे वैसा नहीं करती हैं ।

पशु हत्याकारी निर्दय व्यक्ति एवं आत्मघाती व्यक्ति को छोड़कर उत्तम श्लोक के गुणानुवाद से कोई भी व्यक्ति विरत नहीं होता है, क्योंकि तृष्णा शून्य व्यक्तिगण उसका गान करते हैं । और वह गुणानुवाद भवौषध होते हुये भी मन श्रवण को मुग्ध करता है ।

मानव शरीर के समान मानव रचित काव्य भी दुष्ट होता है, और गुणों से गुणी होता है, अलङ्कार से अलङ्कृत होता है, अन्यथा क्रूरादि दोष से वह व्यक्ति विनष्ट हो जाता है । रस शब्द से भागवत रस को ही कहा जाता है, उसका परिज्ञान भक्ति रसामृतसिन्धु से करना आवश्यक है, रस का जो अंश शब्द सङ्केत से ज्ञात नहीं होता है, उसका परिज्ञान भी व्यञ्जना वृत्ति से होता है ।

'विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः' भरत मुनिकृत इस सूत्र के अनुसार रस प्रक्रिया का वर्णन हुआ है । विभावयत्युत्पादयतीति विभावः कारणम् अनुपश्चात् भावो भवनं येस्य सोऽनुभावः

कार्य्यम्, विशेषेण आभिमुख्येन चरितुं शीलं यस्येति व्यभिचारी सहकारी-एतेषां संयोगाद् सम्बन्धाद् रसस्य निष्पत्ति रभिव्यक्तिः कार्य्य कारण सहकारित्वेन लोके या रस निष्पत्ति सामग्री सैव काव्ये नाटचे च विभावादि व्यपदेशा भवन्तीति सम्प्रदायः। कारणमत्र--निमित्तम्।

विभावानुभाव एवं सञ्चारिभाव के संयोग से अर्थात् सम्बन्ध से रस निष्पत्ति अर्थात् अभिव्यक्ति--साक्षात् कार होता है। लोक में कार्य्य कारण सहकारी शब्द से जिस को कहा जाता है, काव्य नाटच में उसी को विभाव अनुभाव व्यभिचारी कहते हैं।

आलम्बन उद्दीपन भेद से विभाव द्विविध है, स्थायिभाव के आश्रय को आलम्बन विभाव, एवं जो उसको उद्दीप्त करता है, उसको उद्दीपन विभाव कहते हैं।

एभिरेव व्यञ्जकैस्तु त्रिभिरुद्रेकमागतैः।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायी रसायते॥

व्यञ्जक जो विभाव अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव है, ये तीन उद्रिक्त होकर आस्वादाङ्कुर के बीज स्वरूप स्थायिभाव को रसरूप में परिणत करते हैं। अतएव वे सब रस के प्रति कारण नहीं हैं, किन्तु रसाभिव्यक्ति के प्रति कारण हैं। स्थायी की नित्यता हेतु उसके परिणाम स्वरूप रस की भी नित्यता सिद्ध है। स्थायिभाव का निरूपण यह है—

आस्वादाङ्कुरकन्दोऽस्ति धर्मः कश्चन चेतसः।
रजस्तमोभ्यां हीनस्य शुद्ध सत्त्वतया सतः॥
स स्थायी कथ्यते विज्ञैर्विभावस्य पृथक्तया
पृथग् विधत्वं यात्येषां सामाजिकतया सताम्॥

रजोगुण एवं तमोगुण रहित शुद्ध सत्त्व नाम से अभिहित चित्त का एक धर्म ही स्थायिभाव है, रजस्तमोगुण से रहित होने के कारण सामाजिक गण अविद्या रहित होते हैं। अतएव उन सबके शुद्ध सत्त्व भी माया वृत्ति नहीं है, किन्तु चिद्रूप ही है, उन सब का रसास्वादक तत्तद्धर्म निष्ठ होने पर भी ह्लादिनी शक्ति की आनन्दात्मक वृत्ति ही है। किन्तु जड़ात्मक नहीं है। कारण जड़ परिणाम स्वरूप कभी भी आनन्द स्वरूप हो ही नहीं सकता।

स्थायिभाव एक होने पर भी आलम्बन उद्दीपणात्मक विभावद्वय के भेद से स्फटिक जवाकुसुम न्यास से विभिन्नाकार होते हैं, इस प्रकार स्थायि रूप धर्म--प्रपञ्चान्तर्गत सामाजिक को रसास्वादक होता है। किन्तु भगवत् पार्षद वृन्द का वा भगवत् पार्षद के अनुगत साधक वृन्द का रसास्वादक नहीं होता है, उन सब में स्वतः सिद्ध जो सब स्थायिभाव हैं, वे ही रसास्वादक होते हैं।

स्थायिभाव अष्टविध हैं, काव्य प्रकाश के मत से निर्वेद को स्थायिभाव मान कर शान्त रस नामक नवम रस होते हैं, भोजराज के मत में वत्सलता एवं प्रेम को मानकर एकादश रस होते हैं, वात्सल्य में ममकार, एवं प्रेम में चित्त द्रव स्थायी है। अतएव रसज्ञ व्यक्तिगण दृश्य एवं श्रव्य काव्य में एकादशविध रस को मानते हैं। भक्ति रसामृत सिन्धु कारके मतमें मुख्य गौण भेद से द्वादशविध रस हैं।

शृङ्गारे रतिरुत्साहो वीरेस्याच्छोक विस्मयौ।

मुद्रक—प्रकाशक :
श्रीहरिदास शास्त्री
श्रीगदाधर गौरहरि प्रेस * श्रीहरिदास निवास
कालीदह, वृन्दावन, जिला-मथुरा (उ०प्र०)
पिन : २८११२१

प्रकाशन तिथि—२३-२-८६

"If any defect is found in this book,
please return the copy by V.P.P. to the Publisher
for exchange free of cost or postage"

प्रथम संस्करण—१०००

"This publication has been brought out with Financial assistance from Government of India Ministry of Human Resource Development"

Price : Rs. 77—. (Rupees Seventy Seven only.)

प्रकाशन सहायता—७७.००

※ श्रीश्रीगौरगदाधरौ जयतः ※

विज्ञप्ति:

कलियुग पावन स्व भजन विभजन प्रयोजनावतार श्रीश्रीभगवच्छ्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु कृपालब्ध कवित्व शक्ति सम्पन्न श्रीकवि कर्णपूर गोस्वामी रचित श्रीमदलङ्कार कौस्तुभ नामक अन्वर्थनामा अनवद्य ग्रन्थ प्रकाशित हुआ।

'परमानन्द सेन' कवि कर्णपुर का पूर्वनाम है, पुरीदास नामसे भी आप ख्यात हैं। श्रीमन् महाप्रभु प्रदत्त नाम ही कर्णपूर है। श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थके आदि १०।८२ में उक्त है।

"चैतन्यदास, रामदास, आर कर्णपूर। शिवानन्देर तीन पुत्र प्रभुर भक्तिशूर"

आप का जन्म १५२४ खृष्टाब्द में काञ्चन पल्ली–काँचड़ापाड़ा नामक वङ्ग प्रदेश में हुआ था। १४६४ शकाब्दा में इन्होंने श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक की रचना की उसके चार वत्सर के पश्चात् "श्रीगौर-गणोद्देशदीपिका नामक ग्रन्थ प्रणयन किया, एवं क्रमशः आनन्दवृन्दावन चम्पू, श्रीचैतन्य चरितमहाकाव्य, आर्य्याशतक, कृष्णाह्लिक कौमुदी, अलङ्कार कौस्तुभ, श्रीमद् भागवत के दशमस्कन्ध की टीका, श्रीचैतन्य सहस्रनाम स्तोत्र प्रभृति ग्रन्थों की रचना की। पद्यावली साहित्य रचना में भी आपका दान अनवद्य है।

सात वत्सर वयस के समय सस्त्रीक शिवानन्द सेन जिस समय पुत्र परमानन्द सेन को पुरीधाम में अवस्थित श्रीचैतन्य महाप्रभु के समीप में उपस्थित किये थे उस समय आपने श्रीमन् महाप्रभु के पदाङ्गुष्ठ लेहन कर अपूर्व कवित्व पूर्ण एक श्लोक का विरचन इस प्रकार किया।

"श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।
वृन्दावनरमणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति ॥

चैतन्य चरितामृत ग्रन्थके अन्त्य १६।७०-७५ में लिखित है—"आरे दिन प्रभु कहेन पड़ पुरीदास' एक श्लोक करि तिंहो करिला प्रकाश, सात वत्सरेर शिशु, नाहि अध्ययन। ऐछे श्लोक करे लोके चमत्कृत हन।"

रस मात्र में ही काव्य का वैशिष्ट्य है, श्रीकृष्ण भक्ति विज्ञ व्यक्तिवृन्द उस रस को प्राकृत रस एवं भगवद् विषयक रस रूप में विभक्त करते हैं।

"प्राकृत विषया भगवद्विषया श्चास्मिन् मता भेदाः।
पूर्वे पुरुबीभत्साः स्फुटमपेर सवंशर्म दातारः।
श्रीमद् भागवताख्यः पञ्चमवेदः प्रमाणं हि ॥

यथा—न यद्वचश्चित्र पदं हरेर्यशो जगत् पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्—
तद् वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः।
नूनं दैवेन निहता ये चाच्युतकथासुधां।
हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथां पुरीषमिव विड्भुजः ॥

करुणाद् भुतयो हासो दास्यंप्रीति भेयानकः।
जुगुप्सा बीभत्स संज्ञे कोपो रौद्रेऽप्नाटयगाः ॥

चित्त रञ्जक धर्म विशेष को रति कहते हैं, वह सुखभोग का आनुकूल्य करती है। उक्त चित्त रञ्जकता-प्रीति मैत्री, सौहार्द एवं भाव शब्द से अभिहित होती है।

प्रधानतः वह द्विविध हैं, सम्प्रयोग विषया, एवं असम्प्रयोग विषया, उसके मध्य में सम्प्रयोग विषय को रति शब्द से एवं असम्प्रयोग विषय को प्रीति शब्द से कहते हैं। यहाँ स्त्री पुरुष व्यवहार को बुधगण सम्प्रयोग कहते हैं। सखा की पत्नी में एवं पति के सखा में जो चित्त रञ्जकता है, उसको प्रीति कहते हैं। जिस प्रकार द्रौपदी एवं श्रीकृष्ण की पारस्परिक प्रीति है, स्त्री गण की सखी के सहित एवं पुरुष गण की सखा गण के सहित उक्त प्रीति को मैत्री कहते हैं।

रति श्चेतो रञ्जकता सुखभोगानुकूल्यकृत्।
सा प्रीति मैत्री सौहार्द भाव संज्ञां स गच्छति।
सम्प्रयोगः स्त्री पुरुष व्यवहारः सतां मतः।
असम्प्रयोग विषया सैव प्रीति निगद्यते।
सैव चेतो रञ्जकता।
सखि पत्न्यां पतिसखे द्रौपदी कृष्णयोर्यथा।
द्वयोः सखीषु सखिषु सैव मैत्री निगद्यते।
द्वयोः स्त्री पुरुषयोः स्त्रीणां सखीषु पुरुषाणां सखिषु।
मनोवृत्तिमयी प्रीति मैत्री स्पर्शादि कोचिता।
निर्विकारा सदैकभासा सौहार्द मितीष्यते।

देवता विषयक रति को भाव कहते हैं।

"सैव देवादि विषया रतिर्भावश्च कथ्यते"

वह चित्त रञ्जकता के विषय देवता, गुरु प्रभृति होने से भाव शब्द से अभिहित होती है। श्रीकृष्ण के प्रति देवत्व सर्व व्यापकत्व रूप से जो चित्त रञ्जकता रति है। वही भाव है, यही भक्ति रस होगा।

रति के अनन्तर श्रवण कीर्त्तनादि भजन पुनः पुनः होने से रति का जो उत्कर्ष होता है, वह प्रथम पाक से भाव रूप में परिणत होता है। यहाँ पाक शब्द से पुनः पुनः भजन को जानना होगा। पूर्वाचार्य्य वृन्द के मत में वह इस प्रकार है—

यथेक्षूणां रसो ह्यग्नेः पाकात् पाकान्तरे गुड़ः।
गुड़ोऽपि पाकतः पाके चरमे स्यात् सितोपला॥
सैव रतिर्भाव पूर्वराग रागाख्य पाकतः।
अनुरागः स प्रणय प्रेमाभ्यां पाक मागतः
स्नेह पाकमथो याति महारागोऽयमुच्यते॥

नैरन्तर्य्य भजन से भाव,—पूर्व राग, राग, अनुराग, प्रणय, प्रेम, स्नेह, एवं चरम अवस्था में महाभाव रूप में परिणत होता है। यही आनन्दोत्कर्ष की परमावधि रूप है।

निर्विकार चित्त में जो प्रथम विकार है— अर्थात्-रति का प्रथम पाक है, वह भाव नाम से अभिहित होता है। इस प्रकार महाभाव, गोपिकागण में ही है, अपर भक्त वृन्द में नहीं है। अतएव भा० १०।४७।५९ में उद्धव ने "कृष्णे क्वचैव परमात्मनि रूढ भावः" शब्द से उन सब के भावोत्कर्ष का कीर्त्तन किया है। भा० १०।४७।६१ में तो उन्होंने "आसामहो चरणरेणु जुषामहं स्याम्" शब्द से गोपियों की चरण रेणु की प्रार्थना की है, किन्तु सान्निध्य में रहते हुये भी कभी भी रुक्मिणी लक्ष्मी प्रभृतियों की चरण रेणु की प्रार्थना नहीं की है। शास्त्र के किसी भी स्थल में यह देखने में नहीं आता है।

सितोपला—'मिश्री--मिसरी' मत्स्यण्डिका शब्द से ख्यात है, मत्स्यण्डिका का चरम पाक से उत्पन्न पश्चिम प्रदेश में प्रसिद्ध एक प्रकार सुमिष्ट पदार्थ सितोपला होती है। यहाँ विकार शब्द का अर्थ है— अपर विषय में आसक्ति रहित चित्त में ही प्रथम विक्रिया रूप भाव होता है। जिस की अभिव्यक्ति हेतु विभावादि को कारण कहा गया है?—उसको कहते हैं—

बहिरन्तः करणयो र्व्यापारान्तर रोधकम्।
स्व कारणादि संश्लेषिचमत्कारि सुखंरसः॥

बहिरिन्द्रिय एवं अन्तरिन्द्रिय सम्बन्ध में व्यापारान्तर का रोधक-अथ च स्वकारणीभूत विभावादि के सहित सम्मिलित चमत्कार जनक जो सुख है—उसको रस कहते हैं।

उत्तम प्रकृति अनुकार्य्य गण में यह रस स्वतः सिद्ध रूप से रहता है। काव्यादि में सामाजिक वृन्द में उक्त रस आभिर्भूत होता है। उन में सर्वरसाभिव्यक्ति शाली आनन्द बीज स्वरूप एक मात्र चित्त धर्म विशेष स्थायी होता है

जिस प्रकार एक ही दधिवस्तु सिता, मरिच, कर्पूरादि के सहित मिलित होकर रसालानामकपेय वस्तु होती है, उसका आस्वादन के समय में चित्ररस का प्रत्यक्ष होता है। उस प्रकार रसका भी आस्वादन होता है। यह रस उत्तम सम्पत्ति सम्पन्न अप्राकृत अनुकार्य्यों में एवं भक्तों में होता है।

रस--आनन्द धर्मा होने के कारण, वह एक प्रकार ही होता है। किन्तु भाव ही रति प्रभृति उपाधि भेद से विभिन्न प्रकार होते हैं। जिस प्रकार शरावगत सलिल समूह का तारतम्य होने पर भी उस में सूर्य्य का प्रतिबिम्ब एक प्रकार ही होता है, रस में भी उस प्रकार उपाधिगत भेद है, आनन्द गत किसी प्रकार भेद नहीं है।

रसस्यानन्द धर्मत्वादेकध्यं भाव एव हि।
उपाधिभेदान्नानात्वं रत्यादय उपाधयः॥

जिस प्रकार सितोपला का पाकान्तर नहीं होता है, जिस प्रकार महाराग का भी परमाश्रय स्वरूप होने के कारण—पाकान्तर नहीं है, उस प्रकार रस का भी जानना होगा। अतएव रस के विविध प्रकार नहीं हैं।

प्राकृत अप्राकृत एवं आभास भेद से यह रस त्रिविध होते हैं, प्राकृत अर्थात्—लौकिक, जिस प्रकार मालती माधव निष्ठ है। अप्राकृत--जिस प्रकार श्रीकृष्ण राधादि निष्ठ है।

अनौचित्यादि प्रवर्त्तित से ही आभास होता है, वह त्रिविध है—प्रसिद्ध, कृत्रिम, एवं सिद्धि।

यदुक्तम्—यद्यप्ययं रसाभासः परोढ़ रमणीरतिः।
तथापि ध्वनि वैशिष्ट्याद्युत्तमं काव्यमेव तत्॥

रसाचार्य्य वृन्द के मत में यद्यपि परोढ़ रमणी विषयिणी रति से रसाभास होती है, तथापि ध्वनि वैशिष्ट्य हेतु वह उत्तम काव्य के मध्य में परिगणित होता है। तथापि 'रस एवं उभय का आभास एवं भाव शान्त्यादि का क्रम नहीं है। इस प्रकार कथन हेतु एवं 'आभास भी चमत्कार वशो में ध्वनि शब्द वाच्य होता है। इस प्रकार कथन हेतु प्राकृत स्थल में ध्वनि मर्य्यादा निबन्धन उसका उत्तम काव्यत्व होता है। औचित्य रीति के अनुसार उसकी उत्तमता नहीं होती है।

"अप्राकृते तु परोढ़ रमणी रतिरेव सर्वोत्तमतया भूयसी श्रूयते। न तस्या अनौचित्य प्रवर्त्तितत्वम्। अलौकिकत्व सिद्धे भूषणमेव, नतु दूषणमिति न्यायात्, तर्का गोचरत्वाच्च। तथा च (महाभारते उद्योग पर्वणि) 'अलौकिकाश्च ये भावा न तां स्तर्केण योजयेत्' इति च।

व्रज वधूनां कृष्णैक तान मानसत्वेन स्व पतिनिष्ठत्वाभावात्तेषाञ्च माया कलित तच्छायानुशीलनेन तदङ्ग सङ्गमात्, प्रत्युत केवलानुरागमात्रोपाधितया चेतोरञ्जकतायाः शुद्धत्वमेव॥"

अप्राकृत स्थल में परोढ़ रमणी रति ही सर्वोत्तम रूप से कीर्तित है। उक्त रति का अनौचित्य प्रवर्त्तितत्व नहीं है। कारण, नियम इस प्रकार है कि—अलौकिकत्व सिद्धि हेतु वह भूषण ही है, दोष नहीं है। विशेषतः उक्त प्रसङ्ग समूह तर्क गोचर नहीं हैं। जो सब भाव-अलौकिक हैं, मनुष्य मति प्रभव तर्क के द्वारा उन सब भावों की परीक्षा करना समीचीन नहीं है। महाभारत के उद्योग पर्व में इस प्रकार कथित हुआ है।

व्रजवधू वृन्द की श्रीकृष्ण में एकाग्र चित्तता हेतु स्वपतिनिष्ठता नहीं थी। एवं उन सब के माया ग्रहीत शरीर मात्र की अनुशीलन होने के कारण उन सब के पति वृन्द भी उन सब के सहित संसर्ग करने में अक्षम थे। अतएव केवल अनुरागमात्रोपाधि हेतु चित्त रञ्जकता भी विशुद्ध ही है।

शान्ति प्रभृति पञ्चविध रति के मध्य में श्रृङ्गार रति सर्वोत्तमा है। वह रति द्विविधा है। स्वकीया एवं परकीया। स्वकीया—रुक्मिण्यादि निष्ठा, एवं परकीया—व्रजसुन्दरी निष्ठा है। उक्त उभय प्रकार के मध्य में व्रजसुन्दरी की रति—सर्वोत्तमा है।

समस्त वेदेतिहास पुराणादि के मध्य में सारभूत श्रीमद् भागवत में श्रीकृष्ण ने कहा है। "न पारयेऽहं निरवद्य संयुजां" तुम सबके अनुरूप भजन करने में मैं असमर्थ हूँ। तुम सबने दुर्जर-गृह शृङ्खल को छेदन किया है। श्रीमदुद्धवने भी कहा है—जिन्होंने स्वजन एवं आर्य्यपथ को परित्याग करके भजन किया है।

श्रीमदुज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थके नायक भेद प्रकरण १६ में श्रीरूप गोस्वामि पाद ने कहा है। "अत्रैव परमोत्कर्ष श्रृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः' इत्यादौ महानुभावानां दृश्य श्रव्य काव्यादौ परकीया सर्वोत्तमतया भूयसी श्रूयते—इत्यर्थः।

रस ग्रन्थ में काव्य गत रस का विचार करना ही कर्त्तव्य है। काव्य—दृश्य एवं श्रव्य भेद से द्विविध है। दृश्य काव्य में विभावादि शब्दोपात्त एवं नटाश्रय एवं अभिनेय पदार्थाश्रय होते हैं, श्रव्य काव्य में केवल विभावादि केवल शब्दोपात्त होते हैं। अनुकार्य्य—अर्थात् नट जिसका अनुकरण करता

है, वह उसका जो रसग्रह होता है, इसकी सम्भावना क्या है ? अनुकर्त्ता अर्थात् अनुकरण कारी जो नट है, रस—तद्गत भी नहीं होता है, कारण, केवल शिक्षण एवं अभ्यासादि प्रकाश कौशल के द्वारा आस्वादकता हो नहीं हो सकती है।

कदाचित् यावतीय बाह्य वस्तु विषयक ज्ञान शून्यता दशा यदि अनुकर्त्ता में देखने में आती है तो उसको सामाजिक मान लेना चाहिये। किन्तु तादृश दशापन्न नटका उस प्रकार अनुकरण जीवन्मुक्त व्यक्ति के आहार विहार के समान प्राक्तन संस्कार से ही होता है। ऐसा कहना पड़ेगा। इस से प्रमाणित हुआ है कि—रसास्वाद सामाजिक को ही होता है।

नट वृन्द—जब अनुकार्य्य के चरित्रानुकरण करते हैं, तब उस चरित्र दर्शन श्रवण से इस प्रकार चमत् कारातिशय उत्पन्न होता है कि—उसके प्रभाव से पदार्थान्तर की उपलब्धि विलुप्त होने से तन्मात्र की स्फूर्त्ति होती रहती है। एवं रामसीता का रतिकला कौशल कैसा अद्भुत है, राम रावण का यह संग्राम कैसा विचित्र है। प्रेत पिशाचादि के ये सब कार्य्य कितने विस्मय कर हैं। इस प्रकार समस्त रसों में ही चमत् कार पूर्ण वैचित्र्यातिशय की स्फूर्त्ति होती रहती है। कारण—रस में चमत् कारातिशय ही सार पदार्थ है, जिसको छोड़कर रस--रस शब्द से अभिहित नहीं होता है। सर्वत्र ही उत्तम चमत्कार सार वस्तु रूप में प्रतीयमान होने पर समस्त रस ही उद्भूत होते हैं। विज्ञ रसज्ञ व्यक्ति वृन्द का कथन इस प्रकार ही है।

उक्त अद्भुतातिशय की स्फूर्त्ति के समय मिथ्या, संशय एवं सादृश्यादि प्रत्यय के अतिरिक्त इस प्रकार एक अनिर्वचनीय प्रत्यय विशेष का आविर्भाव होता है कि—कृत्रिम विभावादि भी अकृत्रिमवत् प्रतीयमान होते हैं। एवं चित्र लिखित रमणी की, प्रतिमादि में सुस्पष्ट प्रतीति होती है। यह रामसीता की मूर्त्ति है, यह रामचन्द्र--सीता शोक समाकुल हैं। यह है—दश कन्धर रावण, यह है—दाशरथि, यह जनोद्वेगकर भीषण व्याघ्र है। यह शव समूह के मांसादि भक्षणोन्मत्त पिशाचादि की नृत्य सङ्कुल श्मशान भूमि है।

उस समय सामाजिक गण के चित्तस्थित रजः तमोभाव--निज रस वासना से विधंति होने के कारण, उस स्वच्छतर चित्त में एक मात्र अनिर्वचनीय आनन्द का आविर्भाव होता है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—एक ही चित्त में रति, शोक, विस्मय प्रभृति यावतीय स्थायिभाव की स्थिति कैसे हो सकती है ? कारण, वे सब परस्पर इस प्रकार विसदृश होते हैं कि—उन सब की एकत्र अवस्थिति को सम्भावना ही नहीं है। एवं यति प्रभृति के चित्त में कैसे रतिस्थायी हो सकती है ? कारण, संयमी व्यक्ति वृन्द के चित्त में भय शोकादि की सत्ता ही कहाँ है ?

समाधान हेतु वक्तव्य यह है कि--आस्वादाङ्कुर के बीज स्वरूप जो अनिर्वचनीय चित्तधर्म है, वही यावतीय रसगत चमत्कारका ग्राहक है।

भयानक, बीभत्सादि काव्य एवं नाट्य में ही रस होते हैं, लौकिक में वे सब रस नहीं हैं। एतज्जन्य नाट्य में अष्टविध रसका उल्लेख किया गया है।

नाट्य व्यतीत लौकिक स्थल में जहाँ पूर्वोक्त रस लक्षण का योग है, उस प्रकार शृङ्गारादि कतिपय रसका हीं रसत्व सिद्ध होता है।

नाट्य समूह के मध्य में, शृङ्गार रस का आदित्व हेतु प्रथमतः उसको कहना उचित होने पर भी विशेष रूपसे उसका वर्णन अग्रिम ग्रन्थ में होगा। कारण, वह विस्तृत अङ्गका है, सूची कटाह न्याय से

वीर रस का वर्णन प्रथम हुआ है।

प्राकृत एवं अप्राकृत भेद से वीर रस द्विविध होने पर भी यहाँ अप्राकृत का ही उदाहरण प्रस्तुत होते, सजातीय एवं विजातीय प्रत्यालम्बन भेद से अप्राकृत वीर रस भी द्विविध होते हैं।

विजातीयालम्बन अप्राकृत वीर रस का उदाहरण—

"गुणं कर्णाक्लिष्टः कर किशलयं तूण शिखरे
धनुश्चक्रीभूतं निपतदिषुवृन्दं तत इतः।
रिपून् भूमौ सुप्तान् कलयति समं देव निकरे
जरासन्धस्याजौ जयति भुजवीर्यं मुरभिदः॥"

जरासन्ध के युद्ध में भगवान् मुरवैरी के अपूर्व भुजवीर्य्य की जय हो, जिस भुजवीर्य्य के प्रभाव से युद्धदर्शी देवगण एक ही समय देखे थे कि—भगवान् के गुण-सर्वदा आकर्ण कृषित होकर है, कर पल्लव निरन्तर तूणाग्रभाग में विराजित है, शरासन सतत वक्रीभूत होकर है। बाण समूह-अनुक्षण इतस्तत निःक्षिप्त हो रहे हैं। शत्रु समूह भी निरन्तर भूतल में प्रसुप्त हो रहे हैं।

यहाँ उत्साह स्थायी है एवं वह उभयनिष्ठ है, जरासन्ध आलम्बन विभाव है, एवं जरासन्ध के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण भी आलम्बन विभाव है। परस्पर की वीरता उद्दीपन विभाव है। बाण प्रक्षेपण विषय में हस्त लाघव—अनुभाव है। गर्व, उग्रता, अमर्ष, चपलतादि—व्यभिचारिभाव है। उन सबों के द्वारा पुष्ट होकर स्थायी भाव रसत्व प्राप्त होता है, रस अनुकार्य स्वरूप प्रकृत श्रीकृष्ण में परोक्ष एवं काव्य श्रवण हेतु सामाजिक के पक्ष में प्रत्यक्ष है। इस प्रकार अन्यान्य स्थल में विचार करना आवश्यक है।

करुण रसका उदाहरण—

दो र्गुप्तायां मधुविजयिनो हा कथं द्वारवत्या—
मन्यायोऽस्यामयमुदभवद् धन्त निष्कल्मषायाम्।
जातं जातं सुतमपहरत्येष मेऽकालमृत्युः
को मां याता हरि हरि हहा हा हता हा हता स्मः॥

अत्र शोकः, स्थायी, एष एक निष्ठः। पुत्रनाशः, आलम्बनम्, पुत्रगत ममताद्युद्दीपनम्। अनुभावः—शिरस्ताडनादिः। व्यभिचारी—विषाद-दैन्य-ग्लान्यादिः। अयन्तु सामाजिक गतएव, नानुकार्य्य गतः परोक्षेऽपि। अयं सामाजिक गतोऽप्य प्राकृतः कृष्णाश्रयत्वात्।

हाय! मधुसूदन के बाहुबल के द्वारा रक्षिता, पापस्पर्श शून्या यह जो द्वारका नगरी है, इस में भी क्या इस प्रकार अन्याय होने लगा है? जब ही मेरा पुत्र होगा, उसी समय क्या अकालमृत्यु उसको अपहरण कर ले जावेगी? हाय! इस विपद से कौन व्यक्ति मुझको उद्धार करेगा? मैं तो निहत हो गया।

यहाँ शोक स्थायी है, एवं यह एकनिष्ठ है। पुत्रनाश--आलम्बन है। पुत्रगत ममतादि--उद्दीपन है, मस्तक में कराघातादि अनुभाव है, दैन्य, ग्लानि, विषाद प्रभृति व्यभिचार भाव है।

यह रस सामाजिक गत है, यह अनुकार्य्यगत नहीं है। अनुकार्य्य का प्रत्यक्ष नहीं होता है, किन्तु सामाजिकगत होने पर भी कृष्णाश्रयता होने के कारण, यह अप्राकृत है।

अद्भुत रस का निदर्शन—

आलोकः सखि लोकलोचन मुदामुद्रैकमुद्भावयन्
सोमस्तोम निदाघधाम निवह प्रद्योत-संद्योहरः।
मेघे माधवने मणावपि घृणानिर्वाहिको नीलिमा
सामानाधिकरण्यमत्रकिमहो चित्रं तमस्तेजसोः ॥

अत्र विस्मयः स्थायी, एष एकनिष्ठः। आलम्बनं—श्रीकृष्णः, उद्दीपनं—तल्लावण्यादि, अनुभावः—रोमाञ्चादिः, व्यभिचारी--आवेग मति चापल्यादिः। अयं परोक्षोऽनुकार्य्यगतः, प्रत्यक्षः सामाजिक गतः, अयमप्राकृत एव।

हे सखि! यह अति विचित्र है कि—अन्धकार एवं तेजः, ये दो परस्पर विरुद्ध पदार्थ हैं। यह श्रीकृष्ण रूप—एक आधार में एक समय में अवस्थित है। देखो, इसकी अद्भुत नीलिमा, असंख्य सुधाकर एवं प्रभाकर की प्रभा को सहसा अपहरण करके एवं मेघ मण्डल तथा इन्द्रनीलमणि के प्रति भी घृणा उत्पादन पूर्वक लोक लोचन का अपूर्व प्रीति विस्तारकारी आलोक रूप में विराजित है।

यहाँ विस्मय स्थायी है, एकनिष्ठ है, आलम्बन—श्रीकृष्ण हैं, उद्दीपन--लावण्यादि हैं, अनुभाव--रोमाञ्चादि हैं, व्यभिचारी--आवेग मति—चापल्यादि हैं। यह परोक्ष--अनुकार्य्य गत है, प्रत्यक्ष--सामाजिक गत है, यह अप्राकृत ही है।

हास्य-रस का दृष्टान्त—

उन्मत्ताभि र्वसन्तोत्सव रभस मदैर्गोदुहां कन्यकाभिः
क्षोदैः सिन्दूर चन्द्रागुरुमलयरुहां हा धिगन्धीकृतोऽस्मि।
जाड्यं गन्धाम्बुसेकैरजनि तत इतो धावितुं नास्मि शक्तो
व्यापद्येऽहं वयस्य प्रियसखमव मां मास्त्विह ब्रह्महत्या ॥

अत्र भगवद् सखो विदूषको ब्राह्मणं बटु मधुमङ्गलो वक्ता। हासः स्थायी, एष बहु निष्ठः। आलम्बनं वसन्तोत्सवादि, उद्दीपनं विदूषकस्य वैकल्यम्, अनुभाव—नयने स्फारतादिः, व्यभिचारि--श्रम-मद-चपलता ग्लान्यादिः।

वसन्तोत्सव हेतु हर्ष एवं मदभर से उन्मत्त होकर गोपी कन्या गण—सिन्दूर कर्पूर एवं अगुरु चन्दन चूर्ण से मुझ को अन्धप्राय कर दिये हैं, अधिकन्तु अविरल सुगन्धि सलिल सिञ्चन से मुझ में जड़ता आ गई है। इतस्ततः धावित होकर पलायन करने की शक्ति भी मेरी नहीं है। हे सखा कृष्ण! मैं तुम्हारा प्रिय सखा हूँ, मेरी रक्षा करो, ब्रह्म हत्या न करो।

यहाँ विदूषक मधुमङ्गल वक्ता है, हास्य स्थायी भाव है, यह हास्य अनेक निष्ठ हैं, वसन्तोत्सव--आलम्बन है, विदूषक की विह्वलता उद्दीपन है, नेत्र विकासादि अनुभाव है, एवं श्रम, मद, चपलता ग्लानि प्रभृति व्यभिचारि भाव है।

स्मित, हास्य प्रहास, भेद से ये त्रिविध हैं। श्रेष्ठ व्यक्ति के हास्य को स्मित कहते हैं, जिस में अधरौष्ठ का स्वल्प विस्फारण होता है। दन्त श्रेणी लक्षित नहीं होती हैं। यह उत्तम है।

जिस में दशन द्युति का विकाश होता है, गण्ड स्थल में प्रफुल्लता उत्पन्न होती है, कण्ठ से किञ्चित कलस्वर निर्गत होता है, उस का नाम हास है। यह मध्यम है।

वीर रस का वर्णन प्रथम हुआ है।

प्राकृत एवं अप्राकृत भेद से वीर रस द्विविध होने पर भी यहाँ अप्राकृत का ही उदाहरण प्रस्तुत होते, सजातीय एवं विजातीय प्रत्यालम्बन भेद से अप्राकृत वीर रस भी द्विविध होते हैं।

विजातीयालम्बन अप्राकृत वीर रस का उदाहरण—

"गुणं कर्णाकृष्टं करकिशलयं तूण शिखरे
धनुश्चक्रीभूतं निपतदिषुवृन्दं तत इतः।
रिपून् भूमौ सुप्तान् कलयति समं देवनिकरे
जरासन्धस्याजौ जयति भुजवीर्यं मुरभिदः॥"

जरासन्ध के युद्ध में भगवान् मुरवैरी के अपूर्व भुजवीर्य्य की जय हो, जिस भुजवीर्य्य के प्रभाव से, युद्धदर्शी देवगण एक ही समय देखे थे कि—भगवान् के गुण–सर्वदा आकर्ण कर्षित होकर है, कर-पल्लव निरन्तर तूणाग्रभाग में विराजित है, शरासन सतत वक्रीभूत होकर है। बाण समूह–अनुक्षण इतस्तत निःक्षिप्त हो रहे हैं। शत्रु समूह भी निरन्तर भूतल में प्रसुप्त हो रहे हैं।

यहाँ उत्साह स्थायी है, एवं वह उभयनिष्ठ है, जरासन्ध आलम्बन विभाव है, एवं जरासन्ध के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण भी आलम्बन विभाव है। परस्पर की वीरता उद्दीपन विभाव है। बाण वर्षण विषय में हस्त लाघव—अनुभाव है। गर्व, उग्रता, अमर्ष, चपलतादि—व्यभिचारिभाव है। उन सबों के द्वारा पुष्ट होकर स्थायी भाव रसत्व प्राप्त होता है, रस अनुकार्य्य स्वरूप प्रकृत श्रीकृष्ण में परोक्ष एवं काव्य श्रवण-हेतु सामाजिक के पक्ष में प्रत्यक्ष है। इस प्रकार अन्यान्य स्थल में विचार करना आवश्यक है।

करुण रसका उदाहरण—

दोर्गुप्तायां मधुविजयिनो हा कथं द्वारवत्या—
मन्यायोऽस्यामयमुदभवद् धन्त निष्कल्मषायाम्।
जातं जातं सुतमपहरत्येष मेऽकालमृत्युः
को मां याता हरि हरि हहा हा हतो हा हतो स्मः॥

अत्र शोकः, स्थायी, एष एक निष्ठः। पुत्रनाशः, आलम्बनम्, पुत्रगत ममताद्युद्दीपनम्। अनुभावः—शिरस्ताडनादिः। व्यभिचारी—विषाद-दैन्य-ग्लान्यादिः। अयन्तु सामाजिक गतएव, नानुकार्य्य गतः परोक्षेऽपि। अयं सामाजिक गतोऽप्ये प्राकृतः कृष्णाश्रयत्वात्।

हाय! मधुसूदन के बाहुबल के द्वारा रक्षिता, पापस्पर्श शून्या यह जो द्वारका नगरी है, इस में भी क्या इस प्रकार अन्याय होने लगा है? जब ही मेरा पुत्र होगा, उसी समय क्या अकालमृत्यु उसको अपहरण कर ले जावेगी? हाय! इस विपद से कौन व्यक्ति मुझको उद्धार करेगा? मैं तो निहत हो गया।

यहाँ शोक स्थायी है, एवं यह एकनिष्ठ है। पुत्रनाश--आलम्बन है। पुत्रगत ममतादि--उद्दीपन है, मस्तक में कराघातादि अनुभाव हैं, दैन्य, ग्लानि, विषाद प्रभृति व्यभिचार भाव हैं।

यह रस सामाजिक गत है, यह अनुकार्य्यगत नहीं है। अनुकार्य्य का प्रत्यक्ष नहीं होता है, किन्तु सामाजिकगत होने पर भी कृष्णाश्रयता होने के कारण, यह अप्राकृत है।

अद्भुत रस का निवर्णन—

आलोकः सखि लोकलोचन मुदा मुद्रैक मुद्भावयन्
सोमस्तोम निदाघधाम निवह प्रद्योत-संद्योहरः।
मेघे माधवने मणावपि घृणानिर्वाहिको नीलिमा
सामानाधिकरण्यमत्र किमहो चित्रं तमस्तेजसोः ॥

अत्र विस्मयः स्थायी, एष एकनिष्ठः। आलम्बनं—श्रीकृष्णः, उद्दीपनं—तल्लावण्यादि, अनुभावः—रोमाञ्चादिः, व्यभिचारी--आवेग मति चापल्यादि। अयं परोक्षोऽनुकार्य्यगतः, प्रत्यक्षः सामाजिक गतः, अयमप्राकृत एव।

हे सखि ! यह अति विचित्र है कि—अन्धकार एवं तेज;, ये दो परस्पर विरुद्ध पदार्थ हैं। यह श्रीकृष्ण रूप—एक आधार में एक समय में अवस्थित है। देखो, इसकी अद्भुत नीलिमा, असंख्य सुधाकर एवं प्रभाकर की प्रभा को सहसा अपहरण करके एवं मेघ मण्डल तथा इन्द्रनीलमणि के प्रति भी घृणा उत्पादन पूर्वक लोक लोचन का अपूर्व प्रीति विस्तारकारी आलोक रूप में विराजित है।

यहाँ विस्मय स्थायी है, एकनिष्ठ है, आलम्बन—श्रीकृष्ण हैं, उद्दीपन--लावण्यादि हैं, अनुभाव--रोमाञ्चादि हैं, व्यभिचारी--आवेग मति—चापल्यादि हैं। यह परोक्ष--अनुकार्य्य गत है, प्रत्यक्ष--सामाजिक गत है, यह अप्राकृत ही है।

हास्य रस का दृष्टान्त—

उन्मत्ताभि र्वसन्तोत्सव रभस मदैर्गोदुहां कन्यकाभिः
क्षोदैः सिन्दूर चन्द्रागुरुमलयरुहां हा धिगन्धी कृतोऽस्मि।
जाड्यं गन्धाम्बुसेकैरजनि तत इतो धावितुं नास्मि शक्तो
व्यापद्येऽहं वयस्य-प्रियसखमिव मां मस्त्विह ब्रह्महत्या ॥

अत्र भगवद् सखो विदूषको ब्राह्मण वटु मधुमङ्गलो वक्ता। हासः स्थायी, एष बहु निष्ठः। आलम्बनं वसन्तोत्सवादि, उद्दीपनं विदूषकस्य वैक्लव्यम्, अनुभाव—नयन स्फारतादिः, व्यभिचारि--श्रम-मद-चपलता ग्लान्यादिः।

वसन्तोत्सव हेतु हर्ष एवं मदभर से उन्मत्त होकर गोप कन्या गण—सिन्दूर कर्पूर एवं अगुरु चन्दन चूर्ण से मुझ को अन्धप्राय कर दिये हैं, अधिकन्तु अविरल सुगन्धि सलिल सिञ्चन से मुझ में जड़ता आ गई है। इतस्ततः धावित होकर पलायन करने की शक्ति भी मेरी नहीं है। हे सखा कृष्ण ! मैं तुम्हारा प्रिय सखा हूँ, मेरी रक्षा करो, ब्रह्म हत्या न करो।

यहाँ विदूषक मधुमङ्गल वक्ता है, हास्य स्थायी भाव है, यह हास्य अनेक निष्ठ हैं, वसन्तोत्सव--आलम्बन है, विदूषक की विह्वलता उद्दीपन है, नेत्र विकासादि अनुभाव है, एवं श्रम, मद, चपलता ग्लानि प्रभृति व्यभिचारि भाव है।

स्मित हास्य प्रहास, भेद से ये त्रिविध हैं। श्रेष्ठ व्यक्ति के हास्य को स्मित कहते हैं, जिस में अधरोष्ठ का स्वल्प विस्फारण होता है। दन्त श्रेणी लक्षित नहीं होती है। यह उत्तम है।

जिस में दशन द्युति का विकाश होता है, गण्ड स्थल में प्रफुल्लता उत्पन्न होती है, कण्ठ से किञ्चित कलस्वर निर्गत होता है, उस का नाम हास है। यह मध्यम है।

जिस हास्य से शरीर घूर्णित एवं नयन रक्तवर्ण एवं अश्रुपूर्ण होते हैं, उत्कट कटु शब्द के सहित मुख गह्वर विस्तृत होता है, एवं दन्त पङ्क्ति प्रकाशित होती है, उसको प्रहास कहते हैं। यह अधम है।

अधरोष्ठ स्फुरितश्च सृक्कण्योरेव विस्फुरत्
अलक्षित द्विजं धीरा उत्तमानां स्मितं विदुः।
विकसद् दशन ज्योतौ गण्डा भोगे प्रफुल्लता
किञ्चित् कल कण्ठरवो यत्र हासः स मध्यमः।
सघर्मः साश्रुताम्राक्षः स्फुट घोर कटुस्वनः।
व्यात्ताननो व्यक्त दन्तः प्रहासो ग्राम्य उच्यते।।

भयानकः—दंष्ट्रा कोटि कठोर कूट कटुता ब्रह्माण्ड भाण्डस्थितं
सर्वं चर्वयसीव हन्त वदनेनोद्गीर्ण पूर्णार्चिषा।
जिह्वाग्रेण समग्र मुग्र महसा लेलिह्यसे रोदसी
त्रस्तं मामिह पाहि पाहि भगवन् पार्थोऽद्य पार्थोऽभवम्।।

अत्र अर्जुनस्य भयं स्थायी, सचेतनिष्ठः। आलम्बनं—विश्वरूप प्रदर्शकः श्रीकृष्णः, उद्दीपनं—तद्गत दंष्ट्रादि, अनुभावः—पाहि पाहीति कातर्यम्, व्यभिचारी—अपार्थोऽभवमिति दैन्यम्। एव च कृष्णालम्बनत्वात् समग्रोऽस्मिन्ध्येऽनुकार्येऽपि रसता प्राक् प्राप्त एव। अत्र भयेऽपि कृष्ण स्फूर्तेस्तत् सम्बन्धादानन्द एवेत्यप्राकृत एवं, न तु शार्दूलादि आलम्बनेन मर्कटादेः भय विनानन्दः। सति शौर्ये उत्साह एव स्थायी भवति। तेन कदाचित् तत्र जायते, न भयम्। तेन प्राकृते न रसता।।

भयानक रस का दृष्टान्त—तुम्हारे जो वक्त्र मण्डली कठोर पर्वत शृङ्ग के समान दन्ताग्र भाग के द्वारा उत्कट है, जिस में पूर्ण ज्योतिः उद्गीर्ण हो रही है, उस के द्वारा ब्रह्माण्ड भाण्डस्थित पदार्थ जैसे चर्वित हो रहे हैं, और उग्र दीप्ति इस प्रकार है, जिस के द्वारा समस्त स्वर्ग मर्त्य लोक जैसे लेहित हो रहे हैं। हे भगवन्! मेरी रक्षा करो, रक्षा करो, मैं नितान्त भीत हूँ। मेरा 'पार्थ' नाम आज व्यर्थ हो गया।

यहाँ अर्जुन का भय स्थायी है, वह एक निष्ठ है, विश्वरूप प्रदर्शक श्रीकृष्ण आलम्बन है, तदीय दंष्ट्रादि—उद्दीपन है, रक्षा करो, रक्षा करो, यह कह कर जो कातरता प्रकटित हुई है, वह अनुभाव है। मेरा पार्थत्व व्यर्थ हुआ है इस वाक्य से जो दैन्य प्रतीत होता है, वह व्यभिचारि भाव है।

यहाँ श्रीकृष्ण आलम्बन होने के कारण, हेतु समूह का सन्निधान होने से अनुकार्य रूप अर्जुन में प्रथम ही रसत्व हुआ है। भय में भी कृष्ण स्फूर्ति होने के कारण, कृष्ण सम्बन्ध में आनन्दोदय हुआ है, सुतरां उसका अप्राकृत कहना होगा। शार्दूलादि स्थल में शार्दूलादि आलम्बन के द्वारा भय व्यतीत मर्कट में आनन्दोत्पत्ति नहीं हुई है। शूरता की विद्यमानता में उत्साह ही स्थायी होता है। उस में कदाचित् भयत्व की उत्पत्ति हो सकती है। उस स्थल में वैसा सम्भव नहीं है। अतएव प्राकृत स्थल में उसका रसत्व नहीं है।

अथ बीभत्सः—वैद्येन्द्रुणामथित वपुषामन्त्र मेदोऽस्थि मज्जा
मांसासृक्स्थपुट पटलीस्वाद मोद प्रमत्ताः

कौमोदक्या मधुविजयिनः कीर्त्तिमुत् कीर्त्तयन्तः
सार्द्धं गृध्रै विदधति मुदं प्रेतरङ्का विशङ्काः ॥

अत्र देवासुर संग्रामावसानमालोकयतां व्योम चारिणां जुगुप्सा स्थायी, स चैक निष्ठः। शवशरीराद्या-लम्बनम्, प्रेतरङ्काद्युद्दीपनम्, अनुभावः—मुख विकृत्यादिः, व्यभिचारि--ग्लानि दैन्यादिः। एतैः परिपुष्टा जुगुप्सा जुगुप्सैव यद्यपि, तथापि भगवत्कृतिरियमिति भगवत् स्मरणादेवानन्दः। प्राकृते तु न ह्यानन्दः, अपि तु नट व्यापारं दर्शनात् सामाजिकानामिव तत्र रसः।

बीभत्स रस का निदर्शन—कौमोदकी गदा का आघात से मथित देह दैत्येन्द्र वृन्दका, अन्त्र, मेद होने के कारण—दरिद्र प्रेतवर्ग निर्भय से अस्थि, मज्जा मांस, शोणित, त्वक्, नाड़ी ग्रन्थि प्रभृति का स्वाद ग्रहण पूर्वक आनन्द से उन्मत्त होकर मधु सूदन की कीर्ति का कीर्त्तन करते करते गृध्र कुलके सहित महा आनन्द प्रकाश कर रहे हैं।

इस में देवासुर संग्राम समाप्ति के समय संग्राम दर्शन कारी गगन विहारीओं में जुगुप्सा स्थायीभाव है। यह एक निष्ठ है। शव शरीरादि--आलम्बन हैं। प्रेतवृन्द—उद्दीपन है, मुख विकृति प्रभृति--अनुभाव हैं, ग्लानि दैन्यादि व्यभिचारी हैं।

उक्त सामग्री समूह के द्वारा परिपुष्ट जो जुगुप्सा है—वह जुगुप्सा है—वह जुगुप्सा व्यतीत अपर कुछ भी नहीं है। तथापि वह भगवान् का कार्य्य होने के कारण अन्यका स्मरण से आनन्दोदय हुआ है। प्राकृत स्थल में उस प्रकार आनन्द नहीं हो सकता है। वहाँ नट के प्रयत्न को देखकर सामाजिक में रसाविर्भाव होता है।

अन्य उदाहरण यह है—

दृशैव करुणार्द्रया सह चरान् समुज्जीवय-
न्नघस्य जठरं गतो गरल जातवेदो व्यसून्।
तदन्त्र धमनी वसा रुधिरमज्जलालादिभि-
प्लुतोऽप्यनवलिप्तवच्छुचिरुचिः स जीयाद्धरिः॥

अत्र भगवत एवानन्दत्वात्तदन्त्रादि दर्शनेनाप्यानन्द एव लीलावताम्,
तथात्वाद्भक्तानाञ्च सामाजिकानाञ्च तस्य स्फुर्त्तावेव॥

विषाग्नि के द्वारा जिन सब सहचर का जीवनान्त हुआ था, करुणार्द्र दृष्टि पात से ही उन सबको उज्जीवित करके अघासुर के जठर के मध्य में प्रवेश पूर्वक जो भगवान् उस असुर के अन्त्र, धमनी, वसा, रुधिर, मज्जा, लालादि द्वारा आप्लुत होकर भी उन सब के द्वारा अस्पृष्ट के समान निर्मल कान्ति से प्रकाशित हुये थे, उन श्रीभगवान् की जय हो।

यहाँ भगवान् की आनन्द रूपता हेतु अन्त्रादि को देखकर लीला परायण पार्षदवृन्द में भी आनन्दोदय हुआ था। कारण, वे सब भी आनन्दमय हैं। भक्तिमय्येण सामाजिक की आनन्दस्फूर्त्ति के स्थल में ही रसाविर्भाव होता है।

अथ रौद्रः—"स्पर्शेनापि न वेद्य एव भवता मृत्योर्मुखं गच्छता।

कि दोर्मण्डलचण्डिमैव भवते विज्ञापनीयो मया।
येनाखण्डलशौण्डच्यं खण्डन कृता गेण्डूकृतोऽयं गिरिः
किं रे कष्टमरिष्ट दुष्ट तनुषे गोष्ठस्य न तिष्ठ रे॥"

अत्र कोपः स्थायी, एष एकनिष्ठ उभय निष्ठश्च, अत्र तूभय निष्ठ एव। आलम्बनमन्योऽन्यम्। उद्दीपनम्—अन्योन्यविक्रमः, अनुभाव-वागाडम्बरादिः, व्यभिचारी—गर्वादिः। एवं स्फुटोऽयं रसः। स च भगवति परोक्षः, सामाजिके प्रत्यक्षः। आद्ये विजातीयालम्बनोऽप्राकृतः, द्वितीयेऽप्राकृत एव॥

रौद्र रस का दृष्टान्त यह है—हे दुरात्मन् अरिष्ट! तु हमारे गोष्ठ का उत्पीड़न कर रहा है? मुहूर्त्त काल अपेक्षा कर, अथवा, तू स्पर्श मात्र से ही मर जायेगा। तू मुझको कैसे जानेगा? मेरे बाहु मण्डलकी प्रचण्डता का अनुभव तेरे को कैसे कराऊँगा? इस भुजदण्ड से आखण्डल का पराक्रम खण्डित हुआ था। इस के प्रभाव से ही गोवर्द्धन गिरि कन्दुकवत् उत्क्षिप्त हुआ था।

यहाँ कोप स्थायी है, वह एकनिष्ठ एवं उभयनिष्ठ है। यहाँ उभय निष्ठ है। उभय ही उभय का आलम्बन हैं। परस्पर का आलम्बन-उभय ही हैं। परस्पर का विक्रम- उद्दीपन है, वागाड़म्बरादि- अनुभाव है, गर्वादि व्यभिचारी है, इस रीति से यह रस परिपुष्ट हुआ।

यह रस भगवान् में परोक्ष एवं सामाजिक में प्रत्यक्ष है। प्रथमोक्त एक निष्ठता स्थल में वह विजातीय आलम्बन भी अप्राकृत है। द्वितीयोक्त स्थल में वह अप्राकृत नहीं है।

अथ शान्तः—वयोजीर्णं हाधिक् तदपि नहि जीर्णो मदभरः
श्लथं चर्म्माङ्गेयस्तदपि नहि रागः श्लथ इव।
रदाः शीर्णाः शीर्णस्तदपि नहि मोह कथमयं
जनः कंसारातेश्चरणकमलाय स्पृहयतु॥

अत्र निर्वेदः स्थायी, सचैक निष्ठः आलम्बनं—संसार दुःखम्, उद्दीपनं—पुण्य तीर्थादि, अनुभावः- विषयासक्तित्यागः, व्यभिचारी—मति- स्मृति-धृत्यादि। एष रसोऽनुकार्य्ये परोक्षः, सामाजिके प्रत्यक्षः। चमत्कारी चायम्।

शान्त रस का उदाहरण—वयस जीर्ण हुआ, किन्तु मदका प्राबल्य कुछ भी जीर्ण नहीं हुआ। प्रत्येक अङ्ग के चर्म्म शिथिल हुआ, किन्तु विषय राग शिथिल नहीं हुआ। दन्त समुह शिथिल हो गये, किन्तु मोह अणुमात्र भी शिथिल नहीं हुआ। यह अधम व्यक्ति, कैसे कंस ध्वंस कारी श्रीकृष्ण के पादपद्म के प्रति स्पृहाशील होगा?

यहाँ निर्वेद स्थायी है, यह एक निष्ठ है। संसार दुःख--आलम्बन है, पुण्य तीर्थादि--उद्दीपन है, विषयासक्ति त्याग—अनुभाव है। मति धृति--स्मृति--व्यभिचारि भाव है। यह रस--अनुकार्य में परोक्ष, एव सामाजिक में प्रत्यक्ष है, अति चमत्कारजनक भी है। महाभारत मे लिखित है—

"यच्च कोम सुखं लोके यच्च दिव्यसुखं महत्।
तृष्णाक्षय सुखस्यैते नार्हतः षोड़शीं कलाम्॥"

इस में चमत्कारातिशय के अतिशय्य हेतु आनन्द का आतिशय्य होता है। एवं कृष्ण भक्ति में

उपयोग होने से यह रस अप्राकृत होता है। जिस प्रकार निर्वेद व्यभिचारी होकर भी शान्तरस स्थायिता प्राप्तकर रस रूप होता है। उस प्रकार उक्त रति देवादि विषया होने से भाव शब्द से अभिहिता होती है। इस वाक्य में उल्लिखित पारिभाषिक भाव ही स्थायित्व को प्राप्तकर उस विभावादि सामग्री सम्मिलन से भक्ति रस में परिणत होता है। उक्त भक्ति रस—श्रीकृष्णाश्रित होकर रत्यादि विविध स्थायिभाव के सहित मिलित होकर दशविध होते हैं। उक्त भेद समूह का उदाहरण— ग्रन्थान्तर में देख लेना चाहिये।

अथ वात्सल्यम् —"आराज्जानुकरोपसर्पण परो जातस्मितं सत्वर

शङ्कारोह मनाप्लुवन् रुदिषा विम्लानचन्द्राननः।

अभ्यासार्थमुपेक्षितोऽपसरण प्रक्रान्तया सत्वरं

कण्ठेकृत्य यशोदया न ननेत्याश्वासि बालो हरिः॥"

वात्सल्य का उदाहरण—बालक श्रीकृष्ण, सम्प्रति जानु एवं हस्त के द्वारा समीप देश में सञ्चरण करने में समर्थ होने के कारण, एकदिन सामने यशोदा को देखकर उनके क्रोड़ में आरोहणार्थ हँसकर धावित हुये, यशोदा पुत्र का गमन अभ्यासार्थ उनको अङ्क में लेने में उपेक्षा करके पश्चाद् भाग में अपसरण करने लगीं। उस समय बालक जननी के क्रोड़ में आरोहण कर न पाने से म्लान मुख से रोदन करने का उपक्रम किये थे। यह देखकर जननी सत्वर उनको कण्ठ में स्थापन किये एवं ना, ना, ना, तुमको क्या अनादर कर सकती हूँ। इत्यादि वाक्यों से आश्वास प्रदान करने लगीं।

यहाँ ममता स्थायी है। यह एक निष्ठ है। श्रीकृष्ण आलम्बन है, कर चरण के द्वारा तदीय सञ्चरण उद्दीपन है, कण्ठ में ग्रहण एवं आलिङ्गनादि अनुमान है। हर्षादि व्यभिचारी है। यह रस व्रजेश्वरी निष्ठ होकर परोक्ष है, एवं सामाजिक निष्ठ होकर प्रत्यक्ष होता है। उभय प्रकार ही अप्राकृत हैं।

यहाँ प्रेम रस का विशेष वर्णन है। उदाहरण यह है—

"प्रेयांस्तेऽहं त्वमपि च मम प्रेयसीति प्रवाद

स्त्वं मे प्राणा अहमपि तवास्मीति हन्त प्रलापः।

त्वं मे ते स्यामहमिति च यत्तच्च नो साधु राधे

व्यवहारे नौ नहि समुचितो युष्मदस्मत् प्रयोगः॥"

अत्र चित्तद्रवः स्थायी, स चोभय निष्ठः। आलम्बनमन्योऽन्यम्, उद्दीपनमन्योन्य गुणपरिमलः, अनुभावः—विशिष्ट निर्वचनाभावः, व्यभिचारी—मत्यौत्सुकादि। परोक्षः श्रीकृष्ण राधयोः, सामाजिकानां प्रत्यक्षः, प्रेमरसे सर्वे रसा अन्तर्भवन्तीति प्रेमाङ्ग शृङ्गारयोऽङ्ग मिति विशेषः।

केषाञ्चिन्मते श्रीराधा कृष्णयोः शृङ्गार एव रसः। तन्मतेऽप्येत दुदाहरणं न सङ्गतम्। शृङ्गारोऽङ्गी प्रेमाङ्गम्, अङ्गस्यापि क्वचिदुद्रिक्तत्वं यथन्तु प्रेमाङ्गी—शृङ्गारोऽङ्गमिति विशेषः।

तथा च—उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेमण्यखण्ड रसत्वतः।

सर्वे रसाश्च भावाश्च तरङ्गा इव वारिधौ॥

हे राधे! मैं तुम्हारा प्रियतम हूँ, तुम मेरी प्रेयसी हो, ये सब उक्ति, अथवा तुम मेरा जीवन हो,

मैं तुम्हारा जीवन हूँ, ये सब वाक्य प्रलापमात्र हैं, और तुम मेरी, मैं तुम्हारा, इस प्रकार जो प्रयोग है, वह साधु प्रयोग नहीं है, कारण—हम दोनों के कथोपकथन में युष्मद् एवं अस्मद् शब्द का प्रयोग कभी हो ही नहीं सकता।

यहाँ चित्तद्रव स्थायी है, वह उभय निष्ठ है। उभय ही परस्पर के आलम्बन है। परस्पर गुणोत्कर्ष उद्दीपन है, जिसका विशेष कहना होगा, उसका निर्वचन करने में असमर्थ होने पर अनुभाव होता है, मति औत्सुक्यादि व्यभिचारी है

यह श्रीकृष्ण; एवं राधा के पक्ष में परोक्ष है, एवं सामाजिक के पक्ष में प्रत्यक्ष है, समस्त रस इस में अन्तर्निविष्ट होने पर इस के अङ्गादि अति विस्तृत हैं।

विज्ञ व्यक्ति के मत में श्रीकृष्ण राधा के सम्बन्ध में शृङ्गार ही रस है, इस मत में भी शृङ्गार अङ्गी है, एवं प्रेम अङ्ग है। सुतरां यह उदाहरण असङ्गत नहीं होगा, कारण, अङ्गी की अपेक्षा अङ्ग का कदाचित् आधिक्य भी होता है, किन्तु हमारे मत में तो प्रेम ही अङ्गी है, शृङ्गार उसका अङ्ग है।

प्रेम में अखण्ड रस की सत्ता विद्यमान होने के कारण—समुद्र में तरङ्ग के समान यावतीय रस एवं भाव उस में सर्वदा आविर्भूत एवं तिरोभूत होते रहते हैं।

अथ भक्ति रसः—"जय श्रीमद् वृन्दावन मदन नन्दात्मज विभो,
प्रियाभीरी वृन्दारिक निखिल वृन्दारकमणे।
चिदानन्दस्यन्दाधिकपदरविन्दोऽसि नियो
नमस्ते गोविन्दाखिल भुवनैककन्दाय महते॥"

अत्र देव विषयत्वाच्चेतो रञ्जकता रतेरेव भावः। स एव स्थायी, आलम्बनम्—श्रीकृष्णः, उद्दीपनम्—तन्महिमादि, अनुभावः; हृदये द्रवादि, व्यभिचारी—निर्वेद दैन्यादिः। परोक्षो भक्तानाम्, सामाजिकानान्तु प्रत्यक्षः।

यद्यपि भगवान् सर्व रस कदम्ब सम्बलितः, तथापि मूर्त शृङ्गार एव, सावर्ण्यात् तद्दैवत वाच्च तथाहि 'रसः शृङ्गार नामायं श्यामलः कृष्ण दैवतः' इति। एवञ्च सर्वेषामेव रसानां वर्णा देवताश्च बोद्धव्याः।

भक्ति रस का दृष्टान्त— हे विभो! श्रीवृन्दावन मदन नन्दनंदनः तुम्हारी जय हो, प्रियतमा गोपाङ्गना ही तुम्हारी सुराङ्गना के सदृश है। तुम निखिल सुरवृन्द के शिरोभूषण हो, तुम्हारे चरणारविन्दमकरन्द चिदानन्द धारा से भी मधुर है। हे गोविन्द! निखिल विश्वबीज स्वरूप अति महान् स्वरूप को मैं पुनः पुनः नमस्कार करता हूँ।

यहाँ देवता विषयक होने के कारण चित्तरञ्जकता रति ही भाव है। वही यहाँ स्थायी है। श्रीकृष्ण—आलम्बन है, तदीय महिमादि उद्दीपन हैं, हृदय द्रवादि अनुभाव हैं। निर्वेद दैन्यादि व्यभिचारी हैं। भक्त वृन्द के पक्ष में यह परोक्ष है, सामाजिक के पक्ष में प्रत्यक्ष है।

यद्यपि भगवान् सर्व रस सम्बलित हैं, तथापि आप ही शृङ्गार रस के देवता हैं, एवं उस रस का वर्ण उनके वर्ण के समान होने के कारण आप मूर्तिमान् शृङ्गार हैं।

कथित है—शृङ्गार नामक यह रस श्यामवर्ण है, एवं शृङ्गार रस के देवता श्रीकृष्ण ही हैं। इस प्रकार समस्त रसों का भी वर्ण एवं देवता है—

श्रीकृष्णे ही सर्व रसात्मक हैं, उदाहरण यह है। ५।३७

शृङ्गारी राधिकायां सखिषु सकरुणः क्ष्वेडदग्धेष्वघाहे
बीभत्सो तस्य गर्भे व्रजकुल तनयाचेल चौर्ये प्रहासी।
वीरो दैत्येषु रौद्रः कुपितवति तुरासाहि हैयङ्गवीन
स्तेये भीमान् विचित्रो निजमहसि, शमी दामबन्धे स जीयात्॥"

जो राधिका के प्रति शृङ्गार रस शाली हैं, सखागण-अघासुर के विषानल दग्ध होने पर उन सब के प्रति करुण हैं, अघासुर के उदर में प्रवेश के समय बीभत्स रसमय हैं। व्रजकुललनावृन्द के वस्त्रहरण समय में हास्यरस परायण हैं, दुर्दान्त दैत्य दलन में वीररसाश्रयी हैं, क्रुद्ध सुरपति के प्रति रौद्ररसावतार हैं, हैयङ्गवीन हरण में भीति विह्वल हैं, निज तेजः दर्शन कर विस्मय निमग्न हैं। दामबन्धन में शान्त रस सम्पन्न हैं, उन भगवान् वासुदेव की जय हो।

यह ग्रन्थ दशम किरणों से (अध्यायों से) विभक्त है।

प्रथम किरण में—"ध्वनि नाद ब्रह्म का निर्णय है, एवं योग शास्त्र की रीति से 'परापश्यन्ती' प्रभृति नादों का सर्वोत्कर्ष प्रतिपादित हुआ है।

ध्वनि की काव्य प्राणता प्रतिपन्न करने के पश्चात् रसापकर्षकदोष रहित गुण सम्भव गुणालङ्कार एवं रसात्मक शब्दार्थद्वय का ही काव्यत्व निर्णय हुआ है। कवि लक्षण में—कहा गया है—सबीज ही कवि है, अलङ्कारादि शास्त्रज्ञ, सरस, प्रतिभा शाली होना भी आवश्यक है, 'बीज' शब्द से प्राक्तन संस्कार विशेष को जानना होगा, जिस से काव्य निर्माण एवं काव्यास्वादन में योग्यता होती है। काव्य भी त्रिविध हैं। उत्तम--(विशिष्टध्वनियुक्त) मध्यम--(मध्यम ध्वनि युक्त) एवं अधम—(अस्पष्ट ध्वनियुक्त), ध्वनि से ध्वन्यन्तर उत्पन्न होने से वह काव्य उत्तमोत्तम संज्ञा मण्डित होता है।

द्वितीय किरण में—वर्णित विषय—स्फोट वाद—प्रसङ्ग में अन्तर एवं बहि स्फोट द्वय का निर्णय, वर्णात्मक शब्द के साधु एवं असाधु भेद, जाति, क्रिया, गुण एवं द्रव्य भेद से उसके चातुर्विध्य, मुख्य, लाक्षणिक एवं व्यञ्जक भेद से शब्द त्रिविध एवं रूढ, योगरूढ एवं यौगिक भेद से वे त्रिविध हैं—

समास शक्ति के बहु विधत्व निरूपण पूर्वक अभिधादि वृत्तित्रय का प्रति पादन हुआ है। विविध अर्थ शक्ति विशिष्ट शब्द का प्रकृतार्थ बोध का निर्धारक हैं—संयोग, वियोग विरोध, साहचर्य, अन्य शब्द का सान्निध्य, देश, काल, सामर्थ्य, औचित्य, लिङ्ग अर्थ प्रकरण व्यक्ति प्रभृति।

अर्थ का भी व्यञ्जकत्व निर्धारक है—बोद्धव्य, वक्ता, प्रकृति, काकु प्रकरण, देश एवं कालादिका वैशिष्ट्य।

तृतीय किरण में—ध्वनि का वर्णन है। रसध्वनि व्यतीत अन्य ध्वनि–काव्य का प्राण है, किन्तु रसादि ध्वनि ही आत्मा है। ध्वनि भेद— लक्षणा मूलक-ध्वनि-अविवक्षित वाच्य है, यह दो प्रकार, (१) अर्थान्तरसंक्रान्त एवं (२) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य। अभिधा मूलक ध्वनि--विवक्षित वाच्य—एवं लक्ष्य क्रमव्यङ्ग्य (२)एवं अलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य, भेद से द्विविध हैं। इन सब के ५१ प्रकार भेद के लक्षण एवं उदाहरण सन्निविष्ट है, प्रभृति प्रत्ययादि से उत्पन्न वस्त्वलङ्कारादि व्यङ्ग्य वाच्य का उदाहरण प्रदर्शन पूर्वक त्रिविध सङ्कर का वर्णन हुआ है। ध्वनन—एवं अनुध्वनन रूप में ध्वनि के व्यापार द्वय हैं, जहाँ केवल ध्वनन है, वह उत्तम काव्य है, किन्तु जहाँ ध्वनन एवं अनुध्वनन है, वही उत्तमोत्तम काव्य है।

चतुर्थ किरण में—अर्थात् गुणीभूत व्यङ्ग्य निर्णयात्मक इस किरण में ध्वनि वैशिष्ट्य के अष्ट भेद प्रदर्शित हुये हैं (१) स्फुट, (२) अपराङ्ग, (३) वाच्य प्रपोषक (४) कष्ट गम्य, (५) सन्दिग्ध प्राधान्य (६) तुल्य प्राधान्य, (७) काकु गम्य, एवं (८) असमनोज्ञ।

पञ्चम किरण में—रस भाव एवं उसका भेद निरूपित है। भरत मुनिके मत में विभावान् भावादि रस निष्पत्ति के ज्ञापक हैं। रति, रस, रसाभासादि—सामाजिक की रसास्वादन पद्धति—वर्णित है। रस का सार ही चमत्कार है। शृङ्गार, वीर, करुण, अद्भुत हास, भयानक, बीभत्स, रौद्र, शान्त, वात्सल्य, प्रेम,—दृश्य एवं श्रव्य काव्य के एकादश रस हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ कार के मत में प्रेमरस में ही समस्त रसों का अन्तर्भाव है। भक्तिरस शृङ्गार के सम्भोग एवं विप्रलम्भ दो भेद होते हैं। पूर्वराग की अभिलाष, चिन्तादि दश अवस्था हैं। भावी, भवन् एव भूत भेद से विरह तीन प्रकार होते हैं। मान भी द्विविध होते हैं—

ईर्ष्यासम्भूत एवं प्रणय सम्भूत।

परस्पर अवलोकनादि मधुपानान्त सम्भोग की विवृति, सम्पक्ष विरह एवं मानादि नायक भेद एवं तदीय गुण समूह, नायिका भेद, अभिसारिकादि अष्ट अवस्था, भावहावादि अलङ्कार समूह, सखी दूती प्रभृति, उद्दीपन विभाव, अनुभाव, सात्त्विक एवं व्यभिचारि प्रभृति, एवं भावोदय प्रभृति विषयों का सुस्पष्ट निरूपण है।

गुण विवेचनात्मक षष्ठ किरण में—माधुर्यादि गुण त्रय निरूपण, अर्थ व्यक्ति, उदारतादि सप्त अतिरिक्त गुणों के उदाहरणादि हैं।

शब्दालङ्कार निरूपणात्मक सप्तम किरण में—वक्रोक्ति, श्लेष, अनुप्रास, यमक, भाषाश्लेषादि एवं चित्र काव्य का वर्णन है।

अर्थालङ्कार निरूपणात्मक अष्टम किरण में—उपमादि अलङ्कारों के लक्षण, भेद एवं विस्तृत उदाहरण हैं। अवशेष में शब्दालङ्कार के दोषादि वर्णित हैं।

रीति निरूपणात्मक नवम किरण में—वैदर्भी प्रभृति रीति चतुष्टय का निरूपण है।

दोष निर्णयात्मक दशम किरण में—पद, पदांश, वाक्य, अर्थ एवं रस गत दोषों का निर्द्धारण हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ति कृत "सुबोधिनी" टीका संलग्न है। काव्यालङ्कार विवेचन में श्रीमदलङ्कार कौस्तुभ नामक ग्रन्थ अतीव उपादेय है।

हरिदास शास्त्री

※ श्रीश्रीगौरगदाधरौ जयतः ※

श्रीमदलङ्कारकौस्तुभीय-

कारिकाणां स्वरूपम्

[प्रथमकिरणः]

१। शरीरं शब्दार्थौ ध्वनिरसव आत्मा किल रसो
गुणा माधुर्याद्या उपमितिमुखोऽलङ्कृतिगणः।
सुसंस्थानं रीतिः स किल परम, काव्यपुरुषो
यदस्मिन् दोषः स्याच्छ्रवणकटुतादिः स न परः॥

२। कविवाङ्निर्मितिः काव्यं निपुणं कविकर्म तत्॥

३। सबीजो हि कविर्ज्ञेयः स सर्वागमकोविदः।
सरसः प्रतिभाशाली यदि स्यादुत्तमस्तदा॥

४। बीजं प्राक्तनसंस्कारविशेषः काव्यरोहभूः॥

५। प्रज्ञा नवनवोल्लेखशालिनी प्रतिभा मता॥

६। उत्तमं ध्वनिवैशिष्टो मध्यमे तत्र मध्यमम्।
अवरं तत्र निस्पन्द इति त्रिविधमादितः॥

७। ध्वनेर्ध्वन्यन्तरोद्गारे तदेव ह्युत्तमोत्तमम्।
शब्दार्थयोश्च वैचित्र्ये द्वे यातः पूर्वपूर्वताम्॥

८। यशः प्रभृत्येव फलं नास्य केवलमिष्यते।
निर्माणकाले श्रीकृष्णगुणलावण्यकेलिषु॥

९। चित्तस्याभिनिवेशेन सान्द्रानन्दलयस्तु यः।
स एव परमो लाभः स्वादकानां तथैव सः॥

—※—

[द्वितीयकिरणः]

१। आकाशस्य गुणः शब्दो वर्ण-ध्वन्यात्मको द्विधा॥

२। सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।

आसीच्छक्तिस्ततो नादस्तस्माद्बिन्दुसमुद्भवः ।
नादो बिन्दुश्च बीजञ्च स एव त्रिविधो मतः ॥

३ । भिद्यमानात् पराद्बिन्दोरुभयात्मा रवोऽभवत् ।
स रवः श्रुतिसम्पन्नः शब्दब्रह्माभवत् परम् ॥

४ । साध्वसाधुतयाद्योऽपि साधवश्च चतुर्विधाः ।
जाति-क्रिया-गुण-द्रव्यैः मुख्यो लाक्षणिकस्तथा ॥

५ । व्यञ्जकश्चेति सङ्केत ईशेच्छा तत्र तत्त्वकृत् ॥

६ । योगरूढाश्च रूढाश्च यौगिकाश्चेति ते त्रिधा ॥

७ । वृत्तित्रयात् पुनस्त्रेधा वृत्तयस्त्वभिधादयः ॥

८ । यस्योच्चारणमात्रेण सहजं यत् प्रतीयते ।
तस्य तत्र तु या वृत्तिः साभिधा लक्षणा पुनः ॥

९ । मुख्यार्थ-बाधे शक्यस्य सम्बन्धे याऽन्यधीर्भवेत् ।
रूढ्या प्रयोजनेनापि सा द्विधा भिद्यतेऽथ सा ।
सारोपा सारोप्यमाण आरोपविषयोऽपि च ॥

१० । यत्र व्यक्तौ आदिनान्तर्निगीर्णे चरमे सति ।
भवेत् साध्यवसाना सा भिदे द्वे द्विविधे इमे ॥

११ । गौणे शुद्धे च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतोऽपि च ।
सादृश्यहेतुका तूक्ता सम्बन्धान्तरहेतुका ॥

१२ । पराक्षेपः स्वसिद्ध्यर्थं परस्मिन् स्व-समर्पणम् ।
ययोस्ते लक्षणे शुद्धे प्रागुपादान-लक्षणे ॥

१३ । पूर्वैश्चतुर्भिर्भेदैः सा द्वाभ्यामाभ्याञ्च षड्विधा ।
गूढव्यङ्ग्या गतव्यङ्ग्या व्यक्तव्यङ्ग्येति सा त्रिधा ॥

१४ । अभिधा-लक्षणाक्षेप-तात्पर्याणां समाश्रितः ।
व्यापारो ध्वननादिर्यः शब्दस्य व्यञ्जना तु सा ॥

१५ । अर्थोऽपि व्यञ्जको ज्ञेयो नानार्थानाञ्च भेदकाः ।
संयोगाद्या अर्थार्थिनो व्यञ्जकत्वस्य हेतवः ॥

१६ । बोद्धव्य-वक्तृप्रकृति-काकुप्रकरणैः सह ।
देश-कालादयश्चार्थे वैशिष्ट्याद्व्यङ्ग्य प्रबोधकाः ॥

[तृतीयकिरणः]

१ । शब्दार्थादिभिरण्यैश्च ध्वन्यतेऽसाविति ध्वनिः ॥

२ । रसो भावस्तदाभासो वस्त्वलङ्कार एव च ।
भावानामुदयः शान्तिः सन्धिः शवलता तथा ।
सर्वं ध्वनिस्तज्जनित्वे काव्यञ्च ध्वनिरुच्यते ॥

३ । उभयोरभिधामूल-लक्षणामूलयोस्तयोः ।
अविवक्षितवाच्योऽन्यस्तत्र वाच्यं द्विधा भवेत् ॥

४ । अर्थान्तरोपसंक्रान्तमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ।
ध्वनिर्यस्त्वभिधामूलस्तत्र वाच्यं विवक्षितम् ॥

५ । तथापि व्यङ्ग्यनिष्ठं स्यात् स च द्वैविध्यमृच्छति ।
कोऽपि लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्योऽलक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमोऽपरः ॥

६ । रसो भावस्तदाभासो भावशान्त्यादिरक्रमः ॥

७ । यत्रानुध्वनिना व्यङ्ग्य लक्ष्यते क्रमपूर्वकम् ।
स तु लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः शब्दार्थोभयशक्तिभूः ॥

८ । आद्यो द्विधैवालङ्कारवस्तुनोर्द्योतनाद्भवेत् ॥

९ । अर्थशक्त्युद्भवोऽर्थस्तु व्यञ्जकः स्वयमुद्भवी ।
कवेः प्रौढोक्तिनिष्पन्नो वक्तुस्तत्कल्पितस्य च ॥

१० । वस्तुत्वालङ्कृतित्वाभ्यां ते द्वैविध्येन षट् स्मृताः ॥

११ । वस्तुना वस्त्वलङ्कारावलङ्कारेण तेषु चेत् ।
व्यज्येते अप्यलङ्कारवस्तुनी द्वादशापि तत् ॥

१२ । शब्दार्थभूरेक एव वाक्येऽष्टादशधा त्विमे ॥

१३ । वाक्य एव द्विशक्त्युत्थः पदे सप्तदशापरे ॥

१४ । पञ्चत्रिंशत्ततो भेदाः प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ।
सप्तचत्वारिंशदतः पदांशाद्या रसादिकाः ।

१५ । तेन तस्य त्रयो भेदाः प्रबन्धेऽपि स कथ्यते ॥

१६ । भेदास्तेनैकपञ्चाशत्ते तावद्भिः पृथक् पृथक् ।
गुणनीयास्तेन चन्द्र-व्योमर्तु-पक्ष-सङ्ख्यकाः (२६०१) ॥

१७। सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ।
चतुर्गुणे कृते वेद--ख-वेद-ककुभः (१०४०४) स्मृताः ॥
१८। शुद्धभेदैर्युतास्ते स्युः शरेषुयुगखेऽन्दवः (१०४५५)
१९। इति पूर्वैर्विलिखितं न सर्वेषामुदाहृतिः ।
भवेदयोग्यत्वमात्रत्वादाधिक्यमपि गम्यते ॥
२०। संशयास्पदतानुग्राह्यानुग्राहकतापि च ।
एकव्यञ्जक-संश्लेषः सङ्करस्त्रिविधो मतः ॥

—*—

[चतुर्थकिरणः]

१। स्फुटमपराङ्गं वाच्य-,प्रपोषकं कष्टगम्यञ्च ।
सन्दिग्धप्राधान्यं, तुल्यप्राधाना-काकुगम्ये च ।
अमनोज्ञञ्चेति गुणी,-भूतव्यङ्ग्यस्य भेदाः स्युः ॥
२। प्रागुक्तध्वनिसंख्या, एभिर्गुणितास्तथाष्टाभिः ।
खयुगर्तु वह्नि-वसवो, ध्वनिसाङ्कर्यात् पुनर्द्वेधा ॥
३। व्योमविङ्नागपक्षार्क-हयर्तु-रजनीकराः ।
गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदा विज्ञेयाः सूक्ष्मबुद्धिभिः ॥

—**—

[पञ्चमकिरणः]

१। विभावो द्विविधः स्यादालम्बनोद्दीपनाख्यया ।
आलम्बनं तदेव स्यात् स्थायिनामाश्रयो हि यत् ।
यत्तानेवोद्दीपयति तदुद्दीपनमिष्यते ॥
२। एभिरेव व्यञ्जकैस्तु त्रिभिरुद्रेकमागतैः ।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायी रसायते ॥
३। आस्वादाङ्कुरकन्दोऽस्ति धर्मः कश्चन चेतसः ।

रजस्तमोभ्यां हीनस्य शुद्धसत्त्वतया सतः ॥

४। स स्थायी कथ्यते विज्ञैर्विभावस्य पृथक्तया।
पृथग्विधत्वं यात्येष सामाजिकतया सताम् ॥

५। शृङ्गारे रतिरुत्साहो वीरे स्याच्छोक-विस्मयौ।
करुणाद्भुतयोर्हासो हास्ये भीतिर्भयानके।
जुगुप्सा बीभत्स-संज्ञे कोपो रौद्रेऽष्ट नाट्यगाः ॥

६। रतिश्चेतोरञ्जकता सुखभोगानुकूल्यकृत्।
सा प्रीति-मैत्री-सौहार्द-भावसंज्ञाश्च गच्छति ॥

७। या सम्प्रयोगविषया सा रतिः परिकीर्तिता।
सम्प्रयोगः स्त्रीपुरुष- व्यवहारः सतां मतः।
असम्प्रयोगविषया सैव प्रीतिर्निगद्यते ॥

८। सखिपत्न्यां पतिसखे द्रौपदीकृष्णयोर्यथा।
द्वयोः सखीषु सखिषु सैव मैत्री निगद्यते ॥

९। मनोवृत्तिमयी प्रीतिर्मैत्री स्पर्शादिकोचिता।
निर्विकारा सदैकाभा सा सौहार्दमितीष्यते ॥

१०। सैव देवादिविषया रतिर्भावश्च कथ्यते।

११। या सम्प्रयोगविषया साऽप्यवस्थाविशेषतः।
पाकात् पाकान्तरं प्राप्य चरमे पर्यवस्यति ॥

१२। वहिरन्तःकरणयोर्व्यापारान्तर-रोधकम्।
स्वकारणादि-संश्लेषि चमत्कारि सुखं रसः ॥

१३। रसस्यानन्दधर्मत्वादैकध्यं भाव एव हि।
उपाधिभेदान्नानात्वं रत्यादय उपाधयः ॥

१४। प्राकृताप्राकृताभासभेदादेष त्रिधा मतः ॥

१५। अप्राकृतोऽपि द्विविधः प्रत्यालम्बनभेदतः।
सजातीयं विजातीयं प्रत्यालम्बनमिष्यते ॥

१६। अधरौष्ठस्फारतया सृक्कण्योरेव विस्फुरत्।
अलक्षितद्विजं धीरा उत्तमानां स्मितं विदुः ॥

१७ । विकसद्दशनद्योतो गण्डाभोगे प्रफुल्लता ।
किञ्चित्कलः कण्ठरवो यत्र हासः स मध्यमः ॥

१८ । सघर्मः साश्रुताम्राक्षः स्फुटघोरकटुस्वनः ।
व्यात्ताननो व्यक्तदन्तः प्रहासो ग्राम्य उच्यते ॥

१९ । अभिलाषः पूर्वरागस्तस्यावस्था दश स्मृताः ॥

२० । अभिलाषश्चिन्तनञ्च स्मृतिश्च गुणकीर्तनम् ।
उद्वेगश्च प्रलापश्चोन्मादश्च व्याधिरुत्तमः ।
जडता नवमी ज्ञेया मरणं दशमं स्मृतम् ॥

२१ । ईर्ष्याप्रणयसंभूतो द्वेधा मानः प्रकीर्त्यते ।
अन्यासक्ते प्रियतमे ईर्ष्यामानो भवेत् स्त्रियाः ॥

२२ । स्वप्नाद्वा श्रवणाद्वापि चित्राद्वापि विलोकनात् ।
साक्षादाकस्मिकाद्वापि दर्शनाद्दुर्लभे जने ॥

२३ । प्राक्तनी रतिरुद्भूता संप्राप्तेः पूर्वमेव सा ।
पाकद्वयान्तरे पूर्वरागतां प्रतिपद्यते ॥

२४ । अथ नैलः कौसुम्भो, माञ्जिष्ठश्चैवाथ हारिद्रः,
रागश्चतुर्विधोऽतश्चतुर्विधत्वेन हि प्रकृतेः ॥

२५ । नैलः स एष कथितो, न कदाचिदपसरति शोभतेऽत्यर्थम् ।
कौसुम्भः स हि विदितः, स्थित्वापैति प्रशोभते पूर्वम् ॥

२६ । माञ्जिष्ठः स हि यः किल, नापैत्येवातिशोभतेऽजस्रम् ।
हारिद्रः स तु बोध्यो, यात्यपि न च शोभते यस्तु ॥

२७ । सर्वशुद्धरसवृन्दकन्दलः, सर्वनायकघटाकिरीटगः ।
अत्यलौकिकगुणैरलङ्कृतो, गोकुलेन्द्रतनयः सुनायकः ॥

२८ । कृती कुलीनः सश्रीकस्त्यागी यौवनरूपभाक् ।
दक्षोऽनुरक्त उत्साही तेजोवैदग्ध्यभूषितः ॥

२९ । सत्यं शौचं दया कान्तिरास्तिक्यं धैर्यमेव च ।
औदार्यं प्रश्रयः शीलं क्षान्तिः प्रज्ञोऽनहङ्कृतिः ॥

३० । उदात्त उद्धतश्चैव प्रशान्तो ललितस्तथा ।

सर्वेऽमी धीर-शब्दाद्याश्चत्वारो नायकाः स्मृताः ॥

३१ । आत्मश्लाघारहितः, क्षमी गम्भीरो महासत्त्वः ।
धीरोदात्तः स्थेयान्, निगूढमानो दृढव्रतः सुविचाः ॥

३२ । आत्मश्लाघानिरतो, मायी चण्डश्च चपलश्च ।
धीरोद्धतः स कथितो-,ऽहङ्कृतिझङ्कारनिःशङ्कः ॥

३३ । उभयगुणव्यतिरिक्तो, भूयान् साधारणैश्च गुणैः ।
धीरप्रशान्तसंज्ञो, भवति द्विजवैश्यजातिकः साधुः ॥

३४ । मृदुलः कलाकलापो, निश्चिन्तो मधुरवैदग्ध्यः ।
प्रथमरसप्रधानो, ललितकथो धीरललितः स्यात् ।
सर्वेऽनुकुल-दक्षिण-,शठ-धृष्टत्वेन षोडशधा ॥

३५ । एकाश्रितोऽनुकुलः, समरागो दक्षिणस्तु सर्वासु ।
शठ एकत्रैव रतो, बहिरन्यत्र प्रियोऽप्रियो मनसि ॥

३६ । अपराद्धश्च विशङ्को, दृष्टे दोषेऽपि मिथ्यावाक् ।
तर्जन-ताडनयोरपि, कृतयोर्निर्लज्ज एव धृष्टः स्यात् ॥

३७ । षोडशविधास्त एते, पुनस्त्रिधा चोत्तमादिभेदेन ।
अष्टाधिकचत्वारिंशद्-,भेदा नायकाः कथिताः ॥

३८ । पुनरेते स्युर्दिव्या, दिव्याऽदिव्या अदिव्याश्च ।
स चतुश्चत्वारिंश-,च्छतमेकं तेन तद्भेदाः ॥

३९ । धीरप्रशान्त-शठयो-,र्धृष्टस्य च भेदवर्जितैरपरैः ।
लीलावशतः सर्वै-,रविरुद्धत्वाद्विरुद्धेऽपि ।
गोकुलराजकुमार-,स्तैत्र परं सर्वनायकाधीशः ॥

४० । धीरोदात्तो गुरुषु, ज्ञातिषु धीरोद्धतो विपक्षेषु ।
मायाविषु नियतमसौ, व्रजपुर्यां धीरललितः स्यात् ॥

४१ । अनुकूलो राधायां, सर्वास्वपरासु दक्षिणः कथितः ।
लीलावशात् कदाचन, धृष्टोऽपि शठश्च कुत्रापि ॥

४२ । सहायाः स्युः सहचरास्ते भवन्ति चतुर्विधाः ।

४३ । सखायश्च प्रियसखास्तथा नर्मसखा अपि ।

प्रियनर्मसखाश्चान्ये तेषु दूतस्त्रिधा मतः ॥

४४। निसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा सन्देशहारकः।
द्वयोरिङ्गितमादाय स्वयमुत्तरदायकः।
सुश्लिष्टं कुरुते कार्य्यं निसृष्टार्थः स उच्यते ॥

४५। प्रमितं वक्ति कार्यस्य चान्तं याति मितार्थकः।
यथोक्तमेव वदति यः स सन्देशहारकः ॥

४६। शोभा विलासो माधुर्य्यं गाम्भीर्य्यं धैर्य-तेजसी।
औदार्य्यं ललितञ्चेति गुणा अष्टैव सात्त्विकाः ॥

४७। शौर्य्यं दाक्ष्यञ्च सत्त्वञ्च महोत्साहोऽनुरक्तता।
घृणा नीचेऽधिके श्रद्धा सा शोभा मिलितोच्यते ॥

४८। रम्यवेशविभूषाद्यैर्विलासः शिल्पकौशलम् ॥

४९। येन केनापि वेशेन माधुर्यं रमणीयता ॥

५०। भी-शोक-क्रोध-हर्षाद्यैर्गाम्भीर्यमविकारिता ॥

५१। स्वभावादप्रतिच्यावो धैर्यं शोके महत्यपि ॥

५२। अवक्षेपावमानादेः प्रयुक्तस्य परेण यत्।
निर्वापकं भवेत्तेजो दानं प्रश्रयभाषणम्।
अमित्रेषु च मित्रेषु साम्यमौदार्यमिष्यते ॥

५३। वाग्वेशयोर्मधुरता शृङ्गारे ललितं तु तत् ॥

५४। स्वकीया परकीयेति नायिकादौ द्विधा मता।
ऊढानूढेति च पुनः परकीया भवेद्द्विधा ॥

५५। मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वकीया तु त्रिधा भवेत्।
मध्या-प्रगल्भयोर्भेदाः षड् धीरादिप्रभेदतः।

५६। कनिष्ठ-ज्येष्ठरूपत्वात्तयोर्द्वादशधा मतम् ॥

५७। तेन त्रयोदश स्वीयाः परोढ़ा स्यादलौकिके।
त्रयोदशविधा सापि तेन षड्विंशतिर्भिदाः ॥

५८। अवस्थाभिरथाष्टाभिरष्टोत्तरशतद्वयी ॥

५९। कन्या ज्येष्ठकनिष्ठत्वान्मृदुमध्यमृदुत्वतः।

चतुर्भेदास्ततस्तासां स द्वादशशतद्वयी ॥

६० । अत्युत्तमप्रकृत्यादितया ताः स्युः पुनस्त्रिधा ।
षट्त्रिंशत् सहिता तेन षट्शती नायिकाभिदा ॥

६१ । तत्र सिद्धाः सुसिद्धाश्च नित्यसिद्धा इति त्रिधा ।
स्त्रियोऽवतीर्णास्तेन स्युर्वसुशून्यग्रहेन्दवः (१९०८) ॥

६२ । स्वकीया तु कृतोद्वाहा पित्राद्यैः स्वयमर्पिता ॥

६३ । या तु व्यूढ़ापि गोपेन लोकधर्म्मानपेक्षिणी ।
कृष्णैकताना रागेण परोढ़ा व्रज एव सा ॥

६४ । पित्रादि-दानात् प्रागेव पित्रादेरप्यसम्मतौ ।
यातानुरागा या कन्या सा भैष्मी कुण्डिने यथा ॥

६५ । पितृभ्रात्रादिसङ्कोचात् स्वधाष्टर्यादिभयादपि ।
गूढ़ा यस्या रतिर्गाढ़ा सर्वथा सुरसायते ॥

६६ । कात्यायनीव्रतपरा सा कन्या सर्वदा व्रजे ॥

६७ । एवंविधैव कविभिः परकीयैव वर्ण्यते ।
परपाणिग्रहीता तु कृष्ण एव हि शोभते । -
नैवान्यनायके यस्मात्तस्मान्नान्यत्र सा किल ॥

६८ । अभिनवविकसितयौवन-,मदनविकारा मृदुर्माने ।
वार्त्तायामपि सुरतेः, पराङ्मुखी सत्रपा मुग्धा ॥

६९ । मध्या सुललितसुरता, मध्यम-समुदीर्णयौवना नोच्चैः ।
व्रीड़ावतीषदीषत्-,प्रागल्भ्या निभृतवैदग्ध्या ॥

७० । तरुणी मदनमदान्धा, रतिरणकुशला दरव्रीड़ा ।
भावोन्नता प्रगल्भा वैदग्ध्याक्रान्तनायका कथिता ॥

७१ । प्रियं वैदग्ध्यवक्रोक्त्या मध्याधीरा वदेद्रुषा ॥

७२ । धीराधीरा तु रुदितैरधीरा निष्ठुरोक्तिभिः ॥

७३ । यदि प्रगल्भा धीरा स्यादवहित्थावहेलया ।
उदास्ते प्रकृतात् कोपादादरं दर्शयेद्वहिः ॥

७४ । धीराधीरप्रगल्भा तु साकुतैर्वचनैर्मुहुः ।

प्रियमुच्चैः खेदयति पराऽवीक्ष्यैव निन्दति ॥

७५। मुग्धा मध्या प्रगल्भा च मिश्रभावात् पुनर्नव ॥

७६। गाढानुरागा प्रागेव लब्धसङ्गापि हैतुके ।
विरहे व्यधितोत्कण्ठा विरहोत्कण्ठिता मता ॥

७७। सङ्केतस्थं प्रियं ज्ञात्वा सह सख्यैकिकाथवा।
गतधैर्याऽभिसरति सा भवेदभिसारिका ॥

७८। अन्यासक्तेन कान्तेन खण्डिताशा तु या निशि ।
प्रातस्तद्भोगचिह्नानि वीक्ष्योद्विग्ना तु खण्डिता ॥

७९। दूतीभिः प्रार्थ्यमानोऽपि गन्तास्मीत्युक्तवानपि ।
दैवान्नायाति यत्कान्तो विप्रलब्धेति सा स्मृता ॥

८०। कोपेनान्तरिता या तु कलहान्तरिता तु सा ॥

८१। वासगेहे वेश-भूषा-ताम्बूल-वसनादिभिः ।
सुसज्जाऽपेक्षते कान्तं सा स्याद्वासकसज्जिका ॥

८२। कार्यान्तरेण प्रवासं गते सति मनोऽधिपे ।
तन्मनस्कैव या तिष्ठेत् सा स्यात् प्रोषितभर्तृका ॥

८३। निरन्तरं प्रेमवशात् पार्श्ववर्त्तीव यत्प्रियः ।
वाग्वशी-प्रेयि आभाति सा स्यात् स्वाधीनभर्तृका ॥

८४। यौवने सत्त्वजास्तासामष्टाविंशतिसंख्यकाः ।
अलङ्कारास्तत्र भाव-हाव-हेलास्त्रयोऽङ्गजाः ॥

८५। शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यञ्च प्रगल्भता ।
औदार्य्यं धैर्यमित्येते सप्तैव स्युरयत्नजाः ॥

८६। लीला विलासो विच्छित्तिर्विव्वोकः किलकिञ्चितम् ।
मोट्टायितं कुट्टमितं विभ्रमो ललितं मदः ॥

८७। विकृतं तपनं मौग्ध्यं विक्षेपश्च कुतूहलम् ।
हसितं चकितं केलिरनुभावादिमे पृथक् ॥

८८। निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया ।
आलम्बनोद्दीपनोत्थ-भावादपि स च द्विधा ॥

८९। हृन्नेत्रादिविकारैस्तु व्यक्तोऽसौ याति हावताम् ॥

९० । हेला स एवाभिलक्ष्यविकारः परिकीर्त्यते ॥

९१ । हेलैव शोभा लावण्य–रूप-वेशादिभिर्युता ॥

९२ । शोभैव मन्मथोन्माथात् कान्तिरुद्दीपितद्युतिः ॥

९३ । कान्तिरेवातिविस्तीर्णा दीप्तिरित्युच्यते बुधैः,

९४ । सर्वावस्थाविशेषेषु माधुर्य्यं रमणीयता ॥

९५ । प्रगल्भता निर्भयत्वमौदार्यं विनयः सदा ॥

९६ । सुखे दुःखेऽपि महति धैर्यं स्यान्निर्विकारता ॥

९७ । अङ्गैर्वेशैरलङ्कारैर्लीला कान्तानुकारिता ॥

९८ । यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्म्मणाम् ।
विशेषो दयितालोके विलासः परिकीर्त्त्यते ॥

९९ । स्तोकाऽप्याकल्परचना विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत् ॥

१०० । गर्वेण वस्तुनीष्टेऽपि बिब्वोकः स्यादनादरः ॥

१०१ । अमर्ष-हास-वित्रास-शुष्करोदन-भर्त्सनैः ।
निषेधश्च रतारम्भे किलकिञ्चितमिष्यते ॥

१०२ । तद्भावभुग्नमनसो वल्लभस्य कथादिषु ।
मोट्टायितं समाख्यातं कर्णकण्डूयनादिकम् ॥

१०३ । स्तनग्रहास्यपानादौ क्रियमाणे प्रियेण चेत् ।
वहिः क्रोधोऽन्तरप्रीतौ तदा कुट्टमितं विदुः ॥

१०४ । त्वरया हर्षरागादेर्दयितागमनादिषु ।
भूषाणां स्वपदादन्यपदे न्यासस्तु विभ्रमः ॥

१०५ । सुकुमारतयाङ्गानां विन्यासो ललितं भवेत् ॥

१०६ । मदो विकारः सौभाग्य-यौवनाद्यवलेपजः ॥

१०७ । वक्तुं योग्येऽपि समये न वक्ति व्रीड़या तु यत् ।
तदेव विकृतं वाच्यं चेष्टा स्मरविकारजा ॥

१०८ । तपनं प्रियविच्छेदे प्रतीतस्यापि वस्तुनः ।
अप्रतीतवदापृच्छा प्रियाग्रे मौग्ध्यमेव तत् ॥

१०९ । अर्द्धार्धभूषारचना गात्रे विष्वग्विलोकनम् ।

रहसीषत्कथारम्भो विक्षेपः स्यात् प्रियागमे ॥

११० । कुतूहलं रम्यतस्तुसमालोके विलोलता ॥

१११ । हसितं स्याद्वृथाहासो नवयौवनगर्वजः ॥

११२ । कुतोऽपि दयितस्याग्रे चकितं स्याद्भयोदयः ॥

११३ । विहारे सह कान्तेन क्रीडितं केलिरिष्यते ॥

११४ । प्रत्येकं सप्तविंशता योगेऽष्टाविंशतिस्त्वमी ।
रसवाणर्षिसंख्याः (७५६) स्युस्ते पुनः सेङ्गिता यदि ।
पक्षेन्दिषुविन्दुसंख्याः (१५१२) स्युरन्योन्यगुणिता ननु ॥

११५ । मुग्धा-मध्या-प्रगल्भानां त्रिविधानीङ्गितान्यपि ॥

११६ । दृष्टा तनोति मन्दाक्षं सम्मुखं नैव वीक्षते ।
प्रच्छन्नं तत् प्रतिकृतिं चित्रादौ स्पृहयेक्षते ॥

११७ । बहुधा पृच्छ्यमानापि रमणेन न जल्पति ।
तटस्थैः कथ्यमानायां शुकैर्वा निज- लालितैः ।
तत्कथायां श्रुती दत्ते नेत्रे त्वन्यत्र यच्छति ॥

११८ । अकाण्डे नीवि-धम्मिल्लमोक्ष-संयमन–क्रियाः ।
अलकोल्लासनमिषाद्भुजामूलप्रदर्शनम् ॥

११९ । सखीभिः सह संवादो निर्हेतुर्मधुराक्षरः ।
परस्परं परीहासो मन्दमन्दः प्रियान्तिके ॥

१२० । चुम्बति लीलाकमलं, परिरभते प्रियसखीमपि च ।
मुकुरे निजमुखकमलं, निरीक्ष्य तिलकं करोति कृष्णाग्रे ॥

१२१ । निरुपाधिप्रीतिपरा सदृशी सुखदुःखयोः ।
वयस्यभावादन्योन्यहृदयज्ञा सखी भवेत् ।

१२२ । छायेव याऽनुसरति सैव प्रियसखी स्मृता ॥

१२३ । सुरसे नर्मणि रता सैव नर्मसखी भवेत् ॥

१२४ । न सङ्कोचं यया याति कान्तेन शयितोत्थिता ।
आत्मनो मूर्तिरन्येव प्रियनर्मसखी तु सा ॥

१२५ । दूतीभावः समये, परिजनभावस्तु वेशभूषादौ ।

उपदेष्टृता च माने, तस्मिन् गाढ़े तु गर्हकत्वञ्च ॥

१२६। वृन्दावनं षड़ृतवः सह–वर्त्तमानाः
कुञ्जा मणीन्द्रगृहतोऽपि मनोविनोदाः।
कर्पूरभांसि यमुनापुलिनानि हंस-
कारण्डवादि–ललितं नलिनीवनञ्च ॥

१२७। चन्द्रश्च चन्दनमरुच्च मनोहराणि
गोवर्धनादि-गिरिकन्दरमन्दिराणि।
रोलम्ब-कोकिल-मयूरनिनादमिश्रै-
र्नानाविहङ्गविरुतैर्हरितोऽपि हृद्याः ॥

१२८। स्थायिभावस्य कार्याणि कटाक्षादीनि यानि तु।
अनुभावास्तानि बोध्या न संख्या तेषु वर्त्तते ॥

१२९। अलङ्काराश्च ये प्रोक्तास्तेषां मध्ये च केचन।
कालेऽनुभावतां यान्ति तथा तानीङ्गितानि च ॥

१३०। सात्त्विका अपि येऽन्येऽष्टौ तेऽपि यान्त्यनुभावताम् ॥

१३१। स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदश्च वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥

१३२। निर्वेद-ग्लानि-शङ्काश्च मदासूया-श्रमा अथ।
आलस्य-दैन्य-चिन्ताश्च मोहः स्मृति-धृती अपि ॥

१३३। व्रीड़ा चपलता हर्ष आवेग-जड़ते अपि।
विषादौत्सुक्य-गर्वाश्च निद्रापस्मार एव च ॥

१३४। विमर्ष-सुप्तचमर्षाश्चाप्यवहित्थोग्रतेत्यपि।
उन्माद-व्याधि-मतयो वितर्क-मरणे अपि।
त्रासश्चेति त्रयस्त्रिंशदुच्यन्ते व्यभिचारिणः ॥

१३५। स्वजुगुप्सा तु निर्वेदो ग्लानिर्विकृतिराकृतेः।
अनिष्टाशङ्कनं शङ्का मदो मध्वादि-मत्तता।
दोषदृष्टिरसूया स्याद्व्यायामबलान्तता श्रमः ॥

१३६। शक्तौ च कर्मवैमुख्यमालस्यं दैन्यमात्मनि।
अयोग्यबुद्धिश्चिन्ता तु किं भावीति विचिन्तनम् ॥

१३७ । विचित्तता तु मोहः स्यात् स्मृतिः प्राग्वृत्तचिन्तनम् ।
धैर्यं धृतिस्त्रपा व्रीड़ा लौल्यं चपलता मता ॥

१३८ । हर्षश्चित्तस्य विस्फार आवेगस्त्वरया मदः ।
निष्पन्दत्वन्तु जड़ता विषादस्तु विषण्णता ॥

१३९ । उत्कण्ठैवौत्सुक्यमाहुर्गर्वोऽहङ्कार एव हि ।
निद्रा निद्रैव स्खलनं फेननिष्ठीव-पूर्वकम् ॥

१४० । अपस्मारः परामर्शो विमर्शो निद्रया विना ।
स्वप्नस्तु सुप्तिरित्याहुरमर्षः कोप एव हि ॥

१४१ । अवहित्थाकारगुप्तिरुग्रता तीव्रतैव हि ।
अनवस्थितचित्तत्वमुन्मादो हृद्व्यथादिकः ॥

१४२ । व्याधिर्यथार्थस्मरणं मतिः संशय एव हि ।
वितर्को मरणं प्राणत्यागस्त्रासो भयोदयः ॥

१४३ । अपस्मारञ्च निर्वेदं मरणञ्च विना किल ।
त्रिंशदेवात्र विज्ञेयाः शृङ्गारे व्यभिचारिणः ॥

१४४ । भवन्त्येकैकशस्त्वेते स्वातन्त्र्येण पृथक् पृथक् ।
उदयः प्रशमश्चापि पृथगेव निरूप्यते ॥

१४५ । द्वाभ्याञ्च बहुभिश्चापि शावल्यं संहिता द्वयोः ।
सन्धिलक्षणमेतेषां यथास्वमुपदर्श्यते ॥

१४६ । तात्कालिकं हेतुमेत्य तत्कालोद्भूततोदयः ।
प्रशमो निजसामग्र्या प्रागुद्भूतस्य संक्षयः ॥

१४७ । अन्योऽन्यानुग्राहकानुग्राह्यत्वात् सह-संस्थितिः ।
अन्योऽन्य-निरपेक्षत्वात् स्व-स्व-स्वातन्त्र्यतोऽथवा ।
सपक्षाणां विपक्षाणां शावल्यं परिकीर्त्तितम् ॥

१४८ । एकस्य गमनारम्भो ह्यन्यस्यागमनोदयः ।
सन्धिः स्यादथवा तुल्योदयस्तुल्यशमो द्वयोः ॥

१४९ । उदयाद्यैश्चतुर्भिस्तु शावल्यमपरं भवेत् ।
तत् स्यात् षोड़शधा तत्र प्रस्तारक्रम इष्यते ॥

१५० । सन्ध्युत्तराः स्युश्चत्वारस्तथाऽन्ये शबलोत्तराः ।
चत्वार एवं प्रशमोत्तरा अभ्युदयोत्तराः ॥
१५१ । एवं स्याद्विंशतिः सन्धेः सन्धिनाऽभ्युदयस्य च ।
उदयेन शमस्यापि शमेनापि त्रिधा पुनः ॥
१५२ । तथैवोदयसन्धिश्च शमसन्धिरिति स्मृतेः ।
पञ्चविंशतिरेते स्युरन्योऽन्यस्थितिभेदतः ॥
१५३ । प्रत्येकमेकैकयोगे मिथोऽङ्गाङ्गित्वभावतः ।
एकोनत्रिंशता त्रिंशद्विन्दुसिन्धुमतङ्गजाः (८७०) ॥
१५४ । एतैश्च पञ्चविंशत्या बाणग्रहमतङ्गजाः (८९५) ॥
१५५ । पुनरेतैः प्राग्गणितैस्तैः सेङ्गित-निरिङ्गितैः ।
अलङ्कारैः शबलितैः पक्षचन्द्रशरेन्दुभिः (१५१२) ॥
१५६ । साकल्येन भवन्त्येते बिन्दुवेदकरद्विपैः ।
वेदाग्निचन्द्रसंख्याकाः (१३४८२४०)स्तेषां दिग्दर्शनं भवेत् ॥
१५७ । एतान् कार्त्स्न्येन निर्वक्तुं वाणी शक्नोति नो नरः ॥
१५८ । भावान्तरसमावेशादुक्तिवैचित्र्यतोऽपि च ।
उत्तरङ्गतयाङ्गित्वादुन्मादो बहुधा मतः ॥
१५९ । तत्र प्रलाप आलापः संलापो विप्रलापकः ।
अनुलापः सुप्रलापः परिलापो विलापकः ।
अपलापः प्रतीलापो वैचित्र्यं दशधा गिराम् ॥
१६० । एवं स्वबुद्धिकौशल्यादनुमेयाः सुबुद्धिभिः ।
ग्रन्थगौरवभीत्यैव मया नोदाहृताः परे ॥
१६१ । अनेनैव हि मार्गेण कवयो भावकोविदाः ।
विदध्युर्भावकाव्यानि तेनायं प्रक्रमः कृतः ॥

—*—

[षष्ठकिरणः]

१ । रसस्योत्कर्षकः कश्चिद्धर्मोऽसाधारणो गुणः ।

शौर्यादिरात्मन इव वर्णास्तद्व्यञ्जका मताः ॥

२। गुणस्य व्यञ्जका वर्णास्ते माधुर्यादयः पुनः ॥

३। माधुर्यमपि चौजश्च प्रसादश्चेति ते त्रयः।
केचिद्दशेति ब्रुवत एष्वेवान्तर्भवन्ति ते ॥

४। अर्थव्यक्तिरुदारत्वं श्लेषश्च समता तथा।
कान्तिः प्रौढिः समाधिश्च सप्तैते तैः समं दश ॥

५। प्रसाद एवौजोमिश्रशैथिल्यात्मा भवेद्यदि।
तदार्थव्यक्तिरिष्येत विकटत्वमुदारता ॥

६। पदानामेकरूपत्वं सन्ध्यादावस्फुटे सति।
श्लेषो मार्गभिद एव समतोज्ज्वल्यमेव हि ॥

७। कान्तिः साभिप्रायतया समासव्यासयोः सतोः।
वाक्यार्थे पदविन्यासः पदार्थे वाक्यनिर्मितिः।
प्रौढिरारोहावरोह-क्रमः समाधिरिष्यते ॥

८। तेष्वेवान्तर्भवन्त्येक एके वैचित्र्यबोधकाः।
एके दोषपरित्यागाद्गतार्था इति नो दश ॥

९। अर्थव्यक्तिः प्रसादान्तः प्रौढिर्वैचित्र्यबोधिका ॥

१०। समता तु क्वचिद्दोषो वैषम्यं यत्र वाञ्छ्यते।
सजातीय--विजातीय--युगपद्वर्णने सति ॥

११। ग्राम्यकष्टत्वादिहानादपारुष्योररीकृतौ।
ऐज्ज्वल्यरूपा या कान्तिः सा माधुर्यान्तरस्थिता।
अन्ये त्वोजसि वर्त्तन्ते तेन तेन पुनर्दश ॥

१२। रञ्जकत्वं हि माधुर्यं चेतसो द्रुतिकारणम्।
सम्भोगे विप्रलम्भे च तदेवातिशयोचितम् ॥

१३। चेतोविस्ताररूपस्य दीप्तत्वस्य हि कारणम्।
ओजः स्याद्वीर-बीभत्स--रौद्रेषु क्रमपुष्टिकृत् ॥

१४। श्रुतिमात्रेण यत्रार्थः सहसैव प्रकाशते।
सौरभ्यादिव कस्तूरी प्रसादः सोऽभिधीयते ॥

१५। स सर्वेषु रसेष्वेव सर्वास्वपि च रीतिषु।
उपयुक्तो व्यञ्जकाः स्युर्वर्णाश्च रचना अपि ॥

१६। स्पर्शाः स्वपञ्चमाधःस्था, अटवर्गा लघु रणौ।
माधुर्यव्यञ्जका वर्णा नैकरूपाः क्रमेण चेत्॥

१७। इत्यादेः खल्वनुप्रास-रीतिरूढस्य वर्त्मनः।
माधुर्यबहुलत्वेऽपि गौडीया रीतिरिष्यते ॥

१८। योग आद्य-तृतीयाभ्यां चेद्द्वितीय-चतुर्थयोः।
उपर्यधो द्वयोर्वापि रेफेण सह चेद्युतिः ॥

१९। शषौ टवर्गश्चानन्त्यो वृत्तिदैर्घ्यं तथौजसि ॥

२०। अटवर्गैररेफैश्च कख-गघाभ्यां विवर्जितैः।
अयुक्तैश्च महाप्राणैर्मध्यतां प्रतिपद्यते ॥

२१। शृङ्गारेऽप्येष चारुः स्यात् करुणादौ भवेन्न वा।
माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैर्युक्तश्चेदतिसुन्दरः।
गाढबन्धः स आख्यातः पाठे वदनपूर्तिकृत् ॥

२२। प्रसादस्य व्यञ्जिका तु केवलं रचना मता।
न तत्र वर्णप्राधान्यं प्रसादो विशदार्थता ॥

२३। यद्यपि गुणपरतन्त्रा, रचनाद्यास्तदपि वक्त्रादेः।
औचित्यात्तदधीना, भवन्ति तस्माद्गुणोऽपि तदधीनः ॥

—※—

[सप्तमकिरणः]

१। एकेनार्थेन यत् प्रोक्तमन्येनार्थेन चान्यथा।
क्रियते श्लेष-काकुभ्यां सा वक्रोक्तिर्भवेद्द्विधा ॥

२। श्लेषोऽपि च भवेद्द्वेधा सभङ्गाभङ्गभेदतः ॥

३। अनुप्रास्यत इत्यर्थेऽनुप्रासो वर्णसाम्यतः ॥

४। स च द्वेधा छेकवृत्तिभेदाच्छेकः सकृत्तया।
माधुर्यव्यञ्जकत्वेन स एव हृद्यपनागरः ॥

५। एकस्याप्यथवाऽनेकस्यात्रे डितया यदि ।
न्यासः स्याद्वृत्त्यनुप्रास एष च द्विविधो भवेत् ॥

६। माधुर्यौजोऽनुकूलत्वात् कोमलो लाट इष्यते ॥

७। तात्पर्यमात्रभेदे स्याल्लाट इत्युच्यतेऽपरः ॥

८। पदस्याप्येष तत्रैव वृत्तावन्यत्र वा पुनः ।
वृत्यवृत्योश्च वा नाम्नः सारूप्ये स्यादथापरः ॥

९। यमकं त्वर्थभिन्नानां पदादीनां समाऽऽकृतिः ।
क्वचिन्निरर्थकाणाञ्च सार्थानर्थवतां क्वचित् ॥

१०। एतच्च पादजत्वेन नवधा प्रथमस्य तु ।
द्वितीयेन तृतीयेन चतुर्थेनेति तत्त्रिधा ॥

११। द्वितीयस्तु तृतीयेन चतुर्थेनेति च द्विधा ।
तृतीयस्तु चतुर्थेनेत्येक एवेति षड् भिदः ॥

१२। प्रथमस्त्रिष्वपीत्यन्य इति सप्त द्वयं पुनः ।
प्रथमस्तु चतुर्थेन द्वितीयस्तत्परेण च ।
प्रथमस्तु द्वितीयेन तृतीयस्तत्परेण च ॥

१३। अर्धश्लोकश्लोकयोश्चावृत्त्या द्वेधा भवेदथ ।
तेनैकादशभेदाः स्युः पादभागे च पूर्ववत् ।
नवधेति भिदा ज्ञेया विंशतिर्यमकोद्भवाः ॥

१४। पादस्य तु त्रिखण्डत्वे त्रिंशद्भेदाः प्रकीर्तिताः ।
चतुःखण्डत्वे च पुनश्चत्वारिंशद्भवेद्भिदा ॥

१५। आद्यन्तमध्यभेदेन क्रमादथ समुच्चयात् ।
अन्तादिभेदेन पुनर्बहुधा यमकक्रिया ॥

१६। भिन्ना अप्यर्थभेदेन युगपद्भाषणक्षमाः ।
त्यजन्ति भिन्नरूपत्वं शब्दा यच्छ्लेष एव सः ॥

१७। स प्रकृति-लिङ्ग-वर्ण-प्रत्यय-भाषा-विभक्ति-पद-वचनैः ।
अष्टविधो निरपेक्ष-स्तुल्योभयवाच्य एव नवमः स्यात् ॥

१८। नटानाञ्च कवीनाञ्च मार्गः कर्कश एव यः ।
रसाभिव्यक्तये नासौ शक्तिज्ञप्त्यै स केवलम् ॥

१९ । चित्रं नीरसमेवाहुर्भङ्गवदविषयं यदि ।
तदा किञ्चिच्च रसवद्यथेक्षोः पर्वचर्वणम् ॥

२० । पुनरुक्तवदाभासः पुनरुक्तवदेव यः ॥

—*—

[अष्टमकिरणः]

१ । यथाकथञ्चित् साधर्म्यमुपमा सा भवेद्द्विधा ॥

२ । पूर्णा लुप्तेति पूर्णा तु धर्मेणैव-यथादिभिः ।
उपमानोपमेयाभ्यामिग्रमेवेव--वादिभिः ॥

३ । युक्ता श्रौती समाद्यैस्तु सा स्यादार्थी च तद्धिते ।
वाक्ये समासे चेत्येते षोढा लुप्ता तु लोपतः ।
धर्मवाद्युपमानानामेक-द्वि-त्रि-क्रमेण हि ॥

४ । धर्मलोपे क्रमेणैषा पूर्णावत् षड्विधोचिता ।
किन्तु तद्धितगा श्रौती लुप्तायां नेति पञ्चधा ॥

५ । क्वचित् कर्माधारकृते कर्तृकर्मकृते णमि ।
क्यङि चेति पुनः पञ्चैवादिलोपे यथाक्रमम् ।

६ । उपमानानुपादाने द्वैधं वाक्य-समासयोः ।
इवादेरनुपादाने द्वैधं स्यात् क्विपसमासयोः ॥

७ । धर्मोपमानयोर्लोपे द्वैधं वाक्यसमासयोः ।
धर्मेव-वादि-लोपे तु द्वैधं स्यात् क्विप्समासयोः ॥

८ । उपमेयस्य लोपे तु स्यादेका प्रत्यये क्यचि ।
धर्मोपमेयलोपेऽन्या त्रिलोपे तु समासगा ॥

९ । एवं दशैकादश च लुप्ता स्यादेकविंशतिः ।
पूर्णाः षडेव तेन स्युरुपमाः सप्तविंशतिः ॥

१० । एकत्वमुपमेयानामुपमानामनेकता ।
धर्मैकरूप्यवैरूप्ये द्वेधा मालोपमा भवेत् ॥

११ । उपमेयस्योपमात्वमुत्तरोत्तरतो यदि ।

अभिन्नभिन्नहेतुत्वे द्विधा सा रसनोपमा ॥

१२। एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेऽनन्वयोपमा।
एकवाक्ये विपर्यास उपमेयोपमा द्वयोः ॥

१३। उपमानस्य निन्दायामयोग्यत्वे निषेधतः।
प्रशंसा योपमेयस्य सोपमेयोपमाऽपरा ॥

१४। असम्भाव्यं समुद्भाव्योपमानेऽसम्भवोपमा।

१५। सम्भावनोपमानेनोपमेयोत्कर्षहेतुका।
उत्प्रेक्षा नूनमित्यादि-शब्दद्योत्या स संशयः ॥

१६। भेदानुक्तौ तदुक्तौ तु सन्देहः रूपकं तु तत्।
यत्तादात्म्यं द्वयोस्तच्च द्विधैवेति विदुर्बुधाः।
समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च ॥

१७। आरोप्यमानश्चारोपविषयो यत्र शब्दगौ।
तदाद्यिरारोप्यमाणः शाब्द आर्थश्च तत्परम् ॥

१८। आरोपविषयाभावेऽप्यारोप्यं यदि तत् परम्।
उक्तं प्रसङ्गि निःसङ्गमेकमेव विवक्षितम्।
मालारूपकमन्यत्तु ज्ञेयं मालोपमानवत् ॥

१९। श्लिष्टस्य वाचकस्यानुरोधादारोप एव यः।
सोऽन्यस्यारोपहेतुश्चेत् परम्परित--नामकम् ॥

२०। भेदे सत्यपि तद्या तु प्रकृतस्यान्यथाकृतिः।
सापह्नुतिरनेकार्थप्रतिपादकता यदि।
एकार्थस्य तु शब्दस्य तदा श्लेषः स कथ्यते ॥

२१। श्लिष्टैर्विशेषणैरेव विशेष्यस्यान्यथास्थितिः।
समासोक्तिरसम्बन्धरूपं यत्तुपमाकृतिः ॥

२२। निदर्शनैषा दृष्टान्तप्राया यत्र क्रियैव हि।
वक्ति स्वरूपं हेतुश्च साऽन्याऽप्रासङ्गिकस्य वाक्।
प्रासङ्गिक--कथायां स्यादप्रस्तुतप्रशंसनम् ॥

२३। कार्यकारणसामान्यविशेषेषु तदन्यगीः।
प्रस्तुतेषु च तुल्ये च तुल्यगीः पञ्चधैव तत् ॥

२४। प्रतीयमानस्यारोपानारोपाभ्यां पुनर्द्विधा ॥

२५। निगीर्णस्योपमानेनोपमेयस्य निरूपणम् ।
यत् स्यादतिशयोक्तिः सा तदेवान्यतया यदि ।
निरूप्यते सा द्वितीया यद्यर्थेन तु कल्पना ॥

२६। यद्यसम्भविनोऽर्थस्य सा तृतीया विपर्यये ।
कार्य-कारणयोरन्या प्रतिवस्तूपमा तदा ॥

२७। सामान्यस्य स्थितिर्वाक्य उपमानोपमेययो ॥

२८। सर्वेषामेव धर्म्माणां दृष्टान्तः प्रतिबिम्बवत् ।

२९। स च साधर्म्म्य--वैधर्म्म्यभेदेन द्विविधो मतः ॥

३०। कारकैक्ये क्रिया बह्वो व्यत्ययेऽपि च दीपकम् ॥

३१। माला स्यात् पूर्वपूर्वञ्चेदुत्तरोत्तरमृच्छति ॥

३२। प्रकृतानां चैकदोक्तिरुच्यते तुल्ययोगिता ॥

३३। चकारेणापि साक्षेप्या व्यतिरेको विलक्षणः ।
उपमानात् द्वयोरुत्कर्षापकर्षार्थशंसिनोः ॥

३४। हेत्वोरुक्तौ त्रयाणां वाऽनुक्तौ शब्दार्थशक्तिभिः ।
आक्षिप्ते सति च श्लेषे स स्याद्बहुविधः पुनः ॥

३५। आक्षेपो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषविवक्षया ।
निषेधो वक्ष्यमाणत्वेनोक्तत्वेन च स द्विधा ॥

३६। हेतुरूपक्रियाभावे फलं यत् सा विभावना ॥

३७। विशेषोक्तिः कारणेषु सत्सु कार्यस्य नोदयः ।

३८। यथासंख्यं यथासंख्यं क्रमिकाणां यदन्वयः ॥

३९। यस्मिन् विशेषः सामान्यं समर्थ्यते परेण यत् ।
साधर्म्म्यादथ वैधर्म्म्यात् स न्यासोऽर्थान्तरस्य हि ॥

४०। विरोधः स विरोधाभो जातिर्जात्यादिभिर्गुणः ।
त्रिभिर्द्वाभ्यां क्रियाद्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ॥

४१। स्वभावोक्तिः स्वभावस्य वर्णनं यन्मुखे स्तुतिः ।
निन्दा वा हृदये व्याजस्तुतिः स्यात्तदन्यथा ॥

४२। सहोक्तिः सा सहार्थेन शब्देनैका क्रिया यदि ।

विनोक्तिः सा विनैकेनान्यस्य चेत् सदसत्कृतिः ॥

४३। समासमाभ्यां निमयः परिवृत्तिरुदीर्यते ॥

४४। अतीतानागतार्थानां साक्षात्त्वमिव भाविकम् ॥

४५। पदवाक्यार्थताहेतोः काव्यलिङ्गं प्रकीर्त्यते ॥

४६। विना वाचक-वाच्यत्वं यत्र वस्तु प्रतीयते ।
पर्यायोक्तं तत् समृद्धिरुदात्तं वस्तुनः परा ॥

४७। प्रधानमपि यत्राङ्गमेकस्मिन् यत्र साधके ।
साधकान्तरनिर्देशः स समुच्चय इष्यते ॥

४८। गुणो गुणक्रियाभ्याञ्च क्रियया च क्रियापरः ॥

४९। अनेकस्मिन् क्रमेणैकं पर्यायोऽन्यो विपर्ययात् ॥

५०। साध्यसाधनसद्भावेऽनुमानमनुमानवत् ॥

५१। विशेषोक्तिः परिकरः स्यात् साकूतैर्विशेषणैः ॥

५२। प्रकृतस्थगनं छद्म व्याजोक्तिरनिषेधभाक् ॥

५३। प्रश्नपूर्वकमाख्यानं तत्सामान्यव्यपोहनम् ।
तस्य तस्यापि च ज्ञेये व्यङ्ग्यत्वे स्यात्तथापरम् ।
अप्रश्नपूर्वकं वाच्यं परिसंख्या चतुर्विधा ॥

५४। यथोत्तरं पूर्वपूर्वहेतुकस्य तु हेतुता ।
तदा कारणमाला स्यात् क्रिययान्योऽन्यकारणम् ॥

५५। वस्तुद्वयं तदान्योऽन्यं प्रश्नस्योन्नयनं यदि ।
उत्तरश्रुतिमात्रेणोत्तरं स्यात् प्रश्नतोऽपि वा ॥

५६। आकारेणेङ्गितेनापि सूक्ष्मार्थो यत्र लक्ष्यते ।
प्रकाश्यते वाऽन्यस्मै च स सूक्ष्मः कीर्त्यते द्विधा ॥

५७। सारः सावधिरुत्कर्षो यद्भवेदुत्तरोत्तरम् ॥

५८। अत्यन्तभिन्नाधारत्वे युगपद्भाषणं यदि ।
धर्मयोर्हेतुफलयोस्तदा सा स्यादसङ्गतिः ॥

५९। कारणान्तरसाहाय्यात् कार्यं यत् सुकरं भवेत् ।
कर्तुं विना प्रयत्नेन स समाधिरितीर्यते ॥

६० । श्लाघ्यत्वेन भवेद्योग्यो यदि योगस्तदा समम् ॥

६१ । अत्यन्तवैसादृश्येन योगो यत्रातिदुर्घटः ।
कर्तुः क्रियाफलाभावः प्रत्युतानर्थसम्भवः ॥

६२ । गुणक्रियाभ्यां ते एव कार्य-कारणयोश्च यत् ।
परस्परं विरुध्येते विषमः स चतुर्विधः ॥

६३ । आधेयाधारयोर्भूम्नोर्मिथस्तत्प्रतियोगिनौ ।
ततोऽप्यधिकभूमानौ स्यातां तदधिकं भवेत् ।

६४ । अपकार्यपकारार्थसामर्थ्येन तदाश्रयम् ।
हिनस्ति यत्तदीयोक्तिः प्रत्यनीकं स्तवो यदि ॥

६५ । तुल्येन लक्ष्मणाऽस्तोकेनान्यद्यदि निगूह्यते ।
सहजेनेतरेणापि तन्मीलितमपि द्विधा ॥

६६ । स्थाप्यते खण्ड्यते वापि पूर्वं पूर्वं परेण यत् ।
विशेषणतया वस्तु सा द्विधैकावली भवेत् ॥

६७ । पूर्वानुभूतस्मरणं तत्समाने विलोकिते ।
स्मरणं भ्रान्तिमांस्तद्धीस्तस्मिन् साम्यभाजि यत् ॥

६८ । उपमानस्य धिक्कार उपमेयस्तुतौ यदि ।
प्रतीपमुपमानस्य धिक्कृत्यै चोपमेयता ॥

६९ । प्रस्तुतस्याप्रस्तुतेन गुणैकत्व-विवक्षया ।
ऐक्यं निबध्यते योगाद्यत्तत्सामान्यं तदिष्यते ॥

७० । आधारस्य प्रसिद्धस्याभावेऽप्याधेयदर्शनम् ।
एकस्य युगपद्वृत्तिरनेकत्र स्वरूपतः ॥

७१ । एकस्यैवातिचितस्य वस्तुनः करणेन हि ।
तत्समस्यान्यवस्तूनां करणं स भवेत्त्रिधा ॥

७२ ॥ विशेषः स्वगुणं त्यक्त्वा प्रगुणस्य समीपगम् ।
तद्यैव गुणमादत्ते यद्वस्तु स्यात्स तद्गुणः ॥

७३ । न गृह्यते यदि गुणस्तस्य स स्यादतद्गुणः ॥

७४ । यद्वस्तु साधितं येन करणेन तदन्यथा ।

तेनैव यदि तस्य स्यात्तदा व्याघात इष्यते ॥

७५। उपमादय एतेऽमी व्याघातान्ताः क्रमेण हि ।
द्विषष्टिसंख्या एवैतेऽलङ्कारा बहवः पुनः ॥

७६। संसृष्ट्या सङ्करेणापि भूयः संसृष्टिरप्यसौ ।
क्रियाशब्दार्थोभयभूः सा क्रमेण प्रदर्श्यते ॥

७७। सङ्करस्त्वङ्गाङ्गिभावो बहूनां वा द्वयोश्च वा ।
सहावस्थानबाधेन भवेन्नो वेत्यनिश्चये ।
सङ्करोऽनिश्चयाख्यः स्यादयथास्थानं प्रदर्श्यते ॥

७८। एकत्र विषये व्यक्तमुभयालङ्कृतिर्यदि ।
तदापरः सङ्करः स्यादिति त्रिविध एव सः ॥

७९। शब्दालङ्कृतयः शुद्धास्त्रिचत्वारिंशदीरिताः (४३) ।
ताः परस्परसंसृष्ट्या तावता गुणनेन हि ॥

८०। षड्बिन्दुवसुचन्द्राः (१८०६) स्युश्चित्रं चेत्तत्र गण्यते ।
तदा तस्य बहुत्वेऽपि स्यादैक्यं तेन तद्युतौ ॥

८१। मुनिबिन्द्विभचन्द्राः (१८०७) स्युः सङ्करेण त्रिधा पुनः ।
चन्द्रपक्षाब्धिबाणाः (५४२१) स्युः शब्दालङ्कारसंग्रहे ॥

८२। अर्थालङ्कृतयः शुद्धा द्विषष्टिस्तत्प्रभेदतः ।
अश्वनागशशाङ्काः (१८७) स्युस्तावता गुणनेव ते ॥

८३। इतरेतरसंसृष्ट्या ग्रहर्तुग्रहसिन्धुभिः ।
युतोऽग्नि-(३४९६९) रेते च पुनः सङ्करेण त्रिरूपिणा ।
अश्वबिन्दुग्रहाम्भोधिबिन्दुचन्द्राः (१०४९०७) प्रकीर्तिताः ॥

८४। शब्दालङ्कारसंसृष्ट्या वाजिसिन्धुमतङ्गजैः ।
द्विद्रबिन्द्वब्धीभषड्बाणा(५६८७००८४७)उभयालङ्कृतिग्रहाः ॥

८५। रसवत्-प्रेय-ऊर्जस्वि-समाहित-समाख्यया ।
रसालङ्कृतयोऽप्यन्याश्चतस्रो रसपोषिकाः ॥

८६। अथैषां कथ्यते दोषो वैफल्यं वृत्त्ययोग्यता ।
प्रसिद्धेश्च विरुद्धत्वमनुप्रासे मलत्रयम् ॥

८७। पादत्रयगतत्वेन यमनं यमकस्य तु।
अप्रयुक्ततया दोष उपमायान्तु हीनता।
आधिक्यञ्च भवेज्जातिप्रमाणाभ्यां तदापि सः॥

८८। लिङ्गस्य वचनस्यापि कालस्य पुरुषस्य च।
विध्यादेरपि भेदे चासाम्यासम्भाव्ययोरपि॥

८९। सारूप्ये लिङ्गभेदस्तु न दोषो न च वा गुणः॥

९०। उत्प्रेक्षायां यथाशब्द एवमन्येऽपि सूक्ष्मतः॥

—※—

[नवमकिरणः]

१। रीतिः स्याद्वर्णविन्यासविशेषो गुणहेतुकः॥

२। वैदर्भ्यादि-विशेषेण चतुर्धा सा निगद्यते॥

३। अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वास मस्तगुण--भूषिता।
वैदर्भी सा तु शृङ्गारे करुणे च प्रशस्यते॥

४। पाकोऽप्यस्याः सहायः स्यादाम्रवार्त्तकि-पाकवत्॥

५। पूर्वपूर्वदशायाश्चेदुत्तरोत्तर-रम्यता।
तदा रसालपाकः स्याद्विपरीते तदान्यकः॥

६। कथाप्रायो हि यत्रार्थो माधुर्यप्रायको गुणः।
न गाढ़ता न शैथिल्यं सा पाञ्चाली निगद्यते॥

७। निष्ठुराक्षरविन्यासाद्दीर्घवृत्तियुतौजसा।
गौड़ी भवेदनुप्रासबहुला वा समन्ततः॥

८। शैथिल्यं यत्र मृदुलैर्वर्णैर्लादिभिरुत्कटम्।
सा लाटी स्याल्लाटजनप्रियानुप्रासनिर्भरा॥

—※—

[दशमकिरणः]

१। रसापकर्षको दोषो रसोऽत्रास्वाद उच्यते ॥
२। अपकर्षहेतुस्थगतं स च त्रेधा निरूप्यते ॥
३। श्रुतिकट्वादयस्तत्रादावुच्यन्ते समासतः ।
पदे वाक्ये पदांशेऽपी अर्थे चेति चतुर्विधाः ॥
४। श्रवणकठोरमसंस्कृत--,मसमर्थञ्चाप्रयुक्तनिहतार्थे ।
व्यर्थमवाचकमपि च--,नुचितार्थं ग्राम्यमप्रतीतञ्च ।
५। अश्लीलं सन्दिग्धं, नेयार्थमथो समासगं क्लिष्टम् ।
अविमृष्टविधेयांशं, विरुद्धमतिकृच्च षोडशैतानि ॥
६। एवमन्ये यथास्थलं ज्ञेया वाक्ये तथैव च ॥
७। प्रतिलोमाक्षरमाहत--,नष्टविसर्गञ्च संहिताहीनम् ।
हतवृत्तं हीनाधिक--,कथितपदं प्रस्खलत्प्रकर्षञ्च ॥
८। ससमाप्त-पुनरुपात्ते, नर्थमतयोगसङ्कीर्णे ।
अर्धान्तरैकवाचकं,--मनभिहितार्थं प्रसिद्धिधूतमपि च ॥
९। अपदस्थपदसमासं, गर्भित--भग्नक्रमाक्रमाण्यपि च ।
अमतपरार्थञ्चेति, ज्ञेयं दोषान्वितं वाक्यम् ॥
१०। रणितादि नूपुरादिषु, विहगादिषु कूजितादीनि ।
स्तनितादि च जलदादौ, भेर्यादिषु भाङ्कृतादीनि ॥
११। भणितादीनि च सुरते, रवादि भेदादिषु प्रसिद्धिरियम् ।
अस्या विपर्यये स्यात्, प्रसिद्धिधूतदूषणं वाक्ये ॥
१२। विषादे विस्मये हर्षे कोपे दैन्येऽवधारणे ।
उद्देश्यप्रतिनिर्देश्य-विषये च प्रसादने ।
अनुकम्पादिके चापि पौनरुक्त्यं न दुष्यति ॥
१३। कष्टोऽपुष्टव्याहत-,पुनरुक्त--ग्राम्य-दुष्क्रमा अपि च ।
संशयितो हेतुहतः, प्रसिद्धिविद्याविरुद्धश्च ॥
१४। अनवीकृतः सनियमोऽ-,नियमेऽनियमस्तथा सनियमे च ।

सामान्ये सविशेषः, सामान्ययुतो विशेषे च ॥

१५। साकाङ्क्षो निर्वाहे, पूरणकारी विरूपसहचरितः ।
व्यङ्ग्यविरुद्धो विध्यनु--वादाऽयुक्तस्तथाऽश्लीलः ।
त्यक्तपुनःस्वीकृत इति, दुष्टा अर्थास्तु विंशतिस्त्रियुता ॥

१६। चित्रंवयं चित्रकाव्यादौ न दोषो न च वा गुणः ॥

१७। कर्णावतंसादिषु यत् कर्णादि--शब्द ईक्ष्यते ।
तत्सान्निध्यादिबोधार्थं तज्ज्ञेयं न प्रयोजयेत् ॥

१८। रसानां शब्दवाच्यत्वं स्थायिनां व्यभिचारिणाम् ।
विभावस्यानुभावस्य व्यक्तौ कष्टा च कल्पना ॥

१९। प्रतिलोमविभावादिग्रहो दीप्तिरभीक्ष्णशः ।
वृथाविस्तारह्रासौ च तथाङ्गस्यातिविस्तृतिः ॥

२०। अङ्गिनोऽनभिसन्धानं प्रकृतीनां व्यतिक्रमः ।
अनङ्गस्य प्रकटनं रसदोषा इमे स्मृताः ॥

२१। एकाश्रयत्वे रसयोर्न विरोधः प्रवर्त्तते ।
भिन्नाश्रयत्वे विरोधः शान्त-शृङ्गारयोर्यथा ॥

—※—

※ श्रीश्रीगौरगदाधरौ जयतः ※

विषयसूची

श्रीमदलङ्कारकौस्तुभस्य संज्ञाविशेषानुक्रमः

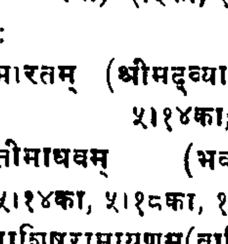
(दक्षिणपार्श्वस्थाङ्का किरण-क्रमिकश्लोकसंख्यानामिति ज्ञेयम्)

—:※※:—

श्रीमदलङ्कारकौस्तुभोद्धृत–ग्रन्थ–ग्रन्थकृन्नाम–सूची

(दक्षिणपाश्र्वस्थाङ्का: किरण--क्रमिकश्लोकसंख्यानामिति ज्ञेयम्)

[का—कारिका]



श्रीश्रीमदलङ्कारकौस्तुभ-श्लोकसूची

[मातृकाक्रमेण श्लोकानां चतुर्णामेव चरणानां निर्देशिका]

(श्लोक-प्रतीकानां दक्षिणपार्श्वस्थाङ्काः किरण-श्लोक-संख्यानामिति ज्ञेयम्)

॥ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ॥

श्रीमत् महाकवि-श्रील-कविकर्णपूर गोस्वामि प्रभुपाद विरचितः

श्रीश्रीमदलङ्कारकौस्तुभः

प्रथम किरणः

अथ काव्यसामान्योद्देशः

॥ श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः ॥

ग्रन्थारम्भे स्वाभीष्टदेवता-नाम-गुण-कीर्त्तनात्मकं मङ्गलमङ्गीकुर्वन् ग्रन्थकारो ग्रन्थस्य निर्विघ्नां परिसमाप्तिमाशास्ते—

स्वानन्द रससतृष्णः, कृष्णचैतन्य विग्रहो जयति ।
आपामरमपि कृपया, सुधया स्नपयाम्बभूव भूमौ यः ॥१॥

श्रीश्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ति ठक्कुरपाद विरचित

सुबोधिनी

प्रथम किरणः

अथ काव्यसामान्योद्देशः

॥ श्रीश्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः ॥

अद्वैतप्रकटीकृतो नरहरि-प्रेष्ठः स्वरूपप्रियो
नित्यानन्दसखः सनातनगतिः श्रीरूप-हृत्-केतनः ।
लक्ष्मीप्राणपतिर्गदाधररसोल्लासी जगन्नाथभूः
साङ्गोपाङ्गसपार्षदो स जयतां देवः शची नन्दनः ॥

अथ सोऽयं कवि मुकुट मणिः श्रीकविकर्णपूर गोस्वामी स्वकृत श्लोकानां स्वयमेव व्याख्यामाह— ग्रन्थारम्भ इति । ग्रन्थकारोऽत्र स्वयमेव निर्विघ्नां परिसमाप्तिमाशास्ते,—मत्कृत ग्रन्थस्य निर्विघ्नेन परिसमाप्ति र्भवत्वितीच्छतीत्यर्थः । स्वानन्देति—चैतन्यनामा विग्रह श्चैतन्य विग्रहः । कथम्भूतः ? कृष्ण—श्रीकृष्णाभिन्नः, स जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते, स्वीयो जो भजनानन्द रसस्तत्रस्वयमेव सतृष्णः, यो भूमौ

कवि मुकुट मणि श्रील कवि कर्णपूर गोस्वामि चरण स्वकीय अलङ्कार कौस्तुभ नामक ग्रन्थ की निर्विघ्न परि समाप्ति कामना से ग्रन्थारम्भ में निज अभीष्ट देवता का नाम गुण कीर्त्तनात्मक मङ्गलाचरण कर रहे हैं । निज आनन्द रस में सतृष्ण, श्रीकृष्णाभिन्न चैतन्य विग्रह भगवान् की जय हो । जो भूतल में

स जयति येन प्रभवति, दृशि सुदृशां व्यञ्जनावृत्तिः।
अतिशयित पद पदार्थो, ध्वनिरिव मुरलो ध्वनिर्मुरारातेः ॥२॥

जयति रत्राकर्म्मकः, सर्वोत्कर्षवचन स्तेन नमस्कारोऽपिव्यज्यते, "स्वापकर्ष बोधानुकूल-व्यापार विशेषोनमस्कारः" इति न्यायात्। सर्वोत्कर्षं दर्शयति-पदं वैकुण्ठादि स्थानम्, पदार्थो

तिष्ठन् पामर पर्य्यन्तं कृपया सुधया स्वपयाङ्गीकारं निमज्जयति स्म। अथवा—स्वेषु राधिकादि भक्त जनव्वानन्द दायको यो रसः शृङ्गाराख्य स्तत्र सतृष्णः स्तद् रसमास्वादयितुमिच्छन् श्रीकृष्णचैतन्याख्य विग्रहः सन् भूमौ स्थितं पामर पर्य्यन्तं कृपा-रूपया सुधया स्नपयाम्बभूवेत्यन्वयः ॥१॥

'जि अभिभवे' इति परिभवार्थक जिधातुः सकर्म्मकः। अतस्तद् व्यावृत्त्यर्थमाह--जयतीति। जयति सकर्मकः, तेन--नमस्कारो व्यज्यते, स्वनिष्ठो योऽपकर्षबोधानुकूल व्यापारः, स नमस्कार इति नमस्कार लक्षणम्। अत्र तु स्वापेक्षया तदुत्कर्ष बोधकाले तुल्यवित्ति वेद्यतान्यायेन स्वस्मिन्नप्यपकर्षबोधो जायते। तादृश बोधानुकूलव्यापारो जयतीति प्रयोगे एवं नमस्कारः। तेन ग्रन्थ कारस्यापि वाचनिक नमस्कार सिद्धिरिति भावः। 'पदं व्यवसिति त्राण स्थान लक्ष्माङ्घ्रि वस्तुषु' इत्यभिधानात् पदशब्दोऽत्र वैकुण्ठादि स्थान विशेष वाचकः स्तथा पदार्थ शब्दोऽपि वास्तव वस्तुभूत ब्रह्मानन्द रूप पदार्थ विशेष वाचकः, ताभ्यां पद पदार्थाभ्यां सकाशाद् योऽतिशय उत्कर्ष स्तद् विशिष्टः, तथा च पद पदार्थाभ्यां सकाशादतिशयित इति राजदन्त्यादित्वादतिशयित इति पूर्वनिपातः। अतएव ताभ्यामतिशयीति अत्रातिपूर्वकाकर्मक-शीधातु-रुत्कर्ष वाचकः। तत्र तत्र वैकुण्ठे ब्रह्मानन्दे च दुर्लभ इति। ननु तदपेक्षया मुरलीध्वनौ उत्कर्ष बोधे सति कथं तत्र मुरलीध्वने र्दुर्लभता प्रतीति र्यथा मुखचन्द्रापेक्षया मन्दहासोऽतिशयित इत्युक्ते न च मुखे मन्द

अवस्थित होकर आपामर जन गण को कृपारूप सुधारस से अभिषिक्त किये हैं। स जयति-पद सर्वोत्कर्ष का सूचक है। अथवा निज राधिकादि भक्त वृन्द को आनन्द दायक जो शृङ्गार, शुचि, उज्ज्वल नामक रस है, उसमें सतृष्ण हैं, अर्थात् उस रस को सम्यक् रूप से आस्वादन कराने के इच्छुक होकर कृष्णचन्द्र श्रीकृष्ण चैतन्य विग्रह रूप में भूतल में अवतीर्ण होकर पामर पर्य्यन्त समस्त जन गण को कृपा रूपा सुधा के द्वारा अभिषिक्त किये हैं। इस प्रकार अन्वय प्रथम श्लोक का है। (१)

पद पदार्थ से अतिरिक्त ध्वनि नामक वस्तु का जिस प्रकार काव्य में सर्वोत्कर्ष दृष्ट होता है, उस प्रकार जिस ध्वनि के प्रभाव से सुदर्शना गोपाङ्गना वृन्द के नयनाश्रु प्रवाहित होने से अञ्जन रेखा का विलोप हेतु व्यञ्जना अर्थात् विगताञ्जना वृत्ति सञ्जात होती है, वैकुण्ठादि पद एवं ब्रह्मानन्द पदार्थ से भी उत्कर्ष शाली अर्थात् उस स्थान में भी सुदुर्लभ मुरारि की उस मुरली ध्वनि की जय हो।

'जय हो' यहाँ 'जि' धातु अकर्म्मक एवं सर्वोत्कर्ष वाचक है, उस के द्वारा नमस्कार भी व्यञ्जित हो रहा है। कारण निज अपकर्ष बोध जनक व्यापार को नाम नमस्कार है एवं निज अपेक्षा अपर का उत्कर्ष बोध के समय अपने में अपकर्ष बोध स्वतः ही होता है। 'ध्वनि के समान मुरलीध्वनि' इस उपमालङ्कार में ग्रन्थ का प्रति पाद्य विषय भी प्रदर्शित हुआ है। ध्वनि, यहाँ व्यङ्ग्यभूत उत्तम काव्य विशेष है। ध्वनि शब्द से नाद ब्रह्म का भी बोध होता है (२)

टीका का अर्थ—'जि अभिभवे' परिभवार्थक जि धातु सकर्म्मक है। अतएव उसकी व्यावृत्ति हेतु कहे हैं—जयतीति। जयति-यहाँ अकर्मक है। उससे नमस्कार बोध होता है-नमस्कार का लक्षण-स्व-

वस्तुभूतो ब्रह्मानन्दस्ताभ्यामप्यतिशयी,—तत्र तत्रापि दुर्लभ इत्यर्थः। तत्र बीजमाह-येनेत्यादि। येन हेतुभूतेन सुदृशां गोपाङ्गनानां दृशि नेत्रे व्यञ्जना विगताञ्जना वृत्तिः प्रभवति,—आनन्दाश्रुधौतत्वात्। ग्रन्थस्याभिधेयमप्युपमालङ्कारेण दर्शयति— ध्वनिरिति। ध्वनिरुत्तम काव्यतत्त्वं व्यङ्ग्यभूतं यत् किमपि, स कीदृशः? अतिशयितो पद पदार्थो येन,—

हासस्य दुर्लभता प्रतीति भवतीति चेत्—उच्यते,—अत्रातिशय—पदमुत्कर्ष विशेष—वाचकम्। स च उत्कर्ष विशेषो वैकुण्ठे ब्रह्मानन्दाभ्यां वृन्दावनस्य च उत्कर्षस्तस्य हेतुरूपः। तथा च मुरलीध्वनौ वृन्दावनोत्कर्ष हेतुरूपोत्कर्षस्तदैवसिद्धयति। यदि वैकुण्ठे ब्रह्मानन्दे च मुरलीध्वनिर्नतिष्ठतीत्याक्षेपबलादेव तत्र तुल दुर्लभता प्रतीतिः स्यादेवेत्यभिप्रायः। तत्रोत्कर्ष-विशेषे हेतुमाह—येन मुरलीध्वनिना हेतुभूतेन गोपाङ्गनानां नेत्रे विगतमञ्जनं यत्र तथाभूता वृत्तिः सत्ता प्रभवति—जायते, आनन्दाश्रुधौतत्वात्। तथा च वृन्दावने एव सर्व पुरुषार्थ शिरोमणि-भूतस्य मुरलीध्वनि हेतुक गोपाङ्गना प्रेमोदयस्य सम्भवः, न तु वैकुण्ठे। वैकुण्ठे ब्रह्मानन्दे ... ब्रह्मानन्दे तु प्रेमसामान्य गन्ध एव नास्तीति भावः। तस्माद् वैकुण्ठे ब्रह्मानन्दे ऽप्येतादृशानन्द जनकत्वाभावात् मुरलीध्वने रुत्कर्ष इति भावः।

ग्रन्थस्याभिधेयम्—प्रतिपाद्यमुत्तमं—काव्यस्य तत्त्वम्—स्वरूपम्। अतिशयितौ—अतिक्रान्तौ पद पदार्थौ

निष्ठो योऽपकर्ष-बोधानुकूल व्यापारः स नमस्कारः॥ अपने में जो अपकर्ष बोधानुकूल व्यापार है, वही नमस्कार है। यहाँ निज अपेक्षा अपर का उत्कर्ष बोध के समय 'तुल्य वित्ति वेद्यतान्यायसे' निज में भी अपकर्ष बोध होता है। उस प्रकार बोधानुकूल व्यापार ही 'प्रयति' प्रयोग में नमस्कार है। अतएव ग्रन्थकार का भी वास्तविक नमस्कार निष्पन्न होता है। 'प्रद' शब्द के अर्थ हैं—व्यवसिति—अर्थात् चेष्टा, आरंभ, निश्चय, अनुष्ठान, अभिप्राय, त्राण, स्थान, चिह्न, चरण। अतः प्रद शब्द—वैकुण्ठादि स्थान विशेष का वाचक है, तथा पदार्थ शब्द भी वास्तव वस्तुभूत ब्रह्मानन्द रूप पदार्थ विशेष का वाचक है। उस पद पदार्थ से जो अतिशय उत्कर्ष—तद्विशिष्ट हैं। अतएव पद पदार्थ से अतिशयित यह समास सूत्र 'राजदन्तादित्वात्' से निष्पन्न है, एवं पूर्व निपात है। अतः पद पदार्थ से अतिशयित यहाँ अति पूर्व अकर्मक शी धातु उत्कर्ष वाचक है। वैकुण्ठ एवं ब्रह्मानन्द में दुर्लभ है।

मुरली ध्वनि का उत्कर्ष होने पर वहाँ मुरली ध्वनि की दुर्लभता प्रतीति होती है, जिस प्रकार मुखादि अङ्ग की अपेक्षा मन्दहास उत्कर्ष मण्डित है—इस प्रकार कहने पर मुख में मन्दहास की दुर्लभता प्रतीति नहीं होती है? उत्तर में कहते हैं—अतिपद यहाँ उत्कर्ष विशेष का वाचक है। वह उत्कर्ष विशेष वैकुण्ठ एवं ब्रह्मानन्द से वृन्दावन का जो उत्कर्ष है, उसका हेतु रूप है। अतएव मुरली ध्वनि में वृन्दावन उत्कर्ष हेतु रूप उत्कर्ष तब सिद्ध होगा, यदि वैकुण्ठ एवं ब्रह्मानन्द में मुरली ध्वनि न हो, इस प्रकार आक्षेप से ही वैकुण्ठ एवं ब्रह्मानन्द में दुर्लभता प्रतीति ही होगी, यह अभिप्राय है। उत्कर्ष के प्रति हेतु को कहते हैं—जिस मुरली ध्वनि के कारण गोपाङ्गनाओं के नयन अञ्जन रहित होते हैं। आनन्दाश्रु के द्वारा अञ्जन धौत हो जाता है। अतएव वृन्दावन में ही सर्व पुरुषार्थ शिरोमणि स्वरूप मुरली ध्वनि हेतुक गोपाङ्गनाओं का प्रेमोदय सम्भव है, किन्तु वैकुण्ठ में ऐसा नहीं होता है, ब्रह्मानन्द में तो प्रेम सामान्य की गन्ध भी नहीं है। यही तात्पर्य्य है। अतएव वैकुण्ठ में एवं ब्रह्मानन्द में भी इस प्रकार आनन्द जनकत्व का अभाव हेतु मुरली ध्वनि का उत्कर्ष है।

पद पदार्थातिरिक्त इत्यर्थः। सुष्ठु पश्यन्तीति सुदृश आलङ्कारिका स्तेषां दृशि ज्ञाने येन व्यञ्जनावृत्तिः प्रभवति प्रभु भवति॥ २॥

किञ्च, ध्वनिर्नाद ब्रह्म, तदुक्तम्--(शङ्कराचार्यस्य प्रपञ्चसारतन्त्रे ३।४३)

"मूलाधारात् प्रथममुदितोयस्तु तारः पराख्यः,
पश्चात् पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धि युङ् मध्यमाख्यः।
वक्त्रे वैखर्य्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्णा बद्धस्तस्माद् भवति पवनप्रेरितो वर्णसङ्घः॥"

तस्यापि सर्वोत्कर्ष शालित्वं तत एव सर्ववेद सिद्धेः। तत् पक्षे,-अति-अतिशयेन

येन,—पद पदार्थाभ्यामतिरिक्तो भिन्न इत्यर्थः। अतिक्रमणार्थकोऽति पूर्वक--शीधातुः सकर्मकः, यथा एक एव जिधातुरुत्कर्षार्थकश्चेदकर्मकः पराभवक हेतुः सकर्म्मकस्तथात्रापि। स्वस्मिन् स्वस्याति क्रमणासम्भवादति क्रमणलिङ्गेनैव पदे अर्थे च ध्वनेर्भेद प्रतीतिः स्यादेवेति भावः। 'दृशि ज्ञाने' इति, 'दृक् ज्ञाने ज्ञातरित्रिषु" इत्यमरः॥२॥

अथ योग शास्त्रमते प्रणव-घटकी-भूतनाद रूप ब्रह्मत एव सृष्ट्युत्पत्तिः, एवं वर्णात्मकाः सर्वे शब्दा नित्या एव। कण्ठ ताल्वाद्यभिघातेन तेषां प्राकट्यमेवोत्पत्ति स्तन्मतमालम्ब्याह—किञ्चेति तदुक्त योग शास्त्रे,— यस्तु तारो नादो वर्णरूपः सन् नाभिरूप मूलाधारात् प्रथममुदय प्राप्तश्चेत् परेत्याख्या संज्ञा यस्य तथाभूतो भवति। अथ अनन्तरं पश्चात् स एव तारो हृदयं चित्तं गतश्चेत्तदा पश्यन्त्याख्यो भवति, बुद्धियुक्त श्चेन्मध्यमाख्यः, वक्त्रे कण्ठे गतश्चेद् वैखरीत्यभिख्या संज्ञायस्य तथाभूत। प्रणव घटकी भूत नादस्य स्वरूपानुभवस्तु रोदन समये नासिका द्वारा यथा कथञ्चिद् भवतीत्याह--रुरुदिषोर्जन्तो र्नासामध्य-स्थित सुषुम्णा नाड्या बद्धः, तथा च नासा द्वारैव यथा कथञ्चिन्नादस्वरूपः प्रत्यक्षो भवतीति भावः। तस्माद् वैखरी दशापन्नात्तारात् पवन प्रेरितो वर्ण समूहो बहिः सर्वेषां प्रत्यक्ष विषयो भवतीत्यर्थः।

ग्रन्थ का अभिधेय—प्रतिपाद्य-उत्तम काव्य- का तत्त्व-स्वरूप है। अतिशयित—जिस के द्वारा पद पदार्थ का अतिक्रम हुआ है। अर्थात् पद--पदार्थ-से--अतिरिक्त भिन्न अर्थ है। अतिक्रमणार्थक-अतिपूर्वक 'शी धातु' सकर्म्मक है। जिस प्रकार एक ही 'जि' धातु- उत्कर्षार्थक यदि हो तो अकर्म्मक होता है, पराभवक हेतु होने से सकर्म्मक होता है, यहाँ पर भी वैसा जानना होगा। निज में निज का अतिक्रमण होना सम्भव न होने से पद एवं अर्थ में ध्वनि की भेद प्रतीति होगी, यही तात्पर्य है, 'दृशि' धातु ज्ञान अर्थ में प्रयुक्त होता है। अमर कोष में उक्त है--'दृक् ज्ञाने ज्ञातरित्रिषु"॥२॥

—योगशास्त्र में उक्त है, नाद प्रथमतः मूलाधार से उत्पन्न होकर परा नाम प्राप्त होता है। अनन्तर क्रमशः हृदय गत होकर पश्यन्ती नाम से, एवं बुद्धि युक्त होकर मध्यमा नाम से, तथा कण्ठ गत होकर वैखरी नाम से अभिहित होता है। रोदन में प्रवृत्त बालक के नासिका मध्यस्थित एवं सुषुम्णा नाड़ी द्वारा बद्ध होकर वह नाद अनुभूत होता है। इस प्रकार पवन प्रेरित होकर वर्ण समूह साधारण के प्रत्यक्ष विषय होते रहते हैं।

प्रणव घटक उक्त नाद का भी सर्वोत्कर्षशालित्व है। कारण उससे वेदादि निखिल पदार्थ की सिद्धि हुई है। उस पक्ष में 'अतिशयित शब्द पदार्थ, इस विशेषण से अति—अत्यन्त, शयित--सुप्त पदार्थ

शयितौ सुप्तौ पद पदार्थौ यस्मिन्, परम्परया वर्ण पदादीनां सर्वेषां ध्वनिरेव बीजमिति भावः। व्यज्यतेऽनया सर्व मिति व्यञ्जना माया, युट् प्रत्ययसिद्धेः, तस्या वृत्तिः प्रपञ्चो येन प्रभवतीति। सुदृशां ज्ञानिनां ज्ञाने, शेषोभय पक्ष--स्वीकारः काव्योपयोगित्वात् ॥३॥

परापश्यन्ती वशापन्नस्तु-योगिनामेव प्रत्यक्षो भवति, नतु सर्वेषामित्यपि बोध्यम्। ननु नादस्य सर्वोत्कर्षः कुतः? तत्राह—तस्यापीति वेदाद्यखिल पदार्थ सिद्धे हेतुत्वेनैव तस्य सर्वोत्कर्ष इति भावः। सुप्तौ प्रलये लीनतया स्थितौसृष्टि समये ततो निःसरत इति भावः।

व्यञ्जना इति ण्यन्तात् युच् प्रत्ययेन सिद्धा, तस्या मायाया वृत्तिर्जगद् रूपः प्रपञ्चो येन नादरूप चैतन्य सम्बन्धेन ज्ञानिनां ज्ञाने प्रभवति—ज्ञानिनां ज्ञेयो भवतीत्यर्थः। शेषोभय पक्षो दृष्टान्त रूपः शब्द ध्वनि पक्षो नाद-पक्षश्च। तत्र काव्यस्य प्राण रूपत्वादेव ध्वनेरुपयोगित्वम्, काव्याद्यखिलोत्पादकत्वेन च नादस्योपयोगित्वमिति बोध्यम् ॥३॥

जिस में हैं,—इस प्रकार अर्थ समझना होगा। कारण,—ध्वनि ही परम्परा सम्बन्ध में वर्ण पदादि समूह को उत्पत्ति का कारण है। एवं 'जिस के द्वारा व्यञ्जित होता है। इस अर्थ में युट् प्रत्यय सिद्ध व्यञ्जना शब्द से माया, उसकी वृत्ति--अर्थात् जगत् प्रपञ्च सम्यग् दर्शित ज्ञानि वृन्द के ज्ञान में आविर्भूत होता है, इस प्रकार अर्थ अभिप्रेत है। शेषोक्त ध्वनि एवं नाद—उभय पक्ष ही काव्य में उपयोगी होने के कारण-स्वीकार्य्य हैं।

टीका का अर्थ—योग शास्त्र के मत में प्रणव घटकीभूत नादरूप ब्रह्म से ही सृष्ट्यादि की उत्पत्ति होती है। इस रीति से वर्णात्मक समस्त शब्द ही नित्य है। कण्ठ तालु प्रभृति के अभिघात से उन सब का प्राकट्य होता है। इस मत को अवलम्बन कर कहते हैं। किञ्च, योगशास्त्र में उक्त है—जो तार-नाद वर्ण रूप को प्राप्तकर नाभिरूप मूलाधार से प्रथम उदित होकर परा संज्ञा को प्राप्त करता है, अनन्तर हृदय-चित्तगत होकर तार--"पश्यन्ती' नाम को प्राप्त करता है, यदि यह बुद्धि गत होता है, तो मध्यमा, वक्त्र-कण्ठ गत होकर-वैखरी नाम से अभिहित होता है। प्रणव घटकीभूत नाद का स्वरूपानुभव-रोदन समय में नासिका द्वारा यथा कथञ्चित् रोदन समय में जन्तु की नासिकास्थित सुषुम्णा नाड़ि के द्वारा बद्ध होता है, अतएव नासिका के द्वारा ही नादका प्रत्यक्ष होता है। यह तात्पर्य्य है।

अतएव वैखरी वशापन्न तार से पवन प्रेरित वर्ण समूह समस्त व्यक्ति के प्रत्यक्ष होते हैं। 'परापश्यन्ती' योगी के प्रत्यक्ष होती हैं, परा पश्यन्ती संज्ञा प्राप्त नाद सबका प्रत्यक्ष नहीं होता।

नादका सर्वोत्कर्ष कैसे होता है? उत्तर में कहते हैं—तस्यापीति। उससे वेदादिनिखिल पदार्थ निष्पन्न होने के कारण-उसका सर्वोत्कर्ष है। यह तात्पर्य्य है।

प्रलय समय में लीनरूप में स्थित होने के कारण--सृष्टि समय में उसका निर्गमन है।

"व्यञ्जना" ण्यन्त के उत्तर युच् प्रत्यय सिद्ध है, माया की वृत्ति जगद् रूप प्रपञ्च जिस से होता है, नाद रूप का अनुभव योगियों के ज्ञान में होता है। शेषोभयपक्ष--दृष्टान्त रूप शब्द ध्वनि पक्ष एवं नाद पक्ष है। काव्य का प्राण स्वरूप होने के कारण-ध्वनि उपयोगी है, एवं काव्यादि समस्त वस्तु का उत्पादक होने के कारण-नाद की उपयोगिता है। इस प्रकार जानना होगा ॥३॥

प्रकारान्तरेणोत्कर्षमथ स्तौति,—

गोकुलललनामोदी, नानाविध एव स खलु भावानाम् ।
शाबल्य प्रशमोदयसन्धि सुगन्धिश्चमत्कारी ॥

अत्रापि त्रय एव पक्षाः । स इति मुरलीध्वनिः, काव्यध्वनिर्नादश्च । आद्ये भावानां व्यभिचारि प्रभृतीनाम्, द्वितीयेऽपि तेषामेव, तृतीये भूतानाम् । आद्ये गोकुल-ललना गोपाङ्गनाः, द्वितीये गोर्वाचः, कुलं वर्णादि स्तस्य ललनमीप्सा तृतीये गौर्वाग् देवता सैव कुल

—उत्कर्षमथ ध्वनेरुत्कर्षम् । अत्रापीति-मुरलीध्वनि, शब्दध्वनि, नाद ध्वनयस्त्रय पक्षाः । स ध्वनि नानाविधो भवति, आद्ये—मुरलीध्वनिपक्षे, भावानां-व्यभिचारि सात्त्विक प्रभृतीनां, सन्धि-शाबल्य-प्रशमोदयैः सुष्ठु गन्धो यस्य सः । तथा च स ध्वनि भावि शाबल्य-भावशान्ति-भावोदय-भाव-सन्धिरूप पुष्पैः सुगन्ध युक्तो वृक्षो यथा स्वकार्य्य रूपैः पुष्पैः सुगन्ध युक्त स्तथा ध्वनिरपि स्वकार्य्य भूत भावशाबल्यादि पुष्पैः सुगन्धिभिरेव शोभित इत्यर्थः ।

द्वितीये-शब्द ध्वनि पक्षेऽपि तेषां व्यभिचारि भावादीनां शाबल्यादिभिः सुगन्धिः ।

तृतीये—नाद ध्वनि पक्षे,—भावानां भूतानां शाबल्यादिभिः । मुरलीध्वनिः पुनः कीदृशः ? गोकुल-ललनामोदी,—गोकुलाङ्गना आमोदयतीत्यर्थः । द्वितीये शब्द ध्वनि पक्षे,—तस्य वर्णादे ललनं प्राप्तीच्छा

—प्रकारान्तर से ध्वनि का उत्कर्ष प्रतिपादन करते हैं । उक्त ध्वनि-अर्थात् मुरलीध्वनि, काव्य ध्वनि एवं नाद विविध प्रकार होते हैं । वह भाव समूह की सन्धि, शाबल्य, प्रशम एवं उदय से सुशोभित गोकुलललनामोदी एवं अतिशय चमत्कार का जनक है । प्रथम पक्ष में भाव,—व्यभिचारी, सात्त्विक प्रभृति भाव है, गोकुलललना गोपाङ्गना है ।

द्वितीय पक्ष में भाव—पूर्वोक्त व्यभिचारी प्रभृति हैं, गो शब्द का अर्थ—वाक् है, उसके कुल-अर्थात् वर्णादि हैं, ललन-शब्द का अर्थ—प्राप्तीच्छा है । तृतीय पक्ष में—भाव समूह शब्द का अर्थ-भूत समूह है, एवं गो—वाग् देवता है, वही कुल ललना स्वरूप है, शाबल्य मिश्रित भाव प्रशम-नाश, उदय—सृष्टि, सन्धि-सन्धान है । ये सब अर्थ तीन पक्ष में ही समान है । शब्दार्थ चमत्कारात्मक एवं काव्य का स्वरूप निरूपक इस ग्रन्थ में शब्द एवं अर्थ का प्राधान्य हेतु एवं तदुभय वर्ण मूलत्व एवं वर्ण का ध्वनि मूलत्व हेतु यहाँ नाद स्वरूप ध्वनि का वर्णन संक्षेप से हुआ ।

टीका का अर्थ—मूलोक्त उत्कर्ष-का अर्थ है--ध्वनि का उत्कर्ष, अत्रापीति--शब्द से मुरलिध्वनि--शब्द ध्वनि नाद ध्वनि रूप त्रिविध पक्ष सूचित हुये हैं । वह ध्वनि त्रिविध है, प्रथम--मुरलि ध्वनि पक्ष में—व्यभिचारि सात्त्विक प्रभृति भावों के सन्धि-शाबल्य-प्रशमोदय के द्वारा सुष्ठु गन्ध है जिसका, वह तथा च,—वह ध्वनि,-भाव शाबल्य-भावशान्ति भावोदय भाव सन्धि रूप-पुष्पों के द्वारा सुगन्ध युक्त वृक्ष जिस प्रकार निज कार्य्यरूप पुष्प समूह के द्वारा सुगन्ध युक्त है, उसी प्रकार ध्वनि भी निज कार्य्य भूत-भाव शाबल्य प्रभृति पुष्पों के द्वारा सुगन्धित होकर शोभित है ।

द्वितीय पक्ष में—शब्द ध्वनि पक्ष में भी वे सब व्यभिचारि भाव समूह भी शाबल्य प्रभृति द्वारा सुगन्धित हैं ।

ललना। शाबल्यं मिश्रीभावः, प्रशमो नाशः, उदयः सृष्टिः, सन्धिः सन्धानम्, पक्षत्रयेऽपि तौल्यम् ॥४॥

अस्मिन् ग्रन्थे शब्दार्थयोः प्राधान्येन तयोश्च वर्ण मूलत्वेन,

वर्णानाञ्च ध्वनि मूलत्वेन, ध्वनेर्नाद ब्रह्मण उद्देशः कृतः।

अथ ध्वनेः काव्य-प्राणत्वं दर्शयिष्यन् काव्यस्य शरीरादि स्वरूपमाह—

शरीरं शब्दार्थौ ध्वनि रसव आत्मा किल रसो

गुणा माधुर्याद्या उपमितिमुखोऽलङ्कृति गणः।

सुसंस्थानं रीतिः स किल परमः काव्य पुरुषो

यदस्मिन् दोषः स्याच्छ्रवण कटुतादिः स न परः॥

मन्त्रः, स चासौ आमोदी चेति। वर्णस्य प्राप्तिरत्रोच्चारणमेव। तथा च चमत्कृत ध्वन्यर्थस्य स्फूर्तौ सत्यां काव्यात्मक—वर्णानामुच्चारणेच्छा जायत इत्यर्थः।

तृतीये नादपक्षे—गौर्वाग् देवता—सरस्वती, सैव कुलललना, तामामोदयतीत्यर्थः। तौल्यमिति—पक्षत्रयेऽपि शाबल्यादेरेक एवार्थः॥४॥

—नन्वत्र ग्रन्थे नादात्मक ध्वने वर्णने किं प्रयोजनमित्यत आह-अस्मिन्निति। शब्दार्थ-चमत्कारात्मक काव्यस्य निरूपणेऽस्मिन् ग्रन्थे शब्दार्थयोः प्राधान्यम्, तयोः शब्दार्थयो वर्ण मूलत्वेन, तत्र च शब्दस्य वर्णघटितत्वेन वर्णमूलत्वम्, अर्थस्य तु वर्ण बोध्यत्वेन वर्णमूलत्वं ज्ञेयम्। वर्णानां नादस्वरूप ध्वनि मूलत्वेन नादब्रह्मणं उद्देशो नाम्ना कीर्त्तनं कृतः। नाद ब्रह्म व सर्वेषां वर्णानां मूलभूतमिति पूर्वमेवोक्तम्। काव्य प्राणत्वं दर्शयिष्यन् दर्शयितुम्। ध्वनिरसवः प्राणाः, यथा पुरुषस्य चातुर्य वैदग्ध्यादयो गुणास्तथा

तृतीय पक्ष में-अर्थात् नाद ध्वनि पक्ष में भाव समूह शाबल्य प्रभृति द्वारा सम्बन्धित हैं।

मुरली ध्वनि किस प्रकार है? गोकुल ललनामोदी-गोकुलाङ्गना को आमोदित करती रहती है। शब्द ध्वनि रूप द्वितीय पक्ष में वर्णादि की-ललन-प्राप्तीच्छा-जिस से होती है, वही आमोदी है, वर्ण की प्राप्ति-यहाँ उच्चारण ही है। अतएव चमत्कार रूप ध्वन्यर्थ की स्फूर्ति होने पर काव्यात्मक वर्ण समूह की उच्चारणेच्छा होती है। नाद पक्ष रूप तृतीय में-गो शब्द का अर्थ वाग् देवता सरस्वती है, वही कुल-ललना है, उस को आनन्दित करती रहती है। पक्षत्रय में ही शाबल्य प्रभृति का समान अर्थ है॥४॥

—सम्प्रति ध्वनि का काव्य प्राणत्व प्रदर्शन हेतु काव्य के शरीरादि वर्णित हो रहे हैं। काव्य का शरीर शब्दार्थ, ध्वनि प्राण, रस आत्मा, माधुर्यादि गुण, उपमा प्रभृति, अलङ्कार, रीति अङ्ग सौष्ठव, काव्य पुरुष-इस रीति से सुलक्षण सम्पन्न होता है। यदि इस में कोई दोष हो तो श्रुतिकटुतादि प्रसिद्ध दोष ही तन्मध्ये गण्य हैं, अन्यथा क्षुद्रतर दोष समूह दोष के मध्य में धर्त्तव्य नहीं हैं, कारण, वे रस के अपकर्षक नहीं हैं, किन्तु क्षुद्रतर दोष भी यदि दैवात् कदाचित उपस्थित होता है तो वह दोष रूप में धर्त्तव्य नहीं है। फलतः काव्य सर्वथा निर्दोष होना ही विहित है।

यदि दोषोभवेत्तदा श्रवण कटुतादिः प्रसिद्धः स्फुटदोष एव दोषः, नतु परः क्षुद्रतरः, रसानपकर्षत्वात् । सोऽपि यदि भवति, अतो निर्दोष एवासौभवितुमर्हतीत्यर्थः ।

उद्देशो, लक्षणं, परीक्षा चेति ग्रन्थस्य त्रयो व्यवहाराः तत्रादौ शब्दादीनामनेनैव श्लोकेनोद्देशः कृतः । लक्षण परीक्षे कर्त्तव्ये ॥५॥

काव्यस्य माधुर्य्याद्या एव । उपमितिरुपमानं मुखमादिर्यस्य तथा भूतोपमानाद्यलङ्कार एव काव्य पुरुषस्य-अलङ्कृति गणः कुण्डलाद्यलङ्कार समूहः, गौड़ी प्रभृति रीतिरेव काव्य-पुरुषस्य सुसंस्थानमङ्गादि सौष्ठवम् । परमः सल्लक्षण युक्तः काव्य-पुरुषः । स श्रवण-कटुतादिरेव दोषः, न परः, तस्मादन्य क्षुद्रतर दोषो न दोषोभवतीत्यर्थः । तत्र हेतुः—रसानपकर्षकत्वादिति । समर्थेन कविना क्षुद्रतर दोषोऽपि स्वकृत काव्ये न प्रवेशनीय इत्याह-सोऽपीति ।

स क्षुद्रतर दोषोऽपि दैवाद् यदि भवति, तदा न दोषः, अतएवासौ काव्यपुरुषो निर्दोष एव भवितु मर्हतीत्यर्थः । ग्रन्थस्य त्रयो व्यवहारा इत्युक्तत्वाद् ग्रन्थकारेणोद्देशादय स्त्रय एव कर्त्तव्या इत्यर्थः । तत्र तासु उद्देश लक्षण परीक्षासु मध्ये आदौ ग्रन्थारम्भ एव शब्दार्थ ध्वनि रस गुणालङ्काररीतीनाम् । अनेन काव्य पुरुषस्य वर्णन श्लोकेनोद्देशः कृतः । वर्णनीयार्थानां प्रथमतो नाममात्रेण कथनमुद्देशः ॥५॥

ग्रन्थारम्भ में ग्रन्थ का उद्देश, लक्षण एवं परीक्षा करण व्यवहार सिद्ध है । उस के मध्य में काव्य पुरुष वर्णनात्मक श्लोक द्वारा ही रसालङ्कारादि का उद्देश्य किया गया है । अधुना लक्षण एवं परीक्षा करना कर्त्तव्य है ।

इस ग्रन्थ में नादात्मक ध्वनि वर्णन का प्रयोजन क्या है ? उत्तर में कहते हैं–अस्मिन्निति- । शब्दार्थ चमत् कारात्मक काव्य का निरूपण रूप काव्य में शब्दार्थ का प्राधान्य है, शब्दार्थ का मूल वर्ण है, शब्द वर्णघटित होने के कारण--वर्ण मूलक है, अर्थ भी वर्ण बोध्य होने के कारण-वर्ण मूलक है, यह जानना होगा । वर्ण समूह नाद स्वरूप ध्वनि मूलक होने के कारण नाद ब्रह्मका उद्देश किया, अर्थात् नामके द्वारा कीर्त्तन किया गया । पहले कहा गया है कि--नाद ब्रह्म ही समस्त वर्णों का मूल स्वरूप है ।

काव्य प्राणत्व दर्शाने के निमित्त कहते हैं । ध्वनि--प्राण है, जिस प्रकार पुरुष के चातुर्य्य वैदग्धी प्रभृति गुण होते हैं, उस प्रकार काव्य के गुण माधुर्य्य प्रभृति हैं । उपमिति–उपमान--मुख-आदि है, जिस का उस प्रकार उपमानादि अलङ्कार,-काव्य पुरुष के अलङ्कृति गण–कुण्डलादि अलङ्कार समूह है । गौड़ी प्रभृति रीति ही काव्य पुरुष के सुसंस्थान अङ्गादि सौष्ठव हैं । परम सल्लक्षण युक्त काव्य पुरुष है । उस में श्रवण कटुतादि ही दोष होता है, अन्य नहीं, उससे अन्य क्षुद्रतर दोष, दोष नहीं होता है, उस में हेतु-वे रसापकर्षक नहीं होते हैं । समर्थ कवि के पक्ष में क्षुद्रतर दोष को भी निजकृत काव्य में प्रवेश कराना उचित नहीं है, उसको कहते हैं–यदि क्षुद्रतर दोष भी दैवात् उपस्थित होता है, तब दोष नहीं होता है । अतएव उक्त काव्य पुरुष, निर्दोष होना ही समीचीन है । ग्रन्थ के त्रिविध व्यवहार होते हैं–इस प्रकार कथनानुसार ग्रन्थ कार के द्वारा ही उद्देश लक्षण परीक्षा नामक व्यवहार त्रय का निर्वाह करना आवश्यक है । उस के मध्य में अर्थात् उद्देश लक्षण परीक्षा के मध्य में ग्रन्थारम्भ में ही शब्दार्थ ध्वनि-रस गुणालङ्कार रीति प्रभृति का नामतः उल्लेख हुआ है । इससे काव्य पुरुष का वर्णन--श्लोक में हुआ है । वर्णनीय पदार्थों का प्रथमतः नाममात्र से कथन ही उद्देश है ॥५॥

अथ किंतत् काव्यम् ?—यस्य पुरुषत्वेन शरीरादीनि कथितानीत्यपेक्षायां काव्य-लक्षणमाह—

कविवाङ् निर्म्मितिः काव्यम् ।

वागित्युक्ते कवि वाङ्मात्रस्यैव काव्यत्वापत्तिः, निर्मितिरित्युक्ते कविकृत शिल्पान्तरस्यापि, वाङ् निर्मितिरित्युक्ते व्याख्यातृविशेषस्य च यस्य कस्यापि व्याख्या-कौशलस्यापि । असाधारण-चमत्कारिणी रचना हि निर्म्मितिः । तेन रसापकर्षक दोष रहितं यथासम्भव गुणालङ्कारं रसात्मकं शब्दार्थयुगलं काव्यमिति लक्षणस्य स्वरसः ॥६॥

तेन (काव्य प्रकाशस्य प्रथमोल्लासे) "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः

टीका—अथेति कवि वागित्युक्ते कविकृत वचन मात्रस्यैव काव्यत्वापत्तिः, कविवाङ् निर्मितिरित्युक्त कविकृत चित्रादि-शिल्पस्य काव्यत्वापत्तिः, वाङ् निर्मिति रित्युक्ते कविभिन्न व्याख्यातृ विशेषस्य यस्य कस्यापि व्याख्या कौशलस्यापि काव्यत्वापत्तिः । अतः कविरिति विशेषणं देयम् । तेनासाधारण चमत्कार कारिणी रचनेति व्याख्यानेन काव्य प्रकाशोक्तं दोषाभाववैशिष्ट्यं शब्दार्थोभयत्वादि विशेषणं विनैवात्र निर्वाहः कृतः । यत स्तत्र तत्र दोष सहिते गुण रहिते च काव्याभासेऽसाधारण चमत्कारकारि रचना भावादेव न कविवाङ् निर्मितिरूप काव्यलक्षणस्य समन्वयः, दोषराहित्यादिकं लक्षणस्य स्वरस एव स्वतः सिद्धमेव, नतु तत्तद् विशेषणं लक्षणे देयमिति भावः ॥६॥

जिस के शरीरादि का वर्णन पुरुषाकार से हुआ है, उस काव्य पदार्थ क्या है ? इस प्रकार आकाङ्क्षा से उसका लक्षण निर्णय करते हैं । 'कवि वाङ् निर्मिति काव्य है' । 'कवि वाक्य' मात्र को लक्षण में कहने से कवि के यावतीय वाक्य की काव्यत्वापत्ति होगी । 'कवि निर्म्मिति काव्य' कहने से—कविकृत अन्यान्य शिल्प की भी काव्यत्वापत्ति होगी । 'वाङ् निर्मिति काव्य' इस प्रकार लक्षण करने से--व्याख्याता विशेष कृत व्याख्या कौशल की भी काव्यत्वापत्ति होगी । किन्तु असाधारण चमत्कार कारिणी रचना को हो निर्म्मिति कहते हैं । एवं रसापकर्षक दोष रहित एवं यथा सम्भव गुणालङ्कार रसात्मक जो शब्दार्थ युगल वही काव्य है, उक्त लक्षण का अभिप्राय वही है ॥

कविकृत वचन मात्र को ही काव्यत्वापत्ति होगी । 'केवल कविवाक्य' काव्य है, कहने से कविवाङ् निर्मितिः' कहने से कविकृत चित्रादि शिल्प को काव्यत्वापत्ति होगी, 'वाङ् निर्म्मितिः' कहने से कविभिन्न व्याख्यान कर्त्ता जिस किसी को व्याख्या कौशल को भी काव्यत्वापत्ति होगी, अतः लक्षण में 'कवि' विशेषण देना आवश्यक है । अतएव 'असाधारण चमत्कार कारिणी रचना' काव्य है, इस प्रकार व्याख्या करने से काव्य प्रकाश ग्रन्थ कारोक्त--दोषाभाव वैशिष्ट्य, गुण वैशिष्ट्य शब्दार्थोभयत्वादि विशेषण के बिना ही अलङ्कार ग्रन्थकारने काव्य लक्षण का निर्वाह किया । कारण, वहाँ दोष रहित, गुण रहित काव्याभास में उक्त लक्षण की प्रसक्ति नहीं होगी, कारण--वहाँ असाधारण चमत्कारि रचना नहीं है । उक्त लक्षण में दोष राहित्य तो स्वाभाविक है, अतः उस उस विशेषण देना लक्षण में आवश्यक नहीं है, तात्पर्य्य यही है ॥६॥

क्वापि" इति लक्षण "कुरङ्गनयना" इत्यादावपि पर्य्याप्तं भवति, सगुणालङ्कार निर्दोष शब्दार्थत्वात् । (साहित्य दर्पणे १।३) "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" इति च लक्षणं "गोपीभिः सह विहरति हरिः" इत्यादौ च पर्य्याप्तं स्यात्, रसात्मकवाक्यत्वात् । व्यतिरेकेण दोषः, यद् वाक्यं न भवति, तत् काव्यं न भवतीत्यायातेः, (योगवाशिष्ठ रामायणे उत्पत्तिः ४,२०, शरण देव कृत दुर्घट वृत्तौ २।२८)

अधुना दोषोद्घाटनार्थं काव्य प्रकाशकृतो लक्षणमुत्थापयति—तेनेति । दोषरहितौ स गुणौ शब्दार्थौ यत्र तत् काव्यम् । कथम्भूतौ शब्दार्थौ ? कुत्रापि काव्यविशेषेऽनलङ्कृतौ ईषदलङ्कार विशिष्टौ ईषदर्थे नञ । तथा च कुत्रापि स्थले अस्पष्टालङ्कार विशिष्टावित्यर्थः । एवञ्च स्फुटदोषाभाववत्वे सति तथा स्पष्टास्पष्टालङ्कारान्यतर—विशिष्टत्वे सति दोषाभाव विशिष्ट गुण विशिष्ट शब्दार्थोभयवत्त्वमिति काव्य लक्षणम् । कुरङ्गस्य नयने इव नयने यस्य स्तथाभूता इत्यादौ शब्दार्थयोर्दोषाभाव गुणालङ्कारादीनां सत्त्वात् तादृश लक्षणं पर्य्याप्तमतिव्याप्तं भवति । स्वमते त्वसाधारण चमत्कारकारि-रचनाभावादेव तत्र न दोषः ।

कस्यचिन्मते (साहित्यदर्पणे), "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" इति लक्षणम्, तदपि दुष्टम्, यतो गोपीभिः सह विहरति हरिरित्यादावतिव्याप्तिः । श्रृङ्गार--रसात्मकत्वस्य वाक्यत्वस्य च तत्र सत्त्वात् "कूर्म्मलोम पटच्छन्नः शशशृङ्ग धनुर्धरः" इत्यादौ न वाक्यत्वमस्ति, परस्परान्वितार्थ-बोधक--पद—समुदायवत्त्वं वाक्यत्वमिति तल्लक्षणात् । अत्र तु शृङ्गे शशस्यान्वयाप्रसिद्धेरवाक्यत्वमिति भावः ।

कस्यचिन्मते—रीतिरेव काव्यस्यात्मा, रीति गौड़ी प्रभृतिः, तन्मते रीतिमत्वं काव्यस्य लक्षणम्, तदपि न साधीयः,—रीतेः वाह्यगुणत्वात् हेयगुणत्वाच्च । तथा च सदोष--गुणालङ्काराभाव--विशिष्टे च रीतिमति काव्याभासे दोषः स्यादिति भावः ।

काव्य प्रकाश ग्रन्थकार के मत में सगुण, सालङ्कार कदाचित् निरलङ्कार, अदोष शब्दार्थ युगल ही काव्य है । उस को काव्य लक्षण मान लेने से "कुरङ्गनयना" इत्यादि स्थल में भी उक्त लक्षण पर्य्याप्त होता है, कारण, उक्त वाक्य में भी सगुण, सालङ्कार, एवं निर्दोष शब्दार्थ युगल हैं ।

साहित्य दर्पणकार के मत में--रसात्मक वाक्य काव्य है" इस प्रकार लक्षण हैं । किन्तु उक्त लक्षण- "गोपाङ्गना वृन्द के सहित हरि विहार कर रहे हैं"--यहाँ अतिव्याप्त होगा, कारण यह भी रसात्मक वाक्य है । एवं व्यतिरेक में भी दोष होगा । कारण, जो वाक्य नहीं है, वह काव्य नहीं है । उक्त लक्षण का तात्पर्य्य उस प्रकार होता है । किन्तु, वह असङ्गत नहीं है । कारण, "शश शृङ्गनिर्मित धनुर्धारी यह बन्ध्या पुत्र आकाश पुष्प द्वारा रचित शेखरसे अलङ्कृत होकर कूर्म्मलोमज वस्त्र परिधान पूर्वक विराजित है, इस श्लोक में वाक्य न होने पर काव्यत्व दृष्ट होता है ।

वामनाचार्य के मत में 'रीति ही काव्य की आत्मा है । यह सङ्गत नहीं है, कारण, रीति वाह्य गुण-विशेष मात्र है ।

कतिपय व्यक्ति के मत में चमत्कार वर्णन निपुण व्यक्ति ही कवि है, एवं उसका उस प्रकार वाक्य ही काव्य है । इस लक्षण सुन्दर नहीं है कारण, इस में अन्योन्याश्रय दोष है । जो लोकोत्तर चमत्कार

"कूर्म्मलोम पटच्छन्नः शशशृङ्गधनुर्धरः । एष बन्ध्यासुतो भाति खपुष्पकृतशेखरः ॥"

इत्यस्य वाक्यत्वाभावेऽपि काव्यत्व दर्शनात् । यस्तु (वामन कृत काव्यालङ्कारेण) "रीतिरात्मा काव्यस्य" इति पठति, न तदपि साधीयः,—रीतेर्बहिरङ्गत्वात्, यत्तु (काव्य प्रकाशे १।२) "लोकोत्तर चमत्कार वर्णनानिपुणः कविस्तस्य कर्मः काव्यम्" इत्यपि न साधुः,—अन्योन्याश्रय-दोष-प्रसक्तेः, तथाहि—लोकोत्तर चमत्कार वर्णना निपुणा वाक् काव्य मिति परस्पराश्रयः ।

यस्त्विति लोकोत्तर वर्णनायां निपुणः कविस्तस्य लोकोत्तर चमत्कार वर्णना निपुण वाक् काव्यमिति लक्षणमन्योन्याश्रयदोषेण दुष्टम् । तथा च काव्य लक्षण घटितं कविलक्षणं, कवि लक्षण घटितं काव्य लक्षणमित्येवान्योन्याश्रयरूपम् । तथासति काव्य लक्षणे कविज्ञानापेक्षा, कविलक्षणे काव्य ज्ञानापेक्षा, अत उभयोरेव ज्ञानासम्भवादिदमपि लक्षणं न साधीयं इत्यर्थः ।

ननु कविवाङ् निर्मितिरिति लक्षणस्यापि कविकृते काव्यमिन्न व्याख्या कौशले दोष प्रसङ्गः । न च निर्मिति पदेनासाधारण चमत्कारकारि रचनारूपोऽर्थः पूर्वमुक्तः, अतः पिङ्गलछन्दोमञ्जर्य्यादि रूपच्छन्दः शास्त्रोक्त तादृश रचनायास्तत्र व्याख्या कौशले अभावान्न दोष इति वाच्यम्,—कविपदस्य वाक्य पदस्य च वैयर्थ्यापत्तेः । अन्यकृत व्याख्या कौशले शिल्पकर्म्मणि च निर्मिति पदार्थ तादृश रचनाया अभावादेव न कुत्रापि दोषावकाश इत्यतो हेतोराह—पारिभाषिकीति । कवेः पारिभाषिक लक्षणं स्वयमेव वक्ष्यति । लक्षणान्तरमाह—अथवेति ।

अवगतिः प्रतीतिः, येन गोत्वरूपासाधारण धर्मेण 'अयं गौः, अयं गौः' इत्यनुगताकारा समानाकारा

वर्णना में निपुण है, वही कवि है, एवं लोकोत्तर चमत्कार वर्णना निपुणा वाणी ही काव्य है । इस रीति से सुस्पष्ट परस्पर सापेक्षता रूप लक्षण दोष होता है । अतएव 'कविवाङ् निर्मिति काव्य' ही उत्तम काव्य लक्षण है, यहाँ 'कवि' पद पारिभाषिक संज्ञा है, अतएव परस्पराश्रय दोष नहीं होगा । अथवा गलकम्बलादि विशिष्ट यावतीय गो पदार्थ के प्रत्येक में जिस प्रकार यह गो, यह गो, इस प्रकार अनुगताकारा गोत्वजाति है, काव्यत्व भी उस प्रकार जाति है । जिस असाधारण धर्म के द्वारा पदार्थ की प्रतीति होती है, वही जाति है । गो समूह में गोत्व एक असाधारण धर्म है । इस प्रकार शब्दार्थ सङ्घात में सहृदय हृदयास्वाद्य काव्यत्व रूप असाधारण धर्म है, सुतरां काव्यत्व जाति है । ७--८ः

सम्प्रति दोषोद्घाटनार्थ काव्य प्रकाश कृत काव्य लक्षण का उट्टङ्कन करते हैं । दोष रहित गुण युक्त शब्दार्थ जहाँ है, वह काव्य है । किस प्रकार शब्दार्थ ? काव्य विशेष में अनलङ्कृती, ईषदलङ्कार विशिष्ट, ईषदर्थ में नञ् है । अतएव—स्थल विशेष में अस्पष्टालङ्कार विशिष्ट ही काव्य होगा । सारार्थ यह है—स्फुट दोषाभाव होने पर भी तथा--स्पष्ट अस्पष्टालङ्कारान्यतर विशिष्ट होकर दोषाभाव विशिष्ट गुण विशिष्ट शब्दार्थोभयवत्त्व ही काव्य का लक्षण है ।

"कुरङ्ग के नयन के तुल्य नयन है जिसका वाक्य में शब्दार्थ में दोषाभाव एवं गुणालङ्कारादि विद्यमान होने के कारण उक्त काव्य लक्षण की अतिव्याप्ति होगी । निज कृत काव्य लक्षण में असाधारण चमत्कार कारि रचनाभाव की विद्यमानता होने पर दोष नहीं है

तत् साधूक्तम्—"कविवाङ् निर्मितिः काव्यम्" इति, कविरिति पारिभाषिकीयं संज्ञेति परस्पराश्रय दोषोऽपि निरस्तः ।

अथवा, काव्यत्वं नाम गोत्वादिवज्जातिरेव यथा सास्नाद्यवयववतीषु गो व्यक्तिषु प्रत्येकमयं गौरयंगौरित्यनुगताकारा येनासाधारण–धर्म्मेणावगतिः, स एव जाति लक्षणः

भवति । स एव गोत्वरूपो धर्म्मोजातिः, तथात्रापि शब्दार्थं समूहस्य काव्यत्व लक्षणो धर्मविशेष एव काव्यत्व जातिः । ननु गोत्वजातौ हलिकलोकादि सर्वेषामनुगत प्रतीतिरेव प्रमाणम्, काव्यत्व जातौ तु किं प्रमाणम् ? तत्राह—स काव्यत्वरूपो धर्म्मः सहृदय हृदयास्वाद्यः, तथा च सर्वत्र काव्ये सहृदयानां काव्यत्व रूपेणानुगता प्रतीतिरेव काव्यत्व जातौ प्रमाणमितिभावः । न च प्रत्येक वर्णनिष्ठ कत्व--खत्वादि-जातिभिः काव्यत्व जातिः सङ्कीर्णा स्यात्, तथा हि कत्वाद्यभाववति केवलैकाक्षर घटिते चित्र काव्ये काव्यत्वं वर्त्तते, काव्यत्वाभाववति च केवलककाररूपाक्षरे कत्वजातिर्वर्त्तते, एकस्मिन्नेव ककार घटित काव्ये काव्यत्व जातिः कत्वजातिश्च वर्त्तते । अतः परम्परात्यन्ताभाव–समानाधिकरणत्वे सति एकाधिकरण वृत्तित्वरूप

साहित्य दर्पणोक्त काव्य लक्षण है—"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" यह लक्षण भी दोष मुक्त नहीं है । कारण, "गोपीभिः सह विहरति हरिरित्यादावतिव्याप्तिः" हरि गोपीयों के सहित विहार कर रहे हैं । शृङ्गार रसात्मक वाक्यत्व नहीं है । "कूर्म्मलोम पटच्छन्नः शशशृङ्ग धनुर्धरः" यहाँ वाक्य नहीं है, "परस्परान्वितार्थ बोधक पद समुदायवत्वं वाक्यत्वम्" यह वाक्य का लक्षण है । "कूर्म्मलोम पटच्छन्नः शशशृङ्गधनुर्धरः" यहाँ शृङ्ग में शशका अन्वय अप्रसिद्ध होने के कारण वाक्यत्व नहीं है । यही आशय उक्त कथन का है ।

किसी के मतमें रीति काव्य की आत्मा है । इस मत में रीतिमत्वं काव्यका लक्षण है । यह भी निर्दोष लक्षण नहीं है,रीति-वाह्य गुण है,एवं हेय गुण युक्त है । उक्त लक्षण को मानने पर सदोष गुणालङ्काराभाव विशिष्ट रीतिमति काव्याभास में दोष होगा ।

कवि शब्द का अर्थ--लोकोत्तर वर्णना में निपुण है, उस के द्वारा निर्मित लोकोत्तर चमत्कार वर्णना निपुण वाक्य ही काव्य है । इस प्रकार लक्षण करने से उक्त लक्षण अन्योन्याश्रय दोष युक्त होगा, कारण,—काव्य लक्षण घटित कवि लक्षण है, एवं कवि लक्षण घटित काव्य लक्षण है, यही अन्योन्याश्रय रूप है । ऐसा होने पर काव्य लक्षण में कविज्ञानापेक्षा है, एवं कवि लक्षण में काव्य ज्ञानापेक्षा है । अतः उभय का ज्ञान होना असम्भव हेतु—यह लक्षण निर्दुष्ट नहीं है ।

कहा जा सकता है कि—"कविवाङ् निर्मितिः" काव्य लक्षण भी निर्दोष नहीं है, कारण, कविकृत काव्य भिन्न व्याख्या कौशल में उक्त लक्षण चला जायेगा । यदि कहा जाय--कि– लक्षणोक्त 'निर्मितिः' पदका अर्थ है—असाधारण चमत्कारकारि रचना । अतः पिङ्गल छन्दोमञ्जरी प्रभृति छन्दः शास्त्रोक्त रचना में व्याख्या कौशल का अभाव हेतु दोष नहीं होगा, इस प्रकार कहना भी युक्ति युक्त नहीं है । कारण, लक्षणोक्त कवि पद एवं वाक्य पद व्यर्थ हो जायेगा, अन्य कृत व्याख्या कौशल में एवं शिल्प कर्म्म में निर्मिति पदार्थ – तादृश रचना का अभाव निबन्धन कुत्रापि दोषावकाश नहीं है । इस हेतु कहते हैं-कवि पद- पारिभाषिक संज्ञापर है । कवि का पारिभाषिक लक्षण स्वयं ही कहेंगे । लक्षणान्तर कहते हैं--

कोऽप्यसाधारण धर्म्मो गोत्वम्, तथा शब्दार्थ संघातस्य सहृदय हृदयास्वाद्यः कोऽपि काव्यत्व लक्षणो धर्म्म विशेषः काव्यत्वं जातिः। ७-८

निपुणं कवि—कर्मतत् ॥

अथ काव्यं कविकर्म्मेति कवि जिज्ञासायां तत् स्वरूपमाह—

स वीजो हि कविर्ज्ञेयः स सर्वागमकोविदः।
सरसः प्रतिभाशाली यदिस्यादुत्तमस्तदा ॥

एतेन द्वये कवयः सम्भवन्ति, अरोचकिनः, सतृणाभ्यवहारिणश्चेति वामनः (काव्यालङ्कार सूत्रे १।२।१)। तत्र सतृणाभ्यवहारिणः कवय एव न भवन्ति,-अनादृतत्वात्।

साङ्कर्य्य दोषेण काव्यत्व जाति दुष्टेति वाच्यम्। अतो यन्मते साङ्कर्य्यस्य न जातिबाधकत्वम्' तन्मतमालम्ब्यैवोक्तमतो न दोषः ॥७-८॥

ननु काव्यत्वस्य जाति-रूपत्वे कवि-घटित-काव्य-लक्षणस्यासम्भवात् कथमालङ्कारिकैरलङ्कार शास्त्रे उत्तम मध्यमादि भेदेन कवेर्लक्षणं क्रियते? तत्राह—अथेति। काव्यत्वस्य जातित्वेऽपि काव्यमिति पदं यौगिकवृत्या कवेः कर्म काव्यमिति व्याकरण सिद्धं भवति, अतस्तत्र कवि जिज्ञासायां कवेर्लक्षणं सुसङ्गतमेवेति भावः। एतेन पारिभाषिक कवि लक्षण करणेन द्वये हि प्रकारा कवयो भवन्ति, द्वय

अथवेति— अनुगति शब्द का अर्थ है—प्रतीति। जिस से गोत्वरूपासाधारण धर्म के द्वारा 'अयं गौः अयं गौः' इस प्रकार अनुगताकारा समानाकारा प्रतीति होती है; वही गोत्वरूप धर्म जाति है। उसी प्रकार भी शब्दार्थ समूह का काव्यत्व लक्षण धर्म विशेष ही काव्यत्व जाति है।

गोत्व जाति में हलिक लोक की भी अनुगत प्रतीति होती है, अतः वह प्रमाण है, किन्तु काव्यत्व जाति में प्रमाण क्या है? उत्तर में कहते हैं—काव्यत्व रूप धर्म - सहृदय हृदयास्वाद्य है, अतएव सर्वत्र काव्य में सहृदयों की काव्यत्व रूप से अनुगता प्रतीति ही काव्यत्व जाति में प्रमाण है।

कहा जा सकता है—प्रत्येक वर्णनिष्ठ कत्व खत्व जाति के द्वारा काव्यत्व जाति सङ्कीर्णा हो जायेगी; कत्वाद्यभाववर्ति केवलैकाक्षर घटित चित्र काव्य में कत्व जाति है, एवं काव्यत्वाभाववर्ति केवल ककार रूपाक्षर में कत्वजाति,—काव्यत्व जाति भी है, अतः परस्परात्यन्ताभाव सामानाधिकरणत्वेसति एकाधिकरण वृत्तित्व रूप साङ्कर्य्य दोष के द्वारा काव्यत्व जाति दुष्टा होगी। इस प्रकार कथन भी समीचीन नहीं है। कारण, जिस मत में साङ्कर्य्य जाति का बाधक नहीं होता, उस मत के अवलम्बन से यह लक्षण हुआ है। अतएव यह लक्षण निर्दुष्ट है ॥७-८॥

काव्य का जातित्व होने से भी 'कवि कर्म्म काव्य' इस रूप में काव्य पद व्याकरण सिद्ध होने के कारण, कवि किस को कहा जा सकता है? इस प्रकार जिज्ञासा उपस्थित होने पर कवि का स्वरूप निरूपण करते हैं—जो सवीज हैं, वे ही कवि होते हैं, वे काव्य अलङ्कारादि बहु शास्त्रज्ञ प्रतिभाशाली होने से उत्तम होते हैं ॥

काव्यत्व का जाति रूप होने से कवि घटित काव्य लक्षण होना असम्भव होगा, किन्तु आलङ्कारिक

अरोचकिन एव कवयः। तेन हि 'सबीजः' इत्येव कविलक्षणम्, अन्यानि तु विशेषणानि,—सबीजकविरीदृशः स्यादित्यर्थः। किं तद् बीजं येन सबीज इति ज्ञेयः कविरित्याह,—॥६॥

बीजं प्राक्तन संस्कार विशेषः काव्यरोह भूः ॥

रोहश्च द्वेधा—निर्म्मातृमूलः, स्वादकमूलश्च; यं विना निर्म्मातुं स्वादयितुञ्च न शक्यते। तेनोत्पत्त्यास्वादयोरेवास्य कारणता।

शब्दस्य बहु वचनेऽपि प्रयोग. साधुः, नतु द्वि शब्द इव नित्यं द्विवचनान्तः ॥६॥

अरोचकिन इति यथातिसुकुमारा महान्तो जना असंस्कृत विरसे--वस्तुन्यरोचकिनो भवन्ति, तथैव केचिदुत्कृष्ट--कविजनाः सदोषे, अथवा गुणालङ्कार रहिते च काव्ये ऽरोचकिनो भवन्ति। यथा च पशव स्तृण सहिताद्यादि भोजिनो भवन्ति, तथैव निकृष्ट--कवयो दोष सहित काव्यास्वादका भवन्तीति द्विविधाः कवयो वामन सम्मता इत्यर्थः। अन्यानि सर्वागम--कोविदः, अलङ्काराद्यनेक शास्त्र विज्ञाः, सरसः, प्रतिभा शालीति पदानि विशेषण बोधकान्येव, नतु कवि लक्षण घटकानि। तथा च सबीजः कविः कीदृशः स्यात्? इत्याकाङ्क्षायां तादृश विशेषणानि ज्ञेयानि। काव्योत्पत्तिक प्राक्तन संस्कार विशेषः; काव्यरोहभूः काव्य रोह स्थानम्। रोहश्चेति द्विविधः--उत्पत्ति रूपः, आस्वादन रूपश्च। अस्य संस्कार विशेषस्य कारणता बोध्या। तथा च काव्योत्पत्ति काव्यास्वादनोभय हेतुभूत प्राक्तन संस्कार विशेषवान् कविरिति कवेर्लक्षणम्

गण कैसे अलङ्कार शास्त्र में उत्तम मध्यमादि भेद से कवि का लक्षण करते हैं? उत्तर में कहते हैं-काव्यत्व जाति होने पर भी काव्य पद यौगिक वृत्ति में 'कवेः कर्म्म काव्यम्' इस रीति से व्याकरण सिद्ध होगा, अतएव कवि विषयक जिज्ञासा में कवि लक्षण सुसङ्गत ही होगा। इस प्रकार पारिभाषिक कवि लक्षण करने के कारण द्वि प्रकार कवि होंगे, द्वय शब्द का साधु प्रयोग बहु वचन में भी होता है, किन्तु 'द्वि' शब्द के तुल्य नित्य द्वि वचनान्त नहीं है ॥६॥

वामनाचार्य्य के मत में अरोचकी एवं सतृणाभ्यवहारी भेद से कवि द्विविध होते हैं, जिस प्रकार असंस्कृत विरस पदार्थ में अति सुकुमार महत् व्यक्ति वृन्द की प्रवृत्ति नहीं होती है, उस प्रकार स दोष अथवा गुणालङ्कारादि रहित काव्य में जिन सब की रुचि नहीं होती है, वे सब अरोचकी हैं। पशुगण,—जिस प्रकार तृण सहित भोज्य पदार्थ भक्षण करते हैं, उस प्रकार जो सदोष साधारण काव्य का आस्वादक हैं, वे ही सतृणाभ्यवहारी हैं।

सतृणाभ्यवहारी को कवि नहीं कहा जा सकता है, कारण-- उन सबका समादर सभ्य समाज में नहीं होता है, किन्तु अरोचकी ही वास्तविक कवि हैं। कवि लक्षण में सबीज कवि हैं—कहा गया है, वह बीज क्या है? प्राक्तन संस्कार विशेष ही बीज है, वही काव्य प्ररोह भूमि है। रोह भी निर्म्मातृ मूलक एवं आस्वाद मूलक भेद से द्विविध हैं। उस को छोड़कर काव्य निर्म्माण का स्वाद ग्रहण नहीं हो सकता है। अतएव उत्पत्ति एवं आस्वाद उभयके प्रति ही प्राक्तन संस्कार कारण है। इससे काव्योत्पत्ति एवं काव्यास्वादन एतदुभय के हेतुभूत जो प्राक्तन संस्कार विशेष है, तादृश संस्कार शाली व्यक्ति ही कवि है, यही निर्गलितार्थ है। उभयविधकवि—प्रतिभाशाली होने से उत्कृष्ट होते हैं, वह प्रतिभा क्या है? नव-नवोल्लेख शालिनी प्रज्ञा का नाम ही प्रतिभा है।

केयमसौ प्रतिभेत्याह–

प्रज्ञा नवनवोल्लेखशालिनी प्रतिभामता ॥ (भामहालङ्कारे) ॥१०-११॥

अथोक्त लक्षणं काव्यं कियत् प्रकारकं भवतीत्याकाङ्क्षायां तद्भेदानाह,–

उत्तमं ध्वनि वैशिष्ट्ये मध्यमे तत्र मध्यमम् ।
अवरं तत्र निष्पन्द इति त्रिविधमादितः ॥

व्यङ्ग्यमेव ध्वनिः । यत्तु (काव्य प्रकाशे १।४) "इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्

तेन कविभिन्ने काव्यास्वादन रति सहृदये आस्वादन हेतु प्राक्तन संस्कार सत्त्वेऽपि काव्योत्पत्ति हेतुभूत संस्काराभावेनोभय हेतुभूत प्राक्तन संस्कार विशेषवत्त्व रूप लक्षणस्य न समन्वय इति भावः । नव नवोल्लेख शालिनी नव नवार्थ रचनायां समर्था प्रज्ञा बुद्धिः प्रतिभा भवति ॥१०-११॥

ध्वनेर्वैशिष्ट्य उत्तमत्वे काव्यमुत्तमं भवति, ध्वनेर्मध्यमत्वे काव्यं मध्यमं भवति, ध्वने निष्पन्दे अस्पष्टे सहृदय हृदये शीघ्रमप्रकटे सत्यवरं निकृष्टं काव्यम् । ननु कोऽयं ध्वनि र्यस्य त्रैविध्येन काव्यस्यापि त्रैविध्यमुक्तम् ? तत्राह—व्यङ्ग्य, व्यञ्जनावृत्तिभिर्बोध्यं वस्तु ध्वनिः । काव्य प्रकाशकृतोक्त ध्वनि लक्षण माह—यत्त्विति । यस्मिन् काव्ये वाच्याद् वाच्यार्थापेक्षया व्यङ्ग्यार्थेऽतिशयिन्युत्कृष्टे सतीदमुत्तम काव्यं बुधै ध्वनिः कथित इति काव्यस्यैव यद्ध्वनित्वमुक्तम्, तन्नसङ्गतम्,—प्रामाणिकानां काव्य ध्वनि

जिस प्रकार अति सुकुमार महान् व्यक्तिगण असंस्कृतविरसवस्तु में रुचिशील नहीं होते हैं, उस प्रकार उत्कृष्ट कविजन सदोष अथवा, गुणालङ्कार रहित काव्य में रुचिशील नहीं होते हैं। जिस प्रकार पशु वृन्द तृण सहित अनादि भोजन करते हैं, उस प्रकार निकृष्ट कविगण; दोष रहित काव्यास्वादक होते हैं, अतः द्विविध कवि–वामन सम्मत होते हैं।

सर्वागम कोविद, अलङ्कारादयनेक शास्त्र विज्ञ, सरस प्रतिभाशाली पद समूह विशेषण है, किन्तु कवि लक्षण में निविष्ट नहीं हैं, सबीज कवि किस प्रकार होते हैं ? इस प्रकार जिज्ञासा पूर्ति हेतु उक्त विशेषण समूह दिये गये हैं।

काव्योत्पादक प्राक्तन संस्कार विशेष ही काव्यरोह भू— काव्य रोहस्थान है। रोह भी द्विविध हैं— उत्पत्तिरूप, एवं आस्वादन रूप, संस्कार विशेष की ही कारणता है। अतएव काव्योत्पत्ति काव्यास्वादनोभय हेतुभूत प्राक्तन संस्कार विशेषवान् कवि है, यह पूर्णाङ्ग कवि लक्षण है। इससे कविभिन्न काव्यास्वादन रत सहृदय में आस्वादन हेतु प्राक्तन संस्कार विद्यमान होने पर भी काव्योत्पत्ति हेतु भूत संस्काराभाव हेतु उभय हेतुभूत प्राक्तन संस्कार विशेषवत्त्व रूप लक्षण का समन्वय नहीं नवनवोल्लेख शालिनी— नव नवार्थ रचना में समर्था प्रज्ञा बुद्धि ही प्रतिभा होती है ॥१०-११॥

अनन्तर यथोक्त लक्षण काव्य कतिविध है, इस प्रकार आकाङ्क्षा से उसका भेद निर्देश करते हैं।

विशिष्ट ध्वनि विद्यमान होने पर काव्य उत्तम होता है, मध्यम होने से काव्य मध्यम होता है, एवं ध्वनि निष्पन्द अर्थात् अस्पष्ट होने पर निकृष्ट काव्य होता है।

प्रथमतः काव्य, तीन प्रकार होते हैं। यहाँ व्यङ्ग्य ही ध्वनि है, काव्य प्रकाश ग्रन्थ कार के मत

ध्वनि बुधैः कथितः" इति काव्यस्यैव ध्वनित्वम्, तत्तु ध्वनि--सम्बन्धाद् ध्वनिरिति लक्षणा, किंवा ध्वन्यतेऽनेनेति करण-साधनेन । वस्तुतस्तु ध्वन्यत इदमिति कर्म्म साधनमेव ॥१२॥

पुनश्च–ध्वनेर्ध्वन्यन्तरोद् गारे तदेव ह्युत्तमोत्तमम् ।
शब्दार्थयोश्च वैचित्र्ये द्वे यातः पूर्वं पूर्वताम् ॥

व्यवहाराभावात् । अतः काव्ये ध्वनि पद प्रयोगो ध्वनि सम्बन्धात् लाक्षणिकत्वेन गौण एव, नतु साक्षात् मुख्य प्रयोगः । नन्वनेन काव्येनार्थोध्वन्यते शब्दयते—इति करण साधनेन काव्येऽपि ध्वनि पदस्य साक्षात् प्रयोग इष्ट एवेत्याह—किं वेति ।

ननु काव्ये प्रामाणिकानां न कदापि ध्वनि पदस्य मुख्य प्रयोगः, अतो ध्वनि पदं न करणं साधनम्, किन्तु काव्येनेदं वस्तु ध्वन्यत इति कर्म्म साधनमेव, अतएव ध्वनि पदस्य मुख्य प्रयोगो व्यङ्ग्यार्थ एव, नतु काव्ये । काव्ये तु ध्वनि सम्बन्धाल्लाक्षणिक एवेत्यर्थः संक्षेपेणाह—वस्त्विति ॥१२॥

ध्वनिरिति यस्मिन् काव्ये ध्वन्यर्थस्यापि ध्वन्यर्थः सम्भवति, तत् काव्यमुत्तमोत्तमं भवति ।

में—वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ उत्कृष्ट होने से उस काव्य को बुधगण ध्वनि कहते हैं । इस श्लोक में जिस काव्य को ध्वनि कहे हैं, वह "ध्वनि सम्बन्ध हेतु ध्वनि" है, इस प्रकार लाक्षणिक प्रयोग है । अथवा जिस के द्वारा ध्वनित होता है—इस प्रकार करण साधन होगा, वस्तुतः जो ध्वनित होता है, इस अर्थ में उक्त पद कर्म्म वाच्य से निष्पन्न हुआ है ।

उत्तमत्व के प्रति ध्वनि वैशिष्ट्य कारण होने पर, ध्वनि वैशिष्ट्य से उत्तम काव्य होगा, ध्वनि मध्यम होने से मध्यम काव्य होगा, एवं ध्वनि, निष्पन्न होने से अर्थात् अस्पष्ट होने से सहृदय के हृदय में आशु अर्थ बोध न होने से अवर निकृष्ट काव्य होता है । ध्वनि क्या है ? जिससे काव्य के त्रिविध भेद होते हैं ? उत्तर—व्यङ्ग्य-व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा बोध्य वस्तु ध्वनि है ।

काव्य प्रकाश ग्रन्थ कारोक्त ध्वनि लक्षण को कहते हैं—जिस काव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अतिशय उत्कर्ष मण्डित होता है—उसको बुधगण उत्तम काव्य कहते हैं । उस काव्य को जो ध्वनि कहते हैं, वह कथन असमीचीन है । प्रामाणिकों के काव्य में ध्वनि व्यवहार नहीं होता है । अतः काव्य में जो ध्वनि पद का प्रयोग होता है, वह ध्वनि सम्बन्ध में होता है, एवं गौण प्रयोग है । किन्तु साक्षात् मुख्य प्रयोग नहीं है ।

काव्य के द्वारा अर्थ ध्वनित होता है—इस प्रकार करण साधन के द्वारा काव्य में ध्वनि शब्द का साक्षात् प्रयोग इष्ट है । इस प्रकार कहना भी उचित नहीं है । काव्य के प्रति ध्वनि शब्द प्रयोग मुख्य रूपसे प्रामाणिक व्यक्ति गण नहीं करते हैं । अतएव ध्वनि पद-करण साधन निष्पन्न नहीं है । किन्तु काव्य से वस्तु ध्वनित होती है—इस प्रकार कर्म्म साधन है, अतएव ध्वनि पद का मुख्य प्रयोग व्यङ्ग्यार्थ ही होता है । किन्तु काव्य में नहीं होता है । ध्वनि सम्बन्ध से काव्य में ध्वनि शब्द का प्रयोग लाक्षणिक ही होता है । संक्षेप से कहते हैं-ध्वन्यते इदमिति कर्म्म साधनमेव ॥१२॥

शब्दार्थ का वैचित्र्य विद्यमान होने पर ध्वनि से ध्वन्यन्तर का आविर्भाव होता है, एवं उक्त काव्य

यदि ध्वनि वैशिष्ट्ये ध्वन्यन्तरं वैशिष्ट्यं स्यात्, यदि वा शब्दार्थयो वैचित्र्यञ्च भवति,
तदा काव्यमुत्तमोत्तमम् । एवं शब्दार्थ वैचित्र्ये सति द्वे मध्यमावरे पूर्व-पूर्वतां यातः,
मध्यममुत्तमं भवति, अवरं मध्यमं भवतीत्यर्थः । शब्दार्थयोरिति 'काकाक्षि-गोलक
न्यायेनोभयत्र योजनीयम् ॥१३॥

क्रमेणोदाहरणानि—

गौरीमर्चयितु प्रसूनविचये श्वश्रू-निदिष्टा हरेः
क्रीड़ा काननमागता वयमहो मेघागमश्चाभवत् ।

'ध्वने र्ध्वन्यन्तरोद्गारे' इत्यस्यार्थमाह—
शब्दार्थयोर्वैचित्र्ये सति द्वे मध्यमावरे काव्ये पूर्व-पूर्वतां यातः ।
यदिति । ननु यत्र काव्ये ध्वनि वैशिष्ट्यमात्रं वर्त्तते, नतु ध्वने र्ध्वन्यन्तरम्, अथच शब्दार्थयो वैचित्र्यं वर्त्तते,
तदुत्तममपि काव्यं शब्दार्थ वैचित्र्याद्धेतो रुत्तमोत्तमं भवतीत्याह—यद्वेति । एवमिति—तथा च यत् काव्यं
ध्वनेर्मध्यमत्वान्मध्यमं भवति, तत् काव्यस्यापि शब्दार्थस्य च चमत्कारो वर्त्तते चेत्तदा मध्यममपि काव्य
मुत्तमं भवति । एवं ध्वन्यर्थस्यास्पष्टत्वे सति यत् काव्यमवरं भवति, तत् कस्यचिदपि शब्दार्थयोश्च वैशिष्ट्ये इति
वर्त्तते चेत्तदाऽवरमपि काव्यं मध्यमं भवतीत्यर्थः । 'काकाक्षि गोलक' न्यायेनेति शब्दार्थयोरिति
पदस्य 'काकाक्षि गोलक' न्यायेनोत्तमोत्तममित्यत्र द्वे यातः पूर्व पूर्वतामित्यत्र चान्वयो बोद्धव्यः ॥१३॥
तत्र वाच्यार्थापेक्षया ध्वन्यर्थस्योत्कर्षे सत्युत्तमं काव्यं भवतीत्युदाहरणमाह—गौरीमिति । श्रीकृष्णेन

शब्दार्थ का वैचित्र्य विद्यमान होने से मध्यम एवं अवर काव्य—उत्तम एवं मध्यम होता है ।
उत्तमोत्तम होता है । उक्त स्थल में मध्यम अधम काव्यद्वय—पूर्व पूर्वता अर्थात् उत्तम, मध्यम रूपत्व को
प्राप्त करते हैं । तात्पर्य यह है कि—जहाँ ध्वनि वैशिष्ट्य से ध्वन्यन्तर का वैशिष्ट्य होता है, अथच
शब्दार्थ का वैचित्र्य भी रहता है, वही उत्तमोत्तम काव्य है । जो काव्य, ध्वनि की मध्यमता हेतु मध्यम
है, अथच उस में शब्दार्थ का चमत्कारित्व भी है, वह उत्तम काव्य के मध्य में परिगणित होता है । एवं
ध्वन्यर्थ का अप्रकाश-हेतु जो काव्य निकृष्ट है, उस में शब्दार्थ का चमत्कारित्व विद्यमान होने पर वह,
मध्यम काव्य में परिगणित होता है ।

"ध्वनि से ध्वन्यन्तरोद्भव होने से"—जो कहा गया है, उसका विवरण कहते हैं—जिस काव्य में
ध्वनि वैशिष्ट्यमात्र है, किन्तु ध्वनि से ध्वन्यन्तर नहीं है, अथच शब्दार्थ का वैचित्र्य है, वह उत्तम काव्य
भी शब्दार्थ का वैचित्र्य विद्यमान हेतु उत्तमोत्तम होता है । उसी प्रकार जो काव्य ध्वनि की मध्यमता के
कारण मध्यम है, उस में यदि शब्दार्थ का चमत्कारित्व विद्यमान होता है तो, मध्यम होने पर भी वह
उत्तम होता है । एवं ध्वन्यर्थ विद्यमान न होने से जो काव्य अवर होता है, उस में शब्दार्थ का चमत्
कारित्व विद्यमान होने से वह अवर होने पर भी मध्यम काव्य होता है । काकाक्षि गोलक न्याय से, अर्थात्
एक नेत्र गोलक उभय नेत्र में जिस प्रकार गमनागमन करता है, उस प्रकार शब्दार्थ वैशिष्ट्य पद भी
उत्तमोत्तम का विधायक है । इस प्रकार जानना होगा ॥१३॥

जिस काव्य में ध्वन्यर्थ का भी ध्वन्यर्थ विद्यमान होना सम्भव है, वह काव्य उत्तमोत्तम होता है ।

प्रेङ्खोलाः परितश्च कण्टकलताः श्यामाश्च सर्वा दिशो
नोविद्मः प्रतिवेशवासिनि गुरोः किं भावि सम्भावितम् ॥

अत्र वाच्यार्थ भावि श्रीकृष्ण सङ्गम जन्य नखक्षत स्थगनरूपस्य व्यङ्ग्यस्य वैशिष्ट्यादुत्तमत्वम् ॥१४॥

सह मिलनार्थं गता वृन्दावन मध्ये कापि व्रजसुन्दरी श्रीकृष्णेन सह मिलनात् पूर्वमेवाकस्मात् कार्यान्तरे तत्रैवागतं पड़सीनीति प्रसिद्धां कामपि प्रतिवेशिनीं दृष्ट्वा स्वीयागमनं पुष्पचयननिमित्तमिति वक्तुम् । एवं दैवात् सम्भोगानन्तरमनया सह पुनर्मिलनं चेत् सम्भोग चिह्ननखक्षतादिकं दृष्ट्वा किञ्चिद् वदिष्यतीत्यधुनैव सम्भोग चिह्नं कण्टकक्षतत्वेन वक्तुं च तस्या अग्रे स्व खेदमभिनयति । श्वश्रू निदिष्टा सती हरे क्रीड़ाकाननं वृन्दावनमागता मेघागमश्चेत्यनेन 'श्यामाश्च सर्वा दिशः' इत्यनेन च शीघ्रं गृहं गन्तुं न शक्नोमीत्यतोऽत्र मम विलम्बश्च भविष्यतीत्यपि ध्वनितम् । हे प्रतिवेशवासिनि ! अद्य गुरुजनस्य किं सम्भावितं भावि, कीदृशी सम्भावना भविष्यतीति न जाने, तेन गुरुजनोऽपि यदि विलम्बं नखक्षतञ्च दृष्ट्वा किञ्चिद् वदिष्यति, तदा त्वामेव साक्षित्वेनोपन्यस्यामि हे प्रतिवेशिनि । त्वन्निकटे तदानीं मया यत् सम्भावितम् तदेव मम ललाटे फलितमित्यपि वक्ष्यामीति स्वाभिप्रायश्च ध्वनितः । प्रेङ्खोलाश्चञ्चलाः, कण्टक युक्ता लता इत्यनेन शीघ्रं गृहगमन समये मम कण्टकक्षतञ्च भविष्यतीति ज्ञापितम् । अत्र भावी यः श्रीकृष्णस्य सङ्गमस्तस्य स्थगनं संवरणम् ॥१४॥

गौरी अर्चन हेतु पुष्प चयन निमित्त श्वश्रू की आज्ञा से हरि के क्रीड़ा कानन में उपस्थित होने पर वहाँ मेघाडम्बर उपस्थित हुआ । सम्प्रति चतुर्दिक में कण्टक लता पवन द्वारा दोदुल्यमान हो रही है । दिङ् मण्डल श्यामवर्ण हुआ है, हाय प्रतिवेश वासिनी, (पड़ोसिनी) मैं नहीं जानती हूँ, आज इस घटना से गुरुजन को क्या सम्भावना होगी ? यहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा से गति विलम्ब एवं नखक्षतादि चिह्न अनुमेय हैं । भावी श्रीकृष्ण सङ्ग सङ्गोपन रूप व्यङ्ग्यार्थ के वैशिष्ट्य हेतु उत्तमत्व हुआ है ॥१४॥

वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ का उत्कर्ष होने के कारण उत्तम काव्य होता है, अतः उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—गौरीमिति । श्रीकृष्ण के सहित मिलनार्थ गता वृन्दावन के मध्य में एक व्रजसुन्दरी, कृष्ण के सहित मिलन के पूर्व ही वहाँ अकस्मात् आगत पड़ोसिनी अर्थात् प्रतिवेशिनी को देखकर निज आगमन पुष्प चयन हेतु हुआ है—यह कही थी । एवं दैवात् सम्भोग के अनन्तर उस के सहित पुनर्वार यदि मिलन हो तो सम्भोग चिह्न नखक्षतादिक को देखकर वह कुछ कहेगी, अतः सम्प्रति सम्भोग चिह्न को कण्टकक्षत रूपसे प्रकाश करने के निमित्त उसके समीप में खेद के सहित अभिनय करती है—सास—श्वश्रू—के आदेश से पुष्पाहरण हेतु श्रीहरि के क्रीड़ा कानन वृन्दावन में आई हूँ मेघागम भी हुआ है, श्यामलिमा व्याप्त चतुर्दिक है, इस से आशु गृह गमन कर न सकूँगी, यहाँ मुझ को विलम्ब होगा, यह भी ध्वनित हुआ । हे प्रतिवेश वासिनि ! अद्य गुरु जन के मन में क्या होगा, जिस प्रकार सम्भावना होगी—मैं नहीं जानती हूँ. उस से गुरुजन भी यदि विलम्ब एवं नखक्षत को देखकर यदि कुछ कहें तो तुम्हें साक्षी मानकर तुम्हारे निकट उस समय जो कुछ सम्भावना मैंने की थी, मेरे भाग्य में वही हुआ, यह भी मैं कहूँगी, यह ध्वनित हुआ । प्रेङ्खोला—चञ्चला, कण्टक युक्त लता है, इस से सत्वर गृह गमन समय में कण्टकक्षत

मध्यमं यथा—

उत्तमस्य पुरुषस्यैव वनान्तः, सत्यं मालि कुसुमाय गतासीः ।
आययुर्मधुकरास्तव पश्चाद्—दुःशकः परिमलो हि वरीतुम् ॥

अत्र (अमर कोष वनौषधिवर्गे) "पुन्नागे पुरुषस्तुङ्गः केशरः"

इत्यादिनोत्तमस्य पुरुषस्य प्रकृष्ट–पुन्नागस्य । पक्षे,—पुरुषोत्तमस्य श्रीकृष्णस्यैवेति व्यङ्ग्यमेव स्फुटम् ॥१५॥

अवरं यथा—

ऊर्ज्जत् स्फूर्ज्जद्गर्जनैर्वारिवाहाः, प्रोद्यद् विद्युद्दामविद्योतिताशाः,
अद्रावद्रौ विद्रुता द्राघयन्ते, दन्तिभ्रान्त्या सिंह सङ्घप्रकोपान् ॥

अत्र केवलं शब्द वैचित्र्याद् ध्वने निस्पन्द भावाच्चावरत्वम् ॥१६॥

उत्तमस्य श्रेष्ठस्य नागकेशर इति प्रसिद्धस्य पुरुषस्य पुन्नागस्य वन मध्ये पुष्पार्थं त्वं गतासीः, भ्रमरस्तव पश्चादायायुः, अतो हि निश्चितं पुन्नागस्य परिमलस्त्वया संवरीतुं दुःशकः । श्रीकृष्ण पक्षे, त्वदङ्गस्थः श्रीकृष्णस्य परिमल आच्छादयितुमशक्यः, अत्र श्लेष प्राप्तत्वेन ध्वनेर्मध्यमत्वम् ॥१५॥

अवरमिति । ऊर्ज्जन् बलवान् स्फूर्जदाटोपो यत्र तथा भूतं गर्जनं करणं वारिवाहा मेघा अद्रौ प्रति पर्वते विद्रुता धाविन्तः सन्तः दन्ति भ्रान्त्या श्यामाकारा एते हस्तिनः प्रति पर्वते भ्रमन्तीति हस्ति भ्रान्त्या सिंह समूहस्य प्रकोपान् द्राघयन्ते दीर्घान् कुर्वन्ति । दीर्घ शब्दस्य द्राघादेशः । कीदृशाः ? प्रकर्षेणोद्यन्ती या विद्युन्माला तया प्रकाशिता आशा दिक् तैः ॥१६॥

होने की सम्भावना है, यह सूचित हुआ । यहाँ भावी जो कृष्ण सङ्गम्–उसका स्थगन–अर्थात् संवरण हुआ ॥१४॥

मध्यम-यथा,—"हे सखि ! तुम उत्तम पुरुष के कानन के अभ्यन्तर में पुष्प हेतु सत्य ही गई थी, देखो, मधुकर वृन्द तुम्हारे पश्चात् पश्चात् आ रहे हैं मैं जानती हूँ कि—उसका परिमल गोपन करना अतीव कठिन कार्य्य है ।

अमरकोष में पुन्नाग, पुरुष, केशरादि शब्द की पर्य्यायता निबन्धन यहाँ उत्तम पुरुष शब्दसे उत्कृष्ट पुन्नाग वृक्ष एवं पक्षान्तर में पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं, इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ परिस्फुट ही हुआ है ।

उत्तम, श्रेष्ठ नागकेशर इति प्रसिद्ध पुरुष पुन्नाग के वन मध्य में पुष्पार्थ तुम गई थी, भ्रमर गण तुम्हारे पीछे पीछे आ गये हैं, अतः यह निश्चित है, कि—तुम्हारे पक्ष में पुन्नाग का परिमल को गोपन करना असम्भव है । श्रीकृष्ण पक्ष में, तुम्हारे अङ्गस्थ श्रीकृष्ण का परिमल को आच्छादन करना सामर्थ्य के बाहर है । यहाँ श्लेष प्राप्त होने के कारण ध्वनि का मध्यमत्व है ॥१५॥

अवर-काव्य जलद मण्डली समुद्यत विद्युद्दाम से दिग् दिगन्त को विद्योतित करके अद्रि अद्रि में प्रधावित हो रही हैं, एवं मेघाडम्बर के सहित गम्भीर गर्ज्जन से दन्ति भ्रान्ति उत्पन्न करके सिंह सङ्घ का

ध्वने र्ध्वन्यन्तरोद्गारे उत्तमोत्तमत्वं यथा---

यातासि स्वयमेव रत्न-पदकस्यान्वेषणार्थं विना-
दायातासि चिरेण कोमल-तनुः क्लिष्टासि हा मत्कृते।
श्वासो दीर्घतरः स कण्टक-पदं वक्षो मुखं नीरसं
का ते ह्रीरसमञ्जसा, सखि प्रति दूरे रहः सुभ्रुवाम् ॥

इत्यत्र त्वं तदानयनार्थं न गतासि, अपि तूपभोगार्थमेवेति ध्वनिरेकः। अन्योऽपि वक्तृ प्रकृति प्रकरण वैशिष्ट्यात् प्रतिभासते। तथा हि प्रकरणं तावत् प्रिय सखीमेनां श्रीकृष्णेन

काचिद् यूथेश्वरी स्वसखीं श्रीकृष्ण सम्भुक्तां कर्तुं स्वकण्ठोस्थित पदकानयन छिषेण कुञ्जमध्ये प्रेषितां तत्र स्थितेन श्रीकृष्णेन सह सम्भोगानन्तरं स्वान्तिके आगतां लज्जया अधोमुखीं तां प्रति सपरिहास माह—यातेति। वक्षः सकण्टक पदं कण्टक चिह्नेन सह वर्त्तमानम्, हे सखि ! रह एकान्ते दूरे सुभ्रु वां गतिरहसमञ्जसा भवति, अतस्त्वयायों असमञ्जसं कृतम्, अधुना पश्चात्तापे किं भविष्यति ? त्वमिति तदानयनार्थं पदकानयनार्थं न यातासि, किन्तु श्रीकृष्णेन सहोपभोगार्थम्। अन्योऽपि ध्वनिर्वक्तृवैशिष्ट्यात् प्रकृति वैशिष्ट्यात् प्रकरण वैशिष्ट्यात् प्रतिभासते, सख्या सह प्रेमानुबन्ध प्रकरण दर्शाद् राधयैव कृष्णेन

प्रकोप, वर्द्धन कर रही है।

यहाँ केवल शब्द वैचित्र्य निबन्धन एवं ध्वनि की निस्पन्दता के कारण अवरत्व हुआ है ॥१६॥

अवरां अर्ज्जुन—बलवान् स्फुर्जवाटोप जहाँ है, उस प्रकार गर्जन के द्वारा--वारि-ग्राह मेघ समूह अद्रि-अद्रि में प्रति पर्वत में विद्रुत धावित हो रहे हैं। वन्ति भ्रान्त्या-श्याम वर्ण के ये सब हस्ती हैं, प्रति पर्वत में भ्रमन् कर रहे हैं, इस प्रकार हस्ती भ्रान्ति से सिंह समूह का क्रोध वर्द्धित कर रहे हैं। दीर्घ शब्द का ह्रस्व आदेश हुआ है, किस प्रकार है—प्रकृष्ट रूप से प्रकाशित जो विद्युन्माला है, उस के द्वारा उद्भासित जो विर्क है ॥१६॥

ध्वनि से ध्वन्यन्तर उद्गार होने से उत्तमोत्तम काव्य होता है॥ उदाहरण—सखि ! तुम रत्नपदक अन्वेषणार्थ स्वयं गई थी ? देखो, वन से प्रत्यागमन करने में कितना विलम्ब हुआ। हाय ! तुम कोमलाङ्गी हो, मेरे निमित्त तुमने कितना कष्ट किया। तुम्हारा निश्वास दीर्घतर हुआ है, एवं वक्षः स्थल भी कण्टकित, तथा मुख मण्डल भी नीरस हुआ है, इसमें तुमको लज्जित होने का क्या है ? विजन प्रदेश में कुल कामिनी वृन्द की दूर गमन सर्वथा अनुपयुक्त है।

यहाँ, तुम उक्त पदक लाने को नहीं गई, उपभोगार्थ ही गई थी। इस प्रकार एकध्वनि प्रतीत हो रही है, एवं वक्ता की प्रकृति एवं प्रकरण वैशिष्ट्य से अन्य एक ध्वनि भी प्रतिभासित हो रही है।

श्रीराधा ने प्रेमानुबन्ध हेतु उक्त प्रिय सखी को श्रीकृष्ण के सहित सङ्गता करने के निमित्त उस प्रकार युक्ति की थी, रत्न पदक आनयन के छल से सखी को जब कुञ्ज में प्रेरण करूँगी ? तब तुम उस से मिलना। यही यहाँ का प्रकरण है, पश्चात् सखी, उस रीति से कुञ्ज से प्रत्यागत होने पर उस को अपराधिनी करने के निमित्त श्रीराधा का परिहास, आकार गोपन, असूयादि विविध भावमिश्रण हैं, एवं

सह सङ्गमयितुं तेनैव सह श्रीराधया प्रागेव युक्तिः कृता, यदासौ मया प्रहीयते, तदास्या सङ्गस्त्वया करणीय इति । पश्चात्तथा समागतायां तस्यां तामपराद्धां कर्त्तुं तस्याः परिहासा-वहित्थासूयादि भावशाबल्यम्, सख्योश्च ह्री--साध्वस कोपादि--भावशबल्यमिति बहव एव ध्वनेः पल्लवाः । तेन ध्वने ध्वन्यन्तरोद्गारोऽस्त एवं विधस्थले उत्तमोत्तमत्व ज्ञेयम् ॥१७॥

शब्दार्थ वैचित्र्येणोत्तमोत्तमत्वं यथा---

नवजलधर धामा कोटि कामावतारः प्रणयरसयशोरः श्रीयशोदा किशोरः ।
अरुणदरुणदीर्घापाङ्गभङ्ग्या कुरङ्गी, रिव निखिल कृशाङ्गीरङ्गिणि त्वं क्व यासि ॥

अत्र शब्दार्थ वैचित्र्येण वाच्यादतिशायिना ध्वनिना च उत्तमोत्तमत्वम् । ध्वनिस्तु हे

सह प्राक् युक्तिः कृतेति ध्वनिः । ध्वने ध्वन्यन्तरं यथा समागतायामिति । परिहासः स्पष्टः । अवहित्था श्रीकृष्णेन सह संवाद रूपाकार गोपणम् सुभ्रुवां दूरे गतिरसमञ्जसेत्यनेनासूया इत्यादि भावशाबल्य यूथेश्वर्याः सख्याश्च साध्वसं भयम्, एतादृश मद्विडम्बने त्वमेवहेतु रिति प्रणयकोपश्च ॥१७॥

नवीन मेघस्येव श्याम कान्तिर्यस्य, तथा कोटि कन्दर्पा अवतारा यस्य, सौन्दर्यातिशयेन तेषामवतारोत्यर्थः । प्रणय रसरूपं यशो राति ददाति,एवम्भूतो यशोदाकिशोरोऽरुणापाङ्गभङ्ग्या निखिल कृशाङ्गीररुणत्--रुरोध । तत्र दृष्टान्तः--कुरङ्गी--हरिणीरिव, तस्मात् हे रङ्गिणि ! त्वं कुत्र यासि ?

सखी की भी लज्जा, भीति, प्रणय कोपादि विविध भाव मिश्रण है । इस रीति से ध्वनि के बहुतर पल्लव हैं । अतएव ध्वनिका ध्वन्यन्तरोद्गार हेतु एवं विध स्थलमें उत्तमोत्तमत्व हुआ है,यह जानना होगा ।१७।

किसी यूथेश्वरी, निज सखी को श्रीकृष्ण सम्भुक्ता करने के निमित्त निज कण्ठ स्थित पदक अनयन् छल से कुञ्ज में भेजी थीं, वहाँ श्रीकृष्ण के सहित सम्भोग के अनन्तर निज समीप में आकर लज्जा से अधोमुखी सखी को परिहासमय वाक्य कही थी--यातेति । वक्षः स्थल में कण्टक चिह्न वर्त्तमान है, हे सखि ! एकान्त दूर देश में कुल ललेना के पक्ष में जाना असमीचीन है ।

अतः तुम ने पहले ही असमञ्जस किया, अधुना पश्चात्ताप करने से क्या होगा ? तुम तो पदक लाने को नहीं गई थी, किन्तु श्रीकृष्ण के सहित सम्भोग हेतु गई थी । अपर श्री ध्वनि--वक्तृवैशिष्ट्य से प्रकृति वैशिष्ट्य से, प्रकरण वैशिष्ट्य से प्रतिभाषित होती है । सखी के सहित प्रेमानुबन्ध प्रकरण हेतु राधाने ही कृष्ण के सहित पहले युक्ति की, यह ध्वनि है । ध्वनि से जो ध्वन्यन्तर होती है, उसका वर्णन--सखी का प्रत्यागमन समय में परिहासमय उक्ति में सुस्पष्ट है । अवहित्था-श्रीकृष्ण के सहित संवाद रूप आकार गोपन है, ललना के पक्ष में दूर गमन असमीचीन है--इस के द्वारा असूया प्रकटित हुई है. अतः भाव शाबल्य हुआ है । यूथेश्वरी एवं सखी का भय हुआ है. इस प्रकार तुमने विडम्बना की है-- यह प्रणय कोप भी है ॥१७॥

शब्दार्थ वैचित्र्य से उत्तमोत्तमत्व होता है,--उदाहरण--नवजलधर सदृश रूप, कोटि कामों की अवतार स्वरूप, प्रणय रस यशः प्रदाता श्रीयशोदा किशोर, अरुण वर्ण दीर्घ अपाङ्ग भङ्गि के द्वारा कुरङ्गी कुल के समान निखिल कृशाङ्गी को निरुद्ध किये हैं । हे रङ्गिणि ! तुम कहाँ जा रही हो ?

रङ्गिणि ! कुतुकिनि ! त्वमति प्रसिद्धा गुणवती। क्व यासि? तत्रैव याहि, यत्र श्रीयशोदा किशोरी निखिल कृशाङ्गीररुणत् रुरोध । कया ? अरुण दीर्घापाङ्गभङ्ग्या। कुरङ्गीरिवेत्युपमालङ्कारेणापाङ्ग भङ्ग्या वागुरात्वेन रूपकालङ्कारो ध्वनितः। वस्तुतस्तु क्व यासीति तत्र किं यासि, मा याहीति लक्ष्योऽर्थः, कोटि कामावतार इति प्रलोभन द्वारा तत्रैव याहीति व्यङ्ग्योऽर्थः अत्राविश्वासञ्च मा कार्षीः, यतः प्रणयरस यशोरः प्रणय रस यशः प्रदः। नवजलधर धामेति—स्वधाम्नैव सर्वतस्तिमिरमुत्पाद्य निःशङ्कमलक्ष्यो भूत्वा विहरति, अतो लोकभीतिरपि न कार्य्येति बहव एव ध्वनेः पल्लवाः ॥१८॥

शब्दार्थ वैचित्र्ये मध्यमस्योत्तमत्वं यथा--

शिक्षितानि सुहृदां न गृहीता, न्युक्षितासि निज गर्वरसेन।

तत्र मा याहीति लक्ष्यार्थस्य वैचित्र्यम् शब्द वैचित्र्यन्तु स्पष्टमेव। एवं वाच्यार्थाद् ध्वन्यर्थस्योत्कर्षेणोत्तमोत्तमत्वम्। हे रङ्गिणि—इत्यस्य व्याख्या हे कुतुकिनि, अपाङ्गभङ्ग्या वागुरात्वं मृगबन्धनीत्वम् ॥१८॥

यहाँ शब्दार्थ वैचित्र्य-हेतु, विशेषतः वाच्यार्थ की अपेक्षा ध्वनि का उत्कर्ष हेतु उत्तमोत्तमत्व हुआ है।

ध्वनि इस प्रकार है—हे कुतूहलिनि! तुम अति प्रसिद्धा गुणवती हो, कहाँ जा रही हो? वहीं जाओ, जहाँ श्रीयशोदा किशोर, निखिल गोपाङ्गनावृन्द को निरुद्ध किये हैं, किस रीति से निरोध किये हैं? रक्त वर्ण दीर्घ अपाङ्ग भङ्गि द्वारा। 'कुरङ्ग समूह के समान' इस उपमा के द्वारा अपाङ्ग भङ्गि का वागुरास्वरूप रूपकालङ्कार ध्वनित हुआ है। वस्तुतः 'कहाँ जा रही हो?' इस वाक्य में, 'क्यों वहाँ जा रही हो, वहाँ न जाना,' इस प्रकार लक्ष्यार्थ का बोध होता है। 'कोटि कामका अवतार स्वरूप' इस विशेषण पद के द्वारा प्रलोभन दिया गया है, अर्थात् वहाँ जाओ, इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ सूचित हुआ है। 'प्रणयरसयशः प्रदाता' इस विशेषण से—अविश्वास न करना। यह बोध होता है। 'नव जलधर रमणीय रूप' विशेषण के द्वारा इस प्रकार इस प्रकार अभिप्राय सूचित हुआ है—वह निज श्यामल रूप छटा से चतुर्दिक में तिमिर उत्पादन करके सब के अलक्ष में निःशङ्क विहार कर रहे हैं, अतएव लोक भीति भी वहाँ नहीं है। इस प्रकार ध्वनि के बहुतेर पल्लव यहाँ प्रकाशित हुए हैं ॥१८॥

जिस की कान्ति नवीन मेघ के समान है, धाम शब्द का अर्थ कान्ति है। तथा कोटि कन्दर्प—जिस के अवतार हैं, सौन्दर्य्यातिशय से उसके अवतारी वह हैं, प्रणयरूप यश प्रदान करता है, इस प्रकार यशोदा किशोर, अरुण अपाङ्ग भङ्गि के द्वारा निखिल कृशाङ्गी को अवरुद्ध किया है। इस में दृष्टान्त—कुरङ्गी—हरिणी के समान। अर्थात् हरिणी को जिस प्रकार अवरुद्ध करता है—उस प्रकार अवरुद्ध किया है। अतः हे रङ्गिणि! तुम कहाँ जा रही हो? वहाँ न जाना, इस प्रकार लक्ष्यार्थ वैचित्र्य है। शब्द वैचित्र्य किन्तु सुस्पष्ट है। इस प्रकार वाच्यार्थ से ध्वन्यर्थ का उत्कर्ष होने के कारण उत्तमोत्तमत्व है। हे रङ्गिणि! इस की व्याख्या—हे कुतुकिनि है, अपाङ्ग भङ्गि के द्वारा जो वागुरात्व है—इस से मृगबन्धनीत्व का बोध होता है ॥१८॥

दीक्षितः कुल वधूवधयागे, वीक्षितः सखि सनन्द कुमारः ॥

अत्र ध्वनेर्मध्यमत्वेऽपि शब्दार्थ वैचित्र्य परिपुष्ट्या उत्तमत्वमेव ॥१९॥

शब्दार्थ वैचित्र्येऽवरस्य मध्यमत्वं—यथा—

काननं जयति यत्र सदा सत्, का न नन्दति यदेत्य सुखश्रीः ।
का न नन्द तनये प्रणयोत्का, काननं धयति वा न हि तस्य ॥२०॥

अत्र ध्वनेर्निस्पन्दतायामवरत्वेऽपि मध्यमत्वम् ।

शिक्षितानीति—हे सखि ! नन्दनन्दनस्य दर्शनं कदापि माकुर्विति शिक्षितानि न गृहीतानि, यतोऽहं कुलाङ्गना, मच्चित्त चाञ्चल्यं कः कर्त्तुं शक्नोतीति निज गर्व रसेनोक्षितासि—सिक्तासि, यः कुलाङ्गनावधे दीक्षितः, स नन्दकुमारस्त्वयेक्षितः, अत्रास्माकं शत सहस्र शिक्षितान्यपि अनादृत्यात्यौत्सुक्येन त्वया तस्य दर्शनं कृतम्, अधुना तु तेन सह मिलनं विना त्वत् प्राणा न स्थास्यन्ति, यतः कुलाङ्गना वधे दीक्षितः । अत एव त्वत् प्राण रक्षार्थं मस्माभिः सखिभिरेव तेन सह मिलने यतनीयमिति यूथेश्वरीं प्रति सखीनाश्वासो ध्वनिः । अस्य ध्वने गूढत्वाभावेन मध्यमत्वम् यद्वा, अत्र सतीः कुलवतीरपि कृष्णो मोहयितुं क्षम इति ध्वनिः । अस्य वाच्यातिशयित्वं नास्तीति मध्यमत्वम् ॥१९॥

काननमिति—यत्र सत् काननं वृन्दावनं जयति, यत् काननमेत्य प्राप्य का सुखश्रीः सुख सम्पत्ति न नन्दति, न समृद्धा भवति । का सुन्दरी श्रीकृष्ण प्रणयार्थं न उत्का, नोत्कण्ठिता । धैर्य्य लज्जावती का कुलाङ्गना तस्य कृष्णस्याननं न धयति, न पानं करोति । 'धेट् पाने' धातुः सुखसम्पत्तिश्च रमणमेवेति ध्वनिः तस्माद् वाच्यार्थ एव चमत्कारी ॥२०॥

शब्दार्थ वैचित्र्य से मध्यम काव्य का उत्तमत्व है—दृष्टान्त—हे सखि ! तुमने निज गर्व रस से उक्षित (सिक्त) होकर सुहृद् गण के उपदेश वाक्य समूह को ग्रहण नहीं किया । इस हेतु कुलबधूवधयाग में दीक्षित नन्द कुमार तुम्हारे द्वारा दृष्ट हुये हैं ।

यहाँ ध्वनि का मध्यमत्व होने पर भी शब्दार्थ का वैचित्र्य परिपोषण हेतु उत्तमत्व हुआ है ।

शिक्षितानिति—हे सखि ! नन्द नन्दन का दर्शन न करो, इस प्रकार शिक्षा वाक्य को तुमने ग्रहण नहीं किया । कारण, मैं कुलाङ्गना हूँ, मेरा चित्त को चञ्चल कौन कर सकता है ? इस प्रकार निज गर्व रस के द्वारा तुम सिक्त हो, जो कुलाङ्गना बध-कार्य में दीक्षित है, उस नन्द कुमार को तुमने देख लिया है । हम सब की शत सहस्र शिक्षा को भी तुमने अनादर करके अति उत्सुकता से नन्द कुमार का दर्शन किया, अधुना उसके सहित मिलन के बिना तुम्हारा प्राण रह नहीं सकता, कारण वह कुलाङ्गना बध हेतु दीक्षित है । अतः तुम्हारे प्राण रक्षार्थ हम सब सखी गण को यत्न करना कर्त्तव्य है । यूथेश्वरी के प्रति सखी गण की आश्वास ध्वनि—इस प्रकार है । यहाँ ध्वनि का गूढ़त्व न होने पर मध्यमत्व है । अथवा, सती कुलवती नारी को भी मुग्ध करने में कृष्ण सक्षम है—यह ध्वनि है । वाच्य से ध्वनि का अतिशयित्व न होने के कारण—मध्यमत्व हुआ है ॥१९॥

शब्दार्थ वैचित्र्य से अवर काव्य का भी मध्यमत्व होता है—दृष्टान्त—जहाँ सत् वृन्दावन कानन

यशः प्रभृत्येव फलं नास्य केवलमिष्यते ।

निर्म्माण काले श्रीकृष्ण-गुणलावण्य-केलिषु ॥

चित्तस्याभिनिवेशेन सान्द्रानन्दलयस्तु यः ।

स एव परमो लाभः स्वादकानां तथैव सः ॥

(काव्य प्रकाश १।२) 'काव्यं यशसेऽर्थकृते' इत्यादीन्येव केवलं न फलानि, अपि तूक्त प्रकारः श्रीकृष्णगुणानुवादादिकृत आनन्दश्च ॥२१-२२॥

इति श्रीमदलङ्कार कौस्तुभे काव्यादि सामान्योद्देशो नाम

प्रथमः किरणः ॥१॥

'काव्यं यशसेऽर्थकृते' इत वक्ता काव्यप्रकाशे कृता काव्य निर्म्माणस्य फलं यशोऽर्थ प्राप्त्यमङ्गल निवृत्त्यादि फलमुक्तम्, स्वमते तु तत्तत् फलस्य तुच्छत्वात् तत्तन्न मुख्यं फलम्, मुख्यं फलं तु निर्म्माण समये श्रीकृष्ण गुण लावण्य केलिषु चित्तस्याभिनिवेशेन सान्द्रानंदे मज्जनमेवेत्याह—यश इति ॥

इति सुबोधिन्यां प्रथमः किरणः ॥१॥

विराजित है, जिस को प्राप्त करने से किस सुख सम्पत्ति की वृद्धि नहीं होती है? कौन सुन्दरी श्रीकृष्ण प्रणय के निमित्त उत्कण्ठिता नहीं होती है? कौन धैर्य लज्जावती कुल कामिनी तदीय मुख चन्द्र की सुधा का आस्वादन नहीं करती है?

यहाँ ध्वनि की निष्पन्दता हेतु अधमत्व होने पर भी शब्दार्थ वैचित्र्य से मध्यमत्व हुआ।

काननमिति—जहाँ सत् कानन वृन्दावन जययुक्त है। जिस कानन को प्राप्त कर किसको सुख सम्पत्ति समृद्धि नहीं होती है। कौन सुन्दरी—श्रीकृष्ण प्रणयार्थ उत्कण्ठिता नहीं होती है? धैर्य लज्जावती कौन कुलाङ्गना है—जो कृष्णानन को पान नहीं करती है। धेट् धातु पानार्थक है। सुख सम्पत्ति रमण ही है—यह ध्वनि है। अतएव वाच्यार्थ ही चमत्कारी है ॥२०॥

काव्य प्रकाश ग्रन्थकार के मत में यशः, सम्पत्ति, अशुभ शान्ति, लौकिक परमानन्द प्रभृति काव्य निर्म्माण के जो फल स्वीकृत हुये हैं, काव्य निर्म्माण के वे ही केवल फल नहीं हैं, किन्तु, काव्य निर्म्माण समय में श्रीकृष्ण के केलि लावण्य गुण प्रसादि विषय में चित्ताभिनिवेश हेतु चित्त में जो निर्म्मल निविड आनन्द उत्पन्न होता है, वही परम लाभ है, अन्यान्य फल आनुषङ्गिक मात्र है। वास्तविक काव्यास्वाद परायण व्यक्ति-वृन्द को उस प्रकार परम लाभ होता है ॥२१-२२॥

इति श्रीमदलङ्कार कौस्तुभे काव्यादि सामान्योद्देशो नाम

प्रथमः किरणः ॥१॥

द्वितीयकिरणः

अथ शब्दार्थवृत्तित्रयनिरूपणम्

अथ काव्य पुरुषस्य शरीरत्वेन निर्दिष्टयोः शब्दार्थयोः शब्दे निरूपिते एवार्थनिरूपणमिति प्रथमतः शब्द एव निरूप्यते ।

आकाशस्य गुणः शब्दो वर्ण ध्वन्यात्मको द्विधा ।।

वर्णात्मको ध्वन्यात्मकश्चेति द्विधा । यद्यपि वर्णा नित्यास्तथापि तदभिव्यक्तिः शरीरस्थ वायुणैव भवति । अत उक्तम्—(शङ्कराचार्य्यकृतप्रपञ्चसारतन्त्रे ३।४३) "तस्मात् पवन प्रेरितो वर्ण सङ्घः" इति ।।१।।

नित्यत्व प्रकारश्च यथा—

सच्चिदानन्द विभवात् सकलात् परमेश्वरात् ।
आसीच्छक्तिस्ततो नादस्तस्माद्बिन्दु समुद्भवः ।

शब्दार्थ वृत्तित्रय निरूपणम्

वर्ण ध्वन्यात्मकेत्यस्य व्याख्या—वर्णात्मक इति । ननु वर्णानां नित्यत्वमते वर्णघटितकाव्ये कथं कवि जन्यत्व व्यवहारः ? यद्यपीति । अभिव्यक्तिरिति । तथाच, नित्यसिद्ध वस्तुनः कविकृत प्राकट्य मेव, नतु वास्तव जन्यत्वमिति भावः । अत उक्तं प्रथम किरणे ।।१।।

सकलात् कला अंशोऽवयव स्तत् सहितात् मूर्त्तादित्यर्थः तथा च मूर्त्तात् सच्चिदानन्दरूप विभवात्

शब्द एवं अर्थ- काव्य पुरुष के शरीर रूप में निर्दिष्ट हुये हैं। उसके मध्य में शब्द निरूपण के अनन्तर ही अर्थ निरूपण करना समीचीन होने के कारण-प्रथमतः शब्द निरूपित हो रहा है।

शब्द, आकाश का गुण है, वह वर्णात्मक एवं ध्वन्यात्मक-भेद से द्विविध हैं, यद्यपि वर्ण समूह नित्य हैं, तथापि शरीरस्थ वायु के द्वारा उन सब की अभिव्यक्ति होती है, इस हेतु प्रथम किरण में लिखित है—वर्ण समूह पवन प्रेरित होकर सब के प्रत्यक्षीभूत होते हैं ।।१।।

'वर्ण ध्वन्यात्मक'—इस की व्याख्या है—'वर्णात्मक' वर्ण नित्यत्व वादी के मत में वर्ण घटित काव्य में कवि जन्यत्व व्यवहार कैसे सम्भव होगा ? उत्तर में कहते हैं—यद्यपीति । अभिव्यक्तिरिति, नित्यसिद्ध वस्तु का प्राकट्य कवि के द्वारा होता है, किन्तु वास्तविक जन्यत्व नहीं है। अतएव प्रथम किरण में कथित है—

मूलाधारात् प्रथम मुदितो यस्तु तारः पराख्यः
पश्चात् पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ् मध्यमाख्यः ।
वक्त्रे वैखर्य्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्णा
बद्ध स्तस्मात् भवति पवनप्रेरितो वर्ण सङ्घः ।।१।।

नादो विन्दुश्च वीजञ्च स एव त्रिविधो मतः ।
भिद्यमानात् पराद्विन्दोरुभयात्मा रवोऽभवत् ।
स रवः श्रुति सम्पन्नः शब्द ब्रह्माभवत् परम् ॥

सकलादिति मूर्त्तात्, नादो घोषः, तथा च (भा० ११।१२।१७) "प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः" इति विन्दुः प्रणवः, स च बीजम्,—सर्ववर्ण प्रभवत्वात् ॥२--३॥

मूर्त्त सच्चिदानन्द स्वरूपात् परमेश्वरादित्यर्थः । अस्मात् स्वरूपभूता चिच्छक्तिः पृथग् बभूव, ततश्च चिच्छक्तेः सकाशात् परमेश्वरस्वरूपो नादः पृथग् बभूव, नादात् परमेश्वरस्वरूप-भूतो विन्दुरपि पृथग् बभूव । स एव विन्दु वर्णानां प्राकट्ये वीज रूपत्वाद् बीजरूपश्च, स एव परमेश्वर एव, भिद्यमानात् पृथग् भूतात् परात् परमेश्वर स्वरूपान्नादाद् विन्दु, विन्दोः सकाशादुभयात्मा वर्ण ध्वन्यात्मा रवः शब्दो ऽभवत् । स एवोभयात्मा रवएव सर्वेषां श्रुतौ कर्णेन्द्रिये सम्पन्नः सन् प्रत्यक्ष गोचरो भवति, नतु नादविन्दू । परमेश्वर एव विन्दु द्वारा वर्णात्मको भवतीति उभयात्मकः शब्दः परं ब्रह्म ह्यभवत् । नाद शब्दस्य घोष वाचित्वे ईश्वर स्वरूपत्वे च प्रमाणमेकादश स्कन्धोक्त पद्यमाह—(भा० ११।१२।१७)

"स एष जीवो विवर प्रसूतिः, प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः ॥" इति ।

अस्यार्थः—जीवयतीति जीवः परमेश्वरो विवरेष्वाधारादिषु चक्रेषु प्रसूतिरिव प्रसूतिरभिव्यक्तिर्यस्य सः । तामेवाभिव्यक्तिमाह—घोषेणेति । घोषेण पराख्येन नादवता प्राणेन सह गुहामाधार चक्र प्रविष्ट इत्यर्थः । स च प्रणवः सर्वेषां वर्णानां प्रादुर्भावे प्रयोजकत्वाद् बीजम् ॥२--३॥

वर्ण समूह का नित्यत्व इस प्रकार है । सच्चिदानन्द विभव मूर्तिमान् परमेश्वर से प्रथमतः चित् शक्ति पृथक् होती है । तत् पश्चात् उस चित् शक्तिसे नाद, एवं नादसे विन्दु, पृथक् रूपसे प्रकाशित हुआ, विज्ञ व्यक्ति गण—उस शक्ति को नाद, विन्दु एवं बीज रूप में जानते हैं । पृथग् भूत उस परम विन्दु से वर्ण एवं ध्वन्यात्मक शब्द प्रादुर्भूत हुआ था, उक्त उभयात्मक शब्द ही श्रवणेन्द्रिय गोचर होते हैं, वही शब्द ब्रह्म रूप परम पदार्थ है । यहाँ नाद शब्द से घोष को जानना होगा ।

श्रीमद् भागवत के एकादशस्कन्ध में उक्त है—वह परमेश्वर नाद विशिष्ट घोष के द्वारा गुहा अर्थात् आधारचक्र में प्रविष्ट होते हैं ।

विन्दु शब्द से यहाँ प्रणव को जानना होगा । वह बीज है अर्थात् समस्त वर्णों का उद्‌भव कारण है ।।२–३।।

सकलात्—कला—अंश—अवयव—उसके सहित मूर्त्त विग्रह से मूर्त्त सच्चिदानन्द विभव से—मूर्त्त सच्चिदानन्द स्वरूप से--अर्थात् श्रीपरमेश्वर से स्वरूप भूता चिच्छक्ति पृथक् हुई थी, अनन्तर चिच्छक्ति से परमेश्वर स्वरूप नाद पृथक् आविर्भूत हुआ, नाद से परमेश्वर स्वरूपभूत विन्दु भी पृथक् आविर्भूत हुआ, वही विन्दु—वर्ण समूह के प्राकट्य विषय में बीज रूप होने के कारण—बीज रूप है । वह परमेश्वर ही है । परमेश्वर के स्वरूप से पृथक् होकर आविर्भूत नाद से विन्दु, एवं विन्दु से वर्ण एवं ध्वनि स्वरूप रव-शब्द उत्पन्न हुआ । वर्ण एवं ध्वनि स्वरूप रव ही सब को कर्णेन्द्रिय में सम्पन्न होकर प्रत्यक्ष गोचर होता

है, किन्तु नाद विन्दु उस प्रकार प्रत्यक्ष नहीं होता है।

परमेश्वर ही विन्दु के द्वारा वर्णात्मक होता है, अतः उभयात्मक शब्द ही पर ब्रह्म है। नाद शब्द का ईश्वर स्वरूपत्व एवं घोष वाचित्व में एकादश स्कन्धोक्त पद्य प्रमाण है—(भा० ११-१२-१७)

"स एष जीवो विवर प्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः॥

अयं भावः। ईश्वर स्तावत् स्वमायावशात् प्रपञ्चात्मना भाति, तत्-प्रपञ्चाध्यासाच्च जीवानामनादया कर्त्तृत्वादि ततो विप्रतिषेधाधिकारः तदानीं सत्वशुद्धयर्थं कर्म्माणि कुर्वित्युक्तम्। सत्वे तु शुद्धे पुनः कर्म्म जाड्य परिहाराय भक्ति विक्षेप कर्म्मादिरं परित्यज्य दृढ़ विश्वासेन भजेत्युक्तम्। जातायान्तु विद्यायां न किञ्चित् कर्त्तव्यमस्तीति। तत्र तावदीश्वराद् वागादीन्द्रिय द्वारा जीव प्रसूति कारण भूतं प्रपञ्चोद्गममाह सार्द्धै श्चतुर्भिः। स एषोऽपरोक्षः। जीवयतीति जीवः परमेश्वरः। अपरोक्षत्वे हेतुः विवरेषु आधारादि चक्रेषु प्रसूति रभिव्यक्तिर्यस्य सः। तामेवाभिव्यक्तिमाह घोषेणेति। घोषेण परारव्येन नादवता प्राणेन सह गुहामाधार चक्रं प्रविष्टः सन् मनोमयं सूक्ष्मं रूपं पश्यन्त्याख्यं मध्यमाख्यञ्च मणि पूरचक्रे विशुद्धि चक्रे चापेत्य प्राप्य वक्त्रे मात्रा ह्रस्वादिः स्वर उदात्तादिः वर्ण ककारादि रित्येवं वैखर्य्याख्य स्थविष्ठो-ऽतिस्थविष्ठोऽतिस्थूलो नाना वेदशाखात्मको भवति। तथा च श्रुतिः। चत्वारि वाक् परिमितानि पदानि तानि विदु र्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्यावदन्तीति। अभियुक्त श्लोकश्च-या सा मित्रावरुण सदनादुच्चरन्ती त्रिषष्टि वर्णानन्तः प्रकट करणैः प्राणः सङ्गात् प्रसूते। तां पश्यन्तीं प्रथममुदितां मध्यमां बुद्धि संस्थां वाचं वक्त्रे करण विशदां वैखरीञ्च प्रपद्ये॥

श्रुतेरर्थः—वाक् परिमितानि वाचः परिमितानि शास्त्र निर्णीतानि चत्वारि पदानि स्थानानि परा पश्यन्ति मध्यमा वैखरीति। तानि च ये ब्राह्मणा मनीषिणोऽध्यात्म कुशलास्ते विदुः। तेषां मध्ये आदौ-त्रीणि पदानि गुहायां शरीरे आधार नाभि हृदयेषु निहितानि नेङ्गयन्ति न जानन्ति। तुरीयं वैखर्य्याख्यं मनुष्या वदन्ति। मनुष्याणां वदने वर्त्तमानोऽर्थ बोधकः शब्दो भवतीत्यर्थः।

श्लोकार्थः—तां त्रिविधां भारतीं प्रपद्ये। या सा भारती मित्रावरुण सदनादग्नीषोम स्थानादुच्चरन्ती उद् भवन्ती। मित्रोऽग्निर्वरुणः सोमस्तयोः सदनमावासस्थानं परमात्मा यतः श्वासस्य शीतोष्णत्वं तस्मादुच्चरन्ती त्रिषष्टि वर्णान् जनयन्ति अ इ उ वर्णा ह्रस्वदीर्घप्लुतं भेदेन त्रिविधा नव। ऋ कारः प्लुत हीनो द्विविधः। लृ कारोऽपि द्विविधो दीर्घहीनः। सन्ध्यक्षराणि ह्रस्व हीनान्यष्टौ। एवं एकविंशति स्वराः, स्पर्शाः पञ्च विंशतिः, यादयोऽन्तस्था उष्माणश्च, अनुनासिकाः पञ्च। अनुस्वार विसर्गौ जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ चेति त्रिषष्टिः। एतान् वर्णान् वायु सङ्गात् प्रकट करणै बुद्धि गतैः। प्रत्यक्षरूपैरिन्द्रियैरन्तः पश्यति नतूच्चारयति सा पश्यन्त्याख्या तां प्रथममुदितामुत्पन्नाम्। बुद्धि संस्थामुच्चारयामीति विचारयुक्तां मध्यमाम्। मुखेऽवस्थितां करणविशदां—स्थान प्रयत्न निर्म्मलां वैखरीञ्च प्रपद्ये॥

जीवयतीति--सव को जो जीवित करते हैं, वह जीव है—अर्थात् परमेश्वर हैं। विवरों में आधारादि चक्र में प्रसूति के तुल्य--प्रसूति—अभिव्यक्ति है जिसका वह। उस अभिव्यक्ति को कहते हैं—घोषेणेति। घोष—जो परारव्य नाद है, उस नादयुक्त प्राण के सहित--गुहा--आधार चक्रमें प्रविष्ट। इस प्रकार जानना होगा। वह प्रणव--समस्त वर्णों का प्रादुर्भाव के प्रति प्रयोजक हेतु बीज है॥२--३॥

तथा च (भा० १२।६।३७)

"समाहितात्मनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः । हृद्याकाशादभून्नादोवृत्तिरोधाद्विभाव्यते ॥"

(भा० १२।६।३९) "ततोऽभूत्त्रिवृदोङ्कारो-योऽव्यक्त प्रभवः स्वराट्" "इत्यारभ्य (भा० १२।६।४३) ततोऽक्षर- समाम्नायमसृजद् भगवानजः" इति भागवते। तेन नादस्य नित्यत्वात् तदात्मकस्योङ्कारस्य च नित्यत्वम्, स्वराडिति पूर्वोक्तेः। तदात्मकस्य वर्ण समूहस्य च तथा। आकाशस्य नित्य द्रव्यत्वे तद् गुणस्यापि नित्यत्वम्, गुणाश्रयोहि द्रव्यमिति- गुण गुणिनोः समवाय सम्बन्धात्। तेन पवन-प्रेरणाप्रेरणवशादेवाभि-

प्रणव एव वर्णात्मकः सन् प्रकटो भवतीत्यत्र प्रमाणं द्वादशस्कन्धस्य पद्य द्वयमाह — तथा चेति। अस्यार्थो यथा - चतुर्मुख ब्रह्मणो हृदि य आकाश स्तस्मान्नादोऽभवत्, यः कर्णपुट पिधानेन श्रोत्रवृत्ति निरोधादस्मदादिभिरपि विभाव्यते— विलक्ष्यते। ततोऽभूदिति,- त्रिवृत् त्रिमात्रः— अकारोकारमकारात्मक ओङ्कारः। अव्यक्तात् परमेश्वरात् प्रभवः प्राकट्यं यस्य सः, स्वराट् स्वतन्त्र एवं हृदि प्रकाशमानः। 'ततोऽक्षर समाम्नायमसृजद् भगवानजः' इत्यस्यार्थो यथा—

ततस्त्रिवृदोङ्कारात् अक्षराणां समाम्नायं समाहारं भगवानसृजत्।

तदात्मकस्य ओङ्कारात्मक वर्ण समूहस्य तथा नित्यत्वम् ॥

शब्दस्य नित्यत्वे प्रमाणं मुक्त्वा युक्तिमाह— आकाशस्य नित्य द्रव्यत्व इति। तद् गुणस्य तन्मात्र वृत्तिगुणस्य, तथा च यो गुणो नित्यद्रव्य मात्रे वर्त्तते, सतु नित्यो भवति। अतएव आकाशमात्र वृत्ति-द्वित्व बहुत्वादि संख्यानां तद्वृत्ति संयोगानाञ्चानित्यत्वेऽपि न क्षतिः — तेषामाकाशमात्र वृत्तित्वाभावात्। एतन्मते रागद्वेषेच्छा प्रयत्नादयो--नात्मनोगुणा नित्यस्यात्मनो गुणानां नित्यत्व प्रसङ्गादपि त्वन्तः करण गुणा एव। परमाणवोऽपि त्रसरेणोः सकाशान्नातिरिक्ताः। एवं पञ्चम स्कन्धे परमाणूनामज्ञान कल्पितत्वेनानित्यत्वमुक्तम्। एवं नित्य दिक् कालावपि न परमेश्वरातिरिक्ताविति बोध्यम्।

भा० १२।६।३७ में उक्त है—हे ब्रह्मन्! समाहितात्मा भगवान् ब्रह्मा के हृदयवर्त्ति आकाश से नाद उद्भूत हुआ था। श्रवणेन्द्रिय की वृत्ति रोध करने से उस नाद का अनुभव होता है। उससे त्रिमात्र अर्थात् अकार, उकार, एवं मकारात्मक अव्यक्त प्रभव एवं स्वराट् अर्थात् जो स्वतन्त्र होकर ही हृदय में प्रकाशित होता है, उस प्रकार ओंकार आविर्भूत हुआ था। इस प्रकार उपक्रम करके कहा गया है— अनन्तर भगवान् अक्षर समूह का सृजन किये।

इस रीति से नादका नित्यत्व हेतु तदात्मक प्रणव का भी नित्यत्व सिद्ध हो रहा है। उसका प्रमाण स्वरूप 'स्वराट्' इत्यादि भागवतीय श्लोक उद्धृत हुआ। इससे प्रणवात्मक वर्ण समूह का नित्यत्व प्रमाणित हुआ। एवं आकाश का नित्य द्रव्यत्व हेतु उसका एकमात्र गुण शब्द का भी नित्यत्व युक्तिसिद्ध है। कारण, गुण, गुणी का समवाय सम्बन्ध हेतु द्रव्यमात्र ही गुण का आश्रय है। सुतरां नित्य द्रव्य मात्र वृत्ति गुण भी नित्य है, वायु का प्रेरण अप्रेरण हेतु शब्दकी अभिव्यक्ति एवं अनभिव्यक्ति होती रहती है। वस्तुतः वह नित्य पदार्थ है। इस प्रकार अन्तः करण में उपलभ्यमान त्व हेतु उसका नाम आन्तर स्फोट है। भा० १२।६।४० में कथित है—'शृणोति य इमं स्फोटम्' जो इस ओंकार को आन्तर स्फोट

व्यक्तचनभिव्यक्ती। वस्तुतस्तु नित्यत्वैव तेषामित्ययमान्तरः स्फोटः। उक्तञ्च (भा० १२।६।४० "शृणोति च इमं स्फोटम्" इति द्वादशस्कन्धे। अतएवके आचार्य्याः शब्दार्थमान्तरं स्फोट शब्द ब्रह्मेत्याहुः। यथा (पुण्यराजकृत वाक्य पदीय प्रकाशे १।४८) "निरंश एवाभिन्नो

गुणाश्रयो द्रव्यमिति द्रव्यसामान्य लक्षणम्, गुण गुणिनोः शब्द काशयोः समवाय सम्बन्धान्नित्य गुणाश्रयो नित्यद्रव्यस्य लक्षणमिति बोध्यम्। तेन शब्दानां नित्यत्वेन हेतुना तेषामुत्पत्तिनाशौ पवन प्रेरणा प्रेरणं वशादभिव्यक्तचनभिव्यक्तिरूपावेव। वस्तुतस्त्विति वस्तु तस्तु तेषां वर्णानां नित्यता एवेति हेतोरन्तरूपलभ्यमानोऽयं नित्यो वर्ण आन्तरः स्फोट इति प्राचां प्रवादोऽपिसङ्गच्छते।

ननु स्फोट शब्दस्या दृष्टाश्रुतत्वेनाप्रामाण्यं न शङ्कनीयम्। यतो द्वादशस्कन्धे स्फोट शब्दस्य श्रवणमस्त्येवेत्याह— उक्तञ्चेति। अस्यार्थो यथा— ननु कोऽसौ परमेश्वरः ? यः परमेश्वरः, इममोङ्कारम्, अन्तःकरण मात्र वेद्यतया आन्तरं स्फोटं शृणोति, अतएवके आचार्याः, शब्दश्चार्थश्च शब्दार्थं तदन्तरे बोपलभ्यमानं चेवान्तर स्फोटम्, तच्च शब्द स्फोटं शब्द ब्रह्मेत्याहुः। तत्र दृष्टान्तः--यथेति। निरंशो न कस्याप्यंशः; अतएवाभिन्न एक इत्यर्थः। नित्यो ज्ञानस्वरूपश्च, एवम्भूत ओङ्कार शब्दार्थ वस्तु मात्राणां

रूप में श्रवण करते रहते हैं।' इस रीति से उक्त स्फोट का विषय लिखित है। अतएव कतिपय पूर्वाचार्य्य कहते हैं—शब्दार्थ ही आन्तर स्फोट है, एवं शब्द स्फोट ही शब्द ब्रह्म है। यह आन्तर स्फोट शब्दार्थमय है। वह किसी का अंश नहीं है, किसी से भिन्न भी नहीं है, एवं क्षयोदय रहित ज्ञान स्वरूप है।।४।।

प्रणव ही वर्णात्मक होकर प्रकट होता है, इस विषय में प्रमाण रूपमें द्वादश स्कन्ध के पद्य द्वय का उद्धरण करते हैं। तथाचेति--इस का अर्थ इस प्रकार है— चतुर्म्मुख ब्रह्माके हृदय में जो आकाश विद्यमान है, उस से नाद हुआ। जिस को हम सब भी कर्णद्वय को आच्छादित कर श्रोत्र वृत्ति निरोध करने से जान सकते हैं। उससे त्रिवृत् त्रिमात्र--अकार, उकार, एवं मकारात्मक ओङ्कार आविर्भूत हुआ। अव्यक्त परमेश्वर से प्रभव अर्थात् प्राकट्य हुआ जिस का, वह स्वराट्--स्वतन्त्र हो हृदय में प्रकाशमान है। उससे अक्षर समाम्नाय का सृजन भगवान् ने किया। इसका अर्थ यह है— अनन्तर त्रिवृत् ओङ्कार से अक्षर समूह का समाम्नाय--समाहार-का सृजन भगवान् ने किया। तदात्मक--अर्थात् ओङ्कारात्मक वर्ण समूह का नित्यत्व है।

शब्द के नित्यत्व में प्रमाण को कहकर युक्ति को कहते हैं— आकाश नित्य द्रव्य होने के कारण— उसका गुण--अर्थात् उस में ही जो गुण रहता है, वह नित्य है, अर्थात् जो गुण नित्य द्रव्य में रहता है, वह नित्य होता है। अतएव आकाश वृत्ति द्वित्व बहुत्वादि संख्या ओंकार एवं उसमें जो संयोग विद्यमान है, उन सब का अनित्य होने पर भी क्षति नहीं है, अर्थात् उक्त नियम का व्यतिक्रम नहीं हुआ है। कारण उक्त द्वित्व-प्रभृति केवल आकाश में ही नहीं रहते हैं, अन्यत्र भी रहते हैं। इस मत में राग, द्वेष, इच्छा प्रयत्न प्रभृति आत्मा के गुण नहीं हैं, आत्मा नित्य होने के कारण गुण समूह भी नित्य होंगे, किन्तु वे सब अन्तः करण के गुण हैं। परमाणु समूह भी त्रसरेणु से अतिरिक्त नहीं हैं, अतएव पञ्चम स्कन्ध में वर्णित हैं—अज्ञान कल्पित होने के कारण परमाणु अनित्य है। एवं नित्य दिक् काल भी परमेश्वर से अतिरिक्त नहीं हैं।

नित्यो बोधस्वभावः शब्दार्थमयमान्तरः स्फोटः" इति ॥४॥

प्रयोगश्च (योगवाशिष्ठ रामायणे, निर्वाण २।४२)

"जातान्ध मूकबधिरस्यान्तः स्वीय परामृशि ।
स्व वाक् शब्दार्थयो बोध आन्तरः स्फोट एव सः ॥"

प्रादुर्भावकत्वात् शब्दार्थमयः। एतन्मते प्रणवादेव वेदादीनां सर्वेषां सृष्टिरिति बोध्यम्, अन्तरेणोपलभ्य मानत्वात्। स प्रणव आन्तरः स्फोटोऽव्यक्त इत्यर्थः ॥४॥

प्रयोग उदाहरणं यथा—जन्मान्धमूक बधिरस्य पुरुषस्य चक्षुः कर्ण वागिन्द्रियाणामभावात् स्वीयान्तःकरण एव स्वत एव शब्दार्थयोः परामर्शे जाते सति स्वीय वाक्यस्य शब्दार्थस्य चान्तरे ऽवबोधो भवतीत्यान्तरः स्फोटः। अर्थ घटेन जलमानयेति वाक्य श्रवणं विना घटकरणक जलाहरणस्य बोधाभावात् शाब्द बोधे करणापि प्रत्येक वर्ण ज्ञान सहित चरमवर्ण ज्ञानत्वेन कारणता वक्तव्या। एवं सति द्वितीयवर्ण

गुणाश्रय द्रव्य है—यह द्रव्य सामान्य का लक्षण है। गुण गुणी का, एवं शब्द आकाश का समवाय सम्बन्ध हेतु नित्य गुणाश्रय नित्य द्रव्य का लक्षण है। अतएव शब्द समूह नित्य होने पर भी उसका उत्पत्ति नाश—पवन के प्रेरण अप्रेरण से अभिव्यक्ति अनभिव्यक्ति रूप ही है। वस्तुतः वर्णों की नित्यता होने के कारण अन्तः करण में उपलब्ध यह नित्य वर्ण आन्तर स्फोट है, इस प्रकार प्राचीनों का कथन सत्य होता है।

अदृष्ट एवं अश्रुत होने के कारण स्फोट अप्रामाण्य है—इस प्रकार कहना समीचीन नहीं है। कारण,—श्रीमद् भागवत के द्वादश स्कन्ध में स्फोट शब्द का उल्लेख है। कहते हैं—उक्तञ्चेति। इसका अर्थ—परमेश्वर कौन है? उत्तर में कहते हैं—जो परमेश्वर है, वह इस ओङ्कार को—अन्तः करण से ही जाना जाता है, अतः आन्तर स्फोट को सुनता है। अतः कतिपय आचार्य शब्दार्थ,—अन्तः करण में यदि उपलब्ध होता है, तो उसको आन्तर स्फोट कहते हैं। शब्द स्फोट को शब्द ब्रह्म कहते हैं। उस में दृष्टान्त यथेति। निरंश—किसी का अंश नहीं है, अतएव अभिन्न एक है। नित्य ज्ञान स्वरूप भी है, इस प्रकार ओङ्कार शब्दार्थ वस्तु मात्रों का प्रादुर्भावक होने के कारण—शब्दार्थमय है। इस मत में प्रणव से ही वेदादि सब की सृष्टि है—यह अन्तर में उपलब्ध होता है। वह प्रणव आन्तर स्फोट अव्यक्त है ॥४॥

योगवाशिष्ठ रामायण में लिखित है—जो जन्मान्ध, मूक वा बधिर हैं, उन में चक्षुरादि इन्द्रिय के अभाव हेतु अन्तः करणमें स्वतः शब्दार्थ का परामर्श होने पर वाक्य एवं शब्दार्थ का बोध उनको होता है। वही आन्तर स्फोट है।

वैयाकरणिक पण्डित गण शाब्दबोध के प्रति वहि स्फोट को ही कारण कहते हैं। उनके मत में पूर्व पूर्व वर्णोच्चारण से जो संस्कार अभिव्यक्त होता है, उस उस संस्कार के सहित जो चरम वर्ण संस्कार है, उस संस्कार निष्ठ पद जन्य एक पदार्थ बोध जनकता पद स्फोट है। इस प्रकार पूर्व पूर्व पदोच्चारण से जो संस्कार अभिव्यक्त होता है, उस उस संस्कार के सहित जो चरम पद का संस्कार,—उस संस्कार निष्ठ वाक्य जन्य एक वाक्य बोधकता ही वाक्य स्फोट है। इस प्रकार पद स्फोट एवं वाक्य स्फोट ही शब्द ब्रह्म का लक्षण है। चरम वर्ण ज्ञान निष्ठ व्यक्ति स्फोटत्व रूप धर्म एकमात्र, नित्य, पदाभिव्यङ्ग्य एवं अखण्ड

वैयाकरणास्तु वहिः स्फोट माहुः। तत्र पूर्व पूर्ववर्णोच्चारणाभिव्यक्त-तत्तत् संस्कार सह कृत चरमवर्ण-संस्कार निष्ठ-प्रद जन्यैक-पदार्थता प्रत्यायकता पदस्फोटः। एवं पूर्व-पूर्व पदोच्चारणाभिव्यक्त तत्तत् संस्कार सहकृत चरम पद संस्कार निष्ठ वाक्य जन्यैक वाक्यार्थ प्रत्यायकता वाक्यस्फोटः। एतदुभयलक्षणं शब्द ब्रह्म।

तथा च (पुण्य राजकृत वाक्य पदीय प्रकाशे २।२८)"एकएव नित्यः पदाभिव्यङ्ग्योऽखण्डो व्यक्ति स्फोटो जाति स्फोटो वही रूपः" इत्याहुः। व्यक्ति स्फोट पुरस्कारेण जाति स्फोटः। अत आहुः—(काव्य प्रकाशे १।४) 'बुधै र्वैयाकरणैः। इति काव्य प्रकाशकृतः।

ज्ञान काले प्रथम वर्ण ज्ञानस्य नाशादेवं क्रमेण चरम वर्ण ज्ञान काले पूर्व पूर्व वर्ण ज्ञानानां नाशात् कथं शाब्द बोधः? तथा विशृखल तत्तद् वर्ण ज्ञानात् तादृश ज्ञान जन्य संस्काराद्वा शाब्द बोधापत्ति श्चेत्यतोऽत्र वैयाकरणानां समाधानं यथा—घट करणक जलाहरणस्य शाब्द बोधं प्रति स्फोट एव कारणम्, नतु तत्तद् वर्ण ज्ञानानां तादृश ज्ञान जन्य संस्काराणां वा कारणत्वम्। स्फोटत्वन्तु यादृश यादृशानुपूर्वी ज्ञान विशिष्ट चरमवर्ण ज्ञानानन्तरं घट करणक जलाहरण प्रतीति र्जायते, तादृश चरम वर्ण ज्ञान निष्ठोऽसाधारण जाति विशेषः। सतु घट करणक जलाहरण विषयक शाब्द बुद्धित्वावच्छिन्न जन्यता निरूपित जनकतावच्छेदकतया सिद्धः। नच न्यायमत सिद्ध तादृशानुपूर्व्यवच्छिन्न चरम वर्ण ज्ञानस्यैव कारणत्वं कथं न स्वीक्रियते? अलं स्फोटत्व रूप स्वतन्त्र धर्म स्वीकारेणेति वाच्यम्, आनुपूर्वी घटित धर्मस्य कारणतावच्छेदकत्वे महा गौरवात्। तथाहि—घोच्चारणाव्यवहितोत्तर टोच्चारणघटितानुपूर्वी शरीरेतदव्यवहितोत्तरत्वं नाम तत् क्षण ध्वंसाधिकरण क्षण ध्वंसानधिकरणत्वे सति तत्क्षण ध्वंसाधिकरणत्व

है, तादृश अनेक पद घटित महावाक्य स्फोट ही जाति स्फोट है।

इस प्रकार व्यक्ति स्फोट के सहित जाति स्फोट ही महावाक्य जन्य शाब्द बोध के प्रति कारण है, यही वहिः स्फोट है। इस हेतु काव्य प्रकाशकार ने कहा है, "बुधै र्वैयाकरणैः" बुध गण ने इस मत को अङ्गीकार किया है। बुध गण शब्द का अर्थ उन्होंने 'वैयाकरण गण' किया है।

अपर पण्डित गण इस मतको नहीं मानते हैं, वे कहते हैं—पूर्व पूर्व वर्ण का अनुभव कारी व्यक्ति को चरम वर्ण स्मरण के समय सहकारिता की दृढ़ता हेतु पूर्व पूर्व वर्णानुभव जनित संस्कार के सहित चरम वर्ण सम्बन्ध विशिष्ट अथच, पदव्युत्पादन कालीन ज्ञान के सहित जो श्रवणेन्द्रिय है, उस से एक समय में ही पूर्व पूर्व प्रतीत एवं वर्त्तमान बहु वर्ण घटित पद की प्रतीति होती है।

पूर्व परिचित पदार्थ का अभिज्ञान के स्थल में ही इस प्रकार होता है। 'यह वह देवदत्त है' इस प्रकार प्रत्यक्ष पदार्थ ज्ञानके समय भी पूर्वानुभूत तत् काल एवं तद्देश रूप अवस्था भी स्फुरित होती रहती है। अतएव स्फोट मानने की आवश्यकता नहीं है।' यह कथन समीचीन नहीं है।

कारण,—पदव्युत्पादन के समय स्फोट के द्वारा ही शाब्द बोध होता है। इस विषय में अनेक प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष एवं अर्थापत्ति-प्रमाण की सम्भावना भी है। जैसे "गौः" कहने से औकार एवं विसर्ग की प्रतीति नहीं होती है। गल कम्बलादि विशिष्ट पदार्थ की ही प्रतीति होती है—यह प्रत्यक्ष है। एवं

तन्मन्ये नसहन्ते । तथाहि पूर्वं पूर्वं वर्णानुभवतश्चरमवर्ण श्रवण काले पूर्व पूर्ववर्णानुभवजनित संस्कार;सह कृत चरम वर्ण सम्बन्धेन प्रदव्युत्पादनसमय ग्रहणानुगृहीतेन श्रोत्रेण युगपदेव सदसदनेकवर्णावगाहिनी पद जन्य प्रतीति र्जन्यते, सहकारिदोढर्येन प्रत्यभिज्ञान वदेव । प्रत्यभिज्ञाने प्रत्यक्षेऽपि अतीतादि-पूर्वा वस्थास्फुरत्येव, तेन कृतं स्फोटेनेति, तन्न ।

तथाहि पदव्युत्पादन समयो हि स्फोट कृतएव । न च तत्र प्रमाणाभावः । प्रत्यक्षार्थापत्योः सम्भवात् । यथा 'अयं गौः' इत्युक्ते न हि गकारौकारविसर्गा एव प्रतीयन्ते, अपि तु सास्नादि मत् किमपीति प्रत्यक्षम् । अयं गौरित्यत्र किं गकारादयो वर्णा व्यस्ता एवार्थ प्रत्यायकाः, किं समस्ताः ? नाद्यः, इतर वर्ण वैयर्थ्यात् नापि द्वितीयः, उत्पन्न प्रध्वस्तानां

रूपम्, एतादृशानन्ताव्यवहितोत्तरत्वघटित गुरुधर्मस्य कारणतावच्छेदकत्वे प्रसङ्गः । एवं घटेन जलमाहरेति जलं घटेनाहरेति द्विधानुपूर्व्यवच्छिन्नस्य कारणत्वे परस्पर व्यभिचार वारणाय कारण ज्ञान वैशिष्ट्यमपि कार्यतावच्छेद के निवेशनीयमिति कार्यतावच्छेदकेऽपि महागौरव प्रसङ्गः । यन्मते शाङ्कर्यं न जाति बाधकम्, तन्मतमालम्ब्योक्तम् । अतएव वैयाकरण मतमेव साधीयः । अतस्तन्मत मुपन्यस्यति— वैयाकरणास्त्विति ।

तत्र वैयाकरण मते पूर्वं पूर्वं वर्णोच्चारणाभिव्यक्तस्तत्तदुच्चारण संस्कारः, तादृश संस्कारोऽत्र पूर्वं पूर्वं वर्णोच्चारणाव्यवहितोत्तर घटितानुपूर्वीत्यर्थः । तथा च तादृशानुपूर्वी विशिष्टस्य चरम वर्णस्य संस्कार श्चरमवर्ण ज्ञानम्, तन्निष्ठ पद जन्यैक पदार्थ प्रत्ययकतेत्यस्य समुदायार्थो यथा तादृशानुपूर्वी विशिष्ट चरम वर्ण ज्ञान निष्ठ पद जन्य पदार्थ बोध जनकतावच्छेदक धर्मः पदस्फोटः, पदस्फोटत्वं स्फोटत्व विशिष्ट पद ज्ञान मेव पद स्फोटः, वाक्य स्फोट स्तु तत्तदवान्तर पद स्फोट सहित महास्फोट स्वरूप इत्याह-एवमिति ।

"यह गौ है" इस प्रकार वाक्य स्थल में ग कारादि वर्ण समूह पृथक् पृथक् रूपसे अर्थ बोधक होते हैं, अथवा समूह रूपसे होते हैं ? प्रथम पक्ष युक्ति-युक्त नहीं हो सकता है, कारण, एक वर्ण के द्वारा अर्थ की प्रतीति होने से अपर वर्णोच्चारण की व्यर्थता होती है । द्वितीय पक्ष भी सङ्गत नहीं है । कारण, जो उत्पन्न होकर ही विनष्ट होता है, उस प्रकार वर्ण समूह का एक समय में ज्ञान होना असम्भव है । समस्त एवं व्यस्त भाव भिन्न अपर प्रकार भी नहीं है । अतएव वर्णका वाचकत्व अनुपपन्न होने से जिस से अर्थ प्रतीति होती है, उस प्रकार वर्णातिरिक्त अथच वर्णाभिव्यङ्ग्य अर्थ प्रतीतिकर नित्य स्फोट ही स्वीकार्य है । इस रीति से स्फोट अर्थापत्ति प्रमाण सिद्ध है ।

स्फोट स्वीकार न करने से यावतीय संस्कार विशृङ्खल होकर पदजन्य पदार्थ बोध कराने में असमर्थ होते हैं । प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञा स्थल में भी जो अतीत अवस्था की स्फूर्त्ति होती है, वह भी विचार सिद्ध नहीं है । एवं श्रवणेन्द्रिय के द्वारा जो पूर्व पूर्वानुभूत वर्ण संस्कार के सहित चरम वर्ण सम्बन्ध विषयिणी पद प्रतीति होती है, वह भी प्रमाण सिद्ध नहीं है । कारण,—'यही वही देवदत्त है' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप क्या है ? वह पूर्वानुभूत देश कालादि का संस्कार जनित स्मृति विशेष ही है ।

श्रोत्र के सहित सदसत् बहु वर्ण विषयकज्ञान होना भी सम्भव नहीं है । एवं प्रत्यभिज्ञा एक ही

 (सर्वदर्शनसंग्रहे पाणिनिदर्शने २७ संख्यकानुच्छेदे) "न च व्यास सामस्त्याभावात् । समासाभ्यामन्य: प्रकारोऽस्ति तस्माद्वर्णानां वाचकत्वानुपपत्तौ यद् बलादर्थप्रतीतिः, स एव स्फोटो वर्णातिरिक्तो 'वर्णाभिव्यङ्ग्यार्थ—प्रत्यायको नित्यएव" इत्यर्थापत्तिरपि । स्फोटानङ्गीकारे सर्व एव संस्कारा- विशृङ्खलाः सन्तः पदजन्यपदार्थप्रतीतौ न शक्नुवन्ति,

---

एतदुभयलक्षणं पदस्फोट वाक्य स्फोट लक्षणं शब्द ब्रह्म एव । तथा चेति—व्यक्तेः स्फोटो भाव प्रधान निर्देशात् स्फोटत्वमित्यर्थः तथा च चरमवर्ण ज्ञान- व्यक्तिनिष्ठ स्फोटत्व रूपो धर्मो नित्योऽखण्डः पदाभिव्यङ्ग्यश्च । एवं तादृशानेक पद घटित महावाक्य स्फोट एव जाति स्फोटपद ग्राह्यः । तथा च व्यक्ति स्फोट सहित जाति स्फोट एव महावाक्य जन्य शाब्द बोधे कारणम् अतो वैयाकरणमतस्य सर्वोत्कर्षादेव काव्य प्रकाश कृतापि बुधशब्देन वैयाकरण एवोक्त इत्याह—अत आह रिति ।

ननु पूर्वोक्त दोष वारणाय चरमवर्णस्य श्रवणेन्द्रियजन्यज्ञान काले पूर्व पूर्व वर्णानां संस्कारदशात् पुनरपि तेषां ज्ञानादेव शाब्दबोधः स्वीकरणीयः, अतो न दोष इत्याह— तमिति । तं स्फोटवादम्, अन्ये अज्ञा न सहन्ते–इति पूर्व पूर्व वर्णमनुभवतः पुरुषस्य चरमवर्ण सम्बन्धेन श्रोत्रेण युगपदेव पूर्व पूर्वातीत वर्णविगाहिनी पद प्रतीति जन्यते, तदनन्तरं वाक्यार्थ विषयक शाब्द बोधो जायते । श्रोत्रेण च दिशेन ?

ज्ञान नहीं है । उसका स्वरूपांश में संस्कार जन्यता हेतु, एवं "यही वही देवदत्त है", यहाँ 'यही' अंश को दर्शनेन्द्रिय जन्यता हेतु वह स्मरण ग्रहण रूप ज्ञान द्वयात्मक है । नयन, केवल सन्निहित वस्तु ग्राहक होने के कारण, उसका अभाव हेतु, प्रत्यभिज्ञा के प्रति पूर्वानुभूत 'वही' इस अंश में नयन को करण नहीं कहा जा सकता है । एवं 'वही' इस अंश में जैसे संस्कार हेतु स्मरण होता है, 'यही' इस अंश में उस प्रकार संस्कार की भी सम्भावना नहीं है । इदमंश में केवल चक्षुः सन्निकर्ष निबन्धन ज्ञान उत्पन्न होता है, चक्षुः सन्निकर्ष के अभाव से उस प्रकार ज्ञान नहीं होता है । इस रीति से चक्षु के सहित अन्वय व्यतिरेक भाव एवं स्मरण जनक इदं पदार्थ अनुभव का अभाव है । अतएव स्फोट ही स्वीकार्य्य है । वैयाकरणिक-गण—इस प्रकार कहते हैं ।

तात्पर्य्य यह है कि—आनुपूर्वीरहित संस्कार समूह का क्रमशः परस्पर आनुपूर्वीरूप सम्बन्ध कारित्व ही स्फोटत्व है ।

इस प्रकार स्फोट को न मानकर तत्तद्वर्ण ज्ञान जन्य शाब्द बोध स्वीकार करने से "रस" स्थल में "सर" एवं "नदी" स्थल में "दीन" इस प्रकार प्रतिलोम पाठ से भी रेफ सकारादि वर्ण जन्य संस्कार की विद्यमानता हेतु "सर" एवं "नदी" पदार्थ का शाब्द बोध हो सकता है । वस्तुत अनुलोम संस्कार से यादृशार्थ विशिष्ट पद व्युत्पादित होगा, प्रति लोमोच्चारित उनसब वर्णों से तादृश अर्थ बोध नहीं होगा । ऐसा होने पर अनुलोम प्रतिलोम पद के मध्य में भेद ही नहीं रहेगा ।।५।।

प्रयोग उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—जन्मान्ध मूक बधिर को चक्षुः कर्ण वागिन्द्रिय के अभाव हेतु निजान्तः करण में ही स्वतः ही शब्दार्थ का परामर्श उत्पन्न होने पर स्वीय वाक्यस्थ शब्दार्थ का अवबोध अन्तर में होता है, अतः आन्तर स्फोट होता है ।

"घटेन जलमाहर" इस प्रकार वाक्य श्रवण के विना घट करणक जलाहरण का बोध होना सम्भव

नापि प्रत्यभिज्ञाने प्रत्यक्षेऽप्यतीतापि पूर्वावस्था स्फुरति। न वा सदसदनेक वर्णावगाहिनी पद प्रतीतिः श्रोत्रेण जन्यते, 'सोऽयं देवदत्तः' इति प्रत्यभिज्ञानस्य तत्त्वांशे संस्कार जनित स्मृति विशेषत्वात् श्रोत्रेण सदसदनेक वर्णावगाहाभावाच्च। नहि प्रत्यभिज्ञानमेकं ज्ञानम्,

---

पदव्युत्पत्ति जनकोऽयः समस्तस्य ग्रहणं ज्ञानम्, तदनुगृहीतेन तत् सहकृतेनेत्यर्थः। तथा च "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते।" इति मीमांसक मतानुसारेण कालस्यापि विषयविधया करणत्वमुक्तम्।

तत्र दृष्टान्तः—सहकारीति। सोऽयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञा स्थले यथा चक्षुः सन्निकर्ष जन्येदं पदार्थ ज्ञान काले पूर्व प्रतीत तत् काल तद्देशरूप तत्रापि तादृशं प्रत्यक्षे भासते, तथात्रापि चरमवर्णस्य श्रवणेन्द्रिय जन्य ज्ञाने पूर्वे पूर्वातीत वर्णस्यापि संस्कार वशाद् भानं भविष्यतीति तेन कृतं व्यर्थं स्फोटेनेति।

तन्नेति—यत् समये ऽतीत सर्व वर्ण घटित पदानां युष्माकं मते पुनः प्रतीति भवति, तत्र समये स्फोट कृत शाब्द बोध एव भवति, नत्वतीत वर्णानां पुनः प्रतीति रित्यर्थः। अत्र प्रमाणाभावो न वक्तव्यः, यतः प्रत्यक्ष प्रमाणमर्थापत्ति प्रमाणं च वर्त्तते। तत्र च प्रथमतः प्रत्यक्षप्रमाणमाह—

नहीं है, अतः शाब्द बोध हेतु प्रत्येक वर्ण ज्ञान सहित चरम वर्ण ज्ञान को कारण कहना आवश्यक है। ऐसा होने पर द्वितीय वर्ण ज्ञान के समय प्रथम वर्ण ज्ञान का नाश हो जाने के कारण, क्रमशः चरम वर्ण ज्ञान के समय पूर्व पूर्व वर्ण ज्ञान का नाश हेतु शाब्द बोध कैसे होगा ? तथा विशृङ्खल तत्तद् वर्ण ज्ञान से तादृश ज्ञान जन्य संस्कार से वा शाब्द बोधापत्ति। यहाँ वैयाकरण गण इस प्रकार समाधान करते हैं—घट कर्मक जलाहरण का शाब्द बोध के प्रति स्फोट ही कारण है, किन्तु तत्तद् वर्ण ज्ञान का अथवा तादृश ज्ञान जन्य संस्कार का कारणत्व नहीं है। स्फोट यह है— यादृश यादृश आनुपूर्वी ज्ञान विशिष्ट चरम वर्ण ज्ञान के अनन्तर घट कर्मक जलाहरणक प्रतीति होती है, तादृश चरम वर्ण ज्ञान निष्ठ असाधारण जाति विशेष। वह घट कर्मक जलाहरण विषयक शाब्द बुद्धित्वावच्छिन्न जन्यता निरूपित जनकता—वच्छेदक के द्वारा सिद्ध है। इस से न्यायमत में सिद्ध तादृश आनुपूर्वी अवच्छिन्न चरम वर्ण ज्ञान को कारण मानना ही समीचीन है, स्फोट रूप स्वतन्त्र धर्म को स्वीकार करना निष्प्रयोजन है। इस प्रकार कथन सङ्गत नहीं है, कारण, अनुपूर्वी घटित धर्म्म को कारणता वच्छेदक मानने से महागौरव होगा। जैसे घट' स्थल में 'घ'-कार उच्चारण के अव्यवहित उत्तर 'ट'-कार उच्चारण घटित आनुपूर्वी शरीर में जो अव्यवहितोत्तरत्व का निवेश हुआ है, उस का अर्थ है— तत् क्षण ध्वंसाधिकरण क्षण ध्वंसानधिकरण होकर तत् क्षण ध्वंसाधिकरणत्वरूप। इस प्रकार अव्यवहितोत्तरत्व घटित गुरुधर्म्म को कारणतावच्छेदकत्व होगा। एवं 'घटेन जलमाहर' स्थल में 'जलं घटेना आहर' स्थल में द्विधानुपूर्वी अवच्छिन्न को कारण मानने पर परस्पर व्यभिचार वारण हेतु कारण वैशिष्ट्य का निवेश करना कारणतावच्छेदक में आवश्यक है, इससे कार्यता अवच्छेदक में भी महागौरव होगा। जिस मत में साङ्कर्य्य, जाति बाधक नहीं है, उस मत को अवलम्बन करके ही उक्त लक्षण हुआ है। अतएव वैयाकरण मत ही उत्तम है। अतः उस मत का उट्टङ्कन करते हैं। वैयाकरणास्त्विति। वैयाकरणक के मत में पूर्व पूर्व वर्णोच्चारण के द्वारा अभिव्यक्त तत्तदुच्चारण संस्कार स्फोट है, यहाँ तादृश संस्कार—पूर्व पूर्वोच्चारण के अव्यवहितोत्तर घटित आनुपूर्वी है। फलितार्थ यह है—तादृशानुपूर्वी विशिष्ट चरम वर्ण का संस्कार—चरम वर्ण का ज्ञान है, तन्निष्ठ पदजन्य एक पदार्थ प्रत्यायकता—का समुदायार्थ इस प्रकार है—तादृशानुपूर्वी विशिष्ट चरमवर्ण ज्ञान निष्ठ

तदंशे संस्कार जन्यतया, इदमंशे चक्षु जन्यतया च स्मरणं ग्रहणात्मकत्वात्। न च तदंशेऽपि चक्षुः करणम्, तस्य सन्निहितग्राहितया तदभावात्। नापीदंशे संस्कारः—चक्षुरन्वय व्यतिरेकानुविधानात्, स्मरण हेतु व्यवसायाभावाच्च। तेन स्फोट एव अङ्गीकार्य इति

गौरित्युक्ते नातीत ग कारादेः पुनः प्रतीतिः, किन्तु सास्नाद्यवयव विशिष्ट गोपदार्थस्य प्रतीतिरित्यत्र सर्वेषामनुभव एव प्रमाणम्।

अर्थापत्ति प्रमाणमाह—गौरित्यत्र केवल ग कारस्य कारणत्वेऽन्य वर्णोच्चारणस्य वैयर्थ्यापत्तिः, केवल ग कारोच्चारणात् शाब्दबोधाप्रतिपत्तेश्च। नापि द्वितीय इति वर्ण समूह ज्ञानानामेकदाऽसत्त्वेन द्वितीय पक्षोऽपि निरस्तः। तस्मात् पद जन्य शाब्द बोधान्यथानुपपत्त्या स्फोट सिद्धिः। इत्यन्यथानुपपत्तिरेवात्र प्रमाणम्। यथा स्थूलो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इत्यत्रापीनत्वान्यथानुपपत्ति प्रमाणेन रात्रि भोजित्व सिद्धिः।

नापि वर्ण समुदय ज्ञानानां तादृशज्ञान जन्य संस्काराणां वा कारणत्वं वक्तुं शक्यम्, यतो विशृङ्खलाद् वर्णानां ज्ञानात् संस्काराद्वा शाब्द बोधानुत्पत्तिरित्याह—स्फोटाङ्गीकारे तु। यच्च, सोऽयं देवदत्त इति

पद जन्य पदार्थ बोध जनकता वच्छेदक धर्म—पद स्फोट है। पद स्फोटत्व—स्फोटत्व विशिष्ट पद ज्ञान ही पद स्फोट है। वाक्य स्फोट—तत्तदवान्तर पद स्फोट के सहित महा स्फोट स्वरूप है। इस को कहते हैं—एवमिति।

एतदुभय लक्षण—पद स्फोट वाक्य स्फोट लक्षण शब्द ब्रह्म ही है। भाव प्रधान निर्देश होने के कारण स्फोट शब्द से स्फोटत्व को जानना होगा। तथा च—चरमवर्ण ज्ञान व्यक्तिनिष्ठ स्फोटत्व रूप धर्म नित्य अखण्ड एवं पद के द्वारा अभिव्यङ्ग्य है। एवं तादृश अनेक पद घटित महावाक्य स्फोट ही जाति स्फोट है। तथा च—व्यक्ति स्फोट के सहित जाति स्फोट ही महा वाक्य जन्य शाब्द बोध में कारण है, अतः वैयाकरण मत का सर्वोत्कर्षत्व होने के कारण—काव्य प्रकाश ग्रन्थकार ने भी बुध शब्द का अर्थ वैयाकरण किया है। इस को 'अत आहु' शब्द से कहा है।

पूर्वोक्त दोष निवारण हेतु चरम वर्ण का श्रवणेन्द्रिय ज्ञान के समय पूर्व पूर्व वर्णों का संस्कार विद्यमान होने के कारण पुनर्वार उन सब का ज्ञान से शाब्द बोध स्वीकार करना कर्त्तव्य है। इस से दोष की सम्भावना नहीं है—इस को कहते हैं—अपर अभिव्यक्ति गण स्फोट वाद को स्वीकार नहीं करते हैं।

पूर्व पूर्व वर्णों का अनुभव कारी पुरुष को चरम वर्ण के सम्बन्ध से कर्णेन्द्रिय में युगपद ही पूर्व पूर्व अतीत वर्णाभिग्राहिनी पद प्रतीति होती है। किस प्रकार कर्णेन्द्रिय से? पदव्युत्पत्ति जनक जो समय है—उसका ग्रहण—ज्ञान है, उसके अनुग्रह से—अर्थात् उस ज्ञान के सहित। मीमांसकने कहा है—'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते' ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं है, जहाँ काल की प्रतीति नहीं होती है—इस नियम से काल का भी, विषय के द्वारा करणत्व होता है। उसी में दृष्टान्त उट्टङ्कन करते हैं—"सह कारीति", 'सोऽयं देवदत्तः' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञास्थल में जिस प्रकार चक्षुः सन्निकर्ष जन्य इदं पदार्थ ज्ञान के समय पूर्व प्रतीत तत्काल तद्देशरूप उस प्रकार प्रत्यक्ष में प्रतिभासित होता है, उस प्रकार यहाँ भी चरम वर्ण का श्रवणेन्द्रिय ज्ञान में पूर्व पूर्व अतीत वर्ण का भी संस्कार के कारण भान होता है, अतः स्फोट

वैयाकरणाः तेन पृथक् सम्बन्धानां संस्काराणां क्रमेण परस्पर सम्बन्ध कारित्वं स्फोटत्वम्। अन्यथा रसः सरः नदी दीन इत्येतेषां प्रतिलोम पाठेऽपि रेफ–सकारादीनां संस्कारोऽस्ति,

प्रत्यभिज्ञानात्मकं चाक्षुष प्रत्यक्षं दृष्टान्ती कृत्य श्रवणेन्द्रिय जन्य चमरवर्ण ज्ञानेऽप्यतीत वर्णस्य संस्कार वशाद् भानमुक्तम्, तदपि दुष्टमित्याह—नापि—प्रत्यभिज्ञान इति। अत्र प्रथमतो दृष्टान्तमेवासिद्धमित्याह-प्रत्यक्षात्मके प्रत्यभिज्ञाने। तद्देश- तत् काल रूपातीता पूर्वावस्था न स्फुरति। न वा दार्ष्टान्ते श्रोत्रेणातीत वर्णावगाहिनी चरमवर्ण विषयक प्रतीति जन्यते, तत्र हेतुः—सोऽयमिति। अत्रातीत देश कालरूपतत्तायाः स्मरणम्, चक्षुः सन्निकृष्टेदं पदार्थस्य प्रत्यक्षमिति ज्ञानद्वयमेव, न तु तत्ताविशिष्टेय पदार्थस्यैकं ज्ञानम्, यतस्तत्तांशे चक्षुः सन्निकर्षाभावेन चाक्षुष प्रत्यक्षे तस्य भानासम्भवात्।

एतन्मते अलौकिक सन्निकर्षरूप ज्ञान लक्षणाया प्रत्यासत्तिरनङ्गीकारादिति। नापीदमंश इति।

मानना असमीचीन है। 'तन्नेति' के द्वारा समाधान करते हैं। जिस समय में अतीत समस्त वर्ण घटित पदों की आप के मत में पुनः प्रतीति होती है, उस समय में स्फोट कृत शाब्द बोध ही होता है। किन्तु अतीत वर्णों की पुनः प्रतीति होती है। इस में प्रमाण नहीं है, इस प्रकार कहना भी समीचीन नहीं है। कारण—प्रत्यक्ष प्रमाण एवं अर्थापत्ति प्रमाण है। उस में प्रथमतः प्रत्यक्ष प्रमाण को कहते हैं—'गौ' कहने से अतीत 'ग' कारादि की पुनः प्रतीति नहीं होती है। किन्तु सास्नादि अवयव विशिष्ट गो पदार्थ की प्रतीति होती, यह सब का अनुभव ही प्रमाण है।

अर्थापत्ति प्रमाण को कहते हैं—'गौ' केवल 'ग' कार कारण होने से अन्योच्चारण की वैयर्थ्यापत्ति, केवल 'ग'-कारोच्चारण से ही शाब्द बोधापत्तिः द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, समूह का ज्ञान एक समय में न होने के कारण द्वितीय पक्ष भी निरस्त हुआ। अतएव पद जन्य शाब्द बोध अन्यथा न हो, एतज्जन्य स्फोट सिद्ध हुआ। यहाँ अन्यथा अनुपपत्ति ही प्रमाण है। जिस प्रकार 'स्थूल देवदत्त दिवस में भोजन नहीं करता है, यहाँ भोजन के बिना स्थूल रहना असम्भव है, अतएव रात्रि भोजन सिद्ध होता है। वर्ण समुदाय का ज्ञान एवं तादृश ज्ञात जन्य संस्कार को कारण मानना, आप के पक्ष में असम्भव है। कारण विशृङ्खल वर्णों का ज्ञान से अथवा संस्कार से शाब्द बोध होगा। इस विवरण को कहते हैं-'स्फोटानङ्गी कारेति' वाक्य के द्वारा। एवं 'सोऽयं देवदत्तः' स्थल में प्रत्यभिज्ञानात्मक चाक्षुष प्रत्यक्ष को दृष्टान्त कर श्रवणेन्द्रिय जन्य चरम वर्ण ज्ञान में अतीत वर्ण का संस्कार हेतु भान होता है, यह जो कहा है, वह भी ठीक नहीं है। "नापि प्रत्यभिज्ञानं"। इस के द्वारा कहा है। यहाँ प्रथमतः दृष्टान्त ही असिद्ध है। प्रत्यक्षात्मक प्रत्यभिज्ञान में तद्देश—तत् काल रूपातीतापूर्वावस्था का स्फुरण नहीं होता है। एवं दार्ष्टान्तिक में श्रवणेन्द्रिय से अतीत वर्णावगाहिनी चरम वर्ण, विषयक प्रतीति भी नहीं होती है। इस में हेतु- है—'सोऽयमिति' यहाँ अतीत देशकाल रूप का स्मरण—चक्षुः सन्निकृष्ट इदं पदार्थ का प्रत्यक्ष—इस प्रकार ज्ञान द्वय ही हैं, किन्तु विशिष्ट रूप में इदं पदार्थ का एक ज्ञान नहीं है। कारण—पूर्वांश में चक्षुः सन्निकर्ष न होने से चाक्षुष प्रत्यक्ष का भान नहीं होगा। इस मत में अलौकिक रूप ज्ञान लक्षणा प्रत्यासत्ति स्वीकृत नहीं है। 'नापीदम' जिस प्रकार संस्कार हेतु देवदत्तका स्मरण होता है, उस प्रकार इदं अंश में भी स्मरण कहना आवश्यक है। इस प्रकार भी कहना ठीक नहीं है। इदं अंश में चक्षुः सन्निकर्ष होने से ज्ञान होता है, चक्षुः सन्निकर्ष का अभाव से नहीं होता है। अन्वय व्यतिरेक से उक्त ज्ञान हुआ। स्मृति जनक 'इदं'

ननु तेऽनुलोमसंस्कारदर्शनेन एवं व्युत्पादयन्ति, अन्यथा भेदो न स्यात् ॥५॥

साध्वसाधुतयाद्योऽपि,

आद्यो वर्णात्मकः शब्दोऽपि साधुतयाऽसाधुतया च द्वेधा भवति ।

किन्नाम साधुत्वम्, किं साधुजनोदितत्वम्, किमुतसुनृतत्वम्, उताहो वेदवाक्यस्थत्वम्,

---

यथा तदंश संस्कार वशात् स्मरणम्, तथेदमंशेऽपि स्मरणं वाच्यमित्यपि न सम्भवति, इदमंशे चक्षुः सन्निकर्षे सति ज्ञानं तदभावे च न, इत्यन्वयव्यतिरेकात्, स्मृति जनकस्येदं पदार्थस्यानुभवाभावाच्च । तेनेति ॥५॥

सुनृतत्वं स्निग्धत्वादि गुण विशिष्टत्वम् । आद्येति--असाधु चाण्डालादि प्रयुक्तस्यस्येत्यर्थः,—परुष संस्कृतस्य कठोर संस्कृतस्य संज्ञा शब्दानां चैत्र-डित्थादि-शब्दानां प्रकृति-प्रत्ययाभ्यामदर्शय व्युत्पत्त्य सिद्धेः । व्याकरण निष्पाद्यत्वं साधुत्वमित्यर्थः । अतएव डित्थादि शब्दानां प्रकृति प्रत्ययाभ्यामेव व्युत्

पदार्थ का अनुभव नहीं होता । स्फोट का सारार्थ को कहते हैं—पृथक् सम्बन्ध रहित एवं आनुपूर्वी रहित संस्कार समूह का प्रत्येक वर्णोच्चारण का क्रमशः परस्पर आनुपूर्वी रूप सम्बन्ध विशिष्ट चरम पद ज्ञान में शाब्द बोधत्व—कारणतावच्छेदक स्फोटत्व है । अतः यादृश यादृश आनुपूर्वी विशिष्ट चरमवर्ण ज्ञान होने से तत्तदर्थ शाब्द बोध होता है, तादृश ज्ञान विशिष्ट जाति विशेष ही स्फोट है । वह जाति तत्तदर्थ विषयक शाब्द बोध जनकतावच्छेदक सिद्ध है । जिस प्रकार तृणारणिमण्यादि जन्यता-वच्छेदक द्वारा वह्नि निष्ठ जाति विशेष की सिद्धि होती है, उस प्रकार तत्तत् शाब्द बोध जनकता अवच्छेदक द्वारा चरम वर्ण ज्ञान निष्ठ जाति विशेष की स्फोटत्व सिद्धि है । स्फोट न मानने पर एवं तत्तद् वर्ण ज्ञान जन्य शाब्द बोध स्वीकार करने से सरोवर वाचक सरः शब्द का प्रतिलोम से रस पाठसे भी सरोवर बोध होगा । नदी शब्द का भी प्रतिलोम से दीन पाठ से भी नदी का भी बोध होगा । संस्कार अर्थात् प्रत्येक वर्ण ज्ञान जन्य संस्कार है । किन्तु प्रति लोम से उच्चारित वर्ण समूह--अनुलोम से उच्चारित वर्ण समूह का संस्कार युक्त नहीं होते हैं, अतः अनुलोम प्रति लोम द्वारा उच्चारित वर्ण समूह से एक प्रकार शाब्द बोध नहीं होता है । उभय को एक मानने पर नदी—दीन--रस--सर शब्द का पृथक् शाब्द बोध नहीं होगा ॥५॥

आद्य—अर्थात् वर्णात्मक शब्द भी साधुता एवं असाधुता भेद से द्विविध हैं । यहाँ साधुत्व किस प्रकार है ? यह प्रश्न होता है । साधुजन प्रयुक्त होने से साधु वा स्निग्धत्वादि गुण विशिष्ट होने से, साधु, किंवा वेद वाक्य के अन्तगत होने से ही साधु, अथवा, प्रकृति प्रत्यय व्युत्पादित होने से साधु हो सकता है ।

प्रथम कल्प को स्वीकार करने से चण्डालादि प्रयुक्त संस्कृत का असाधुत्व होगा, द्वितीय कल्प में कर्कश शब्द की असाधुता होगी । तृतीय में अस्मदादि कृत शब्द का एवं चतुर्थ में—चैत्र डित्थादि संज्ञा शब्द का असाधुत्व उपस्थित हो सकता है ।

अतएव व्याकरण निष्पादित शब्द ही साधु शब्द है । ऐसा होने पर डित्थादि संज्ञा शब्द का भी यह 'डित्थ' यह 'डवित्थ' इत्यादि स्थल में विभक्ति उत्पत्ति हेतु साधुत्व सिद्ध हुआ । एवं भ्रान्त पुरुष उच्चारित 'गावी' प्रभृति शब्द का भी साधुत्व प्रतिषिद्ध हुआ । तथापि भ्रान्त पुरुष प्रयुक्त 'गावी' प्रभृति

प्रकृति प्रत्यय व्युत्पादितत्वं वा ? आद्ये चण्डालादिप्रयुक्तस्य संस्कृतस्याप्य साधुत्वापत्तेः, द्वितीये परुषसंस्कृतस्य, तृतीये ऽस्मदादिकृतसंस्कृतशब्दनामप्यसाधुत्वापातात्, चतुर्थे संज्ञाशब्दानामपि, तेन व्याकरणप्रणीतत्वं साधुत्वमिति । तथासति, डित्थादीनां संज्ञा शब्दानामपि डित्थोऽयं डवित्थोऽयमिति विभक्त्युत्पत्तेःसाधुत्वम्, नतु गावी प्रभृतीनां भ्रान्त प्रणीतत्वात् । तथापि तं यत् व्यवहारनिष्पत्ति स्तद्विज्ञानां तत् स्मारित गो शब्दादि द्वारा, अज्ञानां त्वज्ञ परम्परा प्राप्त संस्कार द्वारैव । प्राकृतस्य तु साधु समत्वात् साधुद्भवेन तत्तद् व्याकरणप्रणीतत्वाच्च साधुत्वम् ॥६॥

प्रत्ययभावेऽपि डित्थोऽयमित्यादौ सुविभक्तिसाहित्येन व्याकरणनिष्पन्नत्वमस्त्येव । नन्विति—यथा वच धातो बहुवचने देवदत्ता वचन्तीति प्रयोगोऽसाधुः; "नान्त्यन्त्वोर्वचेः प्रयोगः" इति सूत्रीत्, तथैवात्र केवल—गो शब्दोत्तरापत्यार्थक प्रत्ययेन गावीति प्रयोगोऽप्यसाधुः । अतोगावीति प्रयोगो भ्रान्त प्रणीत एव ।

ननु कथं भ्रान्तोक्त गावीपद प्रयोगादपि विशेषदर्शिनामप्यर्थ—प्रत्ययो जायते ? तत्राह—तथापीति । तैरसाधु पद रसाधु शब्द स्मारित साधु शब्दाद् विज्ञानां शाब्दबोधः ? अज्ञानामविशेषदर्शिनामज्ञ परम्परा प्राप्त—गावी शब्दादेव शाब्दबोधः, नाटकादौ विशेष दर्शिनां शौरसेनिकादि प्राकृत शब्दः साधु शब्दः, साधु समत्वात्, साधूद्भवत्वे साधर्च्चारितत्वे तत्तत् प्राकृत लङ्केश्वर व्याकरण प्रणीतत्व हेतु प्राकृत शब्द स्यसाधुत्वम् ॥६॥

शब्द के द्वारा जो व्यवहार निष्पत्ति होती है, उसका कारण—उस प्रकार शब्द के द्वारा विज्ञ व्यक्ति का 'गो' शब्द स्मरण होता है, एवं अज्ञ व्यक्ति गण—अज्ञ परम्परा प्राप्त उस प्रकार 'असाधु शब्द संस्कार द्वारा ही अर्थ बोध करते हैं । प्राकृतका भी साधु शब्द तुल्यतो हेतु एवं साधु शब्द से उद्भावनीय नाना व्याकरण प्रणीतत्व हेतु साधुत्व सिद्ध होता है ।

सुनृतत्व—स्निग्धत्वादि गुण विशिष्ट, आद्य—असाधु चाण्डालादि प्रयुक्त शब्द का । परुष संस्कृत— कठोर संस्कृत का संज्ञा शब्द चैत्र-डित्थादि शब्दों का प्रकृति प्रत्यय के द्वारा अवयव का अर्थ बोध नहीं होगा । व्याकरण निष्पाद्य का ही साधुत्व है । अतएव डित्थादि शब्दों का प्रकृति प्रत्यय के द्वारा अवयव व्युत्पत्ति न होने पर भी डित्थोऽयं इस प्रकार सुविभक्ति साहित्य से व्याकरण निष्पन्नत्व है ही, नन्विति— जिस प्रकार वचधातु के बहुवचन में 'देवदत्ता वचन्तीति' प्रयोग असाधु है, नहि वचिरन्ति पर प्रयुज्यते" "नान्त्यन्त्वोर्वचेप्रयोगः" इस प्रकार निषेधसूत्र हैं । उसी प्रकार केवल गो शब्द के उत्तर अपत्यार्थक प्रत्यय के द्वारा 'गावी' प्रयोग भी असाधु है । अतएव "गावी" प्रयोग भ्रान्त प्रणीत है ।

भ्रान्तोक्त गावीपद प्रयोग से भी विशेषदर्शी का अर्थ बोध जो होता है—उस में असाधु पदके द्वारा साधु शब्द स्मारित साधु शब्द से विज्ञ व्यक्तियों का शब्द बोध होता है । नाटकादि में विशेषदर्शी व्यक्ति के पक्ष में शौरसेनी प्रभृति प्राकृत शब्द साधुशब्द हैं, कारण—वह साधु शब्दसम है । साधूद्भवत्व में— अर्थात् साधर्च्चारितत्व होने के कारण—तत्तत् प्राकृत लङ्केश्वर व्याकरण प्रणीत होने के कारण प्राकृत शब्द का साधुत्व है ॥६॥

साधवश्च चतुर्विधाः । जाति–क्रिया–गुण–द्रव्यैः । 'गौः पाचकः शुक्लो डित्थः' इति क्रमाज्जात्यादिभिश्चातुर्विध्यम् । चकाराज्जातिरेव पदार्थ इति च मतम् । तथाहि गुड़ तण्डुलादि–पाक भेदेन पाचकोऽयं पाचकोऽयमिति पाचकत्वमस्ति । एवं चन्द्र–चन्दन–

जातीति—जात्यादि वाचकत्वेन साधवश्चतुर्विधा भवन्ति । जात्यादिभिरिति—गौरिति साधु शब्दः, गोत्वरूप जाति विशिष्ट यावद् गोरूप धर्म्मिवाचक इत्येको भेदः । तथा पाचक इति साधु शब्दः, पचन-क्रियारूपो यो मनुष्यनिष्ठ धर्मस्तस्य वाचक इत्यपरो भेदः । एवं शुक्ल इति साधु शब्दः, शुक्लरूपगुण विशेषो यो गवादि वृत्ति-धर्म--स्तस्य वाचक इत्यपरो भेदः । तथा हि डित्थ इति साधु शब्दः, डित्थ रूपैक व्यक्ति मात्र वाचकः । इत्येवं क्रमेण साधु-शब्द श्चतुर्विधो ज्ञेयः ।

ननु यन्मते जात्यावेव शक्तिः, न कदापि व्यक्तौ, तन्मते शाब्दबोधे व्यक्तिभानं तु 'जात्या व्यक्ति राक्षिप्यते' इति न्याय सिद्धाक्षेप बलादेव, तन्मते साधु शब्दो जातिमात्र वाचकत्वेनैकविधः एवेतदेवाह—चकारादिति । गुड़ तण्डुलादीनां नानापाक भेदेन पाचकोऽयं पाचकोऽमिति सर्वत्र पाचके पच धातोः प्रयोगात् पाचकत्वमपि जाति विशेषः ।

साधु शब्द भी जाति, क्रिया, गुण एवं द्रव्य भेद से चतुर्विध होते हैं । जिस प्रकार 'गो' एक साधु शब्द है, वह गोत्वरूप जाति अर्थात् सामान्य धर्म विशिष्ट यावतीय गो रूप धर्मी का वाचक है, इस हेतु जाति भी एक भेद है । इस प्रकार 'पाचक' एक साधु शब्द है, वह पचन क्रियारूप मनुष्यनिष्ठ धर्म का वाचक है, अतएव क्रिया भी एक भेद है । शुक्ल एक साधु शब्द है, वह शुक्ल रूप गुण विशिष्ट यावतीय गवादिका वाचक है, एतज्जन्य गुण भी एक भेद है । एवं 'डित्थ' एक साधु शब्द है, वह डित्थरूप एक व्यक्ति का वाचक है, अतएव द्रव्य भी एक भेद है, इस प्रकार जात्यादि भेद से साधु शब्द चतुर्विध हैं, एवं मूल श्लोक में 'च' का उल्लेख हेतु जाति ही एक मात्र पदार्थ है । यह एक मत है । जिस प्रकार गुड़ तण्डुलादि विविध पाक भेद स्थल में तत्तत् पाक कर्त्ता के प्रति यह इस प्रकार सर्वत्र 'पच' साधु का प्रयोग हेतु पाचकत्व की जाति मानना चाहिये । इस प्रकार चन्द्र, चन्दन, कुन्द पुष्पादि में 'यह शुक्ल' है, इस प्रकार प्रयोग हेतु 'शुक्लत्व जाति है । बालक, वृद्ध, युवादि साधारण कर्तृक उच्चारित डित्थादि व्यक्ति में 'यह डित्थ' है, इस प्रकार प्रयोग हेतु डित्थादि भी जाति है ।।४।।

जातीति—जाति प्रभृति वाचक होने के कारण साधु शब्द भी चतुर्विध होते हैं । जात्यादि के द्वारा कथन का उदाहरण–यह है—'गौः' साधु शब्द है, गोत्वरूप जाति विशिष्ट यावद् गो रूप धर्मिवाचक है, अतः यह एक भेद है, 'पाचकः' साधु शब्द है, पचन क्रिया रूप जो मनुष्य निष्ठ धर्म है, उसका वाचक होने के कारण- यह एक भेद है । 'शुक्लः' साधु शब्द है, शुक्लरूप गुण विशेष जो गो प्रभृति में अवस्थित धर्म है, उसका वाचक हेतु—यह एक भेद है । 'डित्थः' साधु शब्द है, एक व्यक्ति वाचक है । इस रीति से साधु शब्द चतुर्विध होते हैं ।

जिस मत में जाति में ही शक्ति है, व्यक्ति में कदापि नहीं, उस मतमें शाब्द बोध में व्यक्ति का भान 'जात्या व्यक्ति राक्षिप्यते' जाति के द्वारा व्यक्ति का अनुसन्धान होता है, इस नियम से आक्षेप बल से होता है । उस मत में साधु शब्द जाति मात्र वाचकत्व रूप में एक विध ही है । गुड़ तण्डुलादि विविध पाक भेद से पाचक यह है पाचक यह है—इस प्रकार सर्वत्र पाचक में पच धातु का प्रयोग होने के कारण पाचकत्व

कुन्दादिषु अयं शुक्लोऽयं शुक्ल इति–शुक्लत्वम् । बालवृद्धयुवाद्यैरित्थाद्यर्थेषु डित्थोऽयं डित्थोऽयमिति डित्थादित्वमिति ॥७॥

मुख्यो-लाक्षणिकस्तथा–व्यञ्जकश्चेति ।

ते त्रेधा, ते शब्दाः । मुख्यो वाचकः, यस्तु सङ्केतमैश्वरं धत्ते, स मुख्यः । ऐश्वरमीश्वर

नन्वीश्वर-कृतसङ्केत विशिष्टस्य शब्दस्य सर्वत्र जातौ शक्तिरस्तु, आधुनिक पुरुषकृतस्य डित्थादौ सङ्केतेन विशिष्ट शब्दस्यैक मात्र वृत्तित्वेन डित्थत्वस्य जातित्वाभावात् कुत्र शक्ति र्वक्तव्या ? इत्यत आह-बाल-वृद्धेति । यथा पुत्रे पितृकृत सङ्केत विशिष्टस्य देवदत्त विष्णु दत्तादि शब्दस्य शक्ति र्बाल्य पौगण्डादि नाना शरीर वृत्ति—देवदत्तत्व विष्णु दत्तत्वादि जातौ वर्त्तते, तथैव पुरुष कृत सङ्केतार्थ डित्थादावेकस्मिन्नेव वस्तुनि बाल-वृद्धयुवादीनां डित्थोऽयं मित्यनुगत प्रतीति बलात् डित्थ वस्तु घटकीभूत—नानावयव वृत्ति डित्थत्वमपि जातिविशेषः ।

यन्मते अवयवातिरिक्त-स्व तन्त्रावयविनोऽभावाद् घटत्वजाति र्नानावयववृत्तिरेव । तन्मतमालिम्ब्य डित्थत्वमपि जातिरेवेति सर्वं समञ्जसम् ॥७॥

नन्वीश्वर कृत सङ्केतविशिष्टशब्दस्यैव मुख्यत्वे उक्त ऽस्मदादि कृत सङ्केत विशिष्टस्य डित्थादि शब्दस्यैश्वर कृत सङ्केताभावात् मुख्यत्वम्, शक्त्यभावेन शक्यसम्बन्धरूप लाक्षणिकत्वमपि न सम्भवतीत्यत आह—अस्मदादीति । द्रव्यत्वे डित्थादि–तत्तद् द्रव्य-मात्र वाचकत्वे स्व-स्वार्थ प्रत्यौपचारिक

जाति विशेष है ।

ईश्वर कृत सङ्केत विशिष्ट शब्द की शक्ति सर्वत्र जाति में हो ? किन्तु आधुनिक पुरुष कृत डित्थादि सङ्केत होने के कारण विशिष्ट शब्द की एकमात्र वृत्ति होने के कारण, डित्थत्व का जातित्व नहीं हो सकता है, अतएव उक्त शब्द की शक्ति कहाँ माननी चाहिये ? उत्तर में कहते हैं—बाल वृद्धेति । जिस प्रकार पितृ कृत सङ्केत विशिष्ट देवदत्त विष्णु दत्तादि शब्द की शक्ति—बाल्य–पौगण्डादि विविध शरीर वृत्ति देवदत्तत्व विष्णु दत्तत्वादि जाति में है, उसी प्रकार पुरुष कृत सङ्केतार्थ डित्थादि एक-वस्तु में बालक वृद्ध, युवक प्रभृति को डित्थ यह है, यह डित्थ है, इस प्रकार अनुगत प्रतीति के कारण डित्थ वस्तु घटकीभूत विविध अवयव वृत्ति डित्थत्व भी जाति विशेष है। जिस मत में अवयव के अतिरिक्त स्वतन्त्र अवयवी नहीं है, अतः घटत्व जाति--विविध अवयव वृत्ति ही है। उस मत को अवलम्बन करके डित्थत्व भी जाति है । इस से सामञ्जस्य पूर्ण समाधान हुआ है ॥७॥

उक्त चतुर्विध शब्द भी मुख्य, लाक्षणिक एवं व्यञ्जक भेद से त्रिविध होते हैं, यहाँ मुख्य शब्द से वाचक जो शब्द, ऐश्वरिक सङ्केत युक्त होता है, वही मुख्य है, ऐश्वरिक--अर्थात् ईश्वर कृत एवं अस्मदादि कृत सङ्केत युक्त जो होता है, उसकी डित्थादि रूप किसी द्रव्य मात्र वाचकता होने पर भी स्वार्थ के प्रति औपचारिक मुख्यता कही जाती है । घटादि स्थल में ईश्वरेच्छा ही घटादित्व बोध कारक सङ्केत होता है । जिस प्रकार, उत्तम वृद्ध का 'घट आनयन करो', इस प्रकार आदेश से मध्यम वृद्ध, कम्बुग्रीवादि व्यक्ति विशेष--अर्थात् पदार्थ विशेष को एक स्थान से अन्य स्थान में ले जाने से, समीपवर्त्ती बालक--'घट' शब्द के द्वारा ईदृशी व्यक्ति का कथन होता है, इस प्रकार सङ्केत बोध पूर्वक व्यक्ति में ही घट शब्द की शक्ति

कृतं सङ्केतम्, अस्मदादि कृतं सङ्केतमपि यो धत्ते, तस्य द्रव्यत्वे स्वार्थं प्रति मुख्यता ।

सङ्केत-ईशेच्छा-तत्र तत्त्वकृत्-

तत्र घटादौ तत्त्वकृद् घटादित्व बोधकृत् सङ्केतः स्यात् । तथा हि कश्चिदगृहीत सङ्केतो बालः कदाचिदुत्तमवृद्धेन घटमानयेत्युक्ते मध्यम वृद्धे कम्बु ग्रीवादिमन्तं व्यक्ति विशेषं स्थानात् स्थानान्तरं नयति सति अहो घट शब्देनेदृशो व्यक्तिरिति प्रथमं व्यक्तावेव घट शब्द शक्तिरिति प्रतिपद्यते । पुनस्तेनैव पटमानयेत्यप्युक्ते तद् विजातीयं व्यक्ति विशेषं तथैव तस्मिन् नयति सति पुनः सोऽपि घटाद्भिन्नः पटः, पटाद् भिन्नो घट इति व्युत्पाद्यमानः पुनः स्घटभिन्नो घटः अपटभिन्नः पट श्चेत्यपोह द्वारेण निश्चिन्वन् पुनस्तेनैव घटान्तरं पटान्तरं चानयेत्युक्ते तस्मिन् घटपटयोराकारतो विसदृशौ घटपटावानयति सति पुनरयं संशेते--

---

मुख्यता, यथार्थ मुख्य व्यवहारस्तु ईश्वर कृत सङ्केत विशिष्ट शब्दस्येति बोध्यम् । तद्भिन्न भिन्नेति-घट भिन्नः पटादि स्तद्भिन्नो घट एव, एतादृश रूपेण निवेशस्तु अपोहद्वारा निर्द्धारणार्थमेव, नत्वासाधारण लक्षणे निवेशनाय, तादृग्रूपेण निवेशे प्रयोजनाभावाद् गौरवप्रसङ्गाच्च । तथाच तद् वृत्तित्वे सति

है, प्रथमतः वह यह समझ लेता है। पुनर्बार उक्त उत्तम वृद्ध पटानयन हेतु आदेश करने पर मध्यम वृद्ध घट से विजातीय व्यक्ति विशेष को स्थानान्तरित करने से बालक पट घट से भिन्न है, एवं घट, पट से भिन्न है, इस प्रकार ज्ञान लाभ करता है, एवं घट से भिन्न जो पदार्थ, उससे घट भिन्न है, पट से भिन्न जो पदार्थ, उससे पट पदार्थ भिन्न है । इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक के द्वारा निश्चय भी करता है। अनन्तर अपर एक घट एवं पट आनयन की आज्ञा होने पर भी उस के अनुसार पूर्वानीत घट, पट से आकार गत किञ्चित् वैलक्षण्य विशिष्ट अपर एक घट एवं पट आनीत होने से उक्त बालक इस प्रकार संशय करता है—अहो घट, पट, शब्द का सङ्केत विशेष, विशेष व्यक्ति गत नहीं हैं, कारण, उक्त घट पट द्वय, पूर्व घट एवं पट से भिन्न है । अतएव घटादि पदार्थ में इस प्रकार किसी असाधारण धर्म है, कि—जिस से "यह घट है, यह घट है" इस प्रकार अनुगताकारावगाही ज्ञानोत्पन्न होता है । इस प्रकार निश्चय करके उस जाति में ही उसका सङ्केत अवधारण करता है ।

यहाँ तदितर वस्तु से भिन्न जो वस्तु, उस वस्तु मात्र में विद्यमानत्व ही तद्गत असाधारणत्व है । जिस प्रकार—गो का गलकम्बलादिमत्त्व है। अतएव गलकम्बलादि गो भिन्न पदार्थ में अविद्यमान होकर गो मात्र में अवस्थान करता है, अतः वही गो का असाधारण धर्म है।।

ईश्वर कृत सङ्केत विशिष्ट शब्द का ही मुख्यत्व होने पर अस्मदादि कृत सङ्केत विशिष्ट डित्थादि शब्द का ईश्वर सङ्केत न होने से मुख्यत्व नहीं होगा। शक्ति का अभाव होने से शक्य सम्बन्ध रूप लाक्षणिकत्व भी होना सम्भव नहीं होगा। समाधानार्थ कहते हैं— अस्मदादीति । द्रव्यत्वे--डित्थादि तत्तद् द्रव्य मात्र वाचकत्व होने पर निज निज अर्थ के प्रति औपचारिक मुख्यता है । यथार्थ मुख्य व्यवहार किन्तु, ईश्वर कृत सङ्केत विशिष्ट शब्द का ही है । यह जानना होगा। तद्भिन्न भिन्नेति-घट भिन्न—पटादि—तद्भिन्न घट ही है । इस प्रकार कथन— अपोह के द्वारा निर्धारण हेतु हुआ है, किन्तु असाधारण

'अहो घट पट-शब्दौ न व्यक्ति विशेषविषयकौ सङ्केतौ; यत एतौ पूर्वघट पटतोभिन्नौ, तेन घटादिषु कश्चिदसाधारणो भविष्यति धर्मः, यद् वशादयं घटोऽयमपि घट इत्यनुगताकारावगाहि ज्ञानं जन्यते' इति निश्चित्य जातावेव सङ्केतमवधारयति तद्भिन्न भिन्नाधिकरण सावृत्तित्वमसाधारणत्वम्, यथा गोः सास्नादिमत्त्वम् ॥८-९॥

योगरूढाश्च रूढाश्च यौगिकाश्चेति ते त्रिधा

ते शब्दाः पुनस्त्रिविधा भवन्ति । योगरूढाः पङ्कजादयः । पङ्काज्जने 'ड'-प्रत्ययेन पङ्कजनि कर्त्रभिधायकेन योगेनापि पद्मार्थ एव प्रतिपाद्यते, नतु कुमुदाद्यर्थः, इति योगार्थपुरस्कारेणापि रूढ्यर्थ एवेति योगरूढ एव; ईश्वर कृत-सङ्केत महिम्ना झटिति पद्मस्यैव स्मृतेः । यदा तु पङ्कजं वर्त्म दौर्गत्यमित्यादि

तदितरावृत्तित्वं तदसाधारणलक्षणमिति भावः । तत्र दृष्टान्तः—यथेति—सास्नादि गलकम्बलादि गो भिन्ने न वर्त्तते, गवि वर्त्तते च । अतो गोरसाधारणधर्मः सास्नादि ।"८-९।

योगरूढः इति ।। ननु पद्मशब्दस्येव पङ्कज शब्दस्यापि पद्मत्वं कथं शक्यतावच्छेदकं नोक्तम्? तत एव कुमुद शैवालादि वारणं सम्भवेदित्यत आह—पङ्कजेति । पद्मपदेन केवल पद्मत्व रूपेण बोधो जायते, इति प्रामाणिकानामनुभवबलात् पङ्कजनि कर्त्तृत्वेन यौगिक शक्तिः पद्मत्वरूपेण रूढ शक्तिश्च स्वीकरणीयेति ज्ञेयम् । पद्मस्यैवेति पङ्कजनि कर्त्तृ पद्मस्यैव स्मृतेः । यदेति, वर्त्मदौर्गत्यं पङ्कजं पङ्काज्जातमित्यत्र पङ्कज शब्दस्य पङ्क कृतत्वेन लक्षणा पद्म एव शक्तिः । केस्यचिन्मते कर्म्मणि कुशल इत्यत्र कुशं लातीत्यवयव व्युत्पत्तिं विनैव निपुणार्थे कुशल शब्दो लाक्षणिक स्तन्मतं दूषयति—कर्म्मणीति । यदा तु आदित्य शब्दोऽत्रादित्यार्थक-ण्य प्रत्ययान्तस्तदा न नादितेः पुत्रसामान्यस्य बोधः, अपितु द्वादशादित्यरूप सूर्यस्य बोधः,

---

लक्षण में निवेश करने के निमित्त नहीं हुआ है । उस प्रकार निवेश करने का प्रयोजन नहीं है, निवेश करने पर गौरव दोष होगा । असाधारण लक्षण यह है—'तद् वृत्तित्वे सति तदितरा वृत्तित्वम्' उस का दृष्टान्त, सास्नादि गल कम्बलादि गो भिन्न में नहीं रहते हैं गो में ही रहते हैं, अतः गो का असाधारण धर्म सास्नादि हैं ॥८-९॥

उक्त शब्द,—योग रूढ, रूढ एवं यौगिक भेद से त्रिविध हैं । पङ्कजादि शब्द से—योगरूढ है । पङ्क शब्द पूर्व जन धातु के उत्तर 'ड' प्रत्यय के द्वारा पङ्क से जनन रूप क्रिया का कर्त्तृत्व बोध हेतु यौगिक शक्ति से पद्मार्थ प्रतिपादित होता है । अथच पङ्क जात कुमुद शैवाल प्रभृति का ग्रहण निवारण हेतु योगार्थ पूर्वक होने से भी रूढ्यर्थ प्रतिभासित होता है, अतः योग रूढार्थ में ऐश्वरिक सङ्केत महिमा हेतु सत्वर पद्म की स्मृति होती है । 'पङ्कज वर्त्म दौर्गत्य' अर्थात् पथ की दुर्गति पङ्क से हुई है । इस प्रकार कहने से पङ्क जातत्व अर्थ में लक्षणा होगी । वस्तुतः पङ्कज शब्द की शक्ति, पद्म में ही है । मण्डपादि शब्द रूढ हैं । जिस प्रकार पद्मार्थ वाचक पङ्कज शब्द में पङ्कजनि कर्त्तृत्व विद्यमान है । उस प्रकार मण्डप-अर्थात् गृह विशेष में मण्ड पान कर्त्तृत्व नहीं है । अतएव योगार्थ व्यतीत केवल गृह विशेष का बोध हो रहा है, अत वह रूढ है । 'कर्म्मणि कुशलः' कर्म्म में कुशल है । यहाँ कुशल शब्द लाक्षणिक नहीं है । कारण, उक्त शब्द, नानार्थ बोधक है । कुशल शब्द से—क्षेम, पुण्य एवं शिक्षित व्यक्ति का बोध होता है । किन्तु कोष

केनाप्युच्यते, तदा तत्र पङ्क कृतत्वेन लक्षणा, वस्तुतस्तु पद्मे शक्तिः। रूढा मण्डपादयः। यथा पद्मे पङ्कजनि कर्तृत्वं वर्त्तते, तथा मण्डपे गृह विशेषे मण्डपानकर्तृत्वं नास्ति, तेन केवलं गृह विशेषो योगार्थं विनाऽपि गम्यत इति रूढ एव। कर्म्मणि कुशल इत्यत्र कुशलशब्दो न लाक्षणिक स्तस्य नानार्थत्वात्, 'कुशलः क्षेमे पुण्ये च शिक्षिते' इति शिक्षितो निपुणः, अतो मुख्य एव। एवं मण्डप शब्दो रूढत्वेन गृह विशेषे मुख्यः। यदा तु मण्डपं भोजयेत्युक्ति स्तदा शब्दान्तर साहचर्य्यान्मण्डपानकर्त्तरि लाक्षणिकः। आदितेयादि शब्दा यौगिकाः। अदितेरपत्यानीति ढक् प्रत्ययेन केवलं योगार्थ एव। यदा तु अपत्यार्थ प्रत्ययान्तरेण 'ण्य' प्रत्ययेन निरुक्ति, स्तदा नानार्थत्वेऽप्यादित्य इति देव पर्य्याये पठितोऽपि देव विशेषे शक्तिमत्त्वात् प्रत्ययमाहिम्ना योगरूढ एवार्थः।

'आदित्या ऋभवः' इति देव सामान्य पर्य्याये पठितोऽपि।

ननु 'प्रकृत्यर्थान्वित--स्वार्थ बोधकत्वं प्रत्ययानाम्' इति न्यायात् प्रकृत्यर्थ संहितस्यैव प्रत्ययार्थस्य बोधो भवति, न तु स्वातन्त्र्येणेत्याह—प्रकृतीति। मिलित्वा सम्--अभि--वि--आ इत्याद्युप सर्गा मिलित्वा समभिव्याहार रूपार्थ बोधका भवन्ति। पूर्ववदिति। कृत्तद्धितौ प्रकृत्यर्थ परौ सर्वत्रेति सर्वेषु प्रत्ययेषु योगेन योग शक्त्या मुख्य एवार्थः। ननु तेषां मध्ये उणादि प्रत्ययो हि "उणादयो बहुलम्" इति सूत्रस्य बहून् अर्थान् लातीति व्युत्पत्त्या यस्मिन्नर्थे विहितस्तदतिरिक्तार्थमपि बोधयति ? ; तेनोणादि प्रत्ययो हि प्रायशो योगार्थं न प्रतिपादयति, अपि तु रूढार्थमपीत्याह—उणादय इति। कर्त्तृ बोधक डो प्रत्ययेन सिद्धस्य गो शब्दस्य प्रथमान्त पर घटितस्य 'गौः शेते' इति वाक्यस्य गमन कर्त्तुः शयन रूपार्थे बोधिते सति लक्षणायाः प्रसङ्गात् अत औणादिक प्रत्यय घटित गो शब्दस्य न प्रत्यय घटितावयवार्थो विवक्षणीयः' अपि तु सास्नादि विशिष्ट एव रूढिः। स च रूढ्यर्थश्च मुख्य एव, न लाक्षणिकः।

कार के मत में शिक्षित अर्थात् निपुण अर्थ कुशल शब्द का मुख्य है। एवं मण्डप शब्द, रूढत्व हेतु गृह विशेष में मुख्य है। जहाँ 'मण्डप को भोजन प्रदान करो' कहा जाता है वहाँ शब्दान्तर का साहचर्य्य हेतु मण्डपान कर्त्ता अर्थ में मण्डप शब्द लाक्षणिक है। आदितेय प्रभृति शब्द—यौगिक हैं। कारण, अदिति अपत्य समूह--इस अर्थ में अदिति शब्द के उत्तर 'ढक' प्रत्यय के द्वारा यह केवल योगार्थ बोधक है। जहाँ ण्य प्रत्यय रूप अपत्यार्थ प्रत्ययान्तर के द्वारा उसका अर्थ होगा, वहाँ देव पर्य्याय में पठित होने के कारण, आदित्य शब्द, नानार्थ वाचक होने पर भी सूर्य्य रूप देव विशेष में उसकी शक्तिमत्ता निबन्धन प्रत्यय महिमा से उसको योगरूढ कहना पड़ेगा।

स्वार्थ–द्रव्य–लिङ्ग संख्या—कर्म्मादि स्वरूप प्रातिपदिकार्थ पञ्चविध हैं। प्रकृति शक्ति--प्रकृत्यर्थ परा है। तिङ् शक्ति, संख्या कर्त्तृ कर्म्म भावान्वित वर्त्तमानादि काल पर है। उपसर्ग समूह—का द्योतकत्व हेतु धात्वर्थ भेदक हैं। जिस प्रकार— संहार, अभिहार, विहार, आहार हैं; एवं सं--अभि--वि-आ-- उपसर्ग के एकत्र मिलन से समभिव्याहार होता है। उस प्रकार कृत्प्रत्यय एवं तद्धित प्रत्यय भी प्रकृत्यर्थ पर हैं। प्रत्येक के सम्बन्ध में पृथक् पृथक् सूत्र निर्म्मित हुये हैं। यावतीय यौगिक शक्ति से मुख्यार्थ प्रतीत

स्वार्थ-द्रव्य-लिङ्ग-संख्या-कर्म्मात्मकः पञ्चकः प्रातिपदिकार्थः । प्रकृतिशक्तिः प्रकृत्यर्थ परा। सुप् प्रत्ययशक्तिः, संख्या कारकत्वोपरक्तप्रकृत्यर्थ परा। तिङ् शक्तिः, संख्या कर्त्तृ कर्म्म भावोपरक्त वर्त्तमान काल परा। उपसर्गा-द्योतकाद्धात्वर्थ भेदकाः। यथा संहारः, अभिहारः, विहारः, आहारः, मिलित्वा समभिव्याहारः। एवं कृत्तद्धित प्रत्ययावपि पूर्ववत्। प्रत्येकं सूत्रकरणात् सर्वत्र योगेन मुख्यएवार्थः।

(पा० ३।३।१) 'उणादयो बहुलम्' इति बहुल ग्रहणात् प्रायशो न योगार्थः। तेन गच्छतीति (उणादि २२५) 'गमेर्डोः' इति कृतेडो प्रत्यये 'गौः शेते' इत्यत्रापि मुख्यार्थ बाधे लक्षणा एव स्यात्, तेनोणादि प्रत्यये न योगार्थः, अपि तु रूढ़ एवार्थः। स च मुख्य एव न लाक्षणिकः।

सा अन्य पदार्थे शक्ति द्वेधा—तद् गुण संविज्ञान रूपाऽतद् गुण संविज्ञान रूपा च। कर्म्म धारयस्य शक्तिरुभयपदार्थप्रधाना, तत् पुरुषस्य शक्तिरुत्तर पदार्थप्रधाना, अव्ययीभावस्य शक्तिरव्ययांश-प्रधाना, नञ् तत् पुरुषस्य शक्ति नञर्थ प्रधाना, द्वन्द्व समासस्य शक्तिः प्रत्येक पद प्रधाना। साहित्यस्य प्राधान्यं यत्रैवम्भूते समाहारे द्वन्द्वे एकत्वं भवति, यथा धवश्चाश्वकर्णश्च धवाश्वकर्णौ द्वौ वृक्ष विशेषौ। यदा तु साहित्या श्रयस्य तत्तद् वृक्षस्य प्राधान्यम्, तदेतरेतर द्वन्द्व समासे द्वित्व बहुत्वे भवतः, धव-खदिरौवित्यत्र परस्पर साहित्यस्य द्वित्वं संख्यया द्विवचनम्। धवखदिरपलाश इत्यत्र परस्पर सहितस्य बहुत्वाद् बहुवचनम्। द्वन्द्व समासस्य साहित्ये शक्तिरिति हेतोः शाब्दे बोधे साहित्यस्य भानम्। साहित्य मूलक इति-यतः साहित्यस्यैव द्वित्व प्रतीति नंतु धवं खदिरस्य वा। अत एकधवैक खदिराभि प्रायेण धव खदिरौ पश्येत्यपि सङ्गच्छते।

होता है।

'उणादि प्रत्यय,—अनेकार्थ-का-प्रकाशक है। 'उणादयो बहुलम्' अर्थात् जिस अर्थ में विहित होता है, उस से अतिरिक्त अर्थ का बोध वह कराता है। इस हेतु—उणादि प्रत्यय प्रायशः योगार्थ प्रतिपादन न करके रूढ़ार्थ का ही प्रतिपादन करता है। जो गमन करता है—इस अर्थ में 'गम' धातु के उत्तर 'ड' प्रत्यय होता है। गमधातु के उत्तर 'ड' प्रत्यय के द्वारा 'गो' पद निष्पन्न होने से 'गो शयन किया है' यहाँ मुख्यार्थ की बाधा होने से लक्षणा होती है। अतएव औणादिक प्रत्ययस्थल में योगार्थ प्रतीत न होकर रूढ़ार्थ प्रतीत ही होता है। वह रूढ़ार्थ ही मुख्य है,—लाक्षणिक नहीं है।

समास शक्ति विविध हैं। बहुव्रीहि की शक्ति—अन्य पदार्थ में है। वह शक्ति—द्विविध हैं, तद्गुण संविज्ञान एवं अतद् गुण संविज्ञान। कर्म्म धारय की शक्ति उभय पद प्रधान है, तत् पुरुष की शक्ति—उत्तर पद प्रधान है. अव्ययी भाव की शक्ति-अव्ययांश प्रधान है। नञ् तत् पुरुष—न अर्थ प्रधान है, द्वन्द्व का प्रत्येक पद प्रधान है। उस के मध्य में साहित्य प्राधान्य रूप समाहार द्वन्द्व में एकत्व होता है। जिस प्रकार—धवाश्वकर्ण, जहाँ साहित्य का आश्रय स्वरूप तत्तद् वस्तु का प्राधान्य होता है,—उस प्रकार इतरेतर द्वन्द्व में द्वित्व एवं बहुत्व होता है, जिस प्रकार—धवखदिरौ। धव साहित्य विशिष्ट खदिर एवं खदिर साहित्य विशिष्ट धव है, इस प्रकार परस्पर साहित्य स्थल में भी उभय की प्राधान्य प्रतीति हेतु

समास शक्तिश्च विविधा। तथाहि बहुव्रीहेरन्य पदार्थे शक्तिः, साच द्वेधा—तद् गुण संविज्ञान रूपा, तदितराच। उभयपदार्थ प्रधाना कर्म्मधारयस्य; उत्तर पदार्थ प्रधाना तत्-पुरुषस्य। अव्ययांश प्रधानाऽव्ययीभावस्य; नञर्थ प्रधाना नञ्--तत् पुरुषस्य, प्रत्येक पद प्रधाना द्वन्द्वस्य। तत्र साहित्य प्राधान्ये समाहारे एकत्वम्, यथा--धवाश्वकर्णम्। साहित्याश्रय प्राधान्ये इतरेतर योगे द्वित्व बहुत्वे--धव खदिरावित्यत्र धवसाहित्यवान् खदिरः, खदिर साहित्यवान् धव इति साहित्येऽपि द्वयोः प्राधान्याद् द्विवचनमेव। एवं धवखदिरपलाशा इत्यत्र बहुवचनमेव। साहित्य मूलके द्वित्वादौ विभक्ति न प्रत्येकं द्वित्वादिकं बोधयति। धव खदिरौ पश्येति क्रिया तु प्रत्येकं सम्बध्यते। एकशेषेतु लक्षणैव—पितरावित्येकस्य पितृ द्वयान्वयाभावात् पितृमातरावेव लक्ष्येते, पितृशब्दस्य जनकार्थमात्रस्मृतेः। वाचकोऽपि शब्दः समास सद्भावे सति लाक्षणिको भवति। धीवर इति कैवर्त्तवाचकः शब्दः, धियावर इति

पितृ शब्दस्य जनके शक्तिः। माता पित्रुभय बोधे लक्षणा।

तत्रोदाहरणमाह- एकशेष इति। माता च पिता चेत्येक शेषे कृते मातृ पित्रुभय बोधस्तु लक्षणात एवेति बोध्यम्। वाचकोऽपीति। धीवर शब्दः कैवर्त्ते रूढः, धियावर इति व्युत्पत्त्या सुबुद्धि जन बोधे लक्षणा। ननु मुख्यार्थस्य बाधाभावे कथं लक्षणा सम्भवतीति चेत् रूढ़ि शब्दस्य मुख्यार्थो रूढ़चर्थ एव। अवयव व्युत्पत्त्या अर्थान्तरस्तु न मुख्यः, यथा,मण्डप शब्दः। तथात्रापीति बोध्यम्।

सिद्धाः कोषादौ प्रसिद्धाः, अमरे यथा, वासुदेव शब्दः। पूर्व पद परिवृत्ति सहा इति वाक्य घटकी भूत पूर्वपद परिवृत्ति पूर्व पद समानार्थक--शब्दान्तरं सहन्ते। वसुदेवेति,—वसुदेवमानन्दयतीत्यत्र वसुदेव शब्द एव परि वृत्तिसहः, नतु नन्दन शब्दः, यतो वसुदेव पुत्र इत्युक्ते वसुदेवस्यानन्दजनक प्रतीति र्न भवति। एवं वसुदेवस्य जन्मकाले भ वि भगवदवतार सूचक दुन्दुभिवाद्य देवाश्चक्रुः। अत स्तदर्थ बोधक आनक दुन्दुभि शब्दो न परि वृत्तिसहः, किन्तु सुत शब्द एव परिवृत्ति सह। तथा च शूर सुतपुत्र शब्दः परि वृत्ति

द्विवचन ही होता है। इस प्रकार 'धव खदिर पलाशाः' स्थल में बहु वचन है। साहित्य की प्रतीति हेतु विभक्ति साहित्य का अवयवीभूत प्रत्येक पदार्थ का द्वित्वादि बोध नहीं होता है। किन्तु 'धवखदिर दर्शन करो' यहाँ दर्शनादि क्रिया प्रत्येक के सहित अन्वित होती है। एकशेष स्थल में लक्षणा ही स्वीकार करना पड़ेगा। 'पितरौ' यहाँ पितृ शब्द—जनक मात्र वाचक होने के कारण--एक व्यक्ति का पितृ द्वय के सहित अन्वय न होने के कारण, पिता एवं माता—उभय ही लक्ष्य हैं। वाचनिक शब्द भी समास होने पर लाक्षणिक होता है। 'धीवर' कैवर्त्त वाचक है। किन्तु धी--वर बुद्धि से श्रेष्ठ—इस प्रकार तृतीया तत् पुरुष समास के द्वारा जहाँ सुबुद्धि पुरुष प्रति पादित होता है, वहाँ लक्षणा होती है। कारण, रूढ़ि शब्द रूढ़चर्थ ही मुख्यार्थ है. अर्थान्तर समूह मुख्य नहीं हैं। इस प्रकार स्थलान्तर में जानना आवश्यक है।

यौगिक शब्द—सिद्ध एवं साध्य भेद से द्विविध हैं। वासुदेवादि शब्द सिद्ध हैं। वक्ता के इच्छानुसार रचित शब्द साध्य है। जिस प्रकार आनक दुन्दुभि प्रभृति। उक्त समूह के मध्य में कतिपय शब्द—पूर्व पद परिवृत्ति सह है, परिवृत्ति--अर्थात् उक्त शब्द का समानार्थक शब्दान्तर को जो सहन करता है, उसे

तृतीया तत् पुरुष समासेन, सुबुद्धिः प्रति गम्यते । तत्र तु लक्षणैव । एवं सर्वत्र लक्षणा बोद्धव्या, दिङ्मात्रमुपन्यस्तम् ।

यौगिकास्तु शब्दाः सिद्धाः साध्याश्च । सिद्धास्तु वासुदेवादयः । साध्या वक्ष्यमाणलक्षणा आनकदुन्दुभि नन्दनादयः । तेषु पूर्वपदपरिवृत्ति सहाः, उत्तर पद परिवृत्ति सहाः, उभयपद परिवृत्ति सहाश्च । वसु देव नन्दन इति पूर्व पदस्य परिवृत्तिः, आनकदुन्दुभिसुत इति पर पदस्य, शूर सुत पुत्र इत्युभयपदस्य । एवमुन्नेयम् । क्वाचिदुभय पदापरिवृत्तिः, पत्ररथः गरुत्मान् गोसंख्य इत्यादि ॥१०॥

मुख्यो लाक्षणिकोव्यञ्जक इति ये त्रिविधाः पूर्वोक्तास्ते पुनरपि लक्ष्यमाणाद् वृत्तित्रयाद्धेतोरिह प्रस्तूयन्ते,—

सहाः, पुत्र शब्दोऽपि परिवृत्ति सहः । ननु कस्यचिच्छब्दस्य परि वृत्तिवर्त्तते, कस्यचिन्नेत्यत्र किं प्रमाणमिति चेत्तत्र शब्द शक्ति—स्वभावस्त प्रामाणिकजनानुभव एव प्रमाणमिति बोध्यम् । पत्ररथ शब्द एव पक्षिवाची, नतु दलरथः, नापि पत्रस्यन्दनः पक्षिवाची । गरुत्मान् शब्द एव गरुड़वाची, नतु पक्षवान्, नापि अस्त्यर्थक—लकारादि प्रत्ययान्तो गरुत्मादि शब्द । तथा गो संख्य शब्द एव गोपवाची, नतु धेनु संख्यः, नापि गो संख्यानः ॥१०॥

यद् वस्तु सहजं प्रतीयते, तत्र तस्मिन् तस्य शब्दस्य या वृत्तिः सा अभिधा । व्यक्तौ चेदिति तत्तद् व्यक्ति मात्र एवं स्वीकारे व्यक्ति भेदे ऽनन्तशक्ति—स्वीकारेण गौरवात् । सन्निकृष्ट तत्तद् व्यक्तौ शक्ति ग्रहवतः पुरुषस्य काश्यां गौरस्तीति वाक्यादसन्निकृष्ट काशीस्थ तत्तद् विषयक शाब्द बोधानुपपत्तेश्च,—

परिवृत्ति सह शब्द कहते हैं, जो वसुदेव को आनन्दित करते हैं, उनका नाम—वसुदेव नन्दन । यहाँ पूर्व पद परिवृत्ति सह है, कारण, वसुदेव पुत्रादि शब्द प्रयोग करने से उक्त अर्थ का बोध कभी भी नहीं होगा । एवं वसुदेव के जन्म काल में देवगण—भगवान् के भावी अवतार सूचक आनक एवं दुन्दुभि वाद्य किये थे । आनक दुन्दुभि शब्द इस अर्थ में व्युत्पन्न हुआ है । अतएव आनक दुन्दुभि शब्द पूर्व पद परिवर्त्तन के द्वारा उक्तार्थ का बोध कराने में असमर्थ है । अथच सुत शब्द का परि वर्त्तन से उक्तार्थ की बाधा नहीं होती है । अतः यह उत्तर पद परिवृत्ति सह है । 'शूरसुतपुत्र' यहाँ उभय पद—परिवृत्ति सह हैं । इस रीति से अन्यान्य पद को जानना होगा । कहीं पर उभय पद ही अपरि वृत्ति सह होते हैं । जिस प्रकार—पक्षि वाचक पत्र रथ शब्द है, 'दल रथ वा पत्र स्यन्दन' इस रीति से उभय पद के किसी का परिवर्त्तन करने से उक्तार्थ बोध नहीं होगा । इस प्रकार गरुत्मान्, गोसंख्य प्रभृति को जानना कर्त्तव्य है ॥१०॥

मुख्य, लाक्षणिक एवं व्यञ्जक भेद से जो त्रिविध शब्द पूर्व में वर्णित हुये हैं, उन सब की वृत्ति त्रय का लक्षण करना आवश्यक है, अतः पुनर्वार यहाँ उन सब का उल्लेख करते हैं ।

वृत्तित्रय हेतु उक्त शब्द समूह त्रिविध होते हैं । वृत्तित्रयका नाम—अभिधा, लक्षणा, एवं व्यञ्जना तन्मध्ये अभिधा ही शक्ति है ।

जिस शब्द का उच्चारण मात्र से सहज से जिसका बोध होता है, उस विषय में उस शब्द की जो

वृत्तित्रयात् पुनस्त्रेधा,

ते शब्दा इति गम्यम् ।

वृत्तयस्त्वभिधादयः ॥

वृत्तित्रयन्तु–अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जनेति, अभिधैव शक्तिः ।

यस्योच्चारण मात्रेण सहजं यत् प्रतीयते ।
तस्य तत्र तु या वृत्तिः साभिधा ॥

यथा गो शब्दस्य सास्नादिमति प्राणिविशेषे वृत्तिः । सा तु न व्यक्तौ अपितु जातौ । व्यक्तौ चेत्तर्हि गो विशेष एव प्रतिपाद्यते, न तु गो मात्रम् । जातौ चेत्तर्हि व्यवहारानुपपत्तिः, अतो ज्यात्याक्षिप्त–व्यक्तावेव, न तु तत्र तत्र लक्षणा,–आक्षेपलभ्यत्वात्, अविनाभावो ह्याक्षेपः ॥११-१२-१३॥

तत्र शक्ति ज्ञानाभावेन पद जन्य पदार्थोपस्थितेरभावात् । एष बोधस्तु सामान्य लक्षणायाः प्रत्यासत्तित्वानङ्गीकार पक्ष एव बोध्यः ।

ननु जातौ शक्ति स्वीकारे व्यक्तिज्ञानाभावेन कथं तत्तद् व्यक्ति विषयक व्यवहारः सिध्यतीत्यत आह–तर्हीति । अतो जात्याक्षिप्तव्यक्तावेव व्यवहार इत्यर्थः । जातौ शक्तिवादिनां मते व्यक्तिभानार्थं व्यक्तौ लक्षणा न स्वीकरणीया, व्यक्तिभानमाक्षेपादेव । अविनाभावो व्याप्तिः । तथा च व्यक्ति भान विना जाति भानमनुपपन्नम्, अतो यत्र यत्र जातिभानं तत्र तत्र व्यक्तिभानमावश्यकमेवेति व्याप्तिज्ञानादेव शाब्द बोधे व्यक्तिभानमिति ॥११-१२-१३॥

वृत्ति है, उस को अभिधा कहते हैं ।

"जिस प्रकार गो शब्द की वृत्ति,—गल कम्बल विशिष्ट प्राणि विशेष में है । उक्त वृत्ति,–व्यक्ति निष्ठ नहीं है, जाति निष्ठ है । व्यक्ति में वृत्ति स्वीकार करने से गो विशेष ही प्रतिपन्न होता है । गो साधारण प्रतिपन्न नहीं होता है । एवं जाति में शक्ति स्वीकार करने से भी व्यक्ति ज्ञान के अभाव से तत्तत् व्यक्ति विषयक व्यवहार भी नहीं होगा । अतएव जाति के द्वारा व्यक्ति आक्षिप्त होता है । एवं उस से ही व्यवहार सिद्ध होता है । यहाँ व्यक्ति,—आक्षेप लभ्य होने के कारण लक्षणा करना नहीं पड़ेगा । कारण व्यक्ति के सहित–जाति का जो अविनाभाव सम्बन्ध है—वही आक्षेप है । अर्थात् व्यक्तिभान व्यतीत जाति भान अनुपपन्न होने के कारण, जहाँ जहाँ जाति भान होगा । वहाँ वहाँ व्यक्ति भान होना आवश्यक है ॥११-१२-१३॥

जिस वस्तु का बोध सहज से होता है, उस में उस शब्द की जो वृत्ति है, वह अभिधा है । तत्तद् व्यक्ति मात्र में उक्त वृत्ति स्वीकार करने से व्यक्ति भेद से अनन्त शक्ति स्वीकार करनी पड़ेगी; इससे गौरव बोध होगा । सन्निकृष्ट तत्तद् गो व्यक्ति में शक्ति ज्ञानवान्–व्यक्ति को 'काशी में गो है' इस वाक्य से असन्निकृष्ट काशीस्थ तत्तद् विषयक शाब्द बोध नहीं होगा । उसमें शक्ति ज्ञानाभाव हेतु पद जन्य पदार्थोपस्थिति नहीं

लक्षणा पुनः—

मुख्यार्थ-बाधे शक्यस्य सम्बन्धे याऽन्यधीर्भवेत् ।

'गङ्गायां घोषः' इत्याप्तोक्तौ कश्चित् परामृशति—गङ्गायां घोषान्वयाभावाद् घोषशब्दोऽत्र ध्वन्यर्थः, नत्वाभीरपल्ल्यर्थः । ततः प्रतिवसतीति श्रुते गङ्गा शब्दो वा स्वसम्बन्धि-तीरमभिधत्ते, घोष शब्दो वा स्वसम्बन्धिनं प्रतिबिम्बमभिधत्ते । उभयोरेव लाक्षणिकत्वं सम्भाव्यते । तदत्र नेयं रूढि लक्षणा, अपि तु प्रयोजनवती लक्षणैव । यदयमभ्रान्तो वक्ता, तत् प्रयोजनमेव विचार्यम् । यदि गङ्गा शब्दस्तटं लक्षयति, तदा तस्य शैत्य पावनत्वादिकमेव-

---

मुख्यार्थस्य बाधे जाते यः शक्यस्य वाच्यस्य सम्बन्धः तस्मिन् सति शक्य सम्बन्ध ज्ञाने जाते सतीत्यर्थः । या अन्य पदार्थ विषयक धीर्भवेत् तादृश धी जनक शक्य सम्बन्धो लक्षणेति पर्यवसितार्थः । अधिकञ्चेति । गङ्गापदस्य लक्षणापेक्षया घोषपदस्य लक्षणायां गङ्गायां स्वच्छत्व प्रतीतिरधिका, अतोऽधिक प्रयोजनाभावात् घोषपदस्यैव लक्षणोचिता । एतन्मतमपि दूषयति—पुनरिति । 'तमानय' इत्युक्ते तत् पदेन घोष पदार्थस्य प्रति बिम्ब बोधस्वीकारे तस्यानयनमसम्भवम् । अतो गङ्गापदस्यैव तीरे लक्षणा वक्तव्या, घोष पदस्याभीरपल्ल्यां शक्तिरेव, अतस्तदानयनं सङ्गच्छते इति निश्चिन्वन् गङ्गापदस्य समभिव्याहारं विना केवलं घोषः प्रतिवसति, तमानयेत्युक्ते मुख्यार्थस्य बाधाभावे न लक्षणावकाशः, किन्तु गङ्गा पद प्रयोगादेव मुख्यार्थ बाधः । अतो गङ्गापद एव लक्षणेति व्युत्पद्यते । इयं लक्षणा जहत्स्वार्था, जहत् त्यजत् स्वार्थो यस्यां तथा भूतापि गङ्गारूप स्वार्थस्य त्यागं कुर्वत्यपीत्यर्थः । शक्य सम्बन्ध

है । यह दोष,—सामान्य लक्षणा को प्रत्यासत्ति न मानने से होगा । अतः जाति में शक्ति मानना आवश्यक है । किन्तु जाति में शक्ति स्वीकार करने पर व्यक्तिज्ञान के अभाव हेतु कैसे तत्तद् विषयक व्यवहार होगा ? उत्तर में कहते हैं—नहीति । जाति के द्वारा आक्षिप्त व्यक्ति में व्यवहार होगा । जाति में शक्ति मानने के पक्ष में व्यक्तिभानार्थ व्यक्ति में लक्षणा नहीं करनी पड़ेगी । व्यक्ति-भान आक्षेप से ही होता है । अविनाभाव व्याप्ति का ही नाम है । अतएव व्यक्तिभान के विना जाति भान होगा ही नहीं, अतः जहाँ जहाँ जातिभान होता है, वहाँ वहाँ व्यक्तिभान अवश्यक है । इस रीति से व्याप्ति ज्ञात से ही शाब्द बोध में व्यक्ति भान होता है ॥११-१२-१३॥

मुख्यार्थ की बाधा होने से जिससे शक्य (वाच्य) सम्बन्ध विशिष्ट अन्य पदार्थ विषयिणी प्रतीति होती है, उस को लक्षणा कहते हैं । लक्षणा का उदाहरण—'गङ्गा में घोष निवास करता है' यह एक आप्त वाक्य है । इस सम्बन्ध में कतिपय व्यक्ति इस प्रकार परामर्श करते हैं—'गङ्गा पदार्थ के सहित घोष पदार्थ का अन्वय असम्भव होने के कारण यहाँ घोष शब्द ध्वनि अर्थ का वाचक है आभीर पल्ली अर्थ का वाचक नहीं है । तत् पश्चात् 'निवास करता है' इस प्रकार प्रयोग होने से गङ्गा शब्द स्वसम्बन्धी तीरका प्रतिपादन करे, अथवा घोष शब्द-स्वसम्बन्धी प्रतिबिम्ब का बोधोत्पन्न करें, उभय शब्द का ही लाक्षणिकत्व सम्भव है । यहाँ यह लक्षणा—रूढ़ि लक्षणा नहीं है । यह प्रयोजन लक्षणा है । कारण—इस वाक्य का वक्ता भ्रान्ति हीन है, अतएव उस प्रकार कथन का प्रयोजन क्या है । यहाँ वही विचार्य है । यदि गङ्गा शब्द से तट लक्षित है, तब उस का शीतत्व पावनादित्व ही प्रयोजन है । अथवा यदि घोष

मेव प्रयोजनम् । यदि वा घोष-शब्दः स्व प्रतिबिम्बं लक्षयति, तदापि घोषस्य तत्तीर नैकस्यातिशय प्रतिपादनेन तदेव तीरगतं शैत्य-पावनादित्वम्, अधिकञ्च गङ्गाजलस्य स्वच्छत्वम् । तेनाधिक प्रयोजन लाभे घोष शब्द एव लाक्षणिक इति परामर्शानन्तरं पुनस्तमानयेति श्रुते गङ्गा शब्द एव लाक्षणिकः न घोष शब्द इति निश्चिन्वन्, 'घोषः प्रति

रूप लक्षणा घटकीभूत स्वसम्बन्ध मात्रेण यः स्वस्याविनाभावो व्याप्तिः, गङ्गा सम्बन्ध ज्ञानस्यावश्यकता रूपा तस्याः सम्पादयित्री । कुन्तोऽस्त्रविशेषः तद्विशिष्ट पुरुषस्य प्रवेश तात्पर्यस्थले केवलं पुरुषे कुन्त पदस्य न लक्षणा, किन्तु कुन्त विशिष्ट पुरुष एव । 'शोणो रक्त गुण--विशिष्टो धावति' इत्यत्र गुण वाचक शोण शब्दस्य गुण विशिष्टे लक्षणेति सर्वत्र प्रसिद्धिः ।

कस्यचिन्मते लक्षणां विनैव 'गुण वचनान्मतुपो लुक्' इत्यनुशासनेन शोण शब्दोत्तर मतुप् लोपान्मुख्य एवार्थः ।

ननु छत्रसहितानां छत्र रहितानाञ्चानेक पुरुषाणां गमन स्थले छत्रिणो गच्छन्तीति प्रयोग छत्र-रहित-छत्र सहित पुरुष समूहे लाक्षणिक इत्याह-सर्वेषामिति । छत्ररहितानां सर्वेषां छत्रित्वेनान्वयाभावात् मुख्यार्थस्य बाधः; अतोऽत्र छत्र्यछत्र्युभयत्र छत्रिपदस्य लक्षणा; तेनात्राप्यजहत् स्वार्था लक्षणा, बोद्धव्या ।

शब्द से उसका निज प्रतिबिम्ब लक्षित होता है, ऐसा होने पर भी घोष का, उक्त तीरका अत्यन्त सामीप्य प्रतिपादन के द्वारा तीर गत उक्त शैत्य पावनत्वादि एवं तदतिरिक्त गङ्गाजल का स्वच्छत्व भी उक्त स्थल में प्रयोजन है—यह समझना होगा । इस प्रकार जब अधिक प्रयोजन लाभ होता है, तब घोष शब्द ही यहाँ लाक्षणिक है । इस प्रकार परामर्श के पश्चात् 'यदि उस घोष को ले आओ' इस प्रकार प्रयोग दृष्ट होता है । ऐसा होने पर प्रतिबिम्ब का आनयन असम्भव हेतु निश्चय होता है कि—यहाँ गङ्गा शब्द ही लाक्षणिक है, घोष शब्द नहीं । घोष निवास कर रहा है, उस को ले आओ, इस प्रकार अन्वय बोध नहीं होता है । अतएव वाक्य में लक्षणा नहीं है, किन्तु 'गङ्गा में घोष निवास कर रहा है'—इस प्रकार प्रयोग स्थल में मुख्यार्थ बाध हेतु गङ्गा शब्द से उस के तीर में लक्षणा करना होगा । यह लक्षणा—स्वार्थ को परित्याग करके जहत् स्वार्था नाम से अभिहित होता है । किन्तु वह गङ्गादि रूप स्वार्थ को परित्याग करने पर भी शक्य (वाच्य) सम्बन्ध रूप जो गङ्गादि सम्बन्ध है, उस से निज अविनाभाव-व्याप्ति है, अर्थात् गङ्गादि सम्बन्ध ज्ञान की आवश्यकता प्रतिपादित होती है ।

कुन्त समूह प्रवेश कर रहे हैं—यहाँ कुन्त नामक अस्त्र विशिष्ट पुरुष समूह का प्रवेश रूप तात्पर्य हेतु कुन्त पद की लक्षणा केवल पुरुष में नहीं है, किन्तु कुन्त विशिष्ट पुरुष में लक्षणा है, इस हेतु उसको अजहत् स्वार्था कहते हैं । शोण--अर्थात् रक्त गुण विशिष्ट धावित हो रहा है, यहाँ लक्षणा स्वीकार न करके "क्वचित् गुण वाचक शब्द के उत्तर विहित मतुप प्रत्यय का लोप होता है"—इस अनुशासन के अनुसार लुप्तमतुप के द्वारा ही मुख्यार्थ अभिहित होता है । यह मत—कतिपय व्यक्ति का है । 'छत्री गमन कर रहा है' यहाँ छत्र के सहित एवं छत्र रहित यावतीय पुरुष के सहित छत्रित्व रूप का अन्वय न होने के कारण ईदृश लक्षणा को समूहार्था लक्षणा कहते हैं ।

'रथोगच्छति' 'रथ गमन कर रहा है'—यहाँ जहदजहत् स्वार्थ लक्षणा है । कारण, निज आकर्षक

वसति तमानय' इत्युक्ते नान्वयबाध स्तेन वाक्ये न लक्षणा, अपितु गङ्गा शब्द एवेति व्युत्पाद्यते । इयं तु लक्षणा जहत्-स्वार्थापि स्वसम्बन्ध मात्रेण स्वाविनाभाव-प्रतिपादयित्री ।

'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यादावजहत् स्वार्था, कुन्तधारित्वेन कुन्त सहित प्रवेशात् । 'शोणो धावति' इत्यत्र न लक्षणा, (पतञ्जलि वार्त्तिके) "क्वचिद् गुण वचनान्मतपोलुगिष्टः" इति

ननु 'रथो गच्छति' इत्यादौ गमनानुकूल-यत्नवत्व रूपस्य-गमन कर्त्तृत्वस्य रथेऽचेतनत्वेन बाधितत्वात्-कथं शाब्दबोधः? न च रथ-पदस्य रथ प्रेरक पुरुष लक्षणा स्वीकर्त्तव्या । तथा सति पुरुषस्य सचेतनत्वेनतस्मिन् गमन कर्त्तृत्व न बाधितमिति वाच्यम्, केवलं पुरुषो गच्छतीत्यनुक्त्वा रथस्य गमन तात्पर्येण रथो गच्छतीति वक्तुः पुरुषस्य विवक्षितार्थस्य रथ निष्ठा बाधित गमनस्यासिद्धेः । तस्मादेवं वाच्यम्—यथा रथ पदस्य पुरुषे लक्षणा, तथा गमधातोरपि रथ निष्ठ गमन विशेषे लक्षणा विवक्षणीया । तथा च रथ निष्ठ गमनानुकूलयत्नवान् पुरुष इत्याकारकः शाब्दबोधसिद्धः । एवं सति लक्षणया रथ वृत्तित्वावच्छिन्न गमनत्वरूप धर्म विशेषस्य शाब्द बोधे भाने सति गमधातोः शक्यतावच्छेदकस्य निरवच्छिन्न गमनत्व जातिरूप स्वार्थस्य तादृश शाब्दबोधेऽभाने जहत् स्वार्था, एवं गम धात्वर्थस्य गमन विशेष भानेनाजहत् स्वार्था च । तस्मादेकैव लक्षणा जहदजहत् स्वार्था भवतीति कस्यचिदेक देशिनो

पुरुष से रथ का गमन सिद्ध होने से पुरुष में रथ पद का शक्य सम्बन्ध हेतु रथ कर्त्तृक गमन की असम्भावना निबन्धन-तदंशे वह जहत् स्वार्था है, एवं गमनांश में अजहत् स्वार्था है । यह मत सर्वथा विचार सह न होने के कारण-आख्यात की शक्ति-यत्नमें है, अचेतन रथादि में वह सम्भव नहीं है । अतएव ईदृश स्थल में प्रेरक पुरुष के सहित रथ की लक्षणा गमन क्रियानुकूल संयोग रूप व्यापार में है ।

कतिपय व्यक्ति कहते हैं—यह लाक्षणिक प्रयोग नहीं है । कारण—आख्यात का अनुकूल व्यापार प्रधानता प्रयुक्त चेतन, अचेतन, उभयत्र ही यत्न एवं संयोग रूप धात्वर्थानुकूल व्यापार की विद्यमानता हेतु आख्यात का प्रयोग मुख्य है । अर्थात् यत्न के समान व्यापार में भी आख्यात की शक्ति की विद्यमानता हेतु सचेतन कर्त्ता का व्यापार स्थल में व्यापारत्वरूप में ही यत्न का बोध होगा, एवं अचेतन कर्त्तृक स्थल के व्यापारत्व रूप में ही यत्न का बोध होगा, एवं अचेतन कर्त्तृक स्थल में व्यापारत्व रूप में संयोगादि का बोध होगा ।

मञ्च समूह उच्च शब्द कर रहे हैं—यहाँ अचेतन मञ्च के पक्षमें उच्च शब्द करना असम्भव है, अतः मञ्चस्थ पुरुष का प्रत्यायन हेतु स्वसम्बन्ध मात्र में वह जहत् स्वार्था है, सुतरां उस को प्रयोजनवती वा रूढ़ि लक्षणा नहीं कहते हैं ॥९४—९५॥

मुख्यार्थ की बाधा होने पर वाच्य का सम्बन्ध बोध होने पर अन्य पदार्थ विषयिणी जो बुद्धि होती है—तादृश बुद्धि जनक शक्य सम्बन्ध लक्षणा है । यह सारार्थ है । अधिकञ्चेति । गङ्गा पदकी लक्षणा की अपेक्षा, घोष पद की लक्षणा से गङ्गा में स्वच्छत्व प्रतीति अधिक होती है । अतः अधिक प्रयोजन लाभ हेतु घोष पद की लक्षणा करना ही उचित है । इस मत में दोष प्रदर्शन करते हैं—पुनरिति । 'तमानय' इस प्रकार कहने से तत् पद के द्वारा घोष पदार्थ का प्रतिबिम्ब बोध स्वीकार करने पर उसका आनयन असम्भव होगा । अतः गङ्गा पद की तीर में लक्षणा करना आवश्यक है । घोष पद की शक्ति,—आभीर

लुप्तेनापि मतुपा मुख्यार्थ एवाभिधीयते। 'छत्रिणो गच्छन्ति' इति समूहार्थे लक्षणा, सर्वेषां छत्रित्वेनान्वयाभावात्।

'रथो गच्छति' इत्यत्र जहदजहत् स्वार्था, स्वाकर्षक गमनेन शैव्यसम्बन्धात् स्व कर्त्तृके गमनाभावादंशतो जहत्स्वार्था गमनांशेनाजहत्स्वार्था। केचिदाख्यातस्य प्रयत्न वाचक

मतमाश्रित्याह—रथोगच्छतीति। स्वस्य रथस्याकर्षको यः पुरुष स्तस्माद्रथस्य गमनेन पुरुषे रथपदस्य शक्य सम्बन्ध रूप लक्षणा सम्भवादित्यर्थः। स्वकर्त्तृकेति रथकर्त्तृकं गमनासम्भवादन्वयसम्भवाद् अन्वयानुपपत्ति रूपं लक्षणा बीजमपि दर्शितम्।। अंशत इति-गमधातोरपि स्वाश्रय गमनेव जातिरूप स्वार्थस्य शाब्द बोधेऽभानेन तदंशे जहत् स्वार्था लक्षणा, गमनांशेनेति गमधात्वर्थस्य गमन विशेषस्य भानेन तदंशे अजहत्-स्वार्था च।। एतन्मतं नात्यन्तविचार सहमतो मतान्तरं माह—केचिदिति। आख्यातस्य यत्ने शक्तिरतोऽचेतने रथादौ यत्नाभावात् व्यापार रूपार्थे लक्षणां पठन्ति। व्यापारोऽत्र स्वप्रेरक पुरुषेण सह रथ गमन क्रियानुकूल संयोग,—तथाच गमनानुकूलव्यापाराश्रयोरथ इत्याकारको बोधः सिद्ध इति भावः।

कस्यचिन्मते रथो गच्छतीत्यत्र लक्षणेव, नास्ति, किन्तु मुख्य एवायं प्रयोगः। तन्मतमुपन्यस्यति केचिदिति। आख्यातस्य न यत्न मात्रे शक्तिः, किन्तु व्यापारत्व रूपेण व्यापारे शक्तिः। व्यापारत्व रूप

पल्लों में हैं। अतः उसका आनयन सङ्गत है। इस प्रकार निश्चय कर—गङ्गा पद के सहित पाठ न होने पर केवल 'घोषः प्रति वसति'—'तमानय' कहने पर मुख्यार्थ का बाधक न होने पर लक्षणा नहीं होगी। किन्तु गङ्गा पद प्रयोग से ही मुख्यार्थ की बाधा होगी। अतएव गङ्गा पद में ही लक्षणा समीचीन है। यह लक्षणा जहत् स्वार्था है-जहत्-त्यजन् स्वार्थो यस्यां तथा भूतापि गङ्गारूप स्वार्थस्य त्यागं कुर्वत्यपीत्यर्थः। गङ्गा रूप अर्थ को त्याग करने के कारण—जहत् स्वार्था है। शक्य संम्बन्ध रूप लक्षणा के घटकीभूत स्व सम्बन्ध मात्र से जो निज अविनाभाव है। वह व्याप्ति है। गङ्गा सम्बन्ध ज्ञान की आवश्यकता रूपा उसको सम्पादयित्री है। कुन्त—अस्त्र विशेष है, तद् विशिष्ट पुरुष का प्रवेश तात्पर्य स्थल में केवल पुरुष में कुन्त पद की लक्षणा नहीं है। किन्तु कुन्त विशिष्ट पुरुष में ही लक्षणा है। शोण—रक्त गुण है, तद् विशिष्ट धावित होता है। यहाँ गुण वाचक शोण शब्द का गुण विशिष्ट में 'लक्षणा—सर्वत्र—प्रसिद्ध है। किसी के मत में लक्षणा के बिना ही 'गुण वचन के उत्तर मतुप प्रत्यय लोप होता है' इस प्रकार नियम से शोण शब्द के उत्तर मतुप प्रत्यय लोप होने के कारण मुख्य अर्थ ही है।

छत्र सहित एवं छत्र रहित अनेक व्यक्ति के गमन स्थल में छत्री सब जा रहे हैं, प्रयोग—छत्र रहित पुरुष समूह में लाक्षणिक है। कहते हैं—सर्वेषामिति। छत्र रहित सब का अन्वय छत्रित्व के सहित न होने के कारण मुख्यार्थ का बाध है, अतः यहाँ छत्री, अछत्री उभयत्र ही छत्री पद की लक्षणा है, अतएव यहाँ पर भी अजहत् स्वार्थ लक्षणा जाननी होगी।

'रथो गच्छति' यहाँ गमनानुकूल यत्नवत्त्व रूप गमन कर्त्तृत्व रथ में अचेतनत्व के कारण बाधित है—अतः शाब्द बोध होना कैसे सम्भव है? रथ पद की लक्षणा रथ प्रेरक पुरुष में करना कर्त्तव्य है। ऐसा होने पर पुरुष सचेतन होने के कारण उस में गमन कर्त्तृत्व बाधित नहीं होता है, इस प्रकार नहीं

त्वादचेतने तदभावाद्, व्यापारे लक्षणां पठन्ति, केचिदाख्यातस्यानुकूलव्यापार प्रधानतया चेतना चेतनयो र्धात्वर्थानुकूल्य व्यापारस्य सत्वादाख्यात प्रयोगो मुख्य एवेति।

'मञ्चाः क्रोशन्ति' इत्यत्र स्वसम्बन्ध मात्रेण जहत् स्वार्थैव, नेयं प्रयोजनवती, नवा रूढि-लक्षणा ॥१४-१५॥

धर्मस्तु यथा यत्ने तथा रथ पुरुष संयोगे च वर्त्तते। अतो व्यापारत्व रूपेणोभयत्र शक्तिः। तथा च सचेतन कर्त्तृ समभिव्याहार स्थले, व्यापारत्व रूपेण यत्नस्य बोधो जायते, अचेतन कर्त्तृक स्थले व्यापारत्व रूपेण संयोगादि बोधो जायते, इति न कुत्रापि लक्षणाया अवकाशः। एदभिप्रायेणाह— आख्यातानुकूलेति। आख्यातस्याख्यातार्थस्यानुकूल व्यापारस्य प्रधानतया मुख्यतया चेतने, पुरुषे अचेतने रथे च धात्वर्थानुकूल व्यापारस्य यत्नस्य संयोगस्य च यथा, संख्येन सत्वादाख्यातघटितो रथो गच्छतीति प्रयोगो मुख्य एव, नतु लाक्षणिकः। मञ्चा इति—अचेतन मञ्चस्य क्रोशन सम्भवात् मञ्चपदेन मञ्चस्थ क्रोशनासम्भवान्मञ्च पदेन मञ्चस्थ पुरुषे लक्षणा। इयन्तु प्रयोजनवती रूढि लक्षणयोरतिरिक्ता निरर्थिका एव ॥ १४--१५॥

कह सकते। 'केवलं पुरुषो गच्छति' इस प्रकार न कह कर रथ का गमन तात्पर्य्य से रथो गच्छति' कहने वाले व्यक्ति के पक्ष में विवक्षितार्थ रथ निष्ठ अबाधित गमन असिद्ध होगा। इस हेतु यहाँ इस प्रकार कहना उचित है—जिस प्रकार रथ पद की लक्षणा पुरुष पद में है, उस प्रकार गमधातु की भी रथ निष्ठ गमन विशेष में लक्षणा है। तथा च रथ निष्ठ गमनानुकूलयत्नवान् पुरुष इस प्रकार शाब्द बोध निष्पन्न होता है। इस प्रकार होने पर लक्षणा के द्वारा रथ वृत्तित्वावच्छिन्न गमनत्व रूप धर्म्म विशेष का शाब्द बोध में भान होने से गम धातु का शक्यतावच्छेदक निरवच्छिन्न गमनत्व जातिरूप स्वार्थ का तादृश शाब्द बोध में भान होने से जहत् स्वार्था होती है। एवं गमधात्वर्थ का गमन विशेषमें भान होने से अजहत् स्वार्था भी होती है। अतएव एक ही लक्षणा जहत् अजहत् स्वार्था लक्षणा होती है—इस प्रकार एक देशी के मत को अवलम्बन कर कहते हैं—'रथो गच्छति' रथ का आकर्षक पुरुष है, अतएव रथ का गमन से पुरुष में शक्य सम्बन्ध रूप लक्षणा होना सम्भव है। रथ कर्त्तृक गमन असम्भव हेतु अन्वय अनुपपत्ति रूप लक्षणा का कारण भी प्रदर्शित हुआ। गम धातु का भी निरवच्छिन्न गमनत्व जाति रूप स्वार्थ का शाब्द बोध में भान होने पर उस अंश में जहत् स्वार्थ लक्षणा है। गमधातु का गमन विशेष भान होने पर उस अंश में अजहत् स्वार्थ लक्षणा है। यह मत अत्यन्त विचार पूर्ण नहीं है। अतः मतान्तर को कहते हैं। केचिदिति आख्यात की शक्ति,—यत्न में है, अतः अचेतन रथादि में यत्न न होने से व्यापार रूप अर्थ में लक्षणा करते हैं। यहाँ व्यापार—स्व प्रेरक पुरुष के सहित रथ गमन, क्रियानुकूल संयोग है। तथा च, गमनानुकूल व्यापाराश्रय रथ है—इस प्रकार बोध सिद्ध होता है। किसी के मत में 'रथोगच्छति' यहाँ लक्षणा है ही नहीं। किन्तु यह प्रयोग मुख्य है। उस मत को लिखते हैं—आख्यात की शक्ति,—यत्न मात्र में ही नहीं है, किन्तु व्यापारत्व रूप व्यापार में शक्ति है। व्यापारत्व रूप धर्म जिस प्रकार यत्न में है, उस प्रकार रथ पुरुष संयोग में भी है, अतः व्यापारत्व रूप से उभयत्र शक्ति है। तथा च—सचेतन कर्त्ता का साहचर्य्य से व्यापारत्व रूप यत्न का बोध होता है, अचेतन कर्त्ता के स्थल में व्यापारत्व रूप यत्न का बोध होता है, अचेतन कर्त्तृक स्थल में व्यापार रूप से संयोगादि का बोध होता है। इस रीति से कहीं पर लक्षणा का

रूढ्या प्रयोजनेनापि सा द्विधा,

सा लक्षणा द्विधा भवतीत्यर्थः। 'विष्वक्सेन' इत्यादौ विसूची सेना यस्येति बहुतर सेनावति महाराजादौ व्युत्पन्नत्वेऽपि शक्त्या भगवत्यपि भगवद् भक्त विशेषे एव रूढिः ॥१६॥

सार्थक लक्षणा तु द्विविधेत्याह रूढ्येति, रूढ़ि लक्षणा तु शक्ति तुल्यैव, अतोऽस्यापि सार्थकत्वं बोध्यम्। विषु शब्दोऽव्ययः सर्ववाची, तेन विषु सर्वतोऽञ्चति गच्छतीति विषुची सर्वव्यापिका सेना यस्येति व्युत्पत्त्या विष्वक्सेन शब्दे ऽवयवव्युत्पत्त्या महाराज बोधकः। "विष्वक् सेनो जनार्दनः" इत्यभिधानाच्छक्त्या भगवद् वाचकः, रूढ़ि लक्षणया भगवत् पार्षद विशेष लाक्षणिकः। तथाच— रूढ़े र्योगापहारितेति नियमेन विष्वक्सेन शब्देन पार्षद बोध एव भवति, नतु योग शक्त्या महाराजादि बोधो भवति।

न च रूढ़े: प्रति बाधकत्वात् शक्त्या भगवद् बोधोऽपि मास्त्विति वाच्यम्, यतो रूढ़िर्योगमपहरत्येति न्यायेन योग शक्त्या प्रत्यय घटित प्रकृति जन्य महाराजादीनां बोध एव न जायते। नतु 'विष्वक् सेनो जनार्दनः' इत्यभिधानात् समुदाय शक्त्या भगवद् बोधे रूढ़ेः प्रतिबन्धकत्वं सम्भवतीति बोध्यम् ॥१६॥

अवकाश नहीं है। इस अभिप्राय से ही कहा गया है—आख्यातानुकूलेति। आख्यातार्थ का अनुकूल व्यापार प्रधान रूप से एवं मुख्य रूप से चेतन पुरुष में एवं अचेतन रथ में धात्वर्थानुकूल व्यापार का यत्न, संयोग को क्रमशः होने के कारण आख्यात घटित 'रथो गच्छति' प्रयोग मुख्य ही है। किन्तु—लाक्षणिक नहीं है।

मञ्चा इति। अचेतन मञ्च का क्रोशन असम्भव हेतु, मञ्च पदसे मञ्चस्थ पुरुष में लक्षणा है। यह लक्षणा – प्रयोजनवती रूढ़ि लक्षणा से अतिरिक्त है एवं निरर्थिका है ॥१४--१५॥

रूढ़ि एवं प्रयोजन वशतः लक्षणा, द्विविधा होती है। 'विष्वक् सेन' यहाँ विषुची अर्थात् सर्व व्यापिका सेना है— जिस की, इस व्युत्पत्ति से बहुतर सेना विशिष्ट महाराजादि का बोध होने पर भी शक्ति--अर्थात् सङ्केत हेतु वह भगवान् एवं तदीय भक्त विशेष में रूढ़ि है ॥१६॥

सार्थक लक्षणा किन्तु दो प्रकार होती है। रूढ़ि लक्षणा किन्तु शक्ति तुल्य ही है, अतः इस को सार्थक जानना चाहिये। विषु शब्द अव्यय है, एवं सर्ववाची है, उस से विषु--सर्वतोऽञ्चति गच्छतीति विषु ची सर्व व्यापि का सेना है, जिस की—इस प्रकार व्युत् पत्ति से विष्वक् सेन शब्द—अवयव व्युत्पत्ति के द्वारा महाराज का बोधक है। 'विष्वक् सेनो जनार्दनः' इस अभिधान के कथन से वह भगवद् वाचक है रूढ़ि लक्षणा के द्वारा भगवत् पार्षद विशेष में लाक्षणिक है। 'रूढ़ि योगापहारिणी' नियम से विष्वक् सेन शब्द के द्वारा पार्षद का बोध ही होगा, किन्तु योग शक्ति के द्वारा महाराजादि का बोध नहीं होगा।

रूढ़ि का प्रति बन्धक होने पर शक्ति के द्वारा भगवान् का भी बोध भी न हो, इस प्रकार कहना भी समीचीन नहीं है। कारण— 'रूढ़ि र्योगमपहरतीति' नियम से योग शक्त्या के द्वारा प्रत्यय घटित प्रकृति जन्य महाराजादि का बोध ही नहीं होगा। किन्तु 'विष्वक् सेनो जनार्दनः' इस अभिधान के कथन से भगवद् बोध में रूढ़ि का प्रति बन्धक होना सम्भव है ॥१६॥

गङ्गायां घोषः प्रति वसति' इत्यादौ प्रयोजनम्, तत्तु शैत्य--पावनत्वादि। अत उक्तम् (कुमारिल भट्ट कृत श्लोकवार्तिके)

"अभिधेयाविनाभूत प्रतीति लक्षणोच्यते। लक्ष्यमाण गुणयोगाद् वृत्त रिष्टा तु गौणता॥"

इति, (काव्य प्रकाशे २।१३) "व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने" इति वचनाद् व्यङ्ग्य सहिता प्रयोजनवती लक्षणैव प्रयोजिका, न रूढ़ि लक्षणा॥१७--१८॥

भिद्यते सा ।

सा प्रयोजनवती लक्षणा भिद्यते, विविधा भवतीत्यर्थः।

सारोपा सारोप्यमाण आरोप विषयोऽपिच ॥१९॥

अभिधेयस्य शक्यस्याविनाभूतोऽसाधारण सम्बन्ध विशेष विशिष्ट स्तस्य प्रतीतिर्यस्याः सा लक्षणोच्यते। उदाहरणन्तु गङ्गायां घोष इत्यादि लक्ष्यमाण गुणस्य सादृश्यस्य योगाद्धेतोः वृत्तेर्गौणता इष्टा, गौणी वृत्तिर्भवतीत्यर्थः। तथा च एतन्मते सादृश्य लक्षणास्थले गौणी वृत्तिः शक्ति लक्षणातिरिक्ता स्वतन्त्रा वृत्तिरिति भावः। उदाहरणं तु—गौर्वाहिक इत्यादि। व्रहि स्तिष्ठतीति औणादिक--प्रत्ययोत् ग्रामस्यान्ते-स्थित नीच जाति वाहिकः, स तु गौः, गो सदृशः। व्यङ्ग्येनेति रूढ़ि लक्षणा व्यञ्जना वृत्ति रहिता प्रयोजनवती लक्षणा, व्यञ्जना वृत्ति सहितेति प्रामाणिकानां वचनाद् व्यङ्ग्य सहिता प्रयोजनवती लक्षणैव प्रयोजिका सार्थिका, नतु रूढ़ि लक्षणा। एतन्मते रूढ़ लक्षणापि व्यर्थेति बोध्यम्॥१७-१८॥

सा प्रयोजनवती लक्षणा सारोपा। भक्तमते—उदाहरणम्—अमृतं श्रीकृष्ण गुण श्रवणम्। अन्यमते

गङ्गा में घोष रहता है। इत्यादि स्थल में प्रयोजन वशतः लक्षणा है। प्रयोजन—यहाँ शैत्य पावनत्वादि हैं। अतएव श्रीकुमारिलभट्टने कहा है—शक्यार्थ का अविनाभूत--अर्थात् असाधारण सम्बन्ध विशेष विशिष्ट पदार्थ—जिस से प्रतीत होता है—उस को लक्षणा कहते हैं। लक्ष्यमाण का गुण,—अर्थात् सादृश्यादि धर्म की विद्यमानता स्थल में उक्त वृत्ति की गौणता स्वीकृत है। अर्थात् गुण योग हेतु वह गौणी वृत्ति है। रूढ़ि स्थल में उक्त लक्षणा व्यङ्ग्य रहित एवं प्रयोजन स्थल में व्यङ्ग्य सहिता होती है।

उक्त कथन हेतु व्यञ्जना वृत्ति सहिता प्रयोजनवती लक्षणा ही प्रयोजिका है, अर्थात् सार्थिका है, रूढ़ि लक्षणा का उस प्रकार सार्थकच नहीं है॥१७-१८॥

अभिधेय—शक्य का अविनाभूत असाधारण सम्बन्ध विशिष्ट विषय प्रतीति जिस की है, वह लक्षणा है। उदाहरण—'गङ्गायां घोष' यहाँ लक्ष्यमाण गुण सादृश्य के योग से वृत्ति की गौणता है, अर्थात् गौणी वृत्ति होती है। इस मत में सादृश्य लक्षणा स्थल में गौणी वृत्ति—शक्ति लक्षणा से अतिरिक्त स्वतन्त्रा वृत्ति है। उदाहरण—'गौ र्वाहिकः' वहिस्तिष्ठतीति औणादि प्रत्यय से ग्राम के शेष भाग में अवस्थित जाति विशेष को वाहिक कहते हैं। वह गौ, गौ सदृश है। रूढ़ि लक्षणा व्यञ्जना वृत्ति रहिता प्रयोजनवती लक्षणा व्यञ्जना वृत्ति सहिता है, इस प्रकार प्रामाणिक के वाक्य से व्यङ्ग्य के सहित प्रयोजनवती लक्षणा ही प्रयोजिका अर्थात् सार्थिका है, किन्तु, रूढ़ि लक्षणा नहीं, इस मत में रूढ़ि लक्षणा भी व्यर्थ है॥१७-१८॥

यत्र व्यक्तौ ।

यत्र लक्षणायामारोप्यमाण आरोप विषयश्च स्फुटौ, सा सारोपा । यथा अमृतं श्रीकृष्ण-गुण श्रवणम् । अत्रामृतमारोप्यमाणगुणश्रवणमारोपविषयो द्वावेव स्फुटौ । 'गौर्वाहीकः' इत्यन्ये ॥१६--२०॥

आदिनान्तर्निगीर्णे चरमे सति । भवेत् साध्यवसाना सा ।

सा सारोपा साध्यवसाना भवेत्, आदिना आरोप्यमाणेन, चरमे आरोपविषयेऽन्तर्निगीर्णे सति । यथा 'अमृतमेवेदम्' इत्यारोप्यमाणेनामृतेन गुण श्रवण मारोपविषयोऽन्तर्निगीर्णः । 'गौरेवायम्' इत्येके ॥२१॥

तु गौर्वाहीके इति ॥१६--२०॥

सूत्रस्थादिनेत्यस्य व्याख्या—सारोप्यमाणेनेति- अमृतेनेत्यर्थः । चरमे—इत्यस्य व्याख्या,—सारोप विषय इति कृष्ण कथा-श्रवणे—इत्यर्थः—

अन्त निर्गीर्णे सतीति नेदं कृष्ण कथा श्रवणम्, अपितु--अमृत मेवेति वाक्ये, एव कारेण-कृष्ण कथा श्रवणस्य निषेधे सतीत्यर्थः । सारोपास्थले त्वमृतकृष्णकथा श्रवणयोरभेद प्रतीत्या द्वयोरेव वाक्ये प्रवेशः, न तु साध्य वसानास्थले इवापरस्य निषेधः । अयं वाहिको न भवति, अपि तु गौरेवेत्युदाहरणं भक्त भिन्नानां ज्ञेयम् ॥२१॥

उक्त प्रयोजन वती लक्षणा विविध प्रकार होती है । जहाँ आरोप्यमाण एवं आरोप विषय उभय ही परिस्फुट होते हैं, उसका नाम सारोपा लक्षणा है । जैसे—श्रीकृष्ण गुण श्रवण अमृत है । यहाँ आरोप्यमाण अमृत एवं आरोप विषय गुण श्रवण, उभय ही परिस्फुट हुए हैं । "गौ वाहीकः" को उदाहरण रूप में कतिपय व्यक्ति उपस्थित किये हैं ।

प्रयोजन वती लक्षणा सारोप्य है । भक्तमत में उदाहरण—श्रीकृष्ण गुण श्रवण अमृत है । अन्य मत में—'गौ वाहीकः' उदाहरण है ॥१६-२०॥

वहिर्देश में अवस्थानार्थक वहिस् शब्द के उत्तर उणादि प्रत्यय द्वारा निष्पन्न वाहीक शब्द--ग्राम के प्रान्त भाग में स्थित मानव का बोधक है । वह गौ है, अर्थात् गो सदृश है । आरोप्य माण कर्त्तृक आरोप विषय अन्तर्निगीर्ण होने से उक्त सारोपा लक्षणा साध्य वसाना नाम से अभिहिता होती है । यह 'मृत है' यह आरोप्य माण अमृत कर्त्तृक आरोप विषय स्वरूप गुण श्रवण अन्त निगीर्ण हुआ है । अर्थात् शब्द श्रवण व्यतीत ही आक्षेपादि के द्वारा प्रतीत हुआ है ।

अपर व्यक्ति गण—'गौर्वाहीक' उदाहरण के समान यहाँ 'गौरेयं, 'यह व्यक्ति गौ ही है' इस प्रकार उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।

सूत्र में जो आदि शब्द का प्रयोग है—उसकी व्याख्या—सारोप्यमाणेन-अमृतेन' इस प्रकार है । चरमे—इसकी व्याख्या—सारोप विषय—'कृष्ण कथा श्रवणे' इस प्रकार है । अन्तर्निगीर्णे—सतीति—यह कृष्ण कथा श्रवण ही नहीं है, किन्तु अमृत ही है । यहाँ एव कारके द्वारा-अर्थ होता है-कि कृष्ण कथा

भिदे द्वे द्विविधे इमे ॥
गौणे शुद्धे च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतोऽपि च ।
एतौ भेदौ सादृश्याद् गौणौ, सम्बन्धान्तरतः शुद्धौ भवत इत्यर्थः ॥२२--२३॥

सादृश्य हेतुका तूक्ता सम्बन्धान्तरहेतुका ॥

यथा 'भगवद् भक्ति र्महत् सङ्गः, 'भगवद् भक्ति रेवायम्'--अत्र कार्य्य -कारणभाव सम्बन्धः 'आयुर्घृतम्' 'आयुरेवेदम्' इत्यन्ये क्वचित्तादर्थ्याद् यथा--'कृष्णसेवार्थो व्यापारः कृष्णसेवा ।' क्वचित् स्व स्वामिभाव सम्बन्धाद् यथा--'कृष्णस्य सखाकृष्णः' । क्वचित्तात्

इमे सारोपा साध्यवसाने द्वे द्विविधे भवतः । सादृश्य सम्बन्धेनारोपे सति द्वे गौणे भवतः, सम्बन्धान्तरारोपे सति द्वे शुद्धे भवतः ॥२२--२३॥

महत् सङ्गो भगवद् भक्ति जनक इति लक्षणार्थः,इत्यत्र सारोपा; भक्ति रेवायमिति साध्यवसाना भक्ति जनकानां मध्ये महत् सङ्गो यथा भक्ति जनक स्तथा नान्यः । एतन्दृश जनकतातिशयरूप प्रयोजनवतीयं लक्षणेति ज्ञेयम् । 'अयं व्यापारः कृष्ण सेवा' इत्यत्र तादर्थ्य सम्बन्ध लक्षणा । कृष्णस्य सखा सुबलः, कृष्ण एवात्र सख्यातिशय एव प्रयोजनम् । गोपपदस्य रूढ़ि र्युक्तया गोप जातावेव प्रयोगः । तदतिरिक्ते गोपालन कर्त्तरि वैश्यजातौ गोपव्यवहारस्तु लाक्षणिक एव । यथा----'मण्डपं भोजय' इत्यत्र मण्डप शब्दो गृहे रूढ़िरपि मनुष्ये लाक्षणिकः । एतन्मतमालम्व्याह—कृष्ण गोपालनाद् गोपो न भवति, किन्तु गोप जातिरेव । तेन गोपजातेर्यथा कर्म्मान्तरं विहाय गोपालने अत्यासक्ति स्तथा श्रीकृष्णस्यापि

श्रवण का निषेध करने पर । सारोपास्थल में अमृत एवं कृष्ण कथा श्रवण में अभेद प्रतीति होने के कारण उभय का ही वाक्य में प्रवेश हुआ है । किन्तु साध्यवसानास्थल के समान अपर का निषेध नहीं हुआ है । यह वाहीक—नहीं है, किन्तु "गौ" है, यह उदाहरण भक्त, भिन्नों के पक्ष में है । इस प्रकार जानना होगा ॥२१॥

सारोपा एवं साध्य वसाना—उभय लक्षणा ही द्विविधा होती हैं । सादृश्य सम्बन्ध में आरोप होने पर उभय ही गौण होती हैं । एवं सम्बन्धान्तर में आरोप होने से उभय ही शुद्ध होती हैं ॥२२--२३॥

सारोपा एवं साध्यवसाना--उभयविध लक्षणा ही द्विविध होती हैं । सादृश्य के सम्बन्ध में आरोप होने से उभय लक्षणा ही गौणा होती हैं, एवं सम्बन्धान्तर में आरोप होने से उभय लक्षणा ही शुद्ध होती हैं । उसके मध्य में सादृश्य हेतु का उक्त लक्षणा का उदाहरण इस के पहले टङ्कित हुआ है, सम्प्रति सम्बन्धान्तर हेतु को कहते हैं । यथा- सारोपास्थल में "महत सङ्ग भगवद् भक्ति" अर्थात् महत सङ्ग ही भगवद् भक्ति जनक है । एवं साध्यवसानास्थल मे "भगवद् भक्ति ही यह है" अर्थात् भक्ति जनक पदार्थ के मध्य में महत् सङ्ग के तुल्य उपाय और नहीं है । यहाँ कार्य्य कारण भाव सम्बन्ध का वर्णन हुआ ।

अपर व्यक्ति गण—"घृत ही आयु है, एवं यह आयु ही है । इस प्रकार उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, कदाचित् तादर्थ्य सम्बन्ध में यह लक्षणा होती है । यथा--कृष्ण सेवा निमित्त व्यापार--इस अर्थ मे "कृष्ण

कर्म्यादि यथा—'कृष्णो गोपालनाद् गोपः'। सर्वत्र प्रयोजनम्, न रूढ़िः ॥२४॥

परक्षेपः स्वसिद्धयर्थं, परस्मिन् स्वसमर्पणम् ।
ययोस्ते लक्षणे शुद्धे प्रागुपादानलक्षणे ॥

प्रागवर्त्तिनी उपादानलक्षणपदे ययोस्ते । तेन उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा वेत्यर्थः । उपचारेणामिश्रत्वात् शुद्धे । पृथक्त्वेन वर्त्तमानयोर्द्वयोरैक्यारोप उपचारः । तत्र 'वेणुर्गायति, वीणाः श्रुतिमनुकुर्वन्ति' इति वेण्वादिभिः स्व-सिद्धयर्थं स्व स्व वादकानां परेषां श्रीकृष्ण-

---

गोपालने आसक्त्यतिशय एव लक्षणायाः प्रयोजनम् । सर्वत्र सारोपा साध्यवसानास्थले प्रयोजनम्, प्रयोजनवती लक्षणा, नतु रूढ़िः ॥२४॥

पुनर्लक्षणाया भेदद्वयमाह—पराक्षेप इति । स्वस्य सिद्धयर्थं पराक्षेपः । यथा—'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यत्र कुन्तस्याचेतनस्यप्रवेशसिद्धयर्थं परस्य पुरुषस्याक्षेपः । तत्रोपादानलक्षणा ज्ञेया । एवं भिङ्गायां

सेवा" किसी स्थल में स्व स्वामी भाव सम्बन्ध में भी लक्षणा होती है । यथा—कृष्ण के सहित अतिशय सख्य प्रकाश हेतु कृष्ण के सखा के प्रति 'यह कृष्ण है'—यह प्रयोग है ।

कहीं पर तात्कर्म्य सम्बन्ध में भी लक्षणा होती है । यथा—गोपालन कर्म्म हेतु श्रीकृष्ण के उद्देश्य में "गोप" इस प्रकार प्रयोग हुआ है । गोप जाती के समान गोपालनमें श्रीकृष्ण की अत्यन्ताशक्ति बोधन ही यहाँ प्रयोजन है । ये सब स्थल में ही प्रयोजनवती लक्षणा, रूढ़ि नहीं है ॥२४॥

महत्सङ्ग—भगवद्भक्ति जनक हैं, यह लक्षणार्थ है । यहाँ सारोपा है, यही भक्ति है—यह साध्यवसाना है । भक्ति जनकों के मध्य में महत् सङ्ग जिस प्रकार भक्ति जनक है, उस प्रकार अन्य नहीं है । इस प्रकार जनकतातिशय रूप प्रयोजनवती यह लक्षणा है, यह जानना होगा । 'अयं व्यापारः कृष्णसेवा' यहाँ तादर्थ्य सम्बन्ध में लक्षणा । 'कृष्ण का सखा सुबल है'—यहाँ कृष्ण में सख्यातिशय ही प्रयोजन है । गोपपद की रूढ़ि शक्ति के द्वारा गोप जाति में ही प्रयोग होता है । तद्भिन्न गोपालन कर्त्ता वैश्य जाति में गोप व्यवहार किन्तु लाक्षणिक ही है । जिस प्रकार—'मण्डपं भोजय' यहाँ मण्डप शब्द गृह में रूढ़ि होने पर भी मनुष्य में लाक्षणिक है । इस मत को अवलम्बन कर कहते हैं—कृष्ण गो-पालन कार्य्य करने के कारण गोप नहीं है, किन्तु गोप जाति ही हैं । अतः गोप जाति की अतिशय आसक्ति, अन्य कर्म को छोड़कर जिस प्रकार गो-पालन में है, उस प्रकार कृष्ण की भी अतिशय आसक्ति गोपालनमें है, लक्षणा का प्रयोजन यही है । सर्वत्र सारोपा साध्यवसाना स्थल में प्रयोजन है । यह प्रयोजनवती लक्षणा है, किन्तु रूढ़ि नहीं है ॥२४॥

जिस लक्षणा में निज अन्वय सिद्धि हेतु मुख्यार्थ भिन्न का आक्षेप होता है, उसको उपादान लक्षणा कहते हैं । एवं जहाँ मुख्यार्थ भिन्न का अन्वय सिद्ध हेतु स्वार्थ का परत्र समर्पण होता है, उसको लक्षण लक्षणा कहते हैं । यहाँ पृथक् रूपमें वर्त्तमान पदार्थद्वय का ऐक्यारोप का नाम उपचार है । एवं तादृश उपचार में मिश्रित न होने के कारण उक्त लक्षणाद्वय शुद्ध हैं ।

उपादान लक्षणा का उदाहरण—वेणु गाती रहती है । वीणा, श्रुति का अनुकरण कर रही है । यहाँ वेणु वीणा का स्वातन्त्र्य से गान करणादि असम्भव हेतु उस उस पद के द्वारा अर्थसिद्धि हेतु स्व स्व

ललितादीनामाक्षेपः कृतः इत्युपादानलक्षणा । यत्र यत्राविनाभावोऽर्थापत्तिर्वा, तत्र तत्र नोपादानलक्षणा,—प्रयोजनरूढ़िचोरभावात् । यथा—'गौरनुबन्ध्यः' इति श्रुतिचोदितमनुबन्धनं कथं स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते, न तु शब्देनोच्यते, "विशेष्यं नाभिधागच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे" इति न्यायात् । उक्तञ्च वाक्यपदीये—"गौः स्वरूपेण न गौर्नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः" इति । एवं क्रियतामित्यत्र कर्त्ता, कुर्वित्यत्र कर्म, प्रविश पिण्डिम्, गृहं भक्षयेत्यादिषु आक्षेप एव । "पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते, रात्रौ भुङ्क्ते" इति तु अर्थापत्त्यैव गम्यत इत्यादिषु नोपादानलक्षणा । केवलं 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यादिषु सा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ शैत्यपावनत्वादि-स्वगुणसमर्पणलक्षणेन लक्षणलक्षणा ।।२५।।

घोष' इत्यत्र परस्मिन् तीरे गङ्गागुणस्य शैत्यपावनत्वादेः समर्पणात्, तत्र लक्षणलक्षणा ज्ञेया । एतादृशे द्विविधे एव लक्षणे शुद्धे ज्ञेये । 'प्रागुपादानलक्षणे' इत्यस्य व्याख्यामाह—प्राग्वर्त्तिनीति । द्वयोरैक्यारोप इति गौर्वाहीक इत्यत्रोपचार इत्यर्थः । तत्र वेणोरिति—वेणोः स्वातन्त्र्येण गानासम्भवाद्वेणुपदेन श्रीकृष्णस्याक्षेपः कृतः । वीणागानशास्त्रोक्तां श्रुतिमनुकुर्वन्तीति । यत्रेति—यत्र जातिव्यक्त्योरविनाभावो व्याप्तिरूपसम्बन्धः, तत्र जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते । पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते । अत्रापि अर्थापत्त्या रात्रिभोजित्वसिद्धिः । अतस्तत्र तत्र स्थले नोपादानलक्षणा । तत्र हेतुः—लक्षणबीजयोः प्रयोजनरूढ्योरभावात् । गोपदस्य व्यक्तौ लक्षणायां न प्रयोजनं न वा रूढिः; प्रयोजनं विनैव सर्वत्र वृथा लाक्षणिकप्रयोगस्तु विशेषदर्शिनामनुचितमिति बोध्यम् । एतदेवाह—यथेति । श्रुत्युक्त गोपदार्थस्य

वाचक परभूत श्रीकृष्ण-ललितादि का आक्षेप होता है ।

जहाँ जाति एवं व्यक्ति का अविनाभावसम्बन्ध है, अथवा जहाँ अर्थापत्ति के द्वारा तात्पर्यसिद्धि होती है, उस उस स्थल में लक्षणा बीज स्वरूप रूढ़ि एवं प्रयोजन का अभाव हेतु उपादान लक्षणा नहीं होती है । जैसे—गो बन्धन करना होगा यहाँ श्रुति विहित गो बन्धन कार्य कैसे सम्पादित होगा । इससे जाति के द्वारा व्यक्ति आक्षिप्त होगा । अर्थात् गोत्व जाति कर्त्तृक गोत्वविशिष्ट गोस्वरूप प्रतीयमान होगा, अन्यथा शब्द के द्वारा शक्ति का लक्षणा हेतु उक्त व्यक्ति की प्रतीति नहीं होगी ।

नियम इस प्रकार है—विशेषणीभूत गोत्वादि अर्थ में जो शक्ति पर्य्यवसित हुई है, तादृशी अभिधा, विशेष्य स्वरूप गो प्रभृति व्यक्ति को प्रकाश करने में सक्षम नहीं है । वाक्यपदीय ग्रन्थ में उक्त है—गो व्यक्ति स्वरूपतः गो पदार्थ नहीं है, एवं गो भिन्न अन्य पदार्थ भी नहीं है, किन्तु गोत्व जाति का सम्बन्ध हेतु गो—अर्थात् गो पदजन्य शाब्दबोध का विषय है ।

उक्त स्थल में जिस प्रकार लक्षणा का प्रयोजन नहीं है, उस प्रकार 'कट कृत हो' कहने से कर्त्ता, तुम करो, कहने से कटादि कर्म, एवं प्रवेश करो, कहने से गृह, एवं अन्न ग्रासादि कहने से भक्षण करो,—आक्षेप लभ्य है । स्थूलाकृति देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता है, अर्थात् वह रात्रिभोजी है । अर्थापत्ति से इसका बोध होता है । अतएव उक्त स्थलसमूह में उपादानलक्षणा नहीं है । केवल 'कुन्ताः प्रविशन्ति' स्थल में उक्त लक्षणा है । 'गङ्गायां घोषः' गङ्गा में घोष निवास करता है । यहाँ शैत्य पावनत्वादि स्वगुण समर्थन हेतु लक्षणलक्षणा है ।।२५।।

गोत्वस्य स्वकर्तृकं बन्धनं कथं स्यादिति पुरुषस्य परामर्शे जाते सति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते, नतु गोशब्देन शक्त्या लक्षणया वा व्यक्तिरुच्यते।

'विशेषणे गोत्वे क्षीणा पर्यवसिता शक्तिः— सामर्थ्यं यस्यास्तथाभूता अभिधा विशेष्यं गोव्यक्तिं न गच्छेत्, विशेष्ये न तिष्ठेदित्यर्थः। उक्तञ्च वाक्यपदीये व्याकरणे—गौर्गोव्यक्तिः स्वरूपेण सास्नादिमत्त्वादिना गौर्न गो-पदार्थः। नाप्यगौ गोभिन्नानामश्वादिपदार्थानामर्थः, किन्तु गोत्वाभिसम्बन्धाद् गोत्वजाति-सम्बन्धाक्षेपवशाद् गौर्गोपदजन्यशाब्दबोधविषयः। यथा गोपदस्थले आक्षेपलभ्य व्यक्तौ प्रयोजनाद्यभावाल्लक्षणा नास्ति, तथैव कटः क्रियतामित्युक्ते कर्त्ता आक्षेपलब्ध, तत्रापि लक्षणा नास्तीत्याह—क्रियतामिति। एवं 'त्वं कुरु' इत्युक्ते कटं कर्माक्षेपलभ्यम्, प्रविशेत्युक्ते गृहं कर्माक्षेपलभ्यम्, पिण्डीमत्यादिग्रासमित्युक्ते भक्षयेति क्रिया आक्षेपलभ्या, इत्यादिष्वाक्षेप एव, नतु लक्षणा, प्रयोजनरूढ्योरभावादिति भावः। केवलमिति— वेणुर्गायति, कुन्ताः प्रविशन्तीत्यादौ सा उपादानलक्षणा। शक्त्या कुन्तविशिष्ट इत्युक्ते कुन्तस्य विशेषणत्वेनोपलक्षणतया कदाचित्तद्रहितस्यापि तु पुरुषस्य

पुनर्वार लक्षणा के भेदद्वय को कहते हैं—पराक्षेप इति। निज सिद्धि हेतु पराक्षेप होता है। जिस प्रकार 'कुन्ताः प्रविशन्ति' स्थल में अचेतन कुन्त अस्त्र का प्रवेशसिद्धि हेतु पर पुरुष का आक्षेप होता है। अतः यह उपादान लक्षणा है। एवं 'गङ्गायां घोषः' स्थलमें पर तीर में गङ्गागुण शैत्य पावनत्वादि का समर्पण हुआ है। यहाँ लक्षणलक्षणा है। एतद्रुप द्विविध में शुद्ध लक्षणा है। 'प्रागुपादान लक्षणे' इसकी व्याख्या करते हैं—प्राग्वर्त्तिनीति— द्वयोरंवयारोप इति। 'गौर्वाहीकः' यहाँ उपचार है। तत्र वेणोरिति। स्वतन्त्र रूपसे गान करना वेणु के पक्षमें असम्भव है। अतः वेणु पद से श्रीकृष्ण का आक्षेप हुआ है। इस प्रकार क्षीणा मात्र शास्त्रोक्ता श्रुतिमनुकुर्वन्तीति। यहाँ जानना होगा—जहाँ जाति-व्यक्ति की अविनाभाव व्याप्ति है, अर्थात् सम्बन्ध है, वहाँ जाति के द्वारा व्यक्ति का आक्षेप होता है। 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यहाँ अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा रात्रिभोजित्व की सिद्धि होती है। अतएव उक्त स्थल में उपादानलक्षणा नहीं होती है। कारण, उक्त लक्षणा—बीज अर्थात् प्रयोजन रूढ़ि का अभाव है। गो पदकी व्यक्ति में लक्षणा करने में प्रयोजन वा रूढ़ि नहीं है, प्रयोजन के विना ही सर्वत्र बोध होता है। वृथा लाक्षणिक प्रयोग विज्ञ व्यक्ति के पक्ष में अनुचित है, यह जानना होगा। इसको कहते हैं—श्रुत्युक्त गो पदार्थ का गोत्व का निज कर्तृक बन्धन कैसे होगा? अतः पुरुष का अनुसन्धान होने पर जाति के द्वारा व्यक्ति का ग्रहण होता है। किन्तु गो शब्द से शक्ति का लक्षणा द्वारा व्यक्ति का ग्रहण नहीं होता है।

विशेषण, गोत्व में क्षीण—पर्य्यवसिता, शक्ति, अर्थात् सामर्थ्य जिसकी, इस प्रकार अभिधा, विशेष्य—गो व्यक्ति को प्रकाश करने में सक्षम नहीं है। अर्थात् विशेष्य में शक्ति नहीं रहती है। व्याकरण सम्बन्धीय ग्रन्थ वाक्यपदीय में उक्त है—गौर्गोव्यक्तिः स्वरूपेण सास्नादिमत्त्वादिना गौर्न गोपदार्थः। नाप्यगौ-गोभिन्नानामश्वादिपदार्थानामर्थः, किन्तु गोत्वाभिसम्बन्धाद्गोत्वजातिसम्बन्धाक्षेपवशाद् गौर्गोपदजन्यशाब्दबोधविषयः। जिस प्रकार गोपद स्थल में आक्षेपलभ्य व्यक्ति में प्रयोजनादि अभाव लक्षणा नहीं है, इस प्रकार, 'कटः क्रियताम्' इस कथन में कर्त्ता आक्षेपलब्ध है, वहाँ लक्षणा नहीं है। इसको कहते हैं—क्रियतामिति। एवं 'त्वं कुरु' कहने पर 'कट' कर्म आक्षेपलभ्य है। 'प्रविश' कहने से 'गृहं' कर्म आक्षेपलभ्य है, उक्त स्थल समूहमें आक्षेपलभ्य है, किन्तु लक्षणा नहीं है, प्रयोजन रूढ़ि नहीं है।

पूर्वैश्चतुर्भिर्भेदैः सा द्वाभ्यामाभ्याञ्च षड्विधा ।
पूर्वैः सारोपादिभिराभ्यामुपादानलक्षणा-लक्षणलक्षणाभ्याम् ॥२६॥

गूढव्यङ्ग्या-गतव्यङ्ग्या व्यक्तव्यङ्ग्येति
सा त्रिधा ।
सा लक्षणा । गतव्यङ्ग्येह नाद्रियते ॥२७॥

गूढव्यङ्ग्या यथा—

उत्कीर्णैरिव चित्रितैरिवनवोद्भिन्नैरिवोद्यद्वयः
कुन्दे विभ्रमितैरिव स्मरकलाशाणे निशातैरिव ।
मग्नोन्मग्नतयालसैरिव भृशं लावण्यवापीजले
केयं केलिकलानिधिः सुबल ! मे चेतो हरत्यङ्गकैः ॥२८॥

प्रवेश सम्भवात् । अतः कुन्तस्य प्राधान्येन प्रवेशनार्थं कुन्ता इति लाक्षणिकं पदमुक्तम् । एवमेव सर्वत्र लक्षणायाः प्रयोजनं ज्ञेयम् ॥२५॥

पूर्वैरिति—गौणशुद्धभेदेन सारोपा द्विविधा, तथा साध्यवसानापि द्विविधा । एवं क्रमेण चतुर्भिर्भेदैरित्यर्थः ॥२६॥

नाद्रियते इति । तथा च गूढव्यङ्ग्या व्यक्तव्यङ्ग्येति द्विधैव लक्षणा ॥२७॥

हे सुबल ! केयं केलिकलानिधिरङ्गकैः सर्वैर्मे चेतो हरति । कथम्भूतैः ? उत्कीर्णैरिव, उत्कीर्णत्वमस्त्रेण वर्धकिकृतकाष्ठादिपुत्तलीनां निर्माणसौष्ठवातिशयः, तेनाङ्गस्य निर्माणविशेषोध्वनितः ।

केवलमिति—'वेणुर्प्रयति' 'कुन्ताः प्रविशन्ति' यहाँ उपादान लक्षणा है । शक्ति के द्वारा कुन्त विशिष्ट कहने पर विशेषण रूपमें कुन्त का ग्रहण होता है । कदाचित् उपलक्षण होने पर कदाचित् कुन्त रहित पुरुष का भी प्रवेश सम्भव होगा । अतः कुन्त को प्राधान्य देकर प्रवेश कराने के निमित्त 'कुन्ताः' यहाँ लाक्षणिक पद कहा गया है । इस रीति से ही सर्वत्र लक्षणा का प्रयोजन जानना होगा ॥२५॥

उक्त रीति से शुद्ध एवं गौण भेद से पूर्वोक्त सारोपा एवं साध्यवसाना लक्षणा चतुर्विध हैं । अधुना उपादानलक्षणा एवं लक्षणलक्षणा का वर्णन हुआ है । इसके सहित लक्षणासमूह षड्विध हैं । अर्थात् गौण एवं शुद्ध भेद से सारोपा द्विविधा हैं, तथा साध्यवसाना भी दो प्रकार हैं । इस प्रकार क्रम से चार प्रकार भेद के सहित उपादान लक्षणा लक्षणलक्षणा के योग से षड्विध लक्षणा हैं ॥२६॥

उक्त लक्षणा—गूढ़ व्यङ्ग्या, गतव्यङ्ग्या एवं व्यक्त व्यङ्ग्या भेद से त्रिविध हैं । उसके मध्यमें गतव्यङ्ग्या यहाँ आदृत नहीं है ॥२७॥

गूढ़ व्यङ्ग्य का उदाहरण—हे सखे सुबल ! कौन यह केलिकलानिधि कामिनी, सुकुमार अङ्ग समूह के द्वारा मेरा चित्त हरण कर रही है ? जिस कामिनी के अङ्गसमूह मदीय नयनयुगल में उत्कीर्ण के तुल्य, चित्रित के तुल्य, नवोद्भिन्न के सदृश, उदीयमान वयोरूप कुन्द में विभ्रमित के समान, कामदेव के कलारूप शाणास्त्र में निशात के तुल्य, लावण्यरूप दीर्घिका के सलिल में निविड़ रूपमें मग्न एवं उन्मत्तता हेतु अलस के सदृश विराजित हैं ॥२८॥

अत्रोत्कीर्णादिनां लाक्षणिकानां पदानां व्यङ्ग्यं गूढ़ तथा प्रकाशते। तथा हि—उत्कीर्णैरिति निर्माणविशेषः, चित्रितैरिति नानावर्णत्वात् कर-चरण-नयन-भ्रूलतादिषु ये ये वर्णास्तैश्चित्रितत्वम्, नवोद्भिन्नैरित्यङ्कुरत्वारोपेण कोमलत्वं ध्वन्यते। उद्यद्वयः कुन्द इति सुवलितत्वम्, स्मरकलाशाण इति हि स्मरकृतशाणतया चेतोभेदकत्वम्, मग्नोन्मग्नतयेति, लावण्याधिक्यम्। इदं त्वस्पष्टमेव।

अगूढ़ा यथा—

लीलाविलासमहुरिम-गरिमा आहीर अकुमारि आणं।
कण्हाणुरा अगरुणा, विअड्ढभाअ पढ़ाइदो झत्ति॥

अत्र पठित इत्यगूढ़ व्यङ्ग्यम्॥२६॥

उद्यद्वय एव कुन्दः, 'कुँद' इति प्रसिद्धस्तत्र भ्रमि प्राप्तैः, स्मरस्य कलारूपे शाणे खरात इति प्रसिद्धे निशातैस्तीक्ष्णीकृतैः, तेन कन्दर्पकृततीक्ष्णत्वेनाङ्गस्य चेतोभेदकत्वमायातम्। लावण्यतमा या वापी—दीर्घिका, तस्या जले भृशमतिशयेन मग्नोन्मग्नतयालसैः शोभमानैः, अनेन लावण्याधिक्यं ध्वनितम्॥२८॥

लीलेति—'लीलाविलासमधुरिमगरिमा आभीरकुमारिकानाम्। कृष्णानुरागगुरुणा विदग्धभावं पाठितो झटिति।' अत्र पाठित इत्यगूढ़ं विदग्धभावं वैदग्ध्यं पाठित इति। तेन श्रीकृष्णप्रेयसीषु वैदग्ध्यादिकं सर्वं शीघ्रमयत्नेनैव स्वयं प्रकाशितमभूदिति व्यक्तव्यङ्ग्यम्॥२९॥

हे सुबल! यह कौन केलिकलानिधि है? जो स्वीय अङ्गसमूह द्वारा मदीय चित्तापहरण कर रही है? किस प्रकार अङ्गसमूह के द्वारा, वर्द्धकि के अस्त्र के द्वारा निर्मित काष्ठ पुत्तलिका के समान, निर्माण सौष्ठवातिशययुक्त हैं। इससे अङ्गसमूह का निर्माणातिशय ध्वनित हुआ है। उद्यद्वयः ही कुँद कुँद-खरात इस प्रकार प्रसिद्ध यन्त्र से घूमाकार निर्मित। स्मर—कामदेव के कलारूप शाण में अर्थात् प्रसिद्ध खरात के द्वारा तीक्ष्णीकृत। इससे कन्दर्पकृत तीक्ष्णीकृत होने के कारण अङ्गसमूह की चित्त में प्रवेशयोग्यता सूचित हुई है। लावण्यरूपी जो दीर्घिका है, उसके जलमें अतिशयरूपमें मग्न उन्मग्न होने के कारण अतिशय शोभित है। इससे लावण्यातिशय ध्वनित हुआ है॥२८॥

यहाँ उत्कीर्णादि लाक्षणिक पद का व्यङ्ग्यार्थ गूढ़ भाव से प्रकाशित हुआ है। तथा हि—उत्कीर्ण पद से सौष्ठवातिशय, चित्रित पद से कर-चरण-नयन-भ्रूलता का जो विविध वर्ण द्वारा चित्रितत्व, नवोद्भिन्न पद से अङ्कुरत्वारोप हेतु कोमलत्व, उदीयमान वयस, कुन्द पद से सुवलितत्व, कामदेव के कलारूप शाणास्त्र से निशात पद से स्मरकृत शाणितत्व हेतु चित्तभेदकत्व एवं मग्न-उन्मग्न पद से लावण्याधिक्य का अनुभव अस्पष्ट भाव से ही हुआ है।

आभीर कुमारिकाओं की लीलाविलास मधुरिमगरिमा का विदग्धभाव का अध्ययन कृष्णानुराग गुरुने कराया है।

"लीलाविलासमधुरिमगरिमा आभीरकुमारिकाणाम्।
कृष्णानुरागगुरुणा विदग्धभावं पाठितो झटिति॥"

यहाँ पाठित—अध्ययन कराया है। यह अगूढ़ विदग्ध भाव को पढ़ाया है। इससे श्रीकृष्ण प्रेयसीवृन्द में वैदग्ध्यादि समस्त आशु अयत्नसे ही स्वयं प्रकाशित होते हैं। यह व्यक्तव्यङ्ग्य है॥२९॥

अथ का नाम व्यञ्जनेति व्यञ्जनालक्षणमाह,—

अभिधा-लक्षणाक्षेप-तात्पर्य्याणां समाप्तितः।
व्यापारो ध्वननादि र्यः शब्दस्य व्यञ्जना तु सा ॥

'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गङ्गाशब्दः प्रथमं वाचकत्वेनाभिधावृत्तिकः, अन्यथा— अन्वयाभाव एव न स्यात्। अनन्तरमभिधासमाप्तौ लक्षणामाश्रित्य तटं लक्षयति। तदनन्तरं लक्षणा समाप्तौ व्यञ्जनामाश्रित्य शैत्य-पावनत्वादिकं प्रयोजनं व्यनक्ति। लक्षणायाः सव्यङ्ग्यत्व अव्यङ्ग्यतया निरूपितत्वात् सव्यङ्ग्यलक्षणैव व्यञ्जनाजननी ॥३०॥

अभिधेति। समाप्तितः— इत्यभिधादिजन्यबोधसमाप्त्यनन्तरं ध्वननादिर्ध्वन्यर्थबोधस्यादिः कारणं यो व्यापारो वृत्तिविशेषः, सा शब्दस्य व्यञ्जनेत्यर्थः। तत्पदं कुत्रचिदुद्देश्यलिङ्गं कुत्रचिच्च विधेयलिङ्गं गृह्णातीति नियमेनात्र विधेयलिङ्गग्रहणात् सेति स्त्रीलिङ्गम्। अन्यथेति— अन्वयालक्षणास्थले प्रथमतोऽभिधाजन्यबोधस्यास्वीकारे अन्वयाभावो लक्षणाबीजमन्वयानुपपत्तिर्न स्यात्। प्रथमतोऽभिधया गङ्गापदार्थे घोषपदार्थस्यान्वयानुपपत्तिज्ञानादेव लक्षणायाः प्रवृत्तिरतोऽभिधाया अभावे लक्षणैव न भवतीति भावः।

ननु व्यञ्जनया यादृशार्थबोधो भविष्यति, तादृशार्थबोधो लक्षणयैव भविष्यति, अलं व्यञ्जनायाः स्वतन्त्रवृत्तित्वस्वीकारेणेत्याह— लक्षणायाः इति। लक्षणा हि द्विविधा— व्यङ्ग्यसहिता व्यङ्ग्यरहिता चेति। तत्र व्यङ्ग्यसहितैव लक्षणाव्यञ्जनाजननी व्यञ्जनावृत्तिजन्यज्ञानोत्पादिकेति पूर्वपक्षः ॥३०॥

'व्यञ्जना' किसको कहते हैं ? इस प्रकार जिज्ञासा उपस्थित होने पर उसका लक्षण निर्दिष्ट हो रहा है। अभिधा, लक्षणा, आक्षेप एवं तात्पर्य्य जन्य बोध समाप्त होने के पश्चात् ध्वन्यर्थ बोध का कारणीभूत जो व्यापार प्रतीयमान होता है, तादृश शब्द की वृत्ति को ही व्यञ्जना कहते हैं।

'गङ्गा में घोष रहता है' यहाँ गङ्गा शब्द प्रथमतः अभिधावृत्ति द्वारा गङ्गा पद का वाचक होता है। अभिधाजन्य बोध प्राप्ति न होनेसे अन्वयाभावरूप लक्षणा का कारण सङ्घटित नहीं होता है। अभिधा प्राप्ति के पश्चात् उक्त शब्द लक्षणा को आश्रय करके तट पदार्थ को बोध कराता है। अनन्तर लक्षणा समाप्त होने से व्यञ्जना को आश्रय करके शैत्य पावनत्वादिरूप उक्त वृत्ति अङ्गीकार का प्रयोजन होता है।

सव्यङ्ग्यत्व एवं अव्यङ्ग्यत्वरूप में लक्षणा का भेद निरूपित होने पर भी सव्यङ्ग्य लक्षणा ही जननी है ॥३०॥

समाप्तितः— अभिधादिजन्य बोध समाप्ति के अनन्तर ध्वननादि ध्वन्यर्थ बोध का आदि कारण जो व्यापार वृत्तिविशेष है, उसी को शब्द की व्यञ्जना वृत्ति कहते हैं। तत् पद कहीं पर उद्देश्यलिङ्ग होता है, कहीं पर विधेयलिङ्ग होता है। इस नियमसे यहाँ विधेयलिङ्ग का ग्रहण होने से 'सा' स्त्रीलिङ्ग प्रयोग हुआ है। अन्यथेति। लक्षणा स्थल में प्रथम— अभिधा जन्य बोध स्वीकार न करने पर अन्वयाभाव रूप लक्षणा का बीज उपलब्ध नहीं होगा। प्रथम— अभिधा के द्वारा गङ्गा पदार्थ में घोष पदार्थ का अन्वय अनुपपत्ति ज्ञान से ही लक्षणा की प्रवृत्ति होती है। अतः अभिधा के अभाव से लक्षणा ही नहीं होगी। सारार्थ यह है।

(काव्यप्रकाशे द्वितीयोल्लासे २८, २९)—

"प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न लक्षयेत् ।
ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ॥"

इत्युक्तेः "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः" इत्युक्तेश्चाभिधालक्षणयोरुपक्षीणत्वात्,

---

अत्र समाधानमाह—प्रयोजनेन शैत्यपावनत्वादिना सहितं लक्षणीयं तीरं न लक्षयेत्, न लक्षणाजन्य बोधविषयो भवेत् । अभिधाया निवृत्यनन्तरमन्वयानुपपत्तिज्ञानाद् यथा लक्षणायाः प्रवृत्तिस्तथा लक्षणाया निवृत्यनन्तरमहो अनेन विशेषदर्शिना गङ्गातीरे घोष इत्यनुक्त्वा गङ्गायां घोष इति प्रयोगः कथं कृतः ? तस्माल्लक्षणाव्यङ्ग्यं शैत्यपावनत्वादिकमेतदभिप्रेतं भविष्यतीति परामर्शात् व्यञ्जनावृत्त्या शैत्य-पावनत्वादिबोधो भवति । ननु एकस्मिन्नेव क्षणे लक्षणया शैत्य पावनत्वादिविशिष्टतीरबोधः सर्वेषामनुभव प्रसिद्ध इति भावः ।

अत्रार्थे प्राचीनानां सम्मतिमाह—ज्ञानस्येति । अभिधालक्षणाजन्यज्ञानविषयः प्रवाहतीरादिः, अन्यो व्यञ्जनार्थभिन्नफलं व्यङ्ग्यार्थशैत्यपावनत्वादिबोधो अभिधालक्षणयोरविषयः, उदाहृतं प्राचीनैरिति शेषः ।

व्यञ्जना के द्वारा जिस प्रकार बोध होता है, उस प्रकार अर्थबोध लक्षणा के द्वारा जब होता है, तब स्वतन्त्ररूप से व्यञ्जना वृत्ति को मानना निष्प्रयोजन है । समाधान हेतु कहते हैं—लक्षणा दो प्रकार हैं, व्यङ्ग्यसहिता एवं व्यङ्ग्यरहिता । उसमें व्यङ्ग्यसहिता लक्षणा ही व्यञ्जना जननी है । अर्थात् व्यञ्जनावृत्तिजन्य ज्ञानोत्पादिका है—यह पूर्वपक्ष है ।।३०।।

प्रयोजन के सहित तीरादि लक्षणीय को कहने में सक्षम नहीं होता है । कारण, अभिधा लक्षणादि जन्य ज्ञानका विषय प्रवाह, तीरादि एक रूप पदार्थ है । व्यङ्ग्यार्थ स्वरूप शैत्य-पावनत्व फलादि अन्य एकरूप पदार्थ है । एवं अभिधा लक्षणा द्वारा वाचनिक लाक्षणिक शब्दादि का विराम, अर्थात् शाब्दबोध समाप्ति के पश्चात् व्यापाराभाव होता है, अर्थात् पुनर्वार उस उस वृत्ति के द्वारा अर्थान्तर बोधके सामर्थ्य का अभाव होता है । ये सब प्राचीन उक्ति हेतु अभिधा एवं लक्षणा का निज निज अर्थ बोधन के अनन्तर उपक्षीणत्व स्वीकृत होता है । एवं आकाङ्क्षा, योग्यता, एवं आसक्तियुक्त पदसमूह ही वाक्य है, एवं तादृश वाक्यार्थ तात्पर्यार्थ सिद्ध होने से जहाँ वाक्य व्यतीत भी एक पद का पदांश का व्यञ्जकत्व हेतु ध्वनि काव्यत्व अङ्गीकृत होता है, वहाँ उक्त पद का पदांश में तात्पर्य वृत्ति का अनादर हेतु—अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य से भिन्ना व्यञ्जना नामिका चतुर्थ एक वृत्ति का स्वातन्त्र्य अवश्य स्वीकार करना होगा ।।३१।।

समाधान हेतु कहते हैं—शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजन के सहित लक्षणीय तीर की लक्षणा नहीं होगी । अर्थात् लक्षणा जन्य बोध विषय नहीं होगा । अभिधा निवृत्ति के अनन्तर अन्वयानुपपत्ति ज्ञान से जिस प्रकार लक्षणा की प्रवृत्ति होती है, उस प्रकार लक्षणा की निवृत्ति के अनन्तर अहो विज्ञ व्यक्तिने 'गङ्गा तीर में घोष है', इस प्रकार न कहकर 'गङ्गा में घोष है' ऐसा क्यों कहा ? इस हेतु 'लक्षणा व्यङ्ग्य शैत्य-पावनत्वादि इसका अभिप्रेत है, इस प्रकार विचार से शैत्य-पावनत्वादि बोध होगा । किन्तु एक समय में ही लक्षणा के द्वारा शैत्य-पावनत्वादि विशिष्ट तीर का बोध होना—अनुभव प्रसिद्ध नहीं है ।

आकाङ्क्षादिमत् पदकदम्बस्य वाक्यत्वे वाक्यार्थस्यैव तात्पर्य्यार्थत्वे वाक्यं विनापि एकस्य च पदस्य पदांशस्यापि व्यञ्जकत्वेन ध्वनिकाव्यत्वाङ्गीकृते स्तात्पर्य्यार्थस्याप्यनादराद्व्यञ्जनानाम तुरीयावृत्तिरङ्गीकार्य्यैव ॥३१॥

ननु गङ्गायां घोष इत्यत्राभिधालक्षणाभ्यां प्रवाहतीरबोधानन्तरं गङ्गापदात् पुनर्लक्षणयैव शैत्यपावनत्वादि बोधो भवतु, किं व्यञ्जनास्वीकारेणेत्यतः प्राचीनानां वचनान्तरमाह—शब्दबुद्धीति। वाचनिक-लाक्षणिकशब्दादीनां विरम्य अभिधया वा सकृच्छाब्दबोधमुत्पाद्येत्यर्थः। व्यापाराभावः पुनरपि लक्षणया अभिधया वार्थान्तरबोधे सामर्थ्याभावः, किन्तु स्वतन्त्रव्यञ्जनावृत्त्या अर्थान्तरबोधे सामर्थ्यमस्तीति भावः। तथा च यादृशवृत्त्या सकृच्छाब्दबोधो जातस्तादृशवृत्त्या पुनस्तत्पदजन्यशाब्दबोधो नोत्पद्यत इति सिद्धान्तः। उपक्षीणत्वात् शैत्यपावनत्वादिबोधेऽप्रयोजकत्वादित्यर्थः।

ननु लक्षणायातिरिक्ता या तात्पर्य्यवृत्तिस्तयैव शैत्यपावनत्वादिबोधो भवतु, कथं व्यञ्जनायाः स्वतन्त्रवृत्तित्वं स्वीकर्त्तव्यम्? तत्राह—आकाङ्क्षेति। आकाङ्क्षायोग्यतासत्तियुक्तपदसमूहात्मकत्वं वाक्यम्। तादृशवाक्यार्थमेव तात्पर्य्यार्थत्वम्। अतस्तादृशवाक्यार्थस्यैव तात्पर्य्यार्थत्वे सिद्धे यत्रैकपदस्य पदांशस्य ध्वन्यर्थबोधकत्वम्, तत्रैकपदस्य तात्पर्य्यवृत्तेरसम्भवाद् व्यञ्जनायाः स्वतन्त्रवृत्तित्वं स्वीकरणीयमित्यर्थः। तुरीयेति—अभिधालक्षणातात्पर्य्यातिरिक्ता चतुर्थीवृत्तिर्व्यञ्जना नाम्नी स्वीकार्य्यैवेत्यर्थः।

इस विषय में प्राचीन सम्मति को कहते हैं—ज्ञानस्येति। अभिधा लक्षणा जन्य ज्ञान विषय—प्रवाह तीरादि हैं। अन्य व्यङ्ग्यार्थ, भिन्न फल है। व्यङ्ग्यार्थ, शैत्य-पावनत्वादि बोध—अभिधा लक्षणा का विषय नहीं है। प्राचीन पण्डितों का कथन इस प्रकार है।

'गङ्गायां घोषः' यहाँ अभिधालक्षणा के द्वारा प्रवाह तीर बोध के अनन्तर, गङ्गा पद से पुनर्वार लक्षणा के द्वारा ही शैत्य-पावनत्वादि बोध हो, व्यञ्जना स्वीकार करने की आवश्यकता क्या है? प्राचीन-व्यक्तियों का इस प्रकार कथन को कहते हैं—शब्दबुद्धीति। वाचनिक-लाक्षणिक शब्द प्रभृति एक बार शाब्दबोध उत्पन्न करके विरत हो जाते हैं, अर्थात् पुनर्वार लक्षणा अभिधा के द्वारा अर्थबोध नहीं होता है, अर्थात् सामर्थ्य नहीं रहती है। किन्तु स्वतन्त्र व्यञ्जनावृत्ति को सामर्थ्य अर्थान्तर बोध में है। अतएव जिस वृत्ति के द्वारा एकबार शाब्दबोध होता है, उसके द्वारा पुनर्वार शाब्दबोध उत्पन्न नहीं होता है, इस प्रकार सिद्धान्त है। उपक्षीणत्वात्—अर्थात् शैत्य-पावनत्वादि बोध के प्रति कारण नहीं है।

लक्षणा के अतिरिक्त जो तात्पर्य वृत्ति है, उससे शैत्य-पावनत्वादि बोध हो, व्यञ्जना का स्वतन्त्र वृत्तित्व मानने की आवश्यकता क्या है? उत्तर में कहते हैं—आकाङ्क्षेति। आकाङ्क्षा योग्यतासत्ति युक्त पद समूहात्मक वाक्यत्व है। उस प्रकार वाक्यार्थत्व ही तात्पर्य्यत्व है। अतः तादृश वाक्यार्थ का ही तात्पर्य्यार्थत्व सिद्ध होने पर जहाँ एक पद का पदांश का वा ध्वन्यर्थ बोधकत्व है, वहाँ पद की तात्पर्य्यवृत्ति असम्भव होने के कारण व्यञ्जना का स्वतन्त्रवृत्तित्व स्वीकार करना कर्त्तव्य है। तुरीयेति—अभिधा लक्षणा तात्पर्य्य से अतिरिक्ता वृत्ति व्यञ्जना नामिका स्वीकार्य है। अनन्तर जहाँ एकपद को ही ध्वनि के द्वारा ध्वनि का व्यवहार होता है, वहाँ एकपदमें तात्पर्य्य होना असम्भव के कारण व्यञ्जना वृत्ति स्वीकार्य है। इसका कथन पूर्वमें हुआ है ॥३१॥

तथा हि—भणिओ वल्लअवइणा, अज्जसुत्तमहुपुरीं गन्ता ।

इअ भणिअं अज्जात्र, पिअइ बहूसवणपुडएण ॥

(भणितो वल्लवपतिना अद्य सुतो मधुपुरीं गन्ता ।

इति भणितमार्य्यया पिबति बधूः श्रवणपुटकेन ॥)

इत्यत्र पिबतीति पदं लाक्षणिकम्, तेन गृहशून्यत्वमस्या अभिलषितमित्यस्यार्थस्य व्यञ्जकत्वात् पुनर्व्यञ्जनां वृत्तिमाश्रित्य व्यञ्जकं भवति ।

ये तु 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घोऽभिधाव्यापारः ।' इत्यधिवदन्ति, त एवं प्रष्टव्याः— किं व्यञ्जनाया किं भवद्भिरभिधाया दीर्घदीर्घव्यापारत्वेन लक्षणाव्यञ्जनयोरेव खण्डनं क्रियते, किं व्यञ्जनाया एव ? आद्यश्चेत्तदा 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गङ्गायामित्यत्रान्वयायोगात् मुख्यार्थबाधेऽभिधैव नास्ति, तदभावात् कथं तस्या दीर्घदीर्घत्वम्, येन तटो लक्षणीयः ? द्वितीयश्चेत्तदा

अथ यत्रैकपदस्यैव ध्वनिना ध्वनिकाव्यमिति व्यवहारस्तत्रैकपदस्य तात्पर्यासम्भवाद् व्यञ्जनावृत्ति स्वीकार्येति पूर्वमुक्तम् ॥३१॥

तत्रोदाहरणमाह—तथा हीति । "भणितो वल्लभपतिना अद्य सुतो मधुपुरीं गन्ता ।

इति भणित आर्यया पिबति बधूः श्रवणपुटकेन ॥"

वल्लवपतिना व्रजराजेन, आर्यया जटिलया, पिबतीति—पिबति शब्दस्य पानासम्भवात् पिबति पदं सादरश्रवणे लाक्षणिकम् । तेन लाक्षणिकपदप्रयोगेन अस्या बध्वा गृहशून्यत्वम्, गृहे पतिराहित्य-मभिलषितमिति निश्चितम् । एतादृश गृहशून्यत्वरूपार्थस्य पुनर्व्यञ्जनावृत्तिमाश्रित्य व्यञ्जकं पिबतीति लाक्षणिकपदमेव भवति ।

अथ—अन्विताभिधानवादिनां मते अपदार्थानां शाब्दबोधे सर्वथा भानं नास्ति । तन्मते विशेषण-विशेष्ययोः शाब्दबोधे सम्बन्धभानार्थं विशेषणान्वित एव विशेष्ये विशेष्यपदस्याभिधा स्वीकरणीया, विशेषणादिपदं केवलं तात्पर्यमात्रग्राहकम् । एवं सति विशेषणान्विते अभिधेय लक्ष्यार्थव्यङ्ग्यार्थान्वितेऽपि

वल्लवपति के निर्देशानुसार अद्य मेरा पुत्र मधुपुरी को जायेगा, आर्या जटिला का इस वाक्य को गोपबधू श्रवणाञ्जलि से पान कर रही है ।

यहाँ आदरातिशय से श्रवण कर रही है, इस अर्थमें पान कर रही है, यह पद लाक्षणिक है, एवं व्यञ्जना वृत्ति को आश्रय करके उक्त पद 'गृहशून्यता इसकी अभिलषणीय है' इस अर्थ का व्यञ्जक है ।

कतिपय व्यक्ति कहते हैं—अभिधाव्यापार—शर के वेगाख्य संस्कार जात व्यापार के समान अति दीर्घतर है । अर्थात् अभिधा की निज सामर्थ्य ही इस प्रकार है कि—उससे उसका व्यञ्जनारूप दीर्घतर व्यापार स्वीकार करना कर्त्तव्य है ।

उन सबको जिज्ञास्य यह है कि—अभिधा का दीर्घ वीर्घ व्यापारत्व हेतु आप सब लक्षणा व्यञ्जना को स्वीकार नहीं करते हैं, अथवा केवल व्यञ्जना को अस्वीकार करते हैं ? यदि प्रथमपक्ष अभिमत होता है तो—'गङ्गा में घोष निवास करता है' यहाँ गङ्गा पदार्थ के अन्वय के अयोग्यता हेतु जब मुख्यार्थ

'पिअ इ बहु सवण पुडएण' इत्यत्र वचनस्य पेयत्वरूपमुख्यार्थबाधे लाक्षणिकतया लक्षणया सादरश्रवणरूपं लक्ष्यमर्थं जनयित्वा पिबतीति शब्द उपक्षीणः। गृहशून्यत्वमस्या अभीष्टमित्यपरोऽर्थः केन प्रत्याय्यताम् ? उपक्षीणत्वे तु शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाववादिन एव साधकाः।

नन्विदमनुमानेनैव साधनीयम्, किं व्यञ्जनया ? तथाहि—'इअ भणिअं अज्जाएँ पिअइ बहूसवणपुडएण' इत्यत्र इयं गोपवधूः पत्युर्गृहान्तरितत्वाभिकाङ्क्षिणी श्वश्रूक्तगृहपतिप्रवासे श्रवणे साभिलाषत्वात्। या नैवं सा नैवं यथा तदितरेति केवलव्यतिरेकीहेतुरिति चेन्न साभिलाषत्वहेतोः प्रमाणान्तरादप्राप्तेरसिद्धत्वम्, अनुमानान्तरात्तत्प्राप्तौ प्रसाध्याङ्गत्वञ्च।

विशेष्यपदस्याभिधा वक्तव्या। अलं लक्षणाव्यञ्जनारूपस्वतन्त्रवृत्तिद्वयस्वीकारेण'। एतन्मतं दूषयितुमुपन्यस्यति—येत्विति। इषोर्बाणस्य वेगाख्यसंस्कारवशाद् दीर्घदीर्घक्रियारूपव्यापार इव अभिधाया अपि स्वसामर्थ्यवशात् सोऽयं लक्षणा-व्यञ्जनारूपदीर्घदीर्घव्यापारः स्वीकर्त्तव्य इति येऽभिदधति—वदन्ति, त एव प्रष्टव्याः।

आद्यश्चेति, गङ्गाघोषयोः सम्बन्धभानार्थं घोषान्विते प्रवाहे गङ्गापदस्याभिधा वाच्या, तत्र गङ्गायां घोषस्यान्वयासम्भवात् मुख्यार्थबाधेनाभिधैव नास्ति, कुतो लक्ष्यार्थव्यङ्ग्यार्थयोर्भानार्थमभिधाया दीर्घदीर्घव्यापारस्य सम्भावनापि ?

ननु गङ्गायां घोषस्यान्वियासम्भवाल्लक्षणायाः स्वतन्त्रवृत्तित्वमस्तु, व्यङ्ग्यार्थेष्वनुपपत्त्यभावात् व्यञ्जनायाः स्वतन्त्रवृत्तित्वं स्वीकरणीयमिति द्वितीयपक्षस्यार्थः, तमपि दूषयति—द्वितीय इति।

की बाधा हो रही है, सुतरां अभिधा का अस्तित्व ही नहीं रहता है। तब कैसे उसका दीर्घ दीर्घ व्यापार स्वीकार किया जा सकता है, जिससे तट पदार्थ लक्षित हो सकता है ?

यदि द्वितीय पक्ष अभिप्रेत होता है तो—'गोपवधू श्रवणाञ्जलि द्वारा पान कर रही है', इस वाक्य में पेयत्वरूप मुख्यार्थ को बाधा होने पर लाक्षणिकता हेतु लक्षणा द्वारा सादर श्रवणरूप लक्ष्य अर्थबोध करा कर जब 'पान कर रही है' यह क्रिया उपक्षीण हो गई, तब 'गृहशून्यता इसकी अभिलषणीय है' इस प्रकार अर्थबोध किस उपाय से हो सकता है ? कारण—पूर्वाचार्यवृन्द के मत में शब्दसमूह निज निज अर्थबोध कराकर उपक्षीण होते हैं।

अभिधा, लक्षणा द्वारा वाचनिक लाक्षणिक शब्दार्थका शाब्दबोध समाप्ति के पश्चात् व्यापाराभाव होता है। अर्थात् पुनर्वार उक्त वृत्ति के द्वारा अर्थान्तर बोधन सामर्थ्य का अभाव होता है।

कह सकते हैं कि—अनुमान के द्वारा उक्त अर्थ का समाधान करेंगे, व्यञ्जना वृत्ति स्वीकार का प्रयोजन क्या है ? 'आर्या जटिला का वाक्य को गोपवधू श्रवणाञ्जलि से पान कर रही है' यहाँ गोपवधू—पति का गृहान्तरितत्व की अभिलाषिणी है, कारण—वह श्वश्रू कथित पति प्रवास श्रवण में अभिलाषिणी है। जो वधू, पति का गृहान्तरितत्व की काङ्क्षिणी नहीं है, वह कभी भी श्वश्रू कथित पति प्रवास श्रवण में अभिलाषिणी नहीं होती है।—जिस प्रकार कृष्णानुरागिणी भिन्न नारी है, अर्थात्

किञ्च, पत्युर्गृहान्तरितत्वाभिकाङ्क्षित्वमेवास्या न साध्यम्, अपि तु गृहशून्यत्वे सति कृष्णोऽत्राभिसार्य इति वस्त्वेव। 'तत् कुतो लभ्यताम्' पुनरनुमानान्तरं कार्यम्—तथाहि इयं स्वगृहाधिकरणककृष्णाभिसारकाङ्क्षिणी, श्वश्रूक्तपतिप्रवाससादरश्रवणे सति पत्युर्गृहान्तरितत्वं प्रति साभिलाषत्वादिति चेन्न, गृहशून्यत्वे साभिलाषत्वं हेतुः, कृष्णाभिसाराकाङ्क्षित्वं साध्यं प्रति व्यभिचारिकः, तदन्यथाऽपि तत् सम्भवात्। प्रकरणवशादिति चेत्, पूर्ववद्दोषप्रसक्तिः ॥३२॥

ननु पिबतीति पदमेव लक्षणया सादरश्रवणमुक्त्वा पुनर्लक्षणया गृहशून्यत्वरूपं व्यङ्ग्यार्थं कथयिष्यतीत्यत आह—उपक्षीणत्वे त्विति। पुनर्लक्षणाया अर्थान्तरबोधस्यासामर्थ्ये त्वित्यर्थः।

नन्विति। इदं गृहं विहाय पत्युरन्यत्रगमनमस्या अभिलषणीयमनुमानेनैव साधनीयम्। अनुमानप्रकारमाह—तथाहीति। इति भणितमार्य्यया। पिबति बधूः श्रवणपुटकेनेत्यत्र इयं गोपबधूरिति पक्षोद्देशः, पत्युर्गृहान्तरितत्वं गृहव्यवधानं गृहादन्यत्रगमनमिति यावत्। तथा च पत्युर्गृहत्यागपूर्वकान्यत्र गमनाभिलाषिणीत्वं साध्यमिति भावः श्वश्रूक्तगृहपतिप्रवासश्रवणे साभिलाषत्वादिति हेतुप्रयोगः।

अत्रान्वये दृष्टान्ताभावेनान्वयसहचरज्ञानजन्यान्वयव्याप्तिज्ञानासम्भवादतो व्यतिरेकसहचरज्ञानजन्य व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानमाह—या नैवमिति या बधूः पत्युर्गृहान्तरितत्वाकाङ्क्षिणी न भवति, तथा च साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वरूपव्यतिरेकव्याप्तिज्ञानमेव हेतुरिति भावः। तत्र दृष्टान्त यथेति।

पतिप्रेमानुरागवती नारी जिस प्रकार उस प्रकार दृशापन्ना नहीं होती है, उस प्रकार है। इस प्रकार केवल व्यतिरेकी हेतु के द्वारा अनुमान की विलक्षण सिद्धि होती है। किन्तु विचार करने से—यहाँ साभिलाषत्वरूप हेतु की असिद्धि होती है। कारण—अपर किसी प्रमाण द्वारा उसकी प्राप्ति नहीं होती है। अनुमानान्तर के द्वारा उक्त अभिलाषरूप ज्ञान की प्राप्ति होती है—कहने से प्रसाध्याङ्ग नामक दोष की प्रसक्ति होती है। कारण, प्राकृत अनुमान स्थलमें जो साभिलाषत्वरूप हेतु का अङ्गत्व स्वीकार करते हैं, अपर एक अनुमान के द्वारा उक्त हेतु का हेतुत्व सिद्ध करना पड़ेगा।

और भी—पति का गृहान्तरितत्वाकाङ्क्षित्व ही यहाँ साध्य है, ऐसा भी नहीं। गृहशून्य होने पर श्रीकृष्ण कहाँ अभिसारित होंगे, यही साध्य है। किन्तु उक्त तात्पर्यलाभ हेतु पुनर्वार अपर एक अनुमान करना होगा। जिस प्रकार—यह बधू, स्वगृहे कृष्णाभिसारे आकाङ्क्षिणी है, कारण—श्वश्रू कथित पति का प्रवास संवाद को आदरपूर्वक सुनकर यह तदीय गृहान्तरित्व विषय में साभिलाष भाव को प्रकाश करती रहती है। किन्तु, यह भी निर्दोष नहीं है। कारण, कृष्णाभिसार विषय में साकाङ्क्षत्वरूप साध्यत्व के प्रति गृहशून्यता विषयमें साभिलाषत्वरूप हेतु अव्यभिचारी नहीं है। श्रीकृष्णाभिसार में आकाङ्क्षा न होने पर भी पति के प्रति विद्वेष हेतु तदीय प्रवासमें बधू का साभिलाषत्व की सम्भावना है।

कह सकते हैं कि—गोपीविषयक प्रकरण हेतु यहाँ हेतु की व्यभिचार शङ्का नहीं की जा सकती है। यह भी मनोरम नहीं है। कारण, इस हेतु के हेतुत्व सिद्धि निमित्त हेतुत्व का घटक कृष्णानुरागित्वादि का ज्ञानार्थ पुनर्वार अनुमानान्तर को स्वीकार करने से पूर्वोक्त प्रसाध्याङ्गत्वरूप दोष हो सकता है। अर्थात् अनवस्था दोष प्रसङ्ग होगा॥२३॥

किञ्च, – हिअअं च्चेअ अणच्छं माणं सिणि ण उणमदे अंगं ।
आलिंगन्ति पआणं, णहरा पड़िविविअं कण्हं ।।

(हृदयं चैवानच्छं, मनस्विनि न पुनस्तेऽङ्गम् ।
आलिङ्गन्ति पदानां, नखराः प्रतिबिम्बितं कृष्णम् ।।)

इत्यत्रास्याः पादनखरा इति मानेनावृतसर्वाङ्गत्वं निमीलितनयनत्वञ्च, अन्यथा चरणोपान्तगतस्य कृष्णस्य दर्शनासहिष्णुतोपपत्तेः । पश्चात् सखीवचसा सम्भ्रमं पदसम्बरणञ्च, तदनु च मानस्य शैथिल्यम्, कृष्णस्य च प्रणयज-विनयमाहात्म्याच्चरणान्तिकमागतस्यापि

तदितरा कृष्णानुरागिणी या वधूस्तद्भिन्ना पतिविषयकानुरागवतीत्यर्थः । केवलेति—केवलव्यतिरेकव्याप्तिविशिष्टो हेतुरिति भावः । अत्रानुमाने हेत्वसिद्धिरूपदोषमाह—नेति । न च लक्षणया सादरश्रवणस्य बोधे सति स्वयमेव पत्युः प्रवासेऽभिलाषस्यापि बोधो भविष्यति, कथं साभिलाषत्वरूपहेतुज्ञानस्यासिद्धिरिति वाच्यम्, अनभिलषितवस्तुनोऽपि सादरश्रवण-सम्भवात् । यथा केनचिदुक्तस्य 'अद्य एव ग्रामं राजा धक्ष्यति' इति वचनस्य ग्रामदाहेऽभिलाषाभाववत् पुरुषकर्तृकसादरश्रवणमनुभवसिद्धम्, तद्वदत्रापि पत्युः प्रवासेऽभिलाषाभावेऽपि तस्याः सादरश्रवणसम्भवात् ।

ननु व्यभिचाराभावसाधक-नानाविशेषणविशिष्टहेत्वन्तरेण साभिलाषत्वस्यानुमानं कार्यम्, तदा तु न दोष इत्याह—अनुमानान्तराविति । तस्य साभिलाषत्वरूपज्ञानस्य प्राप्तौ प्रसाध्याङ्गत्वं प्रसाध्याङ्गत्वरूपदोषस्य प्रसङ्ग इत्यर्थः । अनुमानान्तरेण साभिलाषत्वरूपहेतुं प्रसाध्य तस्य हेतोः प्रकृतानुमानेऽङ्गत्वमेव दोषः । तथाहि—साभिलाषत्व साधकस्याव्यभिचारिहेतोर्ज्ञानार्थं पुनरप्यनुमानान्तरं कार्यमिति रीत्या अनवस्थाप्रसङ्गात् ।।३२।।

व्यञ्जनावृत्तेरस्वीकारे दोषान्तरमप्याह—किञ्चेति । अनुमानप्रकारमाह—तथाहीति । इयं वधूरिति पक्षः । स्व-गृहाधिकरणककृष्णाभिसारकाङ्क्षित्वं साध्यम्, श्रुते पतिप्रवासे सादरश्रवणसमानकालीनपतिप्रवासविषयकाभिलाषवत्त्वरूपहेतुसाध्यसाध्यं प्रति नैकान्तिकः नाव्यभिचारी । व्यभिचारमेव स्पष्टयति—तदिति । कस्याश्चित् श्रीकृष्णाभिसारे आकाङ्क्षाया अभावेऽपि पतिं प्रति द्वेषादेव पतिप्रवासेऽभिलाषसम्भवात् ।

किञ्च, अयि मनस्विनि ! तुम्हारा हृदय ही अनच्छ है, अर्थात् रोषावेश में कलुषित है, किन्तु अङ्ग उस प्रकार अनच्छ नहीं है,- देखो, तुम्हारे चरण-नखर, प्रतिबिम्बित श्रीकृष्ण को आलिङ्गन कर रहा है।

यहाँ मानिनी श्रीराधा का चरणनखर इस प्रकार निर्देश होने के कारण, अभिमान हेतु नखरातिरिक्त तदीय अन्यान्य अङ्ग आवृत है, इस प्रतीति होता है। उनका नयनत्व भी उस प्रकार प्रतीत होता है। कारण, नयन उन्मीलित होने पर चरणसमीप में समागत श्रीकृष्ण का दर्शन कर उनकी असहिष्णुता होती। अर्थात् श्रीकृष्ण को चरण प्रान्तमें पतनोद्यत निरीक्षण कर वह स्थानान्तर को चली जाती। इस प्रकार सखी वचन के अनुसार सम्भ्रम के सहित राधिका कर्त्तृक चरण सम्बरण, अनन्तर मान का शैथिल्य, प्रणय हेतु विनय के कारण श्रीराधिका के चरण समीपमें समागत होने पर भी

तत्स्पर्शाक्षमत्वम्, सख्याश्च कृष्णपक्षपातित्वम्, स्व सखीमानक्षये साग्रहत्वञ्चेत्यादीनि वस्तूनि एकयैव व्यञ्जनया गम्यन्ते । भवद्भिरत्र कत्यनुमानप्रयोगाः कर्त्तव्याः? तेन लाघवाद् व्यञ्जना एव श्रेयसीति स्थितम् ॥३३॥

अर्थोऽपि व्यञ्जको ज्ञेयः;

अथ इति जात्यपेक्षया वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्यास्त्रय एवार्था गृह्यन्ते ॥३४॥

ननु गोपीनां प्रकरणवशाद्धेतौ कृष्णरामणीत्वं विशेषणं देयमित्यतोऽन्यस्त्रियां तदभावाद्रेव न व्यभिचार इत्याह—प्रकरणेति । पूर्ववदिति—हेतु घटकस्य कृष्णानुरागिणीत्वस्य पतिप्रवासे साभिलाषत्वादेर्ज्ञानार्थं पुनरप्यनुमानान्तरस्वीकारेण पूर्ववत् प्रसज्यङ्गत्वरूपदोषापत्तिरित्यर्थः ।

व्यञ्जनावृत्तेरस्वीकारमते पुनरपि दोषान्तरमाह—किञ्चेति । मानिनीं श्रीराधिकां प्रति श्रीकृष्णपक्षपातिनी काचित् सखी आह—हिअअमिति । 'हृदयमेवानच्छं मनस्विनि न पुनस्तेऽङ्गम् ।
आलिङ्गन्ति पदानां नखराः प्रतिबिम्बितं कृष्णम् ।'

हे मनस्विनि मानिनि ! नखरा इति पदेन नखरेष्वेव प्रतिबिम्बितम्, नत्वङ्गेषु । इदं त्वन्याङ्गानामावरणे एव सम्भवतीत्याह—मानेनावृतसर्वाङ्गत्वमिति । अन्यथा नयनस्यामीलने प्रणामार्थं चरणोपान्तगतस्य कृष्णस्य दर्शनेन सद्यः श्रीकृष्णस्य सम्मुखस्थितावसहिष्णुत्वोपपत्तेरसहिष्णुता स्यादित्यर्थः । तथा च—श्रीकृष्णस्य प्रणामोद्यममलक्ष्यैव तत उत्थायान्यत्र गमनं प्रसज्जेतेति भावः । कृष्णस्य चेति—विनयवशात् चरणनिकटं प्राप्तस्यापि कृष्णस्य मानभङ्गं विना चरणस्य स्पर्शाक्षमत्वं प्रतिबिम्बितमालिङ्गन्तीति पदेन मानक्षये साग्रहत्वम्, साग्रहेण सह वर्त्तमानत्वम् ॥३३॥

अर्थ इति—तथा च यथा पदस्य व्यञ्जनावृत्तिरुक्ता, तथापदजन्यार्थस्यापि व्यञ्जनावृत्तिर्वक्तव्या । एवं वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्यार्थानां व्यञ्जनावृत्तिः सम्भवतीत्यर्थः । ननु अर्थोऽपीत्येकवचनं न सम्भवतीत्यत आह—जात्यपेक्षयेति । वस्तुतस्त्रय एवार्था इति बहुवचनमेव ॥३४॥

मानभञ्जन व्यतीत श्रीकृष्ण—चरण स्पर्श करने में अक्षम होते थे । सखी श्रीकृष्ण पक्षपातित्व एवं स्वसखी का मानक्षय हेतु आग्रहशीलत्व, ये सब पदार्थ—एक व्यञ्जना वृत्ति द्वारा उपलब्ध होते हैं । अनुमानवादिगण के पक्षमें यहाँ विविध अनुमान प्रयोग करना ही होता है । अतएव लाघवता निबन्धन व्यञ्जनावृत्ति को स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है ॥३३॥

पद के समान अर्थ को भी व्यञ्जक जानना चाहिये । यहाँ सामान्य धर्मो को आश्रय कर 'अर्थ' इस प्रकार एक वचनान्त पद का प्रयोग हुआ है । सारार्थ यह हैकि—वाच्य, लक्ष्य एवं व्यङ्ग्य ये तीन प्रकार अर्थ की ही व्यञ्जनावृत्ति स्वीकृत हुई है ।

जिस प्रकार पद की व्यञ्जनावृत्ति कही गई है, उस प्रकार पदजन्य अर्थ का भी व्यञ्जनावृत्ति माननी चाहिये । एवं वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जनावृत्ति सम्भव है । अर्थोऽपि—यहाँ एक वचन का प्रयोग सम्भव नहीं है ? कहते हैं—जाति को लक्ष्य कर प्रयोग सम्भव है । वस्तुतः 'त्रय एव अर्था' इस प्रकार बहु वचन ही है ॥३४॥

क्रमेणोदाहरणानि—अज्जे घरकरणिज्जं, सव्वं णित्वाहिदं जेव्व।

एण्हिं समसमणत्थं, जउणाइं सिणाणमविसदु ॥

'आर्य्ये! गृहकरणीयं सर्वं निर्वाहितमिव। इदानीं श्रमशमनार्थं यमुनायां स्नानमादिशतु' अत्र निश्चिन्ताहं यमुनास्नानच्छलेन तत्तटे खेलन्तं कृष्णमवलोक्य तत्रैव विश्रमणं करोमिति वाच्यार्थेनैव व्यज्यते। लक्ष्यस्य यथा—'भणिओ वल्लअवइणा' इत्यादौ 'पिअइ बहू सवणपुडएण' इत्यत्र च श्वश्रूक्तपतिप्रवाससादराकर्णनं लक्ष्यम्, तेन स्वगृहशून्यत्वे सति श्रीकृष्णोऽत्राभिसार्य्य इति व्यङ्ग्यम् ॥३५॥

व्यङ्ग्यस्य यथा—इध वृन्दावनमज्झे, णीसंकणिसुत्तमोरमिअणिअरो।

अलिमेत्तभुत्तकुसुमो, रमणिज्जो जामुणो कुञ्जो ॥

(इह वृन्दावनमध्ये, निःशङ्कनिसुप्तमयूरमृगनिकरः।

अलिमात्रभुक्तकुसुमो, रमणीयो यामुनकुञ्जः ॥)

अत्र निर्जनत्वं व्यङ्ग्यम्, तेन समुचितमिदमेव सङ्केतस्थानम्। हे सखि! तदत्रैव कृष्णः सङ्गमनीय इति व्यङ्ग्यान्तरम् ॥३६॥

अज्जेति—'आर्य्ये, गृहकरणीयं सर्वं निर्वाहितमेव।

इदानीं श्रमशमनार्थं यमुनायां स्नानं समादिश्यताम् ॥' वाच्यार्थेनैवेति—अत्र श्लोके पदस्य व्यञ्जनावृत्तेरभावान्न निश्चिन्ताहमित्यादिव्यङ्ग्यार्थो वाच्यार्थस्यैव भवति, नतु पदस्येत्यर्थः, लक्ष्यस्येति—भणितो वल्लवपतिनेत्यादौ, पिबति बधूः श्रवणपुटकेनेत्यत्र सादरश्रवणं लक्ष्यार्थः, तेन लक्ष्यार्थेन व्यञ्जनावृत्त्या स्वगृहशून्यत्वादिव्यङ्ग्यार्थो ज्ञेयः ॥३५॥

इध इति—'इह वृन्दावनमध्ये निःशङ्कनिसुप्तमयूरमृगनिकरः।

अलिमात्रभुक्तकुसुमो रमणीयो यामुनः कुञ्जः ॥' तेन व्यङ्ग्यार्थेन समुचितमित्यादि व्यङ्ग्यार्थान्तरं बोध्यम् ॥३६॥

क्रमशः उदाहरण प्रदर्शित होता है। 'आर्य्ये', गृह कार्य तो सम्पन्न हुआ है, अधुना आदेश करें, यमुना में जाकर स्नान के द्वारा श्रमापनोदन करूँ।

इस श्लोक में 'सम्प्रति मैं निश्चिन्त होकर यमुना स्नानच्छल से तदीय तट में क्रीड़ाशील श्रीकृष्ण को अवलोकन कर उस स्थान में ही विश्राम करूँगी' इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ—वाच्यार्थ द्वारा ही उपलब्ध हो रहा है। लक्ष्यार्थ पूर्व श्लोक में है—'वल्लवपति के निर्देशानुसार अद्य मेरा पुत्र मधुपुरी गमन करेगा।—आर्य्या जटिला का इस वाक्य को गोपवधू श्रद्धाञ्जलिपुट से पान कर रही है।'

यहाँ श्वश्रू कथित पति का प्रवास संवाद को सादर से श्रवण करना ही लक्ष्य है। एवं उसके द्वारा 'गृहशून्य होने पर उस गृह में कृष्ण अभिसारित होंगे' यही यहाँ व्यङ्ग्य है ॥३५॥

व्यङ्ग्यार्थ इस प्रकार है—'हे सखि वृन्दावन के मध्य में यमुनातट सन्निविष्ट यह कुञ्जवन कीदृश रमणीय है! देखो, मृग एवं मयूरगण निश्चिन्त मन से यहाँ निद्रित हैं।' उस श्लोकमें कुञ्ज का

नानार्थनाम्न्श्च भेदकाः । संयोगाद्याः,

नानार्थानां शब्दानां नियमं प्रति संयोगादय एव सहाया भेदका निर्धारका भवन्ति । आदिशब्देन वियोगादयश्च । तथाहि—संयोगश्च वियोगश्च विरोधसहचारिता ।

सान्निध्यमन्यशब्दस्य देशः सामर्थ्यमौचिती ।
लिङ्गमर्थः प्रकरणं कालो व्यक्तिरिमा दिशः ॥

क्रमेणोदाहरणानि यथा—

स कौस्तुभो भाति विधुः शेते विधुरकौस्तुभः ।—संयोग-वियोगौ ।
रामार्जुनौ तथा कर्णार्जुनौ सह नियुध्यतः ।—विरोधः ।
राधामाधवयोः क्रीड़ा मधुमाधवयोर्दिने ।—सहचारिता ।

ननु नानार्थविधुप्रभृतिशब्दानां कदाचित् कृष्णादिवाचकता, कदाचिच्चन्द्रादिवाचकता, अत्र नियामकाभावः; नापि शक्तिलक्षणादीनां कस्या अपि वृत्तेर्नियामकता सम्भवति, अतो वृत्त्यन्तरस्य संयोगवियोगादिरेवात्र नियामक इत्याह—नानार्थनाम्न्श्चेति । एतन्मते तात्पर्यस्य वृत्तित्वाभावेन तज्ज्ञानस्य कारणता नास्ति । श्लिष्टनानार्थस्थले व्यञ्जकपदसमभिव्याहारेण व्यञ्जनावृत्त्यैव निर्वाह इति ज्ञेयम् । नियमं प्रतीति 'स कौस्तुभो भाति विधुः' इत्यत्र विधु-शब्दार्थस्य श्रीकृष्णस्यैव बोधः, न तु चन्द्रस्येत्येतादृश नियमं प्रतीत्यर्थः । दिशो दिग्दर्शनमात्रम् । शेते इति—कौस्तुभवियुक्तो विधुः शेते इत्यत्रापि कृष्णस्यैव बोधः, न तु चन्द्रस्य, चन्द्रे कौस्तुभस्य संयोगाभावात् वियोगोऽप्यसम्भवः । 'नासंयुक्तस्य वियोगः' इति नियमादिति भावः । 'रामार्जुनौ युध्यतः' इत्यत्र परशुराम-सहस्रार्जुनयोरेव बोधः' न तु दशरथपुत्रपाण्डुपुत्रयोः, शास्त्रे तयोर्विवादाश्रवणात् । एवं कर्णार्जुनावित्यत्रापि न सहस्रार्जुनस्य बोधः,

---

निर्जनत्व ही व्यङ्ग्य है। एवं इससे "यही समुचित सङ्केत स्थान है, अतएव सखि ! इस स्थान में मेरे सहित श्रीकृष्ण को सम्मिलित करो।" इस प्रकार अन्य एक व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हो रहा है ॥३६॥

नानार्थ शब्द स्थलमें प्रकृतार्थ बोध हेतु संयोगादिरूप सहाय ही निर्द्धारक होता है। 'संयोगादि' पद स्थित आदि शब्द के द्वारा वियोगादि को जानना होगा। उक्त विषय में प्रमाण यह है—संयोग वियोग, विरोध, सहचारिता, अन्य शब्द का सान्निध्य, देश, काल, सामर्थ्य, औचित्य, लिङ्ग, अर्थ, प्रकरण, व्यक्ति प्रभृति शब्दार्थ की विशेष प्रतिपत्ति के प्रति कारण हैं।

क्रमशः उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—'कौस्तुभान्वित विधु विराजित हैं।' 'कौस्तुभशून्य अवस्थामें विधु शयन कर रहे हैं।' उभयत्र ही कौस्तुभ शब्द का संयोग, वियोग हेतु विधु शब्द श्रीकृष्ण का प्रतिपादक हुआ है, चन्द्र का नहीं। कारण, चन्द्र में कौस्तुभ संयोग की सम्भावना नहीं है, एवं जिसमें जिसकी सम्भावना नहीं है, उससे उसका वियोग भी सम्भावित नहीं होता है। 'राम एवं अर्जुन, एवं कर्ण—अर्जुन परस्पर युद्ध में प्रवृत्त हुए हैं।' यहाँ रामार्जुन शब्द से परस्पर विरोध श्रवण हेतु परशुराम एवं कार्त्तवीर्यार्जुन ही बोधित हुआ है। दशरथ तनय एवं पाण्डु तनय का बोध नहीं होता है। एवं द्वितीय अर्जुन शब्द से पाण्डुतनय का बोध होता है। कार्त्तवीर्यार्जुन का बोध नहीं होता है।

कृष्णस्य मुनिवर्य्यस्य ।— अन्यशब्दस्य सान्निध्यम् ।

व्रजेऽसौ परमेश्वरः ।— देशः । असौ श्रीनन्दो व्रजे राजेत्यर्थः ।

मधुना कोकिलो मत्तः प्रमत्ता मधुना बधूः ।— सामर्थ्यमौचिती च ।

उत्पद्य हृदये तस्याः पीड़को मकरध्वजः ।— लिङ्गम् । कामत्वे पीड़कत्वमेव लिङ्गम् ।

स्थाणुः कृष्णगुणामोदी— अर्थः ।

देवो जानाति मे मनः ।— अत्र प्रकरणवशाद् युष्मदि ।

चित्रभानुर्विभातीति दिनेऽर्को निशि पावकः ।— कालः ।

शास्त्रे भागवतम्, भागवतः स्याद्भगवज्जने ।— व्यक्तिः ।

एष्वभिधालक्षणयोरनवसरत्वात् संयोगादेरेव व्यञ्जकता । यथा— ॥३७-४३॥

किन्तु पाण्डवस्यैव । 'मधुमाधवयोः' इति माधव शब्दोऽत्र वैशाखवाची, तत्सहकारेण मधु शब्दोऽपि चैत्रवाची, नतु वसन्तवाची । कृष्णस्येति— मुनिवर्य्यपदसान्निध्यात् कृष्णशब्दोऽत्र वेदव्यासवाची, नतु कृष्णवाची । मधुनेति— वसन्तस्य कोकिलबध्वोर्मत्ततोत्पादने सामर्थ्यमौचित्यं च वर्त्तते, नतु मधुशब्दस्यार्थान्तररूपमदिरायाः । मकरध्वजपदेनात्र कन्दर्पस्यैव बोधः, नतु समुद्रस्य, तस्य हृदये पीड़ाजनकत्वाभावात् । स्थाणु शब्देन महादेवस्यैव बोधः, नतु शाखापल्लवादिरहितशुष्कवृक्षस्य, तस्य कृष्णगुणामोदिपदार्थत्वाभावात् । कमपि वरणीयं पुरुषं प्रति केनाप्युक्तम्— 'देवो जानाति मे मनः' इति । अत्र प्रकरणवशाद् देवशब्दो युष्मदर्थक एव, नतु 'राजा भट्टारको देवः' इत्यभिधानाद् राजबोधकः । पावकोऽग्निः । व्यक्तिरिति— व्यक्तिशब्देनात्र पुंनपुंसकादिलिङ्गमेव बोध्यम् । तथाहि नपुंसकलिङ्गत्वे भागवतं शास्त्रम्, पुंलिङ्गत्वे भागवतो वैष्णव इत्यर्थः । एष्विति— विष्णुशब्दस्य नानार्थत्वेन कृष्णचन्द्रयोरुभयोर्बोधकत्वेऽपि कौस्तुभसंयोगरूपव्यञ्जकसान्निध्याद् व्यञ्जनावृत्त्यैव श्रीकृष्णमात्रबोधकत्वमिति ज्ञेयम् ॥३७-४३

मधु माधव शब्द— वैशाख वाचक है, एवं उसके साहचर्य से मधु शब्द भी चैत्र वाचक है, वसन्त वाचक नहीं है । 'मुनिश्रेष्ठ कृष्ण हैं' यहाँ मुनि शब्द का सान्निध्य हेतु कृष्णशब्द— वेदव्यास वाचक है । 'वही व्रजमें परमेश्वर हैं' यहाँ "व्रज" देश वैशिष्ट्य निबन्धन वही— अर्थात् श्रीनन्द ही व्रज के अधिपति हैं, इस प्रकार समझना होगा । 'मधु समागम में कोकिलकुलमत्त एवं बधूमण्डली मत्त हुई हैं ।' यहाँ कोकिल एवं बधू को मत्तता उत्पादनें सामर्थ्य एवं औचित्य है— मधु में । मधु शब्द से वसन्त का बोध होता है, मदिरा का नहीं । 'मकरध्वज उसके हृदय में उदित होकर पीड़ा प्रदान कर रहा है ।' यहाँ मकराकार ध्वज में पीड़ादायकत्व की असम्भावना हेतु मकरध्वज पद से कन्दर्प का बोध होता है । कन्दर्प बोधन के पक्ष में पीड़ादायकत्व ही यहाँ प्रमाण है । 'स्थाणु कृष्णगुण से आमोदित होते हैं ।' यहाँ स्थाणु शब्द से महादेव का बोध होता है, किन्तु शाखा-पल्लवादिरहित शुष्क वृक्ष का बोध नहीं होता है । कारण, उनके गुण से आमोदप्राप्तिरूप प्रयोजन की सम्भावना शुष्क वृक्षमें नहीं है । "देव मेरा अन्तःकरण को जानते हैं ।' यहाँ प्रकरण हेतु देवशब्द युष्मद अर्थ का वाचक है, नृपादिका वाचक नहीं है । 'चित्रभानु प्रदीप्त है' यहाँ कालानुसार अर्थ बोध होगा । अर्थात् दिवसमें होनेमें सूर्य्य का, एवं रात्रिकालमें होनेसे— अग्नि का बोध होगा । भागवत शब्द क्लीबलिङ्गमें प्रयुक्त होनेपर शास्त्र का बोध होगा, पुरुषोत्तम लिङ्गमें प्रयुक्त होनेपर भगवद्भक्तजन बोधक होगा ॥३७-४३॥

अद्यालोकिघनप्रभः सखि मया कश्चिद्विहारक्रमे
लोलत्केशरमालिकाविलुलितग्रीवो हरिः कानने ।
यः सद्यस्तनकुम्भिकुम्भनिकरक्षोदे नखभ्रंशिभि-
र्मुक्तौघैर्धवली करोति यमुनातीरे निकुञ्जस्थलीः ॥

अत्रानेकार्थशब्दानामनेकसंसर्गस्य व्यञ्जकता । एवमनुकरणशब्दानाञ्च व्यङ्ग्यं प्रति वाक्यार्थ एव व्यञ्जकः ॥४४॥

अधुना काव्ये उदाहरणमाह—अद्येति । हे सखि ! अद्य कानने विहारक्रमे गमनपरिपाट्यां कश्चिद्धरिः सिंहो मया आलोकि । कीदृशः ? घना निविड़ा प्रभा यस्य तथाभूतः । पुनः कीदृशः ? लोलन्ती चाञ्चल्ययुक्ता या केशराणां स्कन्धस्थितरोमविशेषाणां मालिकाश्रेणीतया विलुलिता मर्दिता अर्थात्तया विशिष्टा ग्रीवा यस्य सः । यः सिंहःकुम्भिकुम्भनिकराणां हस्तिकुम्भसमूहानां सद्यस्तने तत्क्षणोत्पन्ने क्षोदे नखकरणकविदारे सति क्षोदसमये नखैः करणभ्रंशिभिरधः पतितैर्मुक्तासमूहैर्निकुञ्जस्थलीर्धवली करोति ।

पक्षे,—कानने श्रीवृन्दावने विहारक्रमे प्रेयसीभिः सह विहारपरिपाट्यां स्थितो हरिः श्रीकृष्णो मया आलोकि । कीदृशः ? घनस्य मेघस्येव प्रभा यस्य सः । पुनश्च लोलन्ती या केशराणां नागकेशराणां माला तया विलुलिता ग्रीवा यस्य सः । यः श्रीकृष्णः सद्यस्तत्क्षणे स्तनरूपाणां हस्तिकुम्भसमूहानां नखाघातेन क्षोदे सति तत्समये हारत्रोटनात् नखभ्रंशिभिर्मुक्तासमूहैर्यमुनातीरे निकुञ्जस्थलीर्धवली करोति । अत्र विशेषणीभूतानां घनविहारकेशरपदादीनामनेकार्थसम्बन्धेन विशेष्यस्य नानार्थहरिपदस्याप्यर्थद्वयमात्र बोधकत्वम्, नत्विन्द्रादिबोधकत्वमिति ज्ञेयम् ॥४४॥

उक्त विषयसमूह का उदाहरण काव्य में इस प्रकार है—हे सखि ! सद्यस्तनकरिकुम्भ समूह के विदारण समय में जिनके नखरच्युत मुक्ता कलाप से यमुनातीर सन्निहित निकुञ्जस्थली धवलीकृत होती है, विलोल केशरमालिका द्वारा जिनके ग्रीवादेश सतत शोभित है, अद्य वनस्थल में विहार क्रम से घनप्रभ वह हरि मदीय दृष्टि गोचर हुये हैं ।

इस श्लोक का एक अर्थ इस प्रकार है,—सद्यस्तन, अर्थात् तत्क्षणोत्पन्न करिकुम्भ भेदन से जिसका नखभ्रष्ट मुक्ता कलाप से निकुञ्जकानन धवलीकृत होता है, जिसका ग्रीवादेश, केशरमालिका अर्थात् जटाजाल से विलुलित है । घनप्रभ अर्थात् निविड़ कान्तियुक्त तादृश किसी हरि को अर्थात् सिंह को वनस्थल में उसका गमन समयमें मैंने देखा है ।

पक्षान्तर में—वनस्थल में—वृन्दावन में, विहार क्रम—प्रेयसीवृन्द के सहित विहार परिपाटि, स्तनरूप करिकुम्भ को नखराघात से विदारण समयमें मुक्ताहारच्छेदन हेतु—सद्यः अर्थात् तत्क्षणात् जिनके नखरच्युत मुक्ताकलाप से कुञ्जस्थली धवलित होती है, केशरमालिका से अर्थात् नागकेशर पुष्प माल्य से जिनका ग्रीवादेश विमर्द्दित होता रहता है । घन अर्थात् मेघतुल्य प्रभाशाली तादृश श्रीकृष्ण को अद्य मैंने देखा है । यहाँ घन, विहार, केशरादि पदसमूह के अनेकार्थ सम्बन्ध हेतु 'हरि' पद अर्थद्वयमात्र का बोधक हुआ है । किन्तु इन्द्रादि बोधक नहीं हुआ है, इस प्रकार जानना होगा ॥४४॥

यथा—आसां रासविलासलास्यलहरीमास्वाद्य वाद्यच्छलात्

ता धिक् ता धिगिति प्रभाष्य मुरजः स्वर्नर्तकीर्निन्दति ।

ते-नाना-गरिमाधमा इति मुहुः पाठस्वरोच्चारणात्

तासां हन्त जुगुप्सते भगवती वाणी च गानक्रमान् ॥

अत्र ते नाना इति पाठः । गरिमाधमा इति गान्धार-ऋषभ-मध्यम-धैवत-पुनर्मध्यमा इति तानविशेषस्वराः, ताभ्यां ते, नानाविधो योऽगरिमा तेनाधमा इत्यर्थो व्यज्यते ॥४५॥

अथार्थानां व्यञ्जकत्वस्य हेतवः ॥

अर्थानां सामान्यत्वेन प्रागुक्तानां वाच्यादीनां व्यञ्जकत्वे विशेषहेतव उच्यन्ते ।

अथ यत्र मृदङ्गादीनां निरर्थकध्वन्यात्मकशब्दोत्पत्तिर्जायते, तत्र कवयस्तु यथाकथञ्चिद्वर्णात्मकशब्दस्य सादृश्यमुपलभ्य निरर्थकध्वन्यात्मकशब्देऽपि सार्थकत्वमारोप्य काव्यं कुर्वन्तीत्याह—एवमिति । मृदङ्गस्य येऽनुकरणशब्दा वर्णात्मकशब्दस्य सदृशत्वेन प्रतीयमानाव्यक्तध्वन्यात्मक-ता-धिगिति-शब्दास्तेषां सार्थकत्वेनारोपविषयीभूतानां स्वर्नर्तकीर्धिगिति यो वाक्यार्थः, स तु व्रजसुन्दरीणां सर्वोत्कर्षरूपव्यङ्ग्यार्थं प्रति व्यञ्जक इत्यर्थः । मुरजो मृदङ्गः । तासां व्रजसुन्दरीणां रागज्ञापकः 'ते नाना' इति कण्ठस्थः पाठः । एवं 'गरिमाधमा' इत्यक्षराः स्वरा-गान्धारादिस्वरसूचका इत्यर्थः । तथा च व्रजसुन्दर्यो यथा 'रागबोधकान् 'ते नाना' इत्यक्षराणि पठन्ति, सरस्वती तु तैरेवाक्षरैरकारं प्रश्लिष्य गन्धर्वाणां गानक्रमान् जुगुप्सते निन्दति । एतदर्थमेव स्पष्टतया आह—अत्रेति । तानविशेषस्वरास्तानविशेषस्वरवाचका इत्यर्थः । सरस्वतीकृतमर्थमेवाह—ताभ्यामिति । ताभ्यां पाठस्वरोच्चारणाभ्यामित्यर्थः । ते गन्धर्वाः, नानाविधो योऽगरिमा तेनाधमाः, गरिमा गुरुत्वं, तद्भिन्नं नीचत्वम् । तथा च व्रजसुन्दर्यपेक्षया गानशास्त्रे नीचत्वेन गान्धर्वा अधमा इत्यर्थः श्लेषेण व्यज्यत इति भावः ॥४५॥

इदानीं पूर्वोक्त-वाच्यलक्ष्य-व्यङ्ग्यार्थानामुत्कृष्टसमभिव्याहारवशादुत्कृष्टध्वनिबोधकत्वमाह—अर्थेति ।

इस प्रकार अनुकरण शब्द स्थल में वाक्यार्थ ही व्यङ्ग्यार्थ का व्यञ्जक होता है । यथा—व्रजसुन्दरीवृन्द की रासविलास कालीन नृत्यलहरी का स्वादग्रहण करके मृदङ्ग वाद्यच्छल से 'ताधिक् ताधिक्' इस प्रकार शब्द उच्चारणपूर्वक उस शब्द के अर्थान्तर में उन सबको धिक्, उन सबको धिक्, जैसे इस प्रकार कहकर स्वर्गस्थ नर्त्तकीवृन्द की निन्दा कर रहा है । एवं गान के समय उक्त सुन्दरीगण का पुनः पुनः "ते नाना" इस प्रकार पाठ स्वरोच्चारण एवं गान्धार, ऋषभ, मध्यम, धैवत एवं पुनर्वार मध्यम, इन सबके आद्यक्षर को लेकर गरिमाधमा यह तानविशेष स्वरवाचक शब्द का जो उच्चारण है, इन दोनों के च्छल से 'ते नाना गरिमाधमा' इस शब्द के अर्थान्तर में "वे नानाविध गरिमा में अधम हैं' यह कहकर भगवती सरस्वती जैसे गन्धर्ववृन्द के गीतिक्रम की निन्दा कर रही हैं ।

यहाँ अनुकरण शब्द से तत्सादृश्यात्मक शब्द का आरोप हेतु जो वाक्यार्थ उपलब्ध हो रहा है । वही व्रजसुन्दरीवृन्द का सर्वोत्कर्षरूप व्यङ्ग्यार्थ का व्यञ्जक हुआ है ॥४५॥

वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य भेद से जिस अर्थत्रय का वर्णन पूर्व में सामान्यतः हुआ है, उस अर्थ का व्यञ्जकत्व पक्ष में बोद्धव्य, वक्ता, प्रकृति, काकु, प्रकरण, देश एवं कालादिविशिष्ट हेतु होने के कारण

बोद्धव्य-वक्तृ-प्रकृति-काकुप्रकरणैः सह ।

अत्र (प्रथमकिरणे १७ संख्यकपद्ये) 'यातासिस्वयमेव' इत्यादौ तदानयनार्थं न गतासि, अपि तूपभोगार्थमिति बोद्धव्य वैशिष्ट्यम् । यां प्रतीयमुक्तिः साबोद्धव्या योग्या, अयोग्या चेद् भवति, तदाध्वन्यर्थो न सङ्गच्छते । वक्तृवैशिष्ट्यं प्रकृतिवैशिष्ट्यं प्रकरणवैशिष्ट्याश्चात्रैव । वक्त्री श्रीराधा, सा च सर्वश्रेष्ठत्वरूपवैशिष्ट्यवती । प्रकृतिश्च तस्याः सखीं प्रति स्नेहात् श्रीकृष्णाङ्गसङ्गप्रापणं व्याजेन करोतीति यत्, सख्याश्च प्रकृतिर्निजप्रियसखीदूत्यार्थं गतायाः कृष्णेन सह सम्भोगः कथमपि न सम्भवेदिति तथैव ज्ञेया । अतस्तस्या वैशिष्ट्यात्तथाविध-प्रकरणञ्च तत्र मन्तव्यम्, तेन तद्वैशिष्ट्याच्च द्वितीयध्वनिपल्लवः ॥४६-४७॥

काकुवैशिष्ट्यं यथा—

अइ जासि जहि विविनं, रिक्तं घेत्तूण कुसुमभाअणं सुमुहि ।
पच्चा अमिस्ससि तुमं, न केअलं भा अणेण पुण्णेण ॥

अर्थानां वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्यार्थानां व्यञ्जकत्वे विशेषा बोद्धव्यादयो हेतव उच्यन्ते । यमुद्दिश्य वदति, स बोद्धव्यस्तस्य वैशिष्ट्ये उत्कर्षे सति ध्वन्यर्थाः प्रवर्त्तन्ते । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् । तत्र 'यातासि' इति पद्यं पूर्वमेवोत्तम-ध्वनिकाव्योदाहरणे उपन्यस्तम्, तां तदानयनार्थं न गतासि, किन्तु श्रीकृष्णेन सहोपभोगार्थमेव । वैशिष्ट्यस्य फलतोऽर्थमाह—सा बोद्धव्या योग्या इति । तथा च वैशिष्ट्यपदस्य योग्यत्वमेवार्थ इति भावः । वक्तृप्रकृतिप्रकरणानां वैशिष्ट्यञ्चात्रैव श्लोके ज्ञेयम् । यद्यतः सखीं प्रति स्नेहात् सर्वं करोति, अतस्तस्याः प्रकृतेर्वैशिष्ट्याद्बहवो ध्वन्यर्थाः सम्भवन्ति, एवं प्रकरणवैशिष्ट्यादपि ज्ञेयम् । तथाहि प्रकरणं तावत् प्रियसखीमेनां श्रीकृष्णेन सह सङ्गमयितुं तेनैव सह श्रीराधायाः प्रागेव युक्तिः कृताः, यदसौ मया प्रहीयते, तदास्याः सङ्गस्तया करणीय इत्यादयो ध्वनयोऽत्र ज्ञेयाः ॥४६-४७॥

'अइ जासि' इति । 'अयि यासि याहि विपिनं रिक्तं गृहीत्वा कुसुमभाजनं सुमुखि । प्रत्यागमिष्यसि

उन सबका उल्लेख करते हैं। उसके मध्यमें 'सखि तुम रत्न पदक अन्वेषणार्थ स्वयं ही गई थी ?' पूर्वोक्त इस श्लोक में 'तुम उस रत्न पदक को लाने के निमित्त नहीं गई, किन्तु उपभोगार्थ ही गई थी' यह अर्थ, बोद्धव्य वैशिष्ट्य से अर्थात् जिसको उद्देश्य कर कहा गया है, उसका उत्कर्ष हेतु उपलब्ध हुआ है। जिसके प्रति यह कथन हुआ है, वह बोद्धव्य योग्य न होने से ध्वन्यर्थ भी सङ्गत नहीं होगा। वक्तृ वैशिष्ट्य, प्रकृतिवैशिष्ट्य एवं प्रकरणवैशिष्ट्य भी इस श्लोकमें विद्यमान हैं। कारण, स्वयं श्रीराधा वक्त्री हैं। आप सर्वश्रेष्ठत्वरूप वैशिष्ट्यशालिनी हैं। सखी के प्रति स्नेह परायणा होकर छलपूर्वक श्रीकृष्ण प्राप्ति घटना आप करती हैं। अतः तदीय प्रकृति वैशिष्ट्य एवं तथाविध प्रकरण वैशिष्ट्य अनुमित होता है। इस रीति से यहाँ द्वितीय ध्वनि पल्लव उल्लसित हुआ है ॥४६-४७॥

काकुवैशिष्ट्य यथा—अयि सुमुखि ! तुम रिक्त पुष्पपात्र लेकर वनको जा रही हो जाओ, किन्तु केवल पुष्पपात्र पूर्ण करके ही प्रत्यावर्त्तन नहीं करोगी। यहाँ केवल पुष्पपात्र परिपूर्ण करके ही तुम नहीं

(अयि यासि याहि विपिनं,-रिक्तं-गृहीत्वा कुसुमभाजनं सुमुखि !
प्रत्यागमिष्यसि त्वं, न केवलं भाजनेन पूर्णम् ॥)

अत्र न केवलं कुसुमभाजनेनैव पूर्णेनागमिष्यसि, अपितु पूर्णेन मनोरथेनापि, इति नञ् काकु द्योत्यम् ॥४८॥

देशवैशिष्ट्यं यथा—

जउणासीं अरसिसिरा, कमलवणीप अणधूअकिसलअग्गा ।
जहँ वल्लीधरपल्ली, धण्णा पेक्खन्ति तं देसं ॥
(यमुनाशीकरशिशिरा, कमलवनोपवनधूतकिसलयाग्रा ।
यत्र वल्लीगृहपल्ली, धन्याः प्रेक्षन्ते तं देशम् ॥)

अत्र देशवैशिष्ट्यश्लाघया कृष्णेन सह तत्र मां रमयेति सखीं प्रति काचित् स्वमनोरथं प्रकाशयति ॥४९॥

कालवैशिष्ट्यं यथा—

एण्हिं जलहरसमये, रमणिज्जा रअणवलहीत्त ।
णिवडन्तवारिधारा, गहीरतरमुहरगब्भकुहराओ ॥

त्वं न केवलेन भाजनेन पूर्णेन ॥' अत्र नञ् पदोच्चारणे ग्रा_काकुस्तया द्योत्यमपि तु पूर्णेन मनोरथेनेति ध्वन्यर्थरूपं वस्तु ॥४८॥

जउणेति—'यमुनाशीकरशिशिरा कमलवनोपवनधूतकिशलयाग्रा ।
यत्र वल्लीगृहपल्ली धन्याः पश्यन्ति तं देशम् ॥' वल्लिभिर्निर्मितानि कुञ्जगृहाणि तेषां पल्लीसमूहो यत्र वृन्दावनदेशे तिष्ठति, तं देशं धन्या जनाः पश्यन्ति ॥४९॥

एण्हिमिति—'इदानीं जलधरसमये रमणीया रत्नवलभ्यः ।
निपतद्वारिधारागभीरतरमुखरगर्भकुहराः ॥' अत्र वलभी शब्द 'बाङ्गलाघर'

लौटोगी। अर्थात् मनोरथ को भी पूर्ण कर प्रत्यावर्त्तन करोगी। यह ध्वन्यर्थ—नञ् गर्भ-काकु द्वारा द्योतित हुआ है ॥४८॥

देश वैशिष्ट्य का उदाहरण—यमुना का जलकण स्पर्श से जो सतत सुशीतल है, जहाँ पल्लव का अग्रभाग कमलवन संसर्गि समीरण से विकम्पित होता रहता है, जहाँ तादृश लतागृह पल्ली विराजमान है, पुण्यकर्मा व्यक्ति ही उस देश का दर्शन करते हैं।

इस श्लोक में देश वैशिष्ट्य की प्रशंसा के द्वारा किसी नायिका 'श्रीकृष्ण के सहित इस स्थानमें सङ्ग सम्पादन करो' इस प्रकार निज मनोरथ को प्रकाश सखी के निकट कर रही है ॥४९॥

इस वर्षा समय में निपतित वारिधारा से कुञ्जगर्भ विवर गम्भीरतररूप में प्रतिध्वनित होने से रत्नमय वलभी (सर्वोपरिस्थ गृह विशेष, बाङ्गला घर) अति रमणीय हुआ है। इस श्लोक में—'श्रीकृष्ण को वहाँ पर ले आऊँगी' सखी इङ्गित क्रमसे सङ्केत जिज्ञासु होने पर कालवैशिष्ट्य उसके प्रति

(इदानीं जलधरसमये, रमणीयारत्नवलभ्यः ।
निपतद्वारिधारा, गभीरतरमुखरगर्भकुहराः ॥)५०॥

आदिशब्दात् प्रसिद्धिवैशिष्ट्यं यथा—

करकिशलयलीलाम्बुज-निमीलनोन्मीलनातिकुतुकिन्या ।
दक्षिणमक्षिमुरारेः, पिधीयते मुच्यते च सिन्धुजया ॥

अत्र मुरारेर्दक्षिणमक्षिप्रसिद्धिवैशिष्ट्यात् सूर्यात्मकमिति व्यज्यते ॥५१॥

इति श्रीमदलङ्कारकौस्तुभे शब्दार्थवृत्तित्रयनिरूपणो
नाम द्वितीयः किरणः ॥२॥

इति प्रसिद्धः, सर्वोपहिस्थ गृहविशेषवाचकः । निपतद्वारिधारया गभीरतरमुखरा घोरशब्दविशिष्टा गर्भकुहरा यासां ताः, कुञ्जगर्भास्तु सच्छिद्राः । एतेन कुञ्जस्यारमणीयत्वमुक्तम् ।.५०॥

करकिशलयेति—करपल्लवस्थलीलाकमलस्य निमीलनोन्मीलने मुद्रणे विकसने च कुतुकिन्या सिन्धुजया लक्ष्म्या भगवतो दक्षिणनेत्रं कदाचित् पिधीयते, आच्छन्नं क्रियते, कदाचिन्मुच्यते च । तथा च सूर्य्यरूपं दक्षिणनेत्रं यदाच्छन्नं क्रियते, तदा चन्द्ररूपवामनेत्रस्य दर्शनेन लीलाकमलं मुद्रितं भवति । यदा तु मुच्यते, तदा सूर्य्यदर्शनेन लीलाकमलं प्रफुल्लं भवतीत्यर्थः । भगवतो दक्षिणनेत्रस्य सूर्य्यत्वं सर्वशास्त्रे प्रसिद्धम् । अतः प्रसिद्धवैशिष्ट्यादेव नेत्रस्य सूर्य्यत्वं ध्वनितमिति ॥५१॥

इति सुबोधिन्यां द्वितीयकिरणः ॥२॥

यह व्यङ्ग्यार्थ कथित हो रहा है कि—इस वर्षा समय में कुञ्जगृह रमणीय नहीं है, भवन ही सम्प्रति रमणीय है ॥५०॥

आदि शब्द से प्रसिद्धि वैशिष्ट्य को जानना होगा । उसका उदाहरण—भगवती कमला, करपल्लवस्थित लीलाकमल का निमीलन एवं उन्मीलन में कौतूहलवती होकर भगवान् मुरान्तक के दक्षिण नयन एकबार आच्छादित एकबार उन्मुक्त करती रहती हैं । यहाँ भगवान् मुरारि का दक्षिण नयन प्रसिद्धि वैशिष्ट्य हेतु सूर्य्यात्मक रूपमें व्यञ्जित हुआ है ।

अर्थात् सूर्य्यरूप दक्षिण नेत्र को जब आच्छादित करती हैं, उस समय वाम नेत्र का दर्शन से लीला कमल मुद्रित होता है । जिस समय उन्मिलन करती हैं, उस समय सूर्य्य दर्शन से लीलाकमल प्रफुल्ल होता है । भगवान् का दक्षिण नेत्र—सूर्य्य रूपमें शास्त्रप्रसिद्ध है । अतः प्रसिद्ध वैशिष्ट्य हेतु नेत्र का सूर्य्यत्व ध्वनित हुता है ॥५१॥

इति श्रीमदलङ्कारकौस्तुभे श्रीहरिदास शास्त्रिकृतानुवादे शब्दार्थ-
वृत्तित्रयनिरूपणो नाम द्वितीयः किरणः ॥२॥

तृतीयकिरणः

अथ ध्वनिनिर्णयः

अथ 'ध्वनिरसवः' इति काव्यप्रकरणत्वेन निरूपितस्य ध्वनेर्भेदमाख्यातुं ध्वनिशब्दस्य व्युत्पत्तिमाह,—

शब्दार्थादिभिरन्यैश्च ध्वन्यतेऽसाविति ध्वनिः ॥

ध्वननं ध्वनिः, ध्वन्यतेऽनेनेति ध्वनिः, ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिरिति भावकरणाधिकरण-साधनोऽपि ध्वनिर्भवति । तन्निरासार्थं ध्वन्यतेऽसाविति कर्मसाधन एवेति प्रतिजानीते ॥१॥

अथ ध्वनिनिर्णयः

शब्दार्थादिभिरिति शब्दश्च अर्थाः वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्याश्च । आदिशब्देन श्लेषस्थले पदार्थान्तर-सम्बन्धश्च तैरेवमन्यैरनुकरणशब्दैश्च ध्वन्यते व्यञ्जनावृत्त्या बोध्यतेऽसौ शैत्यपावनत्वादिव्यङ्ग्यरूपोऽर्थो ध्वनिः कर्मसाधनमेव, नतु ध्वननं ध्वनिरिति भावसाधनम्, तथा सति ध्वन्यर्थविषयकज्ञानेऽपि ध्वनि-व्यवहारापत्तेः ।

नवा ध्वन्यतेऽनेनेति करणसाधनम्, तथा सति ध्वनिकरणे काव्येऽपि ध्वनिव्यवहारापत्तेः । नवा ध्वन्यतेऽस्मिन्नित्यधिकरणसाधनम्, तथा सति ध्वनिविषयकज्ञानाधिकरणेऽपि पुरुषे ध्वनिव्यवहारापत्तेः । तस्मात् कर्मसाधनेन शैत्यपावनत्वाद्यर्थ एव ध्वनिशब्दो योगरूढिरिति भावः ॥१॥

"शरीरं शब्दार्थौ ध्वनिरसवः आत्मा किल रसो
गुणा माधुर्याद्या उपमिति मुखोऽलङ्कृतिगणः ।
सुसंस्थानं रीतिः स किल परमः काव्यपुरुषो
यदस्मिन् दोषः स्याच्छ्रवणकटुतादिः स न परः ॥"

इस वाक्य में ध्वनि को काव्य का प्राणस्वरूप कहा गया है । सम्प्रति उसका भेद प्रदर्शन हेतु ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं । शब्द एवं अर्थादि एवं अनुकरण शब्द द्वारा जो ध्वनित होता है, उसको ध्वनि कहते हैं । यहाँ ध्वनन—ध्वनि यद्द्वारा ध्वनित होता है, उसका नाम ध्वनि है । जिसमें ध्वनित होता है, उसका नाम ध्वनि है । इस प्रकार भाव, करण एवं अधिकरण वाच्य में भी ध्वनिशब्द साधन की सम्भावना को देखकर उसका निरास करने के निमित्त 'जो ध्वनित होता है' इस उक्ति के द्वारा ध्वनिशब्द की कर्म साधनता ही स्वीकृत हुई है ।

शब्द, अर्थ, वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य आदि शब्द से श्लेष स्थल में पदार्थान्तर सम्बन्ध इन सबके द्वारा एवं अनुकरण शब्द के द्वारा 'ध्वन्यते' व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा बोध होता है । शैत्य पावनत्वादि व्यङ्ग्यरूप अर्थ, ध्वनि—कर्मसाधन निष्पन्न होते है । किन्तु 'ध्वननं ध्वनिः' इस प्रकार भाव साधन निष्पन्न नहीं है । ऐसा होने पर ध्वन्यर्थ विषयक ज्ञान में भी ध्वनि व्यवहार होने लगेगा । 'ध्वन्यतेऽनेन' इस प्रकार करण साधन करनेसे ध्वनिकरण काव्यमें भी ध्वनि व्यवहार होने लगेगा । एवं ध्वन्यतेऽस्मिन्निति इत्याधिकरण साधन करने से ध्वनिविषयक ज्ञानाधिकरण होने पर भी पुरुषमें ध्वनि व्यवहार होने लगेगा । अतएव कर्मसाधन के द्वारा शैत्यपावनत्व प्रभृति अर्थमें ध्वनि-शब्द—योगरूढ़ है । यह अभिप्राय है ॥१॥

तदेव किमित्याह—रसो भावस्तदाभासो वस्त्वलङ्कार एव च ।
भावानामुदयः शान्तिः सन्धिः शवलता तथा ।
सर्वं ध्वनिस्तज्जनित्वे काव्यञ्च ध्वनिरुच्यते ॥

रसाख्यध्वनेरन्ये ध्वनयस्तु प्राणाः, रसाख्यस्तु ध्वनिरात्मेत्यदोषः। रसादयः पश्चाल्लक्ष्यन्ते, ॥२॥

सम्प्रति असुभूतानां ध्वनीनां भेदा दर्श्यन्ते—
उभयोरभिधामूल-लक्षणामूलयोस्तयोः ।
अविवक्षितवाच्योऽन्त्यस्तत्र वाच्यं द्विधा भवेत् ।

तयोर्ध्वन्योरन्त्यो लक्षणामूलो ध्वनिरविवक्षितवाच्यः स्यात् । तत्राऽविवक्षितवाच्ये ध्वनौ वाच्यं द्विधा भवतीत्यर्थः । किन्तत् द्वैधमित्याह,—
अर्थान्तरोपसंक्रान्तमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ।

एवं वाच्यम्, अजहत्स्वार्थतया अपरार्थेनोपसंक्रान्तं भवति, अन्यज्जहत्स्वार्थतया स्वविपरीतेनार्थेनाक्रान्तं भवतीति द्वैधम् ॥३-४॥

तदेवेति—तत् ध्वनतेश्च कर्मध्वनिपदबोध्यं, किमित्यपेक्षायामाह—रस इति । तदाभासो रसाभासो भावाभासश्च । वस्तु शैत्यपावनत्वादि च, उपमाद्यलङ्कारश्च, व्यभिचारिभावानामुदय उत्पत्तिश्च सन्धिश्च शाबल्यता च सर्वमिति एते सर्वे अर्था ध्वनिपदवाच्या इत्यर्थः । काव्ये ध्वनिव्यवहारस्तु न मुख्यः, किन्तु लाक्षणिकत्वादगौण एवेत्याह—तज्जनीति । तस्य ध्वन्यर्थस्य जनिरुत्पत्तिर्यस्मात् तथाभूतत्वे इत्यर्थः । एवं सति ध्वनिजनकत्वेनैव काव्ये ध्वनिव्यवहारः' नतु साक्षात् ।

ननु काव्यपुरुषस्य कदाचिद् ध्वनयः प्राणा उच्यन्ते, कदाचिद् ध्वनिरात्मेत्युच्यते, तत्र को निर्धार इत्यपेक्षायामाह—रसाख्येति । रसाख्यध्वनिभिन्ना ये ध्वनयस्ते प्राणाः, रसाख्यध्वनिस्तु आत्मैवेति व्यवस्थया न दोषः ॥२॥

असु भूतानां वस्त्वलङ्काररूपाणां ध्वनीनाम् । तयोः प्राणात्मस्वरूपयोर्ध्वन्योरुभयोरेवाभिधामूल-लक्षणामूलयोर्मध्ये अन्त्यो लक्षणामूलध्वनिरविवक्षितवाच्यो भवेत् ॥३-४॥

कर्मसाधन द्वारा निष्पन्न ध्वनि शब्द है । इस प्रकार कथन का अभिप्राय क्या है ? कहते हैं—रस, भाव एवं रसाभाव, भावाभास, वस्तु, अलङ्कार, भावसमूह का उदय, शान्ति, सन्धि एवं शवलता ये सब ध्वनि पदवाच्य हैं, एवं उस ध्वन्यर्थ का उत्पत्तिकारण निबन्धन काव्य में भी ध्वनि शब्द का प्रयोग होता है ।

ध्वनि को काव्यपुरुष की आत्मा एवं प्राण कहा गया है, किन्तु रसाख्य ध्वनि जो ध्वनि, वही प्राण है, एवं रसाख्य ध्वनि ही आत्मा है । इस प्रकार व्यवस्था करने से पूर्वोक्ति में दोष स्पर्श नहीं होगा ॥२॥

उसके मध्य में रसादि का वर्णन करेंगे । सम्प्रति प्राणस्वरूप ध्वनि का भेद प्रदर्शित हो रहा है । अभिधामूलक एवं लक्षणामूलक उक्त उभय ध्वनि के मध्य में अन्त्य अर्थात् लक्षणामूलक ध्वनि अविवक्षित वाच्य है । अविवक्षित वाच्य ध्वनिस्थल में वाच्य द्विविध होते हैं—अर्थान्तरोपसंक्रान्त वाच्य

क्रमेणोदाहरणानि— फलमपि फलं माकन्दानां सिता अपि ताः सिता,
अमृतममृतं द्राक्षाद्राक्षा मधूनि ममून्यपि ।
सह तुलयितुं तेनैतेषां न किञ्चन युज्यते,
सुबल यदय सारङ्गाक्ष्या भवत्यधरोऽधरः ॥

अत्र द्वितीयफलादि-शब्दा निन्दाद्यर्थसंक्रान्ताः । तथा हि—फलं नानावस्थं पाक एव कदाचिन्मधुरं भवति, तेन तन्निन्द्यमेव । सिताः पाकपौनःपुन्येनैव निर्मला भवन्ति, नत्वारम्भ एव । अमृतं देवैरपि पीयते । द्राक्षा-पूर्ववदेव । मधूनि सरघोच्छिष्टानि । अधरस्तु अधर एव, सर्वाण्येतान्यधरयतीत्यधरः । 'सह तुलयितुं तेनैतेषां न किञ्चन युज्यते' इति विशेषवचनादुपमेयद्वितीयपदेस्तुत्यर्थ एव व्यङ्ग्यः, न तूपमान-द्वितीयपदवद्धेयांशता ॥५॥

श्रीकृष्णः सुबलं प्राह—फलमपीति । अत्र द्वितीयफलशब्दः कादाचित्क मधुरे लाक्षणिकः । तथा च माकन्दानामाम्राणां फलं कदाचिन्मधुरमिति लाक्षणिको बोध्यः, पश्चाद् व्यञ्जनावृत्त्या फले निन्द्यत्वबोधो लक्षणामूलः । अत्र द्वितीयलाक्षणिक-फलपदेन फलत्वरूपेण फलबोधो न भवति, अत एवायं ध्वनिरविवक्षित वाच्यः स्यात् । अथच प्रथमफलपदस्य फलरूपार्थो वाच्यो व्यङ्ग्यीभूतनिन्द्यत्वेन संक्रमितश्च भवति । एवमेव सर्वत्र सितादिपदेऽपि बोध्यम् ।, सिता मिश्रीति प्रसिद्धा ।

हे सुबल ! तेन राधाया अधरेण सह तुलयितुं तेषामाम्रादीनां मध्ये किञ्चन वस्तु न युज्यते । अमृतं देवैर्निकृष्टैरपि पीयत, इति हेतोरमृतस्यापि निन्द्यत्वम् । द्राक्षा पूर्ववत् पाकावस्थायामेव मधुरा, द्वितीयमधुपदस्य सरघोच्छिष्टे लक्षणा । सरघा मधुमक्षिका । अधरस्तु अधरयति—सापेक्षया सार्वाण्येव स्वादुवस्तूनि निकृष्टयतीत्यर्थः । विशेषवचनाद्विति उपमेयस्याधरोऽधर इति वाक्यस्य द्वितीयेऽधरपदे स्तुत्यर्थो व्यङ्ग्यः, नतूपमानीभूतानां फलमपि फलमित्यादिवाक्यानां द्वितीयफलादिपदस्येव हेयांशतारूपार्थो व्यङ्ग्यः । अत्र सर्वत्रोपमानस्य तिरस्कार एव व्यङ्ग्यो बोध्यः ॥५॥

एवं अर्थान्तरेतिरस्कृत वाच्य । प्रथम—अजहत् स्वार्थलक्षणा हेतु अपरार्थ में उपसंक्रान्त होती है । द्वितीय—जहत् स्वार्थ लक्षणा हेतु स्व-विपरीत से आक्रान्त होती है ॥३-४॥

क्रमशः उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—आम्र फल भी फलमात्र ही है, सिता भी सिता है, अमृत भी वह अमृत है, द्राक्षा एवं मधु भी मधुमात्र है । हे सुबल ! इन सब पदार्थों के सहित उसकी तुलना करना युक्तियुक्त नहीं है । कारण, हरिणाक्षी श्रीराधिका का वह अधर वास्तविक ही अधर है ।

इस उदाहरण से द्वितीय फलादि शब्द, निन्दादि अपर अर्थ में संक्रान्त हुआ है । कारण, फल की विभिन्न अवस्था होती है । उसके मध्यमें पक्व अवस्था में ही फल कदाचित् मधुर होता है । अतएव वह निन्दनीय है । सिता भी पुनः पुनः पाक के द्वारा ही निर्मल होती है । पहले उस प्रकार नहीं होती है । अमृत भी असंख्य देववृन्द के द्वारा सर्वदा पीत होता है । द्राक्षा भी सिता के समान परिपाक अवस्था में मधुर होती है । मधु भी मधुमक्षिका की उच्छिष्ट है । किन्तु अधर वस्तुतः ही अधर है । अर्थात् उक्त वस्तुसमूह को अधरीकृत वा निम्नीकृत करता है । अतः उसका अधर नाम सार्थक हुआ है । उक्त पदार्थसमूह के सहित इसकी तुलना करना समीचीन नहीं है ।

यथा वा—प्रेम्णा विद्रुतमेकवद् यदुभयोस्तन्मानसं मानसं
सर्वास्वेव दशासु यन्नवनवं तत् सौहृदं सौहृदम् ।
यत् कृष्णस्य विनोदभूरहरहस्तद् यौवनं यौवनं
तद्विच्छेदविधौ न यत् परिचयस्तज्जीवनं जीवनम् ॥६॥

स्वविपरीतार्थेनाक्रान्तं यथा—
सौभाग्यमेतदधिकं मम नाथ कृष्ण, प्राणैर्ममात्मनि सुखं प्रणयेन कीर्त्तिः ।
दृष्टश्चिरादसि कृपापि तवेयमुच्चैं नं स्मर्यते न भवतात्मगृहस्य मार्गः ॥

माथुरविरहेण व्याकुला श्रीराधा ललितां प्रत्याह— प्रेम्णेति । उभयोः कान्ताकान्तयोः प्रेम्णा विद्रुतं सत् यदेकवद्भवति, तन्मन एव मानसं मनः पदवाच्यम् । अत्र द्वितीयमानसपदस्य मनः पदवाच्यत्वरूपेण लक्षणा । अतएव द्वितीयमानसपदे—अविवक्षितवाच्यत्वस्य सिद्धिः । तेन लाक्षणिकपदे । मनसः श्लाघनीयत्वरूपोऽर्थो व्यङ्ग्यः । तथा च प्रथममानसपदस्य मनोरूपो वाच्यो व्यङ्ग्योभूतश्लाघनीयत्वरूपार्थान्तरेण संक्रमितश्चेति भावः । श्रीकृष्णविच्छेदे सति अस्य जीवनस्य न परिचयः, न विद्यमानता, तज्जीवनं जीवनम् ॥६॥

काचित् खण्डिता श्रीकृष्णं प्रति सोल्लुण्ठ वचनमाह—एतत्तवागमनं ममाधिकसौभाग्यम्, अधिकसौभाग्यजनकमित्यर्थः । एवं त्वद्विच्छेदे मम प्राणैः कर्त्तृभिः सुखमतनि, विस्तृतं चक्रे । एवं मद्विषयकेन त्वत् प्रणयेन मम कीर्त्तिरतनि । चिराद् बहुकालानन्तरं यत्त्वं दृष्टोऽसि, तेन महती कृतापि तया अतनि, तथा मद्गृहं तवात्मगृहं तादृशात्मगृहस्य मार्गस्त्वया न स्मर्यते, इति न, अपितु स्मर्य्यत एव । अत्रेति—

इस प्रकार विशेष निर्देश हेतु अधर वस्तुतः ही अधर है, इस उपमेय वाक्य में द्वितीय अधर पदसे स्तुत्यर्थ व्यङ्ग्य हुआ । उपमान स्वरूप द्वितीय फलादि पद के समान हेयत्वरूप अर्थ की प्रतीति कभी नहीं होती है ॥५॥

द्वितीय उदाहरण यह है—परस्पर के प्रेम से द्रवीभूत होकर जो एकरूप प्रतीयमान होता है, प्रणयी एवं प्रणयिनी का वह मनः ही मन है । समस्त अवस्था में ही जो नव नव रूप धारण करता है, वह सौहृद्य है । जो श्रीकृष्ण का नित्य विनोदोत्पन्न करने में सक्षम है, उस यौवन ही यौवन है । श्रीकृष्ण विच्छेद के सहित जिसका परिचय नहीं हुआ है, उस जीवन ही जीवन है ॥६॥

स्व-विपरीत अर्थाक्रान्त का उदाहरण—हे नाथ श्रीकृष्ण ! मेरा अतीव सौभाग्य है कि—तुमने यहाँ पर पदार्पण किया । तुम्हारा विरह से मेरा जीवन कितना सुखी बना । एवं मेरे प्रति तुम्हारा प्रणय विस्तृत कीर्त्ति को प्रकाश किया है । अनेक दिनों के पश्चात् तुमने जो दर्शन दिया है, यह तुम्हारी अतीव करुणा ही है । अतएव तुमने जो निज गृह पथ को भूल ही गया है, इस प्रकार कभी भी कहा नहीं जा सकता है ।

श्रीकृष्ण के प्रति खण्डिता नायिका की यह परिहासमय उक्ति है । यहाँ सौभाग्य पदकी लक्षणा असौभाग्य में है । सुखी पद की लक्षणा—दुःखी में है । इस प्रकार क्लेश में भी प्राण निर्गत नहीं हुआ, अतएव मेरा प्राण दुःखदायक है, यह भावार्थ है ।

अत्र सौभाग्यमित्यसौभाग्यम्, सुखमिति दुःखम्, कीर्त्तिरकीर्त्तिः, कृपा-अकृपा, आत्मगृहस्येति परगृहस्येति, स्वविपरीतेनाक्रान्तम् ॥७॥

ध्वनिर्यस्त्वभिधामूलस्तत्र वाच्यं विवक्षितम् ।
तथापि व्यङ्ग्यनिष्ठं स्यात् स च द्वैविध्यमृच्छति ।
कोऽपि लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्योऽलक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमोऽपरः ॥

अभिधामूलध्वनौ तु विवक्षितमपि वाच्यं व्यङ्ग्यनिष्ठम् । स च ध्वनिर्लक्ष्यक्रमं व्यङ्ग्योऽलक्ष्य व्यङ्ग्यक्रमश्चेति द्विविधः । लक्ष्यं क्रमप्राप्तं व्यङ्ग्यं यत्र स तथा, अलक्ष्यो व्यङ्ग्यस्य क्रमो यत्र स तथा । क्रमस्तु विभावादिभिर्व्यज्यमान एव रसः, नतु विभावादय इति । लाघवाच्छतपत्रपत्रशतीयुगपद्वेधाभिमानवद् यत्र क्रमो न लक्ष्यते, स तावदक्रमः ।

सौभाग्यपदस्यासौभाग्ये लक्षणा, सुखपदस्य दुःखे लक्षणा, एतादृश क्लेशेऽपि यस्मात् प्राणा न निर्गताः, तत एव मत् प्राणा मद्दुःखदायका इति भावः । मद् गृहं तव परगृहम्, नतु स्वगृहम् । सर्वत्र विरुद्ध-लक्षणाभिर्मद्विषये त्वं प्रेमशून्य इत्यर्थो व्यज्यते । तथा च स्वस्मिन्नायकस्य प्रेमशून्यत्वरूपो व्यङ्ग्यो लक्षणामूलस्तथा वाच्यार्थस्य तिरस्कारः स्पष्ट एवेति भावः ॥७॥

विवक्षितमपीति—विवक्षितमपि वाच्यं व्यङ्ग्यनिष्ठं व्यङ्ग्ये पर्यवसानं स्यादित्यर्थः । तथा वाच्यार्थस्य विवक्षायामपि व्यङ्ग्यार्थस्य प्राधान्यम्, नतु वाच्यार्थस्येति भावः । लक्ष्यमिति—वस्त्वलङ्कारादिरूपव्यङ्ग्यार्थानां हृदये उत्पत्त्यन्तर्धानरूपः क्रमः सर्वेषां लक्ष्य इत्यर्थः । अलक्ष्य इति—रसादिरूपव्यङ्ग्यार्थानां हृदये उत्पत्त्यन्तर्धानरूपक्रमो न लक्ष्य इत्यर्थः । क्रमस्त्विति—विभावादिभि-र्व्यज्यमानो यस्योत्पत्त्यन्तर्धानक्रमः, स रस एव, नतु विभावादय इत्यर्थः । ध्वनिविषयकज्ञानस्योत्पत्त्यन्तर्धाने ध्वनेरप्युत्पत्त्यादिव्यवहारः । तत्र दृष्टान्तः—लाघवादिति । शतपत्रस्य कमलस्य शतसंख्यकपत्राणां

मेरा गृह—तुम्हारा परगृह है, निजगृह नहीं है । सर्वत्र विरुद्ध लक्षणा के द्वारा मेरे विषय में तुम प्रेमशून्य हो – यह ध्वनित हुआ है । अतएव अपने प्रति नायक का प्रेमशून्यत्वरूप व्यङ्ग्य लक्षणामूलक है । वाच्यार्थ का तिरस्कार सुस्पष्ट है । अर्थात् सौभाग्य—असौभाग्य, सुख—दुःख, कीर्त्ति—अकीर्त्ति, कृपा—अकृपा, निजगृह—परगृह, इस रीति से यावतीय वाच्यार्थ स्वविपरीत अर्थ से आक्रान्त हैं ॥७॥

अभिधामूलक ध्वनि स्थल में वाच्यार्थ विवक्षित होने पर भी व्यङ्ग्यनिष्ठ होता है । उक्त ध्वनि लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य एवं अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य भेद से द्विविध हैं । वस्तु अलङ्कारादि रूप व्यङ्ग्यार्थ का हृदय में उत्पत्ति एवं अन्तर्धानरूप क्रम, जहाँ लक्ष्य होता है, उसको लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहते हैं । एवं रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ का हृदय में उत्पत्ति एवं अन्तर्धानरूप क्रम—जहाँ लक्ष्य नहीं होता है, उसको असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहते हैं । क्रम शब्द से यहाँ विभावादि का बोध नहीं होता है, किन्तु विभावादि के द्वारा व्यज्यमान रस का ही जानना होगा ।

शतसंख्यक कमलपत्रसमूह का एककालीन वेधस्थल में प्रत्येक पत्र का प्रत्येक वेधक्रम तुल्य शीघ्रता हेतु जहाँ रसादि व्यङ्ग्य का उत्पत्त्यादि क्रम लक्षित नहीं होता है, उसको अक्रम कहते हैं । रस, भाव,

रसो भावस्तदाभासो भावशान्त्यादिरक्रमः ॥

रसादयस्त्वक्रमोऽलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्याः इत्यर्थः । आदिशब्दाद् भावोदय-भावशावल्य-भावसन्धयः। अयमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो रसनिरूपणे दर्शयिष्यते ॥८-१०॥

सम्प्रति लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो दर्श्यते—

यत्रानुध्वनिना व्यङ्ग्यं लक्ष्यते क्रमपूर्वकम् ।
स तु लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः शब्दार्थोभयशक्तिभूः ॥

अनुध्वनिरनुरणनं, ध्वनेरेव दीर्घदीर्घभावः, प्रतिध्वनिरिव वा । स तु लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः शब्दशक्तिभूः, अर्थशक्तिभूः, शब्दार्थोभयशक्तिभूश्चेति त्रिधा ॥११॥

आद्यो द्विधैवालङ्कार वस्तुनो द्योतनाद् भवेत् ॥

आद्यः शब्दशक्तिभूर्द्विधैव भवेत् । एवकारस्तु अर्थशक्तिभूवत् शब्दशक्तिभूरपि द्वादशधेति, परमतं व्यावर्त्तयति, अथवालङ्कारस्यैव, वस्तुन एव, नान्यतरविशिष्टस्येवेत्यर्थः ॥१२॥

सूच्या वेधे जाते सति प्रत्येकपत्रस्य यः क्रमेण वेधस्तस्योत्पत्त्यादिक्रमो लाघवात् सूचीकरणकवेधनिष्ठशीघ्रत्वाच्च लक्ष्यः । अतएव मया युगपदेकक्षण एव सर्वेषां वेधः कृत इति तेषामभिमानो भवति; तथात्रापि रसादि-व्यङ्ग्यानामुत्पत्त्यादिक्रमोऽपि न लक्ष्यः ॥८-१०॥

अनुरणनमिति—यथा घण्टादिनामेकनादोत्तरमपरनादानां क्रमो ज्ञायते, यथा वा ध्वन्युत्तरं प्रतिध्वनिर्ज्ञायते, तथैव येषां ध्वनीनामुत्पत्त्यादिक्रमो लक्ष्यते, स लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः ॥११॥

अथवेति—आद्यो द्विधैवेत्यत्र एवकारोऽलङ्कारवस्तुनोरित्यनन्तरमेव योजनीयः। तथा चालङ्कारस्यैव द्योतनात्, न तु वस्तुविशिष्टालङ्कारस्य । एवं वस्तुन एव द्योतनात्, नैवालङ्कारविशिष्टस्य वस्तुनः । एवं सति केवलालङ्कारस्य द्योतनात्तथा केवलवस्तुनो द्योतनादयो द्विविधा भवतीत्यर्थः ॥१२॥

उसका आभास एवं भावशान्त्यादि अक्रम हैं । अर्थात् असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य है ।

भावशान्त्यादि—यहाँ आदि शब्द से भावोदय, भाव शबलता एवं भावसन्धि को ग्रहण करना कर्त्तव्य है । असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य, रस निरूपण प्रकरण में प्रदर्शित होगा ॥८-१०॥

सम्प्रति लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य प्रदर्शित हो रहा है । जहाँ अनुध्वनि हेतु क्रमपूर्वक व्यङ्ग्य लक्षित होता है, उसको लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहते हैं । अनुध्वनि शब्द से अनुरणन—अर्थात् ध्वनि का ही दीर्घ-दीर्घ भाव—भाव अथवा प्रतिध्वनि के समान जो प्रतीत होता है—को जानना होगा । उक्त लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य, शब्दशक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युद्भव एवं शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव भेद से त्रिविध हैं ॥११॥

शब्दशक्त्युद्भव उक्त व्यङ्ग्य, वस्तु एवं अलङ्कार उभय का द्योतक होने के कारण द्वि प्रकार होते हैं । 'दो प्रकार ही होते हैं' इस प्रकार सावधारण निर्देश के द्वारा अर्थशक्त्युद्भव के समान शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि भी द्वादशविध होती हैं । इस प्रकार मतविशेष की व्यावृत्ति की गई है ।

अथवा केवल अलङ्कार एवं केवल वस्तु का द्योतन हेतु द्विविध होती हैं । वस्तुविशिष्ट अलङ्कार वा अलङ्कारविशिष्ट वस्तु का द्योतन नहीं है । इस प्रकार तात्पर्य्य को जानना होगा ॥१२॥

अत्रालङ्कारद्योतकः शब्दशक्तिभूर्यथा—

आशामात्रे विकसदुदयः पद्मिनीचक्रबन्धुः सिद्धाभोगः सततमनिशामोदमैत्रीकषायः ।

राधाश्लेषादिषु निरवधिर्व्यापृतः शोणपादो, रोचिः पूरैर्हरतु भजतां शीततां कृष्णचन्द्रः ॥

अत्र शब्दशक्त्याद्भुतश्चन्द्र इति प्रसिद्धचन्द्राद्व्यतिरिक्तैरखिलैरेवं गुणैर्व्यतिरेकालङ्कारो ध्वनितः। यद्यप्यसौ ध्वनित्वेनालङ्कार्य एव; तथापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेनालङ्कार एव । एवमन्येऽपि ॥१३॥

आशामात्रे-इति । अयं कृष्णरूपश्चन्द्रो रोचिः पूरैः कान्तिप्रवाहैः शीततां जाड्यं हरतु । प्रसिद्ध-चन्द्रस्तु शीततां करोति। तथायं भजतां जनानामाशामात्रेणैव विलसन्नुदयो यस्य सः। अत्र शब्दश्लेषेणास्य आशामात्रे दिक्सामान्ये उदयः, प्रसिद्धचन्द्रस्य तु पूर्वाशायामेवोदयः। अयं पद्मिनीसमूहानां बन्धुः स तु द्वेषी, अयन्तु सततं सिद्ध आभोगः परिपूर्णता यस्य तथाभूतः, स तु कदाचित् पूर्णिमायामेव सिद्धाभोगः। अनिशं निरन्तरमामोदमैत्रीकषाया यस्य तथाभूतः सः। कषाय शब्दोऽत्र माधुर्य्यवाचकः, "मधुरेऽपि कषायः स्यात्" इत्यनुशासनात् ।

अत्रापि शब्दमात्रश्लेषेण निशाभिन्नेऽपि काले आमोदादयो यस्य सः, प्रसिद्धचन्द्रस्य तु निशायामेव। राधाया आलिङ्गनादि-कर्मसु निरवधिर्व्यापारयुक्तः, स तु राधाश्लेषादिनक्षत्रेषु कदाचित् संयुक्तः। अयं शोणपादो रक्तचरणः, स तु श्वेतपादः, अत्र पादशब्दः किरणवाची। अत्राशादिशब्दानां परिवृत्त्यसहत्वादेव शब्दशक्त्युद्भवोऽयं ध्वनिरिति ज्ञेयम् ।

अलङ्कार द्योतक शब्दशक्त्युद्भव व्यङ्ग्य का उदाहरण—आशा मात्र में ही जिनका उदय होता है, जो पद्मिनी चक्र के बन्धु हैं। जिनकी नित्य परिपूर्णता प्रसिद्ध है, जो अनिशामोदमैत्री द्वारा माधुर्यमय हैं, निरवधि राधाश्लेषादि व्यापृत शोणपाद वह श्रीकृष्ण चन्द्रकान्ति प्रवाह प्रभाव से सेवापरायण जनगण की जड़ता को अपहरण करें।

कृष्णचन्द्र—आशा मात्र से ही अर्थात् सेवकवृन्द की आकाङ्क्षा मात्र से ही उन सबके समीप में उदित होते हैं। अपर चन्द्र आकाश मात्र में अर्थात् केवल पूर्वदिक में ही उदित होता है। यह पद्मिनी चन्द्र का अर्थात् पद्मिनी कामिनीकुल का बन्धु है। प्रसिद्ध चन्द्र—पद्मिनी एवं चक्र अर्थात् पङ्कजिनी एवं चक्रवाक का शत्रु है। इनकी नित्य परिपूर्णता प्रसिद्ध है। चन्द्र की परिपूर्णता कदाचित् पूर्णिमा तिथिमें हो प्रसिद्ध है। यह अतिशय अर्थात् निरन्तर आमोद एवं मैत्री द्वारा माधुर्यमय है। चन्द्र—अनिशा में अर्थात् निशा भिन्न काल में आमोद मैत्री द्वारा माधुर्यमय नहीं हो सकता है। यह श्रीराधा का आश्लेष अर्थात् आलिङ्गनादि विषय में सर्वदा व्यापृत है। चन्द्र—अनुराधा-अश्लेषादि नक्षत्र के सहित कदाचित् संयुक्त होता रहता है। यह शोणपाद अर्थात् सुलोहित चरण है। चन्द्र श्वेतपाद है, अर्थात् श्वेतकिरण हैं। इस प्रकार शब्दशक्ति से प्रसिद्ध चन्द्र से अतिरिक्त उक्त गुणसमूह के द्वारा कृष्णचन्द्र अपूर्व रूपमें प्रतीयमान होते हैं। अतः इस श्लोक में व्यतिरेक अलङ्कार ध्वनित हुआ है।

यद्यपि ध्वनित्व प्रयुक्त इसको अलङ्कार न कहकर अलङ्कार्य्य कहना समीचीन है, तथापि जिस प्रकार अवधूत व्यक्ति—वर्णाश्रमादि को परित्याग करने पर भी पूर्वावस्था का अनुसन्धान करके उसको ब्राह्मण श्रमण कहा जाता है, उस प्रकार यहाँ पर भी व्यतिरेक ध्वनि का ग्रहण करने पर भी

वस्तुद्योतको यथा—दधती समधुपरागं, परिमलमेकान्तसुकुमारा ।
गुणकलिता ललिते मम, भूषितकण्ठा त्वमेव वनमाला ॥

अत्र शब्दशक्त्या कवेर्वनमालाललितयोः साधर्म्यं निरूप्य प्रयासे व्युपरते सति वस्तुभूतः कश्चिदर्थः स्फुरति । स च त्वमेव वनमाला, नान्येति, त्वां प्रत्येव मे समादरः, नतु तस्याम् तेन त्वदालिङ्गनमेव मे प्रेय इति वस्तु ॥१४

अर्थशक्त्युद्भवोऽर्थस्तु व्यञ्जकः स्वयमुद्भवी ।
कवेः प्रौढ़िक्तिनिष्पन्नो वक्तुस्तत्कल्पितस्य च ॥

अलङ्कार्य्य एवालङ्काराश्रय एव, ध्वनेस्तु प्राधान्यात्, प्राणस्य च शरीरारम्भकत्वात् । शरीरं त्वलङ्काराश्रय एव, नत्वलङ्काररूपम् । कथं व्यतिरेकालङ्कारस्य ध्वनिरूपत्वमित्याक्षेपः । श्रमणोऽवधूतः, यद्यप्यवधूतस्य वर्णाश्रमादिकं किमपि नास्ति, तथापि पूर्वदृष्टस्य ब्राह्मणस्य स्मरणाद्ब्राह्मणभिन्नेऽवधूते कदाचिद्ब्राह्मणोऽयमिति प्रतीतिर्जायते यथा, तथालङ्कारभिन्नेऽपि ध्वनावलङ्कारप्रतीतिर्जायत इति भावः ॥१३

हे ललिते ! भूषितकण्ठा सती त्वमेव मे वनमाला, मधुपस्य भ्रमरस्यानुरागेण सह वर्त्तमानं परिमलं सुगन्धं दधती । ललिता पक्षे, तवाधरमधुपानकर्त्तुर्ममानुरागेण सह वर्त्तमानं परिमलं सुगन्धं दधती, गुणः सूत्रं वैदग्ध्यादिश्च । प्रेय इत्यभीष्टमित्यर्थः । इति वस्तुध्वनिः । मधुपादिशब्दानां परिवृत्तिसहत्वाच्छब्दशक्त्युद्भवः ॥१४॥

तन्निबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्ति—कविना स्वकृतश्लोके निबद्धा उक्ता ये वक्तारस्ते दूतीनायिकाप्रभृतयो बहवो भवन्ति । तेषां प्रौढ़ोक्तिभिर्निष्पन्नं शरीरं यस्य सः । कवेः प्रौढ़िक्तीति अर्थशक्त्युद्भवो यो ध्वनिरिति

अलङ्कार रूपमें कथित हो रहा है । -अर्थात् अलङ्कार भिन्न में भी ध्वनिमें अलङ्कार की प्रतीति होती है । इसी रीति अन्य समस्त की उदाहरण प्रस्तुत कर लेना चाहिये ॥१३॥

वस्तु द्योतक का उदाहरण—अयि ललिते ! तुम एकान्त सुकुमार एवं गुणगुम्फित तथा मधुप राग के सहित पवित्र परिमल को धारण कर रही हो । हे कण्ठभूषणकारिणि ! तुम्हीं हो मेरी वनमाला । इस श्लोक में वनमाला के पक्ष में मधुप अर्थात् भ्रमर का राग, अर्थात् अनुराग के सहित परिमल वा सुगन्ध धारण कर रही हो । इस प्रकार अर्थ बोध होता है ।

ललिता पक्षमें—मधुप अर्थात् तुम्हारा अधरमधु पानकारी जो मैं हूँ, मेरा अनुराग के सहित जनमनोहर गन्ध को धारण कर रही हो । इस प्रकार अर्थ प्रतीत होता है ।

गुण अर्थ से सूत्र, पक्षान्तर में वैदग्ध्यादि को बोध होता है । इस प्रकार शब्दशक्ति से वनमाला एवं ललिता का साधर्म्य निरूपण के अनन्तर कवि का प्रयास निवृत्त होने पर अन्य एक अर्थ स्फुरित होता है - तुम्हीं मेरी प्रिया हो, अपर नहीं । अर्थात् तुम्हारे प्रति मेरा सम्यक् आदर है, अपर के प्रति नहीं । अतएव तदीय आलिङ्गन ही मेरा अभीष्ट है । इस स्थल में यही वस्तु है ॥१४॥

अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि त्रिविध हैं । स्वतः सम्भवी, कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध एवं कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्ति सिद्ध । तन्मध्ये स्वतः सम्भवी व्यङ्ग्य - केवल कवि की उक्ति के द्वारा ग्रथित होता है, इस प्रकार नहीं है । किन्तु लोक व्यवहार में भी यथायथ रूपमें सम्भाव्यमान होता है । अपर दो प्रकार किन्तु लोक

अर्थशक्त्युद्भवो यो ध्वनिः, स त्रिधा भवति — स्वतः सम्भवी, कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नशरीरः, तन्निबद्धवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नशरीरश्चेति। तत्र स्वतः स्वसम्भवी न केवलं कविभणितिमात्रनिष्पन्नः, व्यवहारेऽपि समुचितत्वेन सम्भाव्यमानः ॥१५॥

अन्यौ कविना तन्निबद्धवक्त्रा च प्रतिभानमात्रेण व्यवहारासिद्धावपि निर्मितौ।
वस्तुत्वालङ्कृतित्वाभ्यां ते द्वैविध्येन षट् स्मृताः ॥

तत्रयो भेदा, वस्तुरूपतया, अलङ्काररूपतया च षट् प्रकाराः स्युः।

वस्तुना वस्त्वलङ्कारावलङ्कारेण तेषु चेत्।
व्यज्येते अप्यलङ्कारवस्तुनी द्वादशापि तत् ॥

तेषु षड्विधेषु चेद्यदि वस्तुना वस्तु चालङ्कारश्च व्यज्यते, अलङ्कारेण अलङ्कारो वस्तु च व्यज्यते, तत्—तदा द्वादशापि भवन्तीत्यर्थः ॥१६-१७॥

सूत्रे अर्थशक्त्युद्भवोऽर्थस्तु व्यञ्जक इत्यत्र व्यञ्जकपदबलात्या, अत्रापि व्याख्यायां व्यञ्जको यो ध्वनिः, स त्रिधेति व्याख्येयम्। एवं सति यत्र काव्ये ध्वनेर्ध्वन्यन्तरोद्गारो वर्तते, तादृशोत्तमोत्तमकाव्यस्थितोत्तमोत्तमध्वनेरेव लक्षणम्, अस्यैव द्वादशभेदा वक्तव्याः। यत्र ध्वनेर्ध्वन्यन्तरं नास्ति, केवलध्वनिमात्रं, तद्वर्थं लक्षणान्तरमनुसन्धेयम् ॥१५॥

अन्यौ—इति। स्वतः सम्भवि-ध्वनिभिन्नौ, कविवाङ्निष्पन्नकविनिबद्धवक्तृवाङ्निष्पन्नध्वनी-इत्यर्थः। तौ तु कविना कविनिबद्धवक्त्रा च प्रतिभानमात्रेण स्ववचनेनैव निर्मितौ। तत्र तत्र लोकव्यवहारासम्भवेऽपि चतुर्मुखो ब्रह्मा इव कविरेव सृष्टिकर्त्तेति भावः। अतएवोक्तं काव्यप्रकाशे

व्यवहार सिद्ध न होने पर भी कवि के द्वारा अथवा कवि निबद्ध व्यक्ति के द्वारा, केवल प्रतिभा द्वारा निर्मित होते हैं। उक्त त्रिविध ध्वनि के प्रत्येक के वस्तु—अलङ्कार भेद से षड्विध भेद कल्पित होते हैं।

उक्त षड्विध भेद के मध्य में वस्तु द्वारा वस्तु वा अलङ्कार, एवं अलङ्कार के द्वारा अलङ्कार वा वस्तु व्यञ्जित होने से द्वादशविध भेद होते हैं।

कवि निजकृत श्लोक में जो कुछ दूती नायिका प्रभृति के कथोपकथन निबद्ध किये हैं, उन सबकी उक्ति ही कविप्रौढोक्ति निष्पन्न है। अर्थशक्त्युद्भव जो ध्वनि है; इस कथन से अर्थ व्यञ्जक होता है। यहाँ पर की व्याख्या में व्यञ्जक जो ध्वनि है—वह त्रिविध है, इस प्रकार अर्थ करना चाहिये। अतएव जिस काव्य में ध्वनि से ध्वन्यन्तर का उद्गार होता है; तादृश उत्तमोत्तम काव्यस्थित उत्तमोत्तम ध्वनि का ही लक्षण है, इसके ही द्वादश भेद होते हैं। जहाँ ध्वनि के ध्वन्यन्तर नहीं है, केवल ध्वनिमात्र ही है, तदर्थ लक्षणान्तर का अनुसन्धान करना कर्त्तव्य है ॥१५॥

अपर दो अर्थात् स्वतः सम्भवि ध्वनि भिन्न जो कविवाङ्निर्मित, एवं कवि निबद्ध वक्तृवाङ्निर्मित ध्वनि। ये दो कविनिबद्ध वक्ता की प्रतिभा के द्वारा निज वचन से ही निर्मित हैं। वहाँ वहाँ लोक व्यवहार न होने पर भी चतुर्मुख ब्रह्मा के समान कवि ही सृष्टिकर्त्ता है। इसको लक्ष्य करके ही काव्य प्रकाश के प्रथमोल्लास में उक्त है—"नियतिकृतनियमरहिताम्"।

क्रमेणोदाहरणानि—गउलमहिन्दणन्दण, सुण्णघरे एत्थ मा पविस ।
उज्ज सही ए सामी, गोमी दूरं गओ गोट्ठं ॥
(गोकुलमहेन्द्रनन्दन शून्यगृहेऽत्र मा प्रविश ।
अद्य सख्याः स्वामी गोमान् दूरं गतो गोष्ठम् ॥)

अत्र स्वामिने, ननु प्रियः । गोमी बह्वीनां गवां पतिः, तेन शीघ्रं नायास्यति । दूरम्, ननु नेदीयः, अतश्चिरं व्याप्यास्या गृहं शून्यं भावि । तेनात्र निःशङ्कमेव प्रविश्य विलस्यतामिति वस्तु ॥१८॥

श्रूयते परिमले मल-शब्दो, मेखलादिषु खलाद्यभियोगः ।
चन्दनादिरस एव हि पङ्को नीविकेशरसनादिषु बन्धः ॥

अत्र कवेरप्रयासरचनबलाद् व्रजलोके मलाद्यभावो वस्तुभूतोऽर्थः स्वतः सम्भवी, तेन स्वभावोक्तिरलङ्कार इति द्वैधा ॥१९॥

(प्रथमोल्लासे १) "नियतिकृतनियमरहिताम्" इति । षट् प्रकारा स्युरिति—षड्भेदास्तु सामान्याकारेणापातत एवोक्ताः । किन्तु वक्ष्यमाणद्वादशभेदान्तर्गता एव, ननु तदपेक्षया स्वतन्त्राः । अतएव षड्भेदानां स्वतन्त्रोदाहरणं न वर्तेमं ॥१६-१७॥

क्रमेणोदेति—तत्र स्वतः सम्भविनो ध्वनेर्वस्तुवस्त्वन्तरव्यञ्जकं वस्तुरूपं प्रथमभेदमाह—गोउलेति । "गोकुलमहेन्द्रनन्दनशून्यगृहेऽत्र "मा प्रविश । अत्र सख्याः स्वामी गोमान् दूरं गतो गोष्ठम् ॥' अतश्चिरं व्याप्य अस्य गृहं शून्यं भविष्यतीति वस्तुध्वनिः । तेन वस्तु वस्तुध्वनितात्र, निःशङ्कमित्यादिवस्तुध्वनिरित्यर्थः ॥१८॥

अलङ्कारव्यञ्जकं वस्तुरूपं द्वितीयभेदमाह—श्रूयत इति । व्रजे मलाद्यभाव एव, वस्तुभूतो

उक्त त्रिविध ध्वनि प्रत्येक—वस्तु एवं अलङ्काररूप भेद से षड् प्रकार हैं । उक्त षड्विध के मध्य में वस्तु द्वारा वस्तु वा अलङ्कार एवं अलङ्कार के द्वारा अलङ्कार वा वस्तु व्यञ्जित होने से उक्त ध्वनि द्वादशविध होती हैं ॥१६-१७॥

क्रमशः उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—हे गोकुलनन्दन ! तुम इस शून्य घर में प्रवेश न करो, कारण, अनेक गोधनशाली मेरी सखी का स्वामी आज सुदूर गोष्ठ को गया है । यहाँ 'स्वामी' शब्द का उल्लेख हुआ है; किन्तु "प्रिय" शब्द का उल्लेख नहीं हुआ है । इससे प्रतीत होता है—वह प्रिय नहीं है । वह बहु गोधनशाली है, अर्थात् अनेक गोधनों को लेकर सत्वर वह आ नहीं सकेगा । 'सुदूर गोष्ठ' अर्थात् गोष्ठ निकटवर्ती न होने के कारण—अनेक समय पर्यन्त गृह शून्य रहेगा, ये सब वस्तु ध्वनित हुई हैं ।

इससे बहुक्षण पर्यन्त गृहशून्य रहेगा, अतएव उस समय पर्यन्त निःशङ्क चित्त से इस घर में प्रवेश कर विलासोविसम्पादन करो । इस प्रकार वस्त्वन्तर भी ध्वनित हुई है ॥१८॥

व्रजमें परिमलमें ही मल शब्द का प्रयोग होता है । खल शब्द का प्रयोग मेखलादिमें ही होता है । पङ्क शब्द—चन्दनादि प्रयुक्त जलमें होता है, एवं निवि, केश, वसन बन्धमें ही बन्ध शब्द का प्रयोग होता है ।

गञ्जनान्न हि बिभेषि गुरूणां, खञ्जनाक्षि यमुनामधुनागाः ।
अञ्जनाभ इह कुञ्जर एकः, कञ्जनालदलभञ्जनकारी ॥

अत्र सखीं प्रति सखी वदति । खञ्जनाक्षीति सम्बोधनमर्यादाया सखीरूपो वक्ता । अधुनेति अकालेऽपि यदगास्तेन स्नातुं नागाः, कृष्णसङ्गार्थैवागा इति काव्यलिङ्गालङ्कारस्तेन त्वं गुरूणां गञ्जनान्न बिभेषीति गुरुगञ्जने तव भयं नास्ति, यथा कृष्णाङ्गसङ्गविरहे इति वस्तु ध्वन्यते । एवं कुञ्जर इति कृष्णनामापह्नवेनापह्नुत्यलङ्कारेण कृष्णकुञ्जरयोः सादृश्य-व्यञ्जनादुपालङ्कारश्चेति, स्वतः सम्भविनः श्लोकत्रयेण चातुर्विधम् ॥२०॥

कविप्रौढोक्तेश्चातुर्विध्यं यथा—

स्पन्दते यदि पदादि तदासां, स्यन्दते मधुरिमामृतधारा ।
सङ्गतः पवनजाद् व्रततीनामङ्गतो मधुकणा इव भूमौ ॥

अत्र कविप्रौढोक्तिरेव, न पूर्ववत् स्वतःसम्भवी स चार्थः । यासां पदादिस्पन्दनमात्रेण प्येवं माधुर्यरसप्रतिपत्तिरित्यहो आसां लोकोत्तरतेति वस्तुभूतोऽर्थः । स च तासां रासादिनृत्यविधौ

व्यङ्ग्यस्तेन वस्तुना स्वभावोक्त्यलङ्कारो व्यङ्ग्य इत्यर्थः ॥१९॥

अञ्जनेति—अञ्जनस्येव आभा कान्तिर्यस्य सः, ईदृश एक कुञ्जरः कमलनालस्य दलभञ्जनकारी । कृष्णपक्षे, अतिशयोक्त्या सुन्दरीणामधररूपपद्मदलस्य भञ्जनकारी ॥२०॥

स्पन्दत इति—आसां व्रजसुन्दरीणां पादाद्यङ्गं यदि स्पन्दते चलति, तदा माधुर्य्यामृतं स्यन्दते

यहाँ कवि की अप्रयासजीत रचना से व्रज में मलादि का अभावरूप अर्थ ही स्वतः सम्भवी व्यङ्ग्य वस्तु है । एवं उससे स्वभावोक्ति अलङ्कार व्यञ्जित हुआ है ॥१९॥

अयि खञ्जनाक्षि ! गुरुजनगण की गञ्जना से तुम भीत नहीं हो । इसी समय तुम यमुना को गई थी, यमुना में अञ्जन प्रभाविशिष्ट एक कुञ्जर है । वह कञ्जनालदल भञ्जन करता रहता है ।

इस श्लोक में—सखी को सखी कहती हैं । 'खञ्जनाक्षि' इस प्रकार सम्बोधन हेतु सखीरूप वक्ता अनुमित होता है । 'इसी समयमें' इस उक्ति से जब तुम असमय में जा रही हो, तब कृष्णाङ्ग सङ्ग हेतु तुम्हारा यह गमन है, यह स्नान हेतु नहीं है । इस प्रकार काव्यलिङ्गालङ्कार ध्वनित होता है । 'गुरुजन की गञ्जना से तुम भीत नहीं हो' इससे कृष्णाङ्गसङ्ग विरह में जिस प्रकार तुम भीत हो, इस प्रकार भय गुरुगञ्जना से तुम्हारा नहीं है, यह ध्वनित हुआ है । एवं वहाँ 'अञ्जन के सदृश वर्णयुक्त एक कुञ्जर है' इस वाक्य के द्वारा कृष्णनाम का अपह्नव हेतु अपह्नुति अलङ्कार ध्वनित होता है । इस प्रकार श्लोक त्रय के द्वारा स्वतः सम्भवी का चतुर्विधत्व प्रदर्शित हुआ ॥२०॥

कवि प्रौढोक्ति भी चतुर्विध हैं । उदाहरण—समीर संसर्ग से लतावली के अङ्ग से जिस प्रकार मधुबिन्दु क्षरित होता है, उस प्रकार व्रजसुन्दरीवृन्द के पदादि अङ्ग स्पन्दित होने पर उससे माधुर्य्य की धारा क्षरित होती है ।

इस श्लोक में पूर्ववत् स्वतः सम्भवी नहीं हुई है । कारण—माधुर्य्य, अमूर्त्त पदार्थ होने के कारण

वा कीदृश इति वस्तु व्यनक्तीति वस्तुना वस्तु । उत्तरार्द्धे व्रततीनां पवनजात् सङ्गात् मधुकणा इवेति तासामपि व्रततिभिरुपमेत्युपमालङ्कारेण स्वभावोक्त्यलङ्कारो ध्वनित इति द्वेधा ॥२१॥

गोकुले कुलजबालबधूनां, श्यामधामनि मनोरथभाजाम् ।
नोज्जगाम न जगाम विरामं, सौहृदं हृदय एव जुघूर्णे ॥

अत्र कविप्रौढोक्तिः । नोज्जगामेति लज्जाधिक्यं वस्तु, 'न जगाम विरामम्' इति हृदय-क्षोभातिशयो घूर्णनत्वे नोत्प्रेक्षित इति उत्प्रेक्षालङ्कारश्च ॥२२॥

स्तुमः किन्त्वामम्भोधरसुभगशम्भोरधिशिरः,
पदाम्भोजद्वयाम्भो यदकृतपदं श्रीस्तव ततः ।

स्रवति । न पूर्ववत् स्वतः सम्भवीति माधुर्य्यस्यामूर्त्तत्वात् तस्य धारोपतनासम्भवेन लोकव्यवहारे असमुचितत्वान्न स्वतः सम्भवीत्यर्थः ॥२१॥

गोकुल इति—श्यामधामनि श्रीकृष्णे मनोरथभाजां पूर्णरागवतीनां कुलजबालबधूनां सौहृदं नोज्जगाम, नोद्गतं बभूव, लज्जया ताभिर्न व्यक्तं चक्रे इत्यर्थः । कविप्रौढोक्तिरिति—सौहृदस्यामूर्त्तत्वेन घूर्णनक्रियाया असम्भवादिति भावः । तेन तेनेति । वस्तुव्यङ्ग्यद्वयेनेत्यर्थः । उत्प्रेक्षित इति—उत्प्रेक्षालङ्कारो व्यङ्ग्य इत्यर्थः ॥२२॥

उसकी धारा का पतन की असम्भाविता हेतु वह लोकव्यवहार सिद्ध नहीं है । सुतरां उसको कविप्रौढोक्ति कही जा सकती है । उसके द्वारा इस प्रकार वस्तु स्वरूप अर्थ व्यञ्जित हो रहा है कि—जिनके पदादि अङ्ग स्पन्दन मात्र से ही इस प्रकार माधुर्य्य रस का उच्छ्वास होता है, उन सबकी कैसी लोकोत्तर रमणीयता है । इस प्रकार वस्तुभूत अर्थ से इस प्रकार वस्तु व्यञ्जित हो रही है कि—जो इस प्रकार लोकोत्तर रमणीय हैं, रासादि नृत्य के अवसर में उन सबकी रमणीयता किस प्रकार अपूर्व भाव धारण करती है । एवं 'समीर संसर्ग से लतावली के अङ्ग से मधुबिन्दु क्षरण के समान' इस प्रकार उक्ति से लतावली के सहित व्रजसुन्दरीगण की उपमा एवं उक्त उपमालङ्कार के द्वारा स्वभावोक्ति अलङ्कार की ध्वनि हुई है । इस रीति से दो प्रकार ध्वनि को जानना होगा ॥२१॥

गोकुल धाममें श्यामसुन्दर के प्रति अभिलाषवती कुलबालाओं का अपूर्व सौहार्द उच्छ्वसित होकर हृदय से निर्गत नहीं हुआ है । अथच विराम प्राप्त भी नहीं हुआ है । केवल हृदय के मध्य में ही घुमता रहता था ।

यहाँ कविप्रौढोक्ति 'हृदय से उच्छ्वसित होकर निर्गत नहीं हुआ ।' इस उक्ति के द्वारा कुलबालागण के लज्जाधिक्यरूप वस्तु 'विराम प्राप्त भी नहीं है ।' इस उक्ति के द्वारा उन सबके सौहृद्य की अत्यन्त दृढ़तारूप वस्तु एवं उसके द्वारा 'हृदय के अभ्यन्तर में ही घूर्णमान था' इस वाक्यमें हृदयगत क्षोभातिशय्य एवं अमूर्त्त सौहृद्य वस्तु का घूर्णन असम्भव हेतु उत्प्रेक्षालङ्कार ध्वनित हुआ है ॥२२॥

हे मेघमधुरमूर्त्ति परमपुरुष ! आप का स्तव और हम क्या करें ? आपके पादपद्म से निःसृत

उमायै दत्त्वार्द्धं वपुरपरमर्द्धञ्च भवते,
गुणेभ्यो निर्मुक्तः स परमभवद्ब्रह्म परम ॥

अत्र कविप्रौढोक्तिः तत्र शम्भोरधिशिरो यद्यस्मात्तव पदाम्भः पदमकृत, तेन त्वमन्य एव कोऽपि सर्वोपरिवर्त्तमानः स्तवविषयो नेत्यतिशयोक्त्यलङ्कारः। तेन उमायै दत्त्वार्द्धं वपुरपरमर्द्धञ्च भवत इत्यादिना स वपुर्विरहेण परं ब्रह्माभवत्, त्वन्तु वपुषैव परं ब्रह्म इति वस्तु,—इति कविप्रौढोक्तिश्चतुर्द्धा ॥२३॥

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिर्यथा—परिपुट्ठे परिपुट्ठं, झीणे झीणं समम्मि समं।
माहव तीए अंगं, तुज्झ सिणेहेण घडिअं व ॥

(परिपुष्टे परिपुष्टं क्षीणे क्षीणं समे समम्। माधव तस्या अङ्गं तव स्नेहेन घटितमेव ॥)

अत्र सा आयुषा जीवतीति न, अपितु तव स्नेहेनैवेति वस्तु। 'तुज्झ सिणेहेण घडिअं व' इति तस्या अङ्गं त्वत्स्नेहोपादानमिति अङ्गान्तराद्व्यतिरिक्तं तदङ्गमिति व्यतिरेकालङ्कारः, इति वस्तुनालङ्कारः ॥२४॥

स्तुम इति। भो अम्भोधर सुभग! मेघ इव सुन्दर, श्रीकृष्ण, यद् यस्मात्तदेव पदाम्भोजस्याम्भो गङ्गा महादेवस्याधिशिरः शिरसि पदमास्पदमकृत, तत एव हेतोः त्वां सर्वोत्कृष्टं किं स्तुमः? त्वच्चरणोदक-स्पर्शेन स महादेवो गुणेभ्यो मुक्तः सन् परब्रह्म अभवत्। हे परम! ननु देहसत्त्वे महादेवस्य परमेश्वरत्वेन देहस्य नित्यत्वाच्च नाशसम्भवः, अतः कविप्रौढोक्तिः ॥२३॥

परिपुट्ठेति। 'परिपुष्टे परिपुष्टं क्षीणे क्षीणं समे, समम्। माधव तस्या अङ्गं तव स्नेहेन घटितमेव ॥' हे माधव! तव स्नेहे परिपुष्टे सति, अस्या अङ्गमपि परिपुष्टं भवति, अतस्तव स्नेहेन

मन्दाकिनी महादेव के मस्तक में स्थित है। आप निज शरीर के एकार्द्ध उमा को एवं अपरार्द्ध आपको देकर, गुणनिर्मुक्त होकर स्वयं परमब्रह्म हुए हैं।

यहाँ कवि प्रौढोक्ति है। महादेव के मस्तक को पादपद्म निःसृत धारा का आश्रयस्थान करण हेतु श्रीकृष्ण का सर्वोपरि वर्तमानत्व है। सुतरां श्रीकृष्ण स्तव का अविषय है। इस रीति से यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार हुआ है। एवं उस अलङ्कार के द्वारा, उमा को शरीर का एकार्द्ध एवं श्रीकृष्ण को शरीर का अपरार्द्ध दान करके शरीर शून्यता हेतु महादेव का परमब्रह्मत्व एवं श्रीकृष्ण का शरीर धारण से ही परमब्रह्मत्व रूप वस्तु व्यञ्जित हुई है। इस रीति से कविप्रौढोक्ति चतुर्विध है ॥२३॥

कविनिबद्ध वक्तृ प्रौढोक्ति का उदाहरण—हे माधव! श्रीराधा का शरीर जैसे तुम्हारे स्नेह से ही निर्मित है, इस प्रकार बोध होता है। देखो, तुम्हारा शरीर परिपुष्ट रहने से ही श्रीराधा का शरीर परिपुष्ट होता है। तुम्हारा शरीर क्षीण होने से श्रीराधा का शरीर क्षीण होता है। तुम्हारा शरीर समान अवस्था में रहने से श्रीराधा का शरीर भी समान अवस्था में रहता है।

यहाँ श्रीराधा जी निज आयुः से ही जीवित रहती हैं—ऐसा नहीं, तुम्हारे स्नेह से ही जीवित रहती है, यह वस्तु है। "श्रीराधा का शरीर मानो तुम्हारे स्नेह से ही निर्मित है, इस प्रकार बोध होता

श्रुतियुगमभिधत्ते श्रीलवृन्दावनेऽसौ, त्वनुदिशमिति नेत्रद्वन्द्वमात्माहृदीति ।
क्व नु भवसि महात्मन् ब्रूहि कष्टासवोऽमी त्वदनुसरणपान्थाः कण्ठ एव भ्रमन्ति ॥

अत्र कविनिबद्धानुरागिणीबालावक्त्री । अस्याः प्रौढोक्तौ, शब्दप्रत्यक्षानुभवरूपं प्रमाणत्रयं परस्परव्याहतमपि सर्वमेव प्रमाकरणम्, ननु कुत्रापि अप्रामाण्यमिति वस्तु, तेन च त्वं व्यापकोऽसीति वस्तु, तेन एकस्य सर्वानुगतत्वाद्विरोधे विरोधालङ्कारो व्यतिरेको वा ।

निर्मितमस्या अङ्गम् । अङ्गान्तरादिति पञ्चभूतारब्धदेहान्तराद्व्यतिरिक्तमित्यर्थः । इति वस्तुनाऽभिव्यङ्ग्योऽलङ्कारः । अत्र कविनिबद्धवक्त्री दूती । यद्यपि लोकव्यवहारे देहस्य स्नेहारब्धत्वाभावात् प्रौढोक्तिस्तथापि ह्लादिनीरूपाणामासां देहस्य प्रेमारब्धत्वेन स्नेहारब्धत्वं नासम्भवमिति बोध्यम् ॥२४॥

माथुरविरहेणात्यन्तव्याकुला काचिद्व्रजसुन्दरी श्रीकृष्णमुद्दिश्याह—श्रुतियुगमिति । हे महात्मन् श्रीकृष्ण ! रे मत्कर्णद्वय ! भवद्भ्यां श्रीकृष्णो दृष्ट इति मया पृष्टं श्रुतियुगं त्वं वृन्दावने वर्त्तसे इत्यभिधत्ते । तथा च साऽनुरागवशात् निरन्तरं कृष्णो वृन्दावने वर्त्तते—इति कर्णेन शृणोतीति भावः ।

पुनर्मया पृष्टं नेत्रद्वन्द्वम्, त्वं सर्वासु दिक्षु वर्त्तसे—इति वदति, अनुरागाधिक्यात् सर्वत्रैव तं नेत्रेण पश्यतीति भावः । पश्चान्मया पृष्ट आत्माबुद्धिः, त्वं हृदये वर्त्तसे इति वदति, तथा च सा बुद्ध्या निरन्तरं तं हृदये पश्यतीति भावः । तेषां वचनेन मम निर्धारो न जातः, अतस्त्वं पृच्छ्यसे निश्चयं कृत्वा वद, त्वं कुत्र भवसि । कष्टा एतावत् पीडायामपि न निःसृतत्वात् दुःखरूपा मम प्राणास्त्वदनुसरणे तव पश्चाद्गमने पान्थाः पथिकाः सन्तस्त्वद्वार्त्तामप्राप्य स्वस्थानं त्यक्त्वा कण्ठ एव भ्रमन्ति ।

अत्र यद्यपि लोकव्यवहारदृष्ट्या एकव्यक्तेरेकस्मिन् क्षणे स्थलत्रयसमवर्त्तित्वस्यासम्भवेन तज्ज्ञानस्यासम्भवात् प्रौढोक्तिस्तथाप्यचिन्त्यैश्वर्ये श्रीकृष्णे एकक्षणे स्थलत्रयवृत्तित्वं नासम्भवमित्याह—अस्याः प्रौढोक्ताविति । प्रमाणत्रयं परस्परं व्याहतम्, एकक्षणे स्थलत्रयवर्त्तित्वस्य प्रमात्मकज्ञानजननेऽसमर्थमपि सर्वमेव प्रमाणत्रयं प्रमाकरणम् । कृष्णे न कस्यापि वस्तुनोऽसम्भवः, अतो न कुत्राप्यप्रामाण्यमिति वस्तु व्यङ्ग्यम्, वस्तुव्यङ्ग्येन त्वं व्यापकोऽसीति वस्तुव्यङ्ग्यं, वस्तुना व्यङ्ग्य वस्तुरूप एको भेदः । पुनस्तेन व्यापकत्वरूपवस्तुनैकस्य परिच्छिन्नस्य सर्वत्रानुगतत्वविरोधेन विरोधालङ्कारः ।

है । अर्थात् तुम्हारे स्नेह ही उसका शरीरका उपादानकारण है । सुतरां वह पञ्चभूतारब्ध साधारण शरीर की अपेक्षा पृथक् है । इस प्रकार व्यतिरेकालङ्कार है । यहाँ वस्तुके द्वारा अलङ्कार व्यङ्ग्य हुआ है ॥२४॥

मेरे श्रवणयुगल कह रहे हैं—तुम श्रीवृन्दावन में विहार कर रहे हो । नेत्रद्वय कहते हैं—तुम चतुर्दिक में वर्त्तमान हो, आत्मा कहती है—तुम हृदय में विराजित हो । हे महात्मन् ! मेरा यह कष्टसह प्राण, तुम्हारे अनुसरण पथ के पथिक होकर कण्ठ पथ में ही परिभ्रमण कर रहा है । हाय नाथ ! सत्य कर कहो, तुम कहाँ हो ?

यहाँ कविनिबद्ध अनुरागिणी बाला ही वक्त्री है । उस बाला के प्रौढोक्ति हेतु शब्द, प्रत्यक्ष एवं अनुभवरूप प्रमाणत्रय परस्पर व्याहत हुये हैं । अर्थात् एक समयमें स्थलत्रय वृत्तिता की प्रमा ज्ञानोत्पादन में असमर्थ होने पर भी प्रमाण का कारण हुये हैं । श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में कुछ भी असम्भव नहीं है । अतएव किसी भी स्थान में अप्रामाण्य नहीं है । यह एक वस्तु है । उसके द्वारा श्रीकृष्ण की सर्वव्यापकता रूप वस्तु एवं उसके द्वारा एक व्यक्ति के पक्ष में सब स्थान में अनुगतत्व रूप विरोध हेतु विरोधालङ्कार

क्व नु भवतीति प्रश्नेन सन्देहालङ्कारः, तेन महात्मन्निति कदाचिद् यदि न ब्रूषे, तदा कपटी त्वमिति हेत्वलङ्कारः। तेन कष्टासवोऽमी त्वदनुसरणपान्थाः कण्ठ एव भ्रमन्तीति मदसवः संस्थानं त्यक्तवन्त एव निर्णयमविज्ञाय कण्ठ एव घूर्णन्ते, अतो निर्णीय कथ्यतामिति वस्तु। "इदं पद्यमस्मद्गुरोः" इति कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिश्चतुर्धा।

शब्दार्थभूरेक एव;

शब्दार्थोभयशक्त्युत्थो ध्वनिरेक एव। केषाञ्चिन्मतेऽत्रापि वस्त्वलङ्कारसद्भावादनेकविधत्वं स्यात्, तन्निरासाय एवकारः। किन्तु तन्मतं न सङ्गच्छते इति न तेन लिखिष्यमाणभेदाधिक्यमपि भेदानाम् ॥२५-२६॥

यथा—अशेषसन्तापहरो जनुभृतां, सदावलाकाम्दमेदुरद्युतिः।
त्विषाञ्चयैर्माधवजीवनप्रदो, भवान् भुवं श्यामयते घनो नभः ॥

यदि परमेश्वरत्वेन नायं विरोध इत्युच्यते, तथापि व्यतिरेकालङ्कारस्तु भवत्येवेत्याह—व्यतिरेको वेति। एतादृशः पुरुषोऽन्यो नास्तीति पुरुषान्तराद् विलक्षणोऽयमिति व्यतिरेकालङ्कार इत्यर्थः। तथा च वस्तुव्यङ्ग्योऽलङ्कार इति द्वितीयो भेदः। तेनैव सन्देहालङ्कारेण तथा च मत्सन्देहनिवर्त्तकं वाक्यं यदि न ब्रूषे, तदा त्वं न महात्मा, किन्तु कपटीति हेत्वलङ्कारः। तेनालङ्कारव्यङ्ग्योऽलङ्कार इति तृतीयभेदः।

तेन हेत्वलङ्कारेण मत्प्राणाः कण्ठ एव घूर्णन्ते, अतो निर्णीय कथ्यतामिति वस्तुव्यङ्ग्य तथा चालङ्कारव्यङ्ग्य वस्त्विति चतुर्थो भेदः। एवं सति एकस्मिन्नेव श्लोके चतुर्धा भेदो द्रष्टव्यः। अतएवैतत् पद्यं कवेरतिशयोक्तिद्योतकमिति ज्ञेयम्। तन्मतं न सङ्गच्छत इति न, अपि तु सङ्गच्छत एव। तेन तन्मते लेखिष्यमाणभेदादपि भेदानामाधिक्यं बोध्यम् ॥२५-२६॥

उभयशक्त्युद्भवध्वनेरुदाहरणमाह—यथेति। हे माधव! भवान् त्विषां चयैः कान्तिसमूहैर्भुवं

हुआ है। एवं यदि परमेश्वररूप में विरोध नहीं होता है, तो यावतीय पुरुष से श्रीकृष्ण का वैलक्षण्य को मान लेने से व्यतिरेकालङ्कार हुआ है। 'हाय नाथ! तुम कहाँ हो' इस प्रश्न के द्वारा सन्देहालङ्कार हुआ है। 'महात्मन्' शब्द के द्वारा बोध होता है कि 'यदि तुम नहीं कहते हो, तुम किस स्थानमें हो, तब तुम कपटी हो।' यह हेत्वलङ्कार है।

'यह कष्टसह प्राण तुम्हारे अनुसरण पथ का पथिक होकर कण्ठ पथ में ही भ्रमण कर रहा है।' अर्थात् मेरा कठिन प्राण—सहसा निर्गत न होने पर भी निज स्थान से निर्गत हुआ है, एवं निश्चय रूपसे जानने के निमित्त कण्ठ पथमें ही घूम रहा है। अतएव 'तुम निर्णय कर कहो कि—तुम किस स्थानमें हो' यह एक वस्तु है। ये सब इस श्लोकमें व्यञ्जित हुये हैं। यह श्लोक मदीय श्रीगुरुचरण के द्वारा विरचित है। इस प्रकार कविनिबद्ध वक्तृ प्रौढोक्ति के चार प्रकार भेद का प्रदर्शन हुआ ॥२५-२६॥

उभय-शक्त्युद्भव ध्वनि का उदाहरण—हे माधव! मेघ, जिस प्रकार कान्तिपुञ्ज से नभ स्थल को श्यामलित करता है, तुम भी उस प्रकार निज कान्ति समूह के द्वारा धरातल को श्यामल किये हो। तुम दोनों ही जीवनप्रद एवं स्निग्ध द्युतिके हो, एवं उभय ही प्राणिवृन्द के अशेष सन्तापहारक हो।

परमतेऽत्रापि वस्त्वलङ्कारसद्भावः ॥२७॥

यथा वा—मध्वन्तकृत् सुमनसामामोदैर्घ्राणतर्पणः।

राधाद्यपरपर्य्यायो माधवः कस्य न प्रियः ॥२८॥

वाक्येऽष्टादशधा त्विमे ॥

इमेऽष्टादशधा ध्वनयो वाक्ये भवन्तीत्यर्थः। अष्टादशधास्वं तु अविवक्षितवाच्यस्य द्वौ भेदौ

श्यामयते श्यामां करोति, मेघस्तु दिवसांचयरं काशं श्यामयते। एवमबलानां कामदश्चासौ स्निग्धद्युतिश्चेति तथाभूतो भवान्, मेघोऽपि वलाकया वकपंक्त्या शोभाजनमदो युक्तः तथाभूतोऽसौ स्निग्धद्युतिश्चेति। मेघपक्षे, जीवनं जलम्। अत्र मेघकृष्णयोरुपमालङ्कार एव व्यङ्ग्यः, न तु व्यङ्ग्यान्तरम्। स चोपमालङ्कारो वलाका जीवनाविरूपपरिवृत्त्यसह-पदव्यङ्ग्यत्वात् शब्दशक्त्युद्भवः, तथा देहधारिणामशेष-सन्तापहर इति परिवृत्ति सह-विशेषणपदजन्यार्थव्यङ्ग्यत्वादर्थशक्त्युद्भवश्चेति ज्ञेयम्। परमतेऽत्रापि कष्टेन वस्त्वादिध्वनिसद्भावः स्वीक्रियत इति ॥२७॥

उभयशक्त्युद्भवस्योदाहरणान्तरमाह—यथा वेति। काचिद्व्रजसुन्दरी गुरुजनाशङ्कया श्लेषेण स्वसखीमाह—हे सखि! माधवो वैशाखः कस्य न प्रियः; पक्षे श्रीकृष्णः। मधोश्चैत्रस्यान्तकृत्—वैशाखस्य प्रथमदिनारम्भ एव चैत्रस्यान्तधानादिति।

कृष्णपक्षे, मधुनाम्नो दैत्यस्यान्तकृत्। सुमनसां स्वोद्भवपुष्पाणामामोदैर्जनानां घ्राणं तर्पयतीति, पक्षे, शोभनं मनो येषां तासां सुन्दरीणामामोदः स्वीयाङ्ग-गन्धैर्घ्राणं तर्पयतीति। राधादिशब्दस्त्वापर-पर्य्यायो यस्य सः, 'वैशाखो माधवो राधः' इत्यभिधानात्।

पक्षे—राधाया एवाद्यः प्रथमः परः श्रेष्ठः पर्य्यायः परिसरणमनुगतिर्यस्य सः। अत्रापि वैशाखकृष्णयो-रुपमालङ्कारो व्यङ्ग्यः, स च परिवृत्त्यसहो मधुपदसुमनःपद-राधापदव्यङ्ग्यत्वादेव शब्दशक्त्युद्भवः। तथा परिवृत्तिसहान्तकृदामोद-घ्राण-तर्पणादि-विशेषण पदजन्यार्थव्यङ्ग्यत्वादर्थशक्त्युद्भवश्च ॥२८॥

जिस प्रकार मेघ सदा वलाका मद है, अर्थात् वलाका पङ्क्ति का वक पङ्क्ति का आनन्ददायक है, तुम भी उस प्रकार सदाबला कामद हो, अर्थात् सर्वदा अबलावृन्द को कामप्रद हो ॥२७॥

उभय शक्त्युद्भव ध्वनि का उदाहरण—माधव—वैशाखमास श्रीकृष्ण, किसका प्रिय नहीं है? वैशाखमास मधु—चैत्रमास का अन्तकारी है। श्रीकृष्ण—मधु नामक दैत्य का अन्तकारी है। सुमना—पुष्प समूह के आमोद के द्वारा जनसमूह की घ्राणेन्द्रिय को तृप्त करता है। पक्षमें—मनस्विनी गोपाङ्गना की घ्राणेन्द्रिय को आमोद द्वारा तृप्त करता है। एवं राधादि अपर पर्य्याय—अर्थात् वैशाख पक्षमें राधा प्रभृति अपर पर्य्याय शब्द है जिसका, तादृश कृष्ण के पक्षमें, राधा में ही प्रथम एवं पर पर्य्याय अर्थात् परिसरण है जिसका, उस प्रकार श्रीकृष्ण किसका प्रिय नहीं है। यहाँ वैशाख कृष्ण में उपमालङ्कार व्यङ्ग्य है। वह परिवृत्ति असह—मधुपद, सुमनःपद, राधापद—व्यङ्ग्य है। एवं शब्दशक्त्युद्भवः है। उस प्रकार परिवृत्ति सह—अन्तकृद् आमोद घ्राण तर्पणादि विशेषण पदजन्य अर्थ व्यङ्ग्य हेतु वाङ्ग्य वशतः अर्थशक्त्युद्भव है ॥२८॥

वाक्यमें अष्टादश प्रकार ध्वनि का भेद हैं। अविवक्षित वाच्य के दो भेद, अर्थान्तर संक्रमित वाच्य

अर्थान्तरसंक्रमितमत्यन्ततिरस्कृतञ्चेति । विवक्षितवाच्यस्य षोडश-असंलक्ष्यक्रमव्यङ्गच एकः, संलक्ष्यक्रमव्यङ्गचश्च पञ्चदश । तत्र शब्दशक्त्युद्भवो द्वौ, अर्थशक्त्युद्भवद्वादश, उभयशक्त्युद्भव एकः ।

वाक्य एव द्विशक्त्युत्थः ।

शब्दार्थोभयशक्त्युद्भवो ध्वनिर्वाक्य एव । (२।३६) 'इह वृन्दावनमज्झे' इत्यादि तदुदाहरणम् ।।२९-३१।।

पदे सप्तदशापरे ।

उभयशक्त्युत्थं विनाऽपरे सप्तदशपदेऽपीत्यर्थः । तथा च—

"पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती । एकेनैव प्रसूनेन नवेवोद्यानकेतकी ।।" इति ।।३२।।

तत्र दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

पार्षदाः पार्षदा यस्य लक्ष्मीर्लक्ष्मीः कृपा कृपा ।
अवतारोऽवतारश्च स देवः केन सेव्यते ।।

वाक्ये इति परस्परासक्तिमत् पदचयघटितत्वं वाक्यत्वमित्यर्थः । यथा च—पूर्वोक्तानि सर्वाण्येवोदाहरणानि वाक्ये एव दत्तानि, न तु स्वतन्त्रैकपदे इति भावः । अष्टादशप्रकाराणां गणनामाह—अष्टेति । षोडशप्रकाराणां विवक्षित-वाच्यानां गणनामाह—असंलक्ष्यक्रमेति । पञ्चदशप्रकाराणां संलक्ष्यक्रमव्यङ्गचाणां गणनामाह—तत्र शब्दशक्त्युद्भव इति ।

तेषां ध्वनीनां मध्ये शब्दार्थोभयशक्त्युद्भवो ध्वनिस्तु वाक्य एव सम्भवति, न तु पदे । तदुदाहरणमिति—तेषामष्टादशप्रकाराणामुदाहरणमित्यर्थः । उभयशक्त्युत्थं विना अपरसप्तदशप्रकाराणां पूर्ववाक्ये उदाहरणानि दत्तानि, पदेऽप्युदाहरणानि सम्भवन्तीत्याह—उभयेति ।।२९-३१।।

ननु यत्किञ्चित् पदध्वनिना काव्यसमुदाये कथमुत्तमत्वव्यवहारः? तत्राह—पदेति । पदद्योत्येन ध्वनिना सुकवेर्भारती काव्यरूपावाणी भाति, यथोद्यानस्था नवीनाकेतकी एकेनैवपुष्पेण भाति । केतकी-वृक्षस्य नवीनदशायामेव शोभातिशय इति भावः ।।३२।।

तत्र पदे । पूर्वोक्तलक्षणामूलव्यङ्गचभेदस्यार्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य केवलपदे उदाहरणमाह—

एवं अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य । एवं विवक्षित वाच्य—षोडश प्रकार हैं । असंलक्ष्य क्रमव्यङ्गच (१) एकविध, संलक्ष्य क्रमव्यङ्गच (१५) पञ्चदशविध, उक्त पञ्चदशविध ध्वनि के मध्यमें शब्दशक्त्युद्भव (२) द्विविध । अर्थशक्त्युद्भव (१२) द्वादशविध, उभय शक्त्युद्भव (१) एकविध । वाक्यमें ही शब्दार्थोभय शक्त्युद्भव ध्वनि होती है । 'हे सखि ! इस वृन्दावन के मध्य में' इत्यादि पूर्वोल्लिखित वाक्य उसका उदाहरण है ।।२९-३१।।

तद्भिन्न अपर सप्तदशविध ध्वनि पदमें भी होती है । उक्त विषय में प्रमाण—जिस प्रकार एक ही पुष्प प्रस्फुटित होने से ही उद्यानस्थ नवीन केतकी की अपूर्व शोभा होती है । उस प्रकार एक ही पदमें ध्वनि द्योतित होने पर भी सुकवि की भारती शोभिता होती है ।।३२।।

उक्त विषयमें उदाहरण—जिनके पार्षद ही पार्षद हैं, जिनकी लक्ष्मी भी लक्ष्मी हैं, जिनकी कृपा ही

अत्र द्वितीयपार्षदादि-शब्दा निरन्तरपार्श्वस्थत्व-निरपायित्व-निरुपाधित्व-जन्ममरणभाव-रहितत्वेष्वर्थान्तरेषु संक्रमिताः ॥३३॥

तवानुकम्पा तु तवैव शोभते, ममापि दौर्जन्यमहो ममापि हि ।
रतिर्न दीर्घा मम दीर्घमेव ते, प्रेमप्रियाऽहं तव कृष्ण किं ब्रुवे ॥

अत्रानुकम्पा, अननुकम्पा, दौर्जन्यमदौर्जन्यम्, न दीर्घा-दीर्घा, दीर्घम्, अदीर्घम्, प्रिया—अप्रियेति-अत्यन्ततिरस्कृतम्; इत्युभयपदगम्यम् । (३।५) "फलमपि फलमाकन्दनाम् ॥" इत्यादौ, (३।७) 'सौभाग्यमेतदधिकम्' इत्यादौ चोभयोर्वाक्य एव विश्रान्तिरिति भेदः ॥३४॥

पार्षदा इति । अत्र द्वितीयपार्षदपदस्य सदा पार्श्वस्थितत्वे लक्षणा, तदा चान्येषां पार्षदापेक्षया भगवत् पार्षदस्य सर्वोत्कर्षो ध्वनितः । इति लक्षणामूलो व्यङ्ग्य एकस्मिन्नेव पार्षदपदे उत्कर्षाद्यर्थेन संक्रमितत्वादर्थान्तरसंक्रमितश्च ज्ञेयः । एवं द्वितीयलक्ष्मीपदेन अनपायित्वे लक्षणा । तथा च भगवत्-सम्पत्तिरेवानपायिनी । अतः सर्वोत्कृष्टेति ध्वनिः ।

द्वितीयकृपापदेन निरुपाधित्वे लक्षणा । तथा च भगवत्कृपैव सर्वोत्कृष्टेति ध्वनिः । द्वितीयावतार-पदेन जन्ममरणभावराहित्ये लक्षणा । तथा च भगवदवतार एव सर्वोत्कृष्ट इति ध्वनिः ॥३३॥

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य केवलपदे एव उदाहरणमाह—तवेति । काचिन्मानिनी श्रीकृष्णं प्रति सोल्लुण्ठवचनमाह—तवानुकम्पा—कृपा तवैव शोभते । अत्रानुकम्पापदस्याकृपायां विपरीतलक्षणा, तथा च कठोरत्वदोषेण त्वं दुष्ट इति ध्वनिः । वाच्यार्थस्य तिरस्कारः स्पष्ट एव । दौर्जन्यपदस्य सौजन्ये विरुद्धलक्षणा, तथा च स्वोत्कर्ष इति ध्वनिः । मम रतिर्न दीर्घा, विरुद्धलक्षणया दीर्घेत्यर्थः । तव प्रेम दीर्घम्, विरुद्धलक्षणया अदीर्घमित्यर्थः । तवाहं प्रियेत्यत्र प्रियापदस्याप्रियायां लक्षणा, तथा च मम

कृपा है, एवं जिनका अवतार ही अवतार है, उन अद्वितीय देव—त्रिभुवन में किस व्यक्ति के द्वारा सेवित नहीं होते हैं ?

यहाँ द्वितीय पार्षद शब्द का निरन्तर पार्श्वस्थितत्वरूप अर्थ है । द्वितीय लक्ष्मी शब्द का अनपायित्व रूप अर्थ है । द्वितीय कृपा शब्द का निरुपाधित्व अर्थ है । द्वितीय अवतार शब्द का जन्म-मरण भाव राहित्य अर्थ है । इस रीति से अर्थान्तर में संक्रमित हुआ है ॥३३॥

हे कृष्ण ! मैं तुम्हारी प्रिय हूँ । तुमको क्या कहूँगी ? तुम्हारी अनुकम्पा—तुम्हारे में ही शोभित होती है, मेरी—दुर्जनता मेरी उपयुक्त है । मेरा अनुराग दीर्घ है, अर्थात् स्थायी नहीं है । तुम्हारा अनुराग ही दीर्घ है ।

यहाँ 'प्रिया—अप्रिया, अनुकम्पा—अननुकम्पा, दुर्जनता—अदुर्जनता है । दीर्घ नहीं है; अर्थात् दीर्घ है, दीर्घ अर्थात् अदीर्घ एवं प्रिया अप्रिया है । इस प्रकार अत्यन्त तिरस्कृत ध्वनि हुई है ।

उक्त श्लोकद्वय में उभयविध ध्वनि ही पदगम्य हुई है । आम्र फल भी फल ही है, सिता भी वह सिता ही है, इत्यादि श्लोक में एवं "हे नाथ श्रीकृष्ण ! तुम्हारा यहाँ पदार्पण मेरे को अतीव सौभाग्यप्रद है", इत्यादि श्लोक—उक्त उभयविध ध्वनि वाक्य में ही विश्रान्त है । अतः पदगत ध्वनि का प्रभेद सुस्पष्ट प्रतीत होता है ॥३४॥

तं वअणं सो पफंसो, तं रूअं तं सरीरसोरब्भं ।
ते अहरमहुरिमाणो, दाणिं हालाहलं जाअं ॥
(तद्वचनं स स्पर्शस्तद्रूपं तच्छरीरसौरभ्यम् ।
तेऽधरमधुरिमाण इदानीं हालाहलं जातम् ॥)

अत्र तदादिपदान्यनुभवगोचरानर्थान् प्रकाश्य पूर्वममृतवदासीत् सर्वमिति वस्तुप्रकाशयन्तीति पदगतो ध्वनिः ॥३५॥

शब्दशक्त्युद्भवो यथा—मुग्धे पद्मिनि कुलजे, मा कार्षीरत्र विश्वासम् ।
अनवस्थितोऽतिमदतः, सोऽयं साक्षादनेकपः कृष्णः ॥

अत्रानेकप-शब्द एकार्थोऽपि कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिवशादनेकार्थतां गतः सन् 'मुग्धे' इत्यादि सम्बोधनत्रयार्थेन साधनेन साध्यं स्वगतमनवस्थितत्वादिकम् । यथा—त्वं मुग्धा,

---

निकटे तवागमनमनुचितमित्युपालम्भो ध्वनिः । फलमपि फलं माकन्दानामिति—पूर्वोक्तोदाहरणस्य द्वितीयफलपदस्याधरापेक्षया निन्दत्वध्वनौ सह तुलयितुं तेनैतेषां न किञ्चन युज्यते—इति वाक्यान्तरस्यापेक्षा वर्तते । एवं अन्येषां न्यूनताबोधकस्याधरोऽधर इति वाक्यस्यापेक्षा वर्तते । अतो न तत्र केवलपदमात्रे ध्वनिरिति । सौभाग्यमेतदधिकमिति पूर्वोक्तोदाहरणस्य सौभाग्यादिपदानां विरुद्धलक्षणया प्रेमशून्यत्वरूप-ध्वन्यर्थबोधे न समर्थ्यते न भवतात्मगृहस्य मार्गे इत्यादि बहुवाक्यानामपेक्षा वर्तते इति पदमात्रे ध्वनिः ॥३४॥
अभिधामूलध्वनेः प्रभेदस्य शब्दशक्त्युद्भवस्य पदमात्रे क्रमेणोदाहरणमाह—तं वअणं इति । "तद्वचनं स स्पर्शस्तद्रूपं तच्छरीरसौरभ्यम् । ते अधरमधुरिमाण इदानीं हालाहलं जातम् ॥" अत्र वाक्यान्तरापेक्षां विना केवलं तत्पदेनैव वचनादिनाममृतत्वं ध्वनितम् । आज्ञामात्रे, विलसदुदय इति पूर्वोक्तपद्ये प्रसिद्धचन्द्राद्व्यतिरेकालङ्काररूपध्वनावनेकवाक्यानामपेक्षा स्पष्टैवेति ॥३५॥

मुग्ध इति—हे मुग्धे ! अत्र कृष्णे विश्वासं मा कार्षीः, यतोऽयमनवस्थितो धृष्ट इत्यर्थः । एवमतिमदादनेकपो मत्तो हस्ती च । ननु अनेकपशब्दोऽनेकजनपालन कर्त्तरि रूढिरेव, तत् कथमवयव-व्युत्पत्त्या तस्य हस्तिबोधकत्वमिति ? अत आह—अत्रेति । असम्भवोऽप्यर्थः; कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति-वशात् सम्भवतां प्राप्नोति । अतोऽनेकपद-शब्दस्य हस्तिवाचकत्वं नासम्भवमिति बोध्यम् ।

वह वचन, वह स्पर्श, वह रूप, वह शरीर सौरभ, वह अधरमाधुर्य अधुना सब ही गरलमय हो गये हैं । इस श्लोक में 'वह' पद समूह, अनुभवगोचर पदार्थसमूह को प्रकाश करके पहले समस्त ही अमृतमय थे, इस प्रकार वस्तु को प्रकाश कर रहे हैं—अतः उसको पदगत ध्वनि कहनी चाहिये ॥३५॥

अयि मुग्धे पद्मिनि ! यह कृष्ण साक्षात् अनेकपदस्वरूप है । यह अनवस्थित एवं अतीव मदशाली है । हे कुलजे ! इसके प्रति विश्वास करना तुम्हारे पक्ष में अनुचित है ।

इस श्लोक में अनेकप शब्दार्थ वाचक होने पर भी कविनिबद्ध वक्ता की प्रौढोक्ति हेतु अनेकार्थ का वाचक है । एवं उस प्रकार अनेकार्थ वाचक होकर मुग्धे इत्यादि सम्बोधन त्रयरूप साधन के द्वारा साध्य

अयमनवस्थितः, त्वं कुलजा, अयमतिमदः, त्वं पद्मिनी, अयमनेकपो हस्तीत्यर्थत्रयं बोधयति। अनेकं पातीति, अनेकेन पिबतीति च, अनेकबधूपतिर्मत्तहस्ती च। पद्मिनीति नायिकाविशेषः, कमलिनीति च। त्वं कुलजा, अयमनेकं पिबतीति मत्तश्च, तेनात्र विश्वासं मा कार्षी-र्यतोऽतिमदतोऽनवस्थितः। मदो दानं गर्वश्च, तेनास्य वश्यं मर्दयिष्यतीति वस्त्वनन्तरं वस्त्वन्तरञ्च। हस्तिसाधर्म्याद् उपमालङ्कारः, अनवस्थित इति हेत्वलङ्कारः, अनेकस्य भर्त्तेति स्वभावोक्त्यलङ्कारः—इत्यलङ्कार व्यञ्जकः शब्दशक्त्युद्भवः पदगतः ॥३६॥

मुग्धे इत्यादीति—हे मुग्धे ! हे पद्मिनि ! हे कुलजे-इति, सम्बोधनपदानां मुग्धात्व-पद्मिनीत्व-कुलजातत्वरूपार्थत्रयेण साधनेन साधनज्ञानेन श्रीकृष्णगतमनवस्थितत्वाद्यर्थत्रयं साध्यं, यथासंख्येन बोधयति। तथा हि तव मौग्ध्यं विलोक्यैव तव धाष्ट्र्यं प्रादुर्भवति, न तु सर्वदा धृष्टः। एवं तव कुलजात्माकर्ण्य सतु मत्तो भवति, नतु सदा मत्तः। एवमन्यत्रापि।

यथासंख्यमेवाह—यथेति। त्वं मुग्धा, अयमनवस्थितो धृष्टः। अनेकप-शब्दस्य व्युत्पत्त्या नानार्थत्वमपि बोधयति—अनेकमिति। अनेकं बधूजनं पाति स्वाङ्गसङ्गदानेन रक्षतीति व्युत्पत्त्या अनेकप-शब्दानेकबधूपतिशब्दयोस्तुल्यार्थत्वात्। अनेकप-शब्देन अनेकबधूपतिः कृष्णो बोध्यः। एवमनेकाधरं पिबतीति व्युत्पत्त्यापि कामोन्मत्तः कृष्ण एव बोध्यः। तथा अनेकेन स्त्रीपुत्रादिना सह पिबतीति व्युत्पत्त्या हस्ती बोध्यः। मत्तहस्तिनः स्वभाव एवायं यत् स्त्रीपुत्रादिभिः सहैव जलं पिबति, पाययति च तान्।

यद्वा, अनेकाभ्यां मुखशुण्डाभ्यां पिबतीति। हस्तिपक्षे, मदो दानं, मदजलमित्यर्थः। कृष्णपक्षे, मदो गर्वः। तेन चेति। तेन वस्तुरूपव्यङ्ग्य नेत्यर्थः। अनवस्थितत्वेन धृष्टत्वेनातिमदत्वेन च हेतुना अयं श्रीकृष्णस्त्वां न त्यक्ष्यति, किन्तु त्वामवश्यं मर्दयित्वैव वस्त्वन्तर व्यङ्ग्यम्। अनवस्थितत्वेन हेतुना भावि मर्दनस्यानुमानात् हेत्वालङ्कारश्च व्यङ्ग्यः।

वस्तुतः श्रीकृष्णो नेकस्य जगतो भर्त्ता, इत्यनेकप-शब्देन स्वभावोक्त्यलङ्कारश्च बोध्यः। पदगत

अनवस्थितत्व प्रभृति अर्थत्रय प्रकाशित हो रहे हैं। उक्त अर्थत्रय इस प्रकार हैं—

तुम मुग्धा हो, इस हेतु कृष्ण भी अस्थिर चित्त है। अर्थात् तुम्हारी मुग्धता को देखकर ही उसकी मत्तता भी इस प्रकार हुई है। तुम पद्मिनी हो, वह भी अनेकप है, अर्थात् हस्ती है। अनेक को पालन करता है, अथवा अनेक पान करता है। इस प्रकार व्युत्पत्ति से अनेकप शब्द से अनेक बधूपति का एवं मदमत्त हस्ती का बोध होता है। पद्मिनी का अर्थ—नायिका विशेष एवं कमलिनी है। मद शब्द का अर्थ—गर्व एवं हस्ती की मदधारा है। तुम कुलजा हो, यह कृष्ण अनेक बधूजन के अधरादि पान करता है, एवं मत्त भी है। सुतरां इसको विश्वास करना ठीक नहीं है। जब यह अति मदशाली है, अतः यह अनवस्थित है। अतएव हस्ति के संसर्ग से पद्मिनी के समान उसके संसर्ग से तुम विमर्दित हो जाओगी। यह वस्तु है। अनवस्थितत्व एवं अतिमदशालित्व हेतु तुमको यह अवश्य ही विमर्दित करेगा। यह वस्त्वन्तर है।

हस्ति का साधर्म्य हेतु उपमालङ्कार है। मर्दन के प्रति अनवस्थितत्व रूप हेतु का निर्द्देश होने से हेत्वलङ्कार हुआ है।

पदगतार्थशक्त्युद्भवः स्वतःसम्भवी यथा—

णिहुअणकथाहि धण्णा, णिअपरिवारं सुहावेन्ति ।
अप्पाणं पि ण हु तदा, सुमरइदाणि भणाउ किं भोदी ॥
(निधुवनकथाभिर्धन्या निजपरिवारं सुखापयन्ति ।
आत्मानमपि नहि तदा स्मरतीदानीं भणतु किं भवती ॥)

अत्र न ता धन्यास्त्वमेव धन्या, तासां सखीभ्यो वयमतिसुखिन्यः, त्वदानन्दावेशादेव वयमकथनेनाप्यानन्दभाजः। तास्तु तत्कथयवेति धन्यापदगतः स्वतः सम्भवी। अपरे तूह्या, ग्रन्थगौरवभयान्नोदाह्रियन्ते। वाक्यगताः पूर्वमेव कियन्तो दर्शिताः ॥३७॥

पञ्चत्रिंशत्तमो भेदाः,

ततोऽष्टादशभिः सप्तदशभिश्चेत्यर्थः।

इति—अत्र परस्परान्वित पदघटितं वाक्यं विनैव केवलं पद्मिनीपदेनैव केवलानेकपादिपदेन च तत्तद्-ध्वन्यर्थबोधो जायते इति भावः ॥३६॥

णिहुअणेति—'निधुवनकथाभिर्धन्या निजपरिवारं सुखापयन्ति। आत्मानमपि न तदा स्मरति इदानीं भणतु किं भवती ॥' निधुवन—शब्दो नायिका-नायकयोः सम्भोगवाची। न वा धन्या इति तासां प्रेम्णोऽल्पप्रमाणत्वेन सम्भोगजन्या-नन्दस्याप्यल्पप्रमाणत्वं। तथा च तासां सम्भोगसमये देहाद्यनुसन्धानसत्त्वात् सखीनामग्रे तत्समयोचितवृत्तान्तकथनं सम्भवति, तव त्वानन्दानां सम्मर्द नात्मानु-सन्धानमेव नासीत्, कुतः सखीनामग्रे विशेषवार्त्ता कथनसम्भावनापि। अतस्तासां सखीभ्यः सकाशाद् वयमतिसुखिन्यः। अत्र वाक्यं विनैव केवलधन्यापदेन स्वतः सम्भवी ध्वनि बोध्यः।

अपरे कविप्रौढोक्तिकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्त्यादय। ध्वनयः पूर्वं कियन्त एव दर्शिताः, नतु तत्रापि विस्तरः कृतः ॥३७॥

अथवा अनेक का भर्त्ता है; इस प्रकार अर्थ की विद्यमानता हेतु स्वभावोक्ति अलङ्कार है। यहाँ परस्परान्वित पदद्वय घटित वाक्य के बिना ही केवल कमलिनी पद के द्वारा एवं केवल अनेकपादि पद के द्वारा विविध वस्तु एवं अलङ्कार व्यञ्जक शब्दशक्त्युद्भव पदगत ध्वनि हुई है ॥३६॥

जो सम्भोग वृत्तान्त वर्णन करके निज परिवार वर्ग को सुखी करते हैं, वे धन्य हैं। किन्तु तेरा तो उस समय अपना स्मरण नहीं रहता है, सुतरां हे सखि! तू कैसे उस समय के वृत्तान्त को वर्णन हम सबके पास करेगी?

इस श्लोक से वे सब धन्या नहीं हैं, तुम्हीं धन्या हो, उसकी सखियों से हम सब अधिक सुखी हैं। कारण, तुम्हारा अधिकतर अनिर्वावेश हेतु तुम उस समय का वृत्तान्त न कहने पर भी हम सब अतिशय आनन्दभागिनी हैं। वे सब उस वृत्तान्तसमूह को सुनकर ही उस प्रकार आनन्दभागिनी होती हैं। इस प्रकार पद में स्वतः सम्भवी ध्वनि है। अन्यान्य ध्वनि भेद का उदाहरण प्रस्तुत सुधीगण स्वयं ही करें। ग्रन्थगौरव भय के उसका उदाहरण प्रस्तुत नहीं करते हैं। पूर्व में कतिपय वाक्यगत ध्वनि का उदाहरण संक्षेप से प्रस्तुत किया गया है ॥३७॥

प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ।

अर्थशक्त्युद्भवो द्वादशविधो ध्वनिः प्रबन्धेऽपि ।

सप्तचत्वारिंशदतः,

अतो हेतोः सप्तचत्वारिंशद् भवन्ति ॥३८-४०॥

प्रबन्धे दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

सहन्ति गन्धं विण वै जणा णं, णवप्पसूआ सअला हि गाओ ।
ण तेण दोहो ण पआप्पसङ्गो, अज्जे बहूओ तुह विण्णवेन्ति ॥
(सहन्ते गन्धमपि न वै जनानां नवप्रसूता सफला हि गावः ।
न तेन दोहो न पयः प्रसङ्ग आर्य्ये वध्वस्त्वां विज्ञापयन्ति ॥)

अत्र बधूभिः प्रेषितश्वश्रूधात्र्या नप्त्री तासां श्वश्रूंप्रति कथयति ॥४१॥

तच्छ्रुत्वा सापि जरती तामाह—

करेसि किं णत्तिणि धत्ति आएं, वएससरीं लम्भिअ विण्णवेहि ।
तुहाण सव्वं मह गोहणादि, धणं जणाओ वि सुहं च दुक्खं ॥

पञ्चत्रिंशत्ततो भेदा इति सूत्रम् । तस्य व्याख्या—तत इति । तथा च पूर्वोक्तवाक्यगताष्टादशभिस्तथा उभयशक्त्युद्भवध्वनेस्तु केवलपदगताष्टादशभिस्तथा उभयशक्त्युद्भवध्वनेस्तु केवलपदगतत्वासम्भवात् अतः पदगतसप्तदशभिश्च मिलित्वा पञ्चत्रिंशद्भेदाः सिद्धा इति भावः । चतुर्भिः पञ्चभिर्वा श्लोकैः सिद्धा या कल्पना कथा सा प्रबन्धः । तत्रार्थशक्त्युद्भवो द्वादशविधो ध्वनिः सम्भवति । सप्तचत्वारिंशदत इति ॥३८-४०॥

सहन्तीति । 'सहन्ति गन्धमपि न वै जनानां नवप्रसूताः सकला हि गावः । न तेन दोहो न पयः प्रसङ्ग आर्य्ये बधूस्त्वां विज्ञापयन्ति ॥'४१॥

करेमीति । 'करेमि किं नप्त्री धात्र्या व्रजेश्वरीं लब्ध्वा विज्ञापय-ि युष्माकं सर्वं मम गोधनादिधनं

उक्त रीति से पूर्वोक्त वाक्यगत अष्टादश एवं पदगत सप्तदश भेद से, पञ्चत्रिंशत् भेद होते हैं । प्रबन्ध में भी अर्थशक्त्युद्भव द्वादशविध ध्वनि होती हैं । समष्टि में सप्तचत्वारिंशत् ध्वनि भेद सुनिष्पन्न हुआ ॥३८-४०॥

प्रबन्ध में दिङ्मात्र उदाहरण यह है—आर्य्ये ! बधूगण विज्ञापित कर रही हैं, समस्त धेनु ही नवप्रसूता है, वे लोकों की गन्ध को भी सहन नहीं करती हैं । इस हेतु दोहन अर्थात् दुग्ध का प्रसङ्ग कुछ भी नहीं है । इस श्लोक में बधूगण कर्त्तृक प्रेरिता श्वश्रू धात्री नप्त्री बधूवृन्दकी श्वश्रू को कहती है ॥४१

सुनकर वृद्धा श्वश्रू बोली—हे धात्रिका नप्त्रि ! मैं क्या करूँगी । तुम व्रजेश्वरी के निकट जाकर कहो कि मेरा यह गोधन, परिजन, सुख, दुःख—सब कुछ तुम्हारे हैं । धेनु दोहन करना मेरे पक्ष में

सुदुप्पओहा मद सव्व गाओ, पुत्ता विदूरे किमहं करेमि ।
विलोअणादो तुह णंदणस्स, सुदुप्पओहावि सअंप्पओहा ॥४२-४३॥

इति जरत्युत्तरान्ते गोष्ठेश्वरीं गत्वा तया यदुक्तं तत्कथयति—

एव्वं क्खु ताए भणिदा गदोहं, वएस्सरीं उत्तवदी समत्थं ।
उत्तेण ताए कुमरेण उत्तं, गोसंप्पओहो मम ण क्खु होइ ॥
(एवं खलु तया भणितागताहं व्रजेश्वरमुक्तवती समस्तम् ।
उक्तेन तया कुमारेणोक्तं गोसंप्रदोहो मम न खलु भवति ॥)

इति चतुःसंवादप्रबन्धे वधूभिः कृष्णसन्दर्शनार्थमुपायमनवेक्ष्य प्राकरणिक-दुष्प्रदोहगोदोहाभाव-प्रसङ्गः श्वश्रूं प्रति विज्ञापितः । अत्रापह्नुति-नामालङ्कारः । तथा च गोदोहोपायं चिन्तयित्वा हे धात्रिका-नप्त्रि ! गोष्ठेश्वरीं गत्वा विज्ञापयेत्युत्तरं दत्तमित्युत्तरालङ्कारः ।

ततश्च 'सुदुःप्रदोहा मम सर्वगावः' इति स्वभावोक्तिरलङ्कारः । विलोकनादित्यादिनाऽतिशयोक्तिः । तथा च सुखदोहे परिश्रमस्तस्य न भविष्यतीति वस्तु । गोसप्रदोहः प्रभात-प्रदोहो मत्तो न भवतीति निश्चयालङ्कारेण सायं दोहस्तु मया कर्त्तव्य इति वधूनामाशयं

जना अपि सुखं च दुःखम् । सुदुष्प्रदोहा मम सर्वगावः पुत्रा विदूरे किमहं करेमि । विलोकनात्तवनन्दनस्य सुदुष्प्रदोहा अपि स्वयं प्रदोहाः ॥४२-४३॥

जरत्या उक्तेरनन्तरं व्रजेश्वरीनिकटं गत्वा तत्सर्वं कथितम्, पश्चात्तया गोष्ठेश्वर्या यद्यदुक्तं तत् सर्वं पुनर्वधूनिकटे आगत्य धात्र्या नप्त्री कथयति—एवमिति । 'एवं खलु तया भणिता गताहं व्रजेश्वरीमुक्तवती समस्तम् । उक्तेन तया कुमारेणोक्तं गोसंप्रदोहो मम न खलु भवति ।' गोस-शब्दः प्रातःकालवाची । चतुःसंवादेति—वधूभिः सह धात्रीनप्त्र्याः संवादः प्रथमः, पश्चाद्धात्रीनप्त्र्या सह

कष्टकर है । पुत्रसमूह दूरदेश में हैं, अधुना मैं क्या करूँ ? तुम्हारे पुत्र को एकबार देखने से धेनुवृन्द स्वयं दुग्धदान करेंगी ॥४२-४३॥

वृद्धा के कथनानुसार गोष्ठेश्वरी के निकट में धात्रिका नप्त्री कही थी । अनन्तर व्रजेश्वरी कुमार को कहने से कुमारने कहा—गो दोहन करना सम्भव नहीं है ।

इस प्रकार चतुः संवादमय प्रबन्ध में प्रथम कृष्ण दर्शन हेतु उपायान्तर न देखकर सास के प्रति वधूगण के द्वारा कष्ट दोह्या धेनुवृन्द का दोहनाभाव वृत्तान्त निवेदन । दोहनोपाय चिन्तनानन्तर सास बोली थी,—'तुम जाकर व्रजेश्वरी को कहो' इस प्रकार उत्तर प्रदान । यहाँ उत्तरालङ्कार है । अनन्तर धेनुवृन्द अति कष्ट दोह्या हैं । यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार है । 'तुम्हारे पुत्रको देखने से धेनुवृन्द स्वयं ही दुग्ध दान करेंगी' यहाँ अतिशयोक्ति है । उक्त अतिशयोक्ति के द्वारा सुखकर दोहन विषय में कुमार को कष्ट उठाना नहीं पड़ेगा—यह वस्तु है । "मैं गो दोहन कर न सकूँगी" यहाँ गो शब्द का अर्थ है—प्रभात,—अतः प्रभात समय में गो दोहन करना मेरे पक्ष में सम्भव नहीं है । इस प्रकार अभिप्राय प्रकाश करने से निश्चयालङ्कार हुआ । उसके द्वारा 'सायं काल में गो दोहन अवश्य मैं कर दूँगा' इस प्रकार सङ्केत—

ज्ञात्वा छलेन सङ्केतः कृत इति वस्तु—' इति चतुःश्लोक्या समुदितः प्रबन्धो हि मुख्यो व्यञ्जकः।

तथा हि 'जनानां गन्धमपि न सहन्ते' इत्यन्यैरदोह्यत्वं वस्तु। अत्र नवप्रसूता इति हेतोर्हेत्वलङ्कारः। तेन 'कृष्णं विना नासां दोहः' इति श्वश्र्वा, कृष्ण आनायितव्य इति वस्त्वन्तरम्। न तेन दोह इत्यनेन पयोऽभावाद् वयमक्रियाः स्मः। अत्र मा कोपं कार्षीरिति च वस्त्वन्तरम्। 'तुह्यण सव्वं' इत्यादिना विनयमहिम्ना कृष्णोऽवश्यं व्रजेश्वर्या प्रेषयितव्य इति वस्तु।

एवं नाटकादिषु चेति तद्भेदकथनेनानन्त्यप्रसङ्ग इति नात्र लिखितः। एवं प्रबन्धेऽप्यन्य एकादशापि बोद्धव्याः ॥४४॥

पदांशाद्या रसाञ्जकाः ॥

पदांशवर्णरचना इति त्रितयमपि रसस्य व्यञ्जकं भवति। रसोऽत्रासंलक्ष्यक्रमः।

धात्रीनप्त्र्याः संवादः प्रथमः, पश्चाद्धात्रीनप्त्र्या सह जरत्याः संवादो द्वितीयः, तदनन्तरं व्रजेश्वर्या सह धात्रीनप्त्र्याः संवादस्तृतीयः, तदनन्तरं व्रजेश्वर्या सह श्रीकृष्णस्य संवादश्चतुर्थः। इत्येवं क्रमेण चतुःसंवादो ज्ञेयः। अतिशयोक्तिरिति विलोकनमात्रादेव प्रथमं ता दुग्धं भविष्यन्ति, पश्चात् कृष्णस्ता धोक्ष्यतीति, कार्यकारणविपर्ययात्मा अतिशयोक्तिरिति चतुर्थी। मुख्यो व्यञ्जक इति—पूर्वोक्ता व्यञ्जका न प्रधानीभूताः, अतएव प्रबन्धो मुख्योऽमुख्यव्यञ्जकपरोऽपि सम्भवतीत्यर्थः। मुख्यव्यञ्जकमानेवाह—तथा हीति। अत्र व्यङ्ग्यवस्तुनि, अदोह्यत्वे इत्यर्थः। अनन्त-प्रसङ्ग इति—अनन्तध्वनिभेदप्रसङ्ग इति हेतोरत्र न लिखितः ॥४४॥

पदांशादिभी रसस्य त्रयो भेदाः। एवं प्रबन्धस्थले एको भेदः, एवं क्रमेण चत्वारो भेदाः सिद्धाः।

वधूवृन्द के आशय को जानकर ही किया गया है—यह वस्तु है। ये सब व्यञ्जित हैं। उक्त श्लोकचतुष्टय में स्थित प्रबन्ध ही मुख्य व्यञ्जक है।

धेनुवृन्द अपर मनुष्य की गन्ध सहन नहीं करती हैं। अर्थात् अन्य कर्त्तृक वे अदोह्या हैं। यह वस्तु अपर के अदोह्यत्व के प्रति नवप्रसूतत्वरूप हेतु का निर्देश होने पर हेत्वलङ्कार है। एवं तद्द्वारा कृष्ण व्यतीत अपर कोई दोहन कर ही न सकेगा। अतएव सास अवश्य कृष्ण को बुलावेगी। यह अन्य एक वस्तु हैं। इस हेतु दोहन अर्थात् दुग्ध का प्रसङ्ग नहीं हुआ है। इससे दुग्ध न होने के कारण—हम सबके प्रति कोप न करो, यह एक वस्तु है। 'मेरे गोधनादि समस्त ही तुम्हारे हैं' इस प्रकार विनय महिमा से सन्तुष्ट होकर व्रजेश्वरी कृष्ण को अवश्य ही प्रेरण करेंगी। यह एक वस्तु है। ये सब व्यञ्जित हो रहे हैं।

नाटकादि में भी इस प्रकार है। उक्त भेदसमूह का उल्लेख करने से ध्वनि के अनन्त भेद उपस्थित होंगे। अतः यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है। इस प्रकार प्रबन्ध में भी अपर एकादश प्रकार भेद को जानना होगा ॥४४॥

पदांश, वर्ण एवं रचना भी रसव्यञ्जक हैं। यहाँ रस—असंलक्ष्यक्रम है, इस हेतु उसके तीन भेद हैं।

तेन तस्य त्रयो भेदाः प्रबन्धेऽपि स कथ्यते। [सोऽसंलक्ष्यक्रमः]

भेदास्तेनैकपञ्चाशत्,

तेन पूर्वलिखित-सप्तचत्वारिंशता चतुर्भिरेतैश्चैकपञ्चाशद् भवन्ति ॥४५-४७॥

पदांशाः पदैकदेशाः। ते च—

प्रकृतिः प्रत्ययः कालो वर्त्तमानादिरेव यः। सम्बन्धो वचनञ्चापि पुरुषव्यत्ययोऽपि च ॥

तद्धितं चोपसर्गश्च निपातः सर्वनाम च। कर्मभूताधिकरणमव्ययीभाव एव च।

तथा पूर्वनिपातश्च पदांशाः परिकीर्त्तिताः ॥

रचना च त्रिधा दीर्घ-मध्य-रिक्त-समासतः ॥

दीर्घसमासा मध्यसमासा—असमासा चेत्यर्थः।

वर्णा मृदुकठोराद्यास्ते पश्चात्प्रतिपादिताः ॥

आद्य-शब्दान्मधुराः। एषां व्यञ्जकत्वे दिङ्मात्रमुदाहरणम् ॥४८-५१॥

ननु वस्त्वलङ्कारादयोऽपि पदांशादीनां ध्वनयः सम्भवन्ति, तत् कथं पदांशादीनां रसमात्रे व्यञ्जकत्वमुक्तं वा चतुर्धाभिदं कृतं? इत्यत आह—रसोऽत्रेति। रसशब्दोऽत्रासंलक्ष्यक्रमसामान्य एव उक्तः, न तु रसमात्रे। अतः पदांशादिजन्यवस्त्वलङ्कारादयोऽप्यसंलक्ष्यक्रमा भवन्तीति न दोषः। तथा च रसो हि वाक्यजन्य-पदजन्यपदांशादिजन्यबोधसामान्य एवासंलक्ष्यक्रमः, वस्त्वलङ्कारादयस्तु पदांशवर्णरचनाजन्यबोधे एवासंलक्ष्यक्रमाः, न तु वाक्यजन्यबोधे पदजन्यबोधे वा असंलक्ष्यक्रमाः, अतएव रसेन सह वस्त्वलङ्कारा-दीनामेतावानेव भेदः। पदांशप्रकृत्युदाहरणे 'मा कुरु मानिनि मानम्' इति पद्ये 'कृञ्' धात्वर्थस्य कृतेरच्छिन्नत्वेन मानस्य न साहजिकत्वम्, अतोऽपराधाभावाद् विभावनालङ्कारः।

इति क्रमेण प्रत्ययादिजन्यवस्त्वलङ्कारव्यङ्ग्यस्यातिगूढत्वेन तत्र तत्र असंलक्ष्यक्रमो ज्ञेयः। वाक्यजन्ये पदजन्ये च बोधे वस्त्वलङ्कारव्यङ्ग्यस्यातिस्पष्टत्वेन तत्र तत्र संलक्ष्यक्रमोऽतो न किमप्यनुपपन्न-मिति भावः ॥४५-४७॥

एवमेव प्रकृति-प्रत्यय-काल-वर्त्तमानादिजन्यबोधेऽपि वस्त्वलङ्कारादीनामसंलक्ष्यक्रमत्वं ज्ञेयम् ॥४८-५१॥

प्रबन्ध में भी उक्त असंलक्ष्यक्रम व्यञ्जक होता है। इस प्रकार पूर्वलिखित सप्तचत्वारिंशत् एवं ये चार के योग से एकपञ्चाशत् संख्यक हैं ॥४५-४७॥

पदांश शब्द से पद का एकदेश को जानना होगा। अर्थात् प्रकृति, प्रत्यय, वर्त्तमानादि काल, सम्बन्ध, वचन, पुरुषप्रत्यय, तद्धित, उपसर्ग, निपात, सर्वनाम, कर्मभूत अधिकरण, अव्ययीभाव एवं पूर्व निपात—इन सबको जानना होगा। दीर्घ समास, मध्य समास एवं असमास ये तीन प्रकार भेद के अनुसार रचना भी तीन प्रकार होती हैं।

वर्णसमूह मृदु एवं कठोर होते हैं। आद्य शब्द से मधुर को जानना होगा। इन सब व्यञ्जकत्व का उदाहरण दिङ्मात्र प्रदर्शित हो रहा है ॥४८-५१॥

तत्र प्रकृतेर्यथा — मा कुरु मानिनि मानं, सुहृदां वचनं प्रवेशय श्रवणे ।
गोकुलमहेन्द्रतनयो, भवतु सनाथः प्रसादमासाद्य ॥

अत्र कृञ् प्रकृत्या कृतेरैच्छिकत्वम्, तेन तन्मानिकरणं त्वदिच्छाधीनमेव, नतु साहजिकत्वम्, तस्यापराधाभावात्, तेन विभावनालङ्कारः, तन्मानं मा कुरु, त्यजेत्यर्थः। सुहृद्वचनं तव श्रवणेप्रविशदपि न प्रवेष्टुं शक्नोति,—तन्मनसः श्रवणेन सहासंयोगात्। तत् प्रवेशय, मनो दीयताम्। सुहृत्सम्बन्धित्वेन वचनस्य श्रवणप्रवेशो युक्त एवेति 'णिच्' प्रत्यय ध्वनिः ॥५२॥

एवं सति रसस्योदाहरणमग्रे रसग्रन्थे वक्ष्यति। अतः प्रत्ययादिजन्यवस्त्वलङ्कारव्यङ्ग्यानामुदाहरणान्याह—मा कुरु मानिनि मानमित्यादि। तव प्रसादं प्राप्य श्रीकृष्णः सनाथो भवत्वित्यन्वयः। तथात्र कृञ् धात्वर्थः कृतिरुपाय एव सम्भवति, नतु फले।

अत्रायं क्रमः - आदौ तृप्तिरूपं फलेच्छा, तदनन्तरं फलस्योपाये भोजने इच्छा, तदनन्तरं तादृशेच्छाधीनाभोजनरूपोपाये कृतिः, तादृश कृत्यनन्तरं भोजनक्रियासिद्धिः।

भोजने जाते सति तृप्तिरूपं फलं स्वतःसम्भवति, नतु फले कृतिः सम्भवति। अनन्यथा भोजनं करोतीति तद्वत्तृप्तिं करोतीत्यपि प्रयोगः स्यात्। एवं सति मानस्यापराधजन्यफलरूपत्व स्वीकारे तत्र फलरूपमाने कृतिर्न सम्भवति।

कृतेरसम्भवादेव 'मानं न कुरु' इति मानविषयककृतिनिषेधोऽपि न सम्भवति। अतो 'मानं मा कुरु' इति वाक्येन मानस्यापराधजन्यफलत्वं न बुध्यते, किन्तु श्रीकृष्णेन सह परिहासार्थं स्वेच्छया मानस्य कृत्रिमत्वमेव बुध्यते इत्याह—अत्र कृञिति।

कृञ् प्रकृत्या कृञ् पदेन, मानविषयककृतेरैच्छिकत्वं, श्रीकृष्णेन सह परिहासार्थमेव कृत्रिमेच्छाजन्यत्वमिति प्रथमं व्यङ्ग्य वस्तु, तेन वस्तुना त्वन्मानकरणं त्वदिच्छाधीनं कृत्रिममेव, नतु साहजिकम्, नत्वपराधजन्यफलरूपम्। तत्र हेतुः—तस्य कृष्णस्यापराधाभावादिति द्वितीयं व्यङ्ग्य वस्तु। तेन वस्तु व्यङ्ग्यवस्तुना विभावनालङ्कारो बोध्यः। 'कारणं विना कार्योत्पत्तिर्विभावना" इति तल्लक्षणम्।

एतादृश गूढ़ार्थानुसन्धानेन वस्त्वलङ्कारादि-ध्वनिर्बोधो जायते, इत्यसंलक्ष्यक्रमत्वमेषां वस्त्वादीनामुचितमेव। एवमुत्तरोत्तरप्रदर्शितानामुदाहरणे सर्वत्रासंलक्ष्यक्रम एव ज्ञेय इति भावः ॥५२॥

प्रकृति का उदाहरण यह है—अयि मानिनि !, मान न करो, सुहृद्वृन्द के वाक्य को श्रवण में स्थान दो। गोकुलेन्द्रनन्दन तुम्हारा प्रसाद को प्राप्त कर कृष्ण सनाथ हो जाय।

यहाँ कृञ धात्वर्थ जो कृति है, उसका ऐच्छिकत्व बोध होता है। इससे मानावलम्बन करना तुम्हारा इच्छाधीन है। वह स्वाभाविक नहीं है, कारण—उसका कोई अपराध नहीं है। इस प्रकार प्रतीति हेतु विभावनालङ्कार होता है, एवं मान न करो, अर्थात् मान त्याग करो, इस प्रकार तात्पर्य प्रकाशित होता है।

सुहृद्वचन तुम्हारे श्रवणमें प्रवेश करके भी प्रविष्ट होने में सक्षम नहीं है। कारण—श्रवण के सहित तुम्हारा मनः संयोग नहीं है। अर्थात् प्रवेश कराओ, अर्थात् मनोयोग करो। वह वचन, सुहृत् सम्बन्धीय होने के कारण—कर्णकुहर में उसको प्रवेश कराना कर्त्तव्य है। इस प्रकार णिच् प्रत्यय की ध्वनि हो रही है ॥५२॥

प्रत्ययस्य यथा—आणिअ भअणदुआरं, धरणीए पाइ आणिकुसुमाइं ।
पिअसहि किंति विसीदसि, पुणो वि चल तत्थ कुसुमत्थं ॥

अत्र कुसुमाहरणच्छलेन वृन्दावनं गत्वा सङ्केतस्थले कृष्णमनागतं वीक्ष्य कुसुमान्यादायैव गृहमागतां पुनः सङ्केतमुरलीस्वनश्रवणानन्तरं पुनर्गमनोत्कण्ठया व्याजेन पातितकुसुमां काञ्चित् प्रतिहृदयज्ञा सखी वदति—प्रियसखि ! किमिति विषीदसि भूमिपातितानि कुसुमानि देवदेयानि न भवन्ति, पुनरपि तत्र कुसुमार्थं गच्छ । मया ते गुरुजनो बोधनीयः, न किञ्चिदपि ते भयमिति 'णिच्' प्रत्ययस्यैव ध्वनिः ॥५३॥

कालस्य यथा—सहजमरुणं नेत्रद्वन्द्वं स्वभावत एव ते,
सतत मुरलीध्वानक्रीड़ाविधौ व्रणितोऽधरः ।
वनविहरणे रात्रौ गात्रं स कण्ठकलाञ्छनं,
कथमिव कृतः स्वामिन् स्वात्माऽपराधविसंष्ठुलः ॥

अत्र कृत इति 'क्त' प्रत्ययेनोक्तातीतकालेन मत्सम्मुखागमनात्पूर्वमेवात्मनस्तवापराधविसंष्ठुलयता

आणिअ भअण-इति । 'आनीय भवनद्वारं धरण्यां पातितानि कुसुमानि । प्रियसखि किमिति विषीदसि-पुनरपि चल तत्र कुसुमार्थम् ॥' णिच् प्रत्ययस्येति पातितानीत्यत्र णिच् प्रत्ययस्येत्यर्थः ॥५३॥

भोः प्राणप्रिये ! ममापराधाभावेऽपि मिथ्यापराधं प्रदर्श्य अधिकं क्रुध्यसि चेत्, भवतु, त्वद् वचनेनैवममापराधकल्पनम्, तथापि त्वत्कृपैव मम निस्तारकारणमिति श्रीकृष्णे वदति सति नाधुना तवापराधो जातः, किन्तु मन्निकटागमनात् पूर्वमेव जात इति स्पष्टीकर्त्तुं कापि मानिनी सोल्लुण्ठवचनमाह—

प्रत्यय का उदाहरण—भवन के द्वार पर्यन्त आनयन कर पुष्पसमूह भूतल में निपतित हुये हैं हे प्रियसखि ! विषाद करके और क्या होगा ? जाओ, पुनर्वार वहाँ से पुष्प ले आओ ।

इस श्लोक में वर्णित है—एक गोपी पुष्पानयन च्छल से वृन्दावन में उपस्थित होकर सङ्केत स्थलमें कृष्ण को अनागत देखकर पुष्पसमूह लेकर घरमें चली आई है । अथच परक्षण में ही सङ्केतस्थान की मुरलीध्वनि को सुनकर पुनर्वार वहाँ उपस्थित होने के निमित्त उत्कण्ठिता होकर छल पूर्वक पुष्पसमूह को भूतल में निपातित करते देखकर मर्मज्ञा सखी उसको कह रही है—हे सखि ! विषाद क्यों कर रही हो ? भूतल में पतित पुष्प देवता को प्रदान किया नहीं जावेगा, पुनर्वार तुम वहाँ पुष्पचयनार्थ गमन करो । मैं तुम्हारे गुरुजन को समझा दूँगी, तुम डरो मत ।

'पातित' यहाँ णिच् प्रत्यय के द्वारा ये सब ध्वनि हुये हैं ॥५३॥

समय का उदाहरण—तुम्हारे नेत्रयुगल तो स्वभावतः अरुणवर्ण हैं, अधर तो मुरलीध्वनि के विलास हेतु स्वभावतः ही सतत व्रणाङ्कित हैं । रात्रिकाल में वनविहार हेतु शरीर तो सर्वदा ही कण्टकचिह्नयुक्त होकर रहता है । हे स्वामिन् ! क्यों तुम्हारे निज शरीर अपराध के द्वारा असमीचीन हो रहा है ?

जाता। ततः परमेव मत्सम्मुखमागतोऽसीत्यतिशयोक्त्यलङ्कारः। तेन च मां प्रति तव भयाधिक्यम्, तां प्रति तव प्रेमाधिक्यमिति वस्तु ॥५४॥

सम्बन्धस्य यथा—अइ पिअसि गोवि आणं, पेअं कण्हस्स अहरपल्लअं मुरलि।
णिअपरविवेअकुसला, अम्मो णो होन्ति सच्छिद्दाओ ॥

अत्र गोपिकानामेवेति स्व-स्वामिभावसम्बन्धः, गोपिकाभिरेव पातुं युज्यते, न त्वयेति व्यतिरेकालङ्कारः। अर्थान्तरन्यासेनापि त्वं सच्छिद्रा, इति व्यतिरेकः ॥५५॥

वचनस्य यथा—विलासचेष्टाः सखि केशिनाशिनो, हालाहलाभाः प्रदहन्ति मे मनः।
कृन्तन्ति मर्माणि गुणा घुणा इव, प्रेमा विकारी हृदि हृद्व्रणो यथा ॥

अत्र 'प्रेमा' इत्येकवचनं, प्रेम्ण एकनिष्ठत्वव्यञ्जकम्, तेन तस्य मय्येव प्रेमा, अतएव विकारी।

हे कृष्ण ! तव नेत्रद्वन्द्वं सहजमरुणम्, नतु कस्या अपि प्रियाया अधररागेणारुणम्, तव गात्रं कण्टकचिह्नेन सह वर्त्तमानम्। हे स्वामिन् ! स्वात्मा स्वदेहः कथमपराधेन विसंष्ठुलोऽसमीचीनः कृत इति सम्भोगचिह्नस्य स्पष्टदर्शनेऽपि यत्त्वं मिथ्या वदसि, तत्र मयि विषये तव भयमेव कारणमित्याह—मां प्रतीति ॥५४॥

अइ इति "अयि पिबसि गोपिकानां पेयं कृष्णस्याधरपल्लवम्। मुरली निजपरविवेककुशला अहो न भवन्ति सच्छिद्राः ॥"५५॥

हृद्व्रणो यथा हृदि नानाविधपीडामयं विकारं करोति, तथैव मयि विषये श्रीकृष्णस्य प्रेमा मम हृदि विकारी भवति। मय्येवेति—मयि विषये एव तस्य प्रेमा, नान्यत्र, अतो मद्धृदये नानाविधविकारमुत्पादयतीत्यर्थः। अत्रेति—पूर्वं 'विलासचेष्टाः' एवं 'गुणाः' इत्यत्र बहुवचनमुक्तम्। अत्र तु 'प्रेमा'

यहाँ 'कृत' 'क्त' प्रत्ययोक्त अतीत कालके द्वारा 'मेरे सम्मुख में आने के पहले ही तुम्हारी यह अपराध विसंष्ठुलता हुई है, उसके बाद ही तुम मेरे पास आये हो' इस प्रकार अर्थ प्रतीति हेतु अतिशयोक्ति अलङ्कार हुआ है। एवं इसके द्वारा मेरे प्रति तुम्हारा भय अधिक है, एवं उसके प्रति प्रेम अधिक है। इस प्रकार वस्तु व्यञ्जित हो रही है ॥५४॥

सम्बन्ध का उदाहरण—श्रीकृष्ण का जो अधरपल्लव गोपिकागण की पेय है, अयि मुरलि ! तुम उसको पान कर रही हो ? कैसा आश्चर्य है ! जो सच्छिद्र होते हैं, वे विचार नहीं करते हैं कि—कौन वस्तु परकीय है।

यहाँ गोपिकावृन्द का ही पेय है, इस प्रकार स्व-स्वामि भाव सम्बन्ध प्रतीत होता है। उससे गोपिकागण को ही पान करना चाहिये, तुमको नहीं। इस प्रकार व्यतिरेक अलङ्कार प्रतीत होता है। एवं अर्थान्तर न्यास के द्वारा भी तुम तो छिद्रबहुला हो, हम सब अच्छिद्रा हैं, अर्थात् निर्दोषा हैं। इस प्रकार व्यतिरेकालङ्कार ध्वनित होता है ॥५५॥

वचन का उदाहरण यथा—हे सखि ! केशव की विविध चेष्टा हालाहल के समान मेरा चित्त को दग्ध कर रही हैं। तदीय गुणराशि घुण के समान मेरा मर्म को छेदन कर रही है। उसका प्रेम हृद्व्रण के समान मेरा हृदय में विषम विकार उत्पन्न कर रहा है।

यहाँ 'प्रेम' एक वचन है। यह प्रेम का एकनिष्ठत्व का व्यञ्जक है। एवं उसके द्वारा उनका प्रेम

अत्र वचनक्रमभङ्गदोष गुण एव ॥५६॥

पुरुषव्यत्ययस्य यथा—गतोऽस्तमर्को विरतश्च घर्मो, वनं न दूरे सुलभञ्च पुष्पम् ।
चलन्तु पुष्पाहरणाय सर्वाः, पूजास्तु देवे शशिखण्ड चूडे ॥

अत्र चलाम इत्यर्थे चलन्तुत्तमपुरुष-व्यत्ययेन प्रथमपुरुषनिर्देशः, तेन यूयमेव वयमित्यपृथग्भावो वस्तु । देवे शशिखण्डचूड इति पृथग्ध्वनिः—देवेशश्चासौ शिखण्डचूडश्चेति ॥५७॥

तद्धितस्य यथा—चिरविरहदहनदग्धं, प्रियसखि ! भस्मैव भावि वपुरेतत् ।
तदनेन विरचनीयं, तत्करमुकुरस्य मार्जनं त्वयका ॥

अत्र त्वयकेति तद्धितेन 'अक' प्रत्ययेन मद्विच्छेदेन त्वमपि शोच्या भविष्यसि, मत्प्रणयेन हि त्वमेतावन्तं कालं तदङ्गमार्जनसौभाग्यभाजनमासीः, मयि मृतायान्तु ते तथाविध सौभाग्यं क्व ? तेन यदि मुकुरादिमार्जनयोग्यता भवति, तदेवं कार्यमिति शोच्यता व्यज्यते ॥५८॥

इत्येकवचनप्रयोगेन सम्भावितो यः क्रमभङ्गदोषः, सोऽत्र नास्ति, प्रत्युत ध्वन्यर्थबोधकत्वेन गुण एवेत्यर्थः ॥५६

काचित् पुष्पाहरणमिषेण वृन्दावनस्थं श्रीकृष्णं स्वसखीस्त्वरयति—गत इति । सूर्योऽस्तं गतः, अतएव घर्मोऽपि विरतः । तस्माच्छीघ्रं पुष्पाण्यानीय देवे शशिखण्डचूडे महादेवे पूजा अस्तु, प्रवृत्ता भवत्वित्यर्थः । श्लेषेण, देवेशश्चासौ शिखण्डचूडश्चेति तस्मिन् श्रीकृष्णे । पृथग् ध्वनिरिति श्लिष्टार्थस्यापि ध्वन्यन्तर्गतत्वादिति भावः ॥५७॥

तद्धितेन 'अक' प्रत्ययेनेति निन्दार्थकाक-प्रत्ययेनेत्यर्थः । मत्प्रणयेनेति त्वयि विषये मम प्रणयातिशयं

मेरे प्रति ही है । इस हेतु इस प्रकार विकार उत्पन्न कर रहा है, इस प्रकार बोध होता है ।

यहाँ अपर समस्त स्थल में बहुवचन प्रयोग हुआ है । किन्तु 'प्रेम' शब्द में एकवचन प्रयोग हुआ है । इससे वचन प्रक्रमभङ्ग हेतु जो दोष हुआ था, व्यङ्ग्यार्थ सूचना हेतु वह गुणमें पर्य्यवसित हुआ ॥५६॥

पुरुष व्यत्यय का उदाहरण—सूर्य अस्तगत हुये हैं, उष्णता भी, विरत हुई है, वन दूर नहीं है, एवं, पुष्प भी वहाँ सुलभ है । अधुना सब पुष्पाहरण हेतु चलो, देव—शशिखण्डचूड की पूजा सम्पन्न हो ।

यहाँ 'हम सब चलें' न कहकर, सब चलो, इस प्रकार कहने से उत्तमपुरुष का व्यतिक्रम करके प्रथमपुरुष का प्रयोग हुआ है । इससे तुम सब ही हम सब हैं, इस प्रकार अभिन्न भावरूप वस्तु सूचित हो रही है । श्लेष के द्वार देवेश शिखण्डचूड़ अर्थात् श्रीकृष्ण की पूजा सम्पन्न हो, यह भी ध्वनित होता है ॥५७॥

तद्धित का उदाहरण—अयि प्रियसखि ! चिर विरहानल से दग्ध होकर यह शरीर अवश्य ही भस्मीभूत होगा । अतएव इस भस्म के द्वारा ही तुम उनके करस्थित दर्पण का मार्जन कार्य सम्पन्न करना ।

यहाँ मूतलस्थित 'त्वयका' इस पद में निन्दार्थक अक प्रत्यय द्वारा प्रतीत होता है कि—मेरा विरह में तुम्हारी शोचनीय दशा होगी । मेरे प्रति प्रीति हेतु तुम एतावत् काल तदीय अङ्गमार्जनरूप सौभाग्य भाजन थे । मेरी मृत्यु होने पर तुम्हारा वह सौभाग्य नहीं रहेगा । तथापि यदि कदाचित् दर्पण मार्जन की योग्यता लाभ हो तो, मेरी भस्म के द्वारा उस कार्य सम्पन्न करना । इस प्रकार शोच्यता व्यञ्जित होती है ॥५८॥

उपसर्गस्य यथा—पतत्यस्रे सास्रा भवति पुलके जात पुलकाः
स्मिते भाति स्मेरा सुमलिमणि जाते सुमलिनाः।
अनासाद्य स्वालीर्मकुरमभिवीक्ष्य स्ववदनं
सुखं वा दुःखं वा किमपि कथनीयं मृगदृशः ॥

अत्र सूपसर्गेण मालिन्यातिशयो व्यज्यते, तेन च सखीनां प्रणयाधिक्यम् ॥५९॥

निपातस्य यथा—दट्ठूण तस्स वअणं, क्खणमेत्तेण क्खु हारिअं हिअअं।
एव्वं विअ अच्चरिअं, तुरिअं लद्धं अ तद्धिअअं ॥

अत्र चशब्दरूपनिपातेन तुल्ययोगितालङ्कारः। निजहृदयहारणसमकालमेव तद्धृदयं लब्धम्, अतोऽहं हृदयशून्या नाभवमिति, तस्य हृदयं मद्धृदयमेवेति वस्तुना द्वयेरेवौत्सुक्यं वस्तु प्रतीयते ॥६०॥

ज्ञात्वैव श्रीकृष्णेन स्वाङ्गमार्जनसौभाग्यं तुभ्यं दत्तम्, मयि मृतायान्तु तादृशसौभाग्यसम्भावनैव नास्ति। यदि कदाचित् मकुरमार्जनकर्मणि योग्यतायाः प्राप्तिः स्यात्तदा मद्देहभस्मनैव कार्यमित्यर्थः ॥५८॥

काचिद्धोलिकोत्सवे मिलितानां यूथेश्वरीणां समाजं गता वृन्दा मञ्जुधा सखीनां प्रेमोत्कर्षं ख्यापयितुं किमपि प्रस्तौति—पततीति। हे मृगदृशः! यदा स्वाल्यः सम्मुखवर्त्तिन्यो न तिष्ठन्ति, तदैव दर्पणमानीय तत्र प्रतिबिम्बितं स्व-स्वमुखं दृष्ट्वा मुखेऽभिव्यक्तं सुखं वा दुःखं वा युष्माभिरस्माकमग्रे कथनीयम्। आल्यश्चेदग्रवर्त्तिन्यस्तदा दर्पणेन किं प्रयोजनम्, ता एव दर्पणस्थानीयाः। तासां दर्पणसाधर्म्यमाह—पततीति। युष्माकमश्रुजले पतति सति ता अपि सास्राः, एवम्भूताः स्वालीरनास्वाद्य अप्राप्य ॥५९॥

दट्ठुणेति। 'दृष्ट्वा तस्य वदनं क्षणमात्रेण खलु हारितं हृदयम्।
एवमेवाश्चर्यं त्वरितं लब्धं च तस्य हृदयम् ॥' अत्र लब्धञ्चेत्यत्र च-शब्दगम्य-तुल्ययोगित्वमेवाह—निजहृदयेति। अव्ययसामान्यस्यैव निपातसंज्ञा। अतश्चशब्दस्यापि निपातत्वं ज्ञेयम्।

उपसर्ग का उदाहरण—अयि मृगलोचनावृन्द! तुम सबके समीप में जब सखीवृन्द उपस्थित नहीं रहती हैं, उस समय दर्पण में निज मुखमण्डल को अवलोकन करके सुख वा दुःख ज्ञात होकर उसका कीर्त्तन कर सकती हैं। किन्तु सखीमण्डली सम्मुखवर्त्तिनी होने पर तुम सबको दर्पण का प्रयोजन क्या है? वे दर्पण का साधर्म्य धारण करती हैं। अतएव उनके द्वारा ही तुम सबके समस्त कार्य सम्पन्न होते हैं।

देखो, तुम सबके अश्रुबिन्दु पतित होने पर वे भी अश्रुमुखी होती हैं। तुम सबके शरीरसें रोमाञ्च होने पर उन सबके शरीर रोमाञ्चित होते हैं, तुम सब हँसने से वे भी सहास्य वदन होती है। तुम सबका मालिन्य होने पर वे भी सुमलिना होती हैं।

इस श्लोक में 'सुमलिना' इस पद में सु उपसर्ग का प्रयोग हुआ है। उससे मालिन्य का आतिशय्य व्यञ्जित हो रहा है, एवं तद्द्वारा सखीवृन्द का प्रणयाधिक्य प्रतीत होता है ॥५९॥

तदीय मुखमण्डल को अवलोकन करके क्षण मात्र में ही मैंने हृदय को खो दिया। एवं आश्चर्य यह है कि—मैंने भी उस रीति से आशु उनका हृदय को प्राप्त किया।

इस श्लोक में मूलस्थित 'च' शब्दरूप निपात के द्वारा तुल्ययोगिता अलङ्कार हुआ है। निज हृदय

सर्वनाम्नो यथा—मध्ये सूक्ष्मधियः सखीपरिषदो धृत्वा सखीभूमिका

मभ्यङ्गाय गृहीतपाणिकमलं स्पर्शेन मां जानती ।
अहो दूरमपेहि नासि कुशला स्नातुञ्च वाञ्छाद्य मे
नेत्यन्तः कुपिता यदीहितवती तत् केन विस्मर्य्यते ॥

अत्र यत्तद्‌भ्यां वागगोचरत्वं व्यङ्ग्यम् ॥६१॥

कर्मभूताधिकरणस्यं यथा—अधिवससि तस्य हृदयं, प्रियसखिराधे स चापि तव हृदयम् ।

द्वावेव पूर्णहृदयौ, प्रविशामो वां कथं हृदये ॥

अत्र आधारस्य कर्मभूतत्वे सर्वव्यापनं व्यङ्ग्यम् । ग्रामे वसतीति ग्रामैकदेशो गम्यते, ग्राममधिवसतीति ग्रामं व्याप्यैवेति चमत्कारः ॥६२॥

तद्‌धृदय मम हृदयमिवेति वस्त्वलङ्कारेण द्वयोरौत्सुक्यं ध्वनितम् ॥६०॥

कदाचिद् राधिकाया मानभङ्गे उपायान्तरमप्रेक्ष्य स्वयमेव स्त्रीवेशं धृत्वा तस्या निकटे गतवतः श्रीकृष्णस्य तदानीं जातो य आनन्दातिशयस्तदौत्सुक्येन श्रीकृष्णः सुबलं प्रत्याह—मध्ये इति । सूक्ष्मधियः सखीपरिषदः सखीसभामध्ये तासां साहाय्येन 'सखीभूमिकां' तैलमर्दनकारिणी या सखी तस्या भूमिकां वेशं धृत्वा तैलाभ्यङ्गाय गृहीतं राधायाः पाणिकमलं येन तथाभूतं मां स्पर्शेन जानती, नेयं स्त्री किन्तु पुरुषः कृष्ण एवेति ज्ञातवती राधाह—हे अङ्गे ! त्वं नवीना भवसि, तैलाभ्यङ्गकर्मणि न कुशला, तस्माद् दूरमपेहि—स्वकौशलमभिव्यक्तीकर्त्तुमुद्यतं मां वीक्ष्य पुनः कुपिता सत्याह—मम स्नातुमद्य वाञ्छा नास्ति, इत्यन्तः कुपिता सा तस्मिन् समये यच्चेष्टितवती, तच्चेष्टितं तेन विस्मर्य्यते ॥६१॥

अधीति । परस्परैरवासेनोभयोर्हृदये पूर्णे भवतः । अतस्तत्रावकाशाभावेन कथं सखीनां प्रवेशः

को खोने के समय ही मैंने उनका हृदय को प्राप्त किया । अतएव मैं हृदय शून्य नहीं हुआ, एवं उनका हृदय मेरा ही हृदय है, इस प्रकार वस्तु के द्वारा उभय का औत्सुक्य रूप वस्तु प्रतीत होती है ॥६०॥

सर्वनाम का उदाहरण—सूक्ष्म बुद्धि सखीमण्डली के मध्य में उन सबके साहाय्य से मैं सखीवेश ग्रहणपूर्वक तैल मर्दन हेतु करकमल ग्रहण करने से अन्तःकुपिता श्रीराधा स्पर्श के द्वारा मुझको जानकर 'अयि अनभिज्ञे ! तुम हटो, इस कार्य में तुम निपुणा नहीं हो, स्नान करने की भी मेरी इच्छा इस समय नहीं है ।' इस प्रकार कहकर उन्होंने जो चेष्टा की उसको क्या भूला जा सकता है ?

'यहाँ यत् तत्' शब्द के द्वारा 'जिस प्रकार अङ्गभङ्ग्यादि किया, वह अवर्णनीय है' इस प्रकार व्यङ्ग्य हो रहा है ॥६१॥

कर्मभूताधिकरण का उदाहरण—प्रियसखि राधिके ! तुम उनका हृदय हो, एवं वह तुम्हारा हृदय है, उभय समान रूपसे अधिवास करने के कारण—तुम दोनों पूर्णहृदय हो, हम सब कैसे उस हृदयमें प्रवेश कर सकती हैं ?

यहाँ आधार कर्मकारक होने के कारण सर्वाङ्ग व्यापन व्यङ्ग्य हुआ है । ग्राममें वास कर रहा है, कहने से ग्राम के एकदेश में वास का बोध होता है । 'ग्राममधिवसति' कहने से समस्त ग्राम में वास का बोध होता है । अतएव कर्मभूताधिकरण के द्वारा चमत्कारातिशयता का बोध होता है ॥६२॥

अव्ययीभावस्य यथा—कत्यायान्ति कति प्रयान्ति कति वा तिष्ठन्ति मूर्त्ता इव

प्रौढ़ानन्दमहोत्सवा यदितरे श्रीद्वारकायां पुरि ।
श्रीरत्नैरनुसौधरत्ननिकरं निश्चिन्तमाक्रीड़त
एते याताः किल वासरा मम सखे येषु व्रजे क्रीड़ितम् ॥

अत्रानुसौधरत्ननिकरमित्यव्ययीभावेनाष्टोत्तरशत-षोड़शसहस्रत्वं व्यज्यते । याता एव तासां पुनरागमनाभावात् । ६३॥

पूर्वनिपातस्य यथा— आनन्दातिशयेन विस्मृतिवशाद्व्यस्तानुपूर्वीक्रमा,
च्छेकच्छेक-शुकाङ्गनाभिरुदयत् कौतूहलं स्मारिता ।
श्रीराधाहरिकेलिकौतुककथां प्रातःसखीमण्डले
प्रत्यावर्त्तयते गतामपि निशां साक्षाद्विधत्ते च तौ ॥

सम्भवतीति ॥६२॥

द्वारकास्थः श्रीकृष्णो मधुमङ्गलमाह—हे सखे ! यद् यस्माद् व्रजस्थादानन्दादितरे मम मूर्त्ता इव प्रौढ़ानन्दमहोत्सवा द्वारकाभुवि कति वा आयान्ति, कति वा यान्ति, कति वा तिष्ठन्ति,—किन्तु येषु वासरेषु मया व्रजे क्रीड़ितं ते वासरा दिवसा याता एव, तेषां पुनरागमनाभावात् । मम कथम्भूतस्य ? श्रीरत्नैः सहानुसौधरत्ननिकरं सौधरत्ननिकरं सौधरत्ननिकरे आ क्रीड़तः । अत्र वीप्सायामव्ययीभावः समासः । तेन चाष्टोत्तरशतषोड़शसहस्रसौधव्यापकत्वं क्रीड़ायां व्यज्यते ॥६३॥

एकदा प्रातःकाले श्रीराधाया निकटे सुहृत्पक्ष-स्वपक्षाणां समाजे जाते भो ललिताद्याः सख्यः ! अद्य रात्रिसम्बन्धिनां निकुञ्जराजयोर्विलासवार्त्तां कथयतेति सुहृत्पक्षश्यामलया पृष्टा ललिताद्याः कथयितुं

अव्ययीभाव का उदाहरण—द्वारकास्थ श्रीकृष्ण, मधुमङ्गल को कहे थे—इस द्वारका नगरी में प्रभूत आनन्द-महोत्सव समूह जैसे मूर्त्ति धारण कर कितने ही आते रहते हैं, जाते रहते हैं, एवं विद्यमान हैं, उसकी संख्या नहीं है । मैं तो यहाँ रत्नसौधयुक्त भवनसमूह में श्रीरत्नसमूह के सहित निरन्तर क्रीड़ा परायण हूँ । किन्तु जब व्रजमण्डल में आनन्द से जो दिन मैंने अतिवाहित किया है, वह दिन पुनर्वार नहीं आयेगा । वे सब दिन अतीत होकर ही रहेंगे ।

यहाँ प्रत्येक श्रेष्ठ सौधसमूह में इस पद में 'अनुसौधरत्ननिकरे' इस पद में अव्ययीभाव समास हेतु अष्टोत्तरशत षोड़श सहस्र सौध व्यापक क्रीड़ा ध्वनित हो रही है । वे सब दिन अतीत हुए हैं, अर्थात् वे सब दिन लौटकर नहीं आयेंगे ॥६३॥

पूर्वनिपात का निदर्शन—आनन्दातिशय जनित विस्मृति हेतु जिसका आनुपूर्वी क्रम विपर्यस्त होने से गृहपालित विदग्धशुक सारिका समूह—सबके कौतूहल उद्दीपन पूर्वक पूर्वोक्त वृत्तान्तसमूह का यथायथ स्मरण करा देते हैं । श्रीराधा हरिविषयिणी वे सब केलिकौतुक कथा का कीर्त्तन प्रभात समय में सखी मण्डली में ललितादि के द्वारा होने पर विगता यामिनी को जैसे प्रत्यावर्त्तन कर रही है, एवं श्रीराधा तथा श्रीहरि को भी जैसे प्रत्यक्ष दिखा रही है ।

अत्राल्पस्वरत्वेन चार्चितत्वेन च हरिशब्दस्यैव पूर्वनिपात उचितः। तदन्यथाभावे श्रीराधेति पूर्वनिपातो हि तस्या वैदग्ध्यातिशयद्योतकः। इति पदांशः। रचनाया वर्णानां च रीतिग्रन्थे व्यञ्जकत्वं दर्शयिष्यते ॥६४॥

ते तावद्भिः पृथक् पृथक्। गुणनीयाः,

ते एकादशपञ्चाशद्भेदा एकैकं तावद्भिरेकपञ्चाशता गुणनीयाः,—शुद्धत्वेन केवलं वर्त्तमानत्वाभावात्, यावत् स्वप्रभेदं मिश्रत्वयोग्यत्वाच्च।

तेन चन्द्र-व्योमर्त्तुपक्ष-संख्यकाः (२६०१) ॥६५-६६॥
सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया।
चतुर्गुणे कृते वेद-ख-वेद-ककुभः (१०४०४) स्मृताः ॥

प्रवृत्ता अपि तदानीमानन्दावेशेन विलासानां कस्यचित् कस्यचिद्भावस्य विस्मरणादानुपूर्वीक्रमेण ताः स्मारयन्ती स्मेत्याह—आनन्देति। आनन्दातिशयेन ललितादीनां जाता या विलासांशस्य विस्मृतिस्तया व्यस्तो य आनुपूर्वीक्रमस्तस्मात् तादृशव्यतिक्रमसहमानाभिश्छेकछेकशुकाङ्गनास्ताभिश्छेका विदग्धा या छेकशुकाङ्गना गृहपालितशुकाङ्गनास्ताभिरदयात् कुतूहलं यथा स्यात्तथा स्मारितो श्रीराधाकृष्णयोः केलिकथाकर्त्रीगतामपि निशां पुनः प्रत्यावर्त्तयते, तौ राधाकृष्णवपि साक्षाद्विधत्ते साक्षात्करोति। श्रीराधाशब्दापेक्षया हरिशब्दस्याल्पस्वरत्वादेव सर्वेषां व्रजवासिनां रक्षकत्वेनार्चितत्वाच्च हरिशब्दस्यैव पूर्वनिपात उचितः ॥६४॥

अथात्र एकपञ्चाशद्ध्वनिभेदानां मध्ये एकैकध्वनिभेदो यदि पञ्चाशद्ध्वनिभिः सङ्कीर्णः स्यात्, तदैकैक एव भेद एकपञ्चाशत्संख्यको भवति। एवं क्रमेणानन्तभेदो भवन्ति।

तत्रायं क्रमः—एकपञ्चाशद्भेदानां मध्ये एकैकभेदो यदा पञ्चाशद्भेदैः सह वक्ष्यमाण-संशयास्पदता-रूपसाङ्कर्यविशिष्टः स्यात्तदैकपञ्चाशद्भेदा एवैकपञ्चाशदङ्कैः पूरणीयाः। तथा सति मिलित्वा चन्द्र-व्योमर्त्तुपक्षसंख्यका ध्वनयः (२६०१) स्युः ॥६५-६६॥

एवं यदि एकैकभेदः पञ्चाशद्ध्वनिभिः सहानुग्राह्यानुग्राहकतारूपसाङ्कर्यविशिष्टः स्यात्, तदापि पूर्वरीत्या पुनश्चन्द्रव्योमर्त्तुपक्षसंख्यका ध्वनयः स्युः। यदा त्वेकव्यञ्जक-संश्लेषरूप-साङ्कर्यविशिष्टः

इस श्लोक में हरि पद का अल्पाक्षरत्व एवं पूजितत्व हेतु पूर्वनिपात होना उचित था, किन्तु वैसा न होकर श्रीराधा पद का पूर्वनिपात होनेसे वैदग्ध्य का अतिशय द्योतित हुआ है। यह है पदांशध्वनि। रचना एवं वर्ण का जो व्यञ्जकत्व है, उसका वर्णन रीतिप्रकरण में करेंगे ॥६४॥

ध्वनि का जो एकपञ्चाशत् भेद कहा गया है, वह केवल शुद्ध रूप में नहीं रहता है। उसके प्रत्येक हीं उस एकपञ्चाशत् प्रकार प्रभेद के सहित मिलित होते हैं। सुतरां उक्त एकपञ्चाशत् ध्वनि के प्रत्येक के एकपञ्चाशत् रूप प्रभेद के सहित मिश्रित होने से (२६०१) द्विसहस्र षट्शत एक संख्यक ध्वनिभेद होते हैं ॥६५-६६॥

उक्त त्रिविध सङ्कर एवं एकविध संसृष्टि—मिलित होकर चतुर्विध भेद होते हैं। इससे ध्वनि की

ते चन्द्रव्योमर्त्तुपक्षसंख्यकाश्चतुर्गुणे कृते ॥६७॥

शुद्धभेदैर्युतास्ते स्युः शरेषु युगखेन्दवः (१०४५५) ॥६८॥

इति पूर्वैर्विलिखितं न सर्वेषामुदाहृतिः ।

भवेद्योग्यत्वमात्रत्वादाधिक्यमपि गम्यते ॥६९॥

तत्र त्रिरूपः सङ्करो यथा—संशयास्पदतानुग्राह्यानुग्राहकतापि च ।

एक व्यञ्जक-संश्लेषः सङ्करस्त्रिविधो मतः ॥७०॥

स्यात्तदापि चन्द्रव्योमर्त्तुपक्ष-संख्यका ध्वनयः स्युः । एवं यद्येकैकभेदः पञ्चाशद्ध्वनीनां संसृष्ट्या विशिष्टः स्यात्तदा पुनरपि चन्द्रव्योमर्त्तुपक्षसंख्यका ध्वनयः स्युः । एवं क्रमेण एकैकभेदस्य एकपञ्चाशदङ्कैर्वारचतुष्टयं पूरणे कृते मिलित्वा वेदखवेदकिक् संख्यका (१०४०४) ध्वनयः स्युः । इत्यर्थमेव द्वाभ्यां सूत्राभ्यामाह—ते तावद्भिरिति । शुद्धत्वेनेति तेषामुदाहरणमुत्तमकाव्ये किंवा उत्तमोत्तमकाव्ये ज्ञेयम् ।

तत्र तत्र शुद्धकेवलैकध्वनेरसम्भवात्, किन्तु त्रयाणां चतुर्णां सप्ताष्टानां ध्वनीनां साङ्कर्य्यमवश्यं स्वीकरणीयमित्यर्थः । यावत् स्वप्रभेदैरिति- एकपञ्चाशद्ध्वनीनां यावन्तः प्रभेदास्तेषां परस्परमिश्रत्वस्य साङ्कर्य्यस्य योग्यत्वादवश्यं स्वीकर्त्तव्यत्वादित्यर्थः । अत्र चन्द्रव्योमर्त्तुपक्षसंख्या आपातत एवोक्ताः, वस्तुतो वक्ष्यमाणानां ध्वनीनां भेदचतुष्टयानामन्तर्भूता एव, नतु ततः पृथक् पृथक् ।

अन्यथा पृथग्विवक्षायां चतुर्गुणे कृते वेद-ख-वेद-ककुभः स्मृताः, इति ग्रन्थोक्तसंख्याया असङ्गत्यापत्तिः । यतस्ततोऽप्यनन्तकोटिगुणसंख्याया आधिक्यापत्तिः स्यात् ।

ननु यत्राकरकाव्ये शुद्ध एक एव ध्वनिस्तत्रापि व्याच्यार्थस्य चमत्कारे तत्काव्यस्य मध्यमत्वमुक्तम् ॥६७

एवं सति तत्र तत्र शुद्धैकपञ्चाशद्ध्वनयः कस्यां गणनायां निविष्टाः स्युः ? इत्यपेक्षायां तादृश-शुद्धैक-पञ्चाशद्भेदा अपि स्वातन्त्र्येण गणनायां निवेशनीया, इत्यभिप्रायेणाह—शुद्धभेदैरिति । शुद्धैक-पञ्चाशद्भेदैर्युतास्ते वेद-ख-वेद-ककुप्संख्यका १०४०४ ध्वनयः, शरेषु युगखेन्दुसंख्यकाः १०४५५ स्युरित्यर्थः ॥६८॥

इति पूर्वैरिति—पूर्वाचार्यैरपि एताः सर्वा एव संख्या उदाहृताः, नतु तैरपि तावत्संख्यकानां ध्वनीनां उदाहरणानि स्वग्रन्थे कथितानि । अतएव ग्रन्थबाहुल्यभयात् मया नोक्तानीत्यर्थः ।

भवेदिति—कस्यापि निपुणस्य साङ्कर्य्याणामवान्तरभेदं प्रकल्प्य इतोऽप्यधिकसंख्याया आनयने सामर्थ्यं चेत्तदा एतत्संख्यकध्वनिभ्योऽप्यधिकाधिक-संख्यका ध्वनयो भवन्तीति ज्ञेयमिति ॥६९॥

संख्या १०४०४ दशसहस्र चारशत चार होती हैं ॥६७॥

तद्भिन्न एकपञ्चाशद् ध्वनि हैं, उपरोक्त ध्वनि के सहित रसका योग करने से १०४५५ दशसहस्र चतुःशत-पञ्चपञ्चाशत संख्यक ध्वनि होती हैं ॥६८॥

पूर्वाचार्यगण भी इस प्रकार ध्वनि संख्या का उल्लेख किये हैं, किन्तु समस्त ध्वनि का उदाहरण प्रस्तुत नहीं किये हैं । निपुण व्यक्ति इससे भी अधिक साङ्कर्य्य के भेद कल्पना में समर्थ होने पर और भी अधिक संख्यक ध्वनि का भेद कर सकते हैं ॥६९॥

उसके मध्यमें सङ्कर त्रिविध होते हैं । संशयास्पदता, अनुग्राह्यानुग्राहकता एवं एकव्यञ्जक संश्लेष

उदाहरणम्— पद्मिन्यहं कुमुदिनी किल सैव सत्यं, सत्यं भवांश्च मधुसूदन एव मत्तः ।
वामेन तामसुखयन्निशिदक्षिणेन, प्रातः प्रबोधयति मामपि लोचनेन ॥

अत्र पद्मिन्यादि-शब्दार्थयोः शब्दार्थशक्त्युद्भवानुध्वनेः सङ्करत्रयम् । तथाहि— मां प्रति भवतोऽनुरागो महान्, यतो मां दक्षिणेन उदारेण लोचनेन दर्शनेन प्रबोधयति । तां प्रति मां तथा नानुरागः, यतो वामेन दर्शनेन तां निशि असुखयत्— अत्र हेत्वलङ्कारो व्यङ्ग्यः । यतोऽहं पद्मिनी, सा कुमुदिनी, पद्मिन्यपेक्षया कुमुदिनी निकृष्टैव । किंवाऽहं पद्मिना नाम्नैव पद्मिनी, नतु वस्तुत इति, अन्यथा मय्येव त्वमनुरक्तोऽभविष्यः । सा तु नाम्नैव कुमुदिनी, नतु वस्तुत इति च सत्यम्, अन्यथा तस्यां नानुरक्तोऽभविष्य इति संशयः ।

अथ पद्मिन्यहम्, कुमुदिनी सैवेति रूपकालङ्कारेण तद्धेतूपन्यासद्वारा प्रातर्मां प्रबोधयति, निशितामसुखयत्—इति हेत्वलङ्कारो व्यङ्ग्यः ।

भवान् मधुसूदन एवेति मधुसूदनस्य भ्रमरस्य तवोभयतः समरागतया न दोषः, किन्तु

एकव्यञ्जकेति— एकव्यङ्ग्यमात्रबोधकः शब्दश्लेष इत्यर्थः । यस्य शब्दश्लेषस्य एकैव व्यञ्जना, स एकव्यञ्जकसंश्लेषः । यत्र तु शब्दश्लेषस्य एकव्यञ्जनानन्तरमपरव्यञ्जनाप्रवेशस्तत्र संसृष्टिरिति द्वयोर्भेदः बोध्य इति ।।७०।।

प्रातःकाले कापि खण्डितानायिकामानभङ्गार्थं विनयनत्यादिकं कुर्वन्तं श्रीकृष्णमाह—पद्मिनीति । श्लोकव्याख्यामेव करिष्यति । शब्दार्थेति— शब्दशक्त्युद्भवार्थशक्त्युद्भवयोर्ध्वन्योरित्यर्थः । तथा च तयोरेवं शब्दार्थशक्त्युद्भवानुध्वनेश्च परस्परं सङ्करत्रयम् । तत्र प्रथमतः संशयास्पदतारूपसङ्करमाह— तथा हीति । अत्र दक्षिणशब्दस्य उत्कृष्टार्थकत्वम्, वामशब्दस्य निकृष्टार्थकत्वम् । एवं लोचनशब्दस्य दर्शनार्थकत्वमिति श्लिष्टार्थमभिप्रेत्याह— मां प्रतीति । संशय इति—यत्र निश्चयाभावेनायं वा ध्वनिरयं वा ध्वनिरिति संशयस्तत्र संशयास्पदता ज्ञेया । पुनरनेनैव श्लोकेनानुग्राह्यानुग्राहकतारूपसङ्करमाह—अथेति । हेतूपन्यासेति—मम पद्मिनीरूपत्वे प्रातःप्रबोधनमेव हेतुः, तस्याः कुमुदिनीरूपत्वे निशिसुखाश्रयमेव हेतुरिति हेत्वलङ्कारो व्यङ्ग्यः ।

भेद से सङ्कर के त्रिविध भेद होते हैं।।७०।।

तन्मध्ये त्रिरूप सङ्कर यह है— संशयास्पदता, अनुग्राह्यानुग्राहकता, एवं एकव्यञ्जक संश्लेष ।

उदाहरण— मैं पद्मिनी हूँ, एवं वह भी कुमुदिनी है, यह सत्य है, तुम भी जो मत्त मधुसूदन हो, यह भी यथार्थ है । देखो, रजनी में वाम लोचन के द्वारा उसको तुमने सुखी किया है, सम्प्रति प्रभात काल में दक्षिणलोचन के द्वारा मुझको भी प्रबोधित तुम कर रहे हो । यहाँ पद्मिन्यादि शब्दार्थमें शब्दशक्त्युद्भव एवं अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के त्रिविध सङ्कर हुये हैं ।

इस विषय का प्रमाण यह है— मेरे प्रति महान् अनुराग तुम्हारा है, कारण— मुझको दक्षिणलोचन अर्थात् उदारदर्शन के द्वारा प्रबोधित कर रहे हो, उसके प्रति तादृश अनुराग नहीं है । कारण— वामदर्शन द्वारा रजनी में उसको सुखी किये हो । यहाँ हेत्वलङ्कार व्यङ्ग्य है ।

ममैव दोषः, यतोऽहं पद्मिनी, पद्मिन्या प्रीतरेव भ्रमरेण सह सन्दर्शनमिति मधुसूदन-शब्दद्योत्येन वस्तुना पुनरपि रूपकालङ्कारो ध्वनितः। इत्यनयोर्मिथोऽनुग्राह्यानुग्राहकतया सङ्करः।

एवं मधुसूदन एवं भवान् मत्तस्वतस्तृप्तः,'मद' तृप्तियोगे धातुः तव कुत्रापि वापेक्षेति स्वभावोक्त्यलङ्कारेण तव दक्षिणं चक्षुः सूर्यात्मकम्, यतस्तेन पद्मिनीं मां प्रबोधयसि, वामन्तु चन्द्रात्मकम्, येन कुमुदिनीं तामसुखयः—इत्येकस्मिन्नेव व्यञ्जके मधुसूदनपदसंश्लेष एकव्यञ्जनानुप्रवेशः।

एवं मधुसूदन पदस्य भ्रमरार्थकत्वेन भ्रमरस्योभयत्र साम्येन तस्य दोषाभावे पुनस्तस्याः पद्मिनीत्व रूपकालङ्कार एव प्रयोजकः। अतएव ध्वनिद्वयस्यानुग्रहानुग्राहकतारूपसङ्करोऽपि ज्ञेय इत्याह—मधुसूदन-शब्दद्योत्येनेत्यादि। वस्तुनेति—दोषाभावेनेत्यर्थः। पुनरप्यनेनैव श्लोकेन एकव्यञ्जकसंश्लेषरूपसङ्करस्य उदाहरणमाह—एवमिति। मधुसूदनः परमेश्वर एव भवान्, अतः परमेश्वरस्यैव दक्षिणनेत्रस्य सूर्यत्वं वामनेत्रस्य चन्द्रत्वम्, नान्येषामिति मधुसूदनशब्दश्लेषस्य एकैव व्यञ्जनेति भावः।

एकस्मिन्नेवेति—नेत्रयोः सूर्यचन्द्रत्वमात्रैक-व्यङ्ग्यबोधके मधुसूदनशब्दश्लेषे एक एव व्यञ्जनानुप्रवेश

कारण, मैं पद्मिनी हूँ, और वह कुमुदिनी है—अर्थात् पद्मिनी अपेक्षा निकृष्टा। अथवा मैं नाममात्र से ही पद्मिनी हूँ, वास्तविक पद्मिनी नहीं हूँ। कारण, वैसा होनेसे मुझमें तुम अनुरक्त होते, एवं वह भी नाममात्र से ही कुमुदिनी है, वास्तविक कुमुदिनी नहीं है। ऐसा होने पर उसमें इस प्रकार अनुरक्त नहीं होते। यहाँ संशयास्पदता है, अर्थात् इस रूप से ही ध्वनि अथवा इस प्रकार ध्वनि, इस प्रकार संशय हुआ है।

इस श्लोक में अर्थान्तर द्वितीय सङ्कर उदाहृत हो रहा है। मैं पद्मिनी हूँ, वह कुमुदिनी है, इस प्रकार रूपकालङ्कार के प्रति 'प्रभात में मुझको प्रबोधित करते हो, और रजनी में उसको सुखी करते हो' इस प्रकार हेतु उपन्यस्त हुआ है, एवं उसके द्वारा हेत्वलङ्कार व्यङ्ग्य हुआ है।

तुम भी मधुसूदन हो, यह सत्य है। तात्पर्य्य यह है कि—मधुसूदन अर्थात् भ्रमर स्वरूप तुम्हारा उभय स्थान में समान अनुराग हेतु कोई दोष नहीं है। मेरा ही दोष है। कारण, मैं पद्मिनी हूँ, पद्मिनी के सहित ही प्रभात काल में भ्रमर का साक्षात्कार होता है। यहाँ मधुसूदन शब्दद्योतित भ्रमररूप वस्तु के द्वारा पुनर्वार रूपकालङ्कार ध्वनित हुआ है। इस प्रकार ध्वनिद्वय का परस्पर अनुग्राह्य अनुग्राहक भाव से सङ्कर हुआ है।

एक व्यञ्जक संश्लेषरूप तृतीयसङ्कर का उदाहरण—तुम मधुसूदन हो, अर्थात् परमेश्वर-मत्त अर्थात् स्वभावतः परितृप्त हो, 'मद' धातु का अर्थ 'तृप्ति' है। तुमको किसी की अपेक्षा है? यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि—भगवान् का दक्षिण नयन, सूर्यात्मक होने के कारण, उससे पद्मिनी मैं प्रबोधित हो रही हूँ, एवं वाम नयन चन्द्रात्मक होने के कारण—वह कुमुदिनी निशाकाल में सुखी हुई है।

इस प्रकार नेत्रद्वय का चन्द्र-सूर्यस्वरूप एकव्यङ्ग्य बोधक मधुसूदन पद श्लेष से एकमात्र व्यञ्जना का अनुप्रवेश हुआ है। इस श्लोक में संसृष्टि का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—दक्षिण अर्थात् सरल दृष्टि से

अथ-दक्षिणेन सरलेन दर्शनेन मां प्रबोधयसि, तेन ते मयि रागो नास्ति, वामेन कुटिलेन तामसुखयः, तेन तस्यामेव ते राग इति वस्तुना स्वभावतो मधुसूदनो भ्रमरो ज्ञानशून्यस्तत्रापि मत्त इति, स्वभावोक्तिः, तव तथाविधस्य कुतो विवेकः, तेन त्वमविदग्धोऽसीति स्वभावाख्यानाक्षेपयोः संसृष्टिः। एवं पदवाक्यद्योत्यगर्व-धैर्य-दैन्य-ग्लानि-निर्वेदावहित्थादि-भाव-ध्वनिमिश्र संसृष्टिः।।७१।।

यथा वा—उच्छूनस्तनितस्य सर्वसुखदः कृष्णाम्बुदस्योदयो
वाताः शीकरवाहिनः सुमनसो वीथी विकाशं गता।
स्निग्धा भूर्गत एव संज्वरभरः श्यामायमाना दिशः
स्फीतं गोकुलमन्मदाश्च सरितः शीता गिरिद्रोणयः।।

इत्यर्थः। पुनरप्यनेनैक श्लोकेन संसृष्टेरुदाहरणमाह—अथ दक्षिणेनेति। अत्र काव्ये दक्षिणशब्दः सरलार्थकः, नेत्रशब्दो दर्शनार्थको ज्ञेयः। सरलनेत्रेणावलोकनं तु प्रेमव्यञ्जकमिति रससास्त्रप्रसिद्धेः।

अत्र मधुसूदनशब्दश्लेषस्य प्रथमतो ज्ञानशून्ये व्यञ्जनावृत्तिः, पुनर्व्यङ्ग्यस्याविवेकावैदग्ध्यादि-रूपाक्षेपार्थे व्यञ्जना। अतएव व्यञ्जकश्लेषादभेदो ज्ञेयः। मधुसूदनपदश्लेषस्य केवलचन्द्रसूर्यमात्रे एकव्यञ्जनेति। उक्त इति—एकस्मिन्नेव श्लोके त्रिरूपः सङ्कर उक्तः। संसृष्टिश्चोक्त इत्यर्थः।।७१।।

संसृष्टेरुदाहरणमाह—यथा वेति। काचिद् सखी गोवर्धनस्य निकटवर्त्तिनि नगरे स्थितां यूथेश्वरीं गुरुजनसमीपस्थां दृष्ट्वा गोवर्धनकन्दरासङ्केतस्थं श्रीकृष्णं विज्ञापयितुं व्याजेन दैवाद्गोवर्धनोपरि उदितं मेघं लक्षीकृत्य वदति—उच्छूनेति। हे सखि! सर्वेषां व्रजविलासिनां सुखदः कृष्णवर्णस्य मेघस्य गोवर्धनोपरि उदयो जातः। कथम्भूतस्य? उच्छूनं घोरं स्तनितं गर्जितं यस्य। एवं सर्वेषां सुखदाः

मुझको प्रबोधित कर रहे हो, इससे प्रतीत होता है कि—मेरे प्रति तुम्हारा अनुराग नहीं है। एवं वाम अर्थात् कुटिल दृष्टि के द्वारा उसको सुखी किये हो, इससे बोध होता है कि—उसके प्रति ही तुम्हारा अनुराग है। अर्थात् सरल नयन से नायिका के प्रति अवलोकन—उदासीनता का व्यञ्जक है, एवं कुटिल नयन से अवलोकन—प्रेम व्यञ्जक है।

इस वस्तु के द्वारा स्वभावोक्ति अलङ्कार व्यङ्ग्य हो रहा है। मधुसूदन अर्थात् भ्रमर, स्वभावतः ज्ञानशून्य है, उसमें भी मत्त है, ईदृश दशापन्न जो तुम हो, तुम्हारे में विवेक की सम्भावना क्या हो सकती है? अतएव तुम अविदग्ध हो। इस रीति से स्वभावोक्ति एवं आक्षेप की संसृष्टि हुई है।

इस प्रकार पद-वाक्य-द्योत्य ध्वनि स्थल में गर्व, धैर्य, दैन्य, ग्लानि, निर्वेद, अवहित्थादि भाव ध्वनि के सहित संसृष्टि होती है। इस रीति से त्रिविध सङ्कर एवं संसृष्टि का वर्णन हुआ।।७१।।

उदाहरणान्तर यह है—उच्छूनस्तनित अर्थात् गभीर गर्जनकारी उस कृष्णजलधर का उदय, सबके सम्बन्ध में सुखप्रद हुआ है। समीरण जलकण को लेकर प्रवाहित हो रहा है। सुमनोवीथी अर्थात् मालतीश्रेणी प्रफुल्लित है। भूतल स्निग्ध है, सन्ताप भी विदूरित हुआ है। दिङ्मण्डल श्यामल वर्ण हुये हैं। गोकुल स्फीत हुआ है, नदीवृन्द उन्मद हुई हैं, एवं पर्वतवृन्द भी सुशीतल हुए हैं।

अत्र शब्दशक्त्युद्भवार्थशक्त्युद्भवध्वन्योः संसृष्ट्या ध्वनिसंसृष्टिः, तथालङ्काराणां वस्तूनाञ्च संसृष्टिः।

तथा हि—गुरुसमीपस्थितां गोवर्द्धननिकटनगरनागरीं प्रति गिरिकन्दरासङ्केतस्थं श्रीकृष्णं विज्ञापयितुं व्याजेन दैवोपनतं मेघोदयं लक्ष्यीकृत्य काचित् सखी वदति। वाच्यार्थः स्फुट एव। अत्र उद्दीपन-विभावश्च स्फुटो भवन् तुल्ययोगितालङ्कारं व्यनक्ति। श्रीकृष्णश्च सङ्केतस्थः, अम्बुदोदयश्चाभूदिति यौगपद्यप्रतिपत्त्या तुल्ययोगिता, कर्मधारयोपलक्षणतृतीया-तत्पुरुषपदमात्रयोः संसृष्टिः।

कृष्णाम्बुदयोः साधर्म्यादुपमालङ्कारो व्यङ्ग्यः। उच्छूनस्तनितस्येति— उच्छून-गर्जितत्वेनाम्बुदस्य वर्षुकत्वमे, तेन च शीघ्रमभिसरेति वस्तु व्यङ्ग्यम्। हे उच्छूनस्तनि !

पवना अपि—शीकरान् जलकणान् वोढुं शीलं येषां तथाभूताः सन्तश्चलन्तीति शेषः। एषां सुमनसां मालतीनां वीथी श्रेणी विकाशं वर्षासमयं प्राप्य प्रफुल्लतां गता, तथा च भूः पृथ्वी स्निग्धा जाता, तथा व्रजवासिनां निदाघजन्य संज्वरः सोऽपि गतः। मेघैरेव दिशश्च श्यामायमाना बभूवुः। अतएव समस्त-गोकुलमपि स्फीतमानन्देन प्रफुल्लम्।

एवं गोवर्धनद्रोणयोऽपि शीतला जाताः। तस्मात् सर्वप्रकारेणास्माकं व्रजवासिनां सुखसमयो जात इति वाच्यार्थः स्पष्टः। श्लिष्टार्थस्तु हे उच्छूनस्तनि ! गोवर्धने कृष्णेन सह मेघस्योदयो जातः, मेघादीनामुदय-कथनेनोद्दीपनविभावज्ञापनद्वारा अभिसारे उत्कण्ठां वर्धयति स्मेति। सामान्यभावेन त्वमपि स्निग्धा

इस श्लोक में, शब्दशक्त्युद्भव एवं अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि की संसृष्टि द्वारा ध्वनि की संसृष्टि हुई है, एवं अलङ्कार समूह की एवं वस्तुसमूह की संसृष्टि हुई है। विस्तृत विवरण इस प्रकार है—

गोवर्धन गिरि के कन्दररूप सङ्केत स्थान में श्रीकृष्ण अवस्थित हैं। इस संवाद को गुरुसमीपस्थिता अथच गोवर्धन समीपवर्त्ति नगरवासिनी किसी रमणी को देने के निमित्त, किसी सखी उस गिरि के उपरिभाग में दैववशतः उदित मेघखण्ड को लक्ष्य करके छलक्रम से इस श्लोक को कही है। इस श्लोक का वाच्यार्थ सुस्पष्ट है। इसमें कृष्णवर्ण इस प्रकार मेघ है, इस प्रकार कर्मधारय समास के द्वारा मेघ का उद्दीपन विभाव हुआ है। इससे तुल्ययोगिता अलङ्कार व्यञ्जित हुआ है। अर्थात श्रीकृष्ण सङ्केत स्थान में उपस्थित है, मेघोदय भी हुआ है, इस प्रकार उभय की तुल्य कालता प्राप्ति हेतु तुल्ययोगिता हुई है। कृष्ण के सहित मेघ का उदय— इस प्रकार तृतीया तत्पुरुष समास के द्वारा उक्त तुल्ययोगिता व्यञ्जित हुई है। इस प्रकार कर्मधारय एवं तृतीया तत्पुरुष समास हेतु उद्दीपन वैशिष्ट्य एवं तुल्ययोगित्व रूप ध्वनिद्वय की संसृष्टि हुई है, एवं श्रीकृष्ण एवं मेघ का साधर्म्य हेतु उपमालङ्कार भी व्यङ्ग्य हुआ है।

उच्छून स्तनित इस पद में स्तनित अर्थात् गर्जन की उच्छूनता प्रयुक्त मेघ का वर्षणोन्मुखत्व, एवं तन्निमित्त सत्वर अभिसार का कर्त्तव्यरूप वस्तु व्यङ्ग्य हुआ है।

मूल श्लोक में 'उच्छूनस्तनितस्य' इस प्रकार उल्लेख हेतु—'हे उच्छूनस्तनि तस्य' इस प्रकार पद

तस्येति सभङ्गसंश्लेषेणसंबोधयमानजनस्य प्रौढ़त्वम्, तेन च स्तनभराक्रान्ततया गमनमान्थर्य्यम्, तेन च नातःपरं विलम्बनीयमिति ध्वनि-प्रतिध्वन्यनुध्वननम्, तस्येति—सर्वनाम्नो महिम्ना कृष्णस्य परमदुर्लभता, तथा च बहुवल्लभत्वम् ।

सर्वसुखद इति हेतोर्हेत्वलङ्कारो व्यङ्ग्यः, तस्मान्नातःपरं विलम्बकार्य इति वस्तु । वाताः शीकरवाहिन इति स्वभावाख्यानम्, तेन च सुरतश्रमजलकणापहारिणश्चैते भविष्यन्तीति वस्तु । सुमनसां मालतीनामिति पूर्ववत् स्वभावाख्यानम् । तेन सुमनसां मानरहितानाम्, अन्यासामङ्गनानाञ्च वीथीसमूहः कृष्णोऽभिसर्त्तव्य इति यो विकाशः प्रसादस्तं गतेति वस्तु ।

तेन च यावत् कापि तं नाभिसरति, तावत्त्वमभिसरेति वस्तु । स्निग्धाऽभूरिति—चरणसञ्चरणसुखदत्वम्, परञ्च—स्निग्धा अभूः, तव मनसि वाम्यञ्च नास्ति, तत् कथमतः परं विलम्ब स इति वस्तु । स्निग्धात्वे हेतुः—गत एव संज्वरभर इति हेत्वलङ्कारः ।

अभूरित्यर्थः । अत्रोद्दीपनेनेति कृष्णाम्बुदपदस्य कर्मधारय-समासेन मेघस्योद्दीपनविभावत्वं स्फुटं व्यञ्जीभवत् श्रीकृष्णेन सह मेघस्योदय इति तृतीयातत्पुरुषेण तुल्ययोगितारूपालङ्कारं व्यनक्ति ।

तुल्ययोगितामेवाह—कृष्णश्चेति । कर्मधारयेति कृष्णश्चासौ अम्बुदश्चेति कर्मधारयपदम् । एवं कृष्णेन सहाम्बुदोदय इत्युपलक्षणतृतीया तत्पुरुषपदं च मात्राकारणम् । तयोरेवम्भूतयोरुद्दीनविभावत्व-तुल्ययोगित्वरूपधन्योः संसृष्टिः । कर्मधारयपक्षे, कृष्णेति विशेषणेन मेघरूपोद्दीपनस्य वैलक्षण्यं बोधयति ।

भङ्ग हेतु सभङ्ग श्लेष हुआ है । इससे जिसको उस प्रकार सम्बोधन किया गया है, उसका प्रौढ़त्व एवं तत्प्रयुक्त स्तनभार से आक्रान्त होने के कारण—गमन में मन्थरत्व है, अनन्तर गमन का अयुक्तत्व है । इस रीति से ध्वनि की प्रतिध्वनि एवं अनुध्वनि हुई है ।

'उन श्रीकृष्ण का' यहाँ तद् शब्दरूप सर्वनाम की महिमा के द्वारा श्रीकृष्ण की दुर्लभता एवं उसके द्वारा बहुवल्लभता प्रतीत होती है । उनका उदय—सर्वसुखप्रद है । इस प्रकार कथन हेतु—हेत्वलङ्कार एवं तन्निमित्त अनन्तर विलम्ब करना कर्त्तव्य नहीं है—इस प्रकार वस्तु व्यङ्ग्य हुई है ।

'वायु जलकणवाहि' यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार हुआ है । एवं उससे समीरण का सुरत श्रमजनित धर्मजलापहारित्वरूप वस्तु व्यञ्जित हुई है । सुमन अर्थात् मालतीश्रेणी विकसित हैं । यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार हुआ है । उससे 'सुमना' अर्थात् मानरहिता अन्य अङ्गनाश्रेणी कृष्ण के निमित्त अभिसार करना पड़ेगी, इस हेतु विकाश अर्थात् प्रफुल्लित हुई हैं । यह वस्तु है, एवं उससे जबतक अपर कोई अभिसार नहीं करती है, तबतक तुम अभिसार करो—यह वस्तु है । 'स्निग्धा भूः' इस प्रकार उल्लेख हेतु सञ्चरण का सुखकरत्व, अथच मूलमें 'स्निग्धा भूः' प्रयोग हेतु इसका अर्थ—तुम स्निग्धा हो गई हो: अर्थात् तुम्हारे चित्त में सम्प्रति किसी प्रकार वामता नहीं है, तब क्यों विलम्ब कर रही हो ? यह वस्तु है ।

स्निग्धत्व हेतु 'सन्ताप समस्त विदूरित हुये हैं' इस प्रकार उल्लेख हेतु—हेत्वलङ्कार हुआ है ।

तेन च त्वदाकारेणैव मया त्वदन्तःकरणं ज्ञातमिति स्वचातुर्य्यप्रकटनम्। श्यामायमाना दिश इत्यलक्ष्या भूत्वा गमिष्यसि, तेन न कापि शङ्केति वस्तु ।

व्यङ्ग्यपक्षे, गोकुलं—व्रजस्थली, स्फीतं—जनाकीर्णम्, तेनात्र तमानेतुं न शक्नोमि। सरितो यमुनाद्या उत्पूराः, तेन तटादौ च न सङ्केतयोग्यता । तर्हि पारिशेष्यात् शीता गिरिद्रोणय इति भङ्ग्या तत्रैवाभिसारः क्रियताम् । तत्रैवागतोऽस्ति कृष्ण इति व्यञ्जकानां संसृष्टिरेव ।

एवंविधा एव ध्वनय उत्तमोत्तमकाव्यलक्षणबीजम् । ध्वनेर्व्यापारयुगलं ध्वननमनुध्वननञ्च । यत्र केवलं ध्वननम्, तदुत्तमं काव्यम्, यत्र तु ध्वननानुध्वनने, तदुत्तमोत्तमम् ।

प्राचीनैस्तु सर्वेषामुत्तमत्वं लिख्यते, तत्तु नास्माकमभीष्टम्, यतः (काव्यप्रकाशे ४।१३) "त्वामस्मि वच्मि" इत्यादौ वचेरर्थान्तरसंक्रमित-वाच्यध्वनेः, (काव्यप्रकाशे ४।११२)

स्तनस्योच्छूनता कथनेन सम्बोध्यमानस्य स्वयूथेश्वरीजनस्य प्रौढ़यौवनत्वमानीतम् । 'यमुनाद्या उद्गताः पूराः प्रवाहा यत्र तथाभूतास्तेनेति प्रवाहाधिक्येन तासां नदीनां तटस्थादौ पारे सङ्केतयोग्यो न सम्भवतीत्यर्थः।

ध्वनेरिति—उत्तमध्वनेरुत्तमोत्तमध्वनेश्चेत्यर्थः। तयोर्मध्ये उत्तमध्वनेर्ध्वननमेव केवलं व्यापारः, उत्तमोत्तमध्वनेस्तु ध्वननानुध्वनने द्वे एव व्यापारे इति बोध्यम् । 'तामस्मि वच्मि' इत्यादौ वर्त्तमानोऽहं त्वां वच्मि इत्यर्थः। अत्र अस्मि पदेनाहं मुख्योत्कृष्टवक्ता इत्यर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनिः। एवं स्निग्धश्यामलेति पद्ये लिप्तपदेनातिशयमेघागमनरूपार्थान्तरसंक्रमितवाच्यार्थध्वनिस्तेन चास्मिन् घनागमे शीता कथं जीविष्यतीत्यनुध्वनिः। रामोऽहमिति पदेन रमते रमयतीति राम इति व्युत्पत्तिसिद्धो रामो

इससे 'तुम्हारी आकृति के द्वारा ही मनोभाव ज्ञात हो रहा है' इस प्रकार स्वचातुर्य्य प्रकटन, दिङ्मण्डल श्यामायमान हुए हैं। इससे तुम अलक्ष्य होकर जा सकोगी। सुतरां तुम्हारी शङ्का नहीं है, यह वस्तु है। ये सब व्यञ्जित हुये हैं।

पक्षान्तर में, गोकुल वा व्रजस्थली स्फीत है अर्थात् जनाकीर्ण है। अतएव यहाँ उनको ले आना सम्भव नहीं होगा। यमुनादि नदी भी कुलप्लाविनी हुई हैं, सुतरां उसके तटादि में भी सङ्केत स्थान होना सम्भव नहीं है। स्थान के मध्य में गिरिद्रोणी अवशिष्ट है, उस गिरिद्रोणी भी सुशीतल हुई है। इस प्रकार वचन भङ्गी के द्वारा उस स्थान में ही अभिसार हो, वहाँ श्रीकृष्ण उपस्थित हैं। इस प्रकार बहु व्यञ्जक की संसृष्टि हुई है।

इस प्रकार ध्वनिसमूह ही उत्तमोत्तम काव्य लक्षण का बीजस्वरूप हैं। ध्वनि का द्विविध प्रयत्न हैं, ध्वनन एवं अनुध्वनन। जहाँ केवल ध्वनन है, वह उत्तम काव्य है, एवं जहाँ ध्वनन एवं अनुध्वनन उभय ही हैं, वह उत्तमोत्तम काव्य होता है।

प्राचीन पण्डितगण उक्त विषयसमूह को उत्तम काव्य कहते हैं। इस प्रकार कथन हम सबके पक्ष में अभीष्ट नहीं है। काव्यप्रकाशकार के मत में—'त्वामस्मि वच्मि' इत्यादि श्लोक में अर्थान्तर

"स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतः" इत्यादेश्चानुध्वननरूपार्थान्तरसंक्रमितात्यन्ततिरस्कृत-संसृष्टया च महाध्वनेरेक एवास्वादश्चेल्लभ्यते, ते तु लभ्यतां नाम, न त्वस्माभिः ॥७२॥

इति श्रीमदलङ्कारकौस्तुभे ध्वनिनिर्णयो नाम
तृतीयः किरणः ॥३॥

न भवामि, किन्तु नाम्नैव रामः। अतोऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यार्थो ध्वनिः। एवं विप्रलम्भरसादिरूपा बहवो ध्वन्यनुध्वनयो दृश्यन्ते। अतस्तामस्मीति काव्यापेक्षया अस्य काव्यस्योत्तमत्वमिति विवेचनीयम्। प्रपञ्चितं काव्यप्रकाशकृता स्वग्रन्थे द्रष्टव्यम् ॥७२॥

इति सुबोधिन्यां तृतीयकिरणः ॥३॥

संक्रमित वाच्य ध्वनि का, एवं 'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतः' श्लोकमें अनुध्वनन रूप अर्थान्तर संक्रमित वाच्य एवं अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का संसृष्टि हेतु महाध्वनि का एक प्रकार आस्वाद का अनुभव होता है। उस प्रकार आस्वादन जो लोक करना चाहते हैं—वे करें। किन्तु हम सब उक्त उभयस्थल में ध्वनिगत महान् प्रभेद को उपलब्ध करते हैं ॥७२॥

इति श्रीमदलङ्कारकौस्तुभे श्रीहरिदास शास्त्रिकृतानुवादे
ध्वनिनिर्णयो नाम तृतीयः किरणः ॥३॥

चतुर्थकिरणः

अथ गुणीभूतव्यङ्ग्य निर्णयः

अथ गुणीभूतव्यङ्ग्यानि कियन्ति भवन्तीत्याकाङ्क्षायां तेषां भेदानाह। यद्यपि (प्रथम किरणे १२) "मध्यमे तत्र मध्यमम्" इति पूर्वोक्तस्य मध्यमकाव्यस्यैव गुणीभूत-व्यङ्ग्यत्वम्, तथापि ध्वनेरवैशिष्ट्ये च हेत्वन्तरोपाधितो गुणभावाद्गुणीभूतत्वमिति च्व्यर्थ एव द्वैविध्यं बोधयति। तत्रावैशिष्ट्ये भेदो नास्ति, एकरूपत्वात्, द्वितीये तु भेदोऽष्टधेति सूत्रयति—

स्फुटमपराङ्गं वाच्य-प्रपोषकं कष्टगम्यञ्च।
सन्दिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्य-काकुगम्ये च।
अमनोज्ञं चेति गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य भेदाः स्युः॥१॥

अथ गुणीभूत-व्यङ्ग्यनिर्णयः।

ननु काव्यप्रकाशकृतोत्तमव्यङ्ग्येभ्यः सकाशाद् भिन्नान्येव गुणीभूतव्यङ्ग्यान्युक्तानि, स्वमते तु मध्यमकाव्यस्यैव गुणीभूतत्वम्, तथात्वे मध्यमकाव्यस्य पूर्वोक्तयुक्त्या शब्दार्थयोर्वैचित्र्ये सति उत्तमता-कथनानुपपत्तिरित्याह—यद्यपीति। तथापीति—ध्वनेरवैशिष्ट्ये अवरत्वे सति वैशिष्ट्ये च ध्वनेर्मध्यमादौ च सति, मध्यमकाव्यस्यापराङ्गत्ववाच्यपोषकत्वादिगुणयोगादुत्तमध्वनेरपि गुणीभूतत्वमिति। तथा सत्येकस्यैव मध्यमकाव्यस्य शब्दार्थकं वैचित्र्ये सति उत्तमत्वं तस्योत्तमकाव्यस्यापराङ्गत्व वाच्यपोषकत्वादि-सूचकपदान्तर-समभिव्याहारे सति गुणीभूतत्वमतो न विरोधः।

एतदर्थमेव गुणीभूतपदस्यान्तर्भूतेन च्वि-प्रत्ययेन बोधयति। च्व्यर्थ एवेति—अगुणो गुणी भवतीति व्युत्पत्त्या पूर्वमगुणत्वं पश्चाद्गुणयोगाद् गुणीभूतत्वमिति द्वैविध्यं बोधयतीत्यर्थः। तत्रेति—अवैशिष्ट्ये अवरत्वे सत्यगुणदशायामपि निकृष्टत्वेन गुणदशायां तु सुतरामतिशयनिकृष्टत्वात्, अतस्त्वेकरूपत्वाद्विभेदो नास्तीत्यर्थः।

सन्दिग्धेति—वाच्यार्थापेक्षया सन्दिग्धं प्राधान्यं यत्रेत्यर्थः। तथा च वाच्यार्थापेक्षया ध्वनेः प्राधान्य निश्चय एवोत्तमतायाः प्रयोजकः। न तु सन्देह इति भावः। तुल्येति—वाच्यार्थध्वन्योस्तुल्यप्राधान्यमित्यर्थः॥१

गुणीभूत व्यङ्ग्य कितने प्रकार हैं? इस प्रश्न के उत्तर में उसका प्रभेद कहते हैं। ध्वनि मध्यम होने से काव्य मध्यम होता है। पूर्वोक्त इस प्रकार लक्षण के अनुसार प्रतिपन्न मध्यम काव्य का ही यदि गुणीभूत व्यङ्ग्यत्व होता है, तथापि ध्वनि का अवैशिष्ट्य अर्थात् निकृष्टता स्थल में एवं ध्वनि का वैशिष्ट्य स्थल में कारणान्तर स्वरूप अपराङ्ग प्रभृति के योग से गुणभाव हेतु गुणीभावत्व होता है। सुतरां पूर्वमें गुणयुक्तत्व नहीं था, सम्प्रति गुणयोग हेतु गुणीभूत हुआ है। इस प्रकार च्वि प्रत्यय लब्ध अर्थ ही उसका द्वैविध्य प्रतीति कराता है। उसके मध्य में अवैशिष्ट्य स्थलमें अष्टविध भेद होते हैं। अतः सूत्रमें उसका निर्देश करते हैं।

स्फुट, अपराङ्ग, वाच्य प्रपोषक, कष्टगम्य, सन्दिग्ध प्राधान्य, तुल्यप्राधान्य, काकुगम्य एवं अमनोज्ञ—गुणीभूत व्यङ्ग्य के ये अष्ट प्रकार भेद होते हैं॥१॥

क्रमेणोदाहरणानि— दृष्टा भागवताः कृपाप्युपगता तेषां स्थितं तैः समं
ज्ञातं वस्तु विनिश्चितञ्च कियता प्रेम्णापि तत्रासितम् ।
जीवद्भिर्न मृतं मृतैर्यदि पुनर्मर्त्तव्यमस्मादृशै
रुत्पद्यैव न किं मृतं वत विधे वामाय तुभ्यं नमः ॥

अत्र जीवद्भिरिति स्निग्धावस्थैः, मृतैरिति तद्विपरीतावस्थैरित्यर्था-न्तरसंक्रमित-वाच्यम्, तत्तु स्फुटमिति गुणीभूतम् ॥२॥

यथा वा—

शयनसहचरीणां लोचनैरर्च्यमानान्यतिरति जये लक्ष्मीलक्ष्मभिः पक्ष्मलानि ।
रहसि सबहुमानं चुम्ब्यमानानि दृग्भ्यां, स्वजत इव मृगाक्षी स्वाङ्गकैः स्वाङ्गकानि ॥

अत्र ग्रन्थकार एव महाप्रभोः पार्षदानां मध्ये कस्यचित् कस्यचिदप्राकट्यं दृष्ट्वा विरहव्याकुलः सन् आत्मानं निन्दन्नाह—दृष्टा इति। तेषां कृपाप्यस्मादृशैः प्राप्ता, तैः सर्वसारत्वेन निश्चितं यद्वस्तु तदपि ज्ञातम्। तत्र तेषां निकटे आसिनं वासः कृत इत्यर्थः। तेषां दर्शन-कृपा-सहवासादिप्राप्तिरेव जीवनम्, तादृशजीवनवद्भिरस्माभिर्न मृतम्।

अधुना तेषां विरहे वयं मृता एव। मृतैर्यदि पुनर्मर्त्तव्यम्, तदोत्पद्यैव किं न मृतम्? तथा च जीवद्दशायां मरणं न जातम्। अधुना मृतानामस्माकं पुनर्मरणं भविष्यति। एतदपेक्षयोत्पत्तिकाल एवास्माकं मरणं कथं न कृतम्, तस्मात् प्रतिकूलाय विधात्रे नम इत्यर्थः। स्निग्धेति—सुखमयावस्थैरित्यर्थः। तद्विपरीतेति—दुःखमयावस्थैरित्यर्थः ॥२॥

यथा वेति— मृगाक्षी स्वाङ्गकैः करणैः स्वाङ्गानि स्वजत इति। एवमतिशयरतिजये या लक्ष्मीः

क्रमशः उदाहरण—भगवद्भक्तवृन्द का दर्शन भी हुआ है; उनकी कृपा से अवस्थिति भी सम्भव हुई है। परम वस्तु को जानकर उसका विनिश्चय भी हुआ है। उन सबके निकट में प्रेमपूर्वक निवास भी हुआ है। उस जीवित अवस्था में हम सबकी मृत्यु नहीं हुई है। अधुना उन सबके विच्छेद से हम सब मृत हैं। मृत होकर भी यदि मरना होता है तो उत्पन्न होकर ही क्यों मृत्यु नहीं हुई? अयि वाम विधे! तुम्हारा असाध्य कुछ भी नहीं है, प्रतिकूल विधि—तुमको नमस्कार।

यहाँ जीवित अवस्था शब्द से भागवतगण के सहित निवास, सदालापादि रूप जो जीवन है, वही जीवनविशिष्ट अवस्था है, एवं मरणावस्था—उन सबकी अभावविशिष्ट अवस्था है। इस रीति से यहाँ अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य हुआ है, किन्तु वह परिस्फुट होने के कारण गुणीभूत व्यङ्ग्य हुआ है ॥२॥

इस विषयमें उदाहरणान्तर यह है—जो शयनकालीन परिचर्याकारिणी किङ्करीवृन्द लोचन के द्वारा अर्च्यमान हैं। अर्थात् आदर पूर्वक दृष्ट होते हैं। रति विजय शोभा सूचक चिह्नसमूह के द्वारा जो पक्ष्मल के समान प्रतीत होते हैं, निज लोचन के द्वारा ही जो निर्जनमें चुम्ब्यमान होते हैं, मृगाक्षी राधिका निज उन अङ्गप्रत्यङ्ग के द्वारा ही मानो निज उन सब अङ्गप्रत्यङ्ग को आलिङ्गन कर रही हैं, अर्थात् पुनः पुनः स्पर्श कर रही हैं।

अत्र 'अर्च्यमानानि' 'पक्ष्मलानि' 'चुम्ब्यमानानि दृग्भ्यां' 'स्वजते' इत्यादीन्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यानि, तानि स्फुटान्येव ॥३॥

अपराङ्गं यथा—

कोपे यथातिललितं न तथा प्रसादे, वक्त्रं विधिस्तव तनोतु सदैव कोपम् ।
इत्याकलय्य दयितस्य वचो विभङ्गीं, राधा जहास विहसत्सु सखीजनेषु ॥

अत्र विप्रलम्भशृङ्गारो हास्यस्याङ्गम् । 'राधाविवर्त्तितविनम्रमुखी बभूव' इति चेत्, तदा कोपप्रशमो व्रीडोदयश्चेति ध्वनिरेव स्यात् ॥४॥

यथा वा—मुग्धे परिहरमानं, मानय वचनं प्रियालिवृन्दस्य ।
यौवनमिदमम्भोरुह, दलजलबिन्दूपमं विद्धि ॥

शोभा तस्याः सूचकैर्लक्षणभिश्चिह्नैः करणैः पक्ष्मलानि पुष्टानीव । कथम्भूतानि ? शयनसमये परिचरणपराणां किङ्करीणां लोचनैरर्च्यमानानि । 'अर्च्यमानानि' इति पदेन स्वसाफल्यमननेन सादरं दृष्टानीत्यर्थान्तरसंक्रमितं वाच्यं स्फुटम् । पक्ष्मलानीति पदेन चित्रितत्वं व्यङ्ग्यम् । तत् स्फुटम् । तेन च सम्मर्दातिशयोक्त्या तनुग्लानिर्वस्तु व्यङ्ग्यम् । स्वदृग्भ्यां चुम्ब्यमानानीति आसक्तिपूर्वकं दृष्टानि, तेनाहमद्य कृतार्थास्मीति स्वसाफल्यं वस्तु व्यङ्ग्यम् । स्वजत इति पदेन पुनः पुनः स्पृशतीत्यर्थान्तरसंक्रमितं वाच्यमिति सर्वत्र स्फुटमेव ॥३॥

अपराङ्गमिति—अपरस्य गौणरसस्याङ्गमित्यर्थः । वचसो विभङ्गीं श्रुत्वा राधाविवर्त्तितेत्यस्य पदस्य गुणीभूतत्वसूचकं 'राधा जहास विहसत्सु सखीजनेषु' इति चरणं विहाय, राधाविवर्त्तिता विनम्रमुखी बभूवेति चरणस्य प्रक्षेपे कृते अस्यैव काव्यस्योत्तमता भवेदित्यर्थः ।

न च पूर्वोक्तपद्यद्वयस्य गुणीभूतत्वसूचकवाक्यस्थले उत्तमताबोधकवाक्यप्रयोगः कथं न कृत इति वाच्यम् । तत् पद्यद्वयोर्गुणीभूतत्वेऽपि वाच्यार्थस्यातिचमत्कारित्वेन प्रक्षेपस्यानौचित्यात् ॥४॥

मुग्धेति—यौवनमिदं कमलदलस्थ-जलबिन्दुवत् नश्वरं विद्धि इत्यनेन शान्तरसो मुख्यव्यङ्ग्यस्तस्याङ्गं

इस श्लोक में अर्च्यमान, चुम्ब्यमान, पक्ष्मल एवं आलिङ्गन पदमें जो अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि हुई है, वह अत्यन्त स्फुट ही है ॥३॥

अपराङ्ग का एक उदाहरण—कोप के समय तुम्हारा वदनकमल जिस प्रकार सुललित होता है, प्रसाद समय में उस प्रकार सुन्दर नहीं होता है । अतएव विधि जैसे निरन्तर तुमको क्रोध प्रदान करें । दयित के इस प्रकार वचन को सुनकर सखीगण हास्य परायण होने पर श्रीराधिका भी हँसने लगीं ।

यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार हास्यरस का अङ्ग हुआ है । इस श्लोक के शेष भाग में 'राधिकाने मुखमण्डल को विवर्त्तित एवं विनमित किया' इस प्रकार पाठ श्लोकमें होने पर कोप का प्रशम एवं व्रीड़ा का उदय से ध्वनि ही होती ॥४॥

अपराङ्ग का अपर एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—अयि मुग्धे ! मान परिहार करो, प्रियसखीवृन्द के वाक्य का समादर करो । यह यौवन, कमल-दलोपरिस्थित सलिल बिन्दु के समान है ।

अत्रापि विप्रलम्भशृङ्गारध्वनिः शान्तरसस्याङ्गम्। 'अर्चयसि यौवनकुसुमैर्देवं कुञ्जेचरं किमपि' इत्युक्ते ध्वनिरेव स्यात् ॥५॥

वाच्यपोषकं यथा—क्वाहं गोपवधूः स्मरायुतजयी गोपेन्द्रसूनुः क्व वा
साद्धं तेन रतिर्ममाभवदिति भ्रान्तैः परं श्रूयते।
इत्येवं गुरुकर्णगोचरतया सख्या समं निर्मितां
वाणीमन्यथाञ्चकार पुलकी गण्डः कुरङ्गीदृशः॥

अत्र 'अन्यथाञ्चकार' इत्यस्य वाच्यस्य गण्डस्य पुलकितत्वं प्रपोषकम्। 'इत्येवं गुरुकर्णगोचरतया सख्या समं जल्पने रोमाञ्चोत्करमञ्चलेन सुमुखी गण्डस्थलीमावृणोत्' इत्युक्ते ध्वनिरेव स्यात् ॥६॥

यथा वा—काठिन्यं गुण एव येन भवतो कान्तस्य केशग्रहं
स्नेहो दूषणमेव येन लभ्यते दीपोदशा वध्यताम्।
तुभ्यं कङ्कतिके नमोऽस्तु धिगिति स्नेहामिति-व्याजवाग्
विन्यासा चिकुरप्रसाधनविधौ कृष्णेन सा सस्वजे॥

शृङ्गाररसस्तेनायं ध्वनिर्गुणीभूतो ज्ञेयः॥५॥

क्वाहमिति—गोपेन्द्रस्य राज्ञः पुत्रस्तत्रापि स्मरायुतजयी कोटिकन्दर्पतो गोपसुन्दरः सः श्रीकृष्णो वा क्व, तस्य प्रजा कश्चिन्निकृष्टो गोपस्तस्य वधूस्तत्रापि तस्याप्रे कुरूपाहं वा क्वेति वाक्प्रयोगकाले कृष्णशब्दोच्चारणसञ्जातो जो गण्डदेशे पुलकः, स एव सख्या समं निर्मितां वाणीमन्यथाञ्चकार मिथ्याभूतञ्चकार। गण्डस्थलं कथम्भूताम्? रोमाञ्चोत्करं रोमाञ्चव्याप्तमिति यावत्॥६॥

मानान्तरं सङ्कीर्णसयुक्ता पश्चात् स्वाधीनभर्तृका काचिन्नायिका श्रीकृष्णस्य केशप्रसाधनं कुर्वती

इस श्लोक में भी विप्रलम्भ शृङ्गार ध्वनि शान्तरस का अङ्ग हुई है। श्लोक के शेषार्द्ध में 'तुम यौवन कुसुम के द्वारा कुञ्जविहारी किसी देव की अर्चना करो' इस प्रकार कहने से ध्वनि ही होती ॥५॥

वाच्य प्रपोषक का निदर्शन—सामान्या गोपवधू मैं हो कहाँ, और कोटि कन्दर्प के समान सुन्दर गोपराजतनय श्रीकृष्ण भी कहाँ? भ्रान्त व्यक्तिवृन्द ही केवल उनके सहित मेरे प्रीति प्रसङ्ग का उल्लेख करते रहते हैं—गुरुजन के कर्णगोचर होने से हरिणाक्षी जिस समय सखीवृन्द के गण्डस्थल पुलकित होकर उक्त समस्त कथोपकथन को अन्यथा कर दिया।

यहाँ गण्डस्थल का पुलकितत्व—अन्यथा कर दिया, इस वाक्य का प्रपोषक हुआ है। इस श्लोक का शेष भाग—सखी के सहित कथोपकथन समय में वह सुमुखी रोमाञ्चपूर्ण गण्डस्थली को अञ्चल के द्वारा आवृत किया। इस प्रकार होने से ध्वनि ही होती ॥६॥

वाच्य प्रपोषक का दृष्टान्तान्तर यह है—काठिन्य गुण के मध्य में ही गणनीय है। कारण, तुमने तज्जन्य कान्त का केशग्रहण सौभाग्यलाभ किया है, एवं स्नेह दोष के मध्य में परिगणित हुआ है। कारण, इस हेतु प्रदीप की वर्त्ती वध होती है। अतएव हे कङ्कतिके! अति-कठिन तुमको नमस्कार, एवं

अत्र विपक्षरमणीं प्रति काठिन्यादिदोषप्रसञ्जनेन प्रागल्भ्यातिशय-प्रकटनेन वाऽसूया। आत्मानं प्रति स्नेहमयत्वगुणारोपेण स्वाधिकसन्तापप्रकटनेन दैन्यम्। काठिन्यस्नेहयोर्गुण-दोषत्वारोपेणात्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनित्वम्। कङ्कतिकां प्रति विपक्षरमणीत्वारोपेण समासोक्तिः। "तुभ्यं नमोऽतिस्निग्धां धिक्' इति हास-निर्वेदयोः शावल्यम्। एवं भूयसामपि विलक्षणेनोत्तमोत्तममपि काव्यं 'व्याजवाग्विन्यासा' इत्येकस्यैव पदस्य वाच्यस्य पोषकत्वा-दुत्तमोत्तमत्वं विहाय केवलगुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेनोत्तमत्वं जातम्, किन्तु 'धिगिति स्नेहाम्' इतीषत् स्मितं जल्पन्ती 'चिकुरप्रसाधनविधौ' इत्यादिचेत्तदास्योत्तमोत्तमत्वमेव। कष्टगम्य-मस्फुटतया क्लेशगम्यमित्यर्थः ॥७॥

यथा— त्वदभिरमिता द्वितीया, जगत्यभूदद्वितीयेव।

अनुमतिरप्यननुमति,-स्तिथिरतिथिर्मे निशाप्यनिशा ॥

कङ्कतिकां लक्षीकृत्य व्याजेन श्रीकृष्णमाह—काठिन्यमिति। हे कङ्कतिके! तव काठिन्यं गुण एव, येन काठिन्येन हेतुना भवती श्रीकृष्णस्य केशग्रहं लभते, स्नेहस्तु दूषणमेव, येन तैलरूपस्नेहदूषणेन दीपी दीपसम्बन्धिनीदशा वर्तिकावग्धतां लभते, इति व्याजेन कङ्कतिकामिषेण विपक्षरमण्या दोषव्यञ्जकस्य वचसो विन्यासो यस्या सा। वाग्विन्यासं श्रुत्वा प्रसन्नेन श्रीकृष्णेन सस्वजे, तया सहालिङ्गनं चक्र इत्यर्थः। प्रागल्भ्येति—केषाकर्षरूप-प्रागल्भ्यतिशयप्रकटनेनेत्यर्थः। गुणदोषत्वेति—काठिन्यगुण इत्यत्र गुणशब्दस्य दोषे लक्षणा, काठिन्यस्य निन्द्यत्वं ध्वनिः। एवं स्नेहोत्तरदोषशब्दस्यापि गुणे लक्षणा, स्नेहस्य च सर्वोत्कर्ष ध्वनिः। धनेस्तु अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वं ज्ञेयम्। नायिकात्वारोप एव समासोक्त्यलङ्कारः ॥७॥

अति स्नेहशालिनी को धिक्। केश प्रसाधन के समयमें इस प्रकार कपट वाग्विन्यासकारिणी उस रमणी श्रीकृष्ण के द्वारा आलिङ्गित हुई थी।

यहाँ विपक्षरमणी के प्रति काठिन्य दोष का प्रसङ्ग के द्वारा अथवा केशाकर्षक रूप प्रगल्भता का आतिशय्य प्रकटन द्वारा असूया व्यक्त हुई है। अपने में स्नेहमयत्व गुणारोप के द्वारा निज सन्तापातिशय प्रकटन हेतु दैन्य अभिव्यक्त हो रहा है। एवं, काठिन्य गुण रूपमें भी स्नेह दोष रूपमें आरोपित होने से अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि होती है।

कङ्कतिका के प्रति विपक्ष रमणीत्व आरोप करने से समासोक्ति अलङ्कार हुआ है। 'अति कठिन तुमको नमस्कार एवं अति स्नेहशालिनी को धिक्' यहाँ हास एवं निर्वेद की शवलता हुई है।

इस प्रकार बहु लक्षणा युक्त उत्तमोत्तम काव्य होने पर भी 'कपट वाग्विन्यासकारिणी' पद रूप वाच्य की पोषकता हेतु उत्तमोत्तम काव्यत्व परित्याग पूर्वक केवल गुणीभूत व्यङ्ग्य होने से उत्तम काव्यमें परिणत हुआ है।

किन्तु, "अति स्नेहशालिनी को धिक्, केश प्रसाधन समय में ईषत् हास्य के सहित, इस प्रकार कथोपकथनकारिणी किसी रमणी" इस प्रकार पाठ होनेसे उसका उत्तमोत्तम काव्यत्व अक्षत ही रहता ॥७॥

द्वितीया, तुम्हारे द्वारा अभिरमिता होकर जगत्में अद्वितीया हो गई है। सम्प्रति वह अनुमतितिथि अनुमतिहीना होकर मेरे सम्बन्ध में अतिथि एवं निशा भी अनिशा हुई है।

अत्र विरोधाभासेन तव प्रकृतिवैकृत्यकारिणी कापि शक्तिरस्तीति । द्वितीया सपत्नीत्यर्थः । अतो मे ममानुमतिः कलोनचन्द्रा पूर्णिमातिथिरनुमतिहीना सती अतिथिराजतेत्यर्थः । निशापि मे अनिशा शाश्वती अप्रभातेवासीदित्यर्थः । पर्य्यायप्राप्तापि मे पूर्णिमातिथिस्त्वयाऽननुमतिः कृता, अनादृतेति मम जीवनमेव व्यर्थमिति स्फुटम् । प्रतिपदमहमप्रतिपदमुपागता त्वत् प्रभावेनेति चेद्ध्वनिरेव । प्रतिपदं प्रति—व्यवसायम्, अप्रतिपदमप्रतिपत्तिमहमुपागतेत्यर्थः ॥८॥

सन्दिग्धप्रामाण्यं यथा—

> हे भद्र भाद्रपदमासचतुर्थिकेन्दो, तुभ्यं नमोऽस्तु न कदापि मयासि दृष्टः ।
> श्यामेन तेन कतमेन नवेन यूना, साकं तथापि मम किं प्रथितः प्रवादः ॥

त्वयाभिरमितेति—अत्र द्वितीया—अद्वितीया; अनुमतिरननुमतिरिति सर्वत्र शब्दविरोधमात्रम्, तेन विरोधाभासेन तव प्रकृतिवैकृत्यकारिणी कापि शक्तिरस्तीति परिहासो व्यङ्ग्यः ।

वास्तवार्थस्तु—द्वितीया मम सपत्नी अद्वितीया अभूत्, त्वद्दत्त सौभाग्यादिति भावः । कलाहीने सानुमतिरित्यभिधानादनुमतिपदं कलाहीनचन्द्रयुक्तपूर्णिमा बोधकम् । तथा चागामिन्यां पूर्णिमायां मया सह ते सङ्गोऽवश्यम्भावीति त्वयैव पूर्वं सम्मतिर्दत्ता, अधुना मम सा पूर्णिमातिथिस्तवानुमतिहीना सत्यतिथिस्तादृशतिथिभिन्नाभूत्वा आगतेत्यर्थः । अनिशा-पदेन लक्षणया शाश्वती अप्रभातेवासीत्यर्थः ।

पर्य्यायप्राप्तेति त्वत्कृतानियमप्राप्तेत्यर्थः । प्रतिव्यवसायमिति व्यवसायो निश्चयः, तथा च यस्मिन् दिवसे त्वया सङ्केतनिश्चयः कृतः तस्मिन्न्नेव दिवसे त्वत् प्रभावेणाहमप्रतिपत्तिमुपागतेत्यर्थः ॥८॥

ऐकान्तिकं व्याप्तिस्तदभावोऽनैकान्तिकम्, तथा च तव दर्शनादेव प्रवादो भवतीति न नियमः, यतो

यहाँ विरोधाभास अलङ्कार के द्वारा—'तुम्हारी प्रकृति-विकृतिकारिणी कोई शक्ति है' इस प्रकार व्यङ्ग्य की प्रतीति होती है । प्रकृतार्थ यह है—यह द्वितीया अर्थात् मेरी सपत्नी, तुम्हारे द्वारा अभिरमित होकर अद्वितीया अर्थात् अति सौभाग्यशालिनी हुई है । अतएव मेरे सम्बन्ध में वह अनुमति अर्थात् एक कला हीन चन्द्रविशिष्ट पूर्णिमा तिथि—जिस पूर्णिमा में सङ्गत होने का वचन तुमने दिया था—अनुमति हीन होकर अतिथि अर्थात् उस तिथि भिन्न अपर तिथि के समान हो गई है ।

निशा भी अनिशा – नित्या हो गई है, अर्थात् उसका प्रभात नहीं होगा, इस प्रकार प्रतीत होता है । तुम्हारे द्वारा कृत पर्य्याय के अनुसार—जो पूर्णिमा उपस्थित है, वह तुम्हारे द्वारा अननुमतिकृत अर्थात् अनादृत होने से मेरा जीवन व्यर्थ हुआ ।

यहाँ व्यङ्ग्य अस्फुट हुआ है । 'तुम्हारे प्रभाव से प्रतिपद में मैं प्रतिपद् हो गई हूँ ।' इस प्रकार पद विन्यास करने से ध्वनि होती । प्रतिपद् अर्थमें व्यवसाय अर्थात् निश्चय है । प्रतिपद में अर्थात् जिस जिस दिनमें तुमने सङ्केत का निश्चय किया था, उस उस दिनमें ही मैं अप्रतिपद हो गई हूँ । अर्थात् अप्रतिपत्ति को प्राप्त कर चूकी हूँ ॥८॥

अयि भद्र ! भाद्रीय चतुर्थिचन्द्र ! तुमको नमस्कार ! मैंने तुमको कभी देखा नहीं, अथच श्याम नामक एक नवीन युवक के सहित मेरा प्रवाद कैसे प्रथित हुआ ।

अत्र तव दर्शनेन प्रवादो भवतीत्यनैकान्तिकम्, अपि तु तथाविधाऽदृष्टद्वारैवेति। किं वा नायं प्रवादः, सत्यैवेयं किं वदन्ती, यतो भवद्दर्शनमन्तरेणापि जनैश्चेदुद्घूष्यत इति सन्दिग्धं प्राधान्यं यस्य इदं गुणीभूतव्यङ्ग्यमप्यास्वादस्य चमत्कारितया ध्वनिधर्मं भजत इति न कृताऽस्य परिवृत्तिः ॥९॥

तुल्यप्राधान्यं यथा—

स्मर-समरसमाप्तौ वक्रतां भ्रूरहासीदजनिषत मृगाक्ष्या वीतलक्ष्याः कटाक्षाः।
धनुरिव कुसुमेषोर्ज्याविमुक्तं तदासीद् विविशुरिव निषङ्गे मुक्तशेषाः पृषत्काः ॥

अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारेणोपमालङ्कारो ध्वनितः। तौ स्वप्राधान्येन स्थिताविति तुल्यप्राधान्यम् ॥१०

मय्येव तस्य व्यभिचारः, किन्तु प्रवादजनकीभूत अदृष्टमेव कारणमिति ध्वनिः। किंवा त्वद्दर्शनादेव प्रवाद इति नियमो यथार्थ एव, तथापि त्वद्दर्शनं विना जनैश्चेदुद्घूष्यति, तदा नायं प्रवादः।

किन्त्वियं किंवदन्ती जनश्रुतिः सत्या एव, यतो मिथ्याप्रवादस्त्वद्दर्शनं विना न भवतीति नियमावित्यपि ध्वनिः सम्भवति, अतो निश्चयाभावाद्गुणीभूतव्यङ्ग्यम् ॥९॥

मानभङ्गानन्तरं सम्भोगसमये मानाभासो वर्त्तते, सम्भोगान्ते सोऽपि नास्तीत्याह—स्मरसमरेति। अहासीत्—तत्याज, मानसमये ये कटाक्षाः कान्तं लक्षीकृत्य प्रवृत्ता आसन्, त एवाद्य सम्भोगान्ते मानाभासस्याप्यगमात् वीतलक्ष्या अजनिषत, तथा च कान्तं लक्षीकृत्य कटाक्षवाणान् न क्षिपतीत्यर्थः।

भ्रुवो वक्रतात्यागे उत्प्रेक्षामाह—कुसुमेषोः कन्दर्पस्य धनुर्युद्धसमाप्त्यनन्तरं ज्या—विमुक्तं सद् यथा वक्रतां त्यजति, तथा कटाक्षाणां लक्ष्यत्यागे उत्प्रेक्षामाह—कन्दर्पस्य मुक्तावशिष्टा बाणा युद्धसमाप्त्यनन्तरं निषङ्गे तूणे विविशुरिव ॥१०॥

यहाँ तुम्हारा दर्शन से ही प्रवाद होता है, ऐसी व्याप्ति नहीं है। कारण, मुझमें उसका व्यभिचार सुस्पष्ट है। अतएव प्रवाद का कारण दुरदृष्ट ही है। इस प्रकार ध्वनि की सम्भावना होती है, एवं यह प्रवाद नहीं है। किन्तु यथार्थ जनश्रुति है। कारण, तुम्हारा दर्शन व्यतीत भी जनता उस प्रकार प्रवाद की घोषणा करती रहती है। इस प्रकार ध्वनि भी यहाँ पर सम्भव है।

इस रीति से यहाँ सन्दिग्ध प्राधान्य हुआ है। यह गुणीभूत व्यङ्ग्य होने पर भी आस्वादन की चमत्कारिता हेतु ध्वनिवत् प्रतीत होता है। अतः इसका परिवर्त्तन नहीं किया गया ॥९॥

तुल्य प्राधान्य का निदर्शन—सुरत समर के अवसान होने पर उस मृगाक्षी की भ्रूलता वक्रता को परित्याग किया, एवं कटाक्षसमूह लक्ष्यशून्य हो गये, अर्थात् मान समय में कान्त ही उक्त कटाक्षसमूह का लक्ष्य था। उस समय बोध हुआ, कन्दर्प का धनु मानो ज्या विमुक्त हो गया है, एवं मुक्तावशिष्ट बाणसमूह जैसे तून के मध्य में प्रविष्ट हुये हैं।

यहाँ उत्प्रेक्षा के द्वारा उपमा ध्वनित हुई है, एवं उक्त अलङ्कारद्वय ही स्व स्व-प्रधान होकर अवस्थान कर रहे हैं। अतः तुल्य प्राधान्य हुआ है ॥१०॥

काकुगम्यं काक्वाक्षिप्तम्, तद्यथा—

कति न पतितं पादोपान्ते न चाटु कृतोरितं
कति न शपथः शीर्ष्णो दत्तः कृता कति न स्तुतिः।
तदपि न गतं वामे वाम्यं लभस्व कृतार्थतां
भवतु तव तु प्रेयान् मानो न मानिनि माधवः॥

अत्र न पतितम्, अपितु पतितमेवेति नञ् काकुः, तयाक्षिप्तम्। नेदमचमत्कारि, तथापि—'कति न पतितं पादोपान्ते कृतं कति चाटु वा, कति कति मया शीर्ष्णः शप्तं कति स्तुतिरीहिता'—इति पठनीयम् ॥११॥

अमनोज्ञमसुन्दरम्, तद्यथा— सुदपुव्वं वि णि आमं, हरिणो मुरलीअं सुणन्ती ए।
जप्पन्ती ए गुरुहिं, वाचात्थम्भो बहूए संवुत्तो॥

अत्र निकामं श्रुतपूर्वमपीति तत्कालीन-मुरलीरवस्य सङ्केतकारित्वं व्यनक्ति। तेन गुरुभिः समं कथयन्त्या बध्वा वाक्स्तम्भो जातः। तत्र गन्तुमशक्यत्वं मोहो जात इत्यर्थः। अतो वाक्स्तम्भो जात इति वाच्यार्थ एव चमत्कारी, व्यङ्ग्यार्थस्तु सन्नपि तथा न

नञिति—नञ्रूपा या काकुस्तया आक्षिप्तं न पतितम्, अपितु पतितमेवेति ध्वनिर्वस्तु। नेदमिति—यद्यप्यत्र चमत्कारसद्भावात् परिहृत्यपेक्षा नास्ति, तथापि परिहृतौ आग्रहश्चेत् तर्ह्यपि शृणु—कति पतितमिति ॥११॥

सुदपुव्वमिति। "श्रुतपूर्वमपि निकामं, हरेर्मुरलीरवं श्रुत्वा जल्पन्त्या गुरुभिः समं वाक्स्तम्भो बध्वाः संवृत्तः॥" श्रुत—पूर्वमपीति पदेन तत्कालीनमुरलीरवस्य सङ्केतजनकत्वरूपं व्यङ्ग्यं बोध्यते। गुरुभयेन सङ्केतस्थले गन्तुमशक्यत्वात् मोहेन वाक्स्तम्भो जातः। मुरलीरवस्य सङ्केतकारित्वरूपव्यङ्ग्यार्थः

काकुगम्य का दृष्टान्त—चरणोपान्त में कितनी बार नहीं गिरा? चाटुवाक्य भी कितना नहीं कहा? मस्तक स्पर्शपूर्वक कितनी शपथ एवं कितनी स्तुति-विनति मैंने नहीं की? तथापि अयि वामे! तुम्हारी वामता विदूरित नहीं हुई? न हो, अधुना तुम कृतार्थ हो जाओ। हे मानिनि! मान ही तुम्हारा प्रिय हो, माधव को प्रिय होने की आवश्यकता नहीं है।

कितनी बार चरणों में नहीं गिरी, अर्थात् अनेक बार गिरी हूँ। नञ्रूप काकु के द्वारा इस प्रकार प्रतीति हो रही है। यद्यपि वह चमत्कारजनक नहीं है, तथापि 'कितनी बार चरण प्रान्त में निपतित हुई हूँ, कितनी चाटुवाक्य प्रयोग किया हूँ, कितनी बार शिरःस्पर्श पूर्वक शपथ एवं कितनी स्तुति-विनति की है।' इत्यादि रूप किञ्चित् परिवर्तन करके पाठ करने से उत्तम होगा ॥११॥

अमनोज्ञ अर्थात् असुन्दर का निदर्शन—श्रीहरि की मुरलीध्वनि को पहले यथेष्ट श्रुत होने पर भी सम्प्रति उस ध्वनिको सुनकर गुरुजन के सहित कथोपकथनकारिणी बधू की वाणी सहसा स्तम्भित हो गई।

यहाँ 'पूर्व में यथेष्ट श्रुत होने पर भी' इस वाक्य के द्वारा वर्त्तमान मुरलीध्वनि का सङ्केतकारित्व व्यञ्जित हुआ। उससे गुरुजन के सहित कथोपकथनकारिणी बधू का वाक्स्तम्भ हुआ। इस प्रकार

चमत्करोतीत्यसुन्दरम्, एवमन्योऽपि ॥१२॥

प्रागुक्त ध्वनिसंख्या, एभिर्गुणितास्तथाष्टभिः।
खयुगर्त्तुवह्निवसवो, ध्वनिसाङ्कर्यात् पुनर्द्वधा ॥

अष्टा प्रकारा गुणीभूतव्यङ्ग्यध्वनयः। शरेषु युगखेन्दु (१०४५५) भेदैर्ध्वनिभिः प्रत्येकमभिसम्बध्यन्ते। तेन खयुगर्त्तुवह्निवसवो (८३६४०) भवन्ति। एते पुनर्ध्वनि-सङ्कीर्येण द्वेधा (१६७२८०) भवन्ति, तेन—।

व्योमदिङ्नागपक्षार्कहयर्त्तुरजनीकराः।
गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदा विज्ञेयाः सूक्ष्मबुद्धिभिः ॥१३-१४॥

श्रीमदलङ्कारकौस्तुभे गुणीभूतव्यङ्ग्य-निर्णयो नाम
चतुर्थः किरणः ॥४॥

सन्नपि वाच्यार्थापेक्षया चमत्कारो नास्ति, अतो गुणीभूतत्वम् ॥१२॥

प्रागुक्त ध्वनिसंख्येत्यारभ्य ध्वनिसाङ्कर्यात् पुनर्द्वधा इति सूत्रद्वयम्, तयोर्व्याख्यामाह—अष्टा प्रकारा इति। पूर्वोक्तैः शरेषु युगखेन्दुभेदैर्ध्वनिभिः सह प्रत्येकं गुणीभूताष्टध्वनीनां मिलने कृते। तथा च पूर्वोक्त शरेषु-युगखेन्दुसंख्यानामष्टभिरङ्कैः पूरणे कृते सति खयुगर्तुवह्निवसुसंख्यका (८३६४०) ध्वनयः स्युरित्यर्थः।

तथा च पूर्वोक्त ध्वनिभिः सह प्रत्येकं गुणीभूताष्टध्वनीनां संसृष्ट्या एकविध एव भेद उक्तः। त्रिरूपसङ्कराणां तु सामान्याकारेण एक एव भेदो विवक्षणीयः, न तु भेदत्रयमित्यभिप्रायेणाह—एते इति। शरेषु युगखेन्दुभेदानां गुणीभूताष्टध्वनिभिः साङ्कर्ये सति, पुनरपि खयुगर्त्तुवह्निवसुसंख्यकाः ध्वनयः स्युः। तेन च मिलित्वा व्योमदिङ्नागपक्षार्कहयर्त्तुरजनीकरसंख्यका ध्वनयः (१६७२८०) स्युरित्यर्थः। दिङ्नागा-दिग्घस्तिनोऽष्टौ-अर्कस्य—सूर्यस्य हयाः सप्त, ऋतवः षट्, रजनीकरश्चन्द्रः एकः ॥१३-१४॥

इति सुबोधिन्यां चतुर्थकिरणः ॥४॥

ये अष्ट प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्य ध्वनि—पूर्वोक्त १०४५५ दस हजार चारसो पचपन संख्यक ध्वनि के प्रत्येक के सहित सम्बन्ध होने पर ८३६४० त्र्यशीतिसहस्र षट्शत चत्वारिंशत संख्यक होती हैं। ध्वनि का साङ्कर्य होने से उक्त ध्वनि द्विधा विभक्त होने पर १६७२८० एक लक्ष सप्तषष्ठिसहस्र द्विशत अशीति संख्यक होती हैं।

सूक्ष्म बुद्धिसम्पन्न सुधीगण गुणीभूत व्यङ्ग्य के भेद को गणना के द्वारा जानें।

इति श्रीमदलङ्कारकौस्तुभे श्रीहरिदासशास्त्रिकृतानुवादे
गुणीभूतव्यङ्ग्यनिर्णयो नाम चतुर्थकिरणः ॥४॥

पञ्चमकिरणः

अथ रसभाव-तद्भेदनिरूपणः

रसस्याभिव्यक्तिलक्षणं भरतमुनि-सूत्रं प्रमाणयन्नाह—(भरतनाट्यशास्त्रे ६।३१) 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' इति। विभावयत्युत्पादयतीति विभावः कारणम्, अनु पश्चाद् भावो भवनं यस्य सोऽनुभावः कार्यम्, विशेषेणाभिमुख्येन चरितं शीलं यस्येति व्यभिचारी सहकारी,—एतेषां संयोगात् सम्बन्धाद् रसस्य निष्पत्तिरभिव्यक्तिः। कारण-कार्यसहकारित्वेन लोके या रसनिष्पत्तिसामग्री, सैव काव्ये नाट्ये च विभावादि-व्यपदेशा भवतीति सम्प्रदायः। कारणमत्र निमित्तम् ॥१॥

विभावादीनां स्वरूपमाह,—विभावो द्विविधः स्यादालम्बनोद्दीपनाख्यया।
आलम्बनं तदेव स्यात् स्थायिनामाश्रयो हि यत्।
यत्तानेवोद्दीपयति तदुद्दीपनमिष्यते ॥

अथ रसभाव-तद्भेदनिरूपणम्

पूर्वं ध्वनिप्रकरणे रसात्मकध्वनिः काव्यपुरुषस्यात्मत्वेन कथितः। अतस्तस्य रसस्याभिव्यक्तिः साक्षात्कारस्तस्य लक्षणं ज्ञापकं भरतमुनिसूत्रं प्रमाणयितुमाह—अथेति। अभिव्यक्तिरिति—साक्षात्कार इत्यर्थः। या रसनिष्पत्तिसामग्री कारणकार्यसहकारित्वेन लोके कथिता, सैव काव्ये नाट्ये चेत्यादि ॥१॥

आलम्बनमिति—यद्वस्तु आलम्ब्य स्थायिनः प्रवृत्तौ भवन्ति, तदेवालम्बनं स्थायिनामाश्रयो भवतीत्यर्थः। यथा हासस्थायिन उदाहरणे वसन्तोत्सवमालम्ब्य मधुमङ्गलस्य वाक्यात् सर्वेषां प्रवृत्तेः

ध्वनि प्रकरणमें 'रस' को काव्यपुरुष की आत्मा कहा गया है। सम्प्रति उसका प्रमाणस्वरूप उस रस का अभिव्यक्तिलक्षण साक्षात्कार, भरतमुनिकृत सूत्र का उल्लेख करते हैं। 'विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः' विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारि भाव के संयोग से रस निष्पत्ति होती है। विभावित अर्थात् उत्पादित करता है जो, इस अर्थ में विभाव शब्द से कारण का बोध होता है।

अनु अर्थात् पश्चात् भाव की उत्पत्ति होती है जिसकी, इस अर्थमें अनुभाव शब्द से कार्य का बोध होता है। एवं विशेष रूपसे अभिमुख भावसे चरणशील जो है—उसका नाम व्यभिचारी अर्थात् सहकारी है। इन सबके संयोग वा सम्बन्ध हेतु रस की निष्पत्ति अर्थात् अभिव्यक्ति, साक्षात्कार होता है।

कारण एवं कार्य की सहकारिता से, लोक समाज में जिसको रसनिष्पत्ति की सामग्री कहते हैं, काव्य एवं नाट्य में उसको ही विभाव प्रभृति कहते हैं। यही रस-सम्प्रदाय सिद्ध मत है। यहाँ कारण शब्द से निमित्तकारण को जानना होगा ॥१॥

विभावादि के स्वरूप का वर्णन करते हैं। आलम्बन, उद्दीपन भेद से विभाव द्विविध होते हैं। तन्मध्ये स्थायिभावसमूह का जो आश्रय होता है, उसका नाम आलम्बन-विभाव है। एवं उक्त स्थायिभाव समूह को उद्दीपित करता है, उसका नाम उद्दीपन विभाव है।

एभिरेव व्यञ्जकैस्तु त्रिभिरुद्रेकमागतैः ।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायी रसायते ॥

एतेन रसस्य कारण-कार्यादीनि नैतानि, अपितु अनुभावस्य कार्यस्य कारणं विभावः, व्यभिचारी यः, सोऽप्यनुभावस्य सहकारी । त्रय एव समुदिताः सन्तः स्थायिनं रसो

यो हासः स्थायी, तस्यालम्बनं वसन्तोत्सवः । यथा वा अर्जुनस्य भयस्थायिस्थले विश्वरूपप्रदर्शकः श्रीकृष्ण एवालम्बनम् । यद्यपि श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ विभावस्थायिभावरसादीनां या या प्रक्रियाः कथिताः तद्विभिन्ना एवात्र ग्रन्थे प्रक्रिया आलकारिकाणामनुरोधेनोक्ताः, अतएव काचित् काचित् प्रक्रियानात्यन्त-विचारसहापि, तथापि—अप्राकृतमुख्यरसवर्णनप्रसङ्गे एकैव प्रक्रिया भवतीति नासङ्गतमिति ज्ञेयम् ।

यदिति—यद्वस्तु तान् स्थायिभावानुद्दीपयति प्रकाशयति तदुद्दीपनम् । यथा हासस्थले विदूषकस्य मधुमङ्गलस्य वैक्लव्यम्, तत्रैवानुभावो नयनस्फारादिः । एतन्मते सात्त्विका अप्यनुभावान्तर्गता एव, नतु स्वतन्त्रा इत्यपि ज्ञेयम् । उद्रेकं प्रत्यक्षमागतैः प्राप्तैरभिव्यञ्जकैरसौ स्थायिभावो रसायते रस-स्वरूपत्वेन परिणतो भवति । स्थायी कथम्भूतः ? आस्वादाङ्कुरस्य रसास्वादकरूपस्य कार्यस्य कन्दो बीजरूपः ।

अत्र स्थायिभावस्य नित्यत्वेन तत्परिणामरूपरसस्यापि नित्यत्वम्, अतो रसं प्रति न विभावादीनां

व्यञ्जक जो विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव हैं, ये तीन उद्रिक्त होकर आस्वादाङ्कुर के बीजस्वरूप स्थायिभाव को रस रूपमें परिणत करते हैं ।

इससे प्रतीत होता है कि—ये तीन, रस के कार्य वा कारण नहीं हैं, किन्तु विभाव ही अनुभावरूप कार्य का कारण है । व्यभिचारी भी अनुभाव का सहकारी मात्र है । एतत्त्रय सम्मिलित होकर स्थायि भाव को रसरूपत्व प्राप्त कराते हैं । अतएव स्थायिभाव समवायिकारण, आलम्बन एवं उद्दीपन विभाव निमित्तकारण हैं । एवं स्थायी का विकारविशेष असमवायिकारण है । ये सब रसाभिव्यक्ति के प्रति कारण हैं, रस के कारण नहीं हैं । कारण, स्थायी की नित्यता हेतु उसके परिणामस्वरूप रस की भी नित्यता सिद्ध है ।

जिसको आलम्बन करके स्थायीभाव प्रवृत्त होता है—वह आलम्बन है । अर्थात् वह स्थायीभाव का आश्रय होता है । जिस प्रकार स्थायीभाव का उदाहरण में वसन्तोत्सव को आलम्बन कर मधुमङ्गलके वाक्यसे सबको हास्य होता है, वह स्थायी है । उसका आलम्बन वसन्तोत्सव है । जैसे अर्जुनके भय स्थायी स्थलमें विश्वरूप प्रदर्शक श्रीकृष्ण ही आलम्बन हैं ।

यद्यपि श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थमें विभाव, स्थायिभाव-रसादि की जो जो प्रक्रिया लिखित है, इस ग्रन्थमें उससे भिन्न प्रक्रिया का जो उल्लेख मिलता है, वह आलङ्कारिक सम्प्रदाय के अनुरोध हुआ है । अतएव किसी किसी प्रक्रिया अत्यन्त विचार सह नहीं है । तथापि अप्राकृत मुख्य रस वर्णन प्रसङ्गमें श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ एवं श्रीमदलङ्कारकौस्तुभ ग्रन्थ की प्रक्रिया एक ही है ।

स्थायिभाव को जो उद्दीप्त करता है—प्रकाशित करता है, वह उद्दीपन है । जिस प्रकार हास स्थलमें विदूषक मधुमङ्गल का वैक्लव्य है । वहाँ अनुभाव—नयन विस्फारादि हैं । इस मतमें सात्त्विक गण भी अनुभाव के अन्तर्गत ही हैं । किन्तु स्वतन्त्र नहीं होते हैं ।

भावमापादयन्ति । स्थायी समवायिकारणम्, आलम्बनोद्दीपनविभावो निमित्तकारणम् । स्थायिनो विकारविशेषोऽसमवायिकारणं रसाभिव्यक्तेरेव भवति, नतु रसस्य ॥२॥

अथ कोऽसौ भावः स्थायी भवतीति तं निरूपयति—

आस्वादाङ्कुरकन्दोऽस्ति धर्मः कश्चन चेतसः ।
रजस्तमोभ्यां हीनस्य शुद्धसत्त्वतया सतः ।

कारणत्वादिसम्भवति, किन्त्वनुभावादीन् प्रति कार्यत्व-कारणत्व-सहकारित्व-प्रवादनिर्वाहस्तु तेषां मध्ये एकं प्रत्यन्यस्य कारणत्वादिमादायैवेत्याहु—एतेनेति ।

ननु स्थायिनः परिणामत्वे कथं नित्यत्वम् ? कथं वा परिणामावस्थापन्नस्य रसस्य नित्यत्वमिति चेदुच्यते—यथा नित्यस्य श्रीकृष्णस्य परिणामरूपाणां बाल्य-पौगण्ड कैशोराणां नित्यत्वम्, किन्तु भक्तानां दर्शनोत्कण्ठा जगदुद्धारादिप्रयोजनं निमित्तीकृत्य कदाचित्तेषां प्राकट्यम्, सिद्धे च प्रयोजने कदाचित्तेषां प्रपञ्चागोचरत्वरूपमप्राकट्यञ्च, तथात्रापि विभावादीनां मिलने सति रसस्याप्राकट्यं ज्ञेयम् । परन्तु प्राकृतस्थले पूर्वदशां परित्यज्यैव तत्परिणामोत्पत्तिः, अप्राकृतस्थले त्वचिन्त्यशक्त्या पूर्वदशापरित्यागविनैव तत् परिणामस्य प्राकट्यम्, उभयोर्नित्यत्वादिति भेदो ज्ञेयः ।

—असमवायिकारणमिति—स्थायिनो हेतुभूतचित्तस्य द्रवीभावरूपविकारविशेषो रसाभिव्यक्तेरेवा-समवायिकारणमित्यर्थः, नतु रसस्येति स्थायिनो नित्यत्वात्तत्परिणामरूपरसस्यापि नित्यत्वमिति भावः ॥२

उद्रिक्त अर्थात् प्रत्यक्ष प्राप्त अभिव्यञ्जक के द्वारा स्थायिभाव रस रूपमें परिणत हो जाता है । किस प्रकार स्थायिभाव है ? वह आस्वादाङ्कुर का अर्थात् रसास्वादरूप को कार्यका कन्द बीजरूप है ।

स्थायिभाव, नित्य होने के कारण—उसका परिणामरूप रस भी नित्य है । अतः रस के प्रति विभावादिके कारणत्वादि होना सम्भव नहीं है । किन्तु अनुभावादिके प्रति कार्यत्व-कारणत्व-सहकारित्व प्रवाद निर्वाह—उसके मध्यमें एकके प्रति अपरके कारणत्वादि को लक्ष्य करके ही होता है ।

टीकाकार 'एतेनेति' के द्वारा इसको कहते हैं—स्थायीभाव का परिणाम होने से उसका नित्यत्व कैसे सम्भव होगा ? कैसे परिणामावस्थापन्न रसका भी नित्यत्व होगा ? उत्तर में कहते हैं—जिस प्रकार श्रीकृष्ण के परिणामरूप बाल्य, पौगण्ड, कैशोर का नित्यत्व है, किन्तु भक्त की दर्शनोत्कण्ठा, एवं जगदुद्धार प्रयोजन को निमित्त करके कदाचित् उन सबको प्रकट करते हैं । प्रयोजन सिद्धि होने पर कदाचित् उन सबका प्रपञ्चागोचररूप अप्राकट्य भी होता है, तथापि यहाँ विभावादि का मिलन से रसका प्राकट्य भक्तहृदय में होता है । उन सबका अन्तर्धान होने पर रस का भी अप्राकट्य होता है ।

किन्तु प्राकृत स्थलमें पूर्वदशा को परित्याग करके ही परिणाम की उत्पत्ति होती है । अप्राकृत स्थल में अचिन्त्यशक्ति से पूर्वदशा को परित्याग किये बिना ही उसका परिणाम का प्राकट्य होता है । कारण, उभय ही नित्य है । इस प्रकार भेद को जानना चाहिये ।

असमवायिकारण को कहते हैं—स्थायिभाव के कारण; चित्तका द्रवीभावरूप विकारविशेष है, वही रसाभिव्यक्ति का असमवायिकारण है । किन्तु रसका नहीं । कारण, स्थायीभाव—नित्य होने के कारण—उसका परिणामरूप रस भी नित्य है ॥२॥

स्थायीभाव किसको कहते हैं ? इस प्रकार प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं—जिस समय मानव सामाजिक

स स्थायी कथ्यते विज्ञैर्विभावस्य पृथक्तया ।
पृथग्विधत्वं यात्येषा सामाजिकतया सताम् ।।

सामाजिततया सतां सामाजिकानामेक एव कश्चिदास्वादाङ्कुरकन्दो मनसः कोऽपि धर्मविशेषः स्थायी । स तु विभावस्योक्तप्रकार-द्विविधस्य भेदैरेव भिद्यते । अनुकार्याणान्तु स्वतन्त्रा एव स्थायिनो नानाविधाः ।।३-४।।

धर्म इति—रजोस्तमोभ्यां रहितस्य शुद्धसत्त्वतया सतो विद्यमानस्य चेतसः कश्चन धर्म एव स्थायी, रजस्तमसोऽभावेन सामाजिकानामविद्याराहित्यं स्वत एवायातम्, अतस्तेषां शुद्धसत्त्वमपि न मायावृत्तिरूपम्, अपि तु चिद्रूपमेव । अतएव तेषां रसास्वादः कश्चित्तत्तन्निष्ठधर्मोऽपि ह्लादिनीशक्तेरानन्दात्मकवृत्तिरूप एव, नतु जडात्मकः । तथात्वे सति स्थायिभावरूपस्य जडात्मक तादृशधर्मस्य विभावादिभिः कारणैरानन्दात्मक-रसरूपत्वानुपपत्तेः, न हि जडपरिणामस्वरूप आनन्दो भवतीति ।

एक एवेति । ननु स्थायिभावरूपधर्मस्य एकत्वे कथमेकस्य स्थायिनः वीररसे उत्साहत्वम्, करुणरसे शोकत्वम्, अद्भुतरसे विस्मयत्वं सम्भवति ? परस्परविरुद्धानामेतेषामुत्साहत्वादीनामेकस्मिन् स्थायिरूप-धर्मे वृत्तित्वासम्भवादित्यत आह—सत्त्विति । स एकोऽपि धर्म उक्त प्रकारकद्विविधस्य विभावस्य भेदैरेव भिन्नो भवतीत्यर्थः ।

यथैक एव स्फटिको जवाकुसुमादि-नानापदार्थानां सङ्गात् कदाचिद्रक्तः, कदाचित् पीतः, कदाचित्

रूपमें अवस्थित होते हैं । उस समय उन सबके जो चित्त रजः एवं तमो-विहीन होकर शुद्धसत्त्व में अवस्थित होता है, उस चित्तमें इस प्रकार एक अनिर्वचनीय धर्म उपस्थित होता है, वह रसास्वादरूप कार्य का कारणभूत होता है । उसको विज्ञव्यक्तिगण स्थायिभाव कहते हैं । वह पूर्वोक्त आलम्बन उद्दीपनात्मक विभाव के भेद से भिन्न है ।

अनुकार्य अर्थात् नटवृन्द जिसके रूपादि का अनुकरण करते हैं, उन सबके विविध स्वतन्त्र स्थायिभाव विद्यमान हैं ।

रजोगुण एवं तमोगुण रहित शुद्धसत्त्व नामसे ख्यात चित्त का एक धर्म ही स्थायीभाव है । रजस्तम के अभाव से, सामाजिकगण जो अविद्या रहित होते हैं, यह उससे प्रतीत होता है । अतएव उन सबकी शुद्धसत्त्व भी मायावृत्तिरूप नहीं है, किन्तु चिद्रूप ही है । अतएव उन सबका रसास्वाद तत्तत् धर्मनिष्ठ होने पर भी ह्लादिनीशक्ति की आनन्दात्मक वृत्ति ही है, किन्तु जडात्मक नहीं है । जडात्मक जानने से स्थायिभाव रूप जड़ात्मक तादृश धर्मका विभावानुभाव-सात्त्विक-व्यभिचारि कारणों के द्वारा आनन्दात्मक रसत्व होना सम्भव नहीं होगा । कारण, जड परिणाम स्वरूप कभी आनन्द हो ही नहीं सकता ।

स्थायिभावरूप धर्म एक प्रकार होनेसे एक स्थायिभाव का वीररसमें उत्साहत्व, करुणरसमें शोकत्व, अद्भुत रसमें विस्मयत्व कैसे सम्भव होगा ? कारण, परस्पर विरुद्ध धर्मसमूह का एक स्थायिभावरूप धर्म रहना सम्भव नहीं है । समाधान हेतु कहते हैं—

एक ही धर्म उक्त आलम्बन उद्दीपनात्मक द्विविध विभाव के भेदसे भिन्न होता है । जिस प्रकार एक ही स्फटिक, जवाकुसुमादि नानाविध पदार्थों के सङ्गसे कदाचित् रक्त, कदाचित् पीत, कदाचित् श्याम प्रभृति विविधाकार होते हैं, उस प्रकार एक ही स्थायिरूप धर्म—वीररसादि पोषक विविध विभावादि के

यथा—शृङ्गारे रतिरुत्साहो वीरे स्याच्छोक-विस्मयौ।
करुणाद्भुतयोर्हासो हास्ये भीतिर्भयानके।
जुगुप्सा बीभत्स-संज्ञे कोपो रौद्रेऽष्टनाट्यगाः॥

एतेऽष्टौ स्थायिनोऽष्टासु नाट्यरसेष्विति केचित्। केचित्तु (काव्यप्रकाशे ४।३५) "निर्वेद-स्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।"—इति शान्तोऽपि नाट्ये रसः। भोजस्तु वत्सलता प्रेमभ्यामेकादशरसानाचष्टे, वात्सल्ये ममकारः, प्रेमणि चित्तद्रवश्च स्थायी,—एकादशैव दृश्ये श्रव्येऽपि च रसिकसंसदः प्रेष्ठाः॥५॥

श्याम इत्यादि विविधाकारो भवति, तथैव एक एव स्थायिरूपो धर्मो वीररसादिपोषकाणां नानाविध-विभावादिनां सङ्गात् कदाचिदुत्साहरूपः, कदाचिद्विस्मयरूपः, कदाचित् शोकरूप इत्यादिविविधाकारो भवतीति भावः।

एतादृशैकस्थायिरूपो धर्मः प्रपञ्चान्तर्गतसामाजिकानां स्वच्छरतिमतामेव रसास्वादकः, नतु पार्षदानां न वा तदनुगतानां साधकानाञ्च, तेषां तु स्वतः सिद्धा एव ये स्थायिनो वर्त्तन्ते, ते एव रसास्वादका भवतीति ज्ञेयम्।

अनुकार्याणामिति—येषामनुकरणं नटाः कुर्वन्ति, तेऽनुकार्या—रामसीतादयः, तेषां तु स्वतःसिद्धाः स्वतन्त्रा एव नानाविधस्थायिनो वर्त्तन्ते॥३-४॥

तदेवाह—यथेति। करुणरसे शोक एव स्थायी, अद्भुतरसे विस्मय एव स्थायी। नाट्यरसेष्वितीति—लोके भयजनकव्याघ्रादिदर्शनाद्भयजन्यदुःखमेव जायते, नत्वानन्दात्मकभयानकरसः। अतो नाट्य एव सामाजिकानां रस इति भावः। एकादशैव रसा इति रसिकसंसदः सामाजिकस्य प्रेष्ठाः॥५॥

सङ्गसे कदाचित् उत्साहरूप, कदाचित् विस्मयरूप, कदाचित् शोकरूप प्रभृति विभिन्नाकार होते हैं।

इस प्रकार स्थायिरूप धर्म,—प्रपञ्चान्तर्गत स्वच्छ रतियुक्त सामाजिक का रसास्वादक होता है। किन्तु भगवत् पार्षदवृन्द को वा भगवत् पार्षदके अनुगत साधकवृन्द का रसास्वाद नहीं होता है। उन सबमें स्वतःसिद्ध जो सब स्थायिभाव हैं, वे ही रसास्वादक होते हैं।

जिनका अनुकरण नटगण करते हैं, उन सबको अनुकार्य कहते हैं। जिस प्रकार राम-सीता प्रभृति हैं। उन सबमें स्वतःसिद्ध स्वतन्त्र ही नानाविध स्थायिभाव होते हैं॥३-४॥

शृङ्गार में रति, वीर में उत्साह, करुण में शोक, अद्भुत में विस्मय, हास्य में हास्य, भयानकमें भय, बीभत्स में जुगुप्सा, रौद्र में कोप, ये अष्टविध स्थायिभाव हैं।

कतिपय व्यक्ति कहते हैं—अष्ट प्रकार नाट्यरस में ही अष्टविध स्थायिभाव होते हैं। अन्य व्यक्ति के मतमें शान्त—नाट्यमें नवम रसरूपमें परिगणित है, एवं निर्वेद उसका स्थायिभाव है।

भोजराज के मतमें 'वत्सलता एवं प्रेम' इन दो को युक्त करके एकादशविध रस होते हैं। उसके मध्यमें वात्सल्यमें ममता स्थायी है। एवं प्रेममें चित्तद्रव स्थायी है। रसज्ञ सभ्यशिरोमणिवृन्द दृश्यकाव्य एवं श्रव्यकाव्य में ही उक्त एकादशविध रस को मानते हैं॥५॥

तत्र रतिर्यथा—रतिश्चेतो रञ्जकता सुखभोगानुकूल्यकृत् ।
सा प्रीति-मैत्री-सौहार्द्द-भावसंज्ञां च गच्छति ॥
या सम्प्रयोगविषया सा रतिः परिकीर्त्तिता ।
सम्प्रयोगः स्त्रीपुरुषव्यवहारः सतां मतः ।
असम्प्रयोगविषया सैव प्रीतिर्निगद्यते ॥
सैव चेतो रञ्जकता ।
सखिपत्न्यां पतिसखे द्रौपदी-कृष्णयोर्यथा ।
द्वयोः सखीषु सखिषु सखिषु सैव-मैत्री निगद्यते ॥

रतिर्यथेति । चित्तस्य रञ्जनं द्रवीभावस्तज्जनकधर्मविशेष एव चेतो रञ्जकता । सा एव सम्प्रयोग-विषया चेत्तदा रतिरुच्यते । इयमेव चित्तस्य कठोरत्वं दूरीकृत्य कोमलत्वं द्रवीभावत्वञ्चोत्पादयति ।

पूर्वं सामाजिकानां स्थायिरूपो यो धर्मो ह्लादिनीशक्तिवृत्तिरूपत्वेनोक्त स्ततोऽपि कोटिगुणानन्दरूपा या ह्लादिनीशक्तेः सारवृत्तिस्तद्रूपेयं रतिः ।

अस्या एव रतेः पाकात् पाकान्तरं प्राप्य चरमदशायां महारागपर्यन्त पाको भविष्यति । अतएव दशमस्कन्धे एतादृशं महारागं दृष्ट्वोद्धवः सचमत्कारमाह— (भा० १०।४७।५९) "कृष्णे क्वचैष परमात्मनि रूढ़भाव:" इति रूढ़भावस्यापरपर्यायो महाभावो महाराग इति ।

सुखभोगेति—क्षुधा यथान्नव्यञ्जनादीनां भोजनजन्यसुखस्यानुकूल्यं करोति, तथेयं रतिरपि श्रीकृष्णस्य

चित्त रञ्जनकारी धर्मविशेष को रति कहते हैं। वह सुखभोग का आनुकूल्य करती है। उक्त चित्त-रञ्जकता—प्रीति, मैत्री, सौहार्द एवं भाव से भी अभिहित होती है।

प्रधानतः वह द्विविध हैं—सम्प्रयोग विषया एवं असम्प्रयोग विषया। तन्मध्यमें सम्प्रयोग विषया रति शब्द से एवं असम्प्रयोग विषया रति शब्द से प्रीति कथिता होती है।

यहाँ सम्प्रयोग शब्द से पण्डितगण स्त्रीपुरुष व्यवहार को कहते हैं। सखा को पत्नीमें एवं पतिके सखामें जो चित्तरञ्जकता है, उसको प्रीति कहते हैं। जिस प्रकार—द्रौपदी एवं श्रीकृष्ण की पारस्परिक प्रीति है। स्त्रीगण की सखी के सहित एवं पुरुषगण की सखागण के सहित उक्त प्रीति को मैत्री कहते हैं।

चित्त का रञ्जन—द्रवीभाव है' उसका सम्पादक, धर्मविशेष ही चित्त की रञ्जकता है। वह यदि सम्प्रयोग विषय होती है, तो उसको रति कहते हैं। चित्तकी कठोरता को विदूरित करके कोमल एवं द्रव करना ही इसका स्वभाव है।

पूर्व में ह्लादिनी शक्ति के वृत्तिरूप स्थायिभावात्मक जिस धर्म का उल्लेख सामाजिक के पक्षमें हुआ है, उससे भी कोटिगुणानन्दरूपा जो ह्लादिनी शक्ति की सारवृत्ति है, वही यह रति है। आनुकूल्य प्रधान को सार कहते हैं। यह रति पाक से पाकान्तर प्राप्त होकर चरमदशा में महाराग पर्यन्त पाक को प्राप्त करती है। अतएव श्रीमद्भागवत के १०।४७।५९ में श्रीउद्धवने कहा है—"कृष्णे क्वचैष परमात्मनि रूढ़भाव:" कृष्णमें इन गोपियों का रूढ़भाव कैसा है ? यहाँ रूढ़भाव का अपर शब्द महाभाव है, अर्थात् महाराग है। जिस प्रकार क्षुधा, अन्न-व्यञ्जन प्रभृति का भोजन हेतु सुख का आनुकूल्य करती है।

द्वयोः स्त्री-पुरुषयोः, स्त्रीणां सखीषु, पुरुषाणां सखिषु।
मनोवृत्तिमयीप्रीतिर्मैत्रीस्पर्शादिकोचिता।
निर्विकारा सदैकाभासा सौहार्दमितीर्यते ॥

सदैकाभा सदैकरूपा सा चेतो रञ्जकता सौहार्दम्, सा च स्त्रीसखीनां पतिसखीनाञ्च परस्पर-विषया ॥६-८॥

सैव देवादिविषया रतिर्भावश्च कथ्यते।

सैव चेतो रञ्जकता, आदिशब्दाद्गुरुप्रभृतिवृत्तिश्च।

नाम-रूप-गुण-लीलाश्रवणदर्शनादि-जन्य सुखभोगानामानुकूल्यं करोति। रतिमतां यथा श्रीकृष्णनामगुण-
लीला-श्रवणदर्शनादिजन्यं सुखं जायते, न तथा रतिशून्यानामिति ज्ञेयम्।
सख्यस्य यत्किञ्चिद्वैलक्षण्यमादाय भेदत्रयमाह—सेति। सा रतेर्भिन्ना चेतोरञ्जकतासंज्ञात्रयं
गच्छति। द्रौपदीकृष्णयोः सख्यं प्रीतिरुच्यते, तथा स्त्रीणां सखीषु परस्परसख्यं च मैत्र्युच्यते। एवं
पुरुषाणां सखिषु परस्परसख्यं च मैत्र्युच्यते। इयं मैत्री परस्पर-स्कन्धादिषु परस्परहस्ताहस्तिस्पर्शकर्मण्युचिता
भवति। स्त्रीणां परस्परं यथेष्ट-स्पर्शादि-व्यवहारे दोषो नास्ति, एवं पुरुषाणामपि ज्ञेयम्।
प्रीतिसौहार्दाभ्यामेतादृश विशेषो मैत्र्यां ज्ञेयः, तत्र तत्र स्त्रीपुरुष-सख्ये स्वच्छन्द-स्पर्शानौचित्यात्।
स्त्रीसखीनां स्त्रीणां पतिसखीनां पुरुषाणाञ्च परस्परविषयेत्यर्थः। निर्विकारेति—स्त्रीपुरुषयोः परस्पर-
दर्शनेऽपि विकाररहितेत्यर्थः ॥६-९॥
ननु श्रीकृष्णस्य देवोत्तमत्वेन सर्वव्यापकत्वादिरूपत्वेन स्तवकर्तुर्भक्तस्य यः स्थायी, संप्रयोग-
विषयत्वाभावान्न रतिशब्दवाच्यः, किन्तु तस्य स्थायिनो भाव इति स्वतन्त्रसंज्ञा ज्ञेया, नतु संप्रयोगविषय-
रतिपरिणामरूपो यो भावः सः, किन्तु स्वतन्त्रः स्थाय्येव भावसंज्ञक इत्यर्थः।

उस प्रकार रति भी श्रीकृष्ण के नाम-रूप-गुण-लीला-श्रवणदर्शनादि हेतु सुखभोग का आनुकूल्य करती है।
रतिमान् व्यक्ति को जिस प्रकार श्रीकृष्ण नाम-गुण-लीला श्रवणादि हेतु सुख होता है, उस प्रकार
सुख रतिशून्य व्यक्ति को नहीं होता है। इस प्रकार जानना आवश्यक है।
सख्य की किञ्चित् विलक्षणता को देखकर तीन भेद करते हैं। वह रति—भिन्न होकर चेतो
रञ्जकता संज्ञात्रय को प्राप्त करती है।
द्रौपदी-कृष्ण की प्रीति कहते हैं, उस प्रकार स्त्रीयों की सखी में परस्पर सख्य को मैत्री कहते हैं।
इस प्रकार पुरुषों का सखामें परस्पर सख्यको मैत्री कहते हैं। इस मैत्रीमें परस्पर स्कन्ध प्रभृतिमें परस्पर
हस्ताहस्ति स्पर्श होता है। स्त्रीयों का परस्पर यथेष्ट स्पर्शादि व्यवहार में दोष नहीं होता है। इस प्रकार
पुरुष के पक्षमें भी जानना होगा।
प्रीति सौहार्द्य के द्वारा इस प्रकार विशेष मैत्री होती है। वहाँ वहाँ स्त्री-पुरुष के सख्य में स्वच्छन्द
स्पर्श उचित नहीं है। स्त्रीयों की प्रीति सखीओं में पारस्परिक होती है। इस प्रकार पति के सखा प्रभृति
के सहित पारस्परिक प्रीति होती है। निर्विकारेति। स्त्री-पुरुषों के परस्पर दर्शन में भी विकार उपस्थित
नहीं होता है ॥६-९॥
देवता एवं गुरुविषयक उक्त चित्त रञ्जकतारूप रति को भाव कहते हैं एवं सम्प्रयोग विषयक

या सम्प्रयोगविषया साऽप्यवस्थाविशेषतः ।
पाकात् पाकान्तरं प्राप्य चरमे पर्यवस्यति ॥

चरमे पाके, यतः परं पाकान्तरं नास्ति, यथेक्षुरसः सितोपलापाकावधिः ॥१०-११॥

यदुक्तम्—"यथेक्षुणां रसो ह्यामः पाकात् पाकान्तरं गुडः ।
गुडोऽपि पाकतः पाके चरमे स्यात् सितोपला ॥
तथा रतिर्भाव-पूर्वराग रागानुग पाकतः ।
अनुरागः स प्रणयप्रेमाभ्यां पाकमागतः ।
स्नेहपाकमथो याति महारागोऽयमुच्यते ॥"

इत्याह—सैवेति । देवस्य श्रीकृष्णस्य देवत्व सर्वव्यापकत्वादिरूपेण या चेतो रञ्जकता रतिः, सैव
भावः, अयमेव भक्तिरसो भविष्यतीत्यग्रे वक्ष्यति ।
किन्तु अयं भावरूपस्थायी संप्रयोगविषया या रतिस्तस्याः परिणामरूपो यो भावस्तस्माद्भिन्न एव
ज्ञेय । अवस्थाविशेषत इति—रत्युत्तरश्रवणकीर्त्तनादिभजनानां पौनःपुन्येन जातो यो रतेरुत्कर्षस्तस्यावस्था-
विशेषस्तं प्राप्येत्यर्थः । सा रतिरुत्कर्षदशां प्राप्य प्रथमपाकाद् भावरूपेण परिणता भवति । अत्र पाकस्तु
भजनस्य पौनःपुण्यमेव ज्ञेयम् ॥१०-११॥
तत्र दृष्टान्तः—यथेति । आमोऽपक्व इक्षुरसः, स पाकात्-पाकान्तरैः पाकपौनः पुन्येन गुडो भवति,
तथा च स गुड एव पाकपौनः पुन्येन खण्डो भवति, तथा भावोऽपि भजनपौनः पुन्येन रत्यपेक्षयोत्कर्षदशां
प्राप्य पूर्वरागो भवति । एवं क्रमेणोत्कर्षस्य परमकाष्ठापन्नो महारागः आनन्दस्य परमावधिरूपः । एतादृश

होने से, अवस्था का उत्कर्षविशेष में पाक से पाकान्तर प्राप्त कर इक्षुरस का सितोपला रूपमें परिणाम के
समान चरम पाक में परिणत होती है ।
श्रीकृष्ण उत्तम देवता एवं सर्वव्यापक होने के कारण उनको स्तवकर्त्ता भक्तका जो स्थायीभाव है,
वह सम्प्रयोग विषय न होने के कारण उसमें रति शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता है । किन्तु उसका
स्थायिभाव है—इस प्रकार स्वतन्त्र संज्ञा होगी । संप्रयोग विषयक रति का परिणामरूप जो भाव है,
वह नहीं । किन्तु स्वतन्त्र स्थायी ही भाव-संज्ञक होता है ।
कहते हैं—श्रीकृष्ण के देवत्व-सर्वव्यापकत्व रूपसे जो चेतो रञ्जकता रति है, वही भाव है, यही
भक्तिरस होगा । इसका वर्णन अग्रिम ग्रन्थमें होगा । किन्तु यह भावरूप जो स्थायी है, संप्रयोगविषयक
रति का परिणामरूप जो भाव है इससे वह भिन्न है । इस प्रकार जानना होगा ।
रति के अनन्तर श्रवण-कीर्त्तनादि भजन पुनः पुनः होनेसे रतिका जो उत्कर्ष होता है, वह प्रथमपाक
से भाव रूपमें परिणत होता है । यहाँ पाक शब्द से पुनः पुनः भजन को जानना होगा ॥१०-११॥
उक्त विषयमें पूर्वाचार्यगण कहते हैं—जिस प्रकार अपक्व इक्षुरस पाक से पाकान्तर से गुड रूपको
प्राप्त होता है, एवं उस गुड भी पुनः पुनः पाक की चरम अवस्था में सितोपला रूपमें परिणत होता है ।
उस प्रकार रति भी क्रमशः पाकोत्कर्ष हेतु भाव, पूर्वराग, राग, अनुराग, प्रणय, प्रेम, स्नेह एवं अन्तिम
अवस्थामें महाराग रूपमें परिणत होती है । निर्विकार चित्तमें जो प्रथम विकार है, अर्थात् रति का

(साहित्यदर्पणं ३।१०३) "निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया" इत्युक्ते रतेः प्रथमः पाको भावः ॥१२-१३॥

कोऽसौ रसः ?- यस्याभिव्यक्तये विभावादीनां कारणत्वमित्यपेक्षायां तत्स्वरूपमाह—

वहिरन्तःकरणयोर्व्यापारान्तररोधकम् ।
स्व-कारणादि-संश्लेषिचमत्कारिसुखं रसः ॥

महाभावो गोपीनामेव, नान्येषां भक्तानाम् । अतएव (भा० १०।४७।५८) 'कृष्णे क्वचैष परमात्मनि रूढ़भावः' इत्युक्तवतोद्धवेनाप्यस्यैव रूढ़भावत्वेनोत्कर्षः कृतः । एवं (भा० १०।४७।६१) 'आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम्' इति पद्येन गोपीनामेव चरणरेणुप्राप्तौ तृणजन्माकाङ्क्षा कृता, नतु कदापि रुक्मिणी-लक्ष्मी-प्रभृतीनाम्—कुत्रापि शास्त्रेऽदृष्टत्वात् । सितोपला 'मिश्री' इति प्रसिद्धाया मत्स्यण्डिकाया-श्चरमपाकाज्जातः कश्चिदपूर्वपदार्थविशेषः पश्चिमदेशे प्रसिद्ध इत्यर्थः । निर्विकारेति—विकारोऽत्र विषये आसक्तिस्तद्रहिते चित्ते—इत्यर्थः ॥१२-१३॥

अथ रससाक्षात्कारे परिपाटी यथा—आदौ श्रवणकीर्त्तनादिभजनानां पौनः पुन्यादानन्दरूपायाः रतेराविर्भावस्तदनन्तरं विभावादि समवधान-दशायां रतेः साक्षात्कारस्तदनन्तरं रतिरेव रसरूपा भवति । तदनन्तरं पुनस्तैरेव विभावादिभिः करणैः रस-साक्षात्कारः । एवं सति रतिसाक्षात्कारे यादृशानन्दाविर्भाव-स्ततोऽपि कोटिगुणितानन्दाविर्भावो रससाक्षात्कारे ।

एतदेवाह—वहिरिति । सम्प्रति-रससाक्षात्कारे यादृश-सुखानुभवः, एवं पूर्वस्मिन्ननेकपदार्थविषयका

प्रथम पाक है, वह भाव नामसे अभिहित होता है ।

इक्षुरस जिस प्रकार पुनः पुनः पाकसे गुड़ एवं पश्चात् खण्ड होता है, उस प्रकार भजन पौनःपुन्यसे पूर्वराग होता है । एवं क्रमशः उत्कर्ष की परमकाष्ठा को प्राप्त कर महाराग होता है, जो आनन्द का परम अवधिरूप है ।

इस प्रकार महाभाव गोपिकागणमें ही है; अपर भक्तवृन्द में नहीं है । अतएव (भा० १०।४७।५८) में उक्त है—'कृष्णे क्वचैष परमात्मनि रूढ़भावः' श्रीउद्धवने उक्त वाणी से उन सबके भावोत्कर्ष का कीर्त्तन किया है । एवं (भा० १०।४७।६१) में उन्होंने कहा है—'आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम्' गोपियों की चरणरेणु की प्रार्थना उन्होंने की है । किन्तु कभी भी रुक्मिणी लक्ष्मी प्रभृतियों की चरणरेणु की प्रार्थना नहीं की । शास्त्र के किसी स्थलमें भी दृष्ट नहीं होता है ।

सितोपला 'मिश्री' 'मिसरी' मत्स्यण्डिका को कहते हैं । मत्स्यण्डिका का चरमपाक से उत्पन्न पश्चिमदेश में प्रसिद्ध एक अपूर्व पदार्थ है । यहाँ विकार शब्द का अर्थ है—अपर विषयमें आसक्तिरहित चित्तमें ही प्रथम विक्रियारूप भाव होता है ॥१२-१३॥

जिसकी अभिव्यक्ति के निमित्त विभावादि की कारणता कही गई है, वह रस क्या है ? जिज्ञासासे उसका स्वरूप निर्णय करते हैं ।

वहिरिन्द्रिय एवं अन्त अन्तरिन्द्रिय के सम्बन्ध में व्यापारान्तर का रोधक, अथच स्व-कारणीभूत विभावादि के सहित सम्मिलित चमत्कारजनक जो सुख, उसको रस कहते हैं ।

अयन्तूत्तमप्रकृतीनामनुकार्याणां स्वतःसिद्ध एव, काव्यादौ तु सामाजिकानामेव, तेषां सर्वरसाभिव्यक्तिशाली एक एव पूर्वोक्तः कश्चनास्वादकन्दश्चेतो धर्मविशेषः स्थायी। तत्र युक्तिर्दर्शयिष्यते ॥१४॥

ये ये सुखानुभवा आसंस्तेभ्यः सर्वेभ्यः सकाशात् कोटि-कोटिगुणाधिको यो रसदशायामानन्दानुभवस्तस्माज्जातो यश्चमत्कारस्तद्विशिष्टं सुखं रस इति रसलक्षणम् ।

अथ कोऽसौ चमत्कार इत्याकाङ्क्षायामाह—यथा, वहिर्वस्तूनामनेकेषां मध्ये कस्यचित् सर्वोत्कृष्टाद्भूतवस्तुनो दर्शनान्नेत्रस्य चमत्कारो जायते, तत्र चमत्कारपदार्थो नेत्रस्य स्फारतारूपः। तथैवात्राप्यन्तर्वस्तूनां मध्ये रसतादशायां कस्यचिदद्भुतसुखस्यानुभवाज्जाता चित्तस्य स्फारता एव चमत्कारः। चमत्कारिसुखं कीदृशं भवेदित्यपेक्षायां विशेषणमाह—वहिरिति। रसस्योदयदशायां वहिरिन्द्रियाणामन्तरिन्द्रियाणाञ्च रसानुपयोगिपदार्थमात्रे यो वृत्तिरूपो व्यापारस्तस्य रोधकं प्रतिबन्धकमित्यर्थः। तथा च रससाक्षात्कारे कारणीभूतविभावादेरेव भानम्, न तु तदानीमिन्द्रियाणां पदार्थान्तरस्य ज्ञानजनने सामर्थ्यमस्तीति भावः। तदेव पुनर्विशेषणान्तरेणाह—स्वकारणेति। स्वकारणं विभावादि तस्य संश्लेषि।

उत्तम प्रकृति अनुकार्यगण में वह रस स्वतःसिद्ध रूपसे रहता है। काव्यादि में सामाजिकवृन्द में उक्त रस आविर्भूत होता है। उनमें सर्वरसाभिव्यक्तिशाली, आनन्दवीजस्वरूप पूर्वोक्त एकमात्र चित्तधर्म विशेष स्थायी होता है। इस विषय में युक्ति का प्रदर्शन अग्रिम ग्रन्थमें होगा।

अनन्तर रस साक्षात्कार में परिपाटी का वर्णन करते हैं—प्रथम, श्रवण-कीर्त्तनादि भजनों का पुनः पुनः अनुष्ठान करने से आनन्दरूपा रति का आविर्भाव होता है, तदनन्तर विभावादि का समवधान दशामें रति का साक्षात्कार होता है, तत्पश्चात् रति रसरूपा होती है। अनन्तर पुनः उसी विभावादि करणों के द्वारा रस साक्षात्कार होता है।

ऐसी स्थितिमें रति साक्षात्कार में जिस प्रकार आनन्दाविर्भाव होता है, उससे भी कोटिगुणित आनन्दाविर्भाव रस साक्षात्कार में होता है। इसको कहते हैं—'वहिरन्तःकरणयोर्व्यापारान्तररोधकं, स्व-कारणादिसंश्लेषिचमत्कारिसुखं रसः।'

सम्प्रति रस साक्षात्कार में जिस प्रकार सुखानुभव होता है, एवं पूर्व समयमें अनेक पदार्थविषयक जो जो सुखानुभव थे, उन समस्त सुखानुभवोंसे कोटि कोटि गुणाधिक-रसदशामें जो आनन्दानुभव होता है, उससे उत्पन्न जो चमत्कार है, उस प्रकार चमत्कार युक्त सुख रस है। यह रस-लक्षण है।

प्रश्न होता है कि—वह चमत्कार क्या है? उत्तरमें कहते हैं—जिस प्रकार बाहर अनेक वस्तु विद्यमान होने पर भी किसी एक सर्वोत्कृष्ट वस्तु को देखकर किसीके नेत्र आनन्दित होते हैं, अर्थात् वस्तुको देखकर नेत्रमें चमत्कार उत्पन्न होता है। वहाँ चमत्कार पदार्थ है—नेत्र की विस्फारता। उसी प्रकार हृदयस्थ वस्तुओं के मध्यमें रसता दशामें किसी अद्भुत सुख के अनुभव से उत्पन्न जो चित्त की विस्फारता है—वही चमत्कार है।

चमत्कारि सुख भी किस प्रकार है? उत्तरमें विशेषण को कहते हैं—वहिरिन्द्रिय प्रभृति। रसोदय दशामें वहिरिन्द्रियों के एवं अन्तरिन्द्रियों के रसके अनुपयोगि पदार्थमात्रमें जो वृत्तिरूप व्यापार है, उसका रोधक है, अर्थात् प्रतिबन्धक है।

रसस्यानन्दधर्मत्वादैकध्यं भाव एव हि ।
उपाधिभेदान्नानात्वं रत्यादय उपाधयः ॥

रत्यादयः स्थायिनः । यथा नानाविध-शरावसलिल-तारतम्येऽपि तरणि-विम्बप्रतिबिम्ब एकरूप एव, तथोपाधिगत एव भेदः, नानन्दगतो रसस्य । उक्त प्रकारेषु स्थायिषु कश्चिदुभयनिष्ठः, कश्चिदेकनिष्ठः, कश्चिदेकनिष्ठ उभयनिष्ठश्च । तत्र रत्यादिरुभयनिष्ठः, जुगुप्सादिरेकनिष्ठः, क्रोधादिरेकनिष्ठो द्विनिष्ठश्च । इत्यनुकार्याणामेव सामाजिकानामेक एवेत्युक्तत्वात् ॥१५॥

तथा च विभावादिसहितस्यैव रसस्य साक्षात्कारो जायते इत्यर्थः ।

यथैकमेव दधिवस्तु सिता-मरिच-कर्पूरादिभिर्नानावस्तुमिलितं सत् रसालाख्यं भवति, तस्यास्वादनकाले चित्ररसस्य प्रत्यक्षो भवति, तथेत्यर्थः । अयन्त्विति—अयं रस उत्तमप्रकृतीनामप्राकृतानामनुकार्याणां भक्तानाम् ॥१४॥

ननु यथा रत्यादीनां भावपूर्वरागादिरूपो नानाविधपाक उक्तस्तथा रसस्याप्येकस्य पाकात् नानाविधत्वं कथं नोक्तम् ? तत्राह - रसस्येति । आनन्दधर्मत्वाच्चरमानन्दरूपत्वादैकध्यमेकविधत्वम्, यथा सितोपलायाः पाकान्तरं नास्ति, यथा महारसस्यापि चरमानन्दरूपत्वेन पाकान्तरं नास्ति, तथैव रसस्यापि । अत एकस्य रसस्य न नानाविधत्वं ज्ञेयम् । भाव इति । नानाविधत्वं प्राप्नोतीति शेषः । यथा नानाविधशरावेत्यादिपाठः क्वाचित्कः, न सर्वसम्मतः ॥१५॥

तथाच रस साक्षात्कार में कारणस्वरूप विभावादिकों का ही भान होता है । किन्तु उस समय इन्द्रियों की सामर्थ्य पदार्थान्तर का ज्ञानोत्पन्न कराने में नहीं रहती है ।

उसको पुनर्वार विशेषणान्तर के द्वारा कहते हैं—स्व-कारणेति । कारण—विभावादि हैं, उसका संश्लेष । तथा च—विभावादि के सहित ही रसका साक्षात्कार होता है ।

जिस प्रकार एक ही दधि वस्तु—सिता, मरिच, कर्पूरादि के सहित मिलित होकर रसाला नामक वस्तु होती है । उसको आस्वादन के समयमें चित्ररस का प्रत्यक्ष होता है । उस प्रकार रस में भी आस्वादन होता है ।

यह रस, उत्तम प्रकृतिसम्पन्न अप्राकृत अनुकार्यों में एवं भक्तों में होता है ॥१४॥

रस आनन्दधर्मा होने के कारण—वह एक प्रकार ही होता है, किन्तु भाव ही रति प्रभृति उपाधि भेद से विविध प्रकार के होते हैं ।

जिस प्रकार शरावगत सलिलसमूह का तारतम्य होने पर भी उसमें सूर्य का विम्ब एवं प्रतिविम्ब एक प्रकार ही होता है । रसमें भी उस प्रकार उपाधिगत भेद है, आनन्दगत किसी प्रकार भेद नहीं है ।

जिस प्रकार सितोपला का पाकान्तर नहीं होता है, जिस प्रकार महारास का भी परमानन्दरूप होने के कारण—पाकान्तर नहीं है । उसी प्रकार रस का भी जानना होगा । अतएव रसका विविध प्रकार नहीं है ॥१५॥

प्राकृताप्राकृताभासभेदादेष त्रिधामतः ॥

एष रसः, प्राकृतो लौकिको मालतीमाधवादिनिष्ठः, अप्राकृतः श्रीकृष्ण-राधादिनिष्ठः। आभासस्त्वनौचित्यादिप्रवर्त्तितः। स चाभासस्त्रिविधः, प्रसिद्धकृत्रिमभेदात्। आद्यः प्राक्-प्रसिद्धिमात्रोपहतः, न तु सम्पत्स्यमानः, स च रसाभासो भवन्नपि रसपोषकः—यथा नन्दन सम्बन्धप्रसिद्धो मालत्या माधवे रतिपुष्टिरिति प्राकृते, अप्राकृते तु शिशुपालसम्बन्धप्रसिद्धो श्रीरुक्मिण्याः श्रीकृष्णे रतिपुष्टिः। कृत्रिमस्तु नन्दनं प्रति मालतीवेशधारिणो मकरन्दस्य वाम्य प्रकटनादिः। सिद्धस्त्वनौचित्यप्रवर्त्तित एव। अनौचित्यञ्चैकस्या अनेककान्तनिष्ठत्वम्। यदुक्तम्— "यद्यप्ययं रसाभासः परोढ़रमणीरतिः।

तथापि ध्वनिवैशिष्ट्याद्दुत्तमं काव्यमेव तत् ॥" इति। तथापि (तृतीयकिरणे १०)"रसो भावस्तदाभासो भावस्यान्त्यादिरक्रमः"- इत्याद्युक्तदिशा "आभासोऽपि चमत्कारदशायां ध्वनिभाग्भवेत्" इति ध्वनिमर्यादयैवोत्तमकाव्यत्वम्, नत्वनौचित्यरीत्या इति प्राकृते, ॥१६॥

प्राकृतेति—प्राकृते रस एव नास्ति, तथापि यत्त्रैविध्यमुक्तम्, तत् परमतानुसारेणेति ज्ञेयम्। प्राकृते ये रसं मन्यन्ते, ते भ्रान्ता प्राकृता एव, यतोऽत्र कृमि-विड् भस्मान्तनिष्ठेषु प्राकृतनायकेष्वतिनश्वरेषु रसो न भवति, विचारतो विभावैरस्यात्तद्विपरीतं घृणामयं वैरस्यमेवोत्पद्यते, न तत्रैव रसं वर्णयन्तीत्यर्थः। अतएव ग्रन्थकारेणापि प्राकृतविषये एकमपि पद्यं नोदाहृतम्, किन्त्वप्राकृत एव सर्वाणि पद्यान्युदाहृतानीति ज्ञेयम्।

प्रसिद्धेति—रुक्मिण्या सह शिशुपालस्य सम्बन्धो लोकप्रसिद्धिमात्रेणैवापहतो भ्रान्तानां प्रतीतिविषयः,

प्राकृत, अप्राकृत एवं आभास भेदसे यह रस त्रिविध होते हैं। प्राकृत अर्थात् लौकिक, जिस प्रकार मालती माधवनिष्ठ है। अप्राकृत—जिस प्रकार श्रीकृष्ण राधादि निष्ठ है।

अनौचित्यादि प्रवर्त्तित से आभास होता है। वह त्रिविध हैं। प्रसिद्ध, कृत्रिम एवं सिद्ध हैं। उसके मध्यमें जो वस्तुतः सङ्घटित नहीं होता है, केवल प्रसिद्धि मात्रसे उपहत होता है—उसका नाम प्रसिद्ध रसाभास है। यह रसाभास होकर भी रस पोषक होता है। जिस प्रकार प्राकृत स्थलमें नन्दनके सहित मालती का विवाह सम्बन्ध प्रसिद्ध होने पर भी उससे माधव के प्रति मालती की रति पुष्टि होती हुई थी। अप्राकृत स्थलमें, जिस प्रकार शिशुपालके सहित विवाह सम्बन्ध प्रसिद्ध होने पर भी श्रीरुक्मिणी की रति पुष्टि श्रीकृष्ण में हुई थी।

नन्दनके प्रति मालती वेशधारी मकरन्द की वामता प्रकटनादि कृत्रिम रसाभास का उदाहरण है। अनौचित्य प्रवर्त्तित होने पर सिद्धरसाभास होता है। अनौचित्य शब्द से एक-नायिका अनेक कान्तनिष्ठत्व को जानना होगा।

रसाचार्यगणके मतमें यद्यपि परोढ़रमणी-विषयिणी रतिसे रसाभास होता है, तथापि ध्वनिवैशिष्ट्य हेतु वह उत्तम काव्य के मध्यमें परिगणित होता है। तथापि 'रस एवं उभय का आभास एवं भाव

अप्राकृते तु परोढ़रमणीरतिरेव सर्वोत्तमतया भूयसी श्रूयते, न तस्या अनौचित्य-प्रवर्त्तितत्वम्। अलौकिकत्वसिद्धेर्भूषणमेव, न तु दूषणमिति न्यायात्, तर्कागोचरत्वाच्च। तथा च (महाभारते उद्योगपर्वणि) 'अलौकिकाश्च ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' इति च।

व्रजवधूनां कृष्णैकतानमानसत्वेन स्वपतिनिष्ठत्वाभावात्तेषाञ्च मायाकलित-तच्छायानुशीलनेन तदङ्गसङ्गमात्, प्रत्युत केवलानुरागमात्रोपाधितया चेतो रञ्जकतायाः शुद्धत्वमेव ॥१७॥

नतु सम्पत्स्यमानैः सम्बन्धः, नतु सम्पन्नो भविष्यतीत्यर्थः। अतः शिशुपालस्य रुक्मिण्यां रतौ रसाभाव एव। एवं परोढ़रमणीषु पुरुषस्य रतिरपि रसाभास एव, प्राकृतविषयत्वात् ॥१६॥

सर्वोत्तमतयेति—शान्तिप्रभृति-पञ्चविधरतीनां मध्ये शृङ्गाररतिः सर्वोत्तमा। सा च रतिर्द्विधा—स्वकीया—रुक्मिण्यादिनिष्ठा, परकीया—श्रीव्रजसुन्दरीनिष्ठा च। तयोर्मध्ये परोढ़रमणी श्रीव्रजसुन्दरी, तन्निष्ठा रतिः सर्वोत्तमेत्यर्थः।

भूयसेति—सर्ववेदेतिहासपुराणादीनां मध्ये सारभूते श्रीभागवते श्रीकृष्णेनोक्तम् (भा० १०।३२।२२) "न पारयेऽहं" इत्यादौ "या मा भजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य" इत्यादि।

तत्रैव श्रीमदुद्धवेनाप्युक्तम्—(भा० १०।४७।६१) "या दुस्त्यजं स्वजनमार्य्यपथं च हित्वा" इत्यादि। श्रीमदुज्ज्वलनीलमणौ श्रीमद्रूपगोस्वामिभिरप्युक्तम् (नायकभेद–प्र० १९) "अत्रैव परमोत्कर्षः शृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः" इत्यादौ महाभावानां दृश्य-श्रव्य-काव्यादौ परकीया सर्वोत्तमतया भूयसी श्रूयते इत्यर्थः ॥१७॥

शान्त्यादि का क्रम नहीं है' इस प्रकार कथन हेतु, एवं 'आभास भी चमत्कार वशामें ध्वनि शब्दवाच्य होता है' इस प्रकार कथन हेतु—प्राकृत स्थलमें ध्वनि-मर्यादा निबन्धन ही उसका उत्तमकाव्यत्व होता है। औचित्य रीति के अनुसार उसकी उत्तमता नहीं होती है ॥१६॥

अप्राकृत स्थलमें परोढ़ रमणी-रति ही सर्वोत्तम रूपसे कीर्त्तित है। उक्त रति का अनौचित्य प्रवर्तित्व नहीं है। कारण, नियम इस प्रकार है कि—अलौकिकत्व-सिद्धि हेतु वह भूषण ही है, दूषणके मध्यमें परिगणित नहीं है। विशेषतः उक्त प्रयत्नसमूह तर्कागोचर हैं। जो सब भाव अलौकिक हैं, तर्क के द्वारा उस सबकी शुद्धि वा अशुद्धि परीक्षा करना समीचीन नहीं है। महाभारतके उद्योगपर्व्वमें इस प्रकार लिखित है।

उस वधूवृन्द की श्रीकृष्णमें एकाग्रचित्तता हेतु स्वपतिनिष्ठता नहीं थी। एवं उन सबके मायागृहीत शरीरमात्र का अनुशीलन होने के कारण, उन सबके पतिवृन्द भी उन सबके सहित संसर्ग करने में अक्षम थे। अतएव केवल अनुराग मात्रोपाधिहेतु उक्त चित्तरञ्जकता भी विशुद्ध ही है।

शान्ति प्रभृति पञ्चविध रतिके मध्यमें शृङ्गाररति सर्वोत्तमा है। वह रति द्विविधा हैं। स्वकीया—रुक्मिण्यादि निष्ठा, एवं परकीया—श्रीव्रजसुन्दरी निष्ठा है। उन दोनों के मध्यमें व्रजसुन्दरी की रति सर्वोत्तमा है।

भूयसीति—सर्ववेदेतिहासपुराणादि के मध्यमें सारभूत श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णने कहा है—मैं तुम सबके अनुरूप भजन करने में अक्षम हूँ। तुम सबने दुर्जर गृह शृङ्खल को छेदन किया है। श्रीमदुद्धवने भी कहा है,—जिन्होंने दुस्त्यज स्वजन आर्यपथ को परित्याग करके भजन किया है।

श्रीमदुज्ज्वलनीलमणिग्रन्थ के नायकभेद प्रकरण (१९) में श्रीमद् रूपगोस्वामि पादने लिखा है—

अत्र रसग्रन्थे काव्यमधिकृत्यैव विचारः। काव्यम्—दृश्यं श्रव्यञ्च। दृश्ये शब्दोपात्ता विभावादयोऽभिनायकाश्रयाः, अभिनेयाश्रयाश्च, श्रव्ये केवलं शब्दोपात्ताः। कुतोऽत्रानुकार्यगतो रसः? नाप्यनुकर्त्तृगतः,—तेषां शिक्षाभ्यासप्रकटनमात्रकौशलेनास्वादकत्वाभावात्। यदि तु विगलितवेद्यान्तरत्वमनुकर्त्तॄणामपि दृश्यते, तदा तेषामपि सामाजिकत्वमेव, अनुकरणन्तु संस्कारवशादेव जीवन्मुक्तानामाहारविहारादिवत्। तेन सामाजिकानामेव रसः। तथा हि, नटनानुक्रियमाणानुकार्यचरित-दर्शनश्रवणजनित-चमत्कारातिशयेन विगलितवेद्यान्तरतया तदेकस्फूर्त्तिसनाथेन अद्भुतमिदं रामसीतयो रतिकलाकौशलम्, अद्भुतमिदं राम-रावणयोर्युद्धम्, अद्भुतमिदं प्रेतरङ्कादि-विचेष्टितमित्यादिना सर्वेष्वेव रसेषु (साहित्यदर्पण-तृतीय परिच्छेदोद्धृतो धर्मदत्तः) "रसे सारश्चमत्कारो यं विना न रसो रसः। तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्रैवाद्भुतो रसः॥"

सामाजिकानां रसोत्पत्तौ प्रकारमाह—अभिनायको नटस्तदाश्रयाः, एवं भाव-हाव-कटाक्षादयो नटानामभिनेयास्तदाश्रयाः। अनुकार्येति—अनुकार्याणां भक्तानां तदानीं तत्राविद्यमानत्वान्नाट्यदर्शनात् पद्यश्रवणाच्च तदानीं कस्य रसो भविष्यतीति पूर्वपक्षः। अनुकर्त्ता नटो नापि तद्गतो रसो भवति। ननु कस्यचिद्दशरथवेशधारिणो नटस्य, एवं हनुमद्वेशधारिणो नटस्य च लोके रसोत्पत्तिः श्रूयते? तत्राह—यदीति।

ननु नटस्य सामाजिकत्वे सामाजिकस्य रसानुभवकाले विगलितवेद्यान्तरत्वात् कथं तस्यानुकरणं सम्भवति? तत्राह—संस्कारवशादेवेति।

सनाथेनेति—रसोपयोगिविभावादिस्फूर्त्तिसहकृतेन क्रियमाणानुकार्य-चरित-दर्शन-श्रवणजनित-चमत्कारातिशयेन हेतुना सर्वेषु रसेषु अद्भुतत्वातिशयस्फूर्त्तौ सत्यां सम्यङ्निश्चयः, तथा च निश्चयमिथ्यादि-प्रत्ययातिरिक्तेन केनचिदनिर्वचनीयप्रत्ययविशेषेण हेतुना कृत्रिमेष्वपि विभावादिष्वकृत्रिमवत् प्रतीयमानेषु

यह रस ग्रन्थ होने के कारण, इस काव्यगत रस का विचार करना कर्त्तव्य है। काव्य दृश्य एवं श्राव्य भेदसे द्विविध हैं। दृश्य काव्यमें विभावादि शब्दोपात्त एवं नटाश्रय एवं अभिनेय पदार्थाश्रय होता है। श्रव्य काव्यमें विभावादि केवल शब्दोपात्त होते हैं। अनुकार्य अर्थात् नट, जिसका अनुकरण करता है, उसका जो रसग्रह होगा, इसकी सम्भावना कहाँ है? अनुकर्त्ता अर्थात् अनुकरणकारी जो नट है, रस—तद्गत भी नहीं है। कारण, केवल शिक्षण एवं अभ्यासादि प्रकाशकौशल के द्वारा आस्वादकता हो नहीं सकती है।

यदि अनुकर्त्ता में कदाचित् यावतीय वाह्य वस्तुविषयक ज्ञानशून्यता दशा देखने में आती है, तो उसको सामाजिक मान लेना आवश्यक हैं। किन्तु तादृश दशापन्न नटका उस प्रकार अनुकरण जीवन्मुक्त व्यक्तिके आहार-विहार के समान प्राक्तन संस्कार से ही होता है। ऐसा कहना पड़ेगा। इससे प्रमाणित हुआ है कि—सामाजिक को ही रसास्वाद होता है।

जब नटगण अनुकार्य के चरित्रानुकरण करते हैं, तब उस चरित्र दर्शन-श्रवण से इस प्रकार चमत्कारातिशय उत्पन्न होता है कि—उसके प्रभाव से पदार्थान्तर की उपलब्धि विलुप्त होने से तन्मात्र की स्फूर्त्ति होती रहती है। एवं रामसीता का रतिकला-कौशल कैसा अद्भुत है! राम-रावण का यह संग्राम

इत्यादि-दिशा चमत्कारपूर्वकमद्भुतत्वातिशयस्फूर्त्तौ सम्यङ्मिथ्यासंशय-सादृश्यप्रत्ययातिरिक्तेन प्रत्ययविशेषेण च चित्रोत्कीर्णाभिरूपप्रतिमादिष्विव इमे रामसीते, रामोऽयं सीताशोकविशीर्णः, राम-रावणावेतौ, व्याघ्रोऽयं जनोत्पलावकः, श्मशानमिदं शवसमूहान्त्रमांसाद्यशनमत्तोन्मत्त-पिशाचादिनृत्यसङ्कुलमिति कृत्रिमेष्वपि तेषु विभावादिष्वकृत्रिमवत् प्रतीयमानेषु, स्वगत-रसवासनाधौतरजस्तमस्तया स्वच्छतरेषु तेषां चेतःसु एक एवानन्दो जायते, न तु तेषामेकस्मिन्नेव चेतसि रत्यादयः सर्वे स्थायिभावाः सन्ति, तेषां परस्परविसदृशानां युगपदेकत्र स्थितेरभावात्, नापि यत्यादेश्चेतसि रतेः स्थायित्वम्, न च शमिनां तेषां भय-शोकादिसत्ता, अपि तु सर्वरसचमत्कारग्राहक एक एवास्वादकन्दः कश्चन चेतोधर्म इति ।

सत्सु सामाजिकानां चेतःसु एक एवानन्दो जायत इत्यन्वयः। अलौकिकत्व सिद्धभूषणमेतन्न दूषणमिति व्यायस्तर्कागोचरत्वाच्च । तथा च 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' इति च । तेषामिति —उत्साह-शोक-विस्मयादीनां परस्परविरुद्धानां युगपदेकस्मिन् स्थितेरभावात् ।

दोषान्तरमप्याह—नापीति यत्यादेर्जितेन्द्रियादेर्यमिनां शान्तरसासक्तानां चित्ते, सर्वत्र, समदृष्ट्या निर्विकारत्वेन भयशोकादिस्थायिभावानामसम्भवात्तेषां रसास्वादो न स्यादिति तु परमतानुसारेणैवोक्तम् । वस्तुतस्तेषां ज्ञानित्वेन चित्तस्य कठोरत्वाद्रसास्वादेऽधिकार एव नास्ति, तथा चोक्तं तृतीयस्कन्धे

कैसा विचित्र है ! प्रेत-पिशाचादिका ये सब कृत्य कितना विस्मयकर है ! इस प्रकार समस्त रसों में ही चमत्कारपूर्ण वैचित्र्यातिशय की स्फूर्त्ति होती रहती है !

कारण, रसमें चमत्कार ही सार पदार्थ है। जिसको छोड़कर रस, रस शब्दसे अभिहित नहीं होता है। सर्वत्र ही उक्त चमत्कार सार वस्तुरूपमें प्रतीयमान होनेसे, समस्त रस ही अद्भुत होते हैं। पण्डित गणका कथन इस प्रकार ही है।

उक्त अद्भुतातिशय की स्फूर्त्तिके समय मिथ्या, संशय एवं सादृश्यादि प्रत्ययके अतिरिक्त इस प्रकार एक अनिर्वचनीय प्रत्यय-विशेष का आविर्भाव होता है कि—कृत्रिम विभावादि भी अकृत्रिमवत् प्रतीयमान होते हैं ? एवं चित्र-लिखित रमणी प्रतिमादि में सुस्पष्ट प्रतीति होती है । यह रामसीता की मूर्त्ति है, यह रामचन्द्र, सीता-शोक-समाच्छन्न हैं । यह दश वदन रावण है । यह है दाशरथि । यह जनताको उद्वेगदायक भीषण व्याघ्र है । यह शवसमूहके अन्त्र-मांसादि भक्षणमत्त-उन्मत्त पिशाचादिको नृत्यसङ्कुल श्मशानभूमि है ।

उस समय सामाजिकगण के चित्तस्थित रजः तमोभाव—निज रस-वासनासे विधौत होने के कारण, उस स्वच्छतर चित्तमें एकमात्र अनिर्वचनीय आनन्द का आविर्भाव होता है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—एक ही चित्त में रति, शोक, विस्मय प्रभृति यावतीय स्थायिभाव की अवस्थिति कैसे हो सकती है ? कारण, वे सब परस्पर इस प्रकार विसदृश होते हैं कि—उन सबकी एकदा एकत्र अवस्थिति सम्भावना ही नहीं है। एवं यति प्रभृतिके चित्तमें कैसे रति स्थायी हो सकती है ? कारण, संयमी व्यक्तिवृन्द के चित्तमें भय-शोकादिकी सत्ता ही कहाँ है ?

उत्तरमें वक्तव्य है कि—आस्वादाङ्कुर के बीजस्वरूप जो अनिर्वचनीय चित्तधर्म है, वही यावतीय

अतो भयानक-बीभत्सादेः काव्यनाट्ययोरेव रसता, न लोके। अतएवोक्तम् —(काव्यप्रकाशे चतुर्थोल्लासे ४४) "अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः" नाट्य एवाष्टौ, लोके तु शृङ्गारादीनां कियतामेव, पूर्वोक्त-रसलक्षणाश्रयत्वात्।

अथ नाट्यरसानां भेदेषु शृङ्गारस्याद्यत्वेन समुचितेऽपि प्राङ्निर्देशे सविशेष-वर्णनीयत्वात्, अलौकिकत्वेनैव प्रतिपादनीयत्वाच्च पश्चादेव निरूपणं करिष्यते। सम्प्रति वीरक्रमेणाह। तत्र च प्राकृताप्राकृतत्वेन ज्ञापितेऽपि भेदेऽप्राकृतमेवोदाहरिष्यामः।

> अप्राकृतोऽपि द्विविधः प्रत्यालम्बनभेदतः।
> सजातीयं विजातीयं प्रत्यालम्बनमिष्यते ॥१८-१९॥

तत्र विजातीयालम्बनोऽप्राकृतवीरो यथा—

> गुणं कर्णाकृष्टं करकिशलयं तूणशिखरे
> धनुश्चक्रीभूतं निपतदिषुवृन्दं तत इतः।
> रिपून् भूमौ सुप्तान् कलयति समं देवनिकरे
> जरासन्धस्याजौ जयति भुजवीर्यं मुरभिदः ॥

(भा० ३।२८।३४) "तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते" इत्यादिना चित्तस्य बडिशत्वोक्त्या महाकठोरत्वमुक्तम्।

अथेति—यद्यपि शृङ्गाररसस्य परममुख्यत्वेनादौ तस्यैव निर्देशः समुचितस्तथापि तस्याङ्गानामति-बाहुल्यात् पश्चान्निरूपणं भविष्यति। संप्रति सूचीकटाह न्यायेनादौ वीरादिरसवर्णनमेवाह—तत्र चेति॥१८-१९॥

रसगत चमत्कार का ग्राहक है।

भयानक, बीभत्सादि काव्य एवं नाट्यमें ही रस होते हैं, लौकिक में वे रस नहीं है। एतज्जन्य नाट्यमें अष्टविध रसका उल्लेख किया गया है।

नाट्य व्यतीत लौकिक स्थलमें जहाँ पूर्वोक्त रसलक्षण का योग है, उस प्रकार शृङ्गारादि कतिपय रसका ही रसत्व सिद्ध होता है।

नाट्य रससमूह के मध्यमें शृङ्गाररस का औचित्य हेतु प्रथमतः उसको कहना उचित होने पर भी विशेष रूपसे उसका वर्णन अग्रिम ग्रन्थमें होगा। अतः उसका निरूपण पश्चात् होगा। सम्प्रति वीररस का वर्णन करते हैं।

प्राकृत एवं अप्राकृत भेदसे वीररस द्विविध होने पर भी यहाँ अप्राकृतका ही उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। सजातीय एवं विजातीय प्रत्यालम्बन भेदसे अप्राकृत भी द्विविध होते हैं ॥१८-१९॥

उसके मध्यमें विजातीयालम्बन अप्राकृत वीर का उदाहरण—जरासन्ध के युद्धमें भगवान् मुरवैरीके अपूर्व भुजवीर्य की जय हो, जिस भुजवीर्यके प्रभावसे युद्धदर्शी देवगण एक ही समयमें देखे थे कि—भगवान् के गुण—सर्वदा आकर्ण कर्षित होकर है, कर-पल्लव निरन्तर तूणाग्रभाग में विराजित है, शरासन सतत

अत्र प्रकृते उत्साहः स्थायी, स च द्विनिष्ठः । आलम्बनविभावो जरासन्धः, तस्य च कृष्णः । उद्दीपनम्—अन्योऽन्यशौटीर्य्यादि, अनुभावः—बाणवर्षणे हस्तलाघवम्, व्यभिचारी—गर्वोग्रतामर्ष-चापल्यादि । एतैः परिपुष्टः स्थायीरसतां प्राप्तः ।

स चानुकार्ये भगवति प्रकृते परोक्षः, काव्यश्रवणात् सामाजिके प्रत्यक्ष इति सर्वत्रोन्नेयम् । सजातीयालम्बनस्तूह्यः । कैश्चित् सखिभिः सह युद्धमुदाह्रियते, तत्तु लीलाविशेष इति प्रकृते न लिख्यते । एष च युद्धदानदयाधर्मपूर्वकत्वाच्चतुर्द्धा । सर्वत्रोत्साहः स्थायी ।

ऊह्यान्युदाहरणानि ॥२०॥

गुणमिति—जरासन्धस्य युद्धे देवसमूहे श्रीकृष्णस्य युद्धलाघवं पश्यति सति श्रीकृष्णस्य भुजवीर्यं जयति । युद्धलाघवमेवाह—यदा देवानां गुणे दृष्टिस्तदा कर्णनिकटे सर्वदा गुणं पश्यन्ति, यदा तु दक्षिणे करे दृष्टिस्तदा सर्वदैव बाणग्रहणार्थं तूणे करकिशलयं पश्यन्ति, यदा तु धनुषि दृष्टिस्तदा बाणनिक्षेपार्थं धनुश्चक्राकारं पश्यन्ति, यदा बाणेषु दृष्टिस्तदा सर्वदैवेतस्ततः निपतितान् बाणसमूहान् पश्यन्ति, यदा विपक्षसमूहे दृष्टिस्तदा सर्वदैव तान् भूमौ निपतितान् पश्यन्ति ।

एवञ्च हस्तस्यातिलाघवात् सर्वाः क्रियाः सर्वदैवालातचक्रवत् पश्यन्तीति भावः । तस्य जरासन्धस्य विजातीयालम्बनः श्रीकृष्णः प्रकृतेः, न तु नटवत् कृत्रिमे । एवम्भूते भगवति स रसस्तदानीं तत्तल्लीलानां लीलाश्रयाणाञ्च सर्वेषामप्राकट्येन परोक्षः । सामाजिकानाञ्चास्वादाङ्कुरमूलभूतस्य स्थायिनोऽचिन्त्या शक्तिरीदृशी, या अप्रकटामपि तत्तल्लीलां काव्यनाट्य-गतां साक्षात्कारत्वेन प्रकाशयति । अतस्तेषां स रसः प्रत्यक्षरूपः । सजातीयालम्बनो महादेवादिभिः सखिभिः श्रीदामादिभिः सजातीयालम्बनैः सह श्रीकृष्णस्य युद्धमुदाह्रियते—लीलाविशेष इति । जरासन्धस्य यथा द्वेष-क्रोधादिजन्य-युयुत्सारूप-उत्साहः स्थायी, तथा श्रीदामादीनां न, किन्तु कौतुकविशेष इत्यर्थः । एष चेति—युद्धवीर-दानवीर-दयावीर-धर्मवीरा इति चतुर्धा एव रसो भवतीत्यर्थः ॥२०॥

वक्रीभूत होकर ही है, बाणसमूह—अनुक्षण इधर उधर निक्षिप्त हो रहे हैं । शत्रुसमूह निरन्तर भूतलमें प्रसुप्त हो रहे हैं ।

यहाँ उत्साह स्थायी है, एवं वह उभयनिष्ठ है । जरासन्ध—आलम्बन विभाव, एवं जरासन्ध के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण भी आलम्बन विभाव है । परस्पर शौटिर्यादि (वीरता) उद्दीपन विभाव हैं । बाण वर्षण विषयमें हस्तलाघव—अनुभाव है । गर्व, उग्रता, अमर्ष, चपलतादि—व्यभिचारि भाव हैं । उन सबों के द्वारा पुष्ट होकर स्थायी भाव रसत्व प्राप्त होता है । उस रस अनुकार्य स्वरूप प्रकृत श्रीकृष्ण में परोक्ष एवं काव्यमें श्रवण हेतु सामाजिकके पक्षमें प्रत्यक्ष है । इस प्रकार अन्यान्य स्थलमें विचार कर ग्रहण करना चाहिये ।

सजातीय आलम्बन महादेवादि के सहित, सखागणके सहित, श्रीदाम प्रभृति के सहित सजातीय आलम्बन के सहित श्रीकृष्ण का युद्ध का उदाहरण प्रस्तुत किया जायेगा ।

सजातीय आलम्बन—अनुसन्धेय है, इस विषयमें कतिपय व्यक्ति सखागणके सहित युद्धको उदाहरण देते हैं । किन्तु सखागणके सहित युद्ध लीलाविशेष होनेके कारण—प्रस्तुत प्रबन्धमें उल्लिखित नहीं हुआ ।

अथ करुणः—दोर्गुप्तायां मधुविजयिनो हा कथं द्वारवत्या
मन्यायोऽस्यामयमुदभवद्धन्तनिष्कल्मषायाम् ।
जातं जातं सुतमपहरत्येष मेऽकालमृत्युः
को मां त्राता हरि हरि हहा हा हता हा हताः स्मः ॥

अत्र शोकः स्थायी, एष एकनिष्ठः । पुत्रनाशः आलम्बनम्, पुत्रगतममताद्युद्दीपनम् । अनुभावः—शिरस्ताड़नादिः । व्यभिचारी—विषाद-दैन्य-ग्लान्यादिः । अयन्तु सामाजिकगत एव, नानुकार्यगतः परोक्षेऽपि । अयं सामाजिकगतोऽप्यप्राकृतः—कृष्णाश्रयत्वात् ॥२१॥

अथाद्भुतः—आलोकः सखि लोकलोचनमुदामुद्रेकमुद्भावयन्
सोमस्तोमनिदाघधामनिवहप्रद्योत-सद्द्रोहरः ।
मेघे माधवने मणावपिघृणानिर्वाहिको नीलिमा
सामानाधिकरण्यमत्र किमहो चित्रं तमस्तेजसोः ॥

अत्र विस्मयः स्थायी, एष एकनिष्ठः । आलम्बनं—श्रीकृष्णः, उद्दीपनं—तल्लावण्यादि, अनुभावः—रोमाञ्चादिः, व्यभिचारी—आवेग मति-चापल्यादिः । अयं परोक्षोऽनुकार्यगतः, प्रत्यक्षः सामाजिकगतः, अयमप्राकृत एव ॥२२॥

अस्यां द्वारवत्यामन्याय उदभवत् । अन्यायमेवाह—जातमिति, पुत्रमरणजन्योत्कटदुःखमानन्दरूपस्य रसस्याविर्भावे प्रतिबन्धकमिति भावः ॥२१॥

आलोक इति । हे सखि ! विरुद्धमपि तमस्तेजसोः सामानाधिकरण्यं श्रीकृष्णे एकक्षण एव वर्त्तते, इत्यहो आश्चर्यम् ! श्रीकृष्णे तयोः सामानाधिकरण्यमाह—श्रीकृष्णे वर्त्तमानो य आलोकः प्रकाशः, स च लोकलोचनानामानन्दोद्रेकमुद्भावयन् सन्, सोमस्तोमश्चन्द्रसमूहो निदाघधामनिवहः सूर्यसमूहस्तयोः

यह वीररस—युद्ध, दान, दया एवं धर्मवीर रूपमें चतुर्विध हैं। सर्वत्र ही उत्साह स्थायी । उदाहरण समूहका अनुसन्धान करना कर्त्तव्य है ॥२०॥

करुण रस का उदाहरण—हाय ! मधुसूदन के बाहुबल के द्वारा रक्षिता, पापस्पर्शशून्या यह जो द्वारका नगरी है, इसमें भी क्या इस प्रकार अन्याय होने लगा है । जब ही मेरा पुत्र होगा—उसी समय क्या अकालमृत्यु उसको अपहरण कर ले जावेगा ? हाय ! इस विपद से कौन व्यक्ति मुझको उद्धार करेगा ? हरि हरि मैं तो निहत हो गया ।

यहाँ शोक स्थायी है, एवं यह एकनिष्ठ है । पुत्रनाश—आलम्बन है । पुत्रगत ममतादि उद्दीपन हैं, मस्तक में कराघातादि अनुभाव हैं । दैन्य, ग्लानि, विषाद प्रभृति व्यभिचारि भाव हैं ।

यह रस, सामाजिकगत है, यह अनुकार्यगत वा अनुकार्य का प्रत्यक्ष नहीं होता है । किन्तु सामाजिकगत होने पर भी कृष्णाश्रयता होने के कारण, यह अप्राकृत है ॥२१॥

अद्भुत रस का निदर्शन—हे सखि ! यह अति विचित्र है कि—अन्धकार एवं तेजः ये दो परस्पर विरुद्ध पदार्थ हैं । यह श्रीकृष्णरूप—एक आधारमें एवं एक समय अवस्थित है । देखो, इसकी अद्भुत

अथ हासः—उन्मत्ताभिर्वसन्तोत्सवरभसमदैर्गोदुहां कन्यकाभिः-
क्षोदैः सिन्दूरचन्द्रागुरुमलयरुहां हा धिगन्धीकृतोऽस्मि ।
जाड्यं गन्धाम्बुसेकैरजनि तत इतो धावितुं नास्मि शक्तो
व्यापद्येऽहं वयस्य प्रियसखमव मां मास्त्विह ब्रह्महत्या ॥

अत्र भगवत् सखो विदूषको ब्राह्मणवटुर्मधुमङ्गलो वक्ता, हासः स्थायी, एष बहुनिष्ठः । आलम्बनं वसन्तोत्सवादि, उद्दीपनं विदूषकस्य वैक्लव्यम्, अनुभाव नयनस्फारतादिः, व्यभिचारी—श्रम-मद-चपलताग्लान्यादिः ॥२३॥

एष त्रिविधः—स्मितम्, हासः, प्रहासश्चेति ।
अधरौष्ठस्फारतया सृक्कण्योरेव विस्फुरत् ।
अलक्षितद्विजं धीरा उत्तमानां स्मितं विदुः ॥
विकसद्दशनद्योतो गण्डाभोगे प्रफुल्लता ।
किञ्चित् कलः कण्ठरवो यत्र हासः स मध्यमः ॥

प्रद्योतानां प्रकाशानां सद्यो हर्त्ता, 'आलोकौ दर्शनद्योतौ' इति नानार्थवर्गः ॥२२॥

उन्मत्तेति—वसन्तोत्सवजन्य हर्षमदैः करणैरुन्मत्ताभिर्गोपीभिर्मलयरुहां चन्दनानां क्षोदैश्चूर्णैः करणैरन्धीकृतोऽस्मि । तथा जलसेकैर्मम जाड्यमप्यजनि, अतः पलायितुमपि न शक्तोऽस्मि । हे वयस्य ! हे कृष्ण ! अहं व्यापद्ये म्रिये, अतो मामव रक्ष ॥२३॥

नीलिमा असंख्य सुधाकर एवं प्रभाकर की प्रभाको सहसा अपहरण करके एवं मेघमण्डल एवं इन्द्रनीलमणि के प्रति भी घृणा उत्पादनपूर्वक लोकलोचन का अपूर्व प्रीति विस्तारकारी आलोकरूपमें विराजित है ॥२२॥

हास्यरस का उदाहरण—वसन्तोत्सव हेतु हर्ष एवं मदभर से उन्मत्त होकर गोपकन्यागण—सिन्दूर, कर्पूर एवं अगुरु-चन्दनचूर्ण से मुझको अन्धप्राय कर दिये हैं । अपितु अविरल सुगन्धसलिल सिञ्चन से मुझमें जड़ता आ गई है । इतस्ततः धावित होकर पलायन करनेकी शक्ति भी मेरी नहीं है । हे वयस्य ! सखा कृष्ण ! मैं तुम्हारा प्रियसखा हूँ, मेरी रक्षा करो, ब्रह्महत्या न करो ।

इस श्लोकमें भगवान्‌के सखा विदूषक ब्राह्मणवटु वक्ता, हास्य स्थायीभाव है, यह हास्य बहुनिष्ठ है । वसन्तोत्सव—आलम्बन है, विदूषक की विह्वलता—उद्दीपन है, नेत्र विकासादि अनुभाव हैं, एवं श्रम, मद, चपलता ग्लानि प्रभृति व्यभिचारिभाव है ॥२३॥

स्मित, हास एवं प्रहास भेद से यह हास्य त्रिविध हैं । श्रेष्ठ व्यक्तिवृन्द का जो हास्य—अधरोष्ठ का अल्प विस्फारण से ओष्ठ प्रान्तमें ही विराजित होता है, दन्तश्रेणी लक्षित नहीं होती है । विबुधगण उसको स्मित कहते हैं ।

जिसमें दशनद्युति का विकाश होता है, गण्डस्थलमें प्रफुल्लता उत्पन्न होती है, कण्ठमें किञ्चित् कलस्वर निर्गत होता है, उसका नाम हास है । यह मध्यम है ।

सघर्मः साश्रुतान्राक्षः स्फुटघोरकटुस्वनः ।
व्यात्ताननो व्यक्तदन्तः प्रहासी ग्राम्या उच्यते ॥२४-२६॥

अथ भयानकः—दंष्ट्रा कोटिकठोरकूटकटुना ब्रह्माण्डभाण्डस्थितं
सर्वं चर्वयसीव हन्त वदनेनोद्गीर्णपूर्णार्चिषा ।
जिह्वाग्रेण समग्रमुग्रमहसा लेलिह्यसे रोदसी
त्रस्तं मामिह पाहि पाहि भगवन् पार्थोऽप्यपार्थोऽभवम् ॥

अत्र अर्जुनस्य भयं स्थायी, सचैकनिष्ठः । आलम्बनं—विश्वरूपप्रदर्शकः श्रीकृष्णः, उद्दीपनं—तद्गतं दंष्ट्रादि, अनुभावः—पाहि पाहीति कातर्यम् व्यभिचारी—अपार्थोऽभवमिति दैन्यम् । एष च कृष्णावलम्बनत्वात् सामग्रीसान्निध्येनानुकार्येऽपि रसतां प्राक् प्राप्त एव । भयेऽपि कृष्णस्फूर्तेस्तत्सम्बन्धादानन्द एवेत्यप्राकृत एव, नतु मालत्यादौ शार्दूलद्यालम्बनेन मकरन्दस्य भयं विनानन्दः । सति शौर्ये उत्साह एव स्थायी भवति । तेन कदाचिदानन्दो जायते, न भयतः । तेन प्राकृते न रसता ॥२७॥

दंष्ट्रेति । वदनेन कथम्भूतेन दंष्ट्राया: कोटिभिरग्रभागैः करणैः कठोरादुवज्रादपि कूट कटुना रोदसी द्यावापृथिव्यौ जिह्वया लेलिह्यसे । अत स्त्रस्तं मां पाहि । पार्थोऽप्यहमपार्थो व्यर्थोऽभवम् । अनुकार्येऽपि अर्जुनेऽपि, व्याघ्रालम्बनेन करनेन मकरन्दस्य भयं विना नानन्दोत्पत्तिः । तत्र शौर्ये सति व्याघ्रदर्शनेऽप्यानन्दस्तदोत्साह एव स्थायी, नतु भयं स्थायि ॥२७॥

जिस-हास्यमें शरीर घर्माक्त एवं नयन रक्तवर्ण एवं अश्रुपूर्ण होते हैं, उत्कट कटु शब्दके सहित-मुख गह्वर विस्तृत होता है, एवं दन्तपङ्क्ति प्रकाशित होती है, उसको प्रहास कहते हैं। यह अधम है।।२४-२६।।

भयानक रसका दृष्टान्त—तुम्हारे जो वदनमण्डल—कठोर पर्वतशृङ्गके समान दन्ताग्रभाग के द्वारा उत्कट है, जिसमें पूर्ण ज्योतिः उद्गीर्ण हो रही हैं, उसके द्वारा ब्रह्माण्डभाण्ड स्थित पदार्थ जैसे चर्वित हो रहे हैं। और उग्रदीप्ति इस प्रकार है—जिसके द्वारा समस्त स्वर्गमर्त्यलोक जैसे लेहित हो रहे हैं। हे भगवन्! मेरी रक्षा करो, रक्षा करो, मैं नितान्त भीत हूँ। मेरा पार्थ नाम—आज व्यर्थ हो गया।

यहाँ अर्जुन का भय स्थायी है, यह एकनिष्ठ है। विश्वरूप प्रदर्शक श्रीकृष्ण—आलम्बन है। तदीय दंष्ट्रादि—उद्दीपन हैं। रक्षा करो, रक्षा करो, यह कहकर जो कातरता प्रकटित हुई, वह अनुभाव है। मेरा पार्थ नाम व्यर्थ हुआ है, इस वाक्य से जो दैन्य प्रतीत होता है, वह व्यभिचारि भाव है। यहाँ श्रीकृष्ण आलम्बन होने के कारण, हेतु समूह का सन्निधान वशतः अनुकार्यस्वरूप अर्जुनमें प्रथम ही रसत्व हुआ है। भयमें भी कृष्ण स्फूर्त्ति होने के कारण, कृष्ण सम्बन्ध में आनन्दोदय हुआ है, सुतरां उसको अप्राकृत कहना होगा। मालत्यादि स्थलमें शार्दूलादि आलम्बन के द्वारा भय व्यतीत मकरन्द में आनन्दोत्पत्ति नहीं हुई है। शूरता की विद्यमानतामें उत्साह ही स्थायी होता है, उसमें कदाचित् आनन्द की उत्पत्ति हो सकती है। भय स्थलमें वैसा सम्भव नहीं है। अतएव प्राकृत स्थलमें उसका रसत्व नहीं है ।।२७।।

अथ बीभत्सः—दैत्येन्द्राणां मथितवपुषामन्त्रमेदोऽस्थिमज्जा-
मांसासृक्त्वक्स्थपुटपटलीस्वादमोदप्रमत्ताः ।
कौमोदक्या मधुविजयिनः कीर्त्तिमुत्कीर्त्तयन्तः
सार्द्धं गृध्रैर्विदधति मुदं प्रेतरङ्का विशङ्काः ॥

अत्र देवासुरसंग्रामावसानमालोकयतां व्योमचारिणां जुगुप्सा स्थायी, स चैकनिष्ठः। शवशरीराद्यालम्बनम्, प्रेतरङ्काद्युद्दीपनम्, अनुभावः—मुखवैकृत्यादिः, व्यभिचारि—ग्लानि-दैन्यादिः। एतैः परिपुष्टा जुगुप्सा जुगुप्सैव यद्यपि, तथापि भगवतः कृतिरियमिति भगवत् स्मरणादेवानन्दः। प्राकृते न त्वानन्दः, अपि तु नटव्यापारदर्शनात् सामाजिकानामेव तत्र रसः ॥२८॥

यथा वा—दृशैव करुणार्द्रया सहचरान् समुज्जीवय
न्नघस्य जठरं गतो गरलजातवेदो व्यसून् ।
तदन्त्रधमनीवसारुधिरमज्जलालादिभिः
प्लुतोऽप्यनवलिप्तवच्छुचिरुचिः स जीयाद्धरिः ॥

कौमोदक्या गदया मथितवपुषां दैत्येन्द्राणाम्, तन्त्रः 'आँत'-इति प्रसिद्धिः। स्थपुटं नाड़ीग्रन्थि-विशेषस्तेषां पटलीनां समूहानां रसास्वादैर्जातो यो मोदस्तेन प्रमत्ताः प्रेतरङ्कामुदं विदधति। यद्यप्येतैः परिपुष्टा जुगुप्सा निन्दैव तथापीत्यादि ॥२८॥

दृशैवेति—गरलरूपजातवेदसा अग्निना विगतासून् विगतप्राणान् मूर्च्छितानित्यर्थः। तेषां पार्षदत्वेन नित्यत्वान्न वास्तवप्राणत्यागः सम्भवतीति प्लुतोऽपि व्याप्तोऽप्यनवलिप्त इव शुचिः शुद्धा रुचिः कान्तिर्यस्य

बीभत्सरस का निदर्शन—कौमोदकी-गदा का आघात से मथित देह दैत्येन्द्रगण का अन्त्र भेद होनेके कारण—दरिद्र-प्रेतवर्ग निर्भय से—अस्थि, मज्जा, मांस, शोणित, त्वक्, नाड़ीग्रन्थि प्रभृति का स्वाद ग्रहणपूर्वक आनन्द से उन्मत्त होकर मधुसूदन की कीर्त्ति का कीर्त्तन करते करते गृध्रकुल के सहित महा आनन्द प्रकाश कर रहे हैं।

इसमें देवासुर के सहित संग्राम समाप्ति के समग्र; संग्राम दर्शनकारी आकाशचारिगण का जुगुप्सा स्थायिभाव है, यह एकनिष्ठ है। शव शरीरादि—आलम्बन हैं, प्रेतवृन्द—उद्दीपन, मुखविकृति प्रभृति—अनुभाव, ग्लानि दैन्यादि व्यभिचारी हैं।

इन सबोंके द्वारा परिपुष्ट जो जुगुप्सा है—वह जुगुप्सा व्यतीत अपर कुछ भी नहीं है। तथापि वह भगवान् का कार्य होने के कारण, उनका स्मरणसे आनन्दोदय हुआ है। प्राकृत स्थल उस प्रकार आनन्द नहीं होता है। उस प्रकार स्थलमें नटके प्रयत्न को देखकर सामाजिकमें रसाविर्भाव होता है ॥२८॥

उदाहरणान्तर यह है—विषाग्निके द्वारा जिस सब सहचरका जीवनान्त हुआ था, करुणार्द्र दृष्टिपात से ही उन सबको उज्जीवित करके अघासुर के जठर के मध्यमें प्रवेश पूर्वक जो भगवान् उस असुरके अन्त्र, धमनी, वसा, रुधिर, मज्जा, लालादि द्वारा आप्लुत होकर भी उन सबके द्वारा अस्पृष्ट के समान निर्मल

अत्र भगवत एवानन्दत्वात्तदस्त्रादि-दर्शनेनाप्यानन्द एव लीलावताम्, तथात्वाद्भक्तानाञ्च सामाजिकानाञ्च तस्य स्फूर्त्तिरेव ॥२९॥

अथ रौद्रः—स्पर्शेनापि न वेद्य एव भवता मृत्योर्मुखं गच्छता

किं दोर्मण्डलचण्डिमैष भवते विज्ञापनीयो मया।

येनाखण्डलशौण्डचखण्डन कृता गेण्डूकृतोऽयं गिरिः

किं रे कष्टमरिष्टदुष्टतनुषे गोष्ठस्य न स्तिष्ठ रे ॥

अत्र कोपः स्थायी, एष एकनिष्ठ उभयनिष्ठश्च, अत्र तूभयनिष्ठ एव। आलम्बनमन्योन्यम्, उद्दीपनम्—अन्योन्यविक्रमः, अनुभावः—वागाड़म्बरादिः, व्यभिचारी—गर्वादिः। एवं स्फुटोऽयं रसः। स च भगवति परोक्षः, सामाजिके प्रत्यक्षः। आद्ये विजातीयालम्बनोऽप्राकृतः, द्वितीयेऽप्राकृत एव ॥३०॥

सः। 'सुन्दरं किमसुन्दरम्' इत्युक्तेः। उक्तञ्च श्रीदशमे (भा० १०।८।२३) 'पङ्काङ्गरागरुचिरौ' इति। अत्रेति—भगवत आनन्दरूपत्वात् लीलावतां पार्षदानामपि तथात्वादानन्दरूपत्वात्। अतएवानन्दोद्रेकस्यापि विषयेनास्त्रादिदर्शनेऽप्यानन्दोत्पत्तिरेव, नतु प्राकृतानामिव दुःखम्। तेषां दुःखरूपत्वेन भयानकबीभत्सितवस्तुदर्शने दुःखमेवोत्पद्यत इति विशेषो ज्ञेयः'॥२९॥

स्पर्शेनेति—मत्कर्त्तृकस्पर्शेनापि हेतुना मृत्युर्मुखं गच्छता भवता अहं न वेद्यः, न ज्ञातुं शक्य एव। तथा च मद्विषयकज्ञानमेव तव न भविष्यति, किं दोश्चण्डिमा मया भवते विज्ञापनीय इति भावः। इन्द्रपराक्रमखण्डन कृता येन दोर्दण्डेनायं गोवर्धनगिरिर्गेण्डुकृतः, आद्ये असुरमात्रनिष्ठे कोपे, तदा विजातीयालम्बनो भगवान् द्वितीये उभयनिष्ठे, तदा सुतरां भगवानप्राकृत एव ॥३०॥

कान्तिसे प्रकाशित हुये थे। उन श्रीभगवान् की जय हो।

यहाँ भगवान् की आनन्दरूपता हेतु अस्त्रादिको देखकर भी लीलापरायण पार्षदगणमें भी आनन्दोदय हुआ था। कारण, वे सब भी आनन्दमय हैं। भक्तिपरायण सामाजिक की आनन्द स्फूर्त्ति के स्थलमें ही रसाविर्भाव होता है ॥२९॥

रौद्ररस का दृष्टान्त—रे दुरात्मन् अरिष्ट ! तू हमारे गोष्ठका उत्पीड़न कर रहा है ? तू मुहूर्त्तकाल अपेक्षा कर, अथवा तू स्पर्शमात्र से ही मर जायेगा। तू मुझको कैसे जानेगा ? मेरे बाहुमण्डल की प्रचण्डता को तेरेको कैसे अनुभव कराऊँगा ? इस भुजदण्ड से आखण्डल का पराक्रम खण्डित हुआ था। इसके प्रभाव से ही गोवर्द्धनगिरि कन्दुकवत् उत्क्षिप्त हुआ था।

यहाँ कोप स्थायी है, वह एकनिष्ठ एवं उभयनिष्ठ है। यहाँ उभयनिष्ठ है। उभय ही उभय का आलम्बन है। परस्पर का आलम्बन उभय ही हैं। परस्पर का विक्रम—उद्दीपन है, वागाड़म्बरादि—अनुभाव है, गर्वादि व्यभिचारी है। इस रीति से यह रस परिस्फुट हुआ।

यह रस भगवान्में परोक्ष एवं सामाजिक में प्रत्यक्ष है। प्रथमोक्त एकनिष्ठता स्थलमें वह विजातीयालम्बन भी अप्राकृत है। द्वितीयोक्त स्थलमें वह अप्राकृत नहीं है।३०॥

अथ शान्तः—वयो जीर्णं हा धिक् तदपि नहि जीर्णो मदभरः
श्लथं चर्माङ्गेभ्यस्तदपि नहि रागः श्लथ इव।
रदाः शीर्णाः शीर्णस्तदपि नहि मोहः कथमयं
जनः कंसारातेश्चरणकमलाय स्पृहयतु ॥

अत्र निर्वेदः स्थायी, सचैकनिष्ठः। आलम्बनं—संसारे दुःखम्, उद्दीपनं—पुण्यतीर्थादि, अनुभावः—विषयासक्तित्यागः, व्यभिचारी—मति-स्मृति-धृत्यादिः। एष रसोऽनुकार्ये परोक्षः, सामाजिके प्रत्यक्षः, चमत्कारी चायम् ॥३१॥

तथा च (महाभारते)—"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यसुखं महत्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥"

चमत्कारातिशयेनानन्दातिशयः। अयं श्रीकृष्ण—भक्त्युपयुक्तो यदि भवति, तदा अप्राकृत एव। यथा अयं निर्वेदो व्यभिचारी सन्नपि शान्तरसे स्थायितां प्राप्य रसतामाप्नोति, तथा सैव देवादिविषया रतिर्भाव इति पारिभाषिकोऽपि भावः स्थायी सन् तत्तद्विभावादिसमवेतो

वय इति। अङ्गेभ्यः सकाशाच्चर्म श्लथम्, तदपि रागः। श्लथ इव श्लथतुल्योऽपि न भवति। केचिच्छान्तस्य रसत्वं न मन्यन्ते। तन्मतं दूषयितुमाह—अयमिति। अयं रसश्चमत्कारी ॥३१॥

चमत्कारित्वे हेतुं प्राचीनानां श्लोकमाह—तथा चेति। तृष्णाक्षयसुखरूपचन्द्रस्य षोडशीमेककलामपि एते मर्त्यलोकस्य स्वर्गस्य च सुखे नार्हतः। तस्माच्चमत्कारसत्त्वे तस्य रसत्वमवश्यमङ्गीकार्यम्। (१८-श्लोके) 'रसे सारश्चमत्कारः' इति पूर्वोक्तेः।

द्वादशरसा इति—पूर्वमेकादश रसा उक्ताः, अयमेको रसः, मिलित्वा द्वादशरसा भवन्तीत्यर्थः।

शान्तरस का दृष्टान्त उपस्थित करते हैं—वयस् जीर्ण हुआ, किन्तु मद का प्राबल्य कुछ भी जीर्ण नहीं हुआ। प्रत्येक अङ्ग में चर्म शिथिल हुआ, किन्तु विषयराग कुछ भी शिथिल नहीं हुआ। दन्तसमूह शीर्ण हुये हैं। किन्तु मोह अणुमात्र भी शीर्ण नहीं हुआ। यह अधम व्यक्ति कैसे कंसध्वंसकारी श्रीकृष्ण के पादपद्म में स्पृहावान् होगा।

यहाँ निर्वेद स्थायी है, यह एकनिष्ठ है। संसार दुःख आलम्बन है, पुण्य तीर्थादि उद्दीपन है। विषयासक्ति त्याग अनुभाव है, मति-धृति-स्मृति—व्यभिचारिभाव है। यह रस अनुकार्य में परोक्ष—सामाजिक में प्रत्यक्ष एवं अति चमत्कार जनक है ॥३१॥

पूर्वाचार्यों का कथन है—इस जगत् में जो काम सुख है, अथवा स्वर्गलोक में जो महत् सुख है, ये सब सुख तृष्णाक्षयरूप सुख के षोड़शांश के भी योग्य नहीं हैं।

इसमें चमत्कार के आतिशय्य हेतु आनन्द का आतिशय्य होता है। एवं कृष्णभक्ति में उपयोग होने से यह रस अप्राकृत होता है। जिस प्रकार निर्वेद व्यभिचारी होकर भी शान्तरस स्थायिता प्राप्तकर रसरूप होता है। उस प्रकार 'उक्त रति देवादि विषया होने से भाव शब्दसे अभिहिता होती है।'

भूत्वा भक्तिरस इति द्वादश रसा भवन्ति । स पुनर्भक्तिरसः श्रीकृष्णाश्रयो भवन् रत्यादिभिः स्थायिभिर्दशविधो भवति । तदन्यत्रोह्यम् ॥३२॥

अथ वात्सल्यम्— आराज्जानुकरोपसर्पणपरो जातस्मितं सञ्चर-
ञ्चङ्कारोहमनाप्लुवन् रुरुदिषा-विम्लानचन्द्राननः ।
अभ्यासार्थमुपेक्षितोऽपसरणप्रक्रान्तया सत्वरं
कण्ठे कृत्य यशोदयाननर्नैत्याश्वासि बालो हरिः ॥

अत्र ममकारः स्थायी एष एकनिष्ठः । आलम्बनं—श्रीकृष्णः, उद्दीपनं—तद्गत-जानुचंक्रमणादि, अनुभावः—कण्ठे कृत्यालिङ्गनादिः । व्यभिचारी—हर्षादिः । एषो परोक्षो व्रजेश्वरीनिष्ठः, प्रत्यक्षः सामाजिकनिष्ठः । उभयथैवायमप्राकृतः ॥३३॥

अथ प्रेमरसः—प्रेयांस्तेऽहं त्वमपि च मम प्रेयसीति प्रवाद-
स्त्वं मे प्राणा अहमपि तवास्मीति हन्त प्रलापः ।

कस्यचिन्मते असौ भक्तिरस एव देवत्वरूपेण श्रीकृष्णाश्रयो भवन् स्वातन्त्र्येण दशविधो भवति । तस्य स्वरूपलक्षणोदाहरणमन्यत्र तस्यैव ग्रन्थे ऊह्यम् ॥३२॥

आराविति—आरान्निकटे जानुकराभ्यां गमनपरो बालः श्रीकृष्णो मातुरङ्कारोहार्थं सञ्चरन् यशोदयापि गमनप्रक्रियाया अभ्यासार्थं पुत्रानयनाय सम्मुखगमनं विहाय अपसरणे स्वस्य पृष्ठदेशे गमने प्रक्रान्तयोपेक्षितः श्रीकृष्णो मातुरङ्कारोहमप्राप्य रुरुदिषा रोदितुमिच्छा तया म्लानमुखः, पश्चाद्यशोदया सत्वरं यथा स्यात्तथा कण्ठे कृताश्वासितः ॥३३॥

इस वाक्य में उल्लिखित पारिभाषिक भाव ही स्थायित्व प्राप्तकर उस उस विभावादि सामग्री सम्मिलन से भक्तिरस में परिणत होता है। उक्त भक्तिरस श्रीकृष्णाश्रय होकर रत्यादि विविध स्थायिभावके सहित मिलित होकर दशविध होते हैं। उक्त भेदसमूह का उदाहरण—ग्रन्थान्तर में देख लेना चाहिये ॥३२॥

वात्सल्य का उदाहरण—बालक श्रीकृष्ण, अधुना जानु एवं हस्त-के द्वारा समीप देशमें सञ्चरण करने में समर्थ होने के कारण, एकदिन सामने यशोदा को देखकर, उनके क्रोड़ में आरोहणार्थ, हँसकर धावित होते हैं। यशोदा पुत्रका गमन अभ्यासार्थ उनको अङ्कमें लेने में उपेक्षा करके पश्चाद् भागमें अपसरण करने लगीं। उस समय बालक जननीके क्रोड़ में आरोहण कर न पाने से म्लान मुखचन्द्र से रोदन करने का उपक्रम किये थे। यह देखकर जननी सत्वर जाकर उनको कण्ठमें स्थापन किये एवं 'ना ना, तुमको क्या अनादर कर सकती हूँ ?' इत्यादि बहुविध प्रियवाक्य से आश्वास प्रदान करने लगीं।

यहाँ ममता स्थायी है। यह एकनिष्ठ है। श्रीकृष्ण आलम्बन, कर-चरण द्वारा तदीय सञ्चरण उद्दीपन, कण्ठमें ग्रहण एवं आलिङ्गनादि अनुभाव, हर्षादि व्यभिचारी हैं। यह रस—व्रजेश्वरीनिष्ठ होकर परोक्ष, एवं सामाजिकनिष्ठ होकर प्रत्यक्ष होता है। उभय प्रकार ही अप्राकृत है ॥३३॥

प्रेमरस का वर्णन करते हैं—अयि राधे ! मैं तुम्हारा प्रियतम हूँ, तुम मेरी प्रेयसी हो। ये सब

त्वं मे ते श्यामहमिति च यत्तन्न नो साधु राधे
व्यवहारे नौ न हि समुचितो युष्मदस्मत्-प्रयोगः ॥

अत्र चित्तद्रवः स्थायी, स चोभयनिष्ठः। आलम्बनमन्योन्यम्, उद्दीपनमन्योन्यगुणपरिमलः, अनुभावः—विशिष्यनिर्वचनाभावः, व्यभिचारी—मत्यौत्सुक्यादि। परोक्षः श्रीकृष्ण-राधयोः, सामाजिकानां प्रत्यक्षः प्रेमरसे सर्वे रसा अन्तर्भवन्तीति प्रेमाङ्गं शृङ्गारावयोऽङ्गिन इत्यत्र महीयानेव प्रपञ्चः। ग्रन्थगौरवभयाद्दिङ्मात्रमुक्तम्।

केषाञ्चिन्मते श्रीराधा-कृष्णयोः शृङ्गार एव रसः। तन्मतेऽप्येतदुदाहरणं नासङ्गतम्। शृङ्गारोऽङ्गी, प्रेमाङ्गम्, अङ्गस्यापि क्वचिदुद्रिक्तता। वयन्तु प्रेमाङ्गी शृङ्गारोऽङ्गमिति विशेषः ॥३४॥

तथा च—उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेमण्यखण्डरसत्वतः।
सर्वे रसाश्च भावाश्च तरङ्गा इव वारिधौ ॥३५॥

प्रेयांस्तेऽहमिति। श्रीकृष्ण आह—हे राधे! अहं तव प्रेयान्, त्वं मम प्रेयसी, त्वं मे प्राणाः, अहमपि तव प्राणा अस्मीति। त्वं मे मम, ते तव अहं श्यामिति च यत्तत् सर्वं न साधु। यतो नौ आवयोर्व्यवहारे कथाप्रसङ्गे युष्मदस्मत् प्रयोगो न समुचितः। आत्मनोर्द्विदेहत्वे एतादृश प्रयोगः समुचितो भवति।

अत्र तु श्यामपीतदेहद्वयोरेकैवात्मा। यथैकस्मात् कमलनालात् द्रुत्पन्नं नीलपीतकमलद्वयं तद्वदिति ज्ञेयम्। उद्रिक्तता—अङ्गिरसापेक्षया अङ्गरसस्याधिक्यम्। एतदभिप्रायेण कथमपि शृङ्गारोऽङ्गमिति ब्रूमः ॥३४॥

उक्ति, अथवा तुम मेरा जीवन हो, मैं तुम्हारा जीवन हूँ, ये सब वाक्य प्रलापमात्र हैं। और भी तुम—मेरी, मैं—तुम्हारा, इस प्रकार जो सब प्रयोग हैं, ये साधुप्रयोग नहीं है, कारण—हमारे दोनों के कथोपकथन में युष्मद् एवं अस्मद् शब्द का प्रयोग कभी भी हो ही नहीं सकता।

यहाँ चित्तद्रव स्थायी है, वह उभयनिष्ठ है। उभय ही परस्पर के आलम्बन, परस्पर के गुणोत्कर्ष उद्दीपन, जिसको विशेष करना होगा, उसका निर्वचन करनेमें असमर्थ होने पर अनुभाव, मति-औत्सुक्यादि व्यभिचारी हैं।

यह श्रीकृष्ण एवं राधा के पक्षमें परोक्ष है, एवं सामाजिक के पक्षमें प्रत्यक्ष है। समस्त रस ही प्रेमरस में अन्तर्निविष्ट होने के कारण, इसमें अति महान् विस्तार है। ग्रन्थबाहुल्य के भय से दिग्दर्शन मात्र लिखित हुआ।

किसी किसी पण्डित के मतमें श्रीकृष्ण-राधा के सम्बन्ध में शृङ्गार ही रस है। इस मतमें भी शृङ्गार अङ्गी है, एवं प्रेम अङ्ग है। सुतरां यह उदाहरण असङ्गत नहीं होगा। कारण, अङ्गी की अपेक्षा अङ्ग का कदाचित् आधिक्य भी होता है। हमारे मतमें तो प्रेम ही अङ्गी है, शृङ्गार उसका अङ्ग है ॥३४॥

प्रेममें अखण्ड रसकी सत्ता विद्यमान होनेके कारण—समुद्रमें तरङ्गके समान यावतीय रस एवं भाव

अथ भक्तिरसः—जय श्रीमद्वृन्दावनमदन नन्दात्मज विभो
प्रियाभीरीवृन्दारिक-निखिलवृन्दारक मणे ।
चिदानन्दस्यन्दाधिकपदरविन्दासव नमो
नमस्ते गोविन्दाखिलभुवनकन्दाय महते ॥

अत्र देवविषयत्वाच्चेतो रञ्जकता रतेरेव भावः। स एव स्थायी, आलम्बनम्—श्रीकृष्णः, उद्दीपनम्—तन्महिमादि, अनुभावः—हृदयद्रवादिः, व्यभिचारी-निर्वेद-दैन्यादिः। परोक्षो भक्तानाम्, सामाजिकानान्तु प्रत्यक्षः ॥३६॥

यद्यपि भगवान् सर्वरसकदम्बसम्बलितः, तथापि मूर्त्तः श्रृङ्गार एव, सावर्ण्यात् तद्दैवतत्वाच्च। तथाहि "रसः श्रृङ्गारनामायं श्यामलः कृष्णदैवतः" इति। एवञ्च सर्वेषामेव रसानां वर्णा देवताश्च बोद्धव्याः।

अखण्डरसत्वतोऽखण्डरसत्वात् सर्वे उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति समुद्रे तरङ्गा इव ॥३५॥

जयेति—प्रिया आभीरीस्वरूपा वृन्दारिका देवाङ्गना यस्य हे तथाभूत, (भा० १०।१।२३) 'तत् प्रियार्थं सम्भवन्त्वमरस्त्रियः' इति दशमोक्तेः। हे निखिल वृन्दारकाणां देवानां मणे श्रेष्ठ, चिदानन्दस्य ब्रह्मानन्दस्य स्यन्दः क्षरणं यदि सम्भवति, तदा ततोऽप्यधिकश्चरणारविन्दस्यासवो यशोरूपमकरन्दो यस्य हे तथाभूत ॥३६॥

सावर्ण्यादिति—श्रीकृष्णस्य यो वर्णः, स एव वर्णः श्रृङ्गाररसस्य। एतेन रसानां साकारत्वमभिप्रेतम्। तथा च ह्लादिनीशक्तेर्वृत्तिरूपा एते रस अपि साकारास्तथा ह्लादिनीशक्तेर्वृत्तिरूपा एते रस अपि साकारा एवेति भावः। श्रृङ्गारीति। श्रृङ्गारी श्रृङ्गाररसविशिष्टः, अघाहेर्विषदग्धेषु सखिषु करुणरसविशिष्टः,

---

उसमें सर्वदा आविर्भूत एवं निरोभूत होते रहते हैं ॥३५॥

भक्तिरस का दृष्टान्त—हे विभो! श्रीवृन्दावनमदन नन्दनन्दन! तुम्हारी जय हो। प्रियतमा गोपाङ्गना ही तुम्हारी सुराङ्गना के सदृश है। तुम निखिल सुरवृन्द के शिरोभूषण हो। तुम्हारे चरणारविन्दमकरन्द, चिदानन्दकी धारा की अपेक्षा भी मधुर है। हे गोविन्द! निखिल विश्ववीज अति महान् तुम्हारे स्वरूप को मैं पुनः पुनः नमस्कार करता हूँ।

इस स्थलमें देवविषयक होनेके कारण चित्तरञ्जकता रति ही भाव है। वही यहाँ पर स्थायी। श्रीकृष्ण, आलम्बन है, तदीय महिमादि उद्दीपन हैं, हृदय द्रवादि अनुभाव है। निर्वेद दैन्यादि व्यभिचारी हैं। भक्तवृन्दके पक्ष में यह परोक्ष है, सामाजिकगण के पक्षमें प्रत्यक्ष है ॥३६॥

यद्यपि भगवान् सर्वरस सम्बलित हैं, तथापि आप ही श्रृङ्गार रस के देवता हैं, एवं उस रस का वर्ण उनके समान वर्ण होनेके कारण आप—मूर्तिमान् श्रृङ्गार हैं।

कथित है कि—श्रृङ्गार नामक यह रस श्यामवर्ण है, एवं श्रृङ्गार रस के देवता श्रीकृष्ण ही हैं। इस प्रकार समस्त रस का ही वर्ण है।

सर्वरसात्मकत्वं श्रीकृष्णस्य यथा—

शृङ्गारी राधिकायां सखिषु सकरुणः क्ष्वेड़दग्धेष्वघाहे
बीभत्सी तस्य गर्भे व्रजकुलतनया-चलचौर्ये प्रहासी ।
वीरी दैत्येषु रौद्रो कुपितवति तुरासाहि हैयङ्गवीन
स्तेये भीमान् विचित्री निजमहसि शमी दामबन्धे स जीयात् ॥३७॥

अथ शृङ्गारः—धृते पाणिद्वन्द्वे झटिति झनितं रत्नवलयं
हृते नीवीग्रन्थौ मुखरितमलन्दं रसनया ।
प्रियायाः स्वानन्दप्रतिहतधियः किन्त्वपघनो
घनोत्तृष्णं कृष्णं प्रति समतनोत्तर्जनमिव ॥३८॥

यथा वा—मृदुस्पन्दं लीलाकरकिशलयोत्कम्पमुदयत्
प्रसूनेषु क्रीड़ाविवशमुदितालि व्रजसुखम् ।

तथाघासुरस्य गर्भे प्रविष्टः श्रीकृष्णो बीभत्सरसविशिष्टः । तुरासाहि इन्द्रे कुपितवति सति रौद्ररसविशिष्टः, निजमहसि स्वतेजसि विस्मयरसवान्, तथा च यदा दर्पणे स्वकान्तिं पश्यति, तदा तस्य महान् विस्मयो जायत इति भावः । शमी शान्तरसविशिष्टः ॥३७॥

धृते—इति । श्रीकृष्णस्य स्पर्शाज्जातो य आनन्दस्तस्मात् प्रतिहतधियो विगतबोधाया अर्थात् आनन्दमूर्छिताया राधाया अपघनो देह एव सम्भोगे घनतृष्णं कृष्णं निवारयितुं तर्जनमिव समतनोत्, तस्यास्तर्जनेऽसामर्थ्येऽपि तत् परिजनरूपो देह एव श्रीकृष्णं तर्जयेदित्युत्प्रेक्षा । वस्तुतस्तु सा आनन्दवैवश्येन व्रीड्यादिकमपि कर्त्तुं न शशाकेत्युत्प्रेक्षालङ्कारगम्यो वस्तुध्वनिः । तर्जनमेवाह—श्रीकृष्णेन तस्याः पाणिद्वन्द्वे धृते सति रत्नवलयैर्झटिति झनितम् । तथा च रत्नवलयानां झङ्कारशब्देनैव हस्तरूपो देहः श्रीकृष्णं तर्तर्ज ॥३८॥

श्रीकृष्ण सर्वरसात्मक हैं, उसका उदाहरण प्रदर्शित हो रहा है—जो राधिकाके प्रति शृङ्गार रसशाली हैं, सखागण अघासुर के विषानल से दग्ध होने पर उन सबके प्रति सकरुण हैं, उस असुरके उदरमें प्रवेश के समय बीभत्स रसमय हैं । व्रज-कुलबाला के वस्त्र-हरण समयमें हास्यरस-परायण हैं । दुर्वृत्त दैत्यदलन में वीररसाश्रयी हैं, कुपित सुरपति के प्रति रौद्ररसावतार हैं, हैयङ्गवीन हरण में भीति विह्वल हैं, निज तेजः दर्शन कर विस्मय निमग्न हैं, दामबन्धन में शान्तिरस सम्पन्न हैं, उन भगवान् वासुदेव की जय हो ॥३७॥

शृङ्गाररस का दृष्टान्त—करयुगल धारण करने से तत्क्षणात् रत्नवलय समूह झन झन कर उठे थे, कटिस्थित वस्त्रग्रन्थि धृत होनेसे मेखला अनल्प शब्द करने लगी । प्रियतमा की बोधशक्ति निज आनन्दातिशय्य से अभिभूत होने से भी तदीय कलेवर मानों घनतृष्णातुर श्रीकृष्ण को निवारण करनेके निमित्त तर्जन करने लगा ॥३८॥

उदाहरणान्तर—श्रीकृष्ण, वसन्तकालीन अनिल के समान राधिका के अङ्ग सेवन करने लगे ।

अमन्दी कुर्वाणं किमपि कलकण्ठध्वनिकलां
सिषेवे राधाङ्गं हरिरथ वसन्तानिलमिव ॥३६॥

चित्तस्य क्षणमात्रनिवृति-कृते तस्या मुखं चित्रितं
सद्यः पद्ममभूत्ततः परमहो पूर्णेन्दुरङ्कोज्झितः ।
आनन्दामृतमण्डलं पुनरभूद्धिङ् मां ततोऽभूद्विषं
तत् पश्चाद् यदभून्न तद्गत सखे मत्संविदो गोचरः ॥४०॥

मुग्धा सुधांशुकिरणे, जालगते भवनदाहचकिताक्षी ।
आदातुमवधिलेखं, प्रविशति भवनं निवार्य्य सहयान्तीः ॥

यथा वेति । हरौ राधाया अङ्गं सिषेवे । यथा 'महाप्रसादोऽसौ सिषेवे' इत्युक्ते महाप्रसादस्य भोजनमेव सेवेति बुध्यते, तथैवात्राप्यङ्गस्य सम्भोग एव सेवेति ज्ञेयम् । अङ्गं कीदृशम् ? वसन्त-कालस्यानिलमिव । साधर्म्यमाह—तत्सम्भोगसमये मृदुस्पन्दनमिति वसन्तकालीनानिलमपि मृदुस्पन्दम्, निवारण लीलया करकिशलयस्योत्कम्पो यत्र । अनिल पक्षे, लीलाकरः कौतुककरः किशलयस्य नवीन-पल्लवस्योत्कम्पो यत्र, उदितमालि व्रजानां सखीसमूहानां सुखं यत्र । पक्षे, अलि व्रजानां भ्रमरसमूहानां कालो मधुरा स्फुटः । नेति नेति कण्ठध्वनिस्तस्य कलां वैदग्धीम् । किमप्यनिर्वचनीयं यथा स्यात्तथा अमन्दी कुर्वाणं सर्वोत्कृष्टं कुर्वाणम्, पक्षे, कलकण्ठः कोकिलः ॥३९॥

अथ माथुरविरहेण अत्यन्तव्याकुलतया राधाया गवाक्ष द्वारा गृहमध्ये प्रविष्टश्चन्द्रकिरणान् दाहकत्वादग्नित्वेन जानत्यास्तस्याश्चेष्टमाह । चन्द्रकिरणस्याग्नित्वेन ज्ञानान्मुग्धा । भ्रमरमुद्दिश्य राधयोक्तम्—(भा० १०।४७।१२) 'मधुप कितव बन्धो" इत्यादि पद्यमुद्धवमुखाच्छ्रुत्वा व्याकुलेन श्रीकृष्णेन

वसन्त समीरण, जिस प्रकार मृदु स्पन्दशील है, राधिका के अङ्ग भी उस प्रकार मृदु स्पन्दनशील हुआ। वसन्तसमीर जिस प्रकार लीलाकर एवं करकिशलय का कम्पजनक है, राधिका का अङ्ग भी उस प्रकार लीलाकृत करकिशलय कम्पन का कारण हुआ।

उक्तविध समीरण जिस प्रकार विकसित कुसुम निकरमें क्रीड़ाविकोश में विवश हुआ। उभय को ही उदितालि व्रजसुख अर्थात् वसन्तानिल के स्पर्श से अलि व्रजमें—सुखोदय होता है, अर्थात् भ्रमर निकर जिस प्रकार सुखी होते हैं, श्रीराधा की अङ्गसेवा को देखकर अलिव्रज अर्थात् सखीसमूह में उस प्रकार सुखोदय हुआ, एवं वसन्तपवन जिस प्रकार कलकण्ठ अर्थात् कोकिल की मधुर ध्वनि का उत्कर्ष कारण होता है, राधिका का सेवित अङ्ग भी उस प्रकार तदीय मधुरा स्फुट कण्ठध्वनि की अपूर्व विदग्धता का कारण हुआ ॥३९॥

चन्द्रकिरण गवाक्ष पथमें प्रविष्ट होनेसे विरहकातरा मुग्धा राधिका उसको अग्निशिखा मानकर उसके द्वारा भवन दाह की शङ्का कर चकित नयनसे इधर-उधर, इतस्ततः दृष्टि निक्षेप करने लगीं। तत्पश्चात् उनको स्मरण हुआ कि—उद्धवके मुखसे तदीय विरहदशा को सुनकर श्रीकृष्ण जो अवधिपत्र प्रेषण किये थे—वह पत्र भवनके मध्यमें रह गया है। सहसा उनके सहित गमनोद्यत सखीगण को निषेध करके स्वयं गृहमध्य में प्रविष्ट हो गईं।

एषु पूर्वौ सम्भोगे, परौ विप्रलम्भे। सर्वत्र रतिः स्थायी, स चोभयनिष्ठः। अन्योन्यमालम्बनम्, उद्दीपनम्—अन्योन्यलावण्यादि, विजनस्थानादि च, अनुभावः—करग्रहणादिः व्यभिचारी—श्रमजड़तादिः। विप्रलम्भे च रतिरेव स्थायी, स च उभयनिष्ठः। विप्रकर्षेऽपि रतेस्तथैव स्वतःसिद्धत्वात्। आलम्बनं पूर्ववत्, उद्दीपनं—विप्रकर्षोऽन्योन्यदुःखानुभव श्चन्द्र-चन्दन-पवनादिश्च; अनुभावः चित्रलेखादिः, व्यभिचारी—विषाददैन्यादिः। उभयोरेव आनन्दधर्मत्वाद्रसत्वम्। आनन्दस्यात्मधर्मत्वादात्मनश्च बहिरिन्द्रियापेक्षितत्वमात्रत्वाभावात् स्फूर्त्तिपर एवानन्दः।

एतेन शृङ्गारो द्विविधः, सम्भोगो विप्रलम्भश्चेति। आद्यः परस्परावलोकनाधरपानचुम्बनःनखदशनक्षतादिप्रभूतप्रभेदोऽपि एक एव गण्यते। अपरस्त्वभिलाष-विरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चधा। लोक एव शापहेतुकः। तेनालौकिकश्चतुर्विधः।

अभिलाषः पूर्वरागस्तस्यावस्थादशास्मृताः॥

अभिलाषश्चिन्तनञ्च स्मृतिश्च गुणकीर्त्तनम्।
उद्वेगश्च प्रलापोऽश्चोन्मादश्च व्याधिरष्टमः।
जड़ता नवमी ज्ञेया मरणं दशमं स्मृतम्॥

तस्याः प्राणरक्षार्थं काचिदवधिपत्री प्रेषितेति ज्ञेयम्। जीवन हेतुभूता सा पत्री गृहमध्ये आसीत्। तस्या आनयनार्थं सा भवनं प्रविशति। सहयान्तीः सखीर्निवार्यत्यनेन पत्र्यानयनार्थं मद्गृहस्य दाहो भवति चेद् भवतु, सखीनां दाहो मास्त्वति तस्या अभिप्रायः।

आद्यः सम्भोगो नखक्षतदन्तक्षताविप्रचुरभेदविशिष्टोऽपि सम्भोगरूपसामान्यधर्मेणैक एव गण्यते। अपरस्त्वित्यत्र पञ्चविधानां मध्ये लोके शापहेतुक-कथनाच्चतुर्थेति शेषः। अत्र तु भेदविवक्षया सम्भोगविप्रलम्भयोः कियन्तः प्रकारा दर्श्यन्ते परन्तु "प्राग्रागतः क्रमात् मान-प्रेमवैचित्र्य दूरतः। प्रायः संक्षिप्त

उदाहरण चतुष्टय के मध्यमें प्रथम दो सम्भोग का उदाहरण हैं, एवं शेष दो विप्रलम्भ का उदाहरण हैं। सर्वत्र रति स्थायी है, वह उभयनिष्ठ है। उभय ही परस्पर आलम्बन, परस्पर के लावण्यादि एवं विजन स्थानादि उद्दीपन हैं। हस्त ग्रहणादि अनुभाव हैं, श्रम-जड़तादि व्यभिचारी हैं। विप्रलम्भमें भी रति स्थायी है, एवं वह उभयनिष्ठ है। कारण—उभयके सान्निध्यमें भी रति उस प्रकार स्वतःसिद्ध भावमें स्थित है। आलम्बन पूर्ववत् है। असान्निध्य परस्पर दुखानुभव, चन्द्र चन्दन पवनादि उद्दीपन, चित्र लेखनादि—अनुभाव हैं। उभय का ही आनन्दधर्मता हेतु रसत्व सिद्ध हुआ है। आनन्द आत्मधर्म है, एवं आत्मा भी बाह्येन्द्रिय की अपेक्षा नहीं रखती है। सुतरां इस स्थलमें आनन्द शब्द स्फूर्त्ति अर्थमें ही व्यवहृत होता है।

इस रीति से सम्भोग एवं विप्रलम्भ भेदसे शृङ्गार द्विविध हैं। उसके मध्यमें प्रथम—परस्पर अवलोकन, अधरपान, चुम्बन, नख-दन्तक्षतादिरूप में अनेक भेदविशिष्ट होने पर भी एक माना जाता है।

विरहन्तु भावी भवन् भूतश्चेति त्रिधा ॥४१-४३॥

ईर्ष्या शब्दोऽत्र मानपरः, स च द्वेधा ।

ईर्ष्या प्रणयसम्भूतो द्वेधा मानः प्रकीर्त्त्यते ।
अन्यासक्ते प्रियतमे ईर्ष्यामानो भवेत् स्त्रियाः ॥४४॥

यदुक्तम् (साहित्यदर्पणे ३।२०३)—

"द्वयोः प्रणयमानः स्यात् प्रमोदे सुमहत्यपि ।
प्रेम्णः कुटिलगामित्वात् कोपो यः कारणं विना ॥"४५॥

तथा च,—"नदीनाञ्च वधूनाञ्च भुजगानाञ्च सर्वदा ।
प्रेम्णामपि गतिर्वक्रा कारणं तत्र नेष्यते ॥"

भूतविरहेण सह प्रवासस्यावान्तरभेदो यथोदाहरणं स्फुटी भविष्यति । तथोभयोरेव सम्भोग विप्रलम्भयोः परस्परावलोकनाधरपानाद्यभिलाषादीनां क्रमेणोदाहरणानि ॥४६॥

सङ्कीर्णसम्पन्नर्धिमतो विदुः ॥" इत्याद्युज्ज्वलनीलमणौ विप्रलम्भसम्भोगयोश्चतुर्भेद उक्ताः पुनः प्रत्येकमष्टधा । एवं विप्रलम्भो द्वात्रिंशत्, सम्भोगश्च द्वात्रिंशत् । समुदायश्चतुःषष्टिः ॥४१-४३॥

स च मानो ईर्ष्या द्वेधा भवति— एक ईर्ष्यासम्भूतः, द्वितीयः प्रणयसम्भूतः ॥४४॥

ननु कान्तस्याप्यपराधो माने कारणम्, प्रणयकालेऽपराधस्य सम्भावनापि नास्ति, कुतो मानप्रवृत्तिः ? तत्राह—द्वयोरिति । द्वयोः कान्ताकान्तयोर्महति प्रमोदेऽपि कारणं विनापि प्रणयमान स्यात् ॥४५॥

प्रेम्णः कुटिलगामित्वे प्राचीनानामुदाहरणमाह— तथा चेति । यथोदाहरणमिति उदाहरणे— इत्यर्थः ॥४६॥

द्वितीय—अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास एवं शाप इन पञ्चकारणों से उत्पन्न होकर पञ्चविध होते हैं । शाप हेतु विप्रलम्भ लोकप्रसिद्ध है, एवं अलौकिक विप्रलम्भ चतुर्विध हैं । अभिलाष शब्दके द्वारा पूर्वराग एवं उसकी दश प्रकार अवस्था सूचित हुई हैं । अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकीर्त्तन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि जड़ता एवं मृत्यु । भावी, भूत एवं वर्त्तमान भेदसे विरह त्रिविध हैं ॥४१-४३॥

यहाँ ईर्ष्या शब्द मान का बोधक है । उक्त मान द्विविध हैं । ईर्ष्या सम्भूत एवं प्रणयसम्भूत । प्रियतम अन्य कान्त में आसक्त होने पर स्त्रीमें ईर्ष्या मान होता है, एवं प्रणयी-प्रणयिनी का सुमहत् प्रमोद विद्यमान होने पर भी प्रेम की कुटिल गति हेतु अकारण ही जो मान उद्भूत होता है, उसको प्रणय मान कहते हैं ॥४४॥

पूर्वाचार्य कहते हैं—प्रणयी एवं प्रणयिनी का सुमहत् प्रमोद विद्यमान होने पर भी प्रेम की कुटिल गति के कारण, अकारण ही जो मान होता है, वह प्रणय-मान है ॥४५॥

पूर्वाचार्यवृन्द कहते हैं—नदीसमूह, वधूवृन्द एवं भुजगसमूह तथा प्रेमकी गति सर्वदा ही वक्र होती है, अतः उस विषय में कारण अनुसन्धान की आवश्यकता नहीं होती है ।

भूत विरह के सहित प्रवास का अवान्तर जो भेद है. उदाहरण स्थल उसका स्पष्टीकरण होगा ।

तत्र परस्परावलोकनं यथा—

एहीति पृष्ठगसखी क्षणकैतवेन, व्यावृत्य यो मयि तथा निहितः कटाक्षः ।
प्रत्यस्त्रवन्मम कटाक्षमवाप्य शान्तोऽप्यन्तर्विभेद स निकृत्तशरार्द्धवन्मे ॥४७॥

अपि च—तस्याः सखीभिरपि वीक्ष्य सुजातमन्तर्भावोदयं कमपि चञ्चललोचनान्तैः ।
धन्यो भवानिति कृता मम सम्मुखीभिरिन्दीवरच्छदमयी मयि पुष्पवृष्टिः ॥४८॥

परस्पराधरपानं यथा—

पा अ अदि पिबदि चास्सं पेयसि ललिदे कहिं सीलि ।
सान्दाणन्दविणिद्दिदराधास्वप्नाइदं जयदि ।
(पाययति पिबति चास्यं प्रेयसि ललिते क्व गतासीति ।
सान्द्रानन्दविनिद्रित, राधा स्वप्नायितं जयति ॥)४९॥

एहीति पृष्ठस्थित-सखीदर्शनमिषेण मयि निहितो यः कटाक्षः, स प्रत्यस्त्रवत् मत्कटाक्षं प्राप्य शान्तोऽपि ममान्तःकरणं विभेदः । तत्र दृष्टान्तमाह—निकृत्तेति । शल्यसहित शरस्य वेधे तथा पीड़ा न जायते, यथा कृत्तच्छिन्नो योऽर्द्धशरस्तस्य वेधे—इत्यर्थः । सांग्रामिकाणामनुभवसिद्धमेव ॥४७॥

कमपि सखायमुद्दिश्य श्रीकृष्णस्योक्तिरियमिति बोध्यम् । यथा तस्याः कटाक्षशरेणाहं विद्धस्तथा मत्कटाक्षशरेणापि विद्धायास्तस्या कमप्यन्तर्भावोदयं वीक्ष्य तस्याः सखीभिरपि धन्यो भवानित्यर्थबोधकैस्तत एव मदाभ्यासनपरैस्तासां चञ्चललोचनान्तैः करणैर्मयि नीलकमलदलमयी पुष्पवृष्टिः कृता ॥४८॥

राधायाः स्वप्नायितं जयति । निद्रावशायामसङ्गतसङ्गतनानार्थबोधकशब्दोच्चारणमेव स्वप्नायितम्, तदेवाह—हे ललिते प्रेयसि ! श्रीकृष्णे स्वीयास्यं मां पाययति सति ममास्यं स्वयं पिबति सति त्वं क्व गतासीति स्वप्नायितम् ॥४९॥

सम्प्रति सम्भोग एवं विप्रलम्भ उभय स्थलमें ही परस्पर अवलोकन अधरपानादि एवं अभिलाष प्रभृति का उदाहरण क्रमशः प्रदर्शित होगा ॥४६॥

परस्पर अवलोकन का चित्रण—पश्चात् वर्त्तिनी सखी को देखनेके छलसे 'आओ' कहकर मुँह फेरकर प्रियतमाने मेरे प्रति जो कटाक्ष निक्षेप किया, वह प्रतिपक्षके अस्त्र के समान वह मेरा कटाक्ष को प्राप्त कर शान्त होने पर भी छिन्नार्द्ध शर के तुल्य मेरा हृदयको विद्ध कर वर्त्तमान है ॥४७॥

भिन्न उदाहरण—मदीय कटाक्ष शर से विद्ध उस प्रियतमा के अन्तःकरण में अनिर्वचनीय भावोदय को निरीक्षण कर मेरे सम्मुखस्थित तदीय सखीमण्डली भी 'आप धन्य हैं' इस प्रकार अभिप्राय को सूचित कर लोचनप्रान्त के द्वारा मेरे ऊपर नीलोत्पल पत्रमयी पुष्पवृष्टि करने लगीं ॥४८॥

परस्पर अधरपान का दृष्टान्त—सान्द्रानन्दाधिक्य से जिसका भङ्ग होता है, राधिका का उस स्वप्न विशेष की जय हो; जिस स्वप्नावस्थामें कहती रहती है—अयि ललिते ! प्रियतम मुझको स्वीय मुखचन्द्र पान करा रहे हैं । स्वयं भी मेरा मुखबिम्ब पान कर रहे हैं । इस समय तुम कहाँ हो ? निद्रा वशामें असङ्गतसङ्गत नानार्थबोधक शब्दोच्चारण ही स्वप्नायित है । उक्त कथन ही इस प्रकार स्वप्नायित है ॥४९॥

यथा वा—अर्द्धाकुड्मलितानिमेष-नयनं निष्पन्दतारं क्रिय
द्दीर्घश्वासमलक्ष्यकण्ठनिनदं सानन्दतन्द्रायिता ।
कृष्णे पाययति स्वकीयमधरं प्रागेव पीताधरे
किञ्चित्त्वं ललिते पिबेति किमपि स्वप्नायते राधिका ॥५०॥

परस्परचुम्बनं यथा—अङ्काङ्किस्खलनं कराकरि मनःसंवाद-संवेदनं
कर्णाकर्णि वृथा कथासु युगपच्चुम्बाः शतं गण्डयोः ।
स्कन्धास्कन्धि भुजौ मुखामुखि मुहुर्माध्वीक पानक्रमो
राधामाधवयोर्मधौ मधुमदक्रीड़ा जरीजृम्भ्यते ॥५१॥

परस्परनखक्षतादि यथा—
जाताङ्कुराणि किममून्यनुरागवीजान्युप्तानि नूनमुरसोरुभयोरुभाभ्याम् ।
आर्द्राणि कोमलतराण्यरुणानि भुग्ना, व्याभान्ति पश्य ललिते नखलक्ष्मणानि ॥५२॥

अर्द्धेति । प्राक् प्रथमं पीतो मदीयाधरो येन तथाभूते श्रीकृष्णे स्वकीयाधरं मां पाययति सति । हे ललिते ! त्वमपि किञ्चित् पिबेति किमपि स्वप्नायते राधिका । 'स्वप्नायते' इत्यत्र क्रियाविशेषणान्याह—नेत्रार्द्धं व्याप्य कुट्मलिते ईषन्मुद्रिते, एवं निमेषरहिते नयने यत्र तद्यथा स्यात् । कियन्तो दीर्घाः श्वासा यत्र, अलक्ष्योऽस्पष्टः कण्ठनिनदो यत्र ॥५०॥

मधौ वसन्ते राधामाधवयोर्वसन्तकालीनमदेन जाता या क्रीड़ा सा जरीजृम्भ्यते, अतिशयेन प्रकाशते । क्रीड़ामेवाह—तयोः स्खलनम्, अङ्काङ्कि अङ्केन अङ्केन निवृत्तम् ।

तथा च मधुमदेन राधिकाया अङ्के श्रीकृष्णः पतति, श्रीकृष्णस्याङ्के राधा पततीत्यर्थः । मनसः संवादोऽभिप्रायस्तस्य संवेदनं ज्ञानम् । कराकरि कराभ्यां कराभ्यां निवृत्तम्, तथा च श्रीकृष्णस्य हस्तौद्धत्यादेव तस्य मनोऽभिप्रायो राधिकया ज्ञातः, एवं राधाया अपीति ज्ञेयम् । कर्णाभ्यां कर्णाभ्यां निवृत्तासु वृथाकथासु सतीषु परस्परगण्डयोः शतसंख्यकं चुम्बनम् । भुजौ स्कन्धास्कन्धि, तथा च तयोर्भुजौ परस्परस्कन्धे निक्षिप्तावित्यर्थः । मधुपानोपक्रमः, मुखामुखि मुखेन मुखेन निवृत्तम् ॥५१॥

अपर उदाहरण—प्रथमतः श्रीकृष्ण, राधिका का अधर पान करके स्वकीय अधर पान उनको कराना आरम्भ करने पर उनको आनन्दतन्द्रा का आवेश हुआ । नेत्रार्द्धभाग ईषत् मुकुलित हुआ, नयन निमेष रहित हुआ, तारका निष्पन्द हो गई । कतिपय दीर्घश्वास निःसृत हुआ, कण्ठस्वर भी अव्यक्त हुआ । इस अवस्थामें स्वप्नदर्शन कर आप बोल उठीं—अयि ललिते ! तुम भी किञ्चित् पान करो ॥५०॥

परस्पर चुम्बन का उदाहरण—वसन्त समयमें राधा-माधव की मधुमद हेतु क्रीड़ा परम उत्कर्ष मण्डित हुई । उस समय परस्पर के क्रीड़ामें परस्पर स्खलित होने लगे, परस्परके करस्पर्श से परस्पर का मनोभाव ज्ञात होने लगा, कर्णाकर्णिरूप से अप्रयोजनीय कथा के आलाप में भी गण्डदेशमें एक समयमें शत संख्यक चुम्बन चलने लगे, परस्पर के भुजयुगल परस्पर के स्कन्ध देशमें निक्षिप्त होने लगे, उभयके मुखमें उभयके माध्वीक प्रदान पूर्वक पान कार्य आरम्भ हुआ ॥५१॥

परस्परदशनक्षतं यथा—

माध्वीकाचमनोत्सवे कुतुकिनोरन्योन्यदन्तच्छदा
वन्योन्येन कृतोपदंशरचनौ श्रीराधिका-कृष्णयोः।
क्षुण्णौ च द्विजकुट्मलैरभवतामक्षुण्णलक्ष्मीभरौ
पीतौ चारुणितौ बभूवतुरहो प्रेम्णो विचित्रा गतिः ॥५३॥

नीवीमोक्षो यथा— निर्यातायां त्वयि विरमितो मालया रत्नदीपः,
कृष्णे चोलं क्षपयति मया स्वस्तिकः सन्निबद्धः।
नीवीग्रन्थिं हरति सहसा संहतोरूपविष्टं
बुध्यैवाहं सखि समधिका वल्लभस्ते बलेन ॥५४॥

तयोः परस्परं नखक्षतानि परस्परानुरागरूपवीजस्याङ्कुरत्वेनोत्प्रेक्ष्यन्ते। जाताङ्कुरेति—आर्द्राणि स्निग्धानि, भुग्नानि किञ्चिद्वक्रीभूतानि वल्लीनामङ्कुराण्यपि उत्पत्तिकाले भुग्नानीति ज्ञेयम् ॥५२॥

माध्वीकेति। वृक्षकोटरेभ्यो निःसृतात्यन्तमादको रसो माध्वीकस्तस्य पानोत्सवे कुतुकिनो राधा-कृष्णयोरन्योन्यौष्ठाधरौ। कथम्भूतौ ? अन्योन्येन कृता मधुपानस्योपदंशरचना यत्र तथाभूतौ। मत्तजनैर्मादकवस्तुपानानन्तरं किमपि भृष्टवस्तु भुज्यते, तस्यैव संज्ञा उपदंशः, लोके 'नकुल' इति तस्य प्रसिद्धिः। आस्यान्तु परस्पराधरपानमेवोपदंशत्वेन रचितम्। द्विजरूपकुट्मलैः क्षुण्णावभवताम्, तथापि तावोष्ठाधरौ, अहो आश्चर्यम्, अक्षुण्णशोभाभरौ बभूवतुः। एवमुभाभ्यां पीतावपि परस्पराधरौ अरुणित बभूवतुः ॥५३॥

हे सखि ! त्वयि कुञ्जगृहान्निर्यातायां सत्यामेकाकिन्या मया स्वरक्षकान्धकार-निर्माणार्थं रत्नप्रदीपो मालया विरमित आच्छन्नीकृतः, तदपि बलात्कारेण मम कञ्चुलीं श्रीकृष्णे क्षपयति सति कुचद्वयाच्छादनार्थं हस्ताभ्यां मया स्वस्तिकः सम्यङ्निबद्धः, नीविग्रन्थिं हरति सति संहतोरु यथास्यात्तथा मयोपविष्टमुरुद्वयं मिलितीकृत्योपवेशनेनैव परिधेयवस्त्रकार्यमपि कृतमित्यर्थः। अतएव ते तव वल्लभः प्रियः श्रीकृष्णो

परस्पर नखक्षत का दृष्टान्त—अयि ललिते ! देखो, यह आर्द्र, सुकोमल, सुलोहित, वक्राकार नखचिह्न समूह कैसे सुन्दर शोभित हैं। प्रतीत होता है—उभय ही उभय के वक्षस्थलमें जो अनुरागवीज वपन किये हैं, अधुना वह अङ्कुरित हुआ। परस्पर के नखक्षत समूह की उत्प्रेक्षा परस्परानुरागरूप वीजका अङ्कुररूप में की गई ॥५२॥

परस्पर दन्तक्षत का दृष्टान्त—मधुपानरूप महोत्सवमें कौतूहलशाली श्रीराधा कृष्ण के अधरोष्ठ परस्पर के द्वारा मधुपान के उपदंश (नकुल अर्थात् चाट) वस्तुरूपमें विहित हुये। तब उक्त अधरोष्ठ परस्पर कर्त्तृक दन्तमुकुल द्वारा सन्दष्ट होने पर भी उसका शोभातिशय अक्षुण्ण रहा एवं परस्पर के द्वारा पीत होने पर भी अरुणितरूप में प्रकाशित हुये थे। अहो ! प्रेमकी गति कैसा विचित्र है ॥५३॥

नीवी मोक्ष का उदाहरण—कुञ्जगृह से तुम चले जानेसे मैंने माला से रत्नदीप को आवृत किया। श्रीकृष्ण, कञ्चुली ग्रहण में प्रवृत्त होने पर वक्षोजद्वय आच्छादनार्थ मैंने हस्तके द्वारा स्वस्तिक रचना की, नीवी बन्धन मोचन हेतु उद्यत होने पर ऊरुद्वय को संहत करके मैंने उपवेशन किया। हे सखि ! मैं बुद्धि में अधिक हूँ, किन्तु बलमें अधिक तुम्हारा प्रिय है ॥५४॥

आदिशब्दात् वनविहार-जलविहार-मधुपानसङ्गीतादि ।

तत्र वनविहारो यथा—अर्घ्यं कुट्मलकैर्मरन्दपटलैः पाद्यं परागैर्मधु-

स्यन्दार्द्रैरनुलेपनं किसलयैः पुष्पैश्च भूषा फलैः ।

नैवेद्यं पवनाहतैरवयवैर्नृत्यं मदालिस्वनै-

र्गीतं कल्पयता हरिर्वनगतो वल्लीचयेनार्चितः ॥५५॥

अपि च—एकेनानिलचपलेन पत्रहस्ते, नारोत्सीत् स्तवकपयोधरं परेण ।

आक्षेपं न न न नेति चञ्चलालि, भ्रूभङ्ग्या व्यधितहरिं विलोक्य वल्ली ॥५६॥

सन्त्रासं किसलयपाणिकम्पनेन, प्रोत्साहं कुसुममयेन सुस्मितेन ।

रोषञ्च भ्रमरघटाकटाक्षपातैः, सासन्ने मुरभिदि वीरुधोऽभ्यनैषुः ॥५७॥

सीमन्तोपरि बन्धुजीवकुसुमं सिन्दूरबिन्दूकृतं

चित्रैर्नव्यदलैर्व्यधायि मकरी गण्डे नखाग्रक्षतैः ।

बलेन अधिकः, न तु बुद्धया, बलेनाधिक इति पदेन बलस्याग्रे बुद्धिप्रभावो न तिष्ठतीति यद् भवितव्यं तद्भूतमिति ध्वनिः ॥५४॥

एतैः करणैः पाद्यादिकं कल्पयता लतासमूहेन श्रीकृष्णोऽर्चितः । एतदेवाह—कुट्मलकैः पुष्पस्तवकैः, मधुक्षरणेनार्द्रैः परागैः पुष्परजोभिरनुलेपनम् ॥५५॥

वल्लीरूपा नायिका सम्भोगोन्मुखं नायकमिव हरिं चञ्चलभ्रमरस्वरूपया प्रणयकोपव्यञ्जकभ्रूभङ्ग्या विलोक्य स्तवकरूपं स्तनमरोत्सीत् रुद्धमकरोत् ॥५६॥

अधुना वल्लीरूपनायिकायाः श्रीकृष्णदर्शनेन जातमनेकेषां व्यभिचारिणां भावशावल्यमाह—सन्त्रासमिति । श्रीकृष्णे आसन्ने सति वीरुधो वल्ल्यो वाक्य व्यञ्जकं सन्त्रासं पल्लवरूपपाणिकम्पेनाभ्यानैषुः, सन्त्रासाभिनयं चक्रुरित्यर्थः । एवं पुष्परूपस्मितेनाभिलाषव्यञ्जकमुत्साहमभ्यनैषुः ॥५७॥

पहले (४७) 'परस्परावलोकनाधरपानाद्यभिलाषादीनां क्रमेणोदाहरणानि' कहा गया है—उसमें जो आदि शब्द प्रयोग हुआ है, उससे वनविहार-जलविहार-मधुपान एवं सङ्गीतादि को भी जानना होगा । उसमें से वनविहार का उदाहरण यह है—

वल्लीवृन्द—मुकुल के द्वारा अर्घ्य, मकरन्द द्वारा पाद्य, मधुधारा सिक्त पराग द्वारा अनुलेपन, पुष्प एवं पल्लवद्वारा भूषण, फल के द्वारा नैवेद्य, पवनाहत अवयव के द्वारा नृत्य, मदमत्त भ्रमर ध्वनिके द्वारा सङ्गीत कल्पना पूर्वक वनमध्यगत श्रीकृष्ण की अर्चना करती हैं ॥५५॥

उदाहरणान्तर—किसी एक नायिकाने पवनान्दोलित एक पल्लवरूप हस्त के द्वारा स्तवकरूप पयोधर को निरोध किया, एवं सुचञ्चल भ्रमरावलीरूप भ्रूभङ्गिके द्वारा श्रीहरि को देखकर अपर हस्तके द्वारा ना-ना-ना-ना-ना इस प्रकार अभिनय भङ्गिके सहित तदीय आलिङ्गनादि का प्रतिरोध किया ॥५६॥

मधुसूदन, समीपवर्त्ती होने पर लतामण्डली—पल्लवरूप पाणि कम्पनके द्वारा सन्त्रास, कुसुमरूप हास्य द्वारा उत्साह एवं भ्रमरपङ्क्तिरूप कटाक्षपात द्वारा रोष प्रकाश किये ॥५७॥

चक्रे कञ्चुलिका पयोधरभरे नानाप्रसूनच्छदैः
कृष्णेन प्रणयातिरेकरभसस्तस्यामभिव्यञ्जितः ॥५८॥

जलविहारो यथा— कृष्णे कर्षति कोकयुग्मकमियं दोर्भ्यां व्यधात् स्वस्तिकं
कण्ठे चारुमृणालमर्पयति सा बाहू दधे कुञ्चितौ ।
पद्मं जिघ्रति पाणिनास्यमवृणोदित्थं जले खेलतो
रस्पर्शा सुरतिस्तयोः प्रियसखीवृन्दस्य रस्या भवत् ॥५९॥

मधुपानं यथा— 'आलि प्रेयान् हरिरति शठः' 'कृष्ण मे संप्रसीद'
'श्यामे स त्वामभिसरति किं' 'नाथ दासी तवास्मि' ।
इत्यन्योन्यप्रकृतिविकृती भावतोऽनन्वितोक्ती
राधाकृष्णौ मधुमदमुदा मोहितौ वः पुनीताम् ॥६०॥

कृष्णेन तस्यां राधायां तैः करणैः प्रणयातिशयवेगोऽभिव्यञ्जितः । प्रणयातिशयव्यञ्जकं पुष्पमण्डनमाह—सीमन्तेति । सिन्दूरबिन्दुस्थानीकृत नखाग्रक्षतैश्छिन्नैर्नानावर्णदलैर्मकरीमकर्षाकारं चित्रं गण्डे व्यधायि । नानापुष्पदलैः स्थूलपयोधरे कञ्चुलिका चक्रे ॥५८॥

अथ जलक्रीडायां राधाकृष्णयोः स्पर्शं विनैव दूरे तिष्ठतो स्तयोः क्रीडामाह—कृष्णे इति । स्तनस्पर्शकाङ्क्षाया चक्रवाकयुग्मं श्रीकृष्णे आकर्षति सतीयं राधा तत्रासम्मतिव्यञ्जकस्तनाच्छादकं स्वस्तिकं दोर्भ्यां व्यधात्, तथा च बाहुभ्यां कुचयोराच्छादनं चकारेत्यर्थः । राधिकाया हस्ताभ्यां स्वकण्ठस्यालिङ्गनाकाङ्क्षया श्रीकृष्णे स्वकण्ठे चारुमृणालमर्पयति सति साऽपि तत्रासम्मतिव्यञ्जको कुञ्चितौ बाहू दधार । अस्पर्शास्पर्शरहिता शोभना रतिः सखीसमूहस्य रस्या आस्वादनीया अभवत् ॥५९॥

मधुपानजन्यानन्देन मोहितो राधाकृष्णौ वो युष्मान् पुनीताम् । कथम्भूतौ तौ ? परस्परं प्रकृतिविकृतिभावतः स्वभाववैपरीत्येनानन्विता असङ्गतोक्तिर्ययोस्तथाभूतौ । तयोरसङ्गतोक्तिमेवाह—राधाकृष्णं

सीमन्त के उपरिभाग में बन्धुक पुष्प सिन्दूर बिन्दुरूपमें कल्पित हुआ । नखाग्राच्छन्न विचित्र किसलय के द्वारा गण्डस्थलमें मकरावली रचित हुई थी । विविध पुष्प पुष्पपल्लव द्वारा विपुल पयोधर युगलमें कञ्चुलिका विहित हुई थी । फलतः श्रीकृष्ण, राधिकाके प्रति स्वकीय असीम प्रणयवेग को इस रूपमें अभिव्यक्त किये थे ॥५८॥

जलविहार का वर्णन करते हैं—श्रीकृष्ण, चक्रवाकयुगल को आकर्षण करनेमें प्रवृत्त होने पर राधिकाने करद्वय के द्वारा स्वस्तिक की रचना की, श्रीकृष्ण, कण्ठमें सुकोमल मृणाल निक्षेप करने से राधिका स्वकीय भुजयुगल को, कुञ्चित किये, श्रीकृष्ण करपल्लव द्वारा पद्म का आघ्राण लेने लगे तो, राधिका निज मुखमण्डल को आवृत किये । फलतः उन दोनों की स्पर्शविशून्य इस प्रकार सुरत क्रीड़ा प्रियसखीवृन्द के पक्षमें अतिशय रमणीय प्रतीति हुई थी ॥५९॥

मधुपान का निदर्शन प्रस्तुत करते हैं—श्रीराधिका एवं श्रीकृष्ण उभय ही मधुपानजनित प्रमोदसे विमोहित हुये हैं, एवं स्वभावके विपर्यय होनेके कारण विविध असङ्गत उक्ति करते रहते हैं । श्रीराधिका

यथा वा—हा कष्टं द्यौः पपतति कथं हन्त घुघूर्णते भू
रालम्बे त्वां ध-ध-ध-पतिता कम्पते गात्रयष्टिः ।
इत्थं त्रासादधिक-ह्लसितरक्षरैर्व्याहरन्तौ
धृत्वान्योन्यं मधुमदजितौ नौमि संधामुकुन्दौ ॥६१॥

अथ विप्रलम्भः—स्वप्नाद् वा श्रवणाद्वापि चित्रादिवा विलोकनाद् ।
साक्षादाकस्मिकाद्वापि दर्शनाद्दुर्लभे जने ॥
प्राक्तनो रतिरुद्भूता संप्राप्तेः पूर्वमेव सा ।
पाकद्वयान्तरे पूर्वरागतां प्रतिपद्यते ।

पाकद्वयान्तर इति भावः, पूर्वरागश्चेति पाकद्वयम्, तदन्तरे—तन्मध्ये ॥६२-६३॥

राधिकां मत्वाह—हे आलि ! राधे ! हरिरतिशठः । श्रीकृष्णोऽपि राधां श्रीकृष्णं मत्वाह—हे कृष्ण ! मे मह्यं संप्रसीद । पुनः श्रीराधाह—हे श्यामे राधिके !' स हरिस्त्वां किमभिसरति ? पुनः श्रीकृष्ण—हे नाथ ! अहं तव दासी भवामि ॥६०॥

मधुपानजन्यमदेन कर्त्रा जितौ । कथम्भूतौ ? त्रासात् कुत्रचिद्वाक्ये अधिकाक्षरैः कुत्रचित् ह्लसिताक्षरैः करणैरन्योन्यं धृत्वा व्याहरन्तौ । धरणीपतितेति वक्तव्ये ध-धेत्यधिकाक्षरम्, रेफनीकारौ नस्तः, अतो ह्लसिताक्षरम् ॥६१॥

श्रीकृष्णस्य प्राप्तेः पूर्वमेव दुर्लभे श्रीकृष्णे प्राक्तनी, अवतारात् पूर्वमेव स्वभावसिद्धा, किन्तु एतैः करणैरुद्भूता या रतिः, सा पूर्वरागतां प्रतिपद्यते । भावपूर्वरागरूपपाकस्यान्तरे मध्ये, अर्थाद्द्वयमपि व्याप्येत्यर्थः ॥६२-६३॥

श्रीकृष्णको राधा मानकर कही थी—'अयि सखि ! प्रियतम श्रीकृष्ण अतिशय शठ है ।' श्रीकृष्ण भी राधा को कृष्ण मानकर कहने लगे—हे कृष्ण ! मेरे प्रति प्रसन्न होओ ।' पुनर्वार राधा, कृष्णको राधा मानकर कहने लगीं—'अयि श्यामे राधिके ! क्या श्रीकृष्ण क्या तुम्हें अभिसार करा रहे हैं ?' श्रीकृष्ण कहने लगे—'हे नाथ ! मैं तुम्हारी दासी हूँ ।' उभय के इस प्रकार पवित्र विमुग्धभाव तुम सबको पवित्र करे ॥६०॥

उदाहरणान्तर यह है—श्रीराधा एवं मुकुन्द मधुपान हेतु मत्तताके कारण उभय उभयको धारणकर कहते रहते हैं—'हा कष्ट ! आकाश क्या गिर रहा है ? पृथिवी क्या घू-घूमती रहती है ? मैं कम्पित शरीर से ध-ध-धरणी में गिर गया हूँ । मैं तुमको अवलम्बन कर रहा हूँ ।'

मत्तता हेतु मिथ्या त्रास के कारण—कभी तो अधिकाक्षर से कभी तो अल्पाक्षर से इस प्रकार कथोपकथनकारी हरि एवं हरिप्रिया को मैं प्रणाम करता हूँ ॥६१॥

अनन्तर विप्रलम्भ का वर्णन करते हैं—स्वप्न वा श्रवण किंवा चित्रादि विलोकन अथवा आकस्मिक साक्षाद् दर्शन हेतु दुर्लभ मजन के प्रति जो जन्मान्तरीण रति का उद्भव होता है, संप्राप्ति के पूर्वमें एवं भाव तथा पूर्वराग नामक पाकद्वय के मध्यदशामें उक्त रति पूर्वराग नामसे अभिहित होता है ॥६२-६३॥

तत्र स्वप्नद्वारा यथा—

इन्दीवरादपि सुकोमलमिन्द्रनीला,-दप्युज्ज्वलं जलधरादपि मेदुरं तत् ।
स्वप्नः स किं सखि महो यदहो ममेव,-मद्यापि नो नयनयोः पदवीं जहाति ॥६४॥

श्रवणद्वारा यथा— तमालनीलं किमपि त्वदुक्ताद्, बिम्बोष्ठि कृष्णेति पदादुदीर्णम् ।
अन्तः प्रविश्य श्रुतिवर्त्मना मे, न वेद्मि तद्धाम किमातनोति ॥६५॥

चित्रदर्शनद्वारा यथा—

व्रजभुवि किमलोकि सञ्चरन्त्या, यदिह विलिख्य पटे ममोपनीतम् ।
कुतुकिनि कुतुकेन ते, समस्तं, सम गतमेव हि जाति-जीवनञ्च ॥६६॥

साक्षाद्दर्शनद्वारा यथा वा—

नो वा दृष्टचरी न वा श्रुतचरी नामापि न ज्ञायते
यस्याः काचन सा व्यलोकि विपिने मेघद्युतिर्देवता ।

अथ स्वप्ने श्रीकृष्णस्य दर्शनं प्राप्य तद्दर्शनस्यातिचमत्कारित्वेन साक्षाद्दर्शनमेव जानती श्रीराधा सखीं प्रत्याह—हे सखि ! स किं स्वप्नः ? अपि तु स्वप्नो न भवति, किन्तु साक्षाद्दर्शनमेव । यद् यस्मादिदं महस्तेजःस्वरूपं तद्वस्तु अधुनापि नेत्रपदवीं न त्यजति । तन्महः कीदृशम् ? इन्दीवरादित्यादि, मेदुरं स्निग्धम् ॥६४॥

हे बिम्बोष्ठि ! त्वदुक्तात् कृष्णेति पदादुदीर्णमुद्गतं तमालनीलं किमपि धामतेजःस्वरूपं ममान्तःकरणं प्रविश्य किमपि क्षोभादिकमातनोति, तन्न वेद्मि ॥६५॥

हे कुतुकिनि ! व्रजभुवि सञ्चरन्त्या त्वया किमद्भुतमालोकि, यद्भूतं वस्तु इह चित्रपटे विलिख्य ममाग्रे उपनीयताम् । तव कुतुकेनैव मम जाति जीवनञ्च समस्तं गतम् ॥६६॥

यस्य श्यामलदेवतायाः कटाक्षोर्मयो मम सौहित्यं सुखं कुर्वन्ति, इति हेतोः किमानन्दद्रवर्वर्षिणः,

---

तन्मध्ये स्वप्नमें दर्शन का दृष्टान्त—इन्दीवर से भी सुकोमल, इन्द्रनीलमणि से भी समुज्ज्वल, अम्बुधर से भी स्निग्धतर वह ज्योतिःपुञ्ज क्या कभी स्वप्न हो सकता है ? ना सखि ! वह कभी भी स्वप्न सम्भावित नहीं है । देखो, अभी भी वह ज्योतिः मदीय नयनपथको परित्याग नहीं करती है ॥६४॥

श्रवण द्वारा पूर्वराग का उदाहरण—अयि बिम्बाधरे ! तुमने जो श्रीकृष्ण नामका उच्चारण किया, उस नामसे ही उदित तमालनीलवर्ण अपूर्व ज्योतिः श्रवणपथ से मेरा अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर कैसे एक अनिर्वचनीय भावको विस्तार कर रही है, मैं उसको किसी भी प्रकारसे समझने में असमर्थ हूँ ॥६५॥

चित्रदर्शन द्वारा पूर्वराग—हे कौतुकशीले ! अद्भुत वस्तुको चित्रित करके तुमने जो मेरे समीपमें उपस्थित किया है, इसका दर्शन तुमने क्या व्रजपुरी में परिभ्रमण करते करते किया ? तुम्हारे कौतुकसे मेरे जाति-जीवन प्रभृति चले गये ॥६६॥

साक्षात् दर्शन का दृष्टान्त—जिसका दर्शन कभी भी नहीं किया, जिसका नाम भी पर्यन्त नहीं सुना,

आनन्दद्रववर्षिणः किमथवा हालाहलोल्लसिनः
सौहित्यञ्च रुजञ्च नो विदधते यस्याः कटाक्षोर्म्मयः ॥६७॥

अथास्य दशदशाः, तत्राभिलाषो यथा—

सा किं निशा सखि भविष्यति सर्वदा मे, स्वापः किं सुमुखि तत्र सदैव भूयात् ।
कश्चित्तमालदलनीलतमः स यस्मिन्नालोकि लोकरमणो रमणीयमूर्त्तिः ॥६८॥

अथ चिन्तनम्—आसंगो सिविणगओ, मम्मप् फंसी महं-कखु अणुराओ ।
पिअपरिअणो ण चउरो, जीअण तुह णत्थि जीअणोवाओ ॥६९॥

स्मृतिः (६४ श्लोकः उदाहरणम्) 'इन्दीवरादपि' इत्यादि ।

गुणकीर्त्तनम्—श्यामश्याममयातयाममधुरं तल्लोचनानन्दनं
कस्तूरीघनसारकुङ्कुमरसामोदी स गात्रानिलः ।
आलापः स सुधाम्बुधेरपि तिरस्कारी बभूवाधुना
सम्मोहाय विनोदनाय मनसः क्षोभाय लोभाय च ॥७०॥

अथवा मम रुजं पीडां कुर्वन्तीति हालाहलोल्लसिनः ॥६७॥

अद्य निशायां किं सर्वं स स्वप्नो भूयात्, यस्मिन् स्वप्ने स नीलतमो मया आलोकि ॥६८॥

"आसङ्गः स्वप्नगतो, मर्मस्पर्शो महान् खल्वनुरागः ।

प्रियपरिजनो न चतुरो, जीवन तव नास्ति जीवनोपायः ॥" स्वाप्निकवस्तुनः शीघ्रं विस्मरणं भवति, अत आह—मर्मस्पर्शो, विस्मर्त्तुं न शक्तास्मीत्यर्थः । कुलाङ्गनायास्तत्राभिलाष एवानुचितः ? तत्राह—महाननुरागः परिजनस्य चातुर्य्यं चेत्तदा तेन सह सङ्गसम्भावितया जीवनं रक्षितुं समर्थास्मीत्यपि नास्तीत्याह—प्रियपरिजन इत्यादि ॥६९॥

तद्वपुःकान्तिविशेषः । ननु मधुरवस्त्वपि पुनः पुनरास्वादनेन गतरसं भवति ? तत्राह—अयातयाम मधुरम् । 'यातयामो गतरस' इत्यमरः । घनसारश्चन्दनम् । एतेषामामोद इव यस्यामोदस्तद्विशेषः ।

आज विपिन में नीरदकान्तिदेवता का दर्शन मैंने किया । उसकी आनन्दामृत वर्षणकारिणी अथवा हालाहलोद्गीरणकारिणी कटाक्षलहरी अद्यापि एक ही समयमें मुझको तृप्ति एवं पीड़ा प्रदान कर रही है । ६७॥

विप्रलम्भमें जो दशदशा होती हैं, उसके मध्यमें प्रथमतः अभिलाष का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—हे सखि ! उस शुभ रजनी क्या सर्वदा उपस्थित होगी, और उस रजनीमें क्या उस स्वप्न सर्वदा सङ्घटित होगा ? जिस स्वप्नमें सर्वजनरञ्जन तमालश्यामल रमणीयमूर्त्ति मेरे नयन पथका अतिथि हुई थी ॥६८॥

स्वप्नमें दृष्ट वस्तु की विस्मृति आशु होती है । किन्तु यह वस्तु ऐसी अपूर्व है कि—दर्शनके समयसे ही मर्मस्थल को स्पर्श कर विद्यमान है । एवं उसमें महान् अनुराग भी उत्पन्न हुआ है । प्रियपरिजनवृन्द भी इस प्रकार निपुण मतिसम्पन्न नहीं है, उन सबकी सहायता से सम्मिलन हो सके । इस प्रकार परिस्थिति में—हे जीवन ! मैं तो किसी प्रकार से ही तुम्हारे जीवनोपाय को नहीं देख रही हूँ ॥६९॥

अथोद्वेगः—नो विद्मः किमु गौरवं गुरुकुले कौलिन्यरक्षाविधौ
न श्रद्धा किमु दुर्जनोक्तिगरलज्वालासु किं नो भयम्।
उद्वेगादनवस्थितं मम मनः कस्यापि मेघत्विषो
यूनः श्रोत्रगतैर्घुणैरिव गुणैरन्तः कृतं जर्जरम् ॥७१॥

पूर्वरागः कृष्णस्यापि स्यात्, इत्यतः परं तथैव दर्श्यते। तत्र प्रलापः—

उदयति शशी श्रीराधाया न तन्मुखमण्डलं
स्खलति तिमिरं प्राणेश्वर्या न नीलनिचोलकः।
हसति हरितां चक्रं तस्या न नाम सखीगणो
भ्रमति भुवने ज्योत्स्नैवास्या न देहरुचिच्छटा ॥७२॥

अधुना तत्तत् सर्वमेव मनसः सम्मोहाद्यर्थमेव बभूव ॥७०॥

'नो विद्मः' इत्यादौ शिरश्चालने नञ्। गुरुकुलस्य किं गौरवं न विद्मः? अपि तु जानीम एव। एवं कौलिन्यरक्षायामपि श्रद्धा अस्त्येव।' किं कर्त्तव्यमुद्वेगान्मम मनोऽनवस्थितं जातम्। अतस्तत्करणे प्रतिबन्धकं भवतीत्यर्थः। तस्मात् कस्यापि यूनो गुणैर्ममान्तःकरणं जर्जरं कृतम्। घुणैरिवेति घुणाः कीटविशेष, काष्ठं जर्जरं कुर्वन्ति ॥७१॥

तदानीमेवोदितं चन्द्रं राधिकामुखं मत्वा हर्षो जातः, पश्चात्तस्मिन् वैमुख्यं दृष्ट्वा कृष्णः सखेदमाह— उदयतीति। अयं राधामुखमण्डलं न भवति, किन्तु शशी चन्द्रः, यतोऽधुनैवोदयति। तन्मुखमण्डलन्तु सदा प्रकाशमानमेव। एवमन्धकारं राधिकायां नीलवस्त्रं मत्वाह— इदं प्राणेश्वर्या नीलवस्त्रं न भवति, किन्तु तिमिरम्। यतश्चन्द्रोदयात् हसति। इदन्तु न तस्याः सखीवः, अपितु हरितां दिशां चक्रम्।

गुण कीर्त्तन का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। वह जो नयनानन्द वितरणनूतन सुमधुर श्याम कान्ति एवं कस्तूरी, घनसार एवं कुङ्कुम के सौगन्धवाही, वह जो तदीय अङ्गस्पर्शि पवन का पवित्र सौरभ, सुधासमुद्र का भी गर्वहारी वह जो मधुरालाप, सभी सम्प्रति मदीय अन्तःकरण का सम्मोहन, विनोद एवं क्षोभ तथा लोभ के हेतु हुये हैं ॥७०॥

गुरुकुलमें कौलिन्य रक्षा हेतु जो कितना गौरव है, उसको क्या नहीं जानती हूँ? उक्त गौरवरक्षा में क्या मेरी श्रद्धा नहीं है? एवं दुर्जन की कटूक्ति को क्या भय नहीं करती हूँ? किन्तु क्या करूँ? उद्वेगहेतु मेरा चित्त अस्थिर हो गया है, एवं उन नीरदकान्ति नवीन युवकके गुणसमूह, घूण के समान श्रवणविवरमें प्रवेश कर अन्तःकरण को जर्जरित कर रहे हैं ॥७१॥

श्रीकृष्णमें भी पूर्वरागोत्पत्ति होती है। अतः उस प्रकार वर्णन करते हैं। उसके मध्यमें प्रथम प्रलापका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

यह जो शशधर उदित हो रहा है, यह तो श्रीराधा का मुखमण्डल नहीं है, शशि का उदयसे ये तमोसमूह स्खलित हो रहे हैं। यह तो प्राणेश्वरी का नील वसन नहीं है। ये जो हास्यमें प्रवृत्त हैं, ये सब दिङ्मण्डल हैं। सखीमण्डली तो नहीं है। और जो चतुर्दिकमें प्रसृत है, यह तो चन्द्रकी ही ज्योत्स्ना है, प्रेयसी की देहकान्तिच्छटा तो नहीं है ॥७२॥

उन्मादः,—हे वासन्ति विलोकिताद्य सुमुखी राधा त्वयाऽस्मिन् वने
वाताङ्कोलितपल्लवैः करतलैर्नानेति किं भाषसे ?
यातानेन पथैव सा परिमलैस्तस्या यदन्धीकृता
स्तवत् पुष्पेषु पतन्त्यहो न मधुपा भ्राम्यन्ति सर्वा दिशः ॥७३॥

अथ व्याधिः—

नो कथ्यते किमु कथाविषयो यदि स्यात्, नो गोप्यते किमु भवेद् यदि गोपनीयः ।
आपच्यमान इव हृद्व्रण एष भावः, कृष्णस्य कामपि दशां भजते न विद्मः ॥७४॥

जड़ता—त्वां स्वप्नलब्धमवलोकयितुं विलिख्य, वैवर्ण्यमाप तव वर्ण विलोकनेन ।
तुलीग्रहे सति कृशाजनि तूलिकेव, चित्रोद्यताजनि हरे स्वयमेव चित्रम् ॥७५॥

यतोऽश्चन्द्रोदयेनैव ह्रसति प्रकाशते, तेषान्तु सर्वदैव प्रकाशः । एवमियं तस्या देहरुचिच्छटा न भवति, किन्तु ज्योत्स्नैव, यतो भुवनमध्य इतस्ततो भ्रमति, सा तु सदैकरसरूपैव ॥७२॥

हे वासन्तीति । नानेतीति—यथा राधिका न दृष्टेति प्रभाषसे चेत्, तदा तद्वचनं मिथ्यैव, किन्त्वनेनैव पथा सा राधिका गता । यद्यस्मात्तस्याः परिमलैरन्धीकृता भ्रमरास्तत्तु पुष्पेषु न पतन्ति, किन्तु तस्याः सुगन्धग्रहणार्थं भ्राम्यन्ति । ७३॥

यदि कश्चिदर्थकथाविषयः स्यात्तदा किं सोऽर्थो न कथ्यते, अपितु कथ्यत एव । एवं यदि गोपनीयः स्यात्तदा किं न गोप्यते, अपितु गोप्यत एव । कृष्णेन तु हृदिस्थभावस्य निर्वचनासामर्थ्यात् स तावन्न कथ्यते, न वा गोप्यते, अतः कृष्णस्य भावः कामप्यनिर्वचनीयां दशां प्राप्नोतीति न विद्मः । एषः भावः कीदृशः ? ईषत्-पच्यमानहृद्व्रण इव, स यथा सर्वैरदृश्यः सन्नन्तरे पीड़ां जनयति, तद्वत् ॥७४॥

वैवर्ण्यमिति । हे हरे ! त्वां विलिख्यावलोकयितुं तव चित्रोपयोगिवर्णदर्शनमात्रेणैव वैवर्ण्यस्वरूपसात्त्विकविकारमाप । तदनन्तरं तुलीग्रहणे सति, तूलिकेव कृशाऽजनि । तदनन्तरं चित्रायोद्यता सती

उन्माद का वर्णन करते हैं—अयि वासन्ति ! तुम आज इस वनमें सुमुखी राधिका को क्या देखी है ? पवन चालित पल्लवशाली करतलके द्वारा क्यों "ना-ना" शब्द कर रही हो ? प्रिय निश्चय ही इस पथसे गयी है । देखो, मधुपवृन्द तदीय अङ्ग सौरभ के आघ्राणसे अन्धीभूत होकर तुम्हारे पुष्पके ऊपर गिरते नहीं हैं । केवल चारों ओर घुमते रहते हैं ॥७३॥

अनन्तर व्याधि का वर्णन करते हैं—यदि कहने का कुछ विषय हो तो क्यों न कहा जाय ? अवश्य वह कथनीय है, एवं यदि गोपन योग्य कुछ हो तो, उसको क्यों नहीं कहा जायेगा ? अवश्य ही वह गोपनीय है । किन्तु श्रीकृष्ण का यह भाव किस अवस्थामें उपस्थित हुआ है, कुछभी समझने में नहीं आता है ! यह परिपाकोन्मुख हृदय व्रण के समान बाहर कुछ भी देखनेमें नहीं आता है, अथच भीतरमें गुरुतर पीड़ा उत्पन्न करता है ॥७४॥

जड़ता का वर्णन करते हैं—हे कृष्ण ! तुम्हारी स्वप्नदृष्ट मूर्तिको चित्रपटमें लिखकर वह विवर्ण हो गई । अनन्तर तूलिका ग्रहण के समय तूलिका के समान कृशा हो गई एवं चित्र लिखन हेतु उद्यम करने से चित्रार्पित के समान निश्चल हो गई ॥७५॥

अथोद्वेगः—नो विद्मः किमु गौरवं गुरुकुले कौलिन्यरक्षा विधौ
न श्रद्धा किमु दुर्जनोक्तिगरलज्वालासु किं नो भयम् ।
उद्वेगादनवस्थितं मम मनः कस्यापि मेघत्विषो
यूनः श्रोत्रगतैर्घुणैरिव गुणैरन्तः कृतं जर्जरम् ॥७१॥

पूर्वरागः कृष्णस्यापि स्यात्, इत्यतः वरं तथैव दर्श्यते । तत्र प्रलापः—
उदयति शशी श्रीराधाया न तन्मुखमण्डलं
स्खलति तिमिरं प्राणेश्वर्या न नीलनिचोलकः ।
हसति हरितो चक्रं तस्या न नाम सखीगणो
भ्रमति भुवने ज्योत्स्नेवास्या न देहरुचिच्छटा ॥७२॥

अधुना तत्तत् सर्वमेव मनसः सम्मोहाद्यर्थमेव बभूव ॥७०॥

'नो विद्मः' इत्यादौ शिरश्चालने नञ्। गुरुकुलस्य किं गौरवं न विद्मः ? अपि तु जानीम एव । एवं कौलिन्यरक्षायामपि श्रद्धा अस्त्येव । किं किलस्यैमुद्वेगान्मम मनोऽनवस्थितं जातम् । अतस्तत्तत्करणे प्रतिबन्धकं भवतीत्यर्थः । तस्मात् कस्यापि यूनो गुणैर्ममान्तःकरणं जर्जरं कृतम् । घुणैरिवेति घूणः कीटविशेष, काष्ठं जर्जरं कुर्वन्ति ॥७१॥

तदानीमेवोदितं चन्द्रं राधिकामुखं मत्वा हर्षो जातः, पश्चात्तस्मिन् वैगुण्यं दृष्ट्वा कृष्णः सखेदमाह—उदयतीति । अयं राधामुखमण्डलं न भवति, किन्तु शशिः चन्द्रः, यतोऽधुनैवोदयति । तन्मुखमण्डलन्तु सदा प्रकाशमानमेव । एवमन्धकारं राधिकायाः नीलवस्त्रं मत्वाह—इदं प्राणेश्वर्याः नीलवस्त्रं न भवति, किन्तु तिमिरम् । यतश्चन्द्रोदयात् हसति । इदन्तु न तस्याः सखीवः, अपितु हरितां दिशां चक्रम् ।

गुण कीर्त्तन का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । वह जो नयनानन्द वितरणनूतनसुमधुर श्याम कान्ति एवं कस्तूरी, घनसार एवं कुङ्कुम के सौगन्धवाही, वह जो तदीय अङ्गस्पर्शि पवन का पवित्र सौरभ, सुधासमुद्र का भी गर्वहारी वह जो मधुरालाप, सभी सम्प्रति मदीय अन्तःकरण का सम्मोहन, विनोद एवं क्षोभ तथा लोभ के हेतु हुये हैं ॥७०॥

गुरुकुलमें कौलिन्य रक्षा हेतु जो कितना गौरव है, उसको क्या नहीं जानती हूँ ? उक्त गौरवरक्षा में क्या मेरी श्रद्धा नहीं है ? एवं दुर्जन की कटूक्ति को क्या भय नहीं करती हूँ ? किन्तु क्या करूँ ? उद्वेगहेतु मेरा चित्त अस्थिर हो गया है, एवं उन नीरदकान्ति नवीन युवकके गुणसमूह, घूण के समान श्रवणविवरमें प्रवेश कर अन्तःकरण को जर्जरित कर रहे हैं ॥७१॥

श्रीकृष्णमें भी पूर्वरागोत्पत्ति होती है । अतः उस प्रकार वर्णन करते हैं । उसके मध्यमें प्रथम प्रलापका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।

यह जो शशधर उदित हो रहा है, यह तो श्रीराधा का मुखमण्डल नहीं है, शशि का उदयसे ये तमःसमूह स्खलित हो रहे हैं । यह तो प्राणेश्वरी का नील वसन नहीं है । ये जो हास्यमें प्रवृत्त हैं, ये सब दिङ्मण्डल है । सखीमण्डली तो नहीं है । और जो चतुर्दिकमें प्रसृत है, यह तो चन्द्रकी ही ज्योत्स्ना है, प्रेयसी की देहकान्तिच्छटा तो नहीं है ॥७२॥

उन्मादः,—हे वासन्ति विलोकिताद्य सुमुखी राधा त्वयाऽस्मिन् वने
वातान्दोलितपल्लवैः करतलैर्नानेति किं भाषसे ?
यातानेन पथैव सा परिमलैस्तस्या यदन्धीकृता-
स्त्वत् पुष्पेषु पतन्त्यमी न मधुपा भ्राम्यन्ति सर्वा दिशः ॥७३॥

अथ व्याधिः—

नो कथ्यते किमु कथाविषयो यदि स्यात्, नो गोप्यते किमु भवेद् यदि गोपनीयः ।
आपच्यमान इव हृद्व्रण एष भावः, कृष्णस्य कामपि दशां भजते न विद्मः ॥७४॥

जड़ता—त्वां स्वप्नलब्धमवलोकयितुं विलिख्य, वैवर्ण्यमाप तव वर्णं विलोकनेन ।
तुलीग्रहे सति कृशाजनि तूलिकेव, चित्रोद्यताजनि हरे स्वयमेव चित्रम् ॥७५॥

यतोऽश्चन्द्रोदयेनैव ह्रसति प्रकाशते, तेषान्तु सर्वदैव प्रकाशः । एवमियं तस्या देहरुचिच्छटा न भवति, किन्तु ज्योत्स्नैव, यतो भ्रमरमध्ये इतस्ततो भ्रमति, सा तु सदैकरसरूपैव ॥७२॥

हे वासन्तीति । नानेतीति—यथा राधिका न दृष्टेति प्रभाषसे चेत्, तदा तद्वचनं मिथ्यैव, किन्त्वनेनैव पथा सा राधिका गता । यद्यस्मात्तस्याः परिमलैरन्धीकृता भ्रमरास्तव पुष्पेषु न पतन्ति, किन्तु तस्याः सुगन्धग्रहणार्थं भ्राम्यन्ति ॥७३॥

यदि कश्चिदर्थकथाविषयः स्यात्तदा किं सोऽर्थो न कथ्यते, अपितु कथ्यत एव । एवं यदि गोपनीयः स्यात्तदा किं न गोप्यते, अपितु गोप्यत एव । कृष्णेन तु हृदिस्थभावस्य निर्वचनासामर्थ्यात् स तावन्न कथ्यते, न वा गोप्यते, अतः कृष्णस्य भावः कामप्यनिर्वचनीयां दशां प्राप्नोतीति न विद्मः । एष भावः कीदृशः ? ईषत्-पच्यमानहृद्व्रण इव, स यथा सर्वैरदृश्यः सन्नन्तरे पीडां जनयति, तद्वत् ॥७४॥

वैवर्ण्यमिति । हे हरे ! त्वां विलिख्यावलोकयितुं तव चित्रोपयोगिवर्णदर्शनमात्रेणैव वैवर्ण्यस्वरूपसात्त्विकविकारमाप । तदनन्तरं तूलीग्रहणे सति तूलिकेव कृशाऽजनि । तदनन्तरं चित्रायोद्यता सती

उन्माद का वर्णन करते हैं—अयि वासन्ति ! तुमने आज इस वनमें सुमुखी राधिका को क्या देखी है ? पवन चालित पल्लवशाली करतलके द्वारा क्यों "ना-ना" शब्द कर रही हो ? प्रिय निश्चय ही इस पथसे गया है । देखो, मधुपवृन्द तदीय अङ्ग सौरभ के आघ्राणसे अन्धीभूत होकर तुम्हारे पुष्पके ऊपर गिरते नहीं हैं । केवल चारों ओर घूमते रहते हैं ॥७३॥

अनन्तर व्याधि का वर्णन करते हैं—यदि कहने का कुछ विषय हो तो क्यों न कहा जाय ? अवश्य वह कथनीय है, एवं यदि गोपन योग्य कुछ हो तो, उसको क्यों नहीं कहा जायेगा ? अवश्य ही वह गोपनीय है । किन्तु श्रीकृष्ण का यह भाव किस अवस्थामें उपस्थित हुआ है, कुछभी समझने में नहीं आता है । यह परिपाकोन्मुख हृदय व्रण के समान बाहर कुछ भी देखनेमें नहीं आता है, अथच भीतरमें गुरुतर पीड़ा उत्पन्न करता है ॥७४॥

जड़ता का वर्णन करते हैं—हे कृष्ण ! तुम्हारी स्वप्नदृष्ट मूर्त्तिको चित्रपटमें लिखकर वह विवर्ण हो गई । अनन्तर तूलिका ग्रहण के समय तूलिका के समान कृशा हो गई एवं चित्र लिखन हेतु उद्यम करने से चित्रार्पित के समान निश्चल हो गई ॥७५॥

मरणममङ्गलत्वेन न वर्ण्यते, भङ्ग्या तु वर्ण्यते, तद्यथा—

निखिलेन्द्रिय संवर्त्ते, श्यामसुधाधाममधुरिमा वर्त्ते ।
मग्नानन्दविवर्त्ते, मातर्नातः परं वर्त्ते ॥७६॥

केचित्तु—नयनप्रीतिश्चिन्ता, सङ्कल्पः स्वप्नविच्छेदः ।
कार्श्यं विषयनिवृत्तिः, ह्रीनाशः स्यादथोन्मादः ॥
मूर्च्छा मृतिरिति कथिता, दशाः दशेमास्तु पूर्वरागस्य ।
स च ललनायाः पूर्वं, पश्चान्नेतुः समाख्येयः ॥७७-७८॥

अथ नैलः कौसुम्भो, माञ्जिष्ठाश्चाथ हारिद्रः ।
रागश्चतुर्विधोऽतश्चातुर्विध्येन हि प्रकृतेः ॥
अतः पूर्वरागात् पाकतः इत्यर्थः । नैलो नील्या रक्तः ॥७९॥
नैलः स एष कथितो, न कदाचिद् ह्रसति शोभतेऽत्यर्थम् ।
कौसुम्भः स हि विदितः, स्थित्वापीति प्रशोभते पूर्वम् ॥८०॥

स्वयमेव चित्रमञ्जरि, जड़ा बभूवेत्यर्थः ॥७५॥

अधुना पूर्वरागावस्थयात्यन्तव्याकुला श्रीराधा सखीं प्रत्याह—हे मातः ! सखि ! सर्वेन्द्रियाणां संवर्त्तः प्रलयो यत्र तथाभूतानन्दविवर्त्ते । कथम्भूते ? श्यामसुधाधाम्नः श्यामसुधामयदेहस्य माधुर्यरूप आवर्त्तो भ्रमिर्यत्र तत्र निमग्नोऽहम्, अतः परं न जीवामीत्युक्त्वा तत्क्षणे मूर्च्छिता बभूवेति भावः । 'संवर्त्तः प्रलयः कल्पः' इत्यमरः । एवं सति नित्यसिद्धानां मूर्च्छापर्यन्तदशा वर्त्तते, ततोऽधिका नास्तीति ज्ञेयम् ॥७६॥

स्वप्नविच्छेदो निद्राक्षयः । केषाञ्चिन्मते पूर्वरागस्य इमा दशदशाः कथिताः । स च पूर्वराग आदौ नायिकायाः पश्चान्नेतुर्नायकस्य कथितः ॥७७-७८॥

इदानीं पूर्वरागवर्णनप्रसङ्गे पूर्वोक्तः पूर्वरागपाकाज्जातो रागस्तस्य भेदमाह—अथेति । प्रकृतेर्नायिका-नायकयोः स्वभावस्य चातुर्विध्येन, यथा नीलद्रव्यस्य घर्षणे जातो वर्णको नीली उच्यते । नीलवस्त्रस्य सहस्रक्षालनेनापि नीलिमा न ह्रसति, प्रत्युत शोभते च, तथा नैलरागोऽपि ।

मरण—अमङ्गलजनक होनेके कारण साक्षात् रूपसे उसका वर्णन नहीं होता है । किन्तु परोक्ष रूपसे वर्णन होता है । उदाहरण इस प्रकार है—

अयि मातः ! मैं श्यामसुधाकर के माधुरीरूप आवर्तमय अपूर्व आनन्दविवर्त्तमें निमग्न होनेसे मेरी निखिल इन्द्रियशक्ति विलुप्त हो गई । अनन्तर मैं तो जीवित नहीं रहूँगी, इस प्रकार कहते कहते श्रीराधा मूर्च्छिता हो गई ॥७६॥

पाकान्तर प्राप्त होकर, उक्त पूर्वराग ही चतुर्विध भेद हेतु नैल, कौसुम्भ, माञ्जिष्ठ एवं हारिद्र ये चतुर्विध भेद को प्राप्त करता है । जिसका ह्रास कभी भी नहीं होता है, किन्तु अतिशय शोभित होता है—उसको नैल अर्थात् नीली राग कहते हैं ।

माञ्जिष्ठः स हि यः किल, नापैत्येवातिशोभतेऽजस्रम् ।
हारिद्रः स तु बोध्यो, यात्यपि न च शोभते यस्तु ॥८१॥

अथ विरहः—स च त्रिविधः, भावी, भवन्, भूतश्चेति । तत्र भावी यथा—

यास्यामि श्वः सुमुखि मथुरामागतो राजदूतः ।
प्रत्यायातुं कति नु घटिका हन्त भावी विलम्बः ।
नो जानीमः प्रकृति कठिनः कार्य्यभारस्तथा चेत्
सार्द्धं यान्तः प्रियमदसवः क्वापि कार्य्ये नियोज्याः ॥८२॥

भवन् यथा—

यामीति कृष्णवचने प्राणैर्विनिरुद्ध कण्ठकुहरायाः ।
वहिरिव भवितुमशक्तं प्रत्युत्तर मन्तरेव विजुघूर्णे ॥८३॥

यथा च कौसुम्भवस्त्रस्य कौस्तुम्भरागः पूर्वं शोभते, पश्चात् क्षालनेन वर्षाकाले तु स्वत एव ह्रसति, तद्वदत्रापि कौस्तुम्भरागः शोभते । माञ्जिष्ठरागस्त्वजस्रमतिशयेन शोभते इति भेदो ज्ञेयः । यस्तु न शोभते, शीघ्रं याति च, स हारिद्ररागो ज्ञेयः । तेषां मध्ये कौसुम्भो हारिद्रश्च प्राकृते, अप्राकृते तु नैलमाञ्जिष्ठः' इति भेदो ज्ञेयः ॥७९-८१॥

अधुना विप्रलम्भ रसस्यावान्तर भेदं पूर्वरागं वर्णयित्वा क्रमप्राप्तं तस्यैव भेदान्तरं विरहं वर्णयति-अथेति । यास्यामीति । प्रत्यायातुमत्र पुनः प्रत्यागमने कति घटिका व्याप्य विलम्बो भावी, राजकार्य्यभारः प्रकृत्या स्वभावेन कठिनः ॥८२॥

भवन् वर्त्तमानो विरहः । अधुनैवाहं यामीति कृष्णस्य वचने सति स्वस्थानं हृदयं त्यक्त्वा प्राणाः कण्ठगता बभूवुः । अतस्तैरेव प्राणरुद्धकण्ठ कुहरायां स्तस्याः कण्ठरोधेनैव प्रत्युत्तरं वहिरिव भवितुमशक्तं सदन्तर्हृदयमध्ये एव विजुघूर्णे । अत्र विरह जन्यपीड़या, असामर्थ्यादेव तया नोक्तं प्रत्युत्तरम् । कवीश्वरेण तु प्राण कर्त्तृक कण्ठ रोधनेनैव प्रत्युत्तरं कण्ठान्न निर्गत मित्युत्प्रेक्षितम् ॥८३॥

एवं प्रथमतः सुन्दर शोभा धारण करके पश्चात् जो अपगत होता है—उसका नाम कौसुम्भ राग है । जो कभी भी अपगत नहीं होता है, अथच सर्वदा अतिशय शोभित होता है, उसका नाम माञ्जिष्ठ होता है । और जो अतिशय शोभित नहीं होता है, अथच शीघ्र अपगत होता है, उसका नाम हारिद्र है ॥७९-८१॥

भावी, भवन (वर्त्तमान) एवं अतीत भेद से विरह त्रिविध हैं । उसके मध्य में प्रथमतः भावी विरह का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

अयि सुमुखि ! राजदूत का आगमन हुआ है । आगामी कल्य मुझ को मथुरा जाना पड़ेगा, इस में चिन्ता का कारण नहीं है । वहाँ से प्रत्यागमन करने में कुछ ही विलम्ब होगा, कितना विलम्ब होगा, वह समझने में नहीं आता । राज कार्य्य अति कठिन है । ऐसा होने पर हे प्रियतम ! यह जो मेरा जीवन तुम्हारे साथ या रहा है—इस को भी किसी कार्य्य में नियुक्त कर देना ॥८२॥

भवन् अर्थात् वर्त्तमान विरह का वर्णन करते हैं—"तब मैं जाऊँ" श्रीकृष्ण का इस प्रकार कथन

भूतो यथा—सार्द्धं प्राणनिजदैवतेन न गतं दौरात्म्यमेतद्धि वो
जानीतावधिवासरश्च गणना गम्योऽस्ति लेखासु यः ।
इत्याकार्य वियुक्त गोप सुदृशः प्राणैः समं स कथा
मेकैकां प्रतिवासरं प्रियसखी रेखां रहो लुम्पति ॥८४॥

अथ प्रणयमानः—

मानस्तिष्ठतु राधिके तव हृतं रक्त-मनो देहि मे
तत् केनापि हृतं त्वया नहि तर्हि भद्र परस्वेमम ।

हे प्राणाः ! भवद्भिर्निजदैवतेन सह मथुरा गमन समये यन्न गतम्, एतदेव वो युष्माकं दौरात्म्यं मया क्षान्तम्, सम्प्रति तेन कान्तेन मत् प्राण रक्षणार्थं प्रेषितायां पत्री, तत्रोद्धारभ्य त्रिंशद्दिवसे त्वन्निकटे मयागन्तव्यमिति योऽवधिवासरो, वर्त्तते, स तु भित्तौ मया चीयमानासु रेखासु गणनया गम्यो भवति। अतस्तं वासरं यूयं जानीत, ज्ञात्वा च तस्मिन् दिवसे तस्यागमने सति भवद्भिः शीघ्रमेव मद् देहाद् गन्तव्यमिति प्राणैः सह वियोग युक्ताया गोपसुदृशः कथामाकर्ण्य प्रियसखी प्रतिदिनं रह एकान्ते आगत्य भित्तिस्थितामेकैकां रेखां त्रिंशद् दिवसस्य समाप्त्यभावार्थं लुम्पति ॥८४॥

अथेति । मान कारणमीर्ष्यादिकं विनैव प्रेम्णः कुटिल गामित्वात् प्रणयातिरेकेणैव मान इत्यर्थः । हे राधे ! तव मानस्तिष्ठतु, ममरक्तं रागविशिष्टं श्लेषेणैव रागस्य रक्तत्व मारोप्य रक्त पदार्थ विशिष्टञ्च मनो देहि। राधाह-तन्मनः केनापहृतम् ? श्रीकृष्ण आह—त्वयेति । राधाह—नहीति। पुनः श्रीकृष्ण आह—तवाङ्गं व्याप्य, तिष्ठति मम मनस्तवाङ्गे चेद् दृश्यते, तदा किं भविष्यति ? राधाह—ममाङ्गे चेद्

श्रवण मात्र से ही श्रीराधा का प्राण वायु उद्गत, होकर तदीय कण्ठ कुहर को निरुद्ध किया। सुतरां प्रत्युत्तर जैसे बाहर निकलने में असमर्थ होकर भीतर ही घुमने लगा।।८३॥

अतीत विरह का वर्णन करते हैं—

वियोगिनी गोपरमणी श्रीराधा,—"निज प्राणके सहित—इस प्रकार कथोपकथन कर रही थी-तुम सब निजेष्ट देवता के सहित नहीं गये, यही तुम सब का अति दौरात्म्य है, उनका जो अवधि वासर है-जो भित्ति में रेखाङ्कित होकर है, वह भी गणनागम्य ही गया है, इस को भी तुम सब जानते हो, अभी तक इस प्रकार क्लेश भोग का प्रयोजन हो क्या है ? इस प्रकार विडंबना का अवसान करने का उपाय भी तुम सब के हाथ में ही है।"

विप्रोगिनी गोपसुन्दरी की ये सब कथा को सुनकर तदीय प्रियसखी वृन्द शङ्कित चित्त से प्रतिदिन में एकान्त आकर भित्तिस्थित एक एक रेखा को विलुप्त कर देती थीं ॥८४॥

प्रणय मान का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—मान के कारण,—ईर्ष्यादि व्यतीत, प्रेम का कुटिल गामित्व प्रयुक्त प्रणय का आतिशय्यहेतु जो मान होता है, उसको प्रणयमान कहते हैं।

श्रीकृष्ण बोले—राधिके ! तुम्हारा मान रहे, इस में आपत्ति नहीं है,—किन्तु तुम मेरा अनुरक्त मनको मुझ को प्रत्यर्पण कर दो, श्रीराधा बोली, तुम्हारा अनुरक्त मनः का अपहरण अपर कोई कर

अङ्गेचेत्तव दृश्यते भवतिचेन्नूनं त्वयैवार्पितं
नीत्वा गच्छ मुखे तवाद्रित यदयं रागस्तवा सङ्गजः ॥८५॥

ईर्ष्यामानो यथा — सहजमरुणं नेत्रद्वन्द्वं तवाधरपल्लवः,
सततमुरलीनादक्रीडाविधौ तव सव्रणः।
वनविहरणे सत्रौ गात्रं सकण्टकलाञ्छनं,
कथमिह विना दोषं जातापराध इव स्थितः ॥८६॥

अथ प्रवासः—भूत विरह प्रवासयोः कालदेश कृत एव भेदः।
नात्र कौशलतः कृतानि सुहृदां वृन्देन नाचिन्दतो
गव्यान्यत्ति तथा कवोष्णमधिकं राधे श्वसित्येव सः ।

भवति, तदा त्वन्मनस्त्वयैवार्पितं त्वमेवनीत्वागच्छ। तच्छ्रुत्वा श्रीकृष्णः सहर्षमाह — तस्य तदीयरक्तमनस स्तदधरेण सह सदा सङ्गाज्जातो यो रागः स तु मुखमध्ये अवगोऽस्ति । अतो मनोधर्मस्य रागस्य दर्शनेन मन्मनोऽपि तत्रैव वर्त्तते; सम्प्रति त्वदाज्ञयात्वहं गृह्णामीत्युक्त्वा तदधरं पपाविति गम्योऽर्थो बोध्यः। प्रणयजन्य माने नायिकायाः सम्मतिं विनापि स्पर्शे दोषो नास्तीत्यपि ज्ञेयम् ॥८५॥

सहजेति। तव नेत्र द्वन्द्वं सहजमरुणम्, नतु तस्यास्ताम्बूल रागेण। एवं तवाधर पल्लवोऽपि सततं मुरली क्रीड्यैव स व्रणः, नतु तस्या दन्ताघातेन। वन विहरण एव तव गात्रे कण्टकचिह्नम्, न तु तस्या नखक्षतम्। अतो-दोषं विना कथं तवापराध सम्भावनापीति नायकं प्रति मानिन्याः सोल्लुण्ठ वचनम् ।८६।

एतावद् दिवस पर्य्यन्तं कान्तेन सह विच्छेदो जातः, अवधिवासरे पुनरपि तेन सह मिलनं भविष्यतीति काले कृत विरहो भूतविरहः, मां विहाय श्रीकृष्ण दूरदेशेस्थितः इति देशघटित विरह प्रवासः। हे राधे! त्वद् विरहेन व्याकुलः श्रीकृष्णः सुहृदां यादवानां वृन्देन कृतानि गव्यानि नानन्देनात्ति। तथा तैरानीतं

लिया होगा, श्रीकृष्ण बोले—तुमने ही अपहरण किया, श्रीराधा बोली,—नहीं नहीं, मैंने नहीं किया, परकीय वस्तु में मेरी स्पृहा क्यों होगी? श्रीकृष्ण बोले, परकीय वस्तु में तुम्हारी स्पृहा नहीं है, यह तो अच्छी बात है, किन्तु तुम्हारे समस्त अङ्ग में वह दृष्ट होता है। श्रीराधा बोली—मेरे अङ्ग में यदि वह देखने में आता है, तो उस को तुमने ही दिया होगा। तुम उसको ले सकते हो। श्रीकृष्ण बोले—उसको क्यों नहीं लेंगे? देखो, मेरा अनुरक्त चित्त तुम्हारे मुखबिम्ब में सतत निवास करता है, इस हेतु उस के संसर्ग से तुम्हारा अधर भी इतना लाल हुआ है ॥८५॥

ईर्ष्यामान का वर्णन करते हैं—तुम्हारे नयन युगल—स्वभावतः ही तो अरुणवर्ण हैं; तुम्हारे अधर पल्लव–मुरली ध्वनि हेतु सदा ही तो सव्रण होता रहता है, वन विहार के उपलक्ष्य में सतत ही तुम्हारा अङ्ग कण्टक से क्षत विक्षत होता रहता है। हे नाथ! बिना दोष से क्यों तुम अपराधी के समान अवस्थित हो? ॥८६॥

प्रवास का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—
कालकृत विरह भूत विरह, देश कृत विरह--प्रवास शब्द से कथित होता है।

त्वत्पल्ली प्रतिवेशपण्य-जनता-क्रय्यं तु दध्यादिकं

क्रीत्वा सम्प्रतिपादितं प्रियजनैरश्नाति हृष्टान्तर: ॥८७॥

अथ सामान्यतो वर्णितस्य विभावस्यालौकिकतया विशेषमाह। तत्रालम्बनं नायको नायिकाश्च। तत्र कोऽसौ नायकः, काश्च वा नायिका-इत्यपेक्षायां नायकमाह--

सर्वशुद्धरसवृन्दकन्दलः, सर्वनायकघटाकिरीटगः।

अत्यलौकिकगुणैरलङ्कृतो, गोकुलेन्द्रतनयः सुनायकः॥

सर्वशुद्ध रस वृन्दकन्दलत्वं (३७-श्लोक: 'शृङ्गारी राधिकायाम्' इत्यादि ।

सर्व नायक घटेति-सर्व शब्दो धूर्त्तनायक वर्जनपरः। अत्यलौकिकगुणैरिति विरुद्धा-

---

कवोष्णं दुग्धादिकं न भुङ्क्ते, किन्तु प्राण रक्षणार्थं यत् किञ्चिदेव, अतएव केवलं श्वसित्येव जीवत्येव, न तु तस्य किञ्चिदपि सुखं तत्र वर्त्तते। किन्तु तव-पल्लीग्रामस्तत्रस्था या प्रतिवेश पण्य जनता क्रय विक्रयादि व्यवहारविशिष्टजनसमूह स्तेषां क्रय्यं क्रये प्रसारितं दध्यादिकं तस्याभिप्रायज्ञैः प्रिय परिजनैं मधुमङ्गलादिभिः क्रीत्वा सम्प्रतिपादितं यत्नेन संस्कृतं तदेव हृष्टान्तरः सन्नश्नाति ॥८७॥

सर्व शब्द इति। धूर्त्तनायकं वर्जयित्वा या सर्व नायक घटा तस्या मुकुटमणिः। यद्यपि धीरोद्धतस्य गुणा धीरशान्तस्य गुणाश्च परस्पर विरुद्धा भवन्ति, तथापि श्रीकृष्णे तेषां विरोधनास्ती। यथा श्रीकृष्ण एकः सन्ननेकोऽपि भवति, एवं परिच्छिन्नः सन् व्यापको भवति। तथैव विरुद्ध गुणाश्रयः सन्नविरुद्ध

हे राधिके! श्रीकृष्ण,-तुम्हारे विरह से व्याकुल होकर सुहृद् वर्ग के विविध कौशल के द्वारा सम्पादित गव्य प्रभृति का ग्रहण आनन्द से नहीं करते हैं। पुनः पुनः केवल उष्णश्वास परित्याग ही करते रहते हैं। किन्तु तुम सब के पल्ली प्रतिवेशि जनगण- जो सब दध्यादि द्रव्य विक्रयार्थ हाट में ले आते हैं, मर्मज्ञ परिजन गण, यदि उसको क्रय कर प्रदान करते हैं तो अति आनन्दचित्त से उसको भोजन करते हैं ॥८७॥

पहले सामान्य रूप से विभाव का वर्णन हुआ है, सम्प्रति अलौकिकता हेतु विभावगत विशेष जो कुछ है—उसीका वर्णन करते हैं। नायक एवं नायिका-इन दोनों का नाम आलम्बनविभाव है। उक्त नायक एवं नायिका--किस प्रकार लक्षणाक्रान्त होना चाहिये, इस प्रकार आकाङ्क्षा से प्रथम नायक का विवरण प्रस्तुत करते हैं।

सर्व शुद्ध रस समूह का वीज स्वरूप, सर्व विधनायक मण्डली के चूड़ामणि स्वरूप, अतिशय अलौकिक गुण समूह विभूषित गोकुलेन्द्र नन्दन ही सर्व श्रेष्ठ नायक हैं।

प्रथमोक्त विशेषण--"सर्व शुद्ध रस वृन्द कन्दलत्व" का उदाहरण—

"जो राधिका के प्रति शृङ्गार रस शाली है" "शृङ्गारी राधिकायाम्" श्लोक है।

"शृङ्गारी राधिकायां सखिषु स करुणः क्ष्वेडदग्धेष्वघाहे

बीभत्सी तस्य गर्भे व्रजकुलतनयाचेलचौर्ये प्रहासी।

विरुद्ध–नित्य चमत्कारि–गुणवान्, विरुद्धवद् भासते, नतु विरुद्धः, स विरुद्धाविरुद्धः,– एकोऽनेकः, परिच्छिन्नोव्यापीत्यादिवत्, अलौकिक गुणवति लौकिक गुणा अपि ज्ञेयाः।

ते यथा–

कृती कुलीनः सश्रीकस्त्यागी यौवन-रूपभाक्।
दक्षोऽनुरक्त उत्साही तेजोवैदग्ध्यभूषितः॥८८–८९॥
सत्यं शौचं दया कान्तिरास्तिक्यं धैर्यमेव च।
औदार्यं प्रश्रयः शीलं क्षान्तिः प्रह्वोऽनहङ्कृतिः॥

इत्यादयो नित्याः। तत्र नायक घटेति तद्भेदानाह–

उदात्त उद्धतश्चैव प्रशान्तौ ललितस्तथा।
सर्वेऽमी धीर–शब्दाद्याश्चत्वारो नायकाः स्मृताः॥

गुणाश्रयोऽपि भवति। अलौकिक गुण वतीति—लोके न प्रसिद्धा ये गुणास्तद्वति श्रीकृष्णे लोक प्रसिद्ध गुणा अपि ज्ञेयाः, किन्तु लोकस्यास्ते मायिकाः, भगवन्निष्ठा अमायिका इति भेदो ज्ञेयः॥८८–८९॥

प्रह्वो नम्रता। अमी उदात्तादयश्चत्वारो धीर शब्द आद्य आदौ येषां तथाभूताः, तथा च धीरोदात्त धीरोद्धत धीरशान्तधीर ललिता इति संज्ञा भवन्तीत्यर्थः।

महासत्त्व–उदारचित्तः, स्थेयानतिशयस्थिरः, अहङ्कृतिरहङ्कारस्तेन यो झङ्कार आत्मश्लाघा बोधक शब्द प्रयोगस्तत्र निःशङ्कः। उभय गुणाभ्यां धीरोदात्त–धीरोद्धत गुणाभ्यां रहितो धीरशान्ता

वीरो दैत्येषु रौद्रो कुपितवति तुरासाहि हैयङ्गवीन–
स्तेये भीमान् विचित्रो निज महसि शमी वामबन्धे स जीयात्॥"

'सर्वविध नायक मण्डली के चूड़ामणि स्वरूप' इस विशेषण से सर्वविध नायक शब्द से धूर्त्तनायक व्यतीत यावतीय नायक को समझना चाहिये।

'अतिशय अलौकिक गुणराशि' कहने का तात्पर्य यह है कि—विरुद्धाविरुद्ध अर्थात् आपाततः विरुद्धवत् प्रतीत होकर भी जो वस्तुतः विरुद्ध नहीं है, जैसे आप एक होकर भी अनेक हैं, परिच्छिन्न होकर भी सर्वव्यापी हैं। इस प्रकार अलौकिक अथ च नित्य चमत्कारि गुण राशि के द्वारा विभूषित हैं। अलौकिक गुणराशि के समान लौकिक-गुण समूह भी उनमें विद्यमान हैं।

गुण समूह इस प्रकार हैं—कृतित्व, कुलीनत्व, दातृत्व, स श्रीकत्व रूप यौवन शीलता, दक्षता, अनुरक्तता, विदग्धता, उत्साहिता एवं तेजस्विता प्रभृति लौकिक गुण हैं॥८८–८९॥

सत्य, शौच, दया, कान्ति, धैर्य, आस्तिक्य, औदार्य, प्रश्रय, शील, क्षान्ति, नम्रता, अनहङ्कार प्रभृति नायक के लौकिक नित्य गुण के मध्य में परिगणित हैं।

सर्वविध नायक मण्डली का भेद इस प्रकार है—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरप्रशान्त, धीरललित— चतुर्विध नायक होते हैं। धीरोदात्त नायक का लक्षण इस प्रकार है—

आत्मश्लाघा शून्य, क्षमावान् गम्भीर प्रकृति, महासत्त्व, सुस्थिर चित्त, निगूढ़मान् दृढ़व्रत एवं

धीर-शब्दाद्या इति धीरोदात्तादय इत्यर्थः । तत्र धीरोदात्तादयो यथा—

आत्मश्लाघारहितः, क्षमी गम्भीरो महासत्त्वः ।
धीरोदात्तः स्थेयान्, निगूढमानो दृढव्रतः सुवचाः
आत्मश्लाघा निरतो, मायी चण्डश्च चपलश्च ।
धीरोद्धतः सकथितो ऽहङ्कृति झङ्कार निःशङ्कः ॥ ८०—८३॥
उभय गुण व्यतिरिक्तो, भूयान् साधारणैश्च गुणैः ।
धीरप्रशान्त संज्ञो, भवति द्विज वैश्य जातिकः साधुः ।
मृदुलः कला कलापो, निश्चिन्तो मधुर वैदग्ध्यः ।
प्रथम रस प्रधानो, ललित कथो धीरललितः स्यात् ।
सर्वेऽनुकूलदक्षिण, शठ धृष्टत्वेन षोडशधा ॥
केषाञ्चिन्मते धीर ललित सैवानुकूलादि भेदाः, न सर्वेषाम् ॥ ८४॥

एषां लक्षणम्— एकाश्रितोऽनुकूलः, समरागो दक्षिणस्तु सर्वासु ।
शठ एकत्रैव रतो, वहिरन्यत्र प्रियोऽप्रियो मनसि ।

साधुजनवृत्ति साधारण गुणै विशिष्टः स भूयान् धीरोदात्तादि-स्वरूपः, तथा च ब्राह्मण-वैश्ययो बहव एव धीर शान्ता ज्ञेयाः ॥८०-८३॥

कलेति—रसोपयोगि-चतुःषष्टि-कलाभिर्भूषित इत्यर्थः मधुरे शृङ्गार रसे वैदग्ध्यं यस्य, शृङ्गार रस एव प्रधानं यस्य ॥८४॥

एषामनुकूलादीनां लक्षणं माह—एकामेव नायिकामाश्रितोऽनुकूल, सर्वासु नायिकासु समरागो

मधुर भाषी व्यक्ति धीरोदात्त शब्द से अभिहित होता है ।

धीरोद्धत नायकका लक्षण यह है—आत्मश्लाघा निरत, मायावी, चपल, प्रचण्ड एवं सोहङ्कारोक्ति में निःशङ्क चित्त व्यक्ति धीरोद्धत नाम से अभिहित होता है ॥८०—८३॥

उक्त नायक द्वय के गुणों से विभूषित नहीं है, अथ च साधारण जन सुलभ अनेक गुण जिस में, वर्त्तमान है, इस प्रकार द्विज वैश्यादि जातीय साधु प्रकृति व्यक्ति को धीर प्रशान्त नायक कहते हैं ।

सुकुमार प्रकृति, कलाकलाप निरत अर्थात् शृङ्गारोपयोगी चतुःषष्टि कला समूह द्वारा, विभूषित, महावैदग्ध्यशाली, निश्चिन्त, शृङ्गार रस प्रधान, सुललित भाषी व्यक्ति धीर ललित शब्द से अभिहित होता है । उक्त नायक वृन्द—अनुकूल, दक्षिण, शठ एवं धृष्ट भेद से चतुर्विध भेद हेतु षोडश प्रकार होते हैं । कतिपय व्यक्ति के मत में धीरललित नायक के ही चतुर्विध भेद होते हैं, अपर नायक में उस प्रकार भेद नहीं होता है ॥८४॥

अनुकूल नायक प्रभृति का लक्षण—इस प्रकार है—

अपराद्धश्च विशङ्को, दृष्टे दोषेऽपि मिथ्यावाक् ।
तर्जन ताड़नयोरपि, कृतयोर्निर्लज्ज एव धृष्टः स्यात् ।
षोड़श विधास्त एते, पुनस्त्रिधा चोत्तमादि भेदेन ।
अष्टाधिक चत्वारिंशद् भेदा नायकाः कथिताः ।।
पुनरेते स्युर्दिव्या, दिव्याऽदिव्या अदिव्याश्च ।
स चतुश्चत्वारिंशच्छतमेकं तेन तद् भेदाः ।।९५–९८।।

धीर प्रशान्त शठघ्नो धृष्टस्य च भेद वर्जितैरपरैः ।
लीला वशतः सर्वैरविरुद्धत्वाद् विरुद्धैऽपि ।
गोकुल राजकुमार स्तेन परं सर्वनायकाधीशः ।
धीरोदात्तो गुरुषु, ज्ञातिषु धीरोद्धतो विपक्षेषु ।
मायाविषु नियतमसौ, व्रजपूर्व्यां धीरललितः स्यात् ।
अनुकूलो राधायां, सर्वास्वपरासु दक्षिणः कथितः ।
लीलावशात् कदाचन, धृष्टोऽपि शठश्च कुत्रापि ।।९९–१०१।।

दक्षिणः, एकस्यामेव नायिकायां रतोऽन्यत्र नायिकायां मनस्योप्रयः, बहिस्तु कपटेन प्रियः, स शठः । पुनरेते अष्टचत्वारिंशद् भेदा नायकाः—दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च भवन्ति । तेन चतुश्चत्वारिंशता सहैकशतं नायकभेदा भवन्ति ।।९५–९८।।

धीर-प्रशान्त—शठ—धृष्टभेदैर्भिन्नैरपरै धीर ललित धीरोदात्तादिभिः भेदविशिष्टो गोकुल राजकुमार कदाचिल्लीलावशाद् विरुद्धाविरुद्धै धीर प्रशान्तादिभिः सर्वैरेव भेद विशिष्टश्च भवति ।

तेषां परस्परं विरोधेऽपि सति श्रीकृष्णे अविरुद्धत्वात्तेन हेतुना श्रीकृष्ण एव परं केवलं सर्व नायकाधीशः । एतदेवाह—गुरुषु—ज्ञातिषु च धीरोदात्तः, विपक्षेषु मायाविषु च धीरोद्धतः, धीर, शान्तो भक्तेषु

एकमात्र नायिका में अनुराग शाली व्यक्ति अनुकूल नाम से एवं समस्त नायिका में समान अनुराग शाली व्यक्ति दक्षिण नाम से अभिहित होता है ।

शठ नायक एक नायिका में ही आसक्त होता है एवं अन्य नायिका के प्रति आन्तरिक आसक्ति न होने पर भी कपटता पूर्वक प्रकाश्य में उसके प्रति अनुराग प्रदर्शन करता है ।

जो व्यक्ति अपराधाचरण करके भी शङ्काशून्य, दृष्ट दोष होकर भी मिथ्या कथनशील, तर्जित एवं ताड़ित होकर भी लज्जा हीन है, उसको धृष्ट कहते हैं ।

ये षोड़शविध नायक—उत्तम, मध्यम एवं अधम भेद से अष्ट चत्वारिंशत (४८) प्रकार होते हैं । उक्त अष्ट चत्वारिंशत् भेद भी दिव्य, अदिव्य, एवं दिव्य अदिव्या भेद से चतुश्चत्वारिंशता सह एकशतं (१४४) एकसौ चौवालीस संख्या में परिणत होता है ।।९५–९८।।

धीर प्रशान्त–शठ-धृष्ट भेद भिन्न धीर ललित धीरोदात्तादि भेद विशिष्ट गोकुल राजकुमार कदाचित्

अनुकूलादीनां क्रमेणोदाहरणानि । तत्रानुकूलो यथा—

नान्यस्या: सदनं प्रयाति स मया सं प्रार्थ्यमानोऽपि च
प्रायो मे हृदयं दुनोति ललिते तासां मनस्तापत: ।
आरामे रमते ममैव सततं मद्वर्त्म सं वीक्ष्यते
स्वप्नेऽपि प्रतिकूलतां न गतवान् कृष्ण: स तृष्णो मयि ॥१०२॥

एवमेकत्ररतोऽप्यलौकिक नायकत्वाद् दक्षिणोऽपि, तद् यथा—

श्यामाङ्के चरणौ कलोरुफलके शीर्षं सुरेखाङ्गुलौ
केशांश्चामरचालिका भुजतटे दृष्टि प्रियोक्तौ श्रुतिम् ।
ताम्बूलार्पणिकाकरे करपुटीं कस्तूरिकोरस्युर
श्चन्द्रा वक्षसि पृष्ठमर्पयदहो निद्राति नीलं महः ॥१०३॥

व्रजपुर्यां च सदैव धीरललित: ॥९९ १०१॥

ममैवारामे उपवने रमते । महारासान्ते स्वयमेव बहुक्षणं नर्त्तित्वा विश्रामं कुर्वत: श्रीकृष्णस्य वर्णन मिदम् ॥१०२॥

श्यामाङ्क इति पद्यम् । कला चन्द्रावला: सखी, तस्या ऊरुप्रदेशे शीर्षम् । एवं सुरेखा काचिद् गोपी, तस्या अङ्गुली कशान् समर्पयत् सन्नील महः श्रीकृष्णो निद्रातीत्यन्वय: । प्रिया राधिका, तस्या उक्तौ 'क्षणमत्र स्वपिहि' इति वाचि श्रुतिम्, कस्तूरिका श्रीराधाया: सखी तन्निदेशवशा, अतएव तस्या वक्ष:स्थले श्रीकृष्णस्य उरो वक्ष: स्थलम् । अत्र दक्षिण पार्श्वे बामपार्श्वे वा सुप्तस्य श्रीकृष्णस्य पृष्ठदेश लग्ना चन्द्रावली, सम्मुखे वक्ष: स्थललग्ना कस्तूरिका, शीर्षलग्ना कलाया ऊरुदेश एव । एवं प्रकारेण शयन

लीला हेतु विरुद्ध अविरुद्ध भेद विशिष्ट भी होते हैं । इस हेतु श्रीकृष्ण ही—सर्वनायक के अधीश्वर हैं ।

श्रीकृष्ण,—गुरुजनगण के प्रति एवं ज्ञाति वर्ग के प्रति धीरोदात्त, विपक्ष एवं मायावि मण के प्रति धीरोद्धत एवं भक्त पक्ष में धीरशान्त, तथा व्रजपुरी के सम्बन्ध में नित्य धीर ललित होते हैं ।

श्रीराधिका के प्रति आप अनुकूल, श्रीराधिका व्यतीत यावतीय गोपरमणी वृन्द के पक्ष में दक्षिण एवं लीला हेतु कभी धृष्ट कभी शठ भी होते हैं ॥९९-१०१॥

अनन्तर अनुकूल प्रभृति का उदाहरण क्रमश: प्रस्तुत करते हैं । उस के मध्य में प्रथम अनुकूल का उदाहरण—सखि ललिते । श्रीकृष्ण,—मेरे प्रति इस प्रकार सतृष्ण है, कि— मैं प्रार्थना करने पर भी वह किसी रमणी को उस के वाञ्छित विषय प्रदान नहीं करता है, उन सब की मन: पीड़ा से मैं सर्वदा दु खानुभव करती रहती हूँ । श्रीकृष्ण, सतत मेरा उपवन में ही विहार करता रहता है, एवं सब समय मेरा पथ निरीक्षण करके ही रहता है, स्वप्न में भी मेरे प्रति प्रतिकूल भाव प्रकाश नहीं करता है ॥१०२॥

श्रीकृष्ण,—श्रीराधिका के प्रति आसक्त होने पर भी स्वकीय अलौकिकता वशत: दक्षिण नायक के लक्षण से भी लक्षित होते हैं । उदाहरण—नीरद नील कान्ति श्यामसुन्दर श्यामा के क्रोडदेश में चरण

एवं दक्षिणोऽपि लीला वशात् कदाचिद् धृष्टोऽपि भवति, तद् यथा—

चन्द्रावलीति कपटेन निगद्य राधां जातापराध इव सङ्कुचितः सखीभिः ।
सन्तर्जितोऽपि स तया श्रवणोत्पलेन, सन्ताड़ितोऽपि विजहास न संविभाय ॥१०४॥

एवं कुत्रचिच्छठोऽपि, यथा—

एकत्रैव कृतासने निजनिजैरालीजनैः कुत्रचित्
क्रीड़ा कुञ्ज गृहाङ्गनेऽव्यवहितो दूरेण दृष्ट्वा प्रिये ।
वंशी कूजित–सूचितानि निभृतं चन्द्रावलीं लम्भयन्
सङ्केतं तरसा रसादभिसरन् राधां हरिः पातु वः ॥१०५॥

क्रमो ज्ञेयः ॥१०३॥

राधा मुद्दिश्य "हे प्रिये चन्द्रावलि !" इति कपटेन निगद्य जहासैव, न स्वपराधेन कदापि भीतो बभूवेत्यर्थः ॥१०४॥

अथैकस्मिन् कुञ्जे सखीभिः सह राधा चन्द्रावल्यौ, लताविव्यवहितः श्रीकृष्णो दूरत एव दृष्ट्वा राधां चन्द्रावली सखीभिः वियुक्ता कर्तुं दूरे सङ्केत कुञ्जं गत्वा मुरली शब्देन चन्द्रावलीमाजुहाव । तं शब्दं चन्द्रावली एव शृणोति, नान्या, तस्याचिन्त्यप्रभावत्वात्, तच्छ्रुत्वा अतिहृष्टा चन्द्रावली सखीभिः सहिता केनचित् मिषेण तत उत्थाय तदेव सङ्केत स्थलं जगाम । ततः श्रीकृष्णः सुखेन राधिकामभिससार । एतदेवाह—एकत्रेति । एकत्रैव कृतमासनं याभ्याम्, एवम्भूतो प्रिये राधा चन्द्रावल्यौ लतादि–व्यवहितः श्रीकृष्णो दूर एव दृष्ट्वा वंशीशब्देन सूचितमतिनिभृतं सङ्केतस्थले चन्द्रावलीं लम्भयन् प्रापयन् स्वयं तरसा वेगेन रसादानन्दात् राधामभिसरन् वो युस्मान् पातु ॥१०५॥

द्वय, ऊरु के ऊपर मस्तक, सुरेखा के अङ्गुलि तल में केशगुच्छ चामर व्यंजन कारिणी को भुजलता में दृष्टि, प्रिया राधिका के सुमधुर वचन में श्रुति, ताम्बूल दायिनी के कर तलमें कर पुट, कस्तूरिकाके वक्षः स्थल में वक्षः स्थल एवं चन्द्रा के वक्षः स्थल में पृष्ठ देश अर्पण पूर्वक निद्रित होते हैं । इस प्रकार शयन क्रम को जानना होगा ॥१०३॥

किसी किसी स्थल में श्रीकृष्ण, धृष्ट नायक की भूमिका को ग्रहण करते हैं । दृष्टान्त—

श्रीकृष्ण – कपट पूर्वक चन्द्रावली शब्द से श्रीराधा को सम्बोधन कर अपराधी के समान सङ्कुचित हुये थे । उस समय सखी वृन्द ने उनको यथेष्ट तर्जन किया, श्रीराधिका ने श्रवणोत्पल के द्वारा उनको ताड़न किया । किन्तु इस से भी आप भीत न होकर हँसने लगे थे ॥१०४॥

इस प्रकार स्थल विशेष में श्रीकृष्ण, शठ नायक भी होते हैं । दृष्टान्त—

राधा एवं चन्द्रावली,– क्रीड़ा कुञ्ज गृह के अङ्गन में निज सखी वृन्द के एकत्र आसन में उपविष्ट हैं । दूर में लतादि के व्यवधान से देखकर जिन्होंने वंशीध्वनि के द्वारा अतिनिभृत सङ्केत स्थल की सूचना की है, एवं उस वंशीरव को सुनकर चन्द्रावली आसन से उठकर उक्त सङ्केत स्थल को चले जाने पर जो आनन्द से सत्वर श्रीराधिका के अभिसरण किये थे, वह क्रीड़ा कुशली श्रीहरि, अकुशल से तुम सब की

अथ विभाव प्रसङ्गे नायकस्य सहायाः सखायः । एवं नायिकायाः सख्यः । तेनादौ नायकस्य सहाया उच्यन्ते ।

सहायाः स्युः सहचरास्ते भवन्ति चतुर्विधाः
सखायश्च प्रियसखास्तथा नर्मसखा अपि ।
प्रियनर्म सखाश्चान्ये तेषु दूतस्त्रिधा मतः ।
निसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा सन्देशहारकः
द्वयोरिङ्गित मादाय स्वयं मुत्तर दायकः
सुश्लिष्टं कुरुते कार्यं निसृष्टार्थः स उच्यते ।
प्रमितं वक्ति कार्यस्य चान्तं याति मितार्थकः
यथोक्तमेव वदति यः स सन्देश हारकः ॥१०६–१०६॥

एवं दूत्योऽपि यथोदाहरिष्यन्ते ।

तेषु सखिषु मध्ये प्रियनर्म सखा एव दूताः, नान्ये । ते दूता त्रिधा भवन्ति । निसृष्टो दत्तोऽर्थः कार्य्यभारो यस्मै, तथा चावाभ्यां किमपि न वक्तव्यम्, आवयोर्मिलनं यथा भवति, तथैव त्वया बुद्धया कर्त्तव्यमिति विन्यस्तः कार्य्यभारोनिसृष्टार्थ इत्यर्थः ।

प्रमितं—ताभ्यां यद् यदुक्तं तदेव परिमितं वक्ति, किन्तु द्वयोर्मिलनरूप कार्य्यस्यान्तं सीमानं याति प्राप्नोति, तथा च कार्य्यमवश्यं करोतीत्यर्थः । ताभ्यां यथोक्तं तथैवोभयो निकटे गत्वा वदति । कार्य्यं भवतु मा भवतु वेति कोऽपि भारस्तस्मिन्नास्तीति सन्देश हारकः । यथा पुरुषा दूतास्तथा स्त्रियोऽपि दूत्यः सन्ति । उदाहरणे तासां दूत्यं व्यक्तो भविष्यतीत्यर्थः ॥१०६–१०६॥

रक्षा करें ॥१०५॥

विभाव वर्णन के प्रसङ्ग में नायक के सहायस्वरूप सखा एवं नायिका की सहायिका सखी वृन्द का वर्णन करते हैं—

उसके मध्य में नायक के सहायक का वर्णन करते हैं। सहचर व्यक्ति को सहाय कहते हैं। वह सहाय,—प्रियसखा, नर्म्मसखा एवं प्रियनर्म्मसखा भेद से चतुर्विध होते हैं। कार्य्य विशेष में प्रियनर्म्म सखा को दूत कहते हैं। उक्त दूत, निसृष्टार्थ, अमितार्थ, एवं सन्देश हारक भेद से त्रिविध होते हैं। उभय पक्ष के इङ्गित को समझकर जो व्यक्ति स्वयं उत्तर प्रदान करता है-एवं कर्त्तव्य बुद्धिसे कार्य्य निर्वाह करता है,—उसका नाम निसृष्टार्थ है।

जो व्यक्ति,—परिमित वाक्य कहता है, अथ च जिसका कार्य भी असमाप्त नहीं रहता है, उसका नाम अमितार्थ है।

जो जो बात कही जाती है, जो व्यक्ति केवल उसी को कहकर निवृत्त होता है, उसको सन्देश हारक कहते हैं। इस रीति से दूती भी त्रिविध होती हैं। उदाहरण में उन सब का दौत्य कार्य्य वर्णित होगा ॥१०६–१०६॥

अथ नायकानामुक्त नियत सामान्य गुणादतिरिक्ताः सत्त्वजा गुणा उच्यन्ते—

शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं धैर्य्यं तेजसी ।
औदार्यं ललितञ्चेति गुणा अष्टैव सात्त्विकाः ।
शौर्य्यं दाक्ष्यञ्च सत्यञ्च महोत्साहोऽनुरक्तता ।
घृणा नीचेऽधिके श्रद्धा सा शोभा मिलितोच्यते ॥११०-१११॥

यथा— शौर्य्यं शत्रुषु दाक्ष्यमात्म कुहके सत्यं भुवो भूः क्षये
रागो गोकुल मध्य वर्त्तिषु महोत्साहो गिरेर्धारणे ।
श्रद्धेयं पितृ--मातृ--बन्धुषु हरे शोभैव ते सर्वथा
नीचे मय्यघृणेति केवलमसावेकाङ्ग हीना भवत् ॥११२-११३॥

रम्य वेश विभूषाद्यै विलासः शिल्प कौशलम् ॥

तच्च स्व विषयमन्य विषयञ्च, यथा —

क्वचिद् गुञ्जा धातु स्तवक दल बर्ह प्रभृतिभि-
र्वनेऽनल्पाकल्पैः प्रणयिसखिभि र्भूषिततनुः ।

सत्त्वजा इति शुद्ध सत्त्वाच्चित्ताज्जाता इत्यर्थः । मिलितेति— शौर्यादयः परस्परं मिलिताः सन्त एकाधिकरणे वर्त्तते चेत्तदा शोभोच्यते--इत्यर्थः ॥११०--१११॥

आत्म कुहके, इति—रासारम्भे गोपीभिः सह प्रेमपरीक्षार्थं स्वकृत कपटे दाक्ष्यं सम्यक्तया क्षिप्र--कारित्वमित्यर्थः । भुवः पृथिव्या भारक्षये हे हरे ! मयि नीचे तवाघृणा अकृपा, अतस्तव शोभा एकाङ्ग हीना--अभवत् ॥११२--११३॥

अनल्पा कल्पै गुञ्जाद्यनेक भूषाभिः । एषां सखीनां तैरेवाकल्पैर्वेशान् तनुते । कथम्भूतान् ? ततोऽपि

नायिक वृन्दों के अवश्यम्भावी जो सब साधारण गुण कहे गये हैं, —तदतिरिक्त सात्त्विक गुण समूह का उल्लेख यहाँ पर हो रहा है। शोभा, विलास, माधुर्य्य, गाम्भीर्य्य, धैर्य्य, तेज, औदार्य्य, एवं ललित ये आठ सात्त्विक गुण हैं ।

शूरता, दक्षता, अनुरक्तता, सत्य, महोत्साह एवं हीन के प्रति कृपा एवं पूज्य के प्रति श्रद्धा, इन सब गुणों का एकत्र सम्मिलन होने से शोभा होती है ॥११०--१११॥

उदाहरण—हे कृष्ण ! विपक्ष के प्रति शूरता, स्वकीय कुहक में दक्षता, भूभार हरण में सत्य सन्धता, गोकुल वासियों के प्रति अनुराग, गिरि धारण में महोत्साह, पितृमातृ, बन्धुजन के प्रति श्रद्धा-इत्यादि रीति से आप में जो अपूर्व शोभा विद्यमान है, वह एकमात्र इसी कारण से एक अङ्ग हीन हो गयी है--कि--मेरे तुल्य नीच जनके प्रति आप की अघृणा है--अर्थात् कृपा नहीं है ॥११२-११३॥

रमणीय वेशभूषादि के द्वारा जो शिल्प कौशल है,--उसको विलास कहते हैं । यह विलास स्वविषयक एवं अन्य विषयक होता है । उदाहरण —

स्वयञ्चैषां वेषानतिकुतुकतः शिल्पिकुशल--
स्ततोऽप्युच्चैश्चित्रान् हरिरहह तैरेव तनुते ॥११४॥

अन्य विषयेऽन्यदपि—
गुञ्जा शिखण्ड--गिरिधातु दलं प्रसूनै राधां विभूष्यमुरलीञ्च करे निधाप्य ।
पीताम्बरञ्च परिवेष्टच हरिः प्रसीद, हे कृष्ण मय्यनुगते कृपयेत्यवादीत् ॥
संक्षोभेऽपि निरुद्वेगभावो माधुर्यमिष्यते--इति केचित् । केचित्तु (साहित्यदर्पणे ३--१०६) "सर्वावस्था विशेषेषु माधुर्यं रमणीयता" इति ॥११५॥

वस्तुतस्तु-- येन केनापि वेशेन माधुर्यं रमणीयता ॥११६॥

यथा— कचे बर्हीत्तंसो वपुषि गिरिधातुः किसलयं
श्रुतौ गुञ्जादाम स्तवकितलताखण्ड मुरसि ।

सखीकृत वेशादप्युच्चैश्चित्रानत्यद्भुतान् ॥११४॥

अन्यान्य विषय—स्वविषययोरेकस्मिन् पक्षे उदाहरणमुक्त्वा केवलान्यविषयेऽन्यदुदाहरणमाह—अन्येति । श्रीकृष्ण एव, श्रीकृष्णवेश धारिणीं राधिकां श्रीकृष्ण रूपेण सम्बोध्य हे कृष्ण ! मय्यनुगते कृपया प्रसीदेत्यवादीत् । गिरिधातु गैरिकः । सर्वावस्थासु रमणीयता--माधुर्यम् ॥११५॥

स्वतमाह--वस्तुत इति ॥११६॥

उरसि--वक्षः स्थले गुञ्जादाम । एवं स्तवकयुक्तलताखण्डञ्च । अस्मिन् श्रीकृष्णे तद्वस्तु न

कानन में गुञ्जा, गौरिक, स्तवक, पल्लव एवं मयूर पुच्छ प्रभृति भूषण के द्वारा प्रणयास्पद सुहृद् गण कर्त्तृक विभूषिताङ्ग होकर शिल्प कुशली श्रीकृष्ण–अतिकुतुहल से उक्त सुहृद गणको उससे भी उत्कृत रूप से उक्त भूषण समूह के द्वारा विभूषित किये थे । अर्थात् सखावृन्द के द्वारा वेश विन्यास से भी उत्तम रूपसे आपने उन सब को विभूषित किये थे ॥११४॥

केवल अन्य विषयक विलास का दृष्टान्त—गुञ्जा, गौरिक धातु, मयूर पुच्छ,पल्लव, एवं पुष्प के द्वारा राधिका को भूषित करके तदीय कर तल में मुरली धारण कराकर एवं अङ्ग में पीत वसन परिधान कराकर श्यामसुन्दर हरि उनको-कहे थे—हे कृष्ण ! कृपा करके इस अनुगत जन के प्रति प्रसन्न होओ ।

संक्षोभ समय में भी जो निरुद्वेगभाव कतिपय व्यक्ति उसको ही माधुर्य कहते हैं । अपर व्यक्ति कहते है—समस्त अवस्था में जो रमणीयता है--वही माधुर्य है ॥११५॥

वास्तविक जिस किसी वेश में अवस्थित होने पर भी जो अपूर्व रमणीयता प्रकाशित होती है, इसी को ही माधुर्य कहा जा सकता है ॥११६॥

उदाहरण—हे मुरहर ! तुम्हारे केश समूह में शिखिपुच्छ, अङ्ग में गैरिकधातु, श्रुति युगल में नव पल्लव, वक्षः स्थल में गुञ्जाहार एवं स्तवक शोभित लताखण्ड है, इस से कैसी अपूर्व शोभा हुई है । कहाँ रत्नमय अलङ्कार और कहाँ यह वन्य वेश ? हे नाथ ! इस जगत् में ऐसी कोई वस्तु देखने में नहीं आती

क्व रत्नालङ्काराः क्व वनचर वेशो मुरहरे
न तत् पश्याम्यस्मिन् यदति मधुरत्वं न लभते ॥११७॥

भी शोक क्रोध हर्षाद्यै गाम्भीर्य्यमविकारिता ॥

यथा—(७४ श्लोकः) 'नो कथ्यते किमु कथाविषयो यदि स्यात्' इत्यादि ।

स्व भावादप्रतिच्यावो धैर्य्यं शोके महत्यपि ॥११८--११९॥

यथा— किमेषा तापिञ्छद्रुमलतिकया मद्भुजधिया,
स्वकण्ठं तन्वङ्गी शिव शिव दृढं पीडितवती ।
स्थिता या कालिन्दीं पयसि मम वक्षःस्थलधिये
त्यमुष्यैते तर्काः परमहह जीर्य्यन्ति हृदये ॥१२०॥

अवक्षेपाद्यवमानादेः प्रयुक्तस्य परेण यत् ।
निर्वापकं भवेत्तेजः

पश्यामि, यदतिमधुरत्वं न लभते ॥११७॥

श्रीकृष्णस्य पूर्व राग प्रसङ्गेन नो कथ्यते इति पद्यमुक्तम्, तत्रैव गाम्भीर्य्यस्योदाहरणं ज्ञेयम् । महत्यपि शोके स्वभावादप्रतिच्यावोऽचलनं धैर्य्यम् ॥११८--११९॥

माथुर विरहे अत्यन्त व्याकुलां श्रीराधिकां स्मृत्वा स्वयमपि व्याकुल श्रीकृष्णः स्वगतमाह--किमेषेति । एषा मद्भुज बुद्धया तमालवृक्षस्य शाखया स्वकण्ठं पीड़ितवती, अथवा, मद्वक्ष.स्थल धिया कालिन्दी जले स्थितेति नाना वितर्का अमुष्य श्रीकृष्णस्य हृदये जीर्णा भवन्ति, नतु वहिः कोऽपि विकारः प्रकटो भवतीतिभावः ॥१२०॥

है, जो तुम्हारे अङ्ग में स्थान-प्राप्तकर अति रमणीयता मण्डित नहीं होती ॥११७॥

भय, शोक, क्रोध, हर्षादि में जो अविकार भाव है, उसको गाम्भीर्य्य कहते हैं। उदाहरण—

"नो कथ्यते किमुकथा विषयोयदिस्यान्नो गोप्यते किमुभवेद् यदि गोपनीयः ।
अपच्यमान इव हृद् व्रण एष भावः, कृष्णस्य कामपि दशांभजते न त्विधः ॥"

यदि कहने का हो तो क्यों नहीं कहा जा सकता है। अवश्य ही वह कथनीय है, इत्यादि उदाहरण है। गुरुतर शोक उपस्थित होने पर भी स्वभाव से विचलित न होने का नाम धैर्य्य है ॥११८--११९॥

उदाहरण—हाय ! कृशाङ्गी राधिका, मदीय भुजभ्रम में तमाल तरुकी शाखा को आलिङ्गन कर क्या स्वकीय कण्ठ को निपीड़ित कर रही है, अथवा, मेरा वक्षः स्थल है, इस भ्रम से सुनील यमुना सलिल में सम्प्रति अवस्थान कर रही है, इस प्रकार विविध तर्क तरङ्ग, श्रीकृष्ण के अन्तः करण में उदित होकर अन्तः करण में ही विलीन हो जाती हैं, बाहर के लोक-तदीय मर्म पीड़ा को कुछ भी जानने में समर्थ नहीं हैं। अर्थात तर्क समूह श्रीकृष्ण के हृदय में उत्थित होकर हृदय में ही विलीन हो जाते थे, बाहर कुछ भी विकार प्रकट नहीं होता था ॥१२०॥

यथा— मदान्धेनेन्द्रेण स्वमखविधि भङ्गव्यसनिना,
महावृष्टिं सृष्टां व्रजनगरनाशाय कलयन् ।
गिरीन्द्रं श्रीकृष्णः करकिशलयाग्रेण मृदुना,
सलीलं बिभ्राणो व्रजमवितवांस्तञ्च जितवान् ॥१२१--१२२॥

दानं प्रश्रय भाषणम् ।
अमित्रेषु च मित्रेषु साम्यमौदार्य्यमिष्यते ॥१२३॥

साम्यन्तु फलगतम्, यथा—
आपीय पूतनायाः, सहचर जननी गणस्य च स्तन्यम् ।
सदयः सममेव ददौ, जननीत्वं यः स एव वः पायात् ॥१२४॥
वाग् वेशयो र्मधुरता शृङ्गारे ललितं तु तत् ॥१२५॥

परेण शत्रुणा कृतस्याक्षेपमानादेः प्रतीकारं विनैव स्वत एव, निर्वापणजनकं यद् भवति तत्तेजः, स्वस्य मखभङ्गाज्जातं व्यसनं श्रीकृष्णे कटूक्त्यादिकं यस्य तेन सृष्टां वृष्टिं पश्यन् ॥१२१--१२२॥

अमित्रमित्रयोर्दानं प्रश्रयभाषणं साम्यमौदार्य्यम् ॥१२३॥

साम्यमिति—अमित्र मित्रयोरेक फल दातृत्वांशेनैव भगवतः साम्यम्, न तु स्नेहाद्यंशेनेति ज्ञेयम् । सदयः श्रीकृष्णो ब्रह्म मोहन प्रसङ्गे व्रजवासिनी समूहस्य च स्तन्यमापीय ॥१२४॥

शृङ्गारे रसे वाग् वेषयोर्यन्मधुरता, तदेव ललितम् ॥१२५॥

शत्रु कर्तृक अधिक्षेप, अवमानादि अनुष्ठित होने से जिस से उसको शान्त किया जाता है, उसका नाम तेजः है । उदाहरण यह है—

मदान्ध देवराज इन्द्र—स्वकीय यज्ञ विधि भङ्ग होने पर व्यसन ग्रस्त होकर व्रजपुरी विनाश हेतु महावृष्टि का अनुष्ठान में प्रवृत्त हुये थे । यह देखकर करुणामय श्रीकृष्ण,—सुकोमल कर किसलय के अग्र भाग के द्वारा अवलील क्रम से गोवर्द्धन गिरि को धारण कर व्रज पुरी की रक्षा किये थे, एवं शत्रु को पराजित किये थे ॥१२१--१२२॥

मित्र एवं अमित्र उभय के प्रति दान, प्रश्रय भाषण, एवं साम्य को औदार्य्य कहते हैं । यहाँ मित्र अमित्र--उभय के पक्ष में एक प्रकार फल लाभ ही साम्य है ॥१२३॥

शत्रु मित्र उभय को एक प्रकार फल प्रदान करना ही यहाँ पर समता है, किन्तु स्नेहादि अंश में किन्तु समता नहीं है ।

उदाहरण—जिन्होंने सहचर जननीवृन्द को एवं पूतना के स्तन्य पान करके सदय अन्तः करण से उभय को युगपत् जननीत्व प्रदान किया है, ब्रह्म मोहन प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण, सदय होकर व्रज वासिनी समूह के स्तन्य पान किये थे । वह भगवान् मधुसूदन तुम सब की रक्षा करें !॥१२४॥

शृङ्गार रस में वाक्य एवं वेश की जो मधुरता है—उसको ललित कहते हैं ॥१२५॥

यथा— विपिन लतादल कुसुमै विभूष्य राधां हरिः प्राह ।
त्वं सुमुखि ! कृष्ण पक्ष प्रणयवती कुञ्जदेवता कापि ॥१२६॥

अथान्येऽप्यस्य च तद् व्यतिरिक्त ऊह्याः । तत्रदिग्दर्शनम्—
मुरली विनोद--विद्या, हृद्या सङ्गीत भङ्गिरनवद्या ।
अविकलमखिलकलाकुल, मविरामं रास लास्यमभिरामम् ॥१२७॥

अथ नायिका भेदाः,—

तत्र "परोढ़ां गणिकाञ्चापि वर्जयित्वात्र नायिकाः" इति परोढ़ा-गणिकयोः साधारण्येन रसाभास परत्वमेवेति प्रवादो लौकिक एव, अलौकिके तु श्रीकृष्णाधिकरणकत्वे स्तदेक मात्र निष्ठत्वान्न रसाभासः, 'अनौचित्य प्रवर्त्तिता आभासाः' इति तदभावात् प्रत्युत औचित्यमेव । तेन परकीयाऽवान्तर भेद प्राप्त परोढ़ात्वमङ्गीकृत्य नायिका भेदानाह—

वन्य लतादिभिः सामान्य वस्तुभि रिति । वेश मधुरता, माधुर्य्य लक्षणे तथैवोक्तत्वात् । हे सुमुखि राधे ! श्रीकृष्णस्य मम पक्षे प्रणयवती, देवतापक्षे जनैर्दत्तम्, कृष्ण पक्षे, हव्य कव्यादिकं भुङ्क्ते । अत्र श्रीकृष्ण पक्षे प्रणयवती भवतीति वाङ् मधुरता ॥१२६॥

अस्य श्रीकृष्णस्य पूर्वोक्ताष्टगुण व्यतिरिक्ता गुणा ऊह्याः । अविरामो निरन्तरमखिल वस्तुषु शिल्पने पुष्पादि कलाकुलमविकलं वैकल्य रहितम्, अभिरामं मनोज्ञम् ॥१२७॥

अनौचित्येन नरक सम्पादकत्व—पारिमित्यादि दोषेण प्राकृते प्रवर्त्तिता रसा आभासं भवन्तीत्यर्थः । पारिमित्यन्तु स्त्रियाः सम्पूर्णाग्रह समये पुरुषस्यासामर्थ्य रूपम् ।

उदाहरण—श्रीहरि,—वन्य लता एवं पुष्प पल्लव के द्वारा श्रीराधिका को विभूषित करके कहे थे-अयि सुमुखि ! तुम कृष्ण पक्ष में प्रणय शालिनी अपूर्व एक कुञ्ज देवता हो, अर्थात् देवता वृन्द जिस प्रकार कृष्ण पक्ष में हव्यादि भोजन करते रहते हैं, इस हेतु उस पक्ष में ही उन सब की अधिक प्रीति होती है ॥१२६॥

श्रीकृष्ण के पूर्वोक्त अष्टविध गुण के अतिरिक्त जो गुण समूह हैं, सुधीगण स्थानान्तर में दृष्टान्त अनुसन्धान करें । एक श्लोक में उसका दिङ्मात्र उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।

भगवान् के गुण समूह—क्या गणना के आयत्त में हैं । उनकी मुरली विनोद लीला भी कितना हृद्य है । सङ्गीत भङ्गी भी किस प्रकार अनवद्य है । निखिल कला कलाप कितने हृदय वेद्य हैं । निखिल कला कलाप भी किस प्रकार विकलता शून्य हैं । और अविराम उस रास नृत्य भी किस प्रकार रमणीयता पूर्ण है ॥१२७॥

अनन्तर नायिका भेद का वर्णन करते हैं—उसके मध्यमें 'परोढ़ा एवं गणिका व्यतीत रमणीगण नायिकाके मध्यमें ग्रहणीय हैं । इस वाक्य के द्वारा परोढ़ा एवं गणिका की साधारणता हेतु जो रसाभास परता प्रतिपादित होती है, वह लौकिक स्थल में है । अलौकिक स्थल में अन्य प्रकार नियम है । श्रीकृष्ण

स्वकीया परकीयेति नायिकादौ द्विधा मता।
ऊढ़ानूढ़ेति च पुनः परकीया भवेद् द्विधा ॥
मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वकीया तु त्रिधा भवेत्।
मध्या—प्रगल्भयोर्भेदाः षड् धीरादि प्रभेदतः ॥
धीरा, अधीरा, धीराधीरा—इति भेदास्त्रयः।
कनिष्ठ--ज्येष्ठरूपत्वात्तयो र्द्वादशधा मतम् ॥

तयोः षट् प्रकारयोर्मध्या—प्रगल्भयोः कनिष्ठ ज्येष्ठत्वं श्रीकृष्ण प्रेमतारतम्येनैव, न तु वयसा। मुग्धाया एक रूपत्वेनानयो र्द्वादशत्वेन ॥१२८--१३०॥

तेन त्रयोदश स्वीयाः परोढ़ा स्यादलौकिके।
त्रयोदश विधा साऽपि,

लोके पूर्वैः परोढ़ा न गण्यते, तेन स्वीया भेद एव त्रयोदश विधोगणितः, परकीया तु कन्या रूपतया एक विधैव गणिता। यतोऽलौकिके परोढ़ापि संमन्यते, ततः सापि त्रयोदश विधेत्यर्थः। तेन मिलित्वेत्यर्थः।

श्रीकृष्णे तु त्वनन्त कोटि गोपीभिः सह विहारेऽपि सम्पूर्ण सामर्थ्यम्। अतस्तासामेवपर भवः न तु कृष्णस्य। अतोऽत्र सम्पूर्ण रस एव, अतएव कृष्णे तदभावादीश्वरत्वेनानौचित्य दोषाभावात्। परोढ़ात्त्वमिति--अप्राकृते परोढ़ारमणमपि रसमङ्गीकृत्येत्यर्थः मुग्धाया एकरूपत्वमेव, अतो मध्या प्रगल्भयोरेव धीरादिभेदत षड् भेदा उच्यन्ते। अनयोर्मध्या प्रगल्भयोः॥१२८--१३०॥

तेनेति—स्वकीयायास्त्रयोदश भेदैः सह मिलित्वा षड् विंशतिर्भेदा उक्ताः। अभिसारिका वासकसज्जेत्यवस्थाभिरष्टोत्तरशतद्वयी। परोढ़ाभिन्ना कन्या केनाप्यविवाहिता। तस्या भेदचतुष्टयमाह--

---

विषयक रति की तन्मात्र निष्ठता हेतु कभी भी रसाभास नहीं हो सकता है। कारण,—रस, अनौचित्य प्रवर्त्तित होने से ही आभास होता है। यहाँ पर उसका सम्पूर्ण अभाव है। किन्तु अलौकिक स्थल में परकीया का औचित्य ही स्थापित हुआ है। अतएव परोढ़ा को परकीया का ही अवान्तर भेद मानकर नायिका भेद का वर्णन करते हैं।

स्वकीया एवं परकीया भेद से नायिका दो प्रकार हैं। स्वकीया भी मुग्धा--मध्या प्रगल्भा भेद से तीन प्रकार हैं। धीरा, अधीरा, एवं धीराधीरा भेद से मध्या एवं प्रगल्भा षड् विध हैं। मध्या एवं प्रगल्भा के उक्त षड् विध भेद, कनिष्ठ एवं ज्येष्ठरूपता हेतु द्वादश भेद होते हैं। उक्त कनिष्ठत्व एवं ज्येष्ठत्व श्रीकृष्ण के प्रेम तारतम्य से होता है, वयस् के भेद से किन्तु नहीं होता है। इस रीति से उक्त उभय के द्वादश एवं मुग्धा का एक—मिलकर स्वकीया के त्रयोदशभेद होते हैं॥१२८--१३०॥

परोढ़ा भी अलौकिक स्थल में नायिका के मध्य में गणित होने से, उसके उस प्रकार त्रयोदश भेद को लेकर षड् विंशति भेद होते हैं। अभिसारिका एवं वासक सज्जादि अष्टविध अवस्था भेद से दो सो

तेन षड् विंशतिर्भेदाः ॥
अवस्थाभि रथाष्टाभिरष्टोत्तरशतद्वयी ।
कन्या ज्येष्ठकनिष्ठत्वान्मृदुमध्य मृदुत्वतः ।
चतुर्भेदास्ततस्तासां स द्वादशशतद्वयी ।
अत्युत्तमप्रकृत्यादितया ताः स्युः पुनस्त्रिधा
षट् त्रिंशत्--सहिता तेन षट्शती नायिका भेदा
अत्युत्तमा, उत्तमा, मध्यमा—इति त्रैधम् ।
तत्र सिद्धाः सुसिद्धाश्च नित्यसिद्धा इति त्रिधा
स्त्रियोऽवतीर्णास्तेन स्युर्वसुशून्यग्रहेन्दवः (१६०८)
सिद्धा मुनिरूपाः, साधनसिद्धाश्च, सुसिद्धाः श्रुतिरूपा दैव्यश्च,
नित्यसिद्धा राधाद्या रुक्मिण्याद्याश्च स्वभावसिद्धाः ।
अथैतासामादितो लक्षणानि—
स्वकीया तु कृतोद्वाहा पित्राद्यैः स्वयमर्पिता ॥
या तु यूढ़ापि गोपेन लोकधर्मानपेक्षिणी
कृष्णैकताना रागेण प्ररोढ़ा व्रज एव सा ॥१३१--१३८॥

कन्येति । ज्येष्ठा कनिष्ठा च, अत्यन्तमृद्वी, मध्यमृद्वी च, नायिका भेदानां षट् त्रिंशत् सहिता षट्शती भवति । नित्यसिद्धा इत्यस्य व्याख्या स्वभावसिद्धाः । एताः स्त्रियो गोकुलेऽवतीर्णाः तेन पूर्वोक्त संख्याया स्त्रीगुणीकृतेन वसुशून्य ग्रहेन्दवो नायिका भेदा भवन्ति ॥१३१--१३८॥

आठ भेद होते हैं । ज्येष्ठा, कनिष्ठा, अत्यन्त मृदु एवं मध्य मृदु रूप कन्या के चतुर्भेद को लेकर २१२ दो सो बारह भेद होते हैं ।

अत्युत्तम, उत्तम, एवं मध्यम प्रकृति भेद से ६३६ छसौ छत्तीस संख्या होती है । उस में भी सिद्ध, सुसिद्ध एवं नित्यसिद्ध भेद त्रय विशिष्ट जो सब नायिका गोकुल में अवतीर्ण हुई थीं, तद्गत उक्त भेदत्रय को लेकर नायिका के १६०८ एक सहस्रनवशत अष्ट भेद होते हैं ।

मुनिरूपा एवं साधन सिद्धा नायिका वृन्द सिद्धा शब्द से उल्लिखित हैं । श्रुति रूपा नायिका एवं देवपत्नी वृन्द—सुसिद्धा हैं, एवं राधिका रुक्मिणी प्रभृति स्वभावसिद्ध नायिका नित्यसिद्धा हैं ।

प्रथम से इन सबों का लक्षण वर्णन करते हैं--पित्रादि स्वयं जिस को अर्पण करते हैं, तादृशी कृतोद्वाहा नायिका का नाम--स्वकीया है ।

गोप कर्त्तृक परिणीता होकर भी जो लोक धर्म की अपेक्षा न करके अनुराग हेतु कृष्णैकताना चित्त हुई थीं वे ही व्रज मण्डल में परोढ़ा शब्द से उल्लिखित हैं ।।१३१-१३८।।

पित्रादि दानात् प्रागेव पित्रादेरप्यसंम्मतौ ।
यातानुरागा या कन्या सा भैष्मी कुण्डिने यथा ॥
पितृ भ्रात्रादि सङ्कोचात् स्वधार्ष्ट्याविभयादपि ।
गूढ़ा यस्या रति र्गाढ़ा सर्वथा सुरसायते ॥१३९-१४०॥
कात्यायनी व्रतपरा सा कन्या सर्वदा व्रजे ।
एवं विधैव कविभिः परकीयैव वर्ण्यते ।
परपाणिगृहीता तु कृष्ण एव हि शोभते ।
नैकान्यनायके यस्मात्तस्मान्नान्यत्र सा किल ॥१४१--१४२॥

अथ मुग्धादेर्लक्षणम्—

अभिनवविकसितयौवनमदनविकारा मृदुर्माने ।
वार्त्तायामपि सुरतेः, पराङ्मुखी सत्रपा मुग्धा ॥१४३॥

तत्र नव यौवन यथा—

पदोः पारिप्लव्यं नयनमहरन्मध्यगुरुतां
स्तनश्रोणी मान्द्यं धिय इव ह्रियो वाग् व्यवसितिः ।

कुण्डिने कुण्डिन पुरे, भैष्मी रुक्मिणी । व्रजस्थकात्यायनीव्रतपराणां कन्यकानां स्वरूपमाह-- पितृ भ्रात्रेति । सुष्ठु रसायत इति परोढ़ानामिव रसोत्कर्ष हेतुभूतस्य पित्रादि कृत--निवारण दुर्लभता-- प्रच्छन्नकामत्वादेः सत्त्वाद्गोपान्तरेण सह विवाहाभावेऽपि नक्षतिः ॥१३९--१४२॥

अभिनवौ विकसितयौवनमदनविकारौ यस्याः ॥१४३॥

अथ बाल्ये सर्वत्र स्वच्छन्द गमनागमनेन पदद्वयस्य चाञ्चल्यमासीत् । नेत्रद्वयस्य कन्दर्प विकार रूप

पित्रादि कर्त्तृक सम्प्रदान के पूर्व में जो पिता प्रभृति की असम्मति से भी प्रणय पात्र में अनुरागिणी होती है, तादृश नायिका कन्या नाम से अभिहिता है ।

कुण्डिन पुरमें रुक्मिणी देवी इसका उदाहरण हैं, पिता, भ्राता, प्रभृति के निकट सङ्कोच हेतु एवं निज धृष्टता-प्रकाश-जनित भय हेतु जो गूढ़भाव से गाढ़ रति परायणा होती है, वे सर्वथा रस वहा हैं । कात्यायनी व्रत परायणा उस प्रकार नायिका व्रज में कन्या नाम से अभिहित है ।

पण्डित वृन्द—इस प्रकार परकीया का वर्णन करते हैं । परपाणि ग्रहीत्री नायिका श्रीकृष्ण के पक्ष में ही शोभित है । अपर नायक में नहीं । इस हेतु अन्यत्र परोढ़ा रमणी नायिका के मध्य गम्य नहीं होती है ॥१४१--१४२॥

अनन्तर मुग्धादिका लक्षण वर्णन करते हैं — जिस का यौवन अभिनव विकसित है, मदन विकार भी अभिनव समुदित है, जिस की लज्जा प्रिय सखी है, सुरत सम्बन्धीय कथोपकथन में भी जो पराङ्मुखी है, मान ग्रहण में जो मृदु है, तादृश नायिका मुग्धा नाम से अभिहिता है ॥१४३॥

शिशुत्वे राधाया विगलदधिकारे सति तनौ
किमङ्गान्यन्योऽन्यं दधत इव लुण्ठाक पदवीम् ॥१४४॥

नवमदन विकारा यथा—

कटाक्षं सोष्यन्ती व्यथत इव नेत्रान्त लहरी
निरातङ्कं वक्षो जन नयनतः शङ्कृतः इव ।
शिशुत्वं तारुण्योदयमपि नयन्त्यास्तनु तुलां
स्मरोऽस्या निस्पन्दं कलयति मनः कण्टकमिव ॥१४५॥

माने मृदु यथा---

सख्या शिक्षित पाठितानि सुभृशं वाग्म्योपदेशाक्षरा
व्यद्यावश्यमभीष्टसङ्गसमये सम्पादनीयानि हि ।

चाञ्चल्यं नासीत् । यौवनारम्भे तु वैपरीत्यमभूदित्योवोत्प्रेक्षालङ्कारेणाह पदोरिति । बाल्ये स्थितं पदोश्चाञ्चल्यं यौवनारम्भे नयनामहरत् । एवं बाल्ये स्थितां मध्ये गुरुतां पुष्टतां स्तन श्रोणी महरताम् । यौवने स्तननितम्बयोः पुष्टता अभूदिति भावः । तथा बाल्ये यथा बुद्धेस्तथा लज्जाया अपि मान्द्यमेवं वचनस्याधिक्यमासीत् । यौवनारम्भे तु तयोर्मान्द्यं वाग् व्यवसितिर्वाक् प्रयोगोऽहरत् । तथा बुद्धि लज्जयो राधिक्यं वचनस्याल्पत्वमभूदितिभावः । राधायास्तनुरूप देशे बाल्यरूपस्य राज्ञोऽधिकारे गते सति ।१४४।

एवं यौवनारम्भे बाल्यस्य यत् किञ्चिन्मात्र तत्त्वात् क्षीणत्वं यौवनस्याप्यारम्भ मात्रत्वात् क्षीणत्वम् एवं सति शिशुत्वं तारुण्योदयश्च तनु तुल्यां क्षीणवस्तुतुलनां नयन्त्याः प्रापयन्त्यास्तस्या राधाया नेत्रान्त लहरी कटाक्षं सोष्यन्ती व्यथत इव । सू प्रसवे धातुः । तथा च कटाक्ष रूपोऽपत्य प्रसवं करिष्यन्ती तत् पूर्वां व्यथां प्राप्नोतीव, यथार्भकप्रसवपूर्वं काचिद् व्यथां प्राप्नोति । यौवनस्यारम्भात् कटाक्षे चिकीर्षा बाल्यस्य शेषात् कर्त्तुं न शक्नोतीति व्यथा जायत इति भावः ।

पूर्वं निरातङ्कं निःशङ्कं वक्षः स्थलम्, अधुना जन-नयनात् शङ्कृते । तथा अस्या- स्मरः कन्दर्पः, निष्पन्दं निष्क्रियम्, अर्थात् कन्दर्प क्रिया रहितं मनः कण्टकमिव पश्यति ।।१४५।।

उसके मध्य में अभिनव यौवना का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं—

नयन युगल चरण युगल की चञ्चलता को अपहरण किये हैं, स्तन एवं नितम्बदेश मध्य भागका गुरुत्व को ले लिया है, वाक्य विन्यास भङ्गिने बुद्धि मान्द्य के समान लज्जा मान्द्य को भी आक्रमण किया है। फलतः श्रीराधिका के देह राज्य में शैशव का अधिकार स्खलित होने के कारण उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग समूह जैसे परस्पर लुण्ठन कार्य्य में प्रवृत्त हुये हैं ।।१४४।।

अभिनव यौवना का उदाहरण— नयन युगल ने चरण युगल की चञ्चलता को हरण किया है, स्तन एवं नितम्ब देश, मध्य भाग का गुरुत्व को ग्रहण किया है । वाक्य विन्यास भङ्गिनें बुद्धि मान्द्य के समान लज्जा मान्द्य को आक्रमण किया है । फलतः-श्रीराधिका के देह राज्य में शैशव का अधिकार स्खलित होने के कारण उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग समूह जैसे लुण्ठन कार्य्य में प्रवृत्त हुये हैं ।।१४५।।

इत्थं चेतसि निश्चयो व्यजनि यः कृष्णस्य सन्दर्शने
सद्योऽसौ सह चेतसापसृतवांस्त्रस्तास्मि त्वया हृदः ॥१४६॥

सुरत पराङ्मुखी यथा—

अयि प्राणेभ्योऽपि प्रणयवसतिस्त्वं प्रियसखी
ममैवेति प्रायो निरणयमहं पङ्कजमुखि ।
इदानीन्तु ज्ञातं व्रजपतिसुतस्यैव भवती
यतस्तत् प्रीत्यर्थं मदनभिमताय स्पृहयते ॥१४७॥

अनभिमतमत्रसुरतम् ।

सत्रपा यथा— आपृष्टा नमयति वक्त्रमीक्षमाणा,
नेत्राब्जे मुकुलयति व्रजेशजेन ।
यान्तीषु प्रणयि सखीषु याति पश्चा
धानङ्गो नमयति कोमलः मनोऽस्याः ॥१४८॥

काचिद् यूथेश्वरी स्वगतमाह—सद्येति । असौ निश्चय चेतसा सह हृदो मम हृदो हृदयादप मृतवान्, अत स्तस्याः सख्याः सकाशादहं त्रस्तास्मि न जाने सा किं वदिष्यतीति शङ्काकुलास्मीत्यर्थः ।१४६।

अयि पङ्कज मुखि ! प्राणेभ्योऽपि प्रेम पात्रीत्वं ममैव प्रियसखीति अहं निरणयम्, निर्णयं कृतवती, यत स्तस्य श्रीकृष्णस्य प्रीत्यर्थं ममानभिमतं सुरतं वाञ्छति ॥१४७॥

श्रीकृष्णेन पृष्टा सा वक्त्रं नमयति, तेनेक्ष्यमाणा सती नेत्राब्जे मुकुलयति—मुद्रिते करोति । तस्मादस्याः कोमलं मनः कन्दर्पो न नमयति, कोमलत्वान्मनः कदाचित् त्रुटयत्यपीति भयान्न नमयतीत्यर्थः ॥१४८॥

मान ग्रहण में मृदु का उदाहरण—प्रिय के प्रति मान ग्रहणादि प्रतिकूल व्यवहार करने के निमित्त सखीने यत्न पूर्वक जो जो शिखाई है—आज सम्मिलन समय में सबको सम्पादन करूँगी—इस प्रकार मानसिक निश्चय था । किन्तु श्रीकृष्ण के दर्शन से ही सहसा चित्त के सहित वह निश्चय अपहृत होने से मैं नितान्त लज्जिता ही गई हूँ मैं नहीं जानती हूँ. सखी इसको जानने से मुझ को क्या कहेगी—इस शङ्का से मैं आकुल हूँ ॥१४६॥

सुरत पराङ्मुखी का उदाहरण—अयि पङ्कजमुखि ! तुम तो प्राण से भी अधिक प्रेम पात्री हो, प्रियसखी हो, यही धारणा मेरी थी । किन्तु सम्प्रति मैं जान गई हूँ । कि तुम व्रजराज तनय की ही एकान्त प्रणयिनी हो, तुम उनकी प्रीति सम्पादन हेतु मेरा अनभिमत कार्य में भी स्पृहावती हो गई हो । यहाँ पर सुरत कार्य्य में उनका अभिमत नहीं है, यह जानना होगा ।

सलज्जा का उदाहरण—यह है—व्रजराज कुमार पूछने पर मुखचन्द्र अवनत करती हैं. दृष्टि पात करने से नयन कमल मुकुलित करती हैं, प्रिय सखी गण गमन में प्रवृत्त होने पर पश्चात् पश्चात् गमन

अथ मध्या—मध्या सुललित सुरता, मध्यम समुदीर्ण यौवना नोच्चैः।
व्रीडावतीषदीषत्, प्रागल्भ्या निभृत वैदग्ध्या ॥१४९॥

तत्र सुललित सुरता—यथा (१४ श्लोक में) "निर्यातायां त्वयि" इत्यादि ॥१४८॥

मध्यम समुदीर्ण यौवना यथा—

स्तनौ स्तवक विभ्रमौ विहसितं प्रसूनोद्गति
वचो मधुरसो दृशावभिमुखस्थितौ खञ्जनौ।
भ्रुवौ भ्रमर-मण्डली करपदं नवाः पल्लवा
स्त्वमेव सखि राधिके मदन कल्प वल्ली भुवि ॥१५०॥

नोच्चै व्रीडावती यथा—आकृष्टे रमणेन नील वसने निर्मोचितं रायतैः
केशौघैर्निरवाहयः सखि तनोः साम्मुख्य सङ्गोपनम्॥

मध्याया लक्षणमाह—मध्येति। नोच्चैरपि तु ईषद् वती निर्यातायां त्वयीत्यादि पूर्वोक्त पद्यमेवोदाहरणं ज्ञेयमिति ॥१४९॥

हे राधे! त्वं कन्दर्पस्य, भुवि स्थिता कल्पवल्ली, भवसि। कल्पवल्ली साधर्म्यमाह—तव स्तनौ स्तवक विभ्रमौ पुष्प गुच्छ विलास-रूपौ परस्पर सम्मुखतया स्थितौ कल्पवल्ली निष्ठ खञ्जनौ तव दृशौ। तव भ्रुवौ कल्पवल्लीस्थित भ्रमर मण्डली। कर पद मिति प्राण्यङ्गत्वात् समाहारद्वन्द्वः ॥१५०॥

करती रहती हैं। आश्चर्य्य है—अनङ्ग—श्रीराधा के अन्तःकरण को अवनत करने में समर्थ नहीं है।१४८।

अनन्तर मध्या नायिका का वर्णन करते हैं—

"मध्या नायिका सुललित सुरता, मध्यम रूप समुदीर्ण यौवना, अनधिक लज्जावती, ईषत् प्रागल्भ्या एवं निभृत अर्थात् गूढ़ वैदग्ध्या होती है। उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

"निर्यातायां त्वयि विरमितो मालया रत्नदीप:
कृष्णे चोलं क्षपयति मया स्वस्तिकः सन्निबद्धः।
नीवीग्रन्थिं हरति सहसा संहतो रूप दिष्ट
बुद्धया बाहुः सखि समधिका वल्लभ स्ते बलेन ॥"

"तुम कुञ्ज गृह से निर्गत होने से मैंने माला के द्वारा रत्नदीप को आवृत किया। यह श्लोक उसका उदाहरण है।१४९॥

मध्यम रूप समुदित यौवना का उदाहरण—

सखि राधिके! धरातल में तुम्हीं साक्षात् मदन कल्पवल्ली हो, अर्थात् कन्दर्प रूपा कल्पलता हो। देखो, तुम्हारे वक्षोजद्वय—कल्पलता के स्तवक के तुल्य शोभित हैं, हास्योदय—पुष्प समूह की कान्ति को हरण कर रहा है, वचनामृत मधुरस के गर्व को खर्व किया है। नयन युगल—उक्तलता में परस्पर के सम्मुख भाव में अवस्थित खञ्जन युगलवत् प्रतीत होते हैं। एवं भ्रू युगल—भ्रमर वली का एवं करचरण-नव पल्लव का सारूप्य को धारण किये हैं ॥१५०

जिह्रेमि स्मरणेऽपि तस्य यदियं कृष्णाष्टमी यामिनी
वासीत् सुन्दरि सम्मुखार्द्धं तिमिरा पश्चार्द्धचन्द्र प्रभा ॥१५१॥

ईषत् प्रागल्भ्या यथा—मम श्रोत्रे शब्दः सुरतमिति हे कृष्ण न गतः
सखीभ्यो याचित्वा भवति यदि दास्यामि भवते ।
इति स्वोक्तं प्रातः शुकयुवतिभि र्भाषितमसौ
कयेदं वः प्रोक्तं वच इति सखीष्वेव निदधे ॥१५२॥

निभृत वैदग्ध्या यथा—परीरम्भं सेहे कथमपि मुखाम्भोज मधुनः
प्रपाणे नानेति व्यथित कर कम्पं किमपि या ।

श्रीकृष्णेन मम नील वस्त्रे आकृष्टे सति तदा आत्मानं नग्नं दृष्ट्वा निर्मोचितैः केश समूहैः करणैः सम्मुख देशस्य सङ्गोपनं निरवाहयम्, निर्वाहं कृतवती। तस्य सङ्गोपनस्य यद् यस्मादियं मे तनुर्याम-चतुष्टयात्मिका कृष्णाष्टमी यामिनी वासीत्। सा यथा प्रहरद्वयं व्याप्य चन्द्राभावेनापि तिमिरा पश्चादर्ध चन्द्र प्रभा, तथैवाहमप्यभवम् ॥१५१॥

हे सुरत रङ्गिणि ! सुरताभि लाषिणे मह्यं सुरतं दास्यसि न वेति श्रीकृष्णेन पृष्टा काचिद् यूथेश्वरी आह—ममेति 'सुरतमिति शब्दो मम श्रोत्रगतोऽपि न' इति प्रथम वचनं तदनन्तरं युष्मासु सुरतमस्ति मया श्रुतमिति श्रीकृष्णस्य वचनं श्रुत्वा सा पुनराह—मयि सम्भावनापि नास्ति, किन्तु सखीषु भवतीति चेत् ताभ्यो याचित्वा दिनान्तरे भवते दास्यामि। एतदर्थं पद्यं तदानीं तत्र स्थिताभिः शुकाङ्गनाभिः कण्ठस्थं कृत्वा प्रातःकाले सखीनामग्रे पठितम्। तच्छ्रुत्वासौ यूथेश्वरी स्वोक्तमपिवचो वो युष्माकं मध्ये कयोक्त मित्युक्त्वा सखीष्वेव निदधे। तथा च स्वोक्तं वचस्तया सखीनां शिरसि निक्षिप्तम् ॥१५२॥

अथ कुञ्ज गृहात् किञ्चिन्मिषेण सखीषु निर्गतासु एकाकिनीं यूथेश्वरीं प्राप्य श्रीकृष्णेन तया सह विलासारम्भः कृतः। गवाक्ष द्वारा तं विलासारम्भं दृष्ट्वा काचित् सखी स्वसखीं प्रत्याह—या कृष्ण कृत

अनधिक लज्जावती का दृष्टान्त—व्रजेन्द्र नन्दन मेरा वसन आकर्षण करने से मैंने केश पाश को उन्मोचित करके उस से शरीर के सम्मुख भाग को आवृत किया। किन्तु हे सुन्दरि ! उस सङ्गोपन भाव का स्मरण करके मेरी लज्जा होती है, कारण, उस समय मेरा शरीर उस प्रकार अवस्थापन्न होकर सम्मुखार्द्ध अन्धकारमयी एवं अपरार्द्ध चन्द्र प्रभामयी कृष्ण पक्षीय अष्टमी निशा का आकार धारण किया था ॥१५१॥

ईषत् प्रागल्भ्या का उदाहरण—

हे कृष्ण ! सुरत यह शब्द कभी भी मदीय कर्ण में प्रविष्ट नहीं हुआ है। सखीवृन्द के निकट प्रार्थना करके यदि मिल जाय तो अवश्य तुम्हें दूँगी। इस प्रकार निजोक्ति को प्रभात में शुक पत्नी के मुख से उच्चारित होते सुनकर राधिका "तुम सब के मध्य में किसने उस प्रकार कहा है ? यह कहकर उक्त वचन सखी वृन्द के ऊपर निक्षेप उन्होंने किया ॥१५२॥

निभृत अर्थात् निगूढ़ वैदग्ध्या का उदाहरण—जो राधिका, उस समय किसी प्रकार से श्रीकृष्ण

स्वयं लब्धोल्लुवासं जघनभुवि वासः स्थगयितुं
स्वयं सा श्रीकृष्णं किमपि परिरेभे दृढ़तरम् ॥१५३॥

अथ प्रगल्भा—तरुणी मदन मदान्धा, रतिरण कुशला दर व्रीड़ा।
भावोन्नता प्रगल्भा, वैदग्ध्याक्रान्तनायका कथिता ॥१५४॥

तत्र तरुणी यथा—दाहोत्तीर्णसुवर्णपूर्णकलसौ वक्षोजयोर्युग्मकं
स्मेरेन्दीवरदामतोरणततिः स्निग्धाः कटाक्षोर्म्मयः
श्रोणिः शिल्पतरङ्गमङ्गलमयं सिंहासनं निर्म्मिता
त्वं कामोत्सवमण्डलैकरचना केनासि चन्द्रावलि ॥१५५॥

मदन मदान्धा यथा—

श्लिष्टा श्लिष्यति गोकुलेन्द्र तनयेनाचुम्बिता चुम्बति
स्वच्छन्दं लिखिता नखैर्नख पदैराभूषयत्यङ्गकम्।

परिरम्भं कणमपिकृत्रिमदुःखव्यञ्जनेन सेहे, अधर मधु पानेऽपि नानेति वाम्यबोधकं कम्पं चकार, अधुना सा वाम्यं विहाय श्रीकृष्णस्य व्यापारं विनैव कामोन्मादेन स्वयमेव नीवीं बन्धाल्लब्धमोक्षं परिधेय वस्त्रं जघनदेशे स्थगयितुं स्थिरी कर्त्तुं तन्मिषेण स्वयमेव श्रीकृष्णं दृढ़तरं परिरेभे ॥१५३॥

वैदग्ध्येनाक्रान्तो नायको यया सा प्रगल्भा कथिता ॥१५४॥

श्रीकृष्ण आह—हे चन्द्रावलि ! त्वं कन्दर्पस्योत्सवे केनापि मण्डनरचनानिर्मितासि, तस्या रचनायाः स्वरूपमाह—दाहेति । आवाबुत्सवे पूर्णकुम्भोऽपेक्षितो भवति, तत् स्थानीयं तव स्तन-युगमकम् । एवमीष द्विकशितेन्दीवरमालया वनमालाततिरपेक्षिता भवति, तत् स्थानीयास्तव कटाक्षोर्म्मयः । एवमुत्सवे नानाविधशिल्पं कौशलविशिष्टं सिंहासनमपेक्षितं भवति, तत् स्थानीयस्तव नितम्बदेशो भवति ॥१५५॥

श्रीकृष्णेन नखैर्लिखिता चित्रिता सती स्वयमपि नखचिह्नैः श्रीकृष्णाङ्गमाभूषयति । यद् यस्मादियं

कृत आलिङ्गन को सहन करती थी। मुख कमल के मधुपान के समय में "ना, ना" इस प्रकार ध्वनि करके कर कम्पन के सहित स्वकीय वामता प्रकाश करती थी, किन्तु इस समय स्वयं ही मुक्त बन्ध परिधान वसन को जघन स्थल में स्थिर रखने के निमित्त श्रीकृष्ण को कसे दृढ़तर रूप में आलिङ्गन कर रही है ।१५३॥

प्रगल्भा का निदर्शन—तरुणी मदनमदान्धा, रतिरणकुशला, ईषत् लज्जावती, भावोन्नता एवं वैदग्ध्याक्रान्त नायका होती है ॥१५४॥

प्रथम—तरुणी का दृष्टान्त—अयि चन्द्रावलि ! तुम मदनोत्सव में किसी व्यक्ति के द्वारा मण्डल रचना रूप में निर्मिता हुई हो, देखो उक्त मण्डल रचना में जो पूर्ण कुम्भ का प्रयोजन होता है। तुम्हारे पयोधर युगल ही उस अग्नि शुद्ध सुवर्ण घटित कलस युगल के कार्य्य निर्वाहक हैं। स्निग्धतर अपाङ्ग भङ्गि ही फुल्लनीलोत्पल ग्रथित तोरण माला का कार्य्य सम्पादन कर रही है, एवं विपुल नितम्ब देश ही विचित्र शिल्प कौशलमय सिंहासन स्वरूप में परिणत हुआ है ॥१५५॥

शिक्षित्वा तत एव पुष्पधनुषः संग्रामविद्यामियं
तस्य क्षोभकरी यदैष्ट तदियं विद्या गुरुक्षोभिका ॥१५६॥

रतिरण कुशला यथा—

अन्योऽन्य प्रणय प्रकाश परयोरन्योऽन्यनिर्म्माल्ययोः
श्यामा माधवयो निरीक्ष्य वपुषो लक्ष्मीं रजन्याः क्षये ।
सख्या एव मनोज-सङ्गरजयश्रीसूचकाचार्यके
सामानाधिकरण्यमप्रतिहतं मेने सखीनां गणः ॥
इयमेव परखीड़ा भावोन्नतादिः ॥१५७॥

अथ मध्या प्रगल्भयोर्धीरादि भेद-कथनम् । तत्र मध्याधीरा यथा—
प्रियं वैदग्ध्यवक्रोक्त्या मध्याधीरा दहेद्रुषा ॥

ततः श्रीकृष्णादेव कन्दर्प युद्ध विद्यां शिक्षित्वा तस्य श्रीकृष्णस्य क्षोभकरी सती ऐष्ट, एश्वर्य्यं कृतवती, तस्मादस्या इयं विद्या गुरु क्षोभिका भवति ॥१५६॥

अन्योऽन्यनिर्म्माल्ययोः परस्परसम्भुक्तयोः, अतः सम्भोग जन्य क्लमेण सुप्तयोः श्यामाकृष्णयो वपुषोर्लक्ष्मीं नख चिह्नादि जन्य शोभां, गवाक्षद्वारा निरीक्ष्य द्वयोर्मध्ये सख्या एव कन्दर्प युद्धे जयसम्पत्ति सूचकाचार्य्यत्वे सामानाधिकरण्यमवैयधिकरण्यमप्रतिहतं सखीगणो मेने ।

तथा च सख्या एव अवैयधिकरण्ये जय सम्पत्तिः, नतु कृष्णस्य, तस्य तु युद्धे पराभवेऽपि ममैव जित मिति वैयधिकरण्येनैव जय सम्पत्तिरिति भावः । आचार्य्यस्य भाव आचार्य्यकम्, आचार्यत्वमित्यर्थः ॥१५७॥

अथ धीरत्वाधीरत्वादिकं मानदशायामेव प्रकटी भवति । अतो मानिनीत्वेनोदाहृत्य धीरादिभेदानाह-अथेति ॥१५८॥

द्वितीय—मदन मदान्धा, का उदाहरण—गोकुल राज तनय श्रीराधा को आलिङ्गन करने से उन्होंने भी उनको आलिङ्गन, चुम्बन करने से चुम्बन, नखाङ्कन करने से उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग को नखाङ्कित किया । श्रीराधा ने श्रीकृष्ण के निकट कन्दर्पदेव की संग्राम विद्या को सीखकर सम्प्रति उनको क्षोभ जनक उत्कर्ष लाभ किया । फलतः यह विद्या नितान्त ही गुरुक्षोभ जनिका है ॥१५६॥

तृतीय—रति कुशला का उदाहरण—

राधा एवं माधव अन्योऽन्य के प्रति प्रणय प्रकाश परतन्त्र होकर परस्पर के उद्देश्य में जो निज निज शरीर समर्पन किये थे, निशावसान में परस्पर उपभोग द्वारा निर्म्माल्यभूत-उक्त शरीर द्वय की शोभा को निरीक्षण करके सखीगणने, सुरत संग्राम के जय श्री सूचक आचार्य्य कर्म में सखी का ही अप्रतिहत अधिकार स्वीकार किया । इस प्रकार नायिका ही ईषत् लज्जान्विता एवं भावोन्नता प्रभृति नायिका का उदाहरण स्थल है ॥१५७॥

सम्प्रति मध्या एवं प्रगल्भा नायिका के धीरादि भेद का वर्णन करते हैं । मध्याधीरा, वैदग्ध्य एवं वक्रोक्ति के द्वारा प्रणय पात्र को रोषानल से दग्ध करती है ॥१५८॥

सा यथा-(तृतीय किरणे ३१ श्लोक) (पद्मिन्यहं कुमुदिनी किलसैव सत्यम्'
इत्यादि। धीराधीरा तु रुदितैः,

यथा—उत्खातं गुरुगौरवं कुलवती रीतिश्च निःसारिता
कृष्ण त्वत् प्रणयेन तत्कथमिदं कापट्यमालम्बसे।
इत्यालप्य तदीय पीतवसनेनावृत्य वक्त्राम्बुजं
बाला केवलमश्रुमिश्रितमुखी चारुस्वरं रोदिति॥
अधीरा निष्ठुरोक्तिभिः ॥१५९-१६१॥

यथा—साक्षाद् वर्त्तिनि जीविते मम कथं शाठ्यं त्वमालम्बसे
धिङ् मां त्वाञ्च धिगावयोः सुजनतां धिक्प्रेम धिक् तद्यशः।
किं ब्रूमः पुरुषोत्तमोऽसि जगतां भर्त्तासि मय्येव ते
धूर्त्तत्वं नहि तेन ते गुण गणः किञ्चित्तरां हीयते ॥१६२॥

सत्यभामोक्तिः ।

पद्मिन्यहं मिति पूर्वोक्तपद्यमेवोदाहरणं ज्ञेयम् ॥१५९--१६१॥

पद्मिन्यहं कुमुदिनी किलसैव सत्यं, सत्यं भवांश्च मधुसूदन एवमत्तः। वामेन, तामसुखयन्निशि दक्षिणेन, प्रातः प्रबोधयति मामपि लोचनेन (३।७१)

अथैकस्मिन् दिवसे नारदो द्वारकामागत्य एकं पारिजातपुष्पं श्रीकृष्णाय ददौ। तत् पुष्पं श्रीकृष्णेन रुक्मिण्यै दत्तम्। नारदेन कौतुकार्थमेतद् वृत्तान्तं सत्यभामायै कथितम्। तच्छ्रुत्वा सत्यभामा तु मानिनीव बभूव। तदनन्तरं तस्य मानभङ्गार्थं निकटे गत्वा श्रीकृष्ण आह हे प्रिये! एकस्य पुष्पस्य का कथा, पारिजात वृक्षमेवेन्द्रपुरादानीय तुभ्यं दास्यामीति वदन्तं श्रीकृष्णं प्रति सत्यभामा कुपिता सत्याह—साक्षादिति। सत्यभामायाः प्रेम्णोऽधीनः श्रीकृष्ण इति यशोऽपि धिक् ॥१६२॥

मैं पद्मिनी हूँ, एवं वह भी कुमुदिनी है, यह सत्य है, एवं तुम भी, जो मत्तमधु सूदन हो यह भी यथार्थ है। इत्यादि श्लोक उदाहरण है। धीरा धीरा--रोदन के द्वारा प्रिय के प्रति वाक्य प्रयोग करती रहती है।

उदाहरण—हे कृष्ण! मैंने तुम्हारे प्रणय हेतु गुरु गौरव को छोड़ दिया, एवं कुलवती की रीति को भी वहिष्कृत किया, अब तुम क्यों इस प्रकार कपटता कर रहे हो? यह कह कर, बाला उनके पीत वसन से मुख को आवृत कर अश्रु धारा से आप्लुत मुख से रोदन करने लगी। सुन्दर मुख में इस प्रकार रोदन भी कितना सुन्दर अनुभूत होने लगा। अधीरा नायिका, कान्त के प्रति निष्ठुर वाक्य प्रयोग करती है ॥१५९--१६१॥

उदाहरण – मैं सम्मुख में जीवित रहती हुई तुम मेरे प्रति कैसी शठता कर रहे हो? मुझ को धिक् और तुम को भी धिक्, हम दोनों के सुजनता को भी धिक् एवं उस प्रेम एवं यश को भी धिक्कार। मैं

अथ प्रगल्भा धीरावृत्ति-लक्षणम्—

यदि प्रगल्भा धीरा स्यादवहित्थावहेलया ।
उदास्ते प्रकृतात् कोपात् आदरं दर्शयेद् बहिः ॥१६३॥

यथा—किं पादान्तमुपैषि नास्मि कुपिता नैवापराद्धो भवान्
निर्हेतु न हि जायते कृतधियां कोपोऽपराधोऽथवा ।
योग्या एव हि भोग्यतां दिशति तन्नानौचिती कापि नौ
तेनाद्यप्रवधि गोकुलेन्द्र तनय स्वातन्त्र्यमेवास्तु ते ॥

यथा वा—दूरादुत्थितमन्तिकं प्रगते पीठं करेणार्पितं
स्मित्वा भाषिणि भाषितं मृदुसुधा-निःस्यन्दि सार्धं कियत् ।
आरूढेऽर्द्धमथासनं प्रकटितं सौभाग्यमाश्लिष्यति
प्रत्याश्लिष्टमवाप्तमेव सुदृशो व्यामल्वमालम्बयत् ॥
धीराधीर प्रगल्भा तु साकूतैर्वचनैर्मुहुः ।
प्रियमुच्चैः खेदयति ॥१६४–१६६॥

कोपादुदास्ते, नाहं कोपवतीत्युदासीना भवति ॥१६३॥
योग्या एव ते भोग्यतां वधति, योग्या एव तव भोग्या भवन्तीत्यर्थः । तत्तस्मात् नौ आवयोः काप्यनौचिती न, तथा चायोग्यत्वमस्माकमस्तीति भावः ।
स्वातन्त्र्यमिति—यत्र तवेच्छा, तत्रैव गच्छ, सम्प्रत्यहन्तु देहाद् विमुक्ता भविष्यामीति ध्वनिः ॥१६४–१६६॥

बलू तुम पुरुषोत्तम हो, निखिल जगत् के भर्त्ता हो, किन्तु मेरे प्रति इस प्रकार धूर्त्तता प्रकाश करना क्या उचित है ? इस प्रकार प्रेमाधीनों के प्रति धूर्त्ताचरण से क्या तुम्हारी गुणराशि हीन नहीं होगी ? यह उक्ति सत्यभामा की है ॥१६२॥

अनन्तर प्रगल्भा के धीरावृत्ति भेद का वर्णन करते हैं । प्रगल्भा यदि धीरा होती है तो, कोप भाव को गोपन करके—अवहेला को प्रकट करती है । एवं प्रकृत कोप विषय में उदासीन होकर बाहर आदर भाव प्रकट करती है ॥१६३॥

उदाहरण—क्यों तुम चरणों में गिर रहे हो ? मैं कुपिता नहीं हूँ, तुमने भी अपराध नहीं किया है, अकारण सुबोधजन का कोप अथवा अपराध नहीं होता है । तुम्हारी योग्या ही तुम्हारी भोग्या हो सकती है, अतएव हमारे प्रणय विच्छेद में मैं तो किसी प्रकार अनौचित्य नहीं देखती हूँ । हे गोकुलेन्द्रतनय ! तुम आज से निर्विघ्न से स्वाधीनता को प्राप्त करो ।

उदाहरणान्तर यह है—मुझको आते देखकर दूर से प्रत्युत्थान किया, समीप में मैं उपस्थित होने पर हाथ से पीठासन प्रदान किया, हँसकर कहने से, सुधाविन्दुनिस्यन्दि, मृदुमधुर वाक्य से कथोपकथन करने

यथा—नैतावतापिसमयेन तवोपलब्धं, चेतोयदन्तरं गतैव तदावृणीते ।
तप्तेऽपि चेतसि ममाविरतं यदास्से, पूर्णास्मि तेन किमनेन वहिः स्थितेन ॥"

स्थितं--स्थितिः ।

पराऽवीक्ष्यैव निन्दति ॥

परा अधीर प्रगल्भा, अवीक्ष्यैव अदृष्ट्वैव ॥१६७--१६८॥

यथा—सख्यः कथं परिमलो विमलः प्रसर्पी, श्यामो निलीय चिरमस्तिकुतः स वामः ।
तल्पान्तिके तव निवारयताशु यातु, धूर्त्तस्य तस्य वदनं न विलोकयामि ॥१६९॥

एतावतापि समयेन एतावत् काल पर्य्यन्तं तव चेतोमया नोपलब्धं न प्राप्तं, यद् यस्मात् सा मम वैरिणी, तवान्तः करणं गतासती त्वच्चेत आवृणोति । तथा च सर्वदेव त्वच्चेतोऽवाप्य स्म तिष्ठति, अतो मत् स्मरणं तव कथं भवेदिति ध्वनिः । किन्तु तव विरहेण तप्तेऽपि मम चेतसि त्वं तादृश तापमध्ये यत् सततमास्से, तेन हेतुना अहं पूर्णास्मि, अतस्तवानया वहिः स्थित्या किम् ? तथा च सम्प्रति तवात्रागमनं व्यर्थमिति भावः । तेन च त्वत्स्मरणमहं सततं करोमि, त्वया तु स्वप्नेऽपि न स्मर्यते इत्युपालम्भो ध्वनिः । स्थितमिति भावसाधनं ज्ञेयम् ॥१६७--१६८॥

सखी यूथेश्वर्य्योरुक्ति प्रत्युक्तो- आह—सख्य इति । हे सख्यः ! सर्वत्र प्रसर्पी विमलः श्रेष्ठः परिमलः कुत आघ्रातः ? सखी आह—श्रीकृष्णश्चिरं व्याप्य निलीय अस्ति । यूथेश्वर्य्याह-स मम वामः प्रतिकूलः कुत्र ? सखी आह—तव तल्पान्तिके । यूथेश्वरी आह—यूयं निवारयत, मन्निकटात् शीघ्रं यातु गच्छतु ॥१६९॥

लगी । अनन्तर आसन का अर्द्ध भाग ग्रहण करने से—निज सौभाग्य प्रदान किया, एवं आलिङ्गन करने से आलिङ्गन भी किया । फलतः सुलोचना को इस प्रकार व्यवहार ही उसका आन्तरिक कोप कुटिल भाव को प्रकाश करने लगा ।

धीराधीरा प्रगल्भा पुनः पुनः साभिप्राय वचनसे प्रियतम का अत्यन्त मनः क्लेश उत्पन्न करती रहती है ॥१६४--१६६॥

उदाहरण—हे कृष्ण ! इतने समयमें भी तुम्हारे चित्तकी उपलब्धि मैंने कर नहीं पाई, कारण, वह मेरी वैरिणी तुम्हारे अन्तः करण को प्राप्तकर सतत उसको आवृत कर बैठी है, जो भी हो, तुम मेरा यह सन्तप्त चित्तमें जो अविरत अवस्थान करते रहते हो, उससे ही मैं परिपूर्णा हूँ, बाहर रहने का प्रयोजन तुमको और नहीं है ।

अधीर प्रगल्भा प्रियतम को न देखकर ही निन्दा करती रहती है ॥१६७–१६८॥

उदाहरण—हे सखियों ! कह सकती हो, कहाँ से इस प्रकार निर्म्मल सौरभ चतुर्द्दिक की सुरभित करके प्रवाहित हो रहा है ? सखियों, श्याम, यहाँ पर छिप कर हैं, अतः उस प्रकार सौरभ दिगन्त को आमोदित कर रहा है । यूथेश्वरी प्रत्युत्तर में बोली— यह क्या ? वह कपटी यहाँ कहाँ है ? सखियों ! तुम सब आशु उसको मना करो, उसकी जहाँ इच्छा जाय, मेरे निकट में आनेका कोई प्रयोजन नहीं है,

अथासां ज्येष्ठ–कनिष्ठत्व भावो यथा—

एकत्रैव कृतासनं स्थितवती राधा समं श्यामया ।
श्यामेन प्रहितं समं सुमनसामासाद्य दामद्वयम् ।
श्यामा वक्षसि दातुमैच्छदुभयं साकृष्य तद्वक्षसि
प्रादादेकमथावतार्य्य कवरी पूजां चकारात्मनः ॥

अत्र श्यामायाः कनिष्ठत्वं व्यङ्ग्य कनिष्ठत्वं व्यङ्ग्य कवरीपूजाशब्दाभ्याम् ॥१७०॥

मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा च मिश्रभावात् पुनर्नव ।
आदि मुग्धा, मध्यमुग्धा, अन्तिममुग्धा च । एवमन्येऽपीति नव ॥१७१॥

अत्र मुग्धा त्रैविध्यं यथा—

मान ग्राहण साग्रह प्रियसखी शिक्षोपरोधादसौ
तूष्णीमेव चिरं निमील्य नयने नम्राननैव स्थिता ।

एकत्रैवासने श्यामया सह स्थितवती राधा श्रीकृष्णेन प्रहितं सममेकाकारं माल्यद्वयं प्राप्य उभयमेव श्यामाया वक्षसि दातुमैच्छत्, श्यामातु, माल्यद्वयमाकृष्य राधाया वक्षसि प्रादात् ।

पश्चादेकं माल्यं राधायाः कण्ठादवतार्य्य तेन माल्येनात्मनः कवरीपूजां चकार । तन्निर्माल्येन स्वस्य मस्तकस्थ संयत केश पूजाकरणे श्यामायाः कनिष्ठत्वमायातमिति ज्ञेयम् ॥१७०॥

मिश्रभावादादि मध्यादि शब्देन सह मिलनादादिमुग्धेत्यादि भवति । आदि मुग्धा, मध्यमुग्धा अन्तिममुग्धा अल्पमुग्धेत्यर्थः ॥१७१॥

श्रीकृष्ण सुबलं प्राह— मान ग्राहणे आग्रहेण सह वर्त्तमाना या प्रियसखी तस्याः शिक्षोपरोधात्

मैं और उस धूर्त्त का मुख दर्शन नहीं करूँगी ॥१६९॥

धीर प्रगल्भा का ज्येष्ठा एवं कनिष्ठता भेद से भाव भेद होता है । उदाहरण—श्रीराधिका श्यामा के सहित एकासन में उपविष्टा रही, उस समय श्रीकृष्ण के द्वारा प्रेषित तुल्याकृति पुष्प माल्यद्वय को प्राप्त कर श्यामला के वक्षः स्थल में प्रदान हेतु उन्होंने प्रयत्न किया, किन्तु श्यामा ने तत् क्षणात् माल्य युगल को आकर्षण करके राधिकाके वक्षस्थल में प्रदान किया । अनन्तर श्यामाने वहाँ से एक मालाको लेकर उससे स्वकीय कवरी की पूजा सम्पादन किया ।

इस श्लोक में कवरी एवं पूजा--उभय शब्द के द्वारा श्यामा का कनिष्ठत्व व्यञ्जित हुआ है।१७०।

मुग्धा मध्या प्रगल्भा ये त्रिविध नायिका—अत्यन्त मुग्धा, मध्य मुग्धा एवं अल्पमुग्धा- इत्यादि रूप में मिश्र भावापन्न होकर नवविध होती हैं ॥१७१॥

उसके मध्यमें मुग्धाके तीन प्रकार का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।—प्रिय सखी मण्डली राधिका को मान ग्रहण कराने के निमित्त अत्यन्त आग्रहवती होने से–राधिका उनसब के शिक्षा वाक्य के अनुरोध

रोषान्धस्य मदीयदूषणकथावेशेन वाचालतां
श्रुत्वा बन्धुजनस्य कातरमुखी कर्णं करेणारुणत् ॥१७२॥

नेत्रे किं विनिमीलयामि दयितस्तत्रापि संदृश्यते ।
चेतः किं कठिनीकरोमि सततं तत्राप्यसौ खेलति ।
दोषान् किं गणयामि तस्य गुणतां गच्छन्ति ते तत्क्षणात्
मानोऽन्येन पथा भवेद् यदि तदा सख्यः स एवोच्यताम् । १७३॥

रोमाञ्चैः सम मुत्थितं प्रथमतो मानेन सार्द्धं दृशो
रश्रु च्यावितमाननेन च समं नीतं ममांहोऽप्यधः ।–
सख्यश्चाभरणैः समं मुखरितास्तूष्णीकतां प्रापिता
मामालोक्य चिरार्जितोऽपि सुदृशा कोपस्तया विस्मृतः ॥१७४॥

रोषान्धस्य सखीजनस्य वाचालतां श्रुत्वाऽत्यन्तमोाध्यवशात् प्रत्युत्तर दानेऽसामर्थ्यात् केवलं कर्णमेव रुद्धं चकारेत्यर्थः ॥१७२॥

तत्रापि निमीलितनेत्रेऽपि दयितः संदृश्यते, ते दोषास्तत्क्षणे दोषत्वेन वर्शनक्षणे गुणतां गच्छन्ति । हे सख्यः! भवद्भिरुपदिष्टान्मार्गत्रयादन्येन पथा यदि मानः सम्भवेत्, तदा स एव मह्यं उच्यताम् ॥१७३॥

सखीभि र्यत् शिक्षितम्, मम दर्शने तत् सर्वं विपरीतमभूदिति श्रीकृष्ण आह—प्रथमतो मामालोक्य सुदृशा तयासनादुत्थितम्, रोमाञ्चैः सममुत्थितमित्यनेन रोमाञ्चोऽपि जातः, मानस्य का कथेति भावः। दृशोरश्रुतया च्यावितं भूमौ पातितं मानेन सार्धमिति मानोऽप्यधः पातित इत्यर्थः। अंहो ममापराधोऽपि मुखेन सहाधोनीतं लज्जया मुखमपि नम्रीकृतमिति ज्ञेयम् ।

अस्माकं निकटे मागच्छ. इतो दूरीभवेत्यादि वाक्यै र्मुखरिता सख्योऽपि अत्याग्रहेण तया तूष्णीकतां प्रापिताः । आभरणैः सममिति हस्तादि चालनेन निवारण समये तासां कङ्कणाद्यलङ्कारा अपि मुखरिता बभूवुरिति ज्ञेयम्। तासां तूष्णीकत्वे ते तूष्णीं बभूवुरित्यर्थः ॥१७४॥

से अनेक समय मौन अवलम्बन पूर्वक नयन मुद्रित करके अवनत वदन से अवस्थान करने लगी, अनन्तर वे सब रोषान्ध होकर मदीय विविध दोषोद् घोषण के सहित वाचालता आरम्भ करने से उसको सुनकर कातर मुखी होकर हस्तके द्वारा कर्ण विवर को अवरुद्ध कर लिया ॥१७२॥

नेत्र युगल को निमीलित करके ही क्या होगा ? उससे प्रियतमको तो देखा नहीं जायेगा । चित्त को कठिन करके भी फल क्या होगा ? प्राणेश्वर तो वहाँ निरन्तर क्रीड़ा करता रहता है, तदीय दोष का अनुसन्धान करके भी क्या होगा ? दोष अनुसन्धान में प्रवृत्त होने से ही दोष समूह तत् क्षणात् गुण में परिणत हो जाते हैं। हे सखियों ये तीन प्रकार उपायों से मान करना--मेरे पक्ष में तो असम्भव है, उसको छोड़ कर यदि अन्य कोई पथ हो तो मुझे कहो ॥१७३॥

सुलोचना – मुझको दूरसे अवलोकन करके ही प्रथमतः रोमाञ्चहोकर आसन से उत्थित हो गई,

अथ मध्या त्रैविध्यम्—

पादान्तं गमितः चिरमनुनयैना, नीता प्रसादं शनैः
शाठ्यं स्खलितं मया निगदिता भूयः कृते साहसे।
न्यञ्चत् कन्धरमुत्स्मितं मयि मनाग् व्यापारयन्ती दृशं
सीमन्ताग्रनिवेशिताञ्जलिपुटं राधा व्यधाद् वन्दनम् ॥१७५॥

आलि त्वं वनमालिना निगदिता प्राणेश्वरि प्रीयतां
दैवादेष ममानयः समजनि क्षन्तव्य एष त्वया।
इत्याकर्ण्य सखीमुखात् प्रियवचो मूर्धानमाधुन्वती
सा स्मित्वैव शिखामणि प्रणयिने चक्रे प्रणामाञ्जलिम् ॥१७६॥

त्रिविधमुग्धा एव मान ग्रहणेऽसामर्थ्यात् मानाक्षमा इति पूर्वमुक्तम् श्रीकृष्ण: सखायं प्रत्याह— अथ कुञ्जगृहे उपविष्टां राधां सम्बोध्य 'हे प्रिये चन्द्राननेः' इति वक्तव्ये दैवान्मन्मुखात् चन्द्रावलीति वाक्यं निर्गतं स्यात्, तच्छ्रुत्वा सा मानिनी बभूव। ततो मया नाना यत्नेन सा प्रसादं नीता, कौतुक वशाच्छाठ्येन स्वेच्छयैव पूर्वोक्तं चन्द्रावलीति स्खलितं निगदिता मया भूयस्तस्या मानोत्पत्त्यर्थं साहसे कृते सा मच्चातुर्यं बुद्ध्वा हे धूर्त्त शिरोमणे! 'तुभ्यं नमः' इत्युक्त्वा सीमन्ताग्रनिवेशिताञ्जलिपुटं यथा स्यात्तथा वन्दनं व्यधात् ॥१७५॥

काचित् सखी स्वयूथेश्वरीमाह— हे आलि! श्रीकृष्णेन त्वं निगदितासि। श्रीकृष्णस्योक्ति मेवाह— दैवादेष ममानयोऽपराधः समजनि। एषोऽपराधस्त्वया क्षन्तव्य इति प्रियस्य वच आकर्ण्य मस्तकस्थ शिखामणि संयुक्तं 'धूर्त्तायतस्मै नमः' इति प्रणामयोधकाञ्जलिं चक्रे ॥१७६॥

मानके सहित नयनाश्रु पातित करने लगी, निज मुख मण्डलको सहित मेरा अपराध को भी उसने अधःकृत किया, एवं आभरण के तुल्य अति मुखर सखी गण को भी मौन व्रत अवलम्बन कराया। इस प्रकार मेरा दर्शन से चिरसञ्चित कोप को वह सहसा भूल गई ॥१७४॥

मध्याके तीन प्रकार का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

'चन्द्राननें!' इस प्रकार कहते कहते 'चन्द्रावलि' इस प्रकार वाक्य स्खलन होने पर राधिका नितान्त कुपिता होने पर मैंने अनेक समय पर्यन्त अनुनय पूर्वक चरण प्रान्त में पतित होकर उनको प्रसन्न किया, अनन्तर छल पूर्वक पुनर्वार उस प्रकार वाक्य स्खलन रूप आचरण करनेसे प्रिया उसको समझ गई, और ईषत् हँसकर मेरे प्रति दृष्टि सञ्चालन पूर्वक— "धूर्त्त! तुमको नमस्कार" यह कहकर नत कन्धर से सीमन्त के अग्रभाग में अञ्जलि सन्निवेश पूर्वक मुझको प्रणाम किया ॥१७५॥

हे सखि! वनमालीने तुमको इस प्रकार सन्देश भेजा है कि— प्राणेश्वरि! अब तुम प्रसन्न होओ, दैवसे मुझसे यह अपराध बना पड़ा है, इसको क्षमा कर देना उचित है, सखी से प्रियतम का इस प्रकार वाक्य को सुनकर राधिकाने मस्तक कम्पन पूर्वक हँसकर "उस धूर्त्तको नमस्कार" यह कहकर मस्तकस्थ

दूराद् द्राघयतेऽवगुण्ठन पटं लीलाङ्गुलीमुद्रया

प्रत्यासेदुषि मय्यसौ करयुगेनापादयत्यञ्जलिम् ।

आपृष्टाननन पद्ममीतमयति स्पृष्टा समुत्कम्पते

दाक्षिण्यं किमु वामतां सुतनोर्नावैदि किञ्चिमन्या ॥१७७॥

अथ प्रगल्भा त्रैविध्यम्—

दुरादुत्थितमन्तिकं मयि गते पीठं करेणार्पितं

स्मित्वा भाषिणि भाषितं मृदुसुधा निःस्यन्दिमन्दं कियत् ।

आरूढेऽर्द्धमथासनं प्रकटितं सौभाग्यमाश्लिष्य तु

प्रत्याश्लिष्टमवामतैव सुदृशो वामत्वमाख्यापयत् ॥१७८॥

अति गूढ़ मानत्वाद्धि प्रगल्भाधिमदशास्थितेव

नो सङ्गीतकमालपन्ति न शुकीरध्यापयन्त्यालयो

नानन्दस्तव मन्दिरेऽद्य किमिति स्वं दोषमाच्छादयन् ।

श्रीकृष्ण आह—हे सखे ! सा मां दूराद् वीक्ष्य लीलायुक्तयोऽङ्गुलि मुद्रयाऽवगुण्ठनं द्राघयते दीर्घं करोति । मयि प्रत्यासेदुषि निकटवर्त्तिनि सति आदर बोधक कर युगेनाञ्जलिं करोति । आपृष्टा ईषद् वाक्येन पृष्टा, मया हस्तेन स्पृष्टा सा ॥१७७॥

दूरादेव मां दृष्ट्वा तया आसनादुत्थितम्, पश्चान्मयि निकटं गते सति, मयि स्मित्वा भाषिणि सति तया मन्दं यथा स्यात्तथा कियद् भाषितम् । कथम्भूतम् ? सुधायाः मृदुक्षरणमिव । तस्याधीतेन मयि आरूढे सत्यात्मनः सौभाग्यं तया प्रकटितम् । मयि तामाश्लिष्यति सति तयापि प्रत्याश्लिष्टम्, सा प्रत्यालिङ्गनं कृतवतीत्यर्थः । सुदृशश्चन्द्रावल्या अवामता अकुटिलतैव वामत्वमख्यापयत् ॥१७८॥

श्रीकृष्णः सुबलमाह – हे सखे ! स्वेन मयैव कृतं यद् दोषं तमाच्छादयितुं तां मानिनीं प्रति तव मन्दिरेऽद्यानन्दः कथं न भवतीत्यहं यदि चेत्, तदा क्रोधेन अरुणापाङ्गया तयापीदं वक्ष्यमाणं जगदे—

शिरोमणि संयुक्त प्रणामाञ्जलि का विधान किया ॥१७६॥

मैं दृष्टि पथमें पतित होने से दूरसे ही लीलामयी अङ्गुली मुद्रा के द्वारा प्रिया, अवगुण्ठन वसनको दीर्घ करने लगती है, मैं निकट वर्त्ती होने पर कर युगल के द्वारा समादर सूचक अञ्जलि रचना करती है, किञ्चित् प्रश्न करने से कम्पित होने लगती है इस प्रकार सुतनु,—मेरे प्रति वामता वा अनुकूलता को प्रकट करती है । मैं उसको समझ नहीं पाया ॥१७७॥

प्रगल्भा के तीन प्रकार का उदाहरण—मुझको दूरसे आते देखकर ही आसन से उठ कर खड़ी हो गई, समीप में मैं आने पर हाथ से आसन प्रदान किया, हँसकर वाक्यारम्भ करने से अमृत बिन्दु निस्यन्दि मृदुमधुर दो चार वार्त्तालाप भी किया, अर्द्धासन ग्रहण करने से निज सौभाग्य प्रकाश किया, आलिङ्गन करने से प्रत्यालिङ्गन प्रदान किया । इस रीतिसे सुलोचना की अवामताने ही वामता को प्रकट किया ।१७८

यद्यप्येवेऽहमिदन्तयापि जगदे भुगैनारुणायाङ्गया
तुभ्यं धूर्त्तधिये नमोऽस्तु भगवन् मह्यञ्च वीतह्रिये ॥
अन्तिम प्रगल्भा यथा—(१५६ श्लोके) 'शिलष्टाशिलष्यति गोकुलेन्द्र तनयम्' इत्यादि ।१७९।
अथासामवस्था भेदेनाष्टविधत्वमुच्यते । लक्षणेनैव संज्ञा गम्या ।
अथ विरहोत्कण्ठितादिक्रमः—
गाढ़ानुरागा प्रागेव लब्धसङ्गापि हेतुके ।
विरहे वर्धितोत्कण्ठा विरहोत्कण्ठिता मता ॥ १८० ॥
हेतुकः इति मानादि हेतुके, नतु केवलेविरहे ।
यथा—अन्तः कृन्तति मर्म मुर्मुरयति प्राणान् पिनष्टीव मे
दौरात्म्याद् यदनादरोऽद्य विहितः कृष्णे मया मूढ़या ।

हे भगवन् ! धूर्त्ताय तुभ्यं नमः । वीतह्रिये निर्लज्जायै मह्यमपि नमः । त्वदुक्ति श्रवणमेव मम निर्लज्जत्व चिह्नमिति ज्ञेयम् ॥१७९॥

अथेति । आसां प्रेयसीनामुत्कण्ठिताद्यवस्था भेदेनाष्टविधत्वमालङ्कारिकै रुच्यते । तेषामवस्था-भेदानां लक्षण करणेनैव नामान्यपि ज्ञेयानि । तत्रावस्थासु विरहोत्कण्ठितादीनां क्रमोयथा,—प्राक्--पूर्वं, गाढ़ः पूर्वानुरागो यस्याः, सा पश्चाल्लब्ध सङ्गापि प्रथमतः क्रोधाधीन मानजन्य विरहे सति पश्चात् कोपे शान्ते सति च कान्तेन सह मिलनेन वर्धिता उत्कण्ठा यस्याः सा विरहोत्कण्ठिता ज्ञेया ॥१८०॥

मयाद्य कृष्णे योऽनादरो विहितः, स ममान्तः करणं छिनत्ति । मुर्मरस्तुषाग्निः, मर्म तादृशाग्निवत्

अति गूढ़ मान हेतु इस प्रगल्भा नायिका है—इस के परवर्त्ती दशा में अवस्थिता नायिका का उदाहरण है ।

श्रीकृष्ण सुबल को कहे थे—मैंने निज दोषाच्छादन हेतु जिस प्रकार कहा—हे सुन्दरि ! आज तुम्हारे मन्दिर में कुछ भी आनन्द चिह्न नहीं दिखाई देता है ? सखी वृन्द-सङ्गीत आलाप भी नहीं कर रही हैं, शुकाङ्गना वृन्दको भी अध्ययन नहीं करा रही हैं ।' यह सुनकर ही मानिनी रोषारुण कुटिल कटाक्ष निक्षेप पूर्वक बोली--भगवन् ! तुम्हारी धूर्त्तता को भी नमस्कार, एवं मेरी निर्लज्जता को भी नमस्कार ॥१७९॥

अवस्थाभेद से उक्त नायिकावृन्दके अष्टविध भेद होते हैं, उसका पृथक् रूपसे नाम निर्देश करना आवश्यक नहीं है, कारण, लक्षण के द्वारा ही सज्ञा की प्रतीति होगी । सम्प्रति विरहोत् कण्ठिता के क्रमसे विवरण प्रस्तुत करते हैं ।

प्रथम गाढ़ानुरागा । एवं पश्चात् लब्ध संज्ञा होकर भी प्रथमतः कोपादि हेतु जो अभिमानिनी होती है, एवं तत् पश्चात् कोप का उपशम होने से अभिमानादि-हेतु विरह में मिलनार्थ नितान्त उत्कण्ठता होती-है, उसको विरहोत्कण्ठिता कहते हैं ॥१८०॥

मान हेतु कोप शान्त होने पर मिलनार्थ उत्कण्ठा होती है, केवल विरह में नहीं । इस प्रकार

तं वा सङ्गमयस्व सुन्दरि मया मज्जीवितं तेन वा
द्वाभ्यां नापरमस्ति किञ्चिदपि मे सन्ताप निर्वापकम् ॥१८१॥
सङ्केतस्थं प्रियं ज्ञात्वा सह सख्यैकिकाथवा।
गत भीर्याऽभिसरति सा भवेदभिसारिका ॥१८२॥

यथा —श्याम त्वामभि सर्त्तु मुद्धतमसे पादार्पण प्रक्रमे
स्रस्तोनील निचोलक स्तनुरुचा निर्धूतमन्धं तमः।
विश्वं तावदिलावृतायितमभूद् गौरेऽमिलद् गौरिमा
तेनालक्षितमाजगाम सुतनुः प्रेमण स्तवेदं यशः ॥१८३॥

अन्यासक्तेन कान्तेन खण्डिताशा तु या निशि।
प्रातस्तद् भोग चिह्नानि वीक्ष्योद्विग्ना तु खण्डिता ।

करोति। हे सुन्दरि ! मया सह तं श्रीकृष्णं सङ्गमयस्व। अथवा तेन सह मज्जीवितं सङ्गमयस्व ॥१८१-१८२

सख्या सह किंवा एकाकिन्यभिसरति। हे श्याम ! सुतनुर्मम सखी त्वामभिसर्त्तु गाढ़ान्धकार रात्रौ पादार्पणारम्भे त्वरातिशयाद्वक्षान्नीलवस्त्रं स्रस्तम् न वस्त्ररूपावरणे सतेसति तनुकान्त्याऽन्धकारोऽपि गतः। ततोऽभिसारे महान् विघ्नोबभूव। पश्चाद् भाग्येन तस्यदेहस्य पीत कान्त्या विश्वमेव इलावृतायितं पीतं वर्णमभूत्। सुमेरो निकट वर्त्ति भूमिरिलावृत संज्ञा। सा भूमिः सुमेरोः पीतकान्त्या सदा पीतवर्णा एवेति। ततो गौरवर्णे वृन्दावन प्रवेशे तस्या देहस्य गौरतामिलत्। तेन हेतुना अलक्षितं यथा स्यात्तथा तव निकटे आजगाम। त्वद् विषयक प्रेमण एवेदं यशः ॥१८३॥

अन्य नायिका सक्तेन; अतएव निशि तन्निकटागमने ऽसमर्थेन श्रीकृष्णेन खण्डिता सम्भोगाशा यस्याः

विरहोत्कण्ठिता का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

मैं मूढ़मति हूँ, दौरात्म्य हेतु श्रीकृष्ण के प्रति जो अनादर प्रकाश किया हूँ, वह मेरी अन्तःकरण को जैसे छेदन कर रहा है, तुषाग्नि से मर्मस्थल को जैसे दहन कर रहा है, एवं प्राण को जैसे पेषण कर रहा है। हे सुन्दरि ! मेरे सहित उनको मिलन कराओ, अथवा उनके सहित मेरा जीवन को सम्मिलित करो, ये दो को छोड़कर मेरा सन्ताप निवारण का और तीसरा उपाय नहीं है ॥१८१॥

प्रियतम को सङ्केत स्थल में अवस्थित जानकर सखी के सहित अथवा एकाकिनी निर्भयचित्त में जो अभिसरण करती है—उसको अभिसारिका कहते हैं ॥१८२॥

हे श्यामसुन्दर ! गाढ़ अन्धकार के समय तुम्हारे अभिसरण करने में इच्छुक प्रियसखी गमनारम्भ करने पर गमन वेग से उनका नील वसन विगलित हो पड़ा। एवं आवरण शून्य शरीर के प्रभाजाल से घनान्धकार दूरीभूत हुआ।

उस समय विश्वमण्डल सुमेरु के समीपवर्त्ती इलावृत वर्षके तुल्य गौर वर्ण होने के कारण विशेषतः गौरवर्ण वृन्दावन में स्वकीय गौरिमा सम्मिलित होने के कारण आप अलक्षित रूपसे आने में समर्थ हुये हैं।

हे कृष्ण ! यह तुम्हारी अपूर्व प्रेम रूप यशोराशि मात्र है, और कुछ नहीं है ॥१८३॥

यथा (तृतीय किरणे ७१ श्लोकः) 'पद्मिन्यहं कुमुदिनी किलसैव' इत्यादि ॥१८४॥

दूतीभिः प्रार्थ्यमानोऽपि गन्तास्मीत्युक्तवानपि ।
देवान्नायाति यत् कान्तो विप्रलब्धेति सा स्मृता ॥

यथा।—सुमुखि स किमवादीदेष यामीति तस्मात्,
कथमजनि विलम्बो मास्म भूः सन्दिहाना ।
कथय किमु भवत्या यास्यते तत्र भूयः,
किमथ मदसुभिर्वा तुल्यमेतद् द्वयं मे ॥१८५–१८६॥

कोपेनान्तरिता या तु कलहान्तरिता तु सा ॥१८७॥

एवम्भूता या प्रातः कालेऽपराधमार्जनार्थमागतस्य श्रीकृष्णस्य सम्भोग चिह्नानि वीक्ष्य कोपेन मानिनी अभूत्, सा खण्डितोच्यते ॥१८४॥

एष श्रीकृष्णो यामीति किमवादीत्, यदि अवादीत् तदा विलम्बः कथमजनि ? तस्मात् हे सखि ! तस्यागमने सन्दिग्धापि त्वं माभूः। स तु नागत एव; अधुना किं कर्त्तव्यं कथय। तदानयनार्थं भवत्या यास्यते, किम्वा मत्तु प्राणैर्वा। त्वं मत्प्राणाश्च एतद् द्वयं प्रेमास्पदत्वेन समतुल्यमेव।

तथा च विरह ज्वालया स्थातुमसमर्थाः प्राणा यदि मद् देहाद् गता तदा मद्विच्छेदेन तव महद् दुःखं भविष्यति। अतो युष्मद् गमनमेवोचितमितिध्वनिः ॥१८५–१८६॥

कोपेनान्तरिता रहिता ॥१८७॥

कान्त अन्य नायिका में आसक्त होने पर निशा में जिसकी आशा खण्डित होती है, अनन्तर प्रभात में कान्त के अङ्ग में सम्भोग चिह्न समूह को अवलोकन करके जो अत्यन्त उद्विग्ना होती है, उस नायिका का नाम खण्डिता है। तृतीय किरण के ७१ श्लोक इसका उदाहरण है, श्लोक यह है—

'पद्मिन्यहं कुमुदिनी किल सैव सत्यं, सत्यं भवांश्च मधुसूदन एवमत्तः।
वामेनतामसुखयन्निशि दक्षिणेन, प्रातः प्रबोधयसि मामपि सौहृदेन ॥

मैं पद्मिनी हूँ, वह भी कुमुदिनी है, यह सत्य है, एवं तुम भी जो मत्त मधुसूदन हो यह भी यथार्थ है ॥१८४॥

दूती वृन्दके द्वारा प्रार्थित होकर भी एवं स्वयं आगमन को अङ्गीकार करके भी जिसका कान्त दैव से नहीं आता है, उसको विप्रलब्धा कहते हैं। उदाहरण—

हे सुमुखि ! इन्होंने क्या कहा,—मैं अभी आ रहा हूँ। तब क्यों विलम्ब हो रहा है ? 'सखि ! उनके आगमन विषय में किसी प्रकार सन्देह न करो।' निःसन्देह कैसे होगा ? तुम क्या पुनर्वार वहाँ जाओगी, अथवा मेरा प्राण वहाँ गमन करेगा ? निश्चय पूर्वक कहकर मुझको निरुद्विग्न करो। फलतः तुम और मेरा प्राण—उभय ही मेरे निकट तुल्य प्रेमास्पद हैं।—यह जानना ॥१८५–१८६॥

जो नायिका पदानत कान्त को परित्याग करके पश्चात् अतिशय ताप अनुभव करती है, अनन्तर

यथा—अस्माभिः सह चाटुकृत् गणितः पादानतो माधवः
कोपोऽयं बहुमानितो न च वयं प्राणेश्वरो नाप्यसौ ।
चन्द्रश्चन्दनमारुतः पिकरुतं सम्भूय सर्वं यदा
तामुद्वेजयिता तदैष सकलं कोपसमाधास्यते ॥१८८॥

वासगेहे वेशभूषा ताम्बूल वसनादिभिः ।
सुसज्जाऽपेक्षते कान्तं सा स्याद् वासकसज्जिका ॥१८९॥

यथा—ताम्बूल-माल्य-वसनाभरणानुलेपाः सम्पादितास्तवकृते स्वयमेतया ये ।
ते ह्येव तां त्वयि विलम्बति तत्क्षणेन सन्तापयन्ति वितुदन्ति विमोहयन्ति ।१९०

कार्य्यान्तरेण प्रवासं गते सति भवोऽधिपे ।
तदेकवश्यैव या तिष्ठेत् सा स्यात् प्रोषितभर्तृका ॥१९१॥

मानभङ्गार्थं तन्मन्दिरें गत्वा प्रणत्यादि परे श्रीकृष्णे कोपादेशेन स्वगृहान्निष्कास्य कोपेगतेसति पश्चात्तापवती स्वसखीमाह—हे सखि ! श्रीकृष्णः क्वगतः, शीघ्रं समानय । इत्युक्तवतीं यूथेश्वरीं प्रति सखी आह—अस्माभिरिति । मारुतो—वसन्तानिलः, एतत् सर्वं सम्भूय मिलित्वा यदा त्वां विरहिणी-मुद्वेजयिता उद्दीपनत्वेन खेदयिष्यति, तदा एष कोप एव सकलं समाधानं करिष्यति । किमस्माभि निकृष्टाभिरिति सखीनामाक्षेपोध्वनिः ॥१८८॥

हे श्रीकृष्ण ! तन्निमित्तं ये ताम्बूलादय एतया मम सख्या सम्पादिताः, तव विलम्बे सति ते एव ताम्बुलादयस्तां वितुदन्ति—व्यथयन्ति ॥१८९-१९०॥

प्राण्डव दर्शनार्थं कृष्णे कुरुदेशान् गतेसति महिषीणां नयन कमल लहरी कटाक्षादिकं नास्तीति ।

जिसका कोप का उपशम होता है, उसका नाम कलहान्तरिता है ॥१८७॥

माधव--चरणों में निपतित होकर कितना ही अनुनय विनय हम सब से किया, किन्तु तुमने कुछभी नहीं माना, तुमने कोप को ही सम्मानित किया । प्रिय का एवं हम सब का सम्मान तुमने नहीं रखा । न रखो, तुम्हारे कोप की ही जय हो, किन्तु जिस समय, चन्द्र, चन्दनानिल, कोकिल कलध्वनि प्रभृति सम्मिलित होकर तुमको उद्विग्न करने में प्रवृत्त होंगे, उस समय यह कोप ही सब समाधान कर देगा, यह जानना, हम सब तो अतितुच्छ हैं, हम सब से प्रयोजन ही क्या है । यह ध्वनित हुआ ॥१८८॥

वेष भूषा ताम्बूल वसनादि द्वारा सुसज्जिता होकर जो नायिका वासगृह में कान्त की अपेक्षा करती रहती हैं, उसको वासक सज्जिका कहते हैं ॥१८९॥

उदाहरण—हे कृष्ण ! यह मेरी सखी तुम्हारे निमित्त ताम्बूल, माल्य, वसन, आभरण एवं अनुलेपन प्रभृति को जो सज्जित करके रखी है, तुम्हारे आगमन में विलम्ब होने के कारण वे ही उसको सन्तापित, व्यथित, एवं विमोहित करते रहते हैं ॥१९०॥

प्राणेश्वर, कार्य्यान्तर हेतु प्रवास गत होने पर जो नायिका तन्मनस्का होकर अवस्थान करती है,

यथा—न वाणी नस्पन्दो न च नयन पङ्केज-लहरी
न वीणादेर्गानं श्रुतिरपि न चालीजन कथा ।
कुरून् याते कृष्णे पुरि पुरि महिष्यः समभवन्
पटे चित्तोत्कीर्णा इव विरह वैधूर्य्य तनवः ॥१६२॥

निरन्तरं प्रेम वशात् पार्श्ववर्तीव यत्प्रियः ।
वाग् वशे प्राय आभाति सा स्यात् स्वाधीन भर्त्तृका ॥१६३॥

यथा—इयं मम सखी प्रिया रचय वेशमस्याः स्वयं
प्रसादय सखीमिमां मयि वृथैव जात क्रुधम् ।
इति प्रणय कौतुकादिव नियोजितो राधया
चकार रसिकाग्रणीरथ तथा तथा माधवः ॥१६४॥

अथासामलङ्काराः—यौवने सत्त्वजारतासानष्टाविंशतिसंख्यकाः ।
अलङ्कारास्तत्र भावहाव हेलास्त्रयोऽङ्गजाः

एवं वीणादेर्गान श्रवणमपि नास्ति, किन्तु ता महिष्यः पटेषु चित्र पुत्तलीव जड़ाः समभवन् । कथम्भूताः ? विरहस्य वैधुर्य्येण प्रातिकूल्येन तनवः कृष्णः ॥१६२॥

यस्याः प्रियः प्रायो वाग्वशः सन् आभाति, सा श्रीराधिका श्रीकृष्णमाह—इयं सखी ललिता ममात्यन्त प्रिया, किन्तु त्वया कृतं यदस्या विडम्बनं तन्मत् प्रेरितं ज्ञात्वा मयि वृथैव जात क्रुधामिमां प्रसाद्य, प्रसन्नां कुरु । एवं कामोन्मत्तेन त्वया खण्डितमस्या वेशं पुनस्त्वमेव रचयेति राधया नियोजितो रसिकाग्रणीः श्रीकृष्णस्तथा तथा चकार ॥१६३–१६४॥

सत्त्वजा—इति श्रीकृष्ण सम्बन्धि चेष्टेत्थ भावैराक्रान्तं चित्तंसत्त्वम्, तस्माज्जाताः सत्त्वजा इत्यर्थः,

---

उसको प्रोषितं भर्त्तृका कहते हैं ॥१६१॥

उदाहरण—श्रीकृष्ण, पाण्डव गणों के दर्शनार्थ कुरुदेश गमन करने पर तदीय महिषी मण्डली विरह क्लेश से कृशाङ्गी होकर निर्वाक् एवं निष्पन्द हो गई थीं, उन सब के नयन कमल में कटाक्ष लहरी नहीं थी, वेणु वीणा-प्रभृति के सङ्गीत श्रवण में वा सखीवृन्द के कथोपकथन श्रवण में भी उन सब की प्रवृत्ति नहीं रही; वे प्रति गृह में भित्ति शोभिनी चित्र पुत्तलिका के समान अवस्थाको प्राप्त कर चुकी थीं ॥१६२॥

प्रियतम प्रेमवश होकर प्रायशः जिसके आज्ञानुवर्त्ती होकर पार्श्ववर्त्ती के समान सतत अवस्थान करता रहता है; उसका नाम स्वाधीन भर्त्तृका है ॥१६३॥

उदाहरण—यह सखी मेरी अतिशय प्रिया है, तुम स्वयं इसकी वेश रचना कर दो, यह अकारण ही मेरे प्रति कुपिता हो गई है, इसको प्रसन्न करो, श्रीराधा, प्रणय कौतुक के छल से इस प्रकार नियोग करने से रसिक शिरोमणि श्रीकृष्ण—नियोग के अनुरूप ही तत्तत् कार्य्य सम्पन्न किये थे ॥१६४॥

शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्य्यञ्च प्रगल्भता ।
औदार्य्यं धैर्य्यमित्यते सप्तैव स्युरयत्नजाः ।
लीला विलासविच्छित्तिर्विव्वोकः किलकिञ्चितम् ।
मोट्टायितं कुट्टमितं विभ्रमो ललितं मदः ।
विकृतं तपनं मौग्ध्यं विक्षेपश्च कुतूहलम्
हसितं चकितं केलिरनुभावादिमे पृथक् ॥

यद्यप्येषु केचिदेनुभाव सदृशाः सन्ति, तथापि पृथक् । ते तु रसाभिव्यञ्जकाः,
एते तु रसाभिव्यञ्जकत्वेऽपि स्वतः समर्थाः, तेनालङ्कारा एव ।
तत्रैषां लक्षणम्: भावोयथा—

'निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथम विक्रिया ।
आलम्बनोद्दीपनोत्थ भावाद्भि स च द्विधा ॥१९५–१९९॥

तत्रालम्बनोत्थो यथा—

आधूलि केलि शतशः सह येन येयं, प्रागल्भ्यचारु रुचिरं कलहायते ।

अङ्गजा इति, नेत्रान्त भ्रू ग्रीवा भङ्गयादीनां तत् सूचकत्वात्तेभ्यं एवाङ्गेभ्यो जाताः प्रतीता इत्यर्थः, नतु वस्तुतोऽङ्गजाः,—सत्त्वजा इत्युक्तत्वात् । अयत्नजा इति शोभाद्यर्थं वेशादि प्रयत्नेन भावेऽपि शोभादयः स्युरित्यर्थः । इमे भावादयोऽनुभावाद्भिन्ना भवन्ति, तेऽनुभावा रसाभिव्यञ्जका गौणा एव । अलङ्कारास्तु रसादि व्यञ्जकत्वेऽपि स्वतः समर्थाः रसोत्पत्तौ तेषां प्राधान्येन भासस्तीत्यर्थः ॥१९५--१९९॥

येयं राधिका बाल्ये येन कृष्णेन सह धूलि केलिमभिव्याप्य शतशः कलहायते स्म, परस्परं हस्ताभ्यां ताड़नेन यत् प्रागल्भ्य तेन चारु यथास्यात्तथा, सा राधिका अधुना वयः सन्धौ तं श्रीकृष्णमपूर्वमिवेक्षमाणा

सम्प्रति उक्त नायिका वृन्द के अलङ्कारों का वर्णन करते हैं । यौवन में उन सब के सत्त्वज अष्टाविंशति संख्यक अलङ्कार होते हैं । तन्मध्यें हाव भाव एवं हेला ये तीन, अङ्गज हैं, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य्य, प्रगल्भता, धैर्य्य एवं औदार्य्य ये सात अयत्नज हैं । एवं लीला विलास विच्छित्ति, विव्वोक, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमिता, विभ्रम, ललित, मद, विकृत तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित, एवं केलि-समुदाय में अष्टाविंशति संख्य होते हैं ।

ये सब अनुभाव से भिन्न हैं । इन सब के मध्यमें किसी किसी में अनुभाव का सादृश्य विद्यमान होने पर भी वस्तुतः उस से इसको पृथक् कहना होगा, कारण— अनुभाव गौण रूप में रसादि का व्यञ्जक होता है, किन्तु ये सब अलङ्कार— व्यञ्जक होने पर भी स्वतः समर्थ हेतु अलङ्कार रूप में गण्य होते हैं ।

क्रमशः लक्षण प्रस्तुत करते हैं — निर्विकार चित्त में प्रथम विकार का नाम भाव है, उक्त भाव-- आलम्बन एवं उद्दीपन भेद से उत्थित होकर द्विविध होते हैं ॥१९५--१९९॥

आलम्बनोत्थ भाव का उदाहरण— यह राधिका— बाल्यकाल में धूलि क्रीड़ा में जिनके सहित अनेक

तं श्यामसुन्दरमपूर्वं निरीक्षमाणा, सा गण्डयोः पुलकमण्डलिकां तनोति ॥२००॥

उद्दीपनोत्थ यथा—

एतानि तानि नलिनीविपिनानि वाप्यामेते त एवमधुपा नलिनाननेषु ।
आबाल्यमेव कलितानि किमद्य राधा, नेत्रावकर्षति विलोचनमेषु लग्नम् ॥२०१॥

हृन्नेत्रादि विकारैस्तु व्यक्तोऽसौ याति हावताम् ॥२०२॥

असौ भावः ।

लोलेन किञ्चिदलसेन च किञ्चिदक्ष्णा, सा यद्विभेद हृदयं व्रजराजसूनोः ।
तस्यास्तदेव हृदयेन समं तदन्तस्तेनाध्वनेव नु विवेश नवानुरागः ॥२०३॥

सती गण्डयोः पुलकरूप मण्डनिकां भूषणं तनोतीति पौर्णमासी वाक्यमिदं ज्ञेयम् ॥२००॥

वाप्यां जलाशये एतानि प्रत्यक्षविषयीभूतानि कमलिनी विपिनानि बाल्यमभिव्याप्य यानि श्रीराधया कलितानि दृष्टानि, तान्येव । एवं कमलिन्याः कमलरूपाननेषु विद्यमाना एते मधुपा बाल्ये दृष्टास्ते एवाद्य वयः सन्धौ किं नाकर्षतीति चित्रम् । देहस्थानीया कमलिनी मुखस्थानीयं कमलं कृष्णस्थानीयो भ्रमरः । अस्मादेते उद्दीपका भवन्ति ॥२०१॥

असौ भाव एव वयस आधिक्ये कमप्युत्कर्षं प्राप्य हावो भवेत् । पूर्वापेक्षया अत्रनेत्रादेर्विकाराधिक्यं बोध्यम् । एवमुत्तरोत्तर हेलाद्यावप्येवमेव ज्ञेयम् ॥२०२॥

सा राधिका किञ्चिच्चञ्चलेन एवं किञ्चिदलसेन चक्ष्यरेण चाक्ष्णा श्रीकृष्णस्य यद् हृदयं विभेद, तेन विद्ध हृदयस्य छिद्ररूपमार्गेण तस्याः राधाया हृदयेन सह नवानुरागस्तस्य श्रीकृष्णस्यान्तः करणं विवेश, तथा च श्रीकृष्णो राधिकाया नेत्रभङ्गीं वीक्ष्य तस्या हृदयेन सह स्व विषयकानुरागो जात इत्यन्तः करणे निश्चिकायेति भावः ॥२०३॥

समय प्रगल्भ भावसे बारम्बार कलह करती थी, अधुना उन श्यामसुन्दर को अदृष्ट पूर्व के समान अवलोकन करके गण्डस्थल में पुलकावली का विस्तार कर रही है ॥२००॥

उद्दीपनोत्थ भाव का उदाहरण— श्रीराधिका बाल्य कालसे आरम्भकर जिसको निरीक्षण करती आ रही हैं, वह तो वही पद्मकानन है, एवं पङ्कज रूप आनन में जो उपवेशन करता रहा वही मधुकर है, किन्तु आश्चर्य यह है कि—अधुना उसमें दृष्टिपात मात्र से ही नयन इस प्रकार संलग्न हो गया है कि—राधिका नयन युगल को उससे आवर्षण करने में अक्षम हैं । देहस्थानीय कमलिनी है; मुखस्थानीय कमल है, एवं कृष्ण स्थानीय भ्रमर है, इससे ये सब उद्दीपक होते हैं ॥२०१॥

उक्त भाव हृदय एवं नेत्रादि के विकार हेतु अभिव्यक्त होने से हाव नाम से अभिहित होता है । इस प्रकार रीति का अनुसरण हेलादि में भी करना होगा ॥२०२॥

उदाहरण—राधिकाने ईषत् चञ्चल एवं ईषदलस नयन भङ्गि के द्वारा व्रजराज तनय के हृदय को जो विद्ध किया था, उस भेद प्राप्त हृदय के छिद्र रूप पथ से नवीन अनुराग, श्रीराधा के हृदय के सहित क्या श्रीकृष्ण के अन्तः करणमें प्रवेश किया है ? अर्थात् श्रीकृष्ण, राधिका की नेत्र भङ्गी को देखकर उसका

हेला स एवाभिलक्ष्य विकारः परिकीर्त्त्यते ॥
स एव—हाव एव ॥२०४॥

यथा—एकमप्यतिरहोऽपि तमेका, प्युत्सुकापि सखि नाहमपश्यम् ।
कोमले कुवलयादपि हन्यात्, साहसेन कतमेन कटाक्षः ॥२०५॥
हेलैव शोभा लावण्यरूपवेशादिभियुता ॥२०६॥

यथा—वेशो नवः प्रतिनवश्च वयो नवीनं, लावण्यकं मधुरिमाऽपि नवीन एव ।
कृष्णानुरागसरसी सततावगाहे, तस्या बभूवुरतिधौत निराविलानि ।२०७॥
शोभैव मन्मथोन्माथात् कान्तिरुद्दीपितद्युतिः ॥२०८॥

हाव एव पूर्वापेक्षयाधिकाभिव्यक्तिविकारः सन् हेला कथ्यते ॥२०४॥

ललिता श्रीराधामाह—हे सखि ! अद्य सुबल मुखान्मया श्रुतं कुत्राप्येकान्ते त्वया दृष्टः श्रीकृष्णो विक्षिप्त इव बभूव । सम्प्रति भोजनम्, सखिभिः सह खेलनम्, गोचारणादिकं सर्वं किमपि तस्मै न रोचते । अत एतादृशोऽसमञ्जसस्त्वया कथं कृत इत्युक्तवतीं ललितां प्रति श्रीराधा आह—अत्यन्त रहस्यस्थले तमेकमपि अहमप्येका । एवं तस्य दर्शने उत्सुकापि, तथापि तस्य क्लेशो भविष्यतीति बुद्ध्वा नापश्यम् । किन्तु मद् वर्जन समानयन् मत् कटाक्ष एवानर्थं करोतीत्याह—तं कोमलतनुं साहसेन हन्यात्, मया किं कर्त्तव्यम्, त्वयैव विचार्य्यतामिति भावः ॥२०५॥

एतैर्युता हेलैव शोभा भवेत् ॥२०६॥

नवीनो कोपः, प्रतिक्षणं नवं वयः । एतानि तस्या राधायाः श्रीकृष्ण विषयकानुराग रूप सरस्यां सततावगाहे सति वेशं वयो लावण्यादीन्यति धौतान्युज्ज्वलानि । एवं निराविलान्यल्पत्वादि दोष रहितानि बभूवुरित्यर्थः ॥२०७॥

मन्मथस्यात्युद्रेकादुद्दीपिता द्युतिर्यस्याः सा शोभैव कान्तिरुच्यते ॥२०८॥

हृदय के सहित निज विषयक जो अनुराग उत्पन्न हुआ है, इस प्रकार निश्चय किये थे ॥२०३॥

पूर्वापेक्षा विकार अधिकतर अभिव्यक्त होने पर उक्त हाव ही हेला नाम से अभिहित होता है ॥२०४॥

उदाहरण—वह अति निर्जन स्थल में एकक ही अवस्थित था, मैं भी एकाकिनी रही, एवं उसके दर्शनार्थ उत्कण्ठिता ही थी, तथापि उसके क्लेशातिशय की सम्भावना करके उसके प्रति दृष्टि निक्षेप नहीं किया । हे सखि—मेरा कटाक्ष किस साहस से उसके कुवलयाधिक सुकोमल अङ्ग में आघात करने में समर्थ होगा ? ॥२०५॥

रूप लावण्य एवं वेशादि संयुक्त होने से उक्त हेला ही शोभा नाम से अभिहिता होती है ॥२०६॥

नवीन वेश, नूतन यौवन, नव लावण्य एवं अभिनव माधुरी, श्रीराधाके ये सब पदार्थ समूह,—कृष्णानुरागरूप सरोवर में सतत अवगाहन करने के कारण अतिधौत एवं अनाविल हुये थे ॥२०७॥

उक्त शोभा ही मन्मथोद्रेक से समुज्ज्वला होने से कान्ति शब्द से कथिता होती है ॥२०८॥

यथा—को वेदरे सखि लगिष्यति, दृष्ट एव, को वेद जीवमपनेष्यति लग्न एव ।
प्रेङ्खोलिभिः परिमलैः सहसान्धयासौ, श्यामोरसः परिचितोऽवदकोऽपराधः ॥२०९॥

कान्तिरेवातिविस्तीर्णा दीप्तिरित्युच्यते बुधैः ॥२१०॥

यथा—धौताश्रुभिः प्रसवः एव कटाक्षभूमि, रुच्छ्वास एव कुचरत्नखनिः प्रतप्ता ।
बालं वयस्तदनुराग भरक्षमत्व, मध्याप्य केन गुणिनैवमकारि राधे ॥२११॥

सर्वावस्था विशेषेषु माधुर्यं रमणीयता ॥२१२॥

यथा—जलावगाहे च्युतिमेखलायाः, शैवालवल्लीकबन्धो नितम्बः ।
अकैतवं रूपमहेतुहार्दं, सर्वास्ववस्थासु सदैकरूपम् ॥२१३॥

श्रीकृष्णः स त्वयास्मन्निषेधमनादृत्य कथं दृष्टः, तदा तत् फलमपि भुङ्क्ष्व, इत्युक्तवती सखीं प्रत्याह—कोवेदेति—प्रेङ्खोलिभिः सर्वत्र प्रसरद्भिस्तस्य परिमलैः श्याम स्वरूपो रसः मया दृष्टः ॥२०९-२१०॥

पौर्णमासी आह हे राधे ! तत् प्रौढवयसोऽपि दुःसहमनुरागाभिरक्षमत्वं केनापि गुणिना नव नवीनं वयोऽप्यापय्य एवमकारि । किं कृतमित्यपेक्षायामाह येन कटाक्षरूपा भूमिः प्रसव एव प्रसूति काल एवाश्रुभिः धौता अकारि । तथा च कटाक्षस्यारम्भ एवाश्रु जलैः सर्वं प्लावितमिति भावः । एवं कुचरूपा रत्नखनिः उच्छ्वास एव उद्गम एव कामप्रतप्ता अकारि ॥२११-२१२॥

अहेतुहार्दं वेशादि हेतुं विनैव हृद्यङ्गमम्, अतएवाकैतवमकृत्रिमम् ॥२१३॥

उदाहरण—हे सखि ! दर्शन मात्र से ही जो नयनों में लग्न होगा, इस को कौन जानता ? नयनों में संलग्न होने से ही वह जो जीवन हरण करेगा ? इस को भी कौन जानता ? मैं मधु गन्ध लब्ध मधुकरी के समान अन्ध हो गई थी । इस अवस्थामें उस दूर विस्तारि सौरभसे परिपूर्ण रसमय वपुः श्रीश्यामसुन्दर सहसा जो मेरा परिचित हो गया है, इस में मेरा अपराध क्या है कहो ? ॥२०९॥

अति विपुला कान्ति ही दीप्ति नाम से अभिहिता होती है ॥२१०॥

उदाहरण—पौर्णमासी—राधिका को कह रही है—हे राधे ! प्रौढ़ वयस में भी जिस अनुराग भर को सहन करने में समर्थ नहीं होता है, तुम्हारे सुकुमार वयस जो तादृश अनुराग भर सहन क्षम हुआ है, उससे अनुमान करती हूँ कि कोई गुणिव्यक्ति उसको उस प्रकार सामर्थ्य शिक्षा देकर ईदृश अवस्था में उपनीत किया है, अन्यथा तुम्हारी कटाक्ष भूमि,—प्रसूति समय में ही क्यों अश्रुधारा से धौत होगी ? अर्थात् कटाक्ष के आरम्भ में ही अश्रुजल से सब को प्लावित किया है । यह तात्पर्य्य है । पयोधर रूप रत्न खनि, उच्छ्वास समय में ही क्यों मदन सन्तप्त होगी ? ॥२११॥

समस्त प्रकार अवस्था विशेष में जो रमणीयता है, उसका नाम माधुर्य्य है ॥२१२॥

उदाहरण—जलावगाहन समय में मेखला परिभ्रष्ट हो जाने से शैवाल वल्लीवेष्टन से ही नितम्ब देश सुन्दर शोभित होने लगा । वस्तुतः अकृत्रिमरूप एवं अहेतुक प्रणय—समस्त अवस्था में ही एक रूप रहता है ॥२१३॥

प्रगल्भता निर्भयत्वम्, ॥२१४॥

यथा—(१५६ श्लोकः) 'श्लिष्टा श्लिष्यति' इत्यादि ।

औदार्य्यं विनयः सदा ॥२१५॥

यथा—सख्या निजैरेव गुणैर्भवद्विधा, मय्येव तन्वन्त्यनुराग-सौरभम् ।
न चान्य साद्गुण्यमपेक्ष्य सौहृदं, प्रकाशयन्तीह निसर्गसाधवः ॥२१६॥

सुखे दुःखेऽपि महति धैर्यं स्यान्निर्विकारता ॥२१७॥

यथा—आस्तां त्वदीयनवयौवनपूर्णवापी,
काऽप्यत्र न करोमि निमज्जनेच्छाम् ।
इच्छामि तं कमपि कालमलज्जमुच्चै
-राक्रन्दितुं सुमुखि हा-प्रिय हा-प्रियेति ॥२१८॥

अङ्गवेशैरलङ्कारैर्लीला कान्तानुकारिता ॥
सा च द्विधा—स्वगता सखीगता च । स्वगता च द्विधा
स्वकर्त्तृका, प्रियकर्त्तृका चेति ॥२१९॥

श्रीकृष्णस्य नवयौवन पूर्णा कापीयं वापी, न त्वत्र निमज्जनेच्छां करोमि, किन्तु अलज्जं यथा स्यात्तथा, हा प्रिय, हा प्रियेत्युच्चैः क्रन्दितुं कमपि कालमिच्छामि ॥२१८॥

वेशादिभिः कान्तस्यानुकारिता सदृशी करणं लीला ॥२१९॥

निर्भीकता का नाम प्रगल्भता ॥२१४॥

उदाहरण—गोकुल राज तनय श्रीराधा को आलिङ्गन करने से श्रीराधा ने भी उनको आलिङ्गन किया, इत्यादि पूर्व श्लोक उदाहरण है ।

सर्वदा विनयावनत भाव का नाम औदार्य्य है ॥२१५॥

उदाहरण—हे सखि वृन्द ! तुम सबके समान उदार चरित रमणीवृन्द निज गुण से ही मेरे समान रमणी के प्रति अनुराग सौरभ विस्तार करती रहती हैं । अर्थात् जो स्वभावतः ही साधु प्रकृति के होते हैं, वे अन्य किसी सद्गुणों की अपेक्षा करके किसी के प्रति सौहार्द प्रकाश नहीं करते हैं ॥२१६॥

अत्यन्त सुख वा अत्यन्त दुःख के समय में भी जो निर्विकारता है, उसको धैर्य्य कहते हैं ॥२१७॥

उदाहरण—अयि सुमुखि ! उनकी अपूर्व नव यौवन रूप परिपूर्ण सरोवर सम्मुख में विद्यमान हो, मैं उसमें निमग्न होने का इच्छुक नहीं हूँ । मैं केवल उस समय की इच्छा करता हूँ जिस समय में मैं लज्जा से मुक्त होकर उच्चैःस्वर से हा प्रियतम ! हा प्रियतम ! कहकर रोदन कर सकती हूँ ॥२१८॥

अङ्ग, वेश एवं अलङ्कार के द्वारा कान्त का जो अनुकरण है, उसको लीला कहते हैं । स्वगत एवं सखी गत भेद से उक्त लीला द्विविध हैं, स्वगत लीला भी स्व कर्त्तृक एवं प्रिय कर्त्तृक भेद से द्विविध होती है ॥२१९॥

क्रमेणोदाहरणे—बर्हेण बद्धचिकुरा करकॢप्तवेणु, रामुच्य पीतवसनं वनमालिकाञ्च ।
कस्तूरिकाचित तनूरभसादियेष, राधा स्वमङ्गमुपगूहितुमङ्गके न ॥२२०॥

काञ्चित् सखीं कुवलयोदर सोदराङ्गीं, कृष्णाकृतिसमुपकल्प्य विभूषणाद्यैः ।
आलिङ्गितं कृतमतिः स्वयमेव राधा, द्वेधा विभक्तमुपलब्धवती प्रमोदम् । २२१॥

स्वगतप्रियकर्तृका—यथा—

सीमन्तचारुदयितस्य बबन्ध वेणीं, राधा शिखण्डवलयैः स च मौलिमस्याः ।
अन्योऽन्य वेश परिवर्त्तन कौशलेन, द्वाभ्यामलभ्यत विशेषरतेः प्रमोदः ॥२२२॥

यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्म्मणाम् ।
बिशेषो दयिता लोके विलासः परिकीर्त्यते ॥२२३॥

पीतवसनमामुच्य नितम्बे बद्ध्वा, एवं वन मालिकां कण्ठे बद्ध्वा रभसात् कौतुकात् स्वीयाङ्गमङ्गकेन स्वाङ्गेन सखीभ्यो गोपयितुमियेष ऐच्छत् ॥२२०॥

कुवलयेति—इयं सखी श्रीकृष्ण इव सहज श्यामा ज्ञेया । तां वेशादिना कृष्णाकृतिमुपकल्प्य द्वेधा विभक्तं प्रमोदं श्रीकृष्णालिङ्गन सुखं सख्यालिङ्गन सुखञ्चोपलब्धवती ॥२२१॥

राधा, श्रीकृष्णस्य सीमन्ते चारु यथास्यात्तथा वेणीं बबन्ध, स च श्रीकृष्णोऽपि अस्या राधाया मौलिं मस्तक भूषण चूडां शिखण्डपिच्छादिभिर्बबन्ध । द्वाभ्यामिति—राधया आत्मानं श्रीकृष्णं मत्वा श्रीकृष्ण कर्त्तृक औद्धत्यादिना रति विशेष जन्य प्रमोदोऽलभ्यत, एवं श्रीकृष्णेनाप्यात्मानं राधिकां मत्वा राधिका कर्त्तृक वाम्यादिना रति विशेष जन्य प्रमोदोऽलभत ॥२२२॥

दयितस्य श्रीकृष्णस्य दर्शने सति यानादीनां मुखस्य नेत्रयोः स्वाभाविक कर्मणोश्च विशेषो वैलक्षण्यं विलासः ॥२२३॥

क्रमशः उदाहरण द्वय को प्रस्तुत करते हैं—

मयूर बर्हके द्वारा केश बन्धन, करतल में वेणु धारण, अङ्क में कस्तूरिका विलेपन, कण्ठ में वन मालिका धारण, एवं नितम्ब में पीत वसन परिधान पूर्वक श्रीराधिका प्रमोद भरसे निज अङ्ग के द्वारा निज अङ्ग को आलिङ्गन करने के इच्छुक हुई ॥२२०॥

नीलोत्पल श्यामलाङ्गी किसी सखी को वेणु वनमालादि विभूषण द्वारा श्रीकृष्ण के तुल्याकृति रूप में कल्पना करके श्रीराधिका उसको स्वयं आलिङ्गन करने में कृतसङ्कल्पा हुई, एवं आलिङ्गन के पश्चात् सखी एवं श्रीकृष्ण इन दोनों के आलिङ्गन हेतु उभय विध आनंद उपभोग की अधिकारिणी हो गई ॥२२१॥

श्रीराधा, सीमन्त विन्यास के द्वारा रमणीय रूपमें दयित की वेणी बन्धन किया, दयित भी शिखण्ड वलयादि के द्वारा उसकी मौलि बन्धन किया । इस प्रकार परस्पर के वेश परिवर्त्तन कौशल से उभय ही विशिष्ट रति जनित प्रमोद परम्परा को प्राप्त किये ॥२२२॥

प्रियतमके दर्शन समय में यान स्थान आसनादि एवं मुख नेत्रादि चेष्टा का जो वैलक्षण्य होता है, उस

यथा — केश्चिच्चामरपाणिभिः कतिपयैस्ताम्बूलपात्रीकरैः ।
केश्चिच्चासनधारिभिः परिजनैर्धृ तातपत्रैः परैः ।
संवीता मणियानतोऽवरुरुहुः श्रीशे निखातेक्षणा
योषिन्मौलिमणीवरा इव कुरुक्षेत्रं समेत्याङ्गनाः ॥२२४॥

यथा वा — सख्यैकया मूर्ध्नि धृतांशुकाञ्चला, संवीज्यमाना दलमालयान्यया ।
अवेक्षमाणा दयितं विदूरतश्चिनोति मन्दं कुसुमानि राधिका ॥२२५॥

केचित्तु यानं गतिः, स्थानं — स्थितिः, आसनमुपवेशः ।

तन्मते यथा — स्थितिर्मद भरालसा न गरिमाणमालम्बते
गतिः प्रकृतिमन्थरा त्वरत ईषदेव क्रमात् ।
सलीलमवलोकितं नमति वङ्कते शङ्कते
स्वभाव इव लङ्घितः प्रिय-समीपतो सधया ॥२२६॥

योषितां मुकुटस्य मणिवरा इवाङ्गनाः श्रीकृष्णस्य महिष्यः सूर्य्योपरागे कुरुक्षेत्रमागत्य श्रीकृष्णे निखातानि निक्षिप्तानि ईक्षणानि याभिरर्थाद् दूरादेव श्रीकृष्णं दृष्ट्वा मणिमययानतो रथाद् भूमावरुरुहुः । कथम्भूताः ? चामरादियुक्त परिचारिकारूपपरिजनैः संवीताः व्याप्ताः । पात्री — क्षुद्रपात्रं शिरसि धृतच्छत्रैः परैः ॥२२४॥

एकया सख्या छाया निमित्तं मूर्ध्नि धृतं वस्त्राञ्चलं यस्याः सा, एवमन्यया सख्या दलमालया पल्लव श्रेण्या संवीज्यमाना ॥२२५॥

राधिकायाः स्वभावतोऽवस्थितिर्या वनमदभरेणालस्य युक्ता भवति । श्रीकृष्णस्य दर्शने सति गुरुतां नालम्बते, किन्तु सम्भ्रमयुक्ता भवति । एवमस्या गतिरपि स्वभावतो मन्थरा भवति, श्रीकृष्ण दर्शने सति क्रमादीषदेव त्वरते । एवमवलोकनमपि स्वभावतः सलीलं तस्य दर्शने सति कदाचिन्नमति, कदाचिद् वङ्कते, कदाचिच्छङ्कते च ॥२२६॥

को विलास कहते हैं ॥२२३॥

परिजन गणके मध्य में कोई तो चामर धारण, कोई तो ताम्बूल करङ्क वहन, कोई आसन वहन, एवं कोई तो छत्र उत्तोलन पूर्वक चतुर्दिक को वेष्टन करके अवस्थित है, उसके मध्य व्रजिनी कृष्ण महिषी मण्डली — रमणी श्रेणी की मुकुट मणि के तुल्य शोभित हैं, क्रमशः मणिमय रथ, कुरुक्षेत्र में उपस्थित हुआ इससमय दूर से ही श्रीपति को देखकर मणिमय यान से भूमि में अवतीर्ण हुई ॥२२४॥

एक सखीने श्रीराधाके मस्तकोपरि छाया हेतु वस्त्राञ्चल धारण किया है, अपर सखी पल्लव वली के द्वारा वीजन कर रही है, राधिका अनन्य मनाः होकर दूरसे दयित के प्रति नयन निक्षेप पूर्वक धीरे धीरे कुसुम चयन करती रहती है ॥२२५॥

कतिपय व्यक्ति उक्त लक्षणोक्त यान — स्थान — आसन शब्द का अर्थ — गति, स्थिति एवं उपवेशन

स्तोकाऽप्याकल्परचना विच्छित्तिः कान्ति पोषकृत् ।।२२७।।

यथा——द्वित्राणि पाण्योर्मणिकङ्कणानि, कृत्वा परित्यक्त समस्तभूषा ।

एकं दधे वक्षसि नीलरत्नं, तेनैव राधा नितरां विरेजे ।।२२८।।

गर्वेण वस्तुनीष्टेऽपि विब्बोकः स्यादनादरः ।।२२९।।

यथा——सौरभ्यहानि वपुषोऽनुलेपनैः, सौन्दर्य्य ह्रासो मणिभूषणैरिति ।

अनादरा तेष्वपितानि सख्याः, प्रेमोपरोधेन बभार राधा ।।२३०।।

यथा वा——कृष्णेन हर्षादुपढौकितानि निर्म्माय पुष्पाभरणानि यानि ।

उच्चैरभीष्टान्यपि तानि राधा, नैच्छद् गभीर प्रणय स्मयेन ।।२३१।।

अमर्ष हास वित्रास शुष्क रोदन भर्त्सनैः ।

निषेधैश्च रतारम्भे किलकिञ्चितमिष्यते ।।२३२।।

अल्पमात्र वेश रचना भी कान्ति पोषक होने से-उस को विच्छित्ति कहते हैं ।।२२७।।

अभीष्टेऽपि वस्तुनि गर्वेण हेतुना अनादरो विब्बोक उच्यते ।।२२९।।

वपुषो यः सहजगन्ध स्तदपेक्षयाऽनुलेपनस्य गन्धो न्यूनः, एवं वपुषः सौन्दर्य्यापेक्षया भूषणस्य सौन्दर्यं न्यूनम् । अतो देहे तत्तद् वस्तुनोदाने स्वाभाविकसुगन्धसौन्दर्य्ययोर्ह्रास एव स्यात्, अतस्तेषु तस्या अनादरस्तथापि सख्याः प्रेमोपरोधेन तानि बभार । अलङ्कारादीनामधारणे वयं दरिद्रा इति जना वक्ष्यन्ति अतो लोकानुरोधेनैव सखीनामाग्रहो ज्ञेयः ।।२३०।।

रतारम्भेऽमर्षादिभिर्मिलितं रेतैः किलकिञ्चितमिष्यते । तथा च रमणार्थं श्रीकृष्णेन स्वाभिलाषे

करते हैं । तन्मते उदाहरण—प्रियतम के सान्निध्य के समय में राधिका जैसे निज स्वभाव को भी उल्लङ्घन करती है ।

उसकी स्वभावतः मदमरालसा अवस्थिति—गुरुत्व को अवलम्बन नहीं करती है; स्वभाव मन्थरा गति क्रमशः ईषत् त्वरान्विता होती है, प्रकृति चञ्चला अवलोकन भङ्गी,--कभी तो विनत, कभी तो वक्र, कभी तो शङ्कित होती है ।।२२६।।

उदाहरण—श्रीराधाने समस्त भूषण को परित्याग कर पाणिद्वय में मणिकङ्कण एवं वक्षःस्थल में एक नीलरत्न धारण किया, उससे ही वह अपूर्व शोभित हुई ।।२२८।।

गर्व हेतु अभीष्ट पदार्थ में भी जो अनादर है, उसको विब्बोक कहते हैं ।।२२९।।

उदाहरण—अनुलेपन द्वारा शरीर की स्वाभाविक सौरभ हानि होगी एवं मणिभूषण के द्वारा शरीर का स्वाभाविक सौन्दर्य्य ह्रास होगा, अतः श्रीराधा का उक्त वस्तु समूह में आदर नहीं था । केवल सखीके प्रेमानुरोध के कारण उन्होंने वस्तु समूह का धारण किया ।।२३०।।

उदाहरणान्तर—यह है—श्रीकृष्ण ने जो सब पुष्पाभरण निर्म्माण पूर्वक हर्ष से प्रदान किया था, वे सब अतिशय अभीष्ट होने पर भी राधिकाने गभीर प्रणय गर्व से उसका धारण नहीं किया ।।२३१।।

अराला भ्रूवल्ली स्मित सुमधुरा भर्त् सनगिरो
मृषा कम्पः शुष्कं रुदितमभिलाषेऽपि महति ।
निषेधो नेत्यस्याः करकमलरोधेन सकलं
हरेरासीदेतत् कुसुमधनुषोऽनुग्रह इव ॥२३३॥
तद्भावभुग्न मनसो वल्लभस्य कथादिषु ।
मोट्टायितं समाख्यातं कर्णकण्डूयनादिकम् ॥
आदि—शब्दाज्जृम्भा गात्र मोटनादि—॥२३४॥
यथा— झङ्कुर्वाण विलोल कङ्कण भृतो वामस्य दोष्णः शनै
रुत्कम्पनेन कनिष्ठया विदधती कर्णस्य कण्डूयनम् ।
पुष्पेषोः पृतनव सङ्गरजय श्रीसूचनं व्यातनोद्
घण्टानादमियं कुरङ्ग नयना दर्पेण कृष्णान्तिके ॥१३५॥

अकटीकृते सत्यमर्ष--हास—वित्रासादीनामेकस्मिन् समये मिलनमेव किलकिञ्चितमित्यर्थः ॥२३२॥

अस्या राधाया महत्यभिलाषेऽपि भ्रूवल्ली अराला कुटिलेत्यनेनामर्षः स्वहस्ताभ्यां श्रीकृष्णस्य करकमलरोधनेन नेति निषेधः, एतत् सर्वं श्रीकृष्णोपरि कन्दर्पस्यानुग्रहे कारणमभूदित्यर्थः ॥२३३॥

श्रीकृष्णस्य कथा दर्शनादिषु जातेषु प्रादुर्भूतो यो भाव स्तेन भावेन भुग्नं कन्दर्पस्यावेशेन व्याकुलं मनो यस्यास्तस्याः श्रीराधायाः श्रीकृष्णेन सह सङ्गार्थं स्वाभियोग रूपं कर्ण कण्डूयनादिकं मोट्टायितं समाख्यातम् ॥२३४॥

झङ्कार शब्द विशिष्ट चञ्चल कङ्कणं धृतवतो वामहस्तस्योत् कम्पेन विशिष्ट या कनिष्ठाङ्गुल्या कर्ण कण्डूयनं विदधती राधिका कन्दर्पस्य सेना इवाद्य कन्दर्पयुद्धेऽस्माकमेव जयो भविष्यतीति प्राय सम्पत्ति सूचकं कर्ण कण्डूयन मिषेण घण्टानादं व्यतनोत् ॥२३५॥

सुरतारम्भ समय में रोष, हास, त्रास, शुष्क रोदन, भर्त्सन एवं निषेध के सम्मिलन से किलकिञ्चित भाव होता है ॥२३२॥

गुरुतर अभिलाष विद्यमान होने पर भी कुटिला भ्रूलता, स्मित मधुर भर्त्सनावाक्य, मिथ्या रोदन एवं कर कमल निरोध पूर्वक ना ना कह कर निषेध--राधिका के ये सब श्रीकृष्ण के पक्ष में कामदेव के अनुग्रह स्वरूप हुये थे ॥२३३॥

प्रियतम के दर्शन भाषणादि समय में तदीय भावाकृष्टचित्ता प्रियतमा से जो कर्ण कण्डूयनादि आविर्भूत होते हैं, उसको मोट्टायित कहते हैं। 'भाषणादि' इस पदस्थित आदि शब्द से जृम्भण, गात्र मोटनादि को जानना होगा ॥२३४॥

उदाहरण—वामहस्त की कनिष्ठा अङ्गुलि के द्वारा मन्द मन्द कर्ण कण्डूयन के समय कुरङ्ग नयना श्रीराधा का कम्पन शील कर पल्लव कङ्कण झङ्कार से मुखरित होने लगा। प्रतीत हुआ, भगवान् पुष्पशर

जृम्भादि यथा— अन्योन्य ग्रथिताङ्गुली, किसलयमुन्नीय बाहुद्वयीं
जृम्भारम्भ पुरः सरं विदधती गात्रस्य संमोटनम् ।
मीलन्नेत्र मुरोजयोर्नखपदव्यादान दीनानना
नानानेति पुनर्नखक्षत धिया सा कृष्णपाणी दधे ॥२३६॥

यथा वा—संगोपाद्य पटाञ्चलेन तनुना निःसारि-दन्तावली-
ज्योत्स्नाभिः स्नपितेन दक्षिण कराकृष्टेन वक्त्राम्बुजम् ।
लीलोल्लासितकन्धरं, मृदुकलं वामाङ्गुलिच्छोटिका-
निः स्वानैश्चलकङ्कणस्वनसखैः श्रीराधिकाऽजृम्भत ॥२३७॥

यथा वा—अलस वलित मूर्ध्नी कृष्ण मूर्द्धोपकण्ठे, बलमित मृदमन्योन्येन संसक्त पाणि ।
त्रिकविवलन भङ्गी सङ्गि मोट्टायितायाः परिधिरिव मुखेन्दोर्भाति दोर्द्वन्द्वमस्याः ।२३८

प्रातः काले बाहु द्वयीमुन्नीय जृम्भारम्भ पुरः सरं गात्र मोटनं विदधती राधिका उरोजयो रात्रि सम्बन्धि नखक्षतस्य गात्रमोचनसमये व्यादानेन मुखप्रसारणेन यत्किञ्चित् दुःख व्यञ्जकं दीनमाननं यस्यास्तथाभूता सती गात्र मोटनसमये स्तनयो शोभां दृष्ट्वा तदुरसि व्याकुल चित्तयं श्रीकृष्णस्य पाणि द्वयं पुनर्नखक्षतं भविष्यतीति बुद्ध्या व्याकुला सा नाना नेत्युक्त्वा स्वपाणिभ्यां दधे ॥२३६॥

श्रीराधिका दक्षिण हस्ताकृष्टेन पटाञ्चलेन मुखाम्बुजं संगोपाद्येति लज्जावतीनां जृम्भासमये स्वभाव एवायमिति ज्ञेयम् । पटाञ्चलेन कीदृशेन ? तनुना अतिसूक्ष्मेणेत्येव जृम्भारम्भ समये सर्वतः प्रसरण शीलाभि दन्त ज्योत्स्नाभिः स्नपितेन लीलया किञ्चिदुल्लासिता कन्धरा यत्र तद्यथास्यात्तथा-ऽजृम्भत । जृम्भाकाले शब्दत्रयमाह—मृदुकलंयत् किञ्चत् कलशब्दस्तथा वामहस्ताङ्गुलि द्वयकृते च्छोटिका-शब्दैश्च । कीदृशैः ? चलकङ्कण स्वनसखैः । च्छोटिका-शब्द समये वामहस्तस्थ कङ्कण शब्दोऽपि जात इति ज्ञेयम् ॥२३७॥

मोट्टायितायाः गात्रमोटन युक्ताया अस्या राधाया हस्तद्वयं मूर्धोपकण्ठे मस्तकोपरि आलस्य-युक्तं

की सेना के समान दर्प के सहित श्रीकृष्ण के समीप में सुरत समर को जय श्री सूचक घण्टाध्वनि राधिका कर रही है । २३५॥

जृम्भादि का उदाहरण—परस्पर ग्रथिताङ्गुलि बाहु युगल को उत्तोलन पूर्वक नयन मुद्रण एवं जृम्भारम्भ के सहित गात्र मोटन समय में स्तनद्वय में नखक्षत के हेतु राधा, किञ्चित् कातर मुखी हुई थी, एवं पुनर्वार नखक्षत की शङ्का करके प्रियतम के स्तनस्पर्श लोलुप पाणि पल्लव युगल को ना, ना, ना, शब्द से निरोध किया ॥२३६॥

उदाहरणान्तर—विनिः सृत दन्तावली के ज्योत्स्नाजाल से स्नपित सूक्ष्म वसनाञ्चल को दक्षिण कर से आकर्षण करके उसके द्वारा मुख कमल को संगोपन करके, कङ्कण झङ्कार सम्मिलित वामाङ्गुलि की छोटिका ध्वनि, एवं कलकण्ठ ध्वनि के सहित किञ्चिदुन्नमित कन्धर होकर श्रीराधिका जृम्भण किया ॥२३७॥

स्तन ग्रहास्यपानादौ क्रियमाणे प्रियेन चेत्
वहिः क्रोधोऽन्तर प्रीतो तदा कुट्टमितं विदुः ॥२३९॥

यथा—स्तनकनक घटीं पटीमुदस्य, स्पृशति हरौ बहुसङ्गि भङ्गुर भ्रूः
द्वयमसरसवाणि पाणि रोधात् कृतकरुषा परुषा कषायितासीत् ॥२४०॥

त्वरया हर्षरागादे र्दयिता गमनादिषु ।
भूषाणां स्वपदादन्य पदे न्यासस्तु विभ्रमः ॥२४१॥

यथा—अधात् काञ्चीं कण्ठे जघन भुवि हार चरणयोः
कृशाङ्गी केयूरे भुजलतिकयोर्नूपुरद्वयम् ।

यथा स्यात्तथा उच्चीकृत्य मुख चन्द्रस्य परिधिरिव चन्द्र निकट वर्त्ति मण्डलमिव भाति । प्रोद्बन्धं कीदृशम् ? वलयितं वलयाकारं पुनश्च परस्परं संसक्तौ पाणी यत्र तथा भूतं कण्टस्य पृष्ठ भागस्त्रिक पदार्थ स्तस्य या भ्रमण भङ्गी तस्याः साङ्ग, यथास्यात्तथा । आलस्य त्याग रमिये त्रिक युक्तस्य मस्तकस्य भ्रमणं भवतीति ज्ञेयम् ॥२३८॥

स्तन ग्रहणेऽधर पानादौ च श्रीकृष्णेन चेत् क्रियमाणे ॥२३९॥

पटीं कञ्चुकीं दूरीकृत्य स्तन रूप कनकघटीं श्रीकृष्णे बहु यथा स्यात्तथा स्पृशति सति कुटिल भ्रू रियं राधा असरसा रूक्षा वाणी यत्र तथाभूतं यथा स्यात्तथा कषायिता दुःखिता आसीत् । कथम्भूता ? कृष्ण कर्तृक पाणि रोधात् कृतकरुषा कृत्रिमक्रोधेन परुषा कठोरा ॥२४०॥

दयितस्य श्रीकृष्णस्य स्वनिकटे गमने किं वा स्वस्य श्रीकृष्ण निकटे गमने कर्मणि हर्ष रागादे र्हेतो र्या त्वरा तया हारादि भूषाणां स्वस्थानादन्यस्थाने न्यासो विभ्रमः ॥२४१॥

किमङ्गैरिति । श्रीकृष्णेन सह सङ्गोत्सव कर्मणि श्रीराधिकायाः कण्ठाद्यङ्गैः परस्परं हारादि रूप

त्रि भागके विचलन भङ्गीके सहित यात्रमोटन समय में और इसके बाहु युगल परस्पर संसक्त पाणि होकर अलसवलित भावसे मस्तकोपरि उन्नमित एवं मण्डलीकृत होने से तदीय मुखेन्दु की परिधि के समान शोभित होने लगे ॥२३८॥

प्रियतम के द्वारा स्तन ग्रहण एवं मुख चुम्बनादि के समय में आन्तरिक प्रीति विद्यमान होने पर भी बाहर जो कोप प्रकाश होता है, उसको कुट्टमित भाव कहते हैं ॥२३९॥

उदाहरण—श्रीहरि, वसन अपसारण पूर्वक स्तन रूप कनक कलस स्पर्श करने में प्रवृत्त होने पर श्रीराधा लीलाच्छल से भ्रू भङ्गी प्रकाश किया, एवं उस समय श्रीकृष्ण उनके पाणि युगल निरोध करने से कृत्रिम रोष से कषायित होकर रूक्ष वाक्य प्रयोग करने लगीं ॥२४०॥

प्रियके आगमनादि समय में हर्ष एवं अनुरागादि हेतु जो त्वरा होती है, तन्निमित्त अलङ्कार समूह का स्वस्थान से स्थानान्तर में विन्यास को विभ्रम कहते हैं ॥२४१॥

उदाहरण—कृशाङ्गी श्रीराधा, कण्ठ में काञ्ची जघन स्थल में हार, चरण युगल में केयूर युगल, भुजलताद्वय में नूपुरद्वय धारण किये । मधु मर्थन के सङ्गरूप उत्सव में श्रीराधिका के अङ्ग समूह निज

किमङ्गै रन्योन्यं मधुमथन सङ्गोत्सव विधौ
प्रसादो व्यातेने प्रणय पिशुनः स्वस्व विभवैः ॥२४२॥
सुकुमारतयाङ्गानां विन्यासो ललितं भवेत् ॥२४३॥

यथा—प्रसून तल्पोदर सङ्ग दूनं, नूनं वपुर्मे सखि नैति निद्राम् ।
इति स्मराद्यास विशीर्णचित्ता, सखीधियाऽसौ हरिमालिलिङ्ग ॥२४४॥
मदो विकारः सौभाग्य यौवनाद्यवलेपजः ॥२४५॥

यथा—दूतीभिरात्मगुणगौरवसंप्रयोगैः शक्यो न सङ्गमयितुञ्च कलावतीभिः ।
अभ्यर्थितोऽपि समया परसद्म गन्तुं, नापैति मे सखि गृहात् क्षणमप्यघारिः ॥२४६॥
वक्तुं योग्योऽपि समये न वक्ति व्रीडया तु यत् । तदेवं विकृतं वाच्यम् ॥२४७॥

यथा—सम्प्रार्थ्यमानापि मयानुवेलं न वक्तुमिष्टामपि वक्ति वाणीम् ।
रुषा ह्रिया वेति न वेद्मि सख्यो, जानन्तु राधा हृदयं भवत्यः ॥२४८॥

स्वस्वविभवैः करणैः किं प्रणय सूचक प्रसादो व्यातेने ॥२४२॥

पुष्प शय्याया उदरस्य सङ्गेनापि वपुर्दूनमित्यनेन पुष्पादप्यङ्गस्य सौकुमार्य्यं मायासमिति ज्ञेयम् ।
इति रात्रि सम्बन्धि कन्दर्प क्रीडाजन्यायासेन विशीर्णं चित्ता असौ आलस्य दूरीकरणार्थं सखी बुद्धया ॥२४४॥

सौभाग्य यौवनाद्यहङ्कारेण जातो, यो विकारः स मदः ॥२४५॥

श्रीराधिका ललितामाह—हे आलि ! कला वैदग्ध्यादि युक्ताभिर्गोपीभिः कर्त्रीभि दूतीभि र्दासभूताभिरेवमात्मगौरवाणां सम्प्रयोगैरन्य द्वारा सूचक कथनैरपि करणै कृष्णः सङ्गमयितुमपि न शक्य । किं पुनः श्रीकृष्णेन सहासां विलास वार्त्तापि, अयमर्थ प्रकारः । तासां सद्म गन्तुं मया प्रार्थितोऽपि समद्गृहात् क्षणमपि नापैति, न गच्छति, कथमित्यर्थ कारणं वद ॥२४६॥

अनुवेलं प्रतिक्षणं मया स प्रार्थ्यमानापि वक्तु मिष्टामपि वाणीं श्रीराधा न वक्ति ॥२४८॥

निज विभव के द्वारा परस्पर, जैसे प्रणय सूचक प्रसाद विस्तार करने लगे थे ॥२४२॥

सुकुमार भावसे अङ्ग प्रत्यङ्ग के विन्यास को ललित कहते हैं ॥२४३॥

उदाहरण—हे सखि ! कुसुम शय्या संसर्ग से मेरा शरीर व्यथित होने पर निद्रा हो नहीं रही है, यह कह कर स्रस्त चित्ता श्रीराधाने सखी भ्रमसे श्रीहरि को आलिङ्गन किया ॥२४४॥

सौभाग्य यौवनादि अहङ्कार हेतु विकार का नाम मद है ॥२४५॥

उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—कला अर्थात् वैदग्ध्यादिमती गोपी वृन्द दूती नियोग एवं आत्मगुण गौरव सम्प्रयोग के द्वारा श्रीकृष्ण को सङ्गम कराने में समर्थ नहीं होती हैं, मैं उन सब के गृह में गमनार्थ उनको अनुरोध करने पर भी आप क्षण काल के निमित भी मदीय गृह से बहिर्गत नहीं होते हैं ॥२४६॥

वक्तव्य के समय भी क्रीडाच्छल से कुछ न कहने का नाम विकृत है ॥२४७॥

चेष्टा स्मरविकारजा ॥२४९॥
तपनं प्रियविच्छेदे ॥२५०॥

यथा—शीत प्रयोगै र्वहि रीह्यमानै रन्तर्गतो वर्द्धत एव दाहः ।
वहि विलेपै र्वहिर प्रकाशी, प्रोज्ज् जृम्भते ऽन्तः पुटपाकजोऽग्निः ॥२५१॥

प्रतीतस्यापि वस्तुनः । अप्रतीतवदापृच्छा प्रियाग्रे मौग्ध्यमेवतत् ।
'प्रियाग्रे'—इत्युपलक्षणम्, सख्या अग्रे त्र ॥२५२॥

यथा— हुँ मातरन्त र्वहिरिति का त्वं, प्रिये त्वमेव प्रतिविम्बिता मयि ।
अन्यैव तत् किं तव तुल्यमीहते, धूर्त्तेयमित्याप भियं चलेक्षणा ॥२५३॥

श्रीकृष्ण विच्छेदे कन्दर्प विकार जा चेष्टा तपनमुच्यते ॥२४९-२५०॥

वहि रीह्यमाणैः क्रियमाणै श्चन्दनलेपादि शीतप्रयोगैरन्तर्गतः श्रीकृष्ण विरह-जाय कन्दर्प दाहो वर्धत एव । तत्र दृष्टान्तः—सम्पुटस्थ पित्तलादि वस्तूनां द्रवीभावरूपपाकजनको वह्नि र्वहिरप्रकाशी सन्नन्तरेवातिशयेन प्रकाशते । अत्रापि र्वहि विलोपै सम्पुटस्य दृढ़ीकरणार्थं मृत्तिकाभिः पुनः पुनः क्रियमाणैरपि र्वहिर्विलोपैरिति ॥२५१-२५२॥

श्रीकृष्णेन सह कौतुकार्थं श्रीराधिका तमाह— हुँ मातरिति । व्रज वासिनीनां विस्मय दर्शनेन स्वभावोक्तिरियम् ! हे कृष्ण ! तवान्तः करणाद् वहिः का एति ? श्रीकृष्ण आह—हे प्रिये इति । श्रीराधिका आह—नेयं मत्प्रतिबिम्बरूपा, किन्त्वन्या एव, पुनः श्रीकृष्ण आह—यदि तव प्रतिविम्बरूपा न भवति, तत् किं तव तुल्यं चेष्टते ? त्वं यथा हस्तादि चालनं करोषि, तथैवममपीति । पुनः श्रीराधिका आह—इयं धूर्त्ता स्वस्य प्रतिविम्बत्वख्यापनायैव मत्तुल्यं चेष्टते इति कृत्रिमभियमाप ॥२५३॥

कहने के निमित्त श्रीराधा को सविशेष प्रार्थना करने पर भी, राधा, निज अभिप्राय को नहीं कहती हैं, किन्तु रोष हेतु किंवा लज्जा हेतु नहीं कहती है; मैं उसको नहीं जान सकता हूँ । हे सखी वृन्दे ! तुम सब यत्न पूर्वक उसके हृदय को जानकर मुझ को कहो ॥२४८॥

प्रिय विच्छेद के समय में स्मर विकार जनित चेष्टा को तपन कहते हैं ॥२४९-२५०॥

उदाहरण—बाहर शीतल प्रयोग करने पर भी अन्तर्गत दाह की वृद्धि ही होती रहती है,कारण, पुट पाकज अग्नि, वाह्य विलेप के द्वारा बाहर अप्रकाशित होने पर भी अभ्यन्तर में उद्दीप्त ही रहता है।२५१।

विदित वस्तु के सम्बन्ध में अविदित के समान प्रियके समीप में प्रश्न करने से उसको मौग्ध्य कहते हैं । 'प्रिय समीप में' यहाँ प्रियपद उपलक्षण है,सखीके समीप में प्रश्न करने से भी होगा ॥२५२॥

उदाहरण—श्रीराधा बोली ! यह क्या है ? यह कौन है, जो तुम्हारे अन्तर से निकल रही है ? श्रीकृष्ण बोले और कौन निकलेगी, प्रियतमे ! तुम ही मेरा शरीर में प्रतिविम्बित हो. श्रीराधा बोली--ना, ना. मैं प्रतिविम्बित क्यों हूँगी ? और कोई होगी । श्रीकृष्ण बोले—यदि अन्य कोई होगी तो, कैसे तुम जैसे हस्त पद चालन करती रहती हो, यह भी वैसी करती रहती है । श्रीराधा—बोली—तब यह कोई

स्तन ग्रहास्यपानादौ क्रियमाणे प्रियेण चेत्
वहिः क्रोधोऽन्तर प्रीतो तदा कुट्टमितं विदुः ॥२३९॥

यथा—स्तनकनक घटीं पटीमुदस्य, स्पृशति हरौ बहुसङ्गि भङ्गुरं भ्रूः
इयमसरसवाणि पाणि रोधात् कृतकरुषा परुषा कषायितासीत् ॥२४०॥

त्वरया हर्षरागादे दयिता गमनादिषु।
भूषाणां स्वपदादन्य पदे न्यासस्तु विभ्रमः ॥२४१॥

यथा—अधात् काञ्चीं कण्ठे जघन भुवि हारं चरणयोः
कृशाङ्गी केयूरे भुजलतिकयोर्नूपुरयुगम्।

यथा स्यात्तथा उच्चीकृतम् मुखं चन्द्रस्य परिधिरिव चन्द्र निकट वृत्ति मण्डलमिव, भाति। द्रो द्वन्द्व कीदृशम्? वलयितं वलयाकारं पुनश्च परस्परं संसक्तौ पाणी यत्र तथा भूतं, कण्ठस्य पृष्ठ भागस्त्रिक पदार्थं स्तस्य या भ्रमणं भङ्गी तस्याः सङ्गि, यथास्यात्तथा। आलस्य त्याग समये त्रिक युक्तस्य मस्तकस्य भ्रमणं भवतीति ज्ञेयम् ॥२३८॥

स्तन ग्रहणेऽधर पानादौ च श्रीकृष्णेन चेत् क्रियमाणे ॥२३९॥

पटीं कञ्चुकीं दूरीकृत्य, स्तन रूप कनकघटीं श्रीकृष्णे बहु यथा स्यात्तथा स्पृशति सति कुटिल भ्रू रियं राधा असरसा रूक्षा वाणी यत्र तथाभूतं यथा स्यात्तथा कषायिता दुःखिता आसीत्। कथम्भूता? कृष्ण कर्त्तृक पाणि रोधात् कृतकरुषा कृत्रिमक्रोधेन परुषा कठोरा ॥२४०॥

दयितस्य श्रीकृष्णस्य स्वनिकटे गमने किं वा स्वस्य श्रीकृष्ण निकटे गमने कर्म्मणि हर्ष रागादे हेतौ या त्वरा तया हारादि भूषाणां स्वस्थानादन्यस्थाने न्यासो विभ्रमः ॥२४१॥

किमङ्गैरिति। श्रीकृष्णेन सह सङ्गोत्सव कर्मणि श्रीराधिकायाः कण्ठाद्यङ्गैः परस्परं हारादि रूप

त्रि भागके विचलन भङ्गीके सहित पात्रमोटन समय में और इनके बाहु युगल परस्पर संसक्त पाणि होकर अलसवलित भावसे मस्तकोपरि उन्नमित एवं मण्डलीकृत होने से तदीय मुखेन्दु की परिधि के समान शोभित होने लगे ॥२३८॥

प्रियतम के द्वारा स्तन ग्रहण एवं मुख चुम्बनादि के समय में आन्तरिक प्रीति विद्यमान होने पर भी बाहर जो कोप प्रकाश होता है, उसको कुट्टमित भाव कहते हैं ॥२३९॥

उदाहरण—श्रीहरि, वसन अपसारण पूर्वक स्तन रूप कनक कलस स्पर्श करने में प्रवृत्त होने पर श्रीराधा लीलाच्छल से भ्रू भङ्गी प्रकाश किया, एवं उस समय श्रीकृष्ण उनके पाणि युगल निरोध करने से कृत्रिम रोष से कषायित होकर रूक्ष वाक्य प्रयोग करने लगी ॥२४०॥

प्रियके आगमनादि समय में हर्ष एवं अनुरागादि हेतु जो त्वरा होती है, तन्निमित्त अलङ्कार समूह का स्वस्थान से स्थानान्तर में विन्यास को विभ्रम कहते हैं ॥२४१॥

उदाहरण—कृशाङ्गी श्रीराधा, कण्ठ में काञ्ची जघन स्थल में हार, चरण युगल में केयूर युगल, भुजलताद्वय में नूपुरद्वय धारण किये। मधु मर्थन के सङ्गरूप उत्सव में श्रीराधिका के अङ्ग समूह निज

यथा वा—कयात्म मूर्त्ति लिखिता नखेन, वामस्तनोर्ध्वे तव पङ्कजाक्ष !

न याति न म्लायति दिव्यरूपां, यामुद्वहन् हन्त न लज्जसे त्वम् ॥२५४॥

सखीं प्रति यथा—वनं निधुवनं नाम क्वनाम सखि वर्त्तते ।

यदर्थं तव कृष्णोऽयमुन्मना दुर्मनायते ॥२५५॥

अर्द्धार्द्ध भूषा रचना गात्रे विष्वग् विलोकनम् ।

रहसीषत् कथारम्भो विक्षेपः स्यात् प्रियागमे ॥२५६॥

यथा—आदर्शेऽनुचरी कराञ्चल गते संवीक्षमाणा मुखं

द्वित्राभिः क्रियमाणमण्डनविधौ राधा सखीभिर्मिथः ।

उत्थायार्द्ध विभूषितैव परितो व्यापारयन्ती दृशं

दृष्ट्वा दैवत आगतं प्रियमथो सम्पूर्ण भूषाऽभवत् ॥२५७॥

यां लक्ष्मीरेखारूपाम्, त्वमुद्वहन् ॥२५४॥

निधुवन शब्दः स्त्री पुरुषयो काम क्रीडायाञ्चेति स्वयं ज्ञात्वापि कौतुकार्थं श्रीराधिका आह—हे सखि! अस्माभिस्तु वृन्दावनादिकं ज्ञायते, किन्तु निधुवनसंज्ञं वनं कुत्र वर्त्तते ? यदर्थम्—निधुवनमहं कदा प्राप्स्यामीत्युत्कण्ठया निधुवनप्राप्त्यर्थम् ॥२५५॥

विष्वग् विलोकनम्—चतुर्दिक्षु विलोकनम् ॥२५६॥

किङ्करीकर गते दर्पणे स्वमुखं वीक्षमाणा, तथा सखीभिरपिमिथो रहसि द्वित्राभि भूषणैः क्रियमाणो मण्डन प्रकारो यस्यास्तथा भूता राधा अर्धविभूषितैवासनादुत्थाय परितश्चतुर्दिक्षु दृशं व्यापारयन्ती सती दैवादागतं कृष्णञ्च दृष्ट्वा सम्पूर्णभूषा अभवत् । भूषा फलेन श्रीकृष्ण कर्तृक दर्शनेनैव भूषायाः पूर्णत्वं जातमिति ॥२५७॥

धूर्त्ता होगी, यह सोचकर चकित नयना श्रीराधिका भयभीता हो गई ॥२५३॥

उदाहरणान्तर—हे कमल नयन ! तुम्हारे वामस्तन के ऊर्द्ध्वभाग में नख के द्वारा किसने आत्म मूर्त्ति को अङ्कित कर दिया है ? देखो वह मूर्त्ति अपुगत नहीं हो रही है, म्लान भी नहीं हो रही है, हाय ! तुम भी, तो उसको वहन कर लज्जित नहीं हो रहे हो ? ॥२५४॥

सखी के प्रति कथन का उदाहरण—हे सखि ! वृन्दावनादि की ही हम सब जानती हैं, किन्तु निधुवन नामक वन कहाँ है, कह सकती हो ? जिस के निमित्त तुम्हारे यह श्रीकृष्ण उन्मना होकर सर्वदा दुर्मनायित होकर रहते हैं ॥२५५॥

प्रियतम के आगमन में अङ्ग में अर्द्ध अलङ्कार रचना, चारों ओर अवलोकन एवं निर्जन में जो कथोपकथन,—उसको विक्षेप कहते हैं ॥२५६॥

उदाहरण—श्रीराधा, किङ्करी के करतलस्थित दर्पण में मुखनिरीक्षण कर रही थी, दो तीन, सखियाँ उनको अलङ्कारों से भूषित कर रही थीं, किन्तु, श्रीराधा, अर्द्ध विभूषिता होकर ही आसन से

कुतूहलं रम्य वस्तु समालोके विलोलता ॥२५८॥

यथा—घटाम्बुसिक्तां निजहस्तरोपितां, श्रुत्वा लतां पुष्पवतीं सखीमुखात् ।
उद्यान सीम्नि त्वरयाभिगामिनीं, ददर्श राधां पथि नन्दनन्दनः ॥२५९॥

हसितं स्याद् वृथा हासो नवयौवन गर्वजः ॥२६०॥

यथा—अपृष्ट हेतु शिरसः शपथैः सखीभिरस्माकस्मिकं स्मितमरीचत राधिकायाः ।
अन्तः प्रफुल्लदनुरागलताप्रकाण्डोद्रेकं प्रसूनमिव किं बहिरुन्मिमील ॥२६१॥

कुतोऽपि दयितस्याग्रे चकितं स्याद् भयोदयः ॥२६२॥

यथा—मुख मनुनिपतन्तं वारयन्ती द्विरेफं, भय चकित चलाक्षीन्यङ्मुखीयं करेण ।
तमपि तदभिभूतं कूणितभ्रू धुनोति, स च रुषमभिनिन्ये सङ्कृतैः कङ्कणानाम् ॥२६३॥

नन्दनन्दनः पथि राधिकां ददर्श ॥२५९॥

श्रीराधिकाया यौवन जन्य गर्वोत्थमाकस्मिकं हास्यं दृष्ट्वा सखैः पप्रच्छु रित्याह— अपृष्टेति । सखीभिः कर्त्तृभिः शिरसः शपथैरपृष्टो हेतुर्यस्य तत् स्मित मरीचत । अत्रोत्प्रेक्षामाह— अन्तः प्रफुल्लन्ती या अनुरागलता, तस्या देहावेकं प्रसूनमिव ॥२६१॥

कुतोऽपि यथाकथञ्चित् कारणादपि श्रीकृष्णस्याग्रे भयोदयश्चकितम् ॥२६२॥

मुखमनु मुखे पतन्तं भ्रमरमियमधोमुखी सती करेण वारयन्ती पश्चात् मुखं विहाय करे पतन्तमालक्ष्य तेन भ्रमरेणाभिभूतं तमपि करमपि कूणितभ्रूः सा धुनोति कम्पयति । तत्रोत्प्रेक्षामाह— स च करश्च कङ्कणाना सङ्कृतैः करणैः रुषमभिनिन्ये, क्रोधाभिनयं चकारेत्यर्थः ॥२६३॥

उठकर चतुर्दिक में दृष्टिपात करने लगीं, एवं दैव से विश्व विभूषण श्रीकृष्ण को देखकर असम्पूर्ण विभूषणा होने पर भी उस से ही सम्पूर्ण विभूषणा हो गई ॥२५७॥

रम्यवस्तु विलोकन के निमित्त सविशेष स्पृहा का कुतूहल है ॥२५८॥

निज हस्त से रोपन पूर्वक कलस के द्वारा जल सेचन से जिसकी वृद्धि हुई थी, सखी के मुख से वह लता पुष्पित हुई है' यह सुनकर राधिका सत्वर उद्यान को जाने के निमित्त प्रवृत्त हुई थीं, पथ में नन्दनन्दन ने उस अवस्था में उनको देखा ॥२५९॥

यौवन गर्वजात वृथा हास्य का नाम हसित है ॥२६०॥

श्रीराधिका को सहसा ईषत् हँसते देखकर सखी वृन्दने शपथ कर कारण पूँछा, उन्होंने कुछ उत्तर में कहनहीं पाया, उनके अन्तःकरण में उल्लसित अनुराग रूप लता से उस प्रकार हास्य क्या एकमात्र पुष्प के आकार से ही बाहर प्रकाशित हुआ था ? ॥२६१॥

किसी प्रकार अलक्षित कारण हेतु प्रियतम के सम्मुख से भयोदय को चकित कहते हैं ॥२६२॥

उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—भ्रमर श्रीराधा के मुख मण्डल को लक्ष्य कर गिरते रहने से आप भय चकित चञ्चल नयनों से अधोमुखी होकर हस्त के द्वारा निवारण करने लगीं । भ्रमर उसको परित्याग कर

यथा वा—स ललितमुपनीतां पृष्ठतोवाममंसं, चलअसितभुजङ्गीभङ्गीवेणीम् ।
हुमिति कृतकशङ्का पङ्किल त्रासमेषा, दयितमुपजुगूहे द्रोहिणं कालियस्य ।२६४।
विहारे सह कान्तेन, क्रीडितं केलिरिष्यते ।।२६५।।
यथा—अपि सह विहरन्त्या कृष्णमुल्लङ्घ्य रम्ये, सुरभिणि कुसुमेऽहं पूर्विका कौतुकेन ।
अनियतगतिभङ्ग्या पार्श्वसंघट्टनेन, स्तनहति परिभूतो राधयाऽसौ व्यधायि ।२६६।
प्रत्येकं सप्तविंशत्या योगेऽष्टाविंशति रत्वमी ।
रसवार्णवसंख्याः (७५६) स्युस्ते पुनः सेङ्गिता यदि ।
पक्षेन्द्विषुविन्दुसंख्याः (१५१२) स्युरन्योन्य गुणिता ननु ।।
ते ऽन्योन्यगुणिता अलङ्कारा वक्ष्यमाणैः रिङ्गितैः सहिता यदि भवन्ति ।
ग्रन्थगौरवभिया नोदाह्रियन्ते ।।२६७।।

चञ्चल श्याम् भुजङ्ग्या इव भङ्गिः यस्यामेवम्भूतं वेणीं पृष्ठदेशात् सकाशाद् वामस्कन्धं सललितं यथा स्यात्तथोपनीतां प्राप्तामालोक्य एषा कृत्रिम शङ्का व्याप्तत्रासं यथास्यात्तथा सपंजंय भयनिवर्त्तकं श्रीकृष्ण मुपजुगूहे, यतः कालियसर्पस्य द्रोहिणम् ।।२६४-२६५।।

अकस्मादेकं रमणीयं सुगन्धि पुष्पं दृष्ट्वा इदं पुष्पं मयैवादौ गृहीतव्यमिति यत्तत्र पुष्पेऽहं पूर्विका कौतुक स्तेन हेतुना राधया शीघ्रगतिभङ्ग्या कृष्णमप्युल्लङ्घ्य कृष्णोऽपि राधामुल्लङ्घ्य शीघ्रगमने-ोल्लङ्घनसमये पार्श्व संघट्टनेन जाता या स्तन हतिः स्तनघात स्तयासौ श्रीकृष्ण परिभूतोऽकारि ।।२६६।।

येऽष्टाविंशतिरलङ्कारा उक्ता स्तेषां प्रत्येकं सप्तविंशत्यलङ्कारैः सह योगे सति अमी अलङ्कारा रस वार्णव संख्यका(७५६)स्युः,यथा भावे भावरहितानां हावादीनां सप्तविंशतेर्योगः,यथा च हावे हाव रहितानामिति स्वस्मिन् स्वस्य योगाभावात् सप्तविंशती-त्युक्तम् । ते रस वार्णव संख्यकाः (७५६) अलङ्कारा केवला एव । एव मिङ्गित सहिताश्च यदि भवन्ति,तदा पक्षेन्द्विषुविन्दु संख्यका अपि भवन्ति(१५१२)।।२६७।।

हस्त के ओर धावित होने से आप सङ्कुचित भ्रू होकर हस्त कम्पित करने लगी। उक्त हस्त—कङ्कण के झङ्कार शब्द के द्वारा भ्रमर के आक्रमण जनित रोष से जैसे आक्रोश प्रकाश करने लगे ।।२६३।।

अपर उदाहरण—चञ्चला कृष्ण भुजङ्गी के समान भङ्गि के सहित राधिका की वेणी ललित भाव से पृष्ठ देश से वामस्कन्ध में उपनीत होने से आपने कृत्रिम त्रास प्रकाश के सहित कालिय मर्दन मधुसूदन को सम्भ्रम के सहित आलिङ्गन किया ।।२६४।।

विहार के समय कान्त के सहित क्रीड़ा का नाम केलि है ।।२६५।।

राधा एवं कृष्ण—उभय ही एक साथ विहरण कर रहे थे, सहसा एक रमणीय सुरभि पुष्प दृष्टि गोचर होने से उभय ही पहले हम लेंगे, इस अभिप्राय से कौतुक क्रमसे द्रुत गमन में प्रवृत्त हो गये। किन्तु गमन समय में उभय का संघट्टन पार्श्व में होने के कारण, राधिकाने निज विशाल स्तन के द्वारा कृष्ण को आघात इस प्रकार किया, जिस से कृष्ण पराभूत हो गये ।।२६६।।

न च वक्तव्यं (१८६ श्लोके) 'निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथम-विक्रिया' इति भावस्य तथाविधत्वात् कथं हावादि साङ्कर्य्यम् ? यतः कन्यानामेव तथाक्रमः, परोढ़ा मध्यादीनां श्रीकृष्णं प्रति प्राङ् निर्विकारात्मके चित्ते यदैव भावउत्पन्न स्तदैव हावादि साङ्कर्य्यमपि।

तथाहि—व्यरचि न यदपेक्षापत्रिकादूतिकादे
रतनि न च विचारो यत्त्वया सार्द्धमन्यैः।
हृदय यदनुरक्तं माधवे युक्तमेतत्
किमिह युगपदाञ्जीत् सर्वं शौर्य्यं मनोभूः ॥२६८॥

अत्र भाव-हाव हेलादीनां साङ्कर्य्यमनया दिशा उक्त प्रकारम्, ग्रन्थ गौरव भयान्न लिख्यते। अथ कानि तानीङ्गितानि, यैरेषां द्वैविध्यमङ्गीकृतमिति त्रिविधानीङ्गितानि दर्शयन्नाह——

ननु वयः सन्धौ भावस्योदाहरणं दत्तम्, तदपेक्षयाधिके वयस्त्वे हावोदाहरणम्। तदपेक्षयाधिक वयस्त्वे हेलायाः। एवं क्रमेण भिन्न भिन्न काले प्रादुर्भूतानां भावादीनां कथं साङ्कर्य्यं सम्भवेदित्याह—न चेति। तत्र समाधानमाह—यत इति।

तथाहीति। हे हृदय! त्वया पत्रिकादेरपेक्षा यन्न व्यरचि, एवमन्यैः सार्धं श्रीकृष्णे रागोऽनुचित उचितो वेति विचारोऽपि यन्न अतनि, तथा माधवे यत्त्वयानुरक्तम्, एतत् सर्वं युक्तमेव, किन्तु युगपदेकस्मिन्नेव काले मनोभूः कन्दर्पो भाव हावादि सर्वं शौर्य्यमाञ्जीद् व्यक्तं चकारेत्याश्चाश्चर्य्यम् ॥२६८॥

यै रिङ्गितैः करणैरेषामलङ्काराणामिङ्गितसाहित्यमिङ्गित राहित्यमिति द्वैविध्यमङ्गीकृतम्।

अष्टाविंशति अलङ्कार का वर्णन जो हुआ है, उसके प्रत्येक अपर सप्तविंशति के सहित मिलित होने से (७५६) सात सो छप्पान्न संख्यक होते हैं। ये अन्योन्य गुणित अलङ्कार समूह वक्ष्यमाण इङ्गित के सहित मिलित होने से १५१२ एक हजार पाचसो वार संख्यक होते हैं। ग्रन्थ विस्तार होने के सङ्कोच से उन सबका उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया गया है ॥२६७॥

इस प्रकार कहा नहीं जा सकता है कि—निर्विकारचित्त में प्रथम विकार का नाम भाव है, इस लक्षण के अनुसार भाव के सहित हावादि का साङ्कर्य्य कैसे हो सकता है ? इस का समाधान यह है—कन्या वृन्द में हीं वयः क्रमके आतिशय्य भेद से भावादि आविर्भाव का उस प्रकार क्रम हो सकता है। किन्तु परोढ़ा मध्यादि में प्रथमतः निर्विकार चित्त में श्रीकृष्ण के प्रति जिस प्रकार भाव उत्पन्न हो सकता है, उसी समय उसके सहित हावादि का साङ्कर्य्य हो सकता है।

उदाहरण यह है—हे हृदय! तुमने जिस पत्रिका दूती की अपेक्षा नहीं की है, एवं इस अनुराग के औचित्य अनौचित्य के सम्बन्ध में किसी के स थ विचार करके नहीं देखा है, सहसा ही माधव में अनुराग कर लिया है। यह तो उपयुक्त ही है। किन्तु भगवान् मनसिज एक ही समय में जो हाव भावादि के यावतीय शौर्य्य को प्रकट किये हैं, यह विचित्र ही है ॥२६८॥

इस श्लोक में हाव भाव हेलादि का साङ्कर्य्य प्रकार संक्षेप में प्रदर्शित हुआ है, ग्रन्थ गौरभ भय से

मुग्धा-मध्या-प्रगल्भानां त्रिविधानीङ्गितान्यपि ॥

मुग्धादीनां त्रैविध्ये इङ्गितानामपि त्रैविध्यम्, नतु प्रत्येकम् । तत्र मुग्धा कन्ययोरेकरूपाणि ॥२६९॥

तथाहि—दृष्टा तनोति मन्दाक्षं सम्मुखं नैव वीक्ष्यते ।
प्रच्छन्नं तत्प्रतिकृतिं, चित्रादौ पृस्पृहयेक्षते ॥
बहुधा पृच्छ्यमानापि रमणेन न जल्पति ।
तटस्थैः कथ्यमानायां शुकैर्वा निज लालितैः ।
तत्र कथायां श्रुती दत्ते नेत्रे त्वन्यत्र यच्छति ॥२७०--२७१॥

दिङ् मात्रमुदाह्रियते,—
अन्यैः संप्रतिपादितां प्रियकथामन्यत्रदत्तेक्षणा
स्निग्धा कर्णयति प्ररूढ पुलकान्यङ्गानि गोपायति ।

मुग्धादीनामिति—मुग्धाया इङ्गितानि भिन्नानि, तत्र मध्याया अपीङ्गितानि भिन्नानि । एवं क्रमेणेङ्गितानि त्रिविधानि, नतु प्रत्येकमित्येकस्या मुग्धायाः सर्वाणीङ्गितानि तथैकस्या मध्यायाः सर्वाणीङ्गितानीत्येवं क्रमेण, न तु त्रिविधानीत्यर्थः ॥२६९॥

श्रीकृष्णेन दृष्टा मुग्धा मन्दाक्षं लज्जां तनोति, तथा सम्मुखमपि नैवेक्षते, किन्तु प्रच्छन्नं यथा स्यात्तथा तत् प्रतिमां चित्र पटे ईक्षते । तटस्थ लोकैः शुकैर्वा कथ्यमानायां श्रीकृष्ण कथायां कर्ण द्वयं दत्ते, किन्तु लज्जया कथा वक्तरि नेत्रद्वयं न ददाति, अपितु अन्यत्र नेत्रे यच्छति ददाति ॥२७०-२७१॥

अन्यैः कथितां श्रीकृष्ण कथामन्यत्र दत्तेक्षणा साकर्णयति शृणोति, पठे चित्रितं श्रीकृष्ण शरीरं पश्यन्ती सा जनैर्दृष्टा चेल्लज्जते । अस्यां श्रीकृष्णरागाङ्कुरो वीजं विना कुतः सकाशादाविरेति,

---

विस्तार नहीं किया गया है ।

इस के पूर्व में जो इङ्गित की कथा सूचित की गई है, एवं जिस इङ्गित के द्वारा पूर्वोक्त अलङ्कार समूह के वैविध्य अङ्गीकृत हुए हैं। सम्प्रति उस के त्रिविध भेद को कहते हैं।

मुग्धा, मध्या, एवं प्रगल्भा के त्रिविध इङ्गित होते हैं। उसके मध्य में प्रत्येक के ही तीन प्रकार इङ्गित नहीं है, किन्तु प्रत्येक पृथक् होने के कारण—तीन के इङ्गित तीन प्रकार ही हैं, यह समझना होगा। मुग्धा एवं कन्या का इङ्गित एक प्रकार ही है ॥२६९॥

लक्षण इस प्रकार है—प्रिय-दृष्टि गोचर होने से लज्जा प्रकाश करती है, सम्मुखी न होकर दर्शन कर नहीं सकती है, किन्तु चित्रादि में प्रियतम की प्रतिकृति को देखने पर प्रच्छन्न भाव से अति स्पृहा के सहित उसको देखती है। प्रियतम विविध प्रकार से पूछने पर भी प्रत्युत्तर नहीं देती है, किन्तु उदासीन व्यक्ति प्रियतम के सम्बन्ध में कुछ कहने पर अथवा निज लालित शुकपक्षी उनके सम्बन्ध में कुछ कहने पर अन्यदिक् में दृष्टि पात करके उसको सुनती रहती है ॥२७०--२७१॥

पश्यन्ती पटचित्रिते प्रियवपुर्दृष्ट्वा जनं लज्जते
निर्वीजः क्व नु आविरेति सुदृशः कृष्णानुरागाङ्कुरः ?
अत्र भाव एव हाव-हेलाभ्यां शबलीभूय इङ्गितेन सह संसृष्ट इत्ययं
सेङ्गितोऽलङ्कारे सङ्करः । एवमन्येऽप्यनुसर्त्तव्याः ॥२७२॥

अथ मध्येङ्गितानि—अकाण्डे नीवि धम्मिल्लमोक्ष संयमनक्रियाः ।
अलकोल्लासनमिषाद् भुजामूलप्रदर्शनम् ।
सखिभिः सह संवाद निर्हेतु मधुराक्षरः ।
परस्परं परीहासो मन्दमन्दः प्रियान्तिके ॥२७३--२७४॥

यथा—उल्लास्य नीवीं पुनराबबन्ध, निर्मोच्य वेणीं पुनराजुगुम्फे ।
शनैरकाण्डे ललितं जजृम्भे, कयापि कृष्णं पुरतो निरीक्ष्य ॥
अत्रापि हावोऽलङ्कारः शोभया शबलीभूय इङ्गितेन संसृष्टः ॥२७५॥

आविर्बभूव ॥२७२॥

संयमन क्रिया बन्धन क्रिया । हेतुं विनैव मधुराक्षरः संवादः मन्द मन्दः परिहासः, अकाण्डेऽनवसरे, मोक्षनिबन्धादेः कारणं विनैवेत्यर्थः ॥२७३--२७४॥

कयापि व्रजसुन्दर्या उल्लास्य मध्यदेशात् किञ्चिदुत्थाप्य नीवीं पुनराबबन्ध ॥२७५-२७६॥

उक्त विषय का दिङ्मात्र उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—अपर व्यक्ति प्रियतम की कथा उत्थापन करने से अन्यदिक् में दृष्टिपात करके प्रेमार्द्र चित्त से उस कथा को सुनती रहती है, एवं अङ्ग में पुलकोद्गम होने से उसको गोपन करती है ।

जिस समय चित्रपट में प्रियतम की मूर्त्ति को निरीक्षण करती रहती है, उस समय वह अन्य का दृष्टि गोचर होने से महा लज्जिता होती है । फलतः सुलोचन का यह निर्वीज कृष्णानुराग रूप अङ्कुर कहाँ से आविर्भूत हुआ--कुछ भी समझने में नहीं आता हैं ।

इस श्लोक में भाव, हाव एवं हेला के सहित मिश्रित होकर इङ्गित के सहित संसृष्ट हुआ है, अतएव यह सेङ्गित अलङ्कार सङ्कर है । इस प्रकार अपर विषय समूह को भी अनुसन्धान पूर्वक देखना आवश्यक है ।।२७२॥

अनन्तर मध्या के इङ्गित समूह का वर्णन करते हैं । मध्या नायिका प्रियके समीप में असमय में नीवी एवं केशबन्धन का मोचन एवं संयमन करती है, अलका का उत्सारण च्छल से बाहु मूल प्रदर्शन करती है, विना कारण से सखी वृन्द के सहित मधुराक्षर से कथोपकथन एवं परस्पर मन्द मन्द परिहास भाषण में प्रवृत्त होती है ।।२७३--२७४ ।

उदाहरण—सम्मुख में श्रीकृष्ण को निरीक्षण करके एक व्रज कुमारी नीवी एवं केश बन्ध उन्मोचन पूर्वक पुनर्वार बन्धन एवं अनुपयुक्त समय में धीर एवं मनोज्ञ भाव से जृम्भण करने लगी ।

प्रगल्भेङ्गितानि यथा—चुम्बति लीला कमलं, परिरभते प्रियसखीमपि च ।
मुकुरे निजमुखकमलं, निरीक्ष्य तिलकं करोति कृष्णाग्रे ॥२७६॥

यथा—बाहुं दक्षिणमालि कण्ठवलये विन्यस्य लीलालसं
वामेनैव करेण केलि कमलं घ्राणच्छलाच्चुम्बति ।
अस्यन्ती निपतन्तमास्य कमले भृङ्गं शिरः कम्पनैः
कृष्णाग्रे कुसुमेषुविभ्रमभरैः श्रान्तेव काचिद् बभौ ॥
अत्र विलास एवालङ्कारो मदेनालङ्कारेण शबलीभूयेङ्गितेन संसृष्टः ॥२७७॥
संगीतादि कौशलमप्यासां विलास एव पर्य्यवस्यति ।
तेन पृथङ् न दर्शितम्, आदि शब्दात् कला कौशलमपि ॥

यथा—अन्तर्मोदमदेनकाकलिकया वर्णैरनाविष्कृतैः
सद्ग्रामं स्वरमूर्च्छना श्रुतिपरिष्कारेण कण्ठस्पृशा ।
गायन्ती ललितं तथैव ललितादत्तश्रुतिः श्यामया
प्रत्येकं निहितैः करे कुरुवकैः राधा स्रजं सृज्यते ॥२७८॥

मुख कमले पतन्तं भ्रमरं शिरः कम्पनैः करणै रस्यन्ती क्षिपन्ती काचिद् बभौ, कन्दर्पस्य विलास भरैः श्रान्ता इव, यथा कश्चिज्जनः श्रान्तः सन्नन्यस्य स्कन्धमवलम्बते, कदाचित् दुःसहेन भारेण शिरः कम्पनं करोति च तद्वदित्यर्थः ॥२७७॥

अन्तरानन्दामोदेन सद्ग्रामादीनां परिष्कारेण कण्ठस्पृशा काकलिकया मधुरास्फुटध्वनिना, एवमनाविष्कृतैर्वर्णैः स्पष्टमनुच्चारितैर्वर्णैश्च करणै ललितं यथास्यात्तथा गायन्ती राधा श्यामया निहितैः

इस श्लोक में भी हाव, शोभा के सहित सम्मिलित होकर इङ्गित के सहित संसृष्ट हुआ है ॥२७५॥

अनुरक्ता प्रगल्भा नायिका प्रियतम के सम्मुख में लीला कमल चुम्बन करती है, प्रियसखी को आलिङ्गन करती है, एवं दर्पण में निजमुख मण्डल निरीक्षण पूर्वक तिलक रचना करती है । उदाहरण—श्रीकृष्ण के सम्मुख में एक गोपी दक्षिण बाहु को क्रीड़ालसस्वभाव से सखीके कण्ठ में विन्यास पूर्वक घ्राण-च्छलसे वाम हस्तके द्वारा लीलाकमल ग्रहण पूर्वक चुम्बन किया एवं मुख कमलोपरि पतन शील भ्रमरावली को शिरः कम्पन द्वारा निवारण करके स्मर विभ्रम से परिश्रान्ता के समान शोभित होने लगी ।

इस श्लोक में विलास ही अलङ्कार है, वह मदन नामका अलङ्कार के सहित मिश्रित होकर इङ्गित के सहित संसृष्ट हुआ है ॥२७६-२७७॥

नायिका वृन्दके सङ्गीतादि कौशल विलास के मध्य में ही पर्य्यवसित होते हैं, अतः उसका पृथक् प्रदर्शन नहीं हुआ । 'संगीतादि' यहाँ आदि पद से कला कौशल को भी जानना होगा ।

उदाहरण—आन्तरिक आनन्द हेतु मद-भर से कण्ठ मात्र स्पर्शी काकली स्वर से श्रीराधा गान करती रहती हैं । सुन्दर ग्राम, स्वर, मूर्च्छना, एवं श्रुति-उक्त सङ्गीत के विभूषण हुये हैं । उसमें वर्णावली

श्रद्धावत्—कर्त्तृकात् सृजो यक् चिणौ, कर्त्तरि यक् ।

अथासां सखी भेदाः। तत्रसखी लक्षणम्—

निरुपाधि प्रीतिपरा सदृशी सुख दुःखयोः ।
वयस्य भावादन्योन्यहृद्यज्ञा सखी भवेत् ।।

यथा (तृतीय किरणे ५८ तम श्लोके) 'पतत्यस्रे स्रास्रा' इत्यादि ।।२७९।।

छायेव याऽनुसरति सेवं प्रियसखी स्मृता ।।२८०।।

यथा—क्वचिदग्रे क्वचित् पश्चात् क्वचित् पार्श्वप्रदान्तयोः ।
सूर्य्यानुरोधाच्छायेव सा राधामनुवर्त्तते ।।२८१।।

कुरुवकः झिण्टि पुष्पः स्रज सृज्यते, कर्त्तरि यक् । काकलिकयेति, अनाविष्कृतेरिति एदाभ्यामेतद्गानं निकटवर्त्ति सखीनामेव कर्णग्राह्यम्, नान्येषामिति ज्ञेयम् । कथम्भूता? गाने साहाय्यार्थं ललितया दत्ता श्रुतिर्यस्यै सा । अष्टादश श्रुतयस्तु कफ--वात—पित्तवत्तां प्राकृतानां कण्ठेषु न स्फुरति किन्तुतद्रहितानां गोपीनामेवेति बोध्यम् ।।२७८--२७९।।

यथा जनस्याग्रे सूर्य्यश्चेत्तदा छाया पृष्ठदेशे वर्त्तते, चेद् यदि सूर्य्यो जनस्य पृष्ठ देशे वर्त्तते, तदाछाया सम्मुखे तिष्ठति, कदापि न त्यजति, तथैवेत्यर्थः ।।२८०--२८१।।

परिस्फुट नहीं हो रही है । ललिता उक्त संगीत के साहाय्य श्रुति दान कर रही है । इस अवस्था में श्यामा श्रीराधा को एक एक कुरुवक झिण्टि पुष्प अर्पण करती रहती है, एवं राधा सङ्गीतालाप करते करते उस पुष्प से माला ग्रन्थन कर रही हैं । "माला ग्रन्थन कर रही हैं" यहाँ मूल के 'स्रजं सृज्यते' इस वाक्य की क्रिया में आत्मने पद होने के कारण यह है कि--कर्त्ता श्रद्धा विशिष्ट होने से सृज धातु के उत्तर कर्त्तृ वाच्य में आत्मने पद एवं यक् होता है' पाणिनि के इस नियम के अनुसार उक्त पद सिद्ध हुआ है।

उक्त नायिका गण की सखी का प्रकार को कहते हैं । सम्प्रति लक्षण के सहित उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । जो निरुपाधि प्रीति परायणा, सुख दुःख में सदृशी एवं वयस्य भाव हेतु परस्पर की हृदयज्ञा हैं, वे ही सखी शब्द से अभिहिता है। उदाहरण—

"पतत्यस्रे स्रास्रा भवति पुलके जात पुलका,
स्मिते भाति स्मेरा मुमलिमनि जाते मुमलिना ।
अनासाद्य स्वालीमुकुरमभिवीक्ष्य स्व वदनं
सुखं वा दुःखं वा किमपि कथनीयं मृगदृशः ।।"

अश्रु बिन्दु पतित होने से वे भी अश्रुमुखी होती हैं । इत्यादि ।।२७८-२७९।।

जो छाया के समान सतत अनुसरण करती है, उसको प्रियसखी कहते हैं ।।२८०।।

उदाहरण—सूर्य्य हेतु छाया के समान कभी सम्मुख में कभी पश्चात् भाग में, कभी पार्श्व भाग में एवं कभी पद प्रान्त भाग में रहकर श्रीराधिका का अनुवर्त्तन करती रहती है। अर्थात्, सूर्य्य सन्निहित व्यक्ति को छाया जिस प्रकार कभी भी नहीं छोड़ती है, उस प्रकार जो श्रीराधा को कभी भी नहीं छोड़ती है, उसको प्रियसखी कहते हैं ।।२८१।।

सुरसे नर्मणि रता सैव नर्मसखी भवेत् ॥२८२॥

यथा—वृथाऽकृथा यावकमङ्घ्रि पङ्कजे, स्व एव रागोऽस्यदृशां रसायनः, ।
किन्त्वेक एवास्ति गुणोऽस्य राधिके, यः केशवस्यापि च केशरञ्जनः ॥२८३॥

न सङ्कोचं यथा याति कान्तेन शयितोत्थिता ।
आत्मनो मूर्त्तिरन्येव प्रियनर्म सखी तु सा ॥२८४॥

यथा—अन्योन्य ग्रथिताङ्गुली किसलयौ विन्यस्य सख्यंसयो
र्बाहू गात्रविमोटनं विदधती कृत्वाऽस्तनाग्रे स्तनौ ।
यत् कृष्णस्य जये समर्जितवती पौष्पायुधे सङ्गरे ।
तत् सौभाग्यधनं न्यधाद् विधुमुखी स्वाङ्गात्तदङ्गेष्विव ॥

एता अपि चतुर्विधाः सख्यो नायिका गुणैरन्यूना एव ॥२८५॥

विशेषतस्तु—दूतीभावः समये, परिजन भावस्तु वेशभूषादौ ।

हे राधिके! त्वमङ्घ्रिकमले यावकं वृथा अकृथाः यतोऽस्याङ्घ्रेः स्वतः सिद्धो रागः, किन्त्वस्य यावकस्य समय विशेषे गुणः श्रीकृष्णस्यापि केशं रञ्जयिष्यतीति ॥२८२-२८३॥

कान्तेन सह सुप्ता पश्चादुत्थिता सा कान्तस्याग्रे निर्वस्त्रमङ्गं दृष्टवत्या यया सख्या करणभूतया यूथेश्वरी सङ्कोचं न प्राप्नोति, सा प्रियनर्म सखी—आत्मनो द्वितीया मूर्त्तिः ॥२८४॥

रात्रि सम्बन्धि विलासोत्थ परिश्रमेण जातस्यालस्यस्य दूरीकरणार्थं सख्याः स्कन्धदेशे बाहु विन्यस्य कन्दर्प युद्धे श्रीकृष्णस्य पराजयेन यत् सौभाग्यमर्जितम्, तदेव सौभाग्यधनं स्वाङ्गात् सकाशात् सख्या अङ्गेषु न्यधादिव ॥२८५॥

तस्मिन् माने गाढ़े सति गेहकृत्वं निन्दकत्वं तासां सखीनामितिभावः । २८६॥

जो सुरस विशिष्ट परिहास कार्य्य में रत रहती है, उसको नर्म्म सखी कहते हैं ॥२८२॥

उदाहरण—अयि राधे ! तुम चरण कमल को वृथा अलक्त राग से रञ्जित न करो, कारण, चरणों की स्वाभाविक रक्तिमाही तो साधारण जन गणके पक्ष में दृष्टि रसायन स्वरूप है । तब उसका एक विशेष गुण देखने में आता है कि, वह केशव का भी केशरञ्जन करता रहता है ॥२८३॥

जिसके समीप में नायिका प्रियतम के सहित शयिता एवं शयन के पश्चात् उत्थिता होकर भी सकुचाती नहीं, अपनी ही द्वितीय एक मूर्त्ति मानकर जिस को अनुभव करती है, उसको प्रियनर्म्म सखी कहते हैं ॥२८४॥

उदाहरण—परस्पर ग्रथिताङ्गुलि निज बाहुद्वय को सखी के स्कन्ध में अर्पण पूर्वक एवं स्तनद्वयको तदीय स्तनाग्र भाग में विन्यास पूर्वक गात्र भङ्ग के सहित चन्द्र वदनी श्रीराधिकाने जब आलस्यत्याग किया, तब प्रतीत हुआ, स्मर समर में श्रीकृष्ण को पराजित करके जो सौभाग्य अर्जन उन्हों ने किया है, जैसे स्वकीय अङ्ग से अवतारण पूर्वक सखी के अङ्ग में उसी को ही स्थापन किया ।

ये चतुर्विध सखी—नायिका के गुण समूह हीन नहीं होती हैं ॥२८५॥

उपदेष्टृता च माने, तस्मिन् गाढ़े तु गर्हकत्वञ्च ॥२८६॥

तासामिति भावः।

दूती भावस्तु त्रिधा। लक्षणन्तु प्रागुक्त समानमेव। तत्र निसृष्टार्था यथा (तृतीय किरणे ७ श्लोकः) 'उच्छूनस्तनित' इत्यादौ। मितार्था यथा (१६९ श्लोके) 'ताम्बूलमाल्य' इत्यादौ। सन्देशहारिका

यथा—त्वदुक्तमुक्तं सखि कृष्णसन्निधौ, त्वदुक्तमेतच्च निवेदयामि ते।
प्रसादनेनालमनेन निग्रहोऽप्यनुग्रहोऽयं मम यः कृतस्तया॥

परिजनभावो यथा—(२५७ श्लोके) 'आदर्शोऽनुचरो' इत्यादि। मानोपदेष्टृता यथा (१४६ श्लोके) 'सख्या शिक्षित पाठितानि' इत्यादि। तस्मिन् गाढ़े गर्हकत्वं यथा—

मान भङ्गार्थं प्रणत्यादिना अनुनयन्तं श्रीकृष्णं तिरस्कृत्य विमुखीबभूव, पश्चात् श्रीकृष्णे गतेसति, 'दुर्बुद्धिरहं किमकरवम्, व्रजराजनन्दनो मया तिरस्कृतः' इति मञ्जात्तापवती कश्चित् श्रीकृष्णं प्रसादयितुं सन्देशहारिणीं दूतीं श्रीकृष्ण निकटे प्रेषयामासेत्याह—त्वदुक्तमिति। श्रीकृष्णस्योक्तिमाह—अनेन

विशेष कर उपयुक्त समय में उन सबों में दूतीभाव, वेश भूषादि समय में परिजन भाव, मान समय में उपदेशक भाव, एवं मान प्रगाढ़ होने से उस समय निन्दक भाव भी दृष्ट होता है ॥२८६॥

दूती भाव तीन प्रकार के हैं, उसके लक्षण पहले जिस प्रकार कहा गया है, यहाँ भी उसी प्रकार है, उसके मध्य में निसृष्टार्थ दूती का दृष्टान्त—

उच्छूनस्तनितस्य सर्वसुखदः कृष्णस्तु दृष्टोदयो
वाताः शीकरवाहिनः सुमनसां वीथी विकासं गता।
स्निग्धा भूमत एव संज्वरभरः श्यामायमाना दिशः
स्फीतं गोकुलमुन्मदाश्च सरितः शीता गिरिद्रोणयः॥"

उच्छूनस्तनित अर्थात् गभीर गर्जनकारी उस कृष्ण जलधर का उदय सब के पक्ष में सुखद हुआ है। इत्यादि श्लोक हैं। अमितार्था दूती का उदाहरण—

"ताम्बूल माल्य वसना भरणानुलेपाः सम्पादितास्तव कृते स्वयमेतया ये।
तेह्यव तां त्वयि विलम्बिनि तत्क्षणेन, सन्तापयन्ति वितुदन्ति विमोहयन्ति॥"

हे कृष्ण! मेरी सखीने तुम्हारे निमित्त जो सब ताम्बूल, माल्य, वसन, आभरण एवं अनुलेपन सज्जित किया है। इत्यादि श्लोक। सन्देशहारिका का उदाहरण—

हे सखि! तुमने जो कही थी, उस को मैंने कृष्ण को कहा, उससे उसने जो कहा है, मैं कहती हूँ, सुनो, उसने कहा, मुझ को प्रसन्न करने की आवश्यकता क्या है? जो निग्रह मुझ को किया गया है, वही मेरे पक्ष में अनुग्रह हुआ है।

परिजन भाव का दृष्टान्त (२५३ श्लोक में है—

(चतुर्थ किरणस्य ११ श्लोके) 'कति न पतित पादोपान्ते' इत्यादौ। (१८८ श्लोके) 'अस्माभिः सह चाटुकृत्' इत्यादौ वा ।।२८७।।

उक्त आलम्बनविभावः। उद्दीपनविभावो यथा—

वृन्दावनं षड् ऋतवः सह वर्त्तमाना: कुञ्जा मणीन्द्रगृहतोऽपि मनोविनोदाः
कर्पूर भांसि यमुना पुलिनानि हंस-कारण्डकादि ललितं नलिनी वनञ्च ।।२८८।।

प्रसादनेनालम्। तया कृतो यो निग्रहः स ममानुग्रह एव। स्वस्य प्रीतिमज्जने एव निग्रहानुग्रहौ करोति, अन्यथा मयि तस्या औदासीन्यमेव स्यात् ।।२८७।।

षड् ऋतव एकस्मिन्नेव क्षणे वर्त्तमाना:। कर्पूरतोऽपि दीप्तिमन्ति यमुना पुलिनानि। रोलम्बो

आदर्शेऽनुचरी कराञ्चलगते संवीक्षमाणा मुखं
द्वित्राभिः क्रियमाण मण्डन विधो राधा सखीभिर्मिथः।
उत्थायार्द्ध विभूषितैव परितो व्यापारयन्ती दृशं
दृष्ट्वा दैवत आगतं प्रियमथो सम्पूर्ण भूषा भवत् ।।"

श्रीराधा किङ्करी के करतलस्थित दर्पण में मुख निरीक्षण कर रही थीं, इत्यादि। मानोपदेशक का उदाहरण—१४६ श्लोक में है।

"सख्या शिक्षित पाठितानि सुभृशं वाम्योपदेशाक्षरा--
ण्यद्यावश्यमभीष्ट सङ्ग समये सम्पादनीयानि हि।
इत्थं चेतसि निश्चयो व्यजनि यः कृष्णस्य सन्दर्शने
सद्योऽसौ सह चेतसापि सुतरांस्तांस्तस्मि तस्या हृदः ।।"

प्रियके प्रति मान ग्रहणादि रूप प्रतिकूल व्यवहार करने के निमित्त सखीने यत्न पूर्वक जो जो पाठ पढ़ाया है। इत्यादि।

मान प्रगाढ़ होने से निन्दा करण--को उदाहरण चतुर्थ किरण के ११ श्लोक में है—
कति न पतितं पादोपान्ते न चाटु कलोरितं कति न शपथ: क्षोर्णो वत्तः कृता कति न स्तुतिः।
तदपि न गतं वामे वाम्यं लभस्व कृतार्थतां भवतु तव तु प्रेयान् मानो न मानिनि माधवः।।"

चरणो पान्त में कितनी बार न गिरा हूँ। इत्यादि। १८८ श्लोक भी उसीका उदाहरण है—

"अस्माभिः सह चाटु कृष्ण गणितः पादानतो माधवः।
कोपोऽयं बहु मानितो न च वयं प्राणेश्वरो नाप्यसौ।
चन्द्र श्चन्दन मारुतः पिकरुतं सम्भूय सर्वं यदा
तामुद्वेजयिता तदेष सकलं कोप समाधास्यते ।।"

माधव चरणों में पतित होकर हम सबको कितने ही दैन्य वचन कहे थे। इत्यादि ।।२८७।।

आलम्बन विभाव का वर्णन के पश्चात् उद्दीपन विभाव का वर्णन करते हैं— मधुर वृन्दावन, एकत्र अवस्थित षड् ऋतु है, मणीन्द्र के गृह से भी चित्त विनोदन कुञ्ज गृह कर्पूर प्रभ यमुना पुलिन हंस कारण वादि द्वारा ललित नलिनीवन है, चन्द्र, चन्दन, पवन, गोवर्द्धनादि गिरि के मनोहर कन्दरालय

चन्द्रश्च चन्दनमरुच्च मनोहराणि गोवर्द्धनादि गिरिकन्दर मन्दिराणि।

रोलम्बकोकिलमयूरनिनादमिश्रं नाना विहङ्ग विरुतं हरितोऽपि हृद्याः ॥२८९॥

तत्र षण्णामृतूनामेकत्र—वर्त्तिता यथा—

शिरीषेणासक्ता स्थलकमलिनी कुन्दलतिका
रतालोध्रे नीपः स्वयमनुसृतो माधविकया ।
अहो वृन्दारण्ये विटपिमिथुनानां विहसतां
किमाद्य दाम्पत्यं स्फुरति रचिते कुञ्जभवने ॥२९०॥

एवमन्येऽप्यनुसर्त्तव्याः ।

अन्यानुभावाः—स्थायिभावस्य कार्य्याणि कटाक्षादीनि यानि तु ।
अनुभावास्तानि बोध्या न संख्या तेषु वर्त्तते ॥२९१॥
अलङ्काराश्च ये प्रोक्तास्तेषां मध्ये च केचन ।
कालेऽनुभावतां यान्ति तथा तानीङ्गितानि च ॥२९२॥

भ्रमरः । एतेषां शब्दं हरितो दिशो हृद्याः । अधिकारात् तेषां शब्दा अपि हृद्या इत्यर्थः ॥२८८-२८९॥

ग्रीष्मे शिरीषः प्रफुल्लो भवति, स्थलकमलिनी तु शरदि । एवं सति पुष्पलता शिरीषरूप पुरुषेण सहासक्ता पुष्पवती स्थलकमलिनी । एवं हेमन्ते प्रफुल्ले लोध्रे, शिशिरे प्रफुल्ला कुन्दलता रता, प्रावृषि प्रफुल्लो नीपः स्वयं वसन्ते प्रफुल्लया माधविकया अनुसृतः । तथासति वृन्दावने षण्णामृतूनामेकक्षण एवावस्थितिरिति ज्ञेयम् ॥२९०॥

तानि कटाक्षादीन्यनुभावा बोध्याः । तेषु कटाक्षादिषु, संख्या नास्ति अतोऽलङ्कारादि वत्तेषां संख्या न कृताइत्यर्थः काले—समय विशेषे—केचनालङ्कारा अनुभावतां प्राप्नुवन्ति । तथा तान्यलङ्कार सहितानीङ्गितान्यप्यनुभावतां प्राप्नुवन्ति ॥२९१-२९२॥

भ्रमर मयूर कोकिलादि विविध विहग के कलरव से रमणीय दिङ् मण्डल—ये सब ही उद्दीपन विभाव हैं ॥२८८-२८९॥

षड् ऋतु का एकत्र अवस्थान का उदाहरण—वृन्दारण्यका कैसा विचित्र माहात्म्य है, तत्रत्य कुञ्ज भवन में प्रफुल्ल वृक्ष वल्ली वृन्दमें भी अपूर्व दाम्पत्यभाव स्फुरित होता है । शरत् शोभिनी स्थल कमलिनी ग्रीष्म गौरव शिरीष पादप में आसक्त हुई है । शिशिर सुहासिनी कुन्द लतिका हेमन्त पुष्पित लोध्र वृक्ष में संलग्न हुई है । वसन्त विकसिता माधवीलता प्रावृट् प्रफुल्ल कदम्बपादप में स्वयं विलम्बित है । इसी रीति अन्य उदाहरण समूह का अनुसरण करना कर्त्तव्य है ॥२९०॥

सम्प्रति अनुभाव का वर्णन करते हैं—स्थायिभाव के कटाक्षादि जो सब कार्य्य हैं, वे सब ही अनुभाव हैं, वे सब कटाक्षादि की संख्या नहीं की गई है । इस के पहले जो सब अलङ्कार कहे गये हैं । समय विशेष में वे सब एवं उन सब के सहित इङ्गित समूह भी अनुभावत्व को प्राप्त करते हैं ॥२९१-२९२॥

तत्र कटाक्षो यथा—

तस्यास्त्रपा भयविषाद विवेक धैर्य्य दैन्याभिलाषभरकोरकितः कटाक्षः।
उन्मादमोहमददाहविसर्पशूल—तृष्णान्वितो ज्वर इवाविशति मे प्रविष्टः॥
कृष्णोक्तिः ॥२९३॥

यथा वा—तव शशिमुखि राधे दक्षिणाऽदक्षिणाभ्यां—
श्रवण पथमुपात्तः प्रेङ्खया यः कटाक्षः।
निभृत रभस वेगारोपितः शङ्खिकानां
क्रकच इव ममोच्चैः कृन्तति स्वान्तशङ्खम् ॥२९४॥

एवमन्येऽप्यनुसर्त्तव्याः।

सात्त्विका अपि येऽष्टौ तेऽपि यान्त्यनुभावताम् ॥२९५॥
ते यथा—स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदश्च वेपथुः।
वैवर्ण्यं अश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकामताः ॥२९६॥

उदाहरणम्—स्विन्ना गद गदभाषिणी पुलकिता स्तब्धा स्फुरद् वेपथुः।

श्रीकृष्ण सुबलं प्रत्याह—तस्याः राधायाः त्रपा भयादि रूप कलिकाभिः कोरकितः कटाक्षरूप पुष्प गुच्छो मम हृदि प्रविष्टः। तत्र दृष्टान्तः—उन्मादेति। विसर्पशूलौ व्याधिविशेषौ, तृष्णा, सान्निपातकौ एतैरन्वितो ज्वरो यथा हृदि प्रविष्टः सन् दहतितद्वदित्यर्थः ॥२९३॥

हे राधे! तव दक्षिणवाम नेत्राभ्यां जातः कटाक्षः प्रेङ्खया गत्या कर्ण स्वरूपं पन्थानं प्राप्तः सन् मम मनोरूपं शङ्खं कृन्तति छिनत्ति। तत्र दृष्टान्तः—निभृते एकान्ते हर्षाणां वेगेना रोपितश्चञ्चलीकृतः। 'शाँखारी' इति प्रसिद्धानां शाङ्खिकानां "करात" इति प्रसिद्धः क्रकच इव। अन्यः क्रकच आगमन समये एव कृन्तति, शाङ्खिकानां गमनागमनोभय समये एव कृन्ततीति विशेषो ज्ञेयः॥२९४-२९५-२९६॥

उसके मध्य में कटाक्ष का उदाहरण—लज्जा, भय, विषाद, विवेक, धैर्य, दैन्य, एवं अभिलाषातिशय रूप मुकुल सङ्कुल प्रियतम के कटाक्ष रूप कुसुमस्तवक—उन्माद, मोह, मद, दाह, विसर्प शूल एवं तृष्णा—विशिष्ट प्रबल ज्वरके समान मेरा अन्तःकरण में प्रविष्ट हुआ है॥२९३॥

यह कृष्णोक्ति है।

कटाक्ष की उदाहरण—शशिमुखी राधिके तुम्हारे वामनेत्र एवं दक्षिण नेत्र से उत्पन्न हर्षवेग चालित कुटिल कटाक्ष—गमन भङ्गि के द्वारा श्रवण पथ को प्राप्त कर शङ्ख वलय निर्माता शाङ्खिक वृन्द के अर्थात् शाँखारी वृन्द के क्रकच—करात के समान मेरा अन्तःकरण रूप शङ्ख को छिन्न विच्छिन्न कर रही है। इस प्रकार अपर उदाहरण का भी अनुसरण करना चाहिये। अपर जो अष्टविध सात्त्विक भाव हैं, वे भी अनुभावत्व को प्राप्त करते हैं। अष्टसात्त्विक इस प्रकार हैं—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु एवं प्रलय—को सात्त्विक भाव कहते हैं।॥२९४-२९५-२९६॥

साश्रु म्लानरुचि र्यदद्य जलदालोकेऽभवद् भाविनी
तन्मन्ये स्फुटमिन्द्रनीलमहसः कस्यापि लीलानिधेः
वृन्दारण्य विलासिनो द्युति भरैरेषा पराभूयत ॥२९७॥

अथ व्यभिचारिणः—निर्वेद ग्लानि शङ्काश्च मदासूया श्रमो अथ ।
आलस्यं दैन्य चिन्ताश्च मोहः स्मृति-धृती अपि ॥२९८॥
व्रीड़ा चपलता हर्ष आवेग जड़ते अपि ।
विषादौत्सुक्य गर्वाश्च निद्रापस्मार एव च ॥२९९॥
विमर्ष सुप्त्यमर्षाश्चाप्यवहित्थोग्रतेऽप्यपि ।
उन्माद, व्याधिमतयो वितर्कमरणे अपि ।
त्रासश्चेति त्रयस्त्रिंशदुच्यन्ते व्यभिचारिणः ॥३००॥

अथैषां लक्षणम्—स्वजुगुप्सा तु निर्वेदो ग्लानिर्विकृतिराकृतेः ।
अनिष्टाशङ्कनं शङ्का मदो मध्वादि मत्तता ।
दोष दृष्टि रसूया स्याद् व्यायामक्लान्तता श्रमः ॥३०१॥
शक्तौ च कर्म्म वैमुख्यमालस्यात् दैन्यमात्मनि ।
अयोग्य बुद्धिश्चिन्ता तु किं भावीति विचिन्तनम् ॥३०२॥
विचित्तता तु मोहः स्यात् स्मृतिः प्राग्वृत्तचिन्तनम् ।
धैर्य्यं धृतिस्त्रपा व्रीड़ा लौल्यं चपलता मता ॥३०३॥

यस्मादियं भाविनी कान्ता मेघालोके सति स्विन्नेत्यादिना प्रस्वेदादि—सात्त्विक विशिष्टा अभवत्, तत्तस्मात् कस्यापीन्द्रनीलमहसः श्रीकृष्णस्य कान्तिभरैरेषा पराभूयत, पराभवं प्राप्ता। 'म्लानरुचिः' इत्यनेन वैवर्ण्यम् ॥२९७॥

मधुजन्यमत्ततामदः, आदि शब्देन यौवनादेरपि व्यायामेन व्यापारेण जाता क्लान्तता क्लान्ति श्रमः

उदाहरण यह है— अद्य भाविनी राधिका मेघ दर्शन कर जो स्वेद, रोमाञ्च, गदगद भाषण, स्तम्भ, कम्प, अश्रुमोचन, एवं विवर्ण प्रभृति लक्षणों से लक्षित हो रही है। इस से बोध होता है—राधिका, इन्द्र नीलमणि वृन्दावन विहारी किसी लीलानिधि सुनायक की कान्तिसे निश्चय ही पराभूत हो गई है ॥२९७॥

सम्प्रति व्यभिचारि भावों का वर्णन करते हैं—निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, मद, असूया, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति धृति, व्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, विषाद, औत्सुक्य, गर्व निद्रा, अपस्मार, विमर्ष, सुप्ति, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, उन्माद, व्याधि, मति, वितर्क, मरण, एवं त्रास-ये तेतीस व्यभिचारि भाव हैं ॥३००॥

आत्म चिन्तन का नाम—जुगुप्सा, आकार की विकृति—ग्लानि, अनिष्टाशङ्कन—शङ्का, मधुपानादि

हर्षश्चित्तस्य विस्फार आवेगस्त्वरया मदः ।
निष्पन्दत्वञ्च जड़ता विषादस्तु विषण्णता ॥३०४॥
उत्कण्ठैवौत्सुक्यमाहुर्गर्वोऽहङ्कार एव हि ।
निद्रा निद्रैव स्खलनं फेन निष्ठीव पूर्वकम् ॥३०५॥
अपस्मारः परामर्शो विमर्शो निद्रया विना ।
स्वप्नस्तु सुप्तिरित्याहुरमर्षः कोप एव हि ॥३०६॥
अवहित्थाकारगुप्तिरुग्रता तीव्रतैव हि ।
अनवस्थित चित्तत्वमुन्मादो हृद् व्यथादिकः ॥३०७॥
व्याधि र्यथार्थस्मरणं मतिः संशय एव हि ।
वितर्को मरणं प्राणत्याग स्त्रासो भयोदयः ॥३०८॥
अपस्मारं च निर्वेदं मरणं च विना किल ।
त्रिंशदेवात्र विज्ञेयाः शृङ्गारे व्यभिचारिणः ॥३०९॥

अपस्मारादय स्त्रयः क्रमशोऽमङ्गलत्वात् शान्ताङ्गत्वात् करुणाङ्गत्वाच्च न गृहीताः । तत्त्व

आत्मन्ययोग्यता बुद्धि दैन्यम् । विचित्तता चित्तस्य वृत्तिशून्यता । मोहः, त्वरया मदः, त्वराजन्य मत्तता आवेश इत्यर्थः । उदाहरणे व्यक्ती भविष्यति ॥३०१—३०४॥

फेन निष्ठीवन पूर्वकं स्खलनमपस्मारः, निद्रां विना शयनं सुप्तिः, हृद्व्यथादिरेव व्याधिः, संशय एव वितर्कः, तत्त्व ज्ञानोत्थो निर्वेद एव शृङ्गारे रसे न व्यभिचारी । श्रीकृष्णे स्वस्यौदासीन्येन जातो यो निर्वेदः स तु व्यभिचारी भवेदेव । एते व्यभिचारिण शावल्यादिकं विनैव एकैकशः स्वातन्त्र्येण ग्लान्यादि

हेतु मत्तता--मद, दोष दर्शन--असूया; व्यायाम सम्भूत क्लान्तता—श्रम, सामर्थ्य की विद्यमानता में कर्म विमुखता —आलस्य, स्वयं में अयोग्यता बुद्धि--दैन्य, क्या होगा ? इस प्रकार चिन्तन—चिन्ता, पूर्व कालीन विषय का चिन्तन—स्मृति, धैर्य--धृति, लज्जा--व्रीड़ा, विचित्तता—मोह, लोलता—चपलता, चित्त विस्फार- हर्ष, त्वरा हेतुमत्तता—मद, स्पन्द हीनता जड़ता, विषण्णता—विषाद, उत्कण्ठता औत्सुक्य, अहङ्कार--गर्व, निद्रा—निद्रा, फेन निष्ठीवन पूर्वक स्खलन—अपस्मार, परामर्श—विमर्श, निद्रा व्यतीत शयन—सुप्ति, कोप--अमर्ष, आकार गोपन—अवहित्था, तीव्रता—उग्रता अनवस्थित चित्तता उन्माद; हृदयव्यथा—व्याधि, यथार्थ स्मरण--मति, संशय-वितर्क, प्राण त्याग—मरण, एवं भयका उदय कोत्रास कहते हैं ॥३०१—३०४—३०८॥

शृङ्गार में अपस्मार निर्वेद एवं मरण को छोड़कर अवशिष्ट तीस व्यभिचारी हैं ।

उक्त तीन के मध्य में पहला अमङ्गल जनक है, द्वितीय शान्तरस का अङ्ग है, तृतीय करुण रस के अङ्ग हैं, अतः शृङ्गार रस में गृहीत नहीं होते हैं ।

कतिपय व्यक्ति के मत में केवल तत्त्वज्ञानोत्थित निर्वेद ही शृङ्गार के व्यभिचारी के मध्य में

ज्ञानोत्थो निर्वेद एव केवलं न गृहीत इति केचित् ।

भवन्त्येकैकशस्त्वेते स्वातन्त्र्येण पृथक् पृथक् ।
उदयः प्रशमश्चापि पृथगेव निरूप्यते ॥३१०॥
द्वाभ्यां च बहुभिश्चापि शावल्यं संहिता द्वयोः
सन्धिर्लक्षणमेतेषां यथास्वमुपदर्श्यते ॥३११॥
तात्कालिकं हेतुमेत्य तत् कालोद्भूततोदयः ।
प्रशमो निज सामग्र्या प्रागुद्भूतस्य संक्षयः ॥३१२॥
अन्योऽन्यनिरपेक्षत्वात् स्वे स्वे स्वातन्त्र्यतोऽथवा ।
स पक्षाणां विपक्षाणां शावल्यं परिकीर्त्तितम् ॥३१३॥
एकस्य गमनारम्भो ह्यन्यस्यागमनोदयः ।
सन्धिः स्यादथवा तुल्योदयस्तुल्ये शमो द्वयोः ॥३१४॥

नामभिः पृथक् पृथग् भवन्ति । एभ्यः पृथक् पृथक् नामभ्यः पृथक् पृथग् भावोदयो भाव प्रशमश्च निरूप्यते ॥३०५–३१०॥

तथा द्वाभ्यां बहुभि र्वा भावैः परस्परमिलनं शावल्यम् । एवं द्वयोर्भावयोः संहिता सन्धानं सन्धिः । एतेषां चतुर्णां लक्षणं यथास्वं स्व स्वनिरूपणं प्रदर्श्यते । तत् कालोत्पन्नहेतुं प्राप्य भावस्य तत् कालोत्पन्नत्वं उदयः । निज सामग्र्या पूर्वमुत्पन्नस्य भावस्य पश्चात् संक्षयः प्रशमः । सपक्षाणां विपक्षाणां भावानामेकस्मिन् संस्थितः शावल्यम् । सा संस्थिति द्विविधा भवति, परस्परानुग्राह्यानुग्राहकत्वात् ।

अथवा, परस्परनैरपेक्ष्येण स्वस्वस्वातन्त्र्यादुभयसंस्थितिरिव शावल्यम् । एकस्य भावस्य गमनस्यान्तर्धानस्य आरम्भः, अन्यस्य भावस्यागमोदयः सन्धिः ।

अथवा,—द्वयोर्भावयोस्तुल्यकालीनोदयस्तुल्यकालीनप्रशमः सन्धिः । अपरं पूर्वोक्तशावल्यभिन्नं प्रस्तारक्रमप्राप्तमपरं शावल्यं भवेत् । सन्ध्युत्तरा इति—सन्धिरुत्तरे श्लोकस्य पश्चात् भागे येषां ते

परिगणित नहीं होता है । ये सब व्यभिचारिभाव, एक एक करके स्वतन्त्र रूपसे पृथक् पृथक् होते हैं । भावोदय एवं भाव प्रशम भी पृथक् रूप से निरूपित होते हैं ॥३०९–३१०॥

दो अथवा अनेक भावों का परस्पर मिश्रण का नाम शावल्य है, एवं दो भावों का संयोग का नाम सन्धि है । इसके प्रत्येक के लक्षण प्रदर्शित हो रहे हैं ।

तत्कालोत्पन्न हेतु की उपस्थिति के कारण उस समय जो भाव उत्पन्न होता है, उसका नाम उदय है । निज कारण समूह के संयोग के पूर्व में उद्भूत हुआ था, पश्चात् उसका संक्षय का नाम प्रशम है । परस्पर अनुग्राह्य अनुग्राहक भावसे हो, अथवा परस्पर निरपेक्ष से निज, निज स्वातन्त्र्य क्रम से ही हो, स्वपक्ष एवं विपक्ष उभयविध भावके सहावस्थान का शावल्य है ।

एक एक भावका अन्तर्धान का आरम्भ, एवं अन्य भाव का आगमनारम्भ को सन्धि कहते हैं,

द्वयोस्तुल्य कालीन उदयः प्रशमो वा सन्धिरित्यर्थः ।

उदयाद्यं चतुर्भिस्तु शावल्यमपरं भवेत् ।

तत् स्यात् षोडशधा तत्र प्रस्तारक्रम इष्यते ॥३१५॥

षोडशधा यथा—

सन्ध्युत्तराः स्युश्चत्वारस्तथान्येशवलोत्तराः ।

चत्वार एवं प्रशमोत्तराः अप्युदयोत्तराः ॥३१६॥

प्रस्तारदर्शनम्—

उप्रशस शउप्रस प्रशउस प्रउशस—एते सन्ध्युत्तराश्चत्वारः ।

सउप्रश सप्रउश प्रउसश उप्रसश—एते शबलोत्तराश्चत्वारः ।

उशसप्र सउशप्र शसउप्र सशउप्र—एते प्रशमोत्तराश्चत्वारः ।

शसप्रउ सशप्रउ प्रशसउ सप्रशउ—एते उदयोत्तराश्चत्वारः ॥

एवं स्याद् विंशतिः ॥३१७॥

सन्ध्युत्तराश्चत्वारः ।

तथा चायं क्रमः—श्लोकस्य पश्चाद् भागे सन्धि स्तत् पूर्वं शावल्यं तत्पूर्वं प्रशमस्तत्पूर्वमुदयः । इत्येकः क्रमः । एवं सन्धेः पूर्वं प्रशमस्तत् पूर्वमुदय स्तत् पूर्वं शावल्यमिति द्वितीयः क्रमः । तथा सन्धेः पूर्वमुदय स्तत्पूर्वं शावल्यं तत् पूर्वं प्रशमः,—इति तृतीयः क्रमः । तथा सन्धे पूर्वं शावल्यं तत्पूर्वमुदय प्रशम इति चतुर्थः क्रमः । अस्यैव प्रस्तार इति संज्ञा । एवं रीत्या शावल्योत्तरादयोऽपि ज्ञेयाः ॥३११--३१६॥

सन्धिना सह सन्धेः शावल्यम्, एवमुदयेन सहोदयस्य शावल्यम्, तथा प्रशमेन सह प्रशमस्य शावल्यमिति त्रयम् । तथैवेतिभावद्वयस्योदययोः सन्धिस्तथा प्रशमयोश्च सन्धिरिति सन्धि द्वयमिति स्मृतेः पूर्वोक्त

भावद्वय के समकाल में उदय के समकाल में प्रशम भी सन्धि शब्द से कथित होता है। उदयादि चतुष्टय में अन्य एक प्रकार शावल्य होता है। वह प्रस्तार क्रम को प्राप्तकर षोडश विध होते हैं। अर्थात् श्लोक के सर्वशेष अंश में सन्धि, उसके पूर्व में शावल्य, उसके पूर्व में प्रशम, उसके पूर्व में उदय यह प्रथम क्रम है। सन्धि के पूर्व में प्रशम, उसके पूर्वमें उदय, उसके पूर्व में शावल्य—यह द्वितीय क्रम है।

सन्धि के पूर्व में उदय एवं उसके पूर्व में शावल्य, उसके पूर्व में प्रशम,—यह तृतीय क्रम है। सन्धिके पूर्व में शावल्य, उसके पूर्व में उदय, उसके पूर्व में प्रशम,—यह चतुर्थ क्रम है। इस को ही संज्ञा प्रस्तार है। उक्त चतुर्विध को सन्ध्युत्तर कहे थे। इस प्रकार शावल्योत्तर प्रशमोत्तर एवं उदयोत्तर होते हैं ॥३११--३१६॥

उक्त रीति से शावल्योत्तर, प्रशमोत्तर एवं उदयोत्तर—प्रत्येक चतुर्विध होते हैं। इस प्रकार उदयादि चार एवं प्रस्तार गत उक्त षोडश के मिलन से विंशति प्रकार होते हैं।

सन्धिके सहित सन्धि का शावल्य, उदय के सहित उदय का शावल्य एवं प्रशम के सहित प्रशम का शावल्य—इस रीति से शावल्य भी तीन प्रकार होते हैं।

एवं केवलैरुदयादिश्चतुर्भिः प्रस्तारगतैः षोडशभिस्तु विंशतिः प्रकाराः ।

सन्धेः सन्धितापुदयस्य च ।

उदयेन शमस्यापि शमेनापि त्रिधा पुनः ॥३१८॥

शावल्यमितिशेषः । सन्धिशावल्यमुदयशावल्यं प्रशमशावल्यमिति त्रिधा ॥३१८॥

तथैवोदयसन्धिश्च शमसन्धिरिति स्मृतेः ।

पञ्चविंशतिरेते स्युरन्योऽन्य स्थितिभेदतः ॥३१९॥

प्रत्येकमेकैकयोगे मिथोऽङ्गाङ्गित्व भावतः

एकोनत्रिंशता त्रिंशद्विन्दुसिन्धुमतङ्गजाः (८७०) ॥३२०॥

निर्वेदादि त्रितय वर्जितस्य त्रिंशद् व्यभिचारि भावस्योनत्रिंशता गुणितस्यैते प्रकारा इत्यर्थः ।

एतैश्च पञ्चविंशत्या वाणग्रहमतङ्गजाः (८९५) ॥३२१॥

ते विन्दु सिन्धु मतङ्गजा (८७) पञ्चविंशति युक्ता (२५) सन्तो वानग्रहमतङ्गजा, (८९५) भवन्ति ।

पुनरेतैः प्राग् गुणितैस्तैः सेङ्गित निरङ्गितैः ।

अलङ्कारैः शवलितैः, पक्ष चन्द्रशरेन्दुभिः (१५१२) ॥३२२॥

शावल्येन भवन्त्येते विन्दुवेद करद्विपैः वेदाग्नि चन्द्र संख्याकाः (१३४८२४०) लेषांदिग् दर्शनं भवेत् ॥३२३॥

एतान् कार्त्स्न्येन निर्वक्तुं वाणी शक्नोति नो नरः ॥३२४॥

तत्रशुद्धास्त्रिंशद् यथा—

ग्लानिः—म्लानानीव मृणालानि धत्तेऽङ्गानि यदङ्गना ।

ततः कृष्णानुरागोऽस्यामन्तर्ज्वर इवास्थितः ॥३२५॥

स्मरणात् । अन्योन्य स्थितिभेदतः पञ्चविंशति प्रकाराः स्युः । प्रत्येकमिति—निर्वेदोऽपस्मारो मरणमिति त्रितय वर्जितस्य त्रिंशद् व्यभिचारि भावस्य प्रत्येकमेकैकयोगे निर्वेदत्रित्रय-वर्जितेन ऊनत्रिंशद् व्यभिचारि भावेन गुणितस्य विन्दु सिन्धु मतङ्गज संख्यका (८७०) भवन्ति । स्वेनसह स्वस्य योगाभावादून त्रिंशेति' एषां पञ्चविंशत्या सह योगे वाण ग्रह मतङ्गज संख्यका (८९५) भवन्ति ॥३१७-३२२-३२५॥

उसी प्रकार भावद्वय के उदयस्थल में उसकी सन्धि, एवं भावद्वय के प्रशमारम्भ स्थल में उसकी सन्धि—पूर्व स्मरण के अनुसार सन्धिद्वय को लेकर परस्पर स्थिति भेदसे पञ्चविंशति प्रकार होते हैं।

निर्वेदादि तीन को छोड़कर त्रिंशत् संख्यक व्यभिचारि भाव अङ्गाङ्गि भावसे प्रत्येक एक एक के सहित मिलित होकर ऊनत्रिंशत् संख्यासे गणित होकर (८७०) प्रकार होते हैं।

उसके सहित उल्लिखित पञ्चविंशति के योग से ८९५ प्रकार होते हैं।

शङ्का—प्रोष्यागतौ प्राणनाथं कथं पश्यन्ति सुभ्रुवः ।
इति शङ्कित चित्तेन कृष्णं पृच्छति सा सखीम् ॥३२६॥

मदः—रूप यौवन गर्वेण तोर्व्यां पतति ते पदम् ।
तत्रापि मधुपानं ते राधे किं स्यादतः परम् ॥३२७॥

असूया—प्रसादिता चाटु कारैः स्वप्ने साऽजनि राधिका ।
लभेय यावदाश्लेषं तावद् बोधो विरोधभाक् ॥३२८॥

श्रमः—पुष्पावचयनेनालं कुञ्जे विश्राम्य राधिके ।
क्लमः कमल पत्राक्षि मुखेन तव कथ्यते ॥३२९॥

प्रवासादागतमतएव कार्श्यमालिन्यादि युक्तं प्राणनाथं कथं किं प्रकारं पश्यन्ति । तथा च प्रवास गमनसमये एव तासां प्राणानामपि तेन सह गमनमुचितमिति भावः ॥३२६॥

स्वप्ने मया बहुभिश्चाटुकारैः करणैः राधिका प्रसादिता अजनि जाता, पश्चात् तया सह यावद्बहुमालिङ्गनं लभेय, तावन्निद्रा भङ्गाज्जातो यो बोधः स मया सह विरोध भाग् बभूवेति शेषः ।३२८।

हे कमल पत्राक्षि राधिके ! त्वं कुञ्जे विश्राम विश्रमणं कुरु ॥३२९॥

पूर्व संख्यात सेङ्कित एवं निरिङ्कित १ हजार पाचसो बार संख्यक अलङ्कार के सहित शबलित होकर १३४८२४० तेरह लक्ष अट्तालिस हजार दो शो चालीस होते हैं । यह दिग् दर्शन मात्र है । स्वयं सरस्वती ही इसका परिपूर्ण निर्वचन करने में समर्थ है । मनुष्य के पक्षमें इसका निर्वचन करना दुष्कर है । उस के मध्य में शुद्ध तीस का उदाहरण क्रमशः प्रस्तुत करते हैं । ग्लानि का उदाहरण — इस प्रकार है ।

यह सुकुमाराङ्गी जब परिम्लान मृणाल के तुल्य दशापन्न अङ्ग समूह को धारण कर रही है, तब अनुमान करता हूँ, कि कृष्णानुराग—ज्वरके समान इसके अन्तः करणमें अवस्थान कर रहा है ।३१७-३२५।

शङ्का का उदाहरण—प्राणेश्वर क्लेशकर प्रवास के अवसान में निज गृह में समागत होने पर सुलोचना वृन्द किस प्रकार उनके उस परिक्षीण आकार को निरीक्षण करती हैं, इस प्रकार चिन्ता से शङ्कित चित्ता होकर ही श्रीराधिका सखी को श्रीकृष्ण विषयक विवरण पूछने लगीं ॥३२६॥

मद का उदाहरण यह है — हे राधे ! रूप यौवन गर्व से ही तुम्हारे चरण धरातल को स्पर्श नहीं करते हैं, उसमें भी तुमने मधुपान किया है — इस से अधुना कैसा होगा, कुछ भी कहा नहीं जा सकता है ॥३२७॥

असूया का दृष्टान्त—मैं स्वप्नावस्था में विविध चाटु वाक्य से राधिका को सन्तुष्ट किया । अनन्तर जैसे उनका आलिङ्गन को प्राप्त करूँगा, वैसे ही प्रबोध उपस्थित होकर मेरे सहित नितान्त शत्रुता किया है ॥३२८॥

श्रम का उदाहरण—अयि राधिके ! पुष्प चयन से और प्रयोजन नहीं है तुम कुञ्ज में विश्राम करो । हे कमल पत्राक्षि ! तुम्हारे मुख कमल ही क्लमकीय ग्लानि संवाद प्रदान कर रहा है ॥३२९॥

यथा वा—छायापि गमन श्रान्ता तव सुन्दरि राधिके।

आगत्य चरणोपान्तं विश्रान्तिमिव याचते ॥३३०॥

आलस्यम्—विलास निःसहतनो निमीलन्नयनभ्रुवः।

निशान्ते नीविबन्धादि राधायाः कुरुते हरिः ॥३३१॥

दैन्यम्—क्वाहं क्वासौ वल्लवेन्द्र कुमारो बहु वल्लभः।

कथं मय्यनुरज्यते वृथा त्वं सखि खिद्यसि ॥३३२॥

चिन्ता—कृष्णो दुर्लभ एवासौ मनो बहु मनोरथम्।

इति चिन्ताब्धि मग्नायास्तरिस्त्वं मे गरीयसी ॥३३३॥

मोहः—कृष्णोऽस्ति दुर्लभः प्रेम नवं वपुरिदं मृदु।

सहायोऽस्या न कोऽपीति मूर्च्छैवाधात् सहायताम् ॥३३४॥

तव छायापि गमने श्रान्ता, किं पुनस्त्वम्, अतः सा छाया मम चरणोपान्तमागत्य विश्रान्ति याचते ॥३३०॥

निः सह तनोर्दुर्बल तनोर्निमीलन्त्यौ नयन भ्रुवौ यस्यास्तथा भूतायाः ॥३३१–३३२॥

सखीं प्रति काचिदाह—कृष्ण इति। बहवो मनोरथा वाञ्छा यस्य तथाभूतं मन इति चिन्ता समुद्रे मग्नाया मम त्वमेव गुरुतया तरि नौका भवसीत्यर्थः ॥३३३॥

अति दुर्लभ इत्यनेन प्राप्त्य योग्यत्वम्। नवं प्रेम इति व्यक्तुमसमर्थत्वम्। मृदु वपुरिति—विच्छेद जन्य ज्वाला सहनेऽसमर्थत्वमिति ज्ञेयम् ॥३३४॥

श्रम का उदाहरणान्तर—सुन्दरि राधिके ! तुम्हारी छाया भी गमन में श्रान्ता हो गई है, देखो, वह मेरे चरणोपान्त में समागत होकर जैसे विश्राम करना चाहती है ॥३३०॥

आलस्य का दृष्टान्त—निशावसान होने पर श्रीराधा का शरीर विलासातिशय से नितान्त निःसह हुआ है, एवं नयन तथा भ्रू युगल निमीलित हो रहे हैं। यह देखकर श्रीकृष्ण स्वयं ही उनके नीवि बन्धनादि कर देने लगे थे ॥३३१॥

दैन्य का उदाहरण—मैं ही कहाँ, और गोपेन्द्र कुमार बहु वल्लभ श्रीकृष्ण ही कहाँ ? वह क्यों मेरे प्रति अनुरक्त होगा। हे सखि ! तुम वृथा आयास क्यों कर रही हो ॥३३२॥

चिन्ता का दृष्टान्त—श्रीकृष्ण जिस प्रकार दुर्लभ है, चित्त भी उस प्रकार बहु मनोरथ परिपूर्ण है, मैं तो ये सब चिन्ता समुद्र में निमग्न हो गया हूँ। हे सुन्दरि ! इस समुद्र में तुम्हीं एकमात्र मेरी महातरि हो ॥३३३॥

मोह का निदर्शन—श्रीकृष्ण अति दुर्लभ है, प्रेम भी प्रथम उत्पन्न हुआ है; शरीर भी अति सुकुमार है, सम्मिलन सहायक भी कोई नहीं है, ये सब विचार कर मूर्च्छा ने ही जैसे श्रीराधा का साहाय्य सम्पादन किया ॥३३४॥

स्मृतिः,—विस्मर्त्तव्याः कथममी राधायाः नयनोर्मयः ।
यैःसमुन्मूलितं चेतः सखे नैव प्ररोहति ॥३३५॥

धृतिः,—धैर्य्यं भजत भोः प्राणा गतैः कृष्णः क्व लप्स्यते ।
अवधिदिन मोक्षध्वं तदेवाश्वासस्थलं महि वः ॥३३६॥

व्रीडा—पश्य वक्षसि मे राधे त्वन्मूर्त्तिं प्रतिबिम्बिताम् ।
कोपात् पराङ्मुखी वेति कृष्णोक्त्या सा तु तत्रपे ॥३३७॥

चपलता—कृष्णागमन माकर्ण्य वनात् साय्यं व्रजाङ्गना ।
मनसोऽपि पुनश्चक्रे वातायनपथे दृशः ॥३३८॥

हर्ष—कृष्ण वंशीनिनादेन सङ्केताक्षर शालिना ।
रोमाञ्चैः सममुत्तस्थुर्व्रजस्त्रीणां मनोरथाः ॥३३९॥

आवेगः—वेग विश्लथया काञ्च्या लग्नयापाद पद्मयोः ।
मृणालरुद्धा हंसीव काचित् कृष्णान्तिकं ययौ ॥३४०॥

नयनोर्मयः कटाक्षाः, यैः कटाक्षैरुन्मुलितं, मूलसहितमेवोत्पाटितं चेतो न पुनः प्ररोहति, न प्रादुर्भवति । चित्तस्यालम्बनशून्यत्व मेवोन्मुलितत्वमिति बोध्यम् ॥३३५॥

हे प्राणा युस्माभि र्गतैरपि कृष्णो नैव लभ्यते, तदेवावधि दिनमेव ॥३३६॥

मान जन्य कोपाद् यथा मयि पृष्ठं दत्वा त्वं पराङ्मुखी भवसि, तथैव मम वक्षसि प्रतिबिम्बितां तव मूर्त्तिं पश्य ॥३३७॥

कृष्ण दर्शनेऽत्युत्कण्ठया वातायनपथे गवाक्षरूपे पथि मनसः सकाशादपि दृशः पुरोऽग्रे चक्रुः ॥३३८-३४०॥

स्मृति का दृष्टान्त—श्रीराधा के उन सब अपाङ्ग को मैं कैसे भूल सकता हूँ, हे सखे! उन सबने इस चित्त को इस प्रकार उन्मूलित किया है, कि—वह पुनर्वार अङ्कुरित हो ही नहीं पा रहा है ॥३३५॥

धृति का उदाहरण—हे पञ्च प्राण ! धैर्य्यावलम्बन करो, तुम सब चले जाने से कृष्ण को कहाँ से प्राप्त करोगे। अतएव अवधिदिन की प्रतीक्षा करो, कारण, वही तुम सब के पक्ष में एकमात्र आश्वास स्थल है ॥३३६॥

हे राधे ! देखो, तुम्हारी मूर्त्ति मेरे वक्षः स्थल में कैसी प्रतिबिम्बित हुई है, किन्तु तुम तो कोप से जिस प्रकार पराङ्मुखी होकर रहती हो वह भी उसी कारण से जैसे उस प्रकार प्रतिबिम्बित है । कृष्ण की बात को सुनकर श्रीराधा लज्जा से अवनत मुखी हो गई ॥३३७॥

एक व्रजाङ्गनाने सायं काल में वन से कृष्ण की आगमन वार्त्ता को सुनकर अन्तः करणों के पहले जैसे वातायन पथ में नयन द्वय को नियुक्त किया ॥३३८॥

श्रीकृष्ण के सङ्केताक्षर संयुक्त वंशी निनाद को सुनकर व्रजवधु वृन्द के मनोरथ समूह रोमाञ्च के सहित उत्थित हुये थे ॥३३९॥

जड़ता——फलके लिखितं कृष्णं वीक्षमाणां नवाबलाम्।
सख्यस्तामेव पश्यन्ति गगने लिखितामिव ॥३४१॥

विषाद:——अयं सखी गतो यामः श्यामो वामः स नागतः।
उदितो यामिनी नाथो विषीदन्ति ममासवः ॥३४२॥

औत्सुक्यम्——धन्यास्ताः सखि भाविन्यः स्वप्ने पश्यन्ति या हरिम्।
अभूत् कं दोषमालक्ष्य निद्रापि विमुखी मम ॥३४३॥

गर्वः——मुनीन्द्राणाञ्च या वन्द्या ध्वजवज्रादिलाञ्छना।
मदालिपक्ष द्वारान्ते नित्यैवासौ प्रद पद्धतिः ॥३४४॥

निद्रा——राधा निधुवन श्रान्ता निद्राति श्याम वक्षसि।
मदनेनेव निःस्यूता चपला जलदोपरि ॥३४५॥

फलके चित्रपटे, लिखितं श्रीकृष्णं काचिन्नवीना बाला पश्यति। श्रीकृष्ण मूर्त्ति दर्शनाज्जड़ीभूतां मतएव कौतुकवशात् सख्यः श्रीकृष्ण मूर्त्तिं विहाय गगन रूप फलके विम्बितां मूर्तिमिव तां पश्यन्ति ॥३४१॥

हे सखि ! यामः प्रहरो गतः, यतो यामिनी नाथ श्चन्द्र उदितः, कृष्ण पक्षे चतुर्थ्यां चन्द्रोदयेन प्रहर ज्ञानं जायते। अतो वामः प्रतिकूलः कृष्णो नागतः ॥३४२॥

भाविन्यः सुन्दरीः स्त्रियः ॥३४३॥

या ध्वज वज्रादि लक्षणा चरणतलस्य, ध्वजादिचिह्नम्, असौ ध्वजादि लाञ्छना मदाले राधिकायाः 'खिड़की' इति प्रसिद्धे पक्षद्वारान्ते सदा विद्यमाना सती पद्मानां पद्धति मार्ग रूपा भवति। तथा च मुनीनां वन्द्यं श्रीकृष्णस्य चरणचिह्नमस्मदादयः सर्वे जनास्तदाक्रम्य गमनागमनं कुर्वन्तीत्यर्थः विपक्षां प्रति ललितायां उक्तिरियमिति ज्ञेयम् ॥३४४॥

मदनेन सौचिकेन मेघोपरि स्यूता प्रोतं चपला इव ॥३४५॥

काञ्ची-वेगवशात् विश्लथ होकर पाद पद्म में संलग्न होने से एक कामिनी मृणाल संरुद्धा राजहंसी के समान खञ्जापद होकर श्रीकृष्ण समीप में गमन करने लगी ॥३४०॥

चित्र फलक में लिखित श्रीकृष्ण मूर्त्ति का निरीक्षण किसी नवीना बाला इस प्रकार अनिमिष-नयन से कर रही थी कि सखी गण उसको ही आकाशपट में लिखित मूर्त्ति मानकर अवलोकन करने लगी ॥३४१॥

हे सखि ! यामिनी का प्रथम याम तो अतीत हुआ, वाम प्रकृति श्यामसुन्दर का तो आगमन नहीं हुआ। देखो, रजनी नाथ उदित हुआ, और अनाथा के समान मेरा हृत जीवित भी अवसन्न होने लगा ॥३४२॥

औत्सुक्य का निदर्शन—सखि ! वे सब अतिधन्य हैं, जो श्रीहरि को स्वप्न में देखते हैं, हाय ! मेरा किस दोष को देखकर निद्रा भी मेरे प्रति पराङ्मुखी हो गई ॥३४३॥

गर्व का उदाहरण—जो ध्वज वज्रादिचिह्न मुनीन्द्र गणों का वन्दनीय हैं, वे सब चिह्न मदीय सखी के पक्ष द्वार के प्रान्त भाग में सतत विद्यमान रहकर पद्धती के आकार में परिणत हो गये हैं ॥३४४॥

विमर्शः,—श्रितः किमन्यां किं वास्य सङ्केतस्थले विस्मृतिः ।
किं वाहमिव विक्लान्तः प्रेम्णेति विममर्श सा ॥३४६॥

सुप्तम् (४६ श्लोके) 'पाअ अदि पिबदि चासुसं' इत्यादि । निद्रा सुप्तयोरयं भेदः ।

कोपः अवहित्था च, यथा—
उत्तिष्ठ मुच्यतां कृष्ण चरणग्रहनिग्रहः ।
नैवास्मि कुपिता नापि भवान् मय्यपराध्यति ॥३४७॥

उग्रता—धिक् प्रेमभवतः कृष्ण वक्षसः सहजसखा ।
यत् पादालक्तकैस्तस्याः कौस्तुभोऽप्यधरीकृतः ॥३४८॥

उन्मादः—इतस्ततस्त्वां पश्यामि यत्पश्यां न तु लभ्यते ।
किमिन्द्रजालं जानासि राधे, किंवा मम भ्रमः ॥३४९॥

अयन्तु बहुधा भवति ।

सन्निकटगमिन समर्थे पथि कामप्यन्यामनुरोधेन श्रितो वा किं वास्य श्रीकृष्णस्य सङ्केत स्थलस्य विस्मृतिर्जाता किं वा यथाहं त्वद् विच्छेदे प्रेम्णा विवशा भवामि, तथैव मद्विच्छेदे सोऽपि प्रेम्णा विवशः सन् यत्र कुत्रापि भ्रमति । सुप्तौ पाययति पिबति चेति स्वप्नायितं वर्त्तते, निद्रायां तन्नास्तीति भेदो ज्ञेयः ।३४६।

हे कृष्ण ! मम चरण ग्रहण रूपो निग्रहस्त्वया मुच्यताम् ॥३४७॥

काचिन् मालिनी कुपितासती श्रीकृष्ण माह— हे कृष्ण ! मत् प्रतिपक्ष गोपी विषयकं भवतः प्रेम धिक् । यद् यस्मात् प्रेम्णो हेतु भूतात्त्वया तस्याः पादालक्तकैः करणैः सर्व श्रेष्ठ कौस्तुभोऽपि नीचीकृतः । कथम्भूतम् ? वक्षः स्थलस्य सहजः स्वभाव सिद्धः सखा,— सदा तत्र धृतत्वात् ॥३४८॥

श्रीराधा सुरत श्रान्ता होकर श्यामसुन्दर के वक्षः स्थल में निद्रित है । प्रतीत होता है कि— जैसे रतिपति सौचिक मूर्त्ति धारण कर चञ्चला सौदामिनी को जलद के ऊपर सीवन 'सिलाई' कर, स्थापित किया है ॥३४५॥

विमर्श का उदाहरण— कृष्ण क्या अन्य स्त्री में आसक्त हो गया है, अथवा सङ्केत स्थल को भूल गया है, किंवा मैं जिस प्रकार तदीय विरह में प्रेमभर से विवशा हो गई हूँ, वह भी इस प्रकार विवश हो गया है, श्रीराधा चिन्ता कुल चित्त से इस प्रकार विविध वितर्क करने लगी ।

सुप्ति का उदाहरण— जो स्वप्नावस्था में कहती है— अयि ललिते ! प्रियतम मुझ को स्वकीय मुख चन्द्र को पान करा रहे हैं, इत्यादि पूर्व श्लोक है । निद्रा एवं सुप्ति का यही भेद है ॥३४६॥

कोप एवं अवहित्था का उदाहरण— हे कृष्ण ! उठो, उठो, चरण ग्रहण रूप निग्रह को परित्याग करो, मैं तो कुपिता नहीं हूँ, तुमने भी तो मेरे निकट कोई अपराध नहीं किया है ॥३४७॥

उग्रता का दृष्टान्त—हे कृष्ण ! उस पामरी के प्रति तुम्हारा यह प्रेम को धिक्कार है, जिस प्रेम के वश होकर तुमने उसके चरण तल के अलक्तकरस के द्वारा निज वक्षःस्थल के सहज सुहृद् कौस्तुभ मणि को भी अधरीकृत किया है ॥३४८॥

अयन्तु बहुधा भवन्ति । तथा च—

भावान्तरसमावेशादुक्तिवैचित्र्यतोऽपि च ।
उत्तरङ्गतयाङ्गित्वादुन्मादो बहुधा मतः ॥३५०॥
तत्र प्रलाप आलापः संलापो विप्रलापकः ।
अनुलापः सुप्रलापः परिलापो विलापकः ।
अपलापः प्रतीलापो वैचित्र्यं दशधा गिराम् ॥३५१॥

ऊह्यान्युदाहरणानि ॥

व्याधिः,—भ्रमोदाहस्तथोन्मादो वर्धन्ते यदनुक्षणम् ।
आधिरेवावियुक्तोऽपि व्याधिरस्याः स्फुटोऽभवत् ॥३५२॥

मतिः,—गोकुलेन्द्र कुमार त्वं गुणरत्नाकरः स्वयम् ।
वक्तुं कर्त्तुमभिज्ञोऽसि त्वयि का चतुरायताम् ॥३५३॥

विरह जन्योन्मादेन व्याकुलः श्रीकृष्णः स्फूर्त्ति प्राप्तां राधामुद्दिश्याह इतस्तत इति ॥३४९॥

भावान्तरमिलनायुक्ति वैचित्र्याच्च प्रलापालापादि रूपोत्कृष्टतरङ्ग तथा हेतुना उन्मादो बहुधा मतः ॥३५०॥

प्रलापादि दशधा गिरां वैचित्र्यम् ॥३५१॥

अस्या अनुक्षणं भ्रमादयो वर्धन्ते । अस्या अवियुक्तोविच्छेद रहितोऽप्याधि र्मनः पीड़ेव देह सम्बन्धि व्याधिः सन् स्फुटोवहिर्व्यक्तोऽभवत् । श्लेषेण, वि उपसर्गेणायुक्तोऽप्याधिर्व्याधिरभवदिति विरोधालङ्कारो ज्ञेयः ॥३५२॥

उन्माद का उदाहरण—विरह जन्य उन्माद से व्याकुल श्रीकृष्ण, स्फूर्त्ति प्राप्त राधा को कहते हैं,—इतस्ततः तुमको निरीक्षण कर रहा हूँ, किन्तु हस्त के द्वारा तुम को स्पर्श करने में असमर्थ हूँ। तुम क्या इन्द्रजाल विद्या को जानती हो, अथवा यह मेरा ही मति भ्रम है ॥३४९॥

यह उन्माद अनेक प्रकार होते हैं। कथित है—भावान्तर के समावेश हेतु एवं उक्ति वैचित्र्य हेतु उत्कृष्ट तरङ्ग के निमित्त अङ्गित्व प्राप्त होकर उन्माद अनेक प्रकार होते हैं ॥३५०॥

उसके मध्य में प्रलाप, आलाप, संलाप, विप्रलाप, अनुलाप, सुप्रलाप, परिलाप, विलाप, अपलाप एवं प्रतिलाप—ये दशविध वाक्य वैचित्र्य होते हैं उदाहरण समूह श्रीमद् भागवत के भ्रमर गीतमें हैं ।३५१।

व्याधि का उदाहरण—भ्रम, दाह, एवं उन्माद जब अनुक्षण वर्द्धित होते रहते हैं, तब इनके अवियुक्त आधि ही व्याधि रूप में परिस्फुट होता है। इस श्लोक में उक्त, अवियुक्त शब्द का अर्थ वियोगरहित अर्थात् निरन्तर है, पक्षान्तर में अवियुक्त अर्थात् वि उपसर्ग शून्य आधि भी व्याधि रूप में आविर्भूत हुआ इस प्रकार विरोधाभास अलङ्कार को जानना होगा ॥३५२॥

मति का उदाहरण—तुम अशेष गुण रत्नाकर गोकुलेन्द्र कुमार हो, वक्तृता एवं कार्य्य क्षमता में अद्वितीय हो, तुम्हारे समक्ष में चातुर्य्य प्रकाश करने में कौन सुदक्ष होगा ? ३५३॥

वितर्कः,—किं पीयूषं किमु विषं किं हिमं किमु वानलः।
अभूत् कृष्णानुरागोऽस्यां विरोधिद्वयधर्मकः ॥३५४॥

त्रासः,—उच्चै र्गर्ज्जति मेघौघे राधा चकित लोचना।
त्रस्यन्ती माधवं कण्ठे भुजाभ्यां परिषस्वजे ॥३५५॥

अथैषामङ्गाङ्गिभावत्वे दिग् दर्शनम्। यथा—
आगच्छन्मामभूः कृष्ण परासक्तः पथीति मीम्।
केवलं नायशः प्रति त्वां चेत्याशङ्कि मे मनः॥
अत्र पूर्वार्धे ग्लानि भावोऽङ्गी, शङ्काऽङ्गम् ॥३५६॥

एवम्—सर्वत्र समवर्त्तित्वं युक्तमेव महात्मनाम्।
मय्येव समवर्त्तित्वं नान्यत्र पुरुषोत्तम॥
अत्र मतिभावोऽङ्गी असूयाङ्गम्।
एवमेकस्याङ्गिनो बहुन्यङ्गानि भवन्ति ॥३५७॥

अस्यां कृष्णानुरागो विरोधिद्वयधर्मको भवति, यथा आनन्द दायकत्वेन पीयूष धर्मत्वम् विच्छेद जन्य दाहकत्वेन विष धर्मकत्वञ्चेत्यर्थः ॥३५४॥

हे कृष्ण ! मन्निकटे आगच्छन् त्वं पथि अन्यस्यामसक्तोऽभूरित्ययशः केवलं मां न प्रति, न प्राप्नोति, अपितु, त्वामपि, इत्याशङ्कि मे मन इत्याशङ्का युक्तं बभूवेत्यर्थः ॥३५६॥

काचिन्मानिनी श्रीकृष्णमाह—हे पुरुषोत्तम ! महात्मनां सर्वत्र समवर्त्तित्वमेव युक्तम्। त्वन्तु सर्वत्र समवर्त्तित्वं विहाय मय्येव समवर्त्ती, नान्यत्र। श्लेषेण, दु खदत्वात् समवर्त्ती यमः, "समवर्त्ती परेतराट्" इत्यमरः ॥३५७॥

वितर्क का उदाहरण—श्रीराधा का श्रीकृष्णानुराग—अमृत है कि गरल है, वा हिम है, अथवा अनल है, जो भी हो, परस्पर विरोधि धर्मद्वय विशिष्ट हुआ है ॥३५४॥

घनघटा गम्भीर गर्जन करने पर श्रीराधा ने त्रास से चकित नयना होकर बाहु युगल के द्वारा श्रीकृष्ण के कण्ठ देश को आलिङ्गन किया ॥३५५॥

ये सब अङ्गाङ्गि भावों का उदाहरण दिङ्मात्र प्रदर्शित हो रहा है—हे कृष्ण ! तुम मेरे पास आते आते ही पथ में दूसरी रमणी में आसक्त हो गये हो, यह अयश केवल मुझ को ही स्पर्श नहीं करेगा, तुम को भी स्पर्श करेगा, मेरा मन इस प्रकार शङ्का कर रहा है। इस श्लोकके पूर्वार्द्ध में ग्लानि भाव अङ्गी है, एवं शङ्का अङ्ग है ॥३५६॥

हे पुरुषोत्तम ! महात्मावृन्द का सर्वत्र समवर्त्तित्व ही उपयुक्त है, किन्तु तुम मेरे प्रति ही समवर्त्ती हो अपर के प्रति नहीं, यही दुःख की बात है।

यहाँ समवर्त्ति शब्द से श्लेष-पक्ष में 'यम' को जानना होगा। अर्थात् अत्यन्त दुःख प्रदत्व हेतु यम तुल्य है, यही तात्पर्य्य है। इस श्लोक में मतिभाव अङ्गी है, एवं असूया अङ्ग है। इस प्रकार एक अङ्गी

यथा—इयं गाढ़ोत्कण्ठा विषम विषदिग्ध वहृदि मे
प्रसूनेषोर्भग्ना विशिख फलिकेव स्थितवती
अतो मे प्रत्यङ्गं ज्वलयति तुदत्याकुलयते
धुनीते मुष्णीते जड़यति च सञ्चर्वयति च ॥

अत्र स्मृति भावोऽङ्गी, मोह चपलता ग्लानि जड़ता प्रभृतिर्व्यङ्गानि, अङ्गत्वेन नैतद् भाव शावल्यम् ॥३५८॥

अथ भावो दयादि, तत्र भावोदयो यथा

आली जनैर्मण्डनकेलि काले, विभूष्यमाणा वृषभानु पुत्री ।
उरोगते नीलमणीन्द्रहारे, स्विन्ना सकम्पा पुलकाकुलासीत् ॥३५९॥
अत्र हर्षोदयः ।

प्रशमो यथा—म्लानासि किं प्रेयसि मानकीनं
हृत पृच्छ पृच्छामितदित्युरोऽस्याः ।

इयं श्रीकृष्ण विषयक गाढ़ोत्कण्ठा विषम विशेष विग्धा लिप्तेव मम अङ्ग प्रत्यङ्ग ज्वलयति । कथम्भूता ? कन्दर्प सम्बन्धि बाणस्य भग्ना लोहमयी फलिकेव मे हृदि स्थितवती । अभग्नायाः फलिकायाः कदाचिद् बाण निष्काशनात् तस्यापि हृदयाद् बहिः निःसरणं सम्भवति । भग्नायास्तु सर्वथा नेति ज्ञेयम् । धुनीते कम्पयति, मुष्णीते—चोरयति, मां देहानुसन्धान रहितां करोतीत्यर्थः । मोहादीनामङ्गत्वेन परस्पर प्राधान्याभावादे तेषां न भाव शावल्यमिति ज्ञेयम् ॥३५८॥

नीलमणीन्द्र हारे वक्षःस्थल गते सति श्रीकृष्ण स्मरणात् स्विन्नेत्यादि ।३५९।

हे प्रेयसि राधे ! कथं त्वं म्लानासि ? श्रीराधाह—मानकीनं हृद्यानस पृच्छ । श्रीकृष्णस्तु इच्छन्‌स्व हृदय वाचिकमभिप्रेत्याह—तत तव हृदयं पृच्छामीत्युक्त्वा अस्या राधाया वक्षः स्थलं स्पृशन्नाह—इदं

के अनेक अङ्ग होते हैं ॥३५७॥

श्रीकृष्ण विषयिणी यह गाढ़ोत्कण्ठा, पुष्पबाण के विषम विषदिग्ध भग्नबाण के समान हृदय में सतत अवस्थान कर मेरे प्रत्येक अङ्ग को ज्वलित, व्यथित, आकुलित, कम्पित, अपहृत, जड़ीकृत एवं संचर्वित कर रही है । इस श्लोक में स्मृति भाव अङ्गी, मोह, चपलता, ग्लानि जड़ता प्रभृति अङ्ग है । उक्त विषयों की अङ्गता हेतु यहाँ भाव शावल्य नहीं कहा जा सकता है ॥३५८॥

भावोदयादि का उदाहरण—तन्मध्य भावोदय—मण्डन केलि समय में सखी गण वृषभानु नन्दिनी को भूषण परिधान करा रही थीं, क्रमशः इन्द्रनीलमणि निर्मित हार लता तदीय वक्षःस्थल में स्थापित होने पर उसी समय आप स्वेद, कम्प, एवं पुलक से समाकुला हो गई ।

यहाँ हर्ष का उदय हुआ है ॥३५९॥

प्रशम का दृष्टान्त—प्रेयसि ! तुम क्यों म्लान हो रही हो ? क्यों म्लान हुई हूँ—मेरा हृदय को पूछो ।

स्पृशन्निदं स्वस्थमिति स्म कृष्णो,

ब्रबीति स नम्रमुखो बभूव । अत्रविषादप्रशमः ॥३६०॥

शावल्यं यथा —क्रोधान्धा गुरवोजनास्तरलितं दुर्वारमेतन्मनो

मर्मच्छेद करी खलोक्तिरचना रम्यः स वंशीस्वनः ।

कीनाशो भवनेश्वरस्त्रिजगतीलावण्यलक्ष्मीपतिः

प्रेमानन्द रसः स एष तनुमान् कृष्णः किमीहे सखि ॥३६१॥

अत्र भय चपलता शङ्का हर्षाऽसूयौत्सुक्यानि पृथक् पृथगेव स्थितानि ।

अथ सन्धिः—'म्लानासि किं प्रेयसि' इत्यादौ चतुर्थ पादार्धे 'सा नम्रमुखी बभूव' इति विषादनिर्गमे लज्जागमः, अनयोः सन्धिः ।

यथा वा—सुचिर मनुचरीभिः पाठितं कृष्ण गाथां,

सदसि शुक बधूभिः शृण्वतीगीयमानाम् ।

तत्र हृदयं स्वस्थमिति ब्रबीति ॥३६०॥

भवनेश्वरो गृह पतिः स्वामी, कीनाशः कृषक इत्यसूया । त्रिजगद्वर्त्ति लावण्य सम्पत्तीनां पतिः श्रीकृष्णः साक्षात्तनुमान् प्रेमानन्द रस एव । तस्मात् हे सखि ! अहं किमीहे—किं चेष्टे, किं करोमिति यावत् । क्रोधान्धेत्यनेन भयमित्येवं रीत्या सर्वत्र यथासंख्येन सम्बन्धो ज्ञेयः । एतानि पृथक् पृथगेव स्थितानि, नत्वङ्गाङ्गिभावतया । अतः भाव शावल्यमिति बोध्यम् ॥३६१॥

सखीनां सदसि शुकबधूभिः पक्षिरूपाभिर्गीयमानां श्रीकृष्ण गाथां शृण्वतीं सा तासु शुक बधूषु सदय मेकं नेत्रं विन्यस्यति, अन्यन्नेत्रं भयत्रस्तिं गुरुणां मुखे विन्यस्यति । एते उक्त प्रकारा व्यभिचारिभावाः

प्रश्न के उत्तर में हृदय शब्द से 'वक्षः स्थल' इस प्रकार अर्थ के अभिप्राय से श्रीकृष्ण बोले, उत्तम है, वही कर रहा हूँ । यह कह कर उनके वक्षः स्थल को स्पर्श करके उन्होंने कहा—यह तो सुस्थ ही है । तब राधा लज्जा से नम्र मुखी हो गई । यहाँ विषाद का प्रशम हुआ है ॥३६०॥

शवलता का दृष्टान्त—गुरुजन वृन्द क्रोधातिशय से अन्ध हैं, यह अन्तः करण अतितरल एवं दुर्वल है, खलुजनों की रचना भी मर्म्मच्छेदकरी है, वंशीरव भी अति रमणीय है, गृह पति—कीनाश तुल्य है, त्रिभुवन वर्त्ति लावण्य लक्ष्मी का अद्वितीय अधीश्वर श्रीकृष्ण भी मूर्त्तिमान् प्रेमानन्द रस, स्वरूप हैं, हे सखि ! यहाँ अवला का कर्त्तव्य क्या है ? तुम्हीं विचार कर कहो ।

इस श्लोक में भय, चपलता, शङ्का, हर्ष, असूया एवं औत्सुक्य ये सब पृथक् पृथक् भाव से अवस्थित हैं ॥३६१॥

सन्धि का उदाहरण - प्रेयसि, तुम क्यों म्लान हुई हो' इत्यादि जो श्लोक इस के पहले लिखित हुआ है, उसके अन्त भाग में "श्रीराधा-लज्जा भरसे नम्र मुखी हो गई" यहाँ विषाद के अपगम से लज्जा का आगमन होने से उक्त उभय की सन्धि हुई है ।

प्रणयसदयमेकं तासु विन्यस्यतीयं;

चकितचकितमन्यन्नेत्रमास्ये गुरूणाम् ॥३६२॥

असौत्सुक्य त्रासयोः सन्धिः ॥

एतेचोक्त प्रकाराः स्वयं व्यङ्ग्या अपि भावान्तर व्यञ्जकाः स्युः ।

यथा (चतुर्थकिरणे प्रष्ठ. श्लोकः) "क्वाहं गोपबधूः"

यथा वा——नाभ्यञ्जनीयं सखि मे भवत्या, नोद्वर्त्तनीयञ्च वपुः कदापि ।

न सावधाना स्वनखेष्वसीति, ननान्दुरग्रे निजगाद गोपी ॥

अत्र स्वगात्र लग्न नखक्षत गोपनं प्रत्यवहित्था व्यङ्ग्या, तथा च न मे गृहपतेः सङ्ग कदाप्यभूत् येनैतत् सम्भावनीयम् । तेन कृष्ण सङ्गजमेवेति व्रीड़ा । तेनैते व्यङ्ग्या व्यङ्ग्यान्तर व्यञ्जकाश्च भवन्तीति ॥३६३॥

स्वयं क्वाहं गोपबधूरित्यादि पद्यं व्यङ्ग्याः । एतेषामपि व्यङ्ग्योऽवहित्थाव्यभिचारी, इदन्तु वस्तु व्यङ्ग्य वस्तूत्तमोत्तमकाव्यं भवतीति ज्ञेयम् ॥३६२॥

स्वगात्रेति--ननान्दृ प्रभृति गुरुजनं प्रति नखक्षत गोपनमवहित्था । तया चावहित्थया सखीं प्रति न मे कदापि गृहपतेः सङ्गस्त्वया ज्ञायते एव, येन स्वामि सङ्गेनेव तन्नखक्षतं स्वयासम्भावनीयम् तस्मादिदं नखक्षतं श्रीकृष्ण सङ्ग जन्यमिति व्रीड़ोदयः ध्वनेर्ध्वन्यन्तरोद्गाराविदमुत्तमोत्तमं काव्यं भवतीति भावः ॥३६३॥

मानिन्याह—हे कृष्ण ! पादं मुञ्च, श्रीकृष्ण आह—त्वं रोषं मुञ्च । पुनर्मानिन्याह—मे रुट् रोषो गतेति त्वं जानीहि । अत्र हेतुः—श्रीगोपेन्द्रेति । इत्यन्योन्य कथासु सतीषु श्रीकृष्णे भूयः पुनरपि तस्याः

उदाहरणान्तर यह है— सहचरी वृन्दने सुचिर कालसे जिसे कृष्ण गाथा को पढ़ाई थी, सभास्थल में उस कृष्ण गाथा का गान शुक वधुओंने किया । यह सुनकर श्रीराधा प्रणय वशातः सदय भाव से एक चक्षुः उन सबके प्रति एवं चकित चकित भाव से अन्य चक्षुः गुरु जनके मुखके और निक्षेप किया ।

यहाँ औत्सुक्य एवं त्रास की सन्धि हुई है ॥३६२॥

उक्त प्रकार व्यभिचारि भाव समूह स्वयं व्यङ्ग्य होकर भी भावान्तर के व्यञ्जक होते हैं । जिस प्रकार वर्णित है— "गोप रमणी मैं कहाँ" इत्यादि श्लोक में पद व्यङ्ग्य दैन्यादि व्यभिचारि भाव कर्त्तृक अवहित्थाभाव व्यञ्जित हुआ है ।

यथा वा—श्रीराधा ननान्दु प्रभृति के सम्मुख में सखी को कहने लगी, हे सखि ! मेरा शरीर में अभ्यङ्ग वा उद्वर्त्तन तुमको कुछ करना नहीं पड़ेगा । तुम निज नखर के संम्बन्ध में सतर्क नहीं हो ।

इस श्लोक में निज गात्र संलग्न नख क्षत गोपन के सम्बन्ध में अवहित्था भाव व्यङ्ग्य हुआ है, एवं "गृह पतिका संसर्ग मेरा कभी भी नहीं हुआ है, जिससे उस प्रकार नखक्षत होना सम्भावनीय है, अतएव यह निश्चय ही कृष्ण-संसर्ग जनित" इस प्रकार व्रीड़ा भी उक्त अवहित्था कर्त्तृक व्यञ्जित हुई है । सुतरां ये सब स्वयं व्यङ्ग्य होकर भी व्यङ्ग्यान्तर के व्यञ्जक हुये हैं ॥३६३॥

अथ प्रस्तार प्रकारेणोक्तानां षोड़शविधानां शावल्यानां भेदानाह। तत्रसन्ध्युत्तराः,

उप्रशस—पादं मुञ्च विमुञ्च मानिनि रुषं प्रत्येहि रुष्मे गता

श्रीगोपेन्द्र सुते स्वभाव कुटिले का रोष आकाङ्क्षति ?

इत्यन्योऽन्य कथासु केशिमथने भूयः पदं धित्सति

श्रद्धाधिक्य धृतेन तत् करयुगेनास्यं हरेरप्यधात् ॥

अत्र पादं मुञ्चेत्यमर्षोदयः। विमुञ्च मानिनि रुषमिति कृष्ण वाक्याकर्तेन रुष्मे गतेति रोषप्रशमः। ततः श्रीगोपेन्द्रसुत इति मतिः, स्वभावकुटिल इत्यसूया, 'का रोषमाकाङ्क्षति' इत्यवहित्था, एभिः शावल्यम्। श्रद्धेत्यादिनौत्सुक्यम्, रुदतीति दैन्यम्—अनयोः सन्धिः। ३६४।

अथ शउप्रस—हे मुग्धाक्षि परिष्वजस्व कठिना वज्रादपि त्वं गुणा

स्ते ते ते क्वगता इतिक्षणमभूत्तूष्णीं ततो निर्वृतः।

स्फुरदानन्दलयेन तेन महता स्वाभाविकेनाप्यहो

तद्विच्छेदद्रवोष्मणा च युगपद् द्वेधाभिभूतो हरिः।

अत्र परिष्वजस्वेत्यौत्सुक्यम्, कठिनेत्याद्यसूया, ते ते गुणा इति स्मृतिः—त्रिभिः शावलता।

पदं धित्सति धर्तुमिच्छति सति, सा मानिनी रुदती सती श्रद्धाधिक्यात् स्वेन धृतेन श्रीकृष्णस्य कर युगेन करणेन स्वमुखमप्यधात् आच्छादितवती। ३६४।

मानिनीं श्रीराधिकां प्रति तस्या विच्छेदेनातिव्याकुलः श्रीकृष्ण आह—हे मुग्धाक्षि ! तव ते ते गुणाः सम्प्रति क्व गताः ? इत्युक्त्वा विच्छेदजन्य दुःखेन जड़ीभूतः सन् क्षणं तूष्णीमभवत्। ततस्तदनन्तरं

सम्प्रति प्रस्तार प्रकार से उक्त षोड़श विध शावल्य के भेद समूह का वर्णन करते हैं—उसके मध्य में सन्ध्युत्तर,—शावल्य यह है—उ, प्र, श, स।

"कृष्ण ! मदीय चरण को परित्याग करो" "मानिनि ! तुम तब रोष को परित्याग करो" मैंने रोष को परित्याग किया, यह विश्वास करो। देखो, स्वभाव कुटिल गोकुल नन्दन के प्रति कौन रोष करने का इच्छुक है ? परस्पर के इस प्रकार कथनोपकथन के समय श्रीकृष्ण—पुनर्वार चरण धारण हेतु उद्यत होने पर श्रीराधाने अतिशय श्रद्धा के सहित तदीय कर युगल धारण पूर्वक उसके द्वारा ही अश्रुधारा प्लुत स्वकीय मुख मण्डल को आच्छादित किया।

इस श्लोक में "चरण परित्याग करो" यहाँ रोषोदय मानिनि ! तुम रोष परित्याग करो, यहाँ रोष प्रशम है। "गोपेन्द्र नन्दन" यहाँ मति, "स्वभाव कुटिल" यहाँ असूया, कौन रोष प्रकट कर सकता है ? यहाँ अवहित्था है, इन सबों का शावल्य हुआ है, एवं श्रद्धातिशय—यहाँ औत्सुक्य एवं अश्रुधारा प्लुत' यहाँ दैन्य है, यहाँ उभय की सन्धि भी हुई है। ३६४।

अनन्तर श, उ, प्र, स, का, उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—अयि सुलोचने ! मुझ को आलिङ्गन करो, तुम क्या वज्र से भी अधिकतर कठिना हो गई हो ? तुम्हारे वे सब गुण अब कहाँ चले गए ? यह कह

तूष्णीमिति जड़तोदयः, ततः स्फूर्त्या निर्वृत्त इति पूर्व पूर्व भाव प्रशमः। ततः स्फूर्त्यनन्तरमानन्दलयेन विच्छेद दवोष्मणा च द्वेधाभिभूत इति हर्ष विषादयो सन्धिः। ३६५॥

प्रशउस— गतो मे सन्तापो भवति हि मनस्येवागत इव।
प्रियस्ते हा कष्टं मनसि कथमद्यागत इति।
पुर पश्चात् पार्श्वे मनसि च सदैवेति पुलकि--
न्यभूद्राधा पश्चादमृतविषनद्योः किमविशत्॥

अत्र स्फूर्त्या स्वास्थ्यानुभवे 'गतो मे सन्तापः' इति ग्लानेः प्रशमः, ततः सखी वाक्यानन्तरं हा कष्टमिति विषादः, 'मनसि कथमित्यादि सखीं प्रत्यसूया, पुरः पश्चादि-त्युन्मादः एभिः शाबल्यम्। पुलकिनीति हर्षोदयः। अमृतविषनद्योरिति हर्ष--मोहयोः सन्धिः॥३६६॥

स्फूर्त्ति प्राप्तया तयासह मानसालिङ्गनेन निर्वृत्त स्तथा चागन्तुकानन्दजन्य—लय सात्त्विकेनैवं स्वाभाविकेन महता विच्छेद दावोष्मणा च युगपदं कस्मिन्नेव काले हृष्टो विषण्णश्चेति द्वेधाभिभूतो हरिर्बभूवेति।३६५।

माथुर विरहेणात्यन्त व्याकुलचित्ता श्रीराधिका सखीं प्रत्याह—मयाद्य श्रीकृष्णोदृष्टः, अतो मम सन्तापो गतः। सखी आह—हे भवति राधे! ते तवै प्रियो मनस्यागत इव, कुतस्तस्य साक्षाद् दर्शनमिति सखी वाक्यानन्तरं साह—हा कष्टमिति विषादः पश्चादुन्मादस्यातिशय प्राबल्योदयेन सखी वाक्यम यथार्थं मत्वा कुप्यन्ती सती आह—सखि! मम मनस्येव श्रीकृष्ण आगत इति त्वया कथमुक्तम्? स तु मम मनस्येव श्रीकृष्ण आगत इति त्वया कथमुक्तम्? स तु मम पुरोऽग्रे पश्चात् पार्श्वेऽपि, मनसि च सदा तिष्ठत्येव। तद्दर्शनमपि मया प्राप्यत एव, इत्यागन्तुकानन्दनेन कदाचिदमृतनद्यां तस्याः प्रवेशः। साहजिक विरह स्फूर्त्या च विषनद्यां प्रवेशः। सन्धिरिति उन्मादावसानेऽर्धबाह्ये॥३६६॥

कर विच्छेद जनित दुःखोदय से जड़ीभूत होकर श्रीकृष्ण क्षण काल मौन धारण कर रह गये।

अनन्तर स्फूर्त्ति प्राप्त श्रीराधा के आलिङ्गन से निर्वृत्त होकर आनन्दलय वशतः एवं तदीय विच्छेद दावानल का प्रबल सन्ताप वशतः युगपत् द्वि प्रकार से अभिभूत हो गये।

इस श्लोक में 'आलिङ्गन करो' यहाँ औत्सुक्य, अधिकतर कठिना' इत्यादि स्थल में असूया, वे सब गुण' यहाँ स्मृति, इन तीनों की शबलता हुई है।

'मौन धारण कर' यहाँ जड़ता का उदय, अनन्तर 'स्फूर्त्ति प्राप्त एवं निर्वृत्त' यहाँ पूर्व पूर्व भाव का प्रशम हुआ है। 'आनन्द लय वशतः एवं विच्छेद दावानल का प्रबल सन्ताप वशतः युगपत् द्वि प्रकार से अभिभूत' यहाँ हर्ष विषाद की सन्धि हुई है॥३६५॥

"अः—मेरा सन्ताप चला गया" "सखि! तुम्हारे हृदय में प्रियतम आये हैं, प्रतीत होता है" 'हा कष्ट! प्रियतम केवल मेरे हृदय में आये हैं, कह रही हो? मैं उनको सम्मुख में पश्चाद् भाग में, पार्श्व में हृदय में, सर्वत्र ही तो सर्वदा निरीक्षण कर रही हूँ" यह कह कर विरह कातरा श्रीराधा सहसा पुलकिताङ्गी हो गई एवं परक्षण में ही जैसे अमृतमयी एवं गरलमयी नदी में निमग्न हो गई।

प्रउशस—पश्चादेत्य शनैररिष्ट मथनस्तां सस्वजे साहसा
तत् संस्पर्शरसेन सा स्मितमुखी सद्योऽविचाराद‌भूत् ।
आलीभ्यः परिशङ्कयाऽरुणमुखी धिग् धूर्त्ततां धूर्त्तते
धिङ्मेति त्वरयापसारिततनु र्व्यावृत्य तूष्णीं स्थिता ॥

अत्र स्मितमुखीत्यमर्ष प्रशमः, आलीभ्यः परिशङ्कयेति शङ्कोदयः अरुणमुखीति धिग् धूर्त्ततामिति धिङ् मेति पुनरमर्षोग्रताग्लानिभिः शावल्यम्, त्वरयापसारिततनुरिति चपलता, व्यावृत्य तूष्णीं स्थितेति धैर्यम्, अनयोः सन्धिः एतेसन्ध्युत्तराश्चत्वारः ॥३६७॥

सउप्रश—अक्रूरोऽद्यागतइतिमुखग्लानि हृत्कम्पभाजः
स्तम्भोजातश्चिरमथ सखी सान्त्वनं बोध आसीत् ।

अविचार विचारोत्थौ यौ संयोग—वियोगौ तज्जन्ययोर्हर्षविषादयोः सन्धिरित्यर्थः, अयामानो गतप्राय एव, किन्तु सखीनामनुरोधेन मानाभास एव वर्त्तते इति दूती वाक्येन जातो यः साहस स्तस्मात्श्री कृष्णस्तां सस्वजे । अविचारादिति—अहं मानिनी, मम स्मितमनुचितमिति विचार विनैवेत्यर्थः । हे धूर्त्त ! ते धूर्त्ततां धिक् । मामां धिगिति त्वरया अपसारिता, श्रीकृष्णाद् वियुक्तो कृता तनुर्यया तथाभूता सती व्यावृत्य श्रीकृष्णे पृष्ठं दत्वास्थिता ॥३६७॥

मुखम्लानादिभांजस्तस्याश्चिरकालं व्याप्य स्तम्भो जातः । प्रातः कृष्णो मथुरामित्येव, न तु यास्यतीति अपूर्णे जनानामुक्ते सति प्रत्यावृत्तः पुनरागते, स्त्रिभिर्मुख म्लानिहृत् कम्पस्तम्भभावैः सा

इस श्लोक में स्फूर्त्ति का उदय से स्वास्थ्यानुव होने पर मेरा सन्ताप विगत हुआ" इस वाक्य में ग्लानि का प्रशम, सखी का वाक्यावसान होने पर 'हा कष्ट!" इत्यादि वाक्य में विषाद का उदय, "केवल हृदय में आये हैं, कह रही है ?" इस वाक्य से सखी के प्रति असूया, "सम्मुख में पश्चाद् भाग में" इत्यादि स्थलमें उन्माद-ये सब शावल्य हुये हैं, एवं "पुलकिताङ्गी" यहाँ हर्षोदय, "अमृतमयी एवं गरलमयी नदी में निमग्न" यहाँ हर्ष एवं मोह की सन्धि हुई है ॥३६६॥

प्र. उ श, स, का उदाहरण—अरिष्टासुर मर्दन श्रीकृष्ण पश्चाद् दिक् से धीरे धीरे आकर साहस पूर्वक झटिति श्रीराधाको आलिङ्गन किया, उससे श्रीराधा तदीय स्पर्श रस भरसे सहसा कुछ विचार करने में अक्षम होकर हँसमुखी हो गई, अनन्तर सन्निहित सखी वृन्द को शङ्कासे अरुण वदना हो गई, एवं 'हे धूर्त्त! तुम्हारी धूर्त्तता को धिक्कार, मुझ को भी धिक्कार 'यह कह कर सत्वर वहाँ से आत्मशरीर अपसारण पूर्वक पराङ्मुखी होकर मौन भावसे अवस्थान करने लगीं ।

इस श्लोक में "हास्यमुखी" यहाँ अमर्ष का प्रशम, "सखी वृन्द की शङ्कासे" यहाँ शङ्का का उदय, मुझको भी धिक् अरुण वदना, धूर्त्तता को धिक्कार यहाँ अमर्ष, उग्रता एवं ग्लानि का शावल्य एवं "सत्वर यहाँ से 'आत्मशरीर अपसारण पूर्वक' यहाँ चपलता एवं "पराङ्मुखी होकर "मौन भाव में अवस्थान" यहाँ धैर्य, उभय की सन्धि हुई है, सन्ध्युत्तर चारों का उदाहरण प्रस्तुत किया गया ॥३६७॥

अक्रूर का आगमन हुआ है,—इस संवाद से श्रीराधा के मुख में ग्लानि, हृदय में कम्प एवं बहुक्षण व्यापी स्तम्भ उपस्थित हुआ । अनन्तर सखीगण के सान्त्वना वाक्य से प्रबोध प्राप्त हुई, किन्तु "अहह !

प्रातः कृष्णोऽप्यहह मथुरामित्यपूर्णे जनोक्ते
प्रत्यावृत्तैस्त्रिभिरथ पुनः सैव पूर्णा बभूव ॥

अत्र मुखग्लानि हृत्कम्पभाज इति ग्लानि—शङ्कयोः सन्धिः, ततः स्तम्भो जात इति जड़तोदयः, सखी सान्त्वनैरिति तत्प्रशमः, प्रत्यावृत्तैस्त्रिभिरिति ग्लानि-शङ्का जाड्यैः शावल्यम् ॥३६८॥

सप्रशम—मेघालोके पुलकित तनुर्विद्युदालोकने सा
व्याभुग्न भ्रूस्तदुपशमने सुप्रसन्नाननेन्दुः।
भूयो विद्युद् वलय कलने लोहिताक्षी मृगाक्षी
धारापाते रुदित मलिनीभाव मूर्च्छाः प्रपेदे ॥

मेघालोके कृष्णागमन भ्रमात् पुलकिततनुत्वेन हर्षः, विद्युदालोकनेन विपक्षरमणी बुद्ध्या—असूया—अनयोः सन्धिः । तदुपशमने सुप्रसन्नेति असूया प्रशमः, भूय इत्यादिना लोहिताक्षीत्यमर्षोदयः धारापाते सति मेघ एवायमिति रुदितेति विषादः, मलिनी भावेति ग्लानिः, मूर्च्छेति मोहः—एभिः शावल्यम् ॥३६९॥

पुनः पूर्णा बभूव ॥३६८॥

मेघालोके श्रीकृष्ण ज्ञानात् पुलकित तनुस्तत्र विद्युदालोके सति प्रतिपक्षरमणी ज्ञानेन कोपाद् व्याभुग्नभ्रूः, तस्या विद्युदुपशमने क्रोधाभावात् सुप्रसन्नाननेन्दुः, भूयः पुनरपि विद्युदालोकेन पूर्ववत् लोहिताक्षी, धारापाते सति नायं कृष्णः, किन्तु मेघ एवेति ज्ञानात् रुदितं मलिनी भावो मूर्च्छा च, एतान् व्यभिचारिभावान् प्रपेदे ॥३६९॥

श्रीकृष्ण प्रभात में ही मथुरा में" इस प्रकार असम्पूर्ण जनरव श्रवण से पुनर्वार श्रीराधा उस प्रत्यावृत्त भावत्रय से परिपूर्णा हो गई।

इस श्लोक में "श्रीराधा की मुख ग्लानि, हृत्कम्प" इस स्थल में ग्लानि एवं शङ्का की सन्धि, "बहुक्षण व्यापी स्तम्भ उपस्थित हुआ" यहाँ जड़ता का उदय, "सखी गण के सान्त्वना वाक्य में"—यहाँ जड़ता का प्रशम, "उस प्रत्यावृत्त भावत्रय में" यहाँ ग्लानि, शङ्का एवं जड़ता का शावल्य हुआ है ॥३६८॥

मेघावलोकन कर श्रीराधा की तनुलता पुलकिता हुई. अनन्तर विद्युद् दर्शन से उनके भ्रू युगल कुटिल हो गये। उस समय विद्युत् प्रणाश होने पर मुख चन्द्र प्रसन्न हुआ। किन्तु पुनर्वार विद्युत् वलय अवलोकन से मृगाक्षी लोहिताक्षी हो गई एवं तत् पश्चात् धारापात को देखकर रोदन एवं मालिन्य एवं मूर्च्छित हो गईं।

इस श्लोक में मेघावलोकन से श्रीकृष्ण के आगमन भ्रम से तनुलता पुलकित होने से हर्ष एवं विद्युद् दर्शन से विपक्ष रमणी बोध होने से 'असूया' इस भावद्वय की सन्धि हुई है। विद्युत् प्रणाश से मुखचन्द्र सुप्रसन्न हुआ। यहाँ असूया का प्रशम हुआ है। "पुनर्वार विद्युद्वलय विलोकन से "लोहिताक्षी" यहाँ अमर्ष का उदय, धारापात निरीक्षण से "यह निश्चय ही मेघ" यहाँ अमर्ष का उदय हुआ है। धारापात

प्रउसश—असाक्षादेव त्वं भवसि नहि साक्षादिति रुषे
प्रकुप्यन्ती कृष्णे गतवति निरस्यागस्यपि पदम् ।
त्वरातङ्कव्यग्रा कपटमिति तस्मिन् विदितव
त्यहो नाना भावव्यतिकरवतीयं विजयते ॥

अत्र साक्षान्नभवसीति प्राग् जातस्यामर्षस्य प्रशमः, ततोरुषे कुप्यन्तीति रुषं प्रति कोपोदयः, पश्चात् कृष्ण पाद पतने त्वरातङ्कव्यग्रेति चपलता शङ्कयोः सन्धिः, ततो नाना भाव व्यतिकरेति व्रीड़ामद--स्मृति--शङ्का--त्रासादिभिः शावल्यम् ॥३७०॥

उप्रसश—गण्डे कुण्डल पद्मरागमहसो विम्ब प्रति प्रेयसः
पारक्योऽधर राग इत्यरुणितापाङ्गी चलं वीक्ष्यतम् ।
स्निग्धाक्षी दयितो रुषं विदितवान्नो वेति दोलायिता
स्यश्रद्दत्ततया विचार्य च मुषा मानं दधे राधिका ॥

काचित् स्वक्रोधं प्रत्याह—श्रीकृष्णस्यासाक्षादेव त्वं प्रादुर्भवसि, ननु तस्य साक्षादिति रुषे स्वक्रोधाय प्रकुप्यन्ती सा निरागसि निरपराधे श्रीकृष्णे स्वपादं गृहीतेसति त्वरातङ्काभ्यां व्यग्राबभव । स्वकर्त्तृक पाद ग्रहणे सति तस्या वैयग्र्यदर्शनेनाहो नाहं मानो न क्रोधजन्यः, अपितु कपटमिति तस्मिन् कृष्णे विज्ञापिते सतीयं व्रीड़ामदादि नानाभाव समूहवती विजयते ॥३७०॥

प्रेयसः श्रीकृष्णस्य गण्डे कुण्डलस्य पद्मराग कान्ते रक्त प्रतिविम्ब पारक्योऽधर राग इति मत्वा मत् प्रतिपक्षरमण्यधरं सम्बन्धि ताम्बूल राग इति मत्वेत्यर्थः । आदौ क्रोधेनारुणापाङ्गी पश्चात्तं तं प्रति बिम्ब

निरीक्षण से "यह निश्चय ही मेघ है" इस प्रकार निश्चय होने से "रोदन" यहाँ विषाद एवं "मालिन्य यहाँ ग्लानि एवं मोह प्रभृति का शावल्य हुआ है ॥३६९॥

श्रीकृष्ण के असाक्षात् में तुम प्रादुर्भूत होते हो, श्रीकृष्णके साक्षात्कारके समय तो तुम्हारा दर्शन ही नहीं होता है, यह कह कर श्रीराधिका क्रोध के ऊपर क्रोध कर रही थी, इस समय निरपराध श्रीकृष्ण उपस्थित होने पर उनके चरणोपान्त में पतित हुये । ऐसा होने पर श्रीराधा व्यग्रता एवं आतङ्क से नितान्त व्याकुला हो गई । एवं 'ये सब कपट मात्र हैं, वास्तविक क्रोध हेतु मान नहीं है" श्रीकृष्ण—यह अवगत होने पर भाविनी श्रीराधाने जो कितने प्रकार भावों का आविर्भाव किया, वह वाग् विभव का अतीत है ।

इस श्लोक में "साक्षात् कार के समय तुम्हारा दर्शन नहीं होता है । यहाँ पूर्वजात रोष का प्रशम, तत् पश्चात् "क्रोध के ऊपर क्रोध कर रही थीं । यहाँ रोषके प्रति कोपोदय, पश्चात् श्रीकृष्ण का पाद पतन से त्वरा एवं आतङ्क से, व्याकुला, यहाँ चपलता एवं शङ्का की सन्धि हुई है । तत् पश्चात् "भाविनी कतिविध भाव का आविर्भाव किया" यहाँ व्रीड़ा, मद, स्मृति, शङ्का, त्रासादिका शावल्य है ।३७०।

उ,प्र,स,श का दृष्टान्त—प्रियतम के गण्डस्थल में तदीय कुण्डलस्थित पद्मरागमणि की किरणच्छटा

अत्र गण्ड इत्यादिना अमर्षोदयः, चलं वीक्ष्येति तस्य प्रशमः, कथं विदितवानीवेति शङ्का वितर्काभ्यां सन्धिः, न्यञ्चद् वक्त्रतयेति व्रीड़ा, विचार्य्येति मतिः, मृषा मानमिति अवहित्था, एभिः शावल्यम् । एतेचत्वारः शवलोत्तराः ॥३७१॥

उशसप्र—प्रियालोके दृष्टिं नमयति तमन्यां प्रति लसद्
दृशं स्निग्धारक्तप्रचल नयना पश्यति बधूः ।
पुनः पश्यत्यस्मिन् स्मित पुलकसङ्गोपनपरा
हठात्तेनाश्लिष्टा सपदि गत वाम्या समभवत् ॥

अत्र दृष्टिं नमयतीति व्रीड़ोदयः, स्निग्धारक्त प्रचलनयनेति औत्सुक्यं क्रोध चपलतानां शावल्यम्, मामनादृत्यान्यां पश्यतीति क्रोधः, स्मित पुलकेति मद हर्षयोः, सपदि गतवाम्येति क्रोधादि प्रशमः ॥३७२॥

चलं वीक्ष्य 'अहो नायमधर रागः, किन्तु प्रतिविम्बः' इति ज्ञानात् क्रोधाभावेन स्निग्ध क्षी । श्रीकृष्णो मदीय क्रोधं जानाति, न वेति दोलायित चित्ता सती अहो अज्ञाताज्ञीनोऽप्ययं मत् क्रोधः, श्रीकृष्णेन ज्ञात एवेति लज्जयाधोमुखत्वेन च विचार्य्य अहो स्वप्रतिज्ञा रक्षार्थं पुना मया किं कर्त्तव्यम्? किं तु कृत्रिममान ग्रहणमेव समोपायः इति विचारं कृतवेत्यर्थः ॥३७१॥

प्रिय कर्त्तृक स्व कर्मकालोके सति तल्लज्जया दृष्टिं नमयति, पश्चात्सम्मुखीं दृष्ट्वा तां विहाय अस्याः प्रतिपक्षामन्यां प्रति लसन्ती दृक् यस्य तथाभूतं श्रीकृष्णं सा बधूः, पश्यति । कथम्भूता ? आदौ श्रीकृष्ण दर्शनस्यायं स्वभावो यत् क्रोधादि सहस्र प्रति-बन्धकमप्य गणयित्वावश्यमेवानन्दं जनयतीत्यानन्देन स्निग्धनयना, पश्यान्मामनादृत्यान्यां पश्यतीति क्रोधेन रक्तनयना चपलनयना च । पुनः श्रीकृष्णे प्रतिपक्षां विहाय तां पश्यति सति श्लोकस्थ रक्त पद व्यङ्ग्य क्रोधस्य बीजमाह—मामनादृत्येति ॥३७२॥

में प्रतिविम्ब को देखकर वह अपर रमणी का अधर राग है, यह मानकर बराङ्गी श्रीराधिका रोष से लोहितापाङ्गी हो गई, पश्चात् उस प्रतिविम्ब को चञ्चल देखकर वह वास्तव प्रतिविम्ब बोध होने से मृगाक्षी स्निग्धाक्षी हो गई, तत् पश्चात् दयित मदीय कोप को जान गये हैं, अथवा नहीं, इस प्रकार सन्देह से दोलायित चित्त होकर—विदित होने की अधिक सम्भावना है, यह मान कर नत मुखी हो गई । अनन्तर विचार पूर्वक स्व प्रतिज्ञा रक्षार्थ मिथ्या मान ग्रहण किया ।

इस श्लोक में 'प्रियतम के गण्डस्थल में' इत्यादि वाक्य में अमर्ष का उदय, प्रतिविम्ब की चपलता देखकर' यहाँ अमर्ष का प्रशम, "मदीय रोष विदित हुये हैं, अथवा नहीं" यहाँ शङ्का एवं वितर्क की सन्धि "नम्रमुखी हो गई" यहाँ व्रीड़ा, "विचार पूर्वक" यहाँ मति । "मिथ्यामान" यहाँ अवहित्था, इन सबों का शावल्य हुआ है । शवलोत्तर के चार दृष्टान्त प्रस्तुत हुये हैं ॥३७१॥

उ, श, स, प्र, का दृष्टान्त—प्रियतम के दर्शन से दृष्टि को अवनत किया, उस समय प्रियतम अन्य रमणी के प्रति कटाक्ष निक्षेप करने से स्निग्धाक्षी रोष से चञ्चल लोहिताक्षी होकर उनके प्रति नयन सञ्चालन किया, पुनर्वार श्रीकृष्ण प्रणय सतृष्ण भाव से दृष्टि पात करने से श्रीराधिका तत्क्षणात् सञ्जात

सउशप्र—यदालोके पूर्वं भुजग इति सम्भ्रान्त चकिता
प्रियाग्रे तामेव स्रजमुरसि सद्यो विदधती ।
सखीषु स्मेरासु भ्रुकुटितरलारक्त नयना
परिष्वक्तातेन द्रुतविशदचित्ता समजनि ॥

अत्र सम्भ्रान्त चकितेति त्रास चपलाख्यां सन्धिः, 'प्रियाग्रे तामेव स्रजमुरसि सद्योविदधति' इति औत्सुक्योदयः, भ्रुकुटि तरलारक्तनयनेति भ्रुकुटि रित्यसूया, तरलेति चपलता, आरक्तेति क्रोधस्तैः शावल्यम्, द्रुतविशद चित्तेति प्रशमः ॥३७३॥

असउप्र—मां पश्यन्त्यास्तव किमरुण भुग्न भ्रान्ता दृगन्ता
निष्पन्द्रेऽप्राधर-किसलये गूढ़-लक्ष्या विवक्षा ।
हासो जाताङ्कुर इव कियत्तेन चित्ते प्रमोदो
वामत्वं ते वहिरिति हरेर्वाचि राधा जहास ॥

प्रिय कर्त्तृक स्वकर्म्मालोके सति लज्जया दृष्टि नमयति, पश्चात्सम्मुखी दृष्ट्वा तां विहाय अस्याः प्रतिपक्षामन्यां प्रति लसन्तीं स्वकृ यस्य तथा भूतं श्रीकृष्णं सा बधू पश्यति । कथम्भूता ? आदौ श्रीकृष्ण दर्शनस्यायं स्वभावो यत् क्रोधादि सहस्र प्रतिबन्धकमध्येपणयित्वावश्यमेवानन्दं जनयतीत्यानन्देन स्निग्ध नयना, पश्चन्निमामनादृत्यान्यां पश्यतीति क्रोधेन रक्त नयना चपलनयना च । पुनः श्रीकृष्णो प्रतिपक्षां विहाय तं पश्यति सति श्लोकस्य रक्तं पदं क्रोधस्य बीजमाह—मामनादृत्येति ॥३७३॥

स्मित एवं पुलकके सङ्गोपन करने में व्यग्र हो गई एवं उस समय दयित कर्त्तृक आलिङ्गित होने से उनका वाम भावका सम्पूर्ण अभाव हुआ ।

इस श्लोक में "दृष्टि अवनत किया" यहाँ व्रीड़ा का उदय, "स्निग्धाक्षी रोष से चञ्चल लोहिताक्षी हो गई । यहाँ औत्सुक्य, क्रोध एवं चपलता का शावल्य, मुझ को अनादर कर अपर के प्रति दृष्टिपात कर रहे हैं, अतः श्रीराधिका का क्रोध, "स्मित एवं पुलक" यहाँ मद हर्ष को सन्धि, वाम भावका सम्पूर्ण अभाव हुआ" यहाँ क्रोधादि का प्रशम हुआ है ।

स उ श प्र का उदाहरण—पूर्व में उत्कण्ठित दशामें जिसको अवलोकन कर भुगजभ्रम से सम्भ्रम चकिता हुई थी, अद्य प्रियतम के सम्मुख में सहसा उस मालाको ही वक्षः स्थल में लम्बित करते देखकर सखी मण्डली को हँसमुख होने से श्रीमतीके नयन युगल भ्रु कुति तरल एवं आरक्त उठे थे, किन्तु अविलम्ब हो में दयित कर्त्तृक आलिङ्गित होने के कारण उनका कोप कलुषित चित्त शीघ्र ही सम्पूर्ण सरस एवं सुविमल हुआ ।

इस श्लोक में सम्भ्रम चकिता, यहाँ त्रास एवं चपलता की सन्धि, "प्रियतम के सम्मुख में सहसा उस माला को ही' इत्यादि वाक्य में औत्सुक्य का उदय, "नयन युगल भ्रु कुटि तरल एवं आरक्त" यहाँ भ्रु कुटि पद से असूया, तरल, पद से चपलता एवं आरक्त पद से क्रोध—इन तीनों का शाबल्य हुआ है । सरस एवं सुविमल हुआ" यहाँ प्रशम हुआ है ॥३७३॥

अत्रारुणेति कोपः, आभुग्नेत्यसूया, भग्नेति त्रपा, ताभिः शावल्यम्। निष्पन्दत्व गूढ़ विवक्षाभ्यां धृति चपलतयोः सन्धिः, हासोजाताङ्कुर इति हर्षोदयः, जहासेति कोप प्रशमः ॥३७४॥

स श उ प्र—त्वं मे प्राणाः कथमिव विभो त्वां विनानैव वर्त्ते,

नाहं यातु वसति हृदये सेवते प्राण हेतुः।

त्वं मे नित्यं वससि हृदये नाननेत्यश्रुपूर्णा

कृष्णो दोर्भ्यां हृदि विनिदधे सा विसस्मार वाम्यम् ॥

अत्र कथमिवेति वितर्कः, विभो इत्यसूया—द्वाभ्यांसन्धिः। नाहमिति दैन्यम्, याते वसति हृदये सेवेत्यसूया, प्राण हेतुरित्युग्रता—एभिः शावल्यम्। अश्रु पूर्णामित्यौत्सुक्योदयः, वाम्यं विसस्मारेति कोप प्रशमः। एतेप्रशमोत्तराश्चत्वारः ॥३७५॥

हे राधे! तव कटाक्ष आभुग्ना-ईषत् कुटिला, एवं भग्ना-लज्जया त्रुटितास्तथा तव निष्क्रियाधरे विवक्षा वक्तु मिच्छागूढ़ा, अतएव लक्ष्या यत्नेन लक्षयितुं शक्या। तेन हेतुना तवचित्ते आनन्दः, तवहासः किंचिज्जाताङ्कुर इव। किंचिदिति कनिक्रिया विशेषणम्। तेन हेतुना तवचित्ते आनन्दः, वाम्यन्तु बहिः कालिंदनिकर्म ॥३७४॥

श्रीकृष्ण आह त्वमिति। मानिनी आह—हे विभो! कथं केन प्रकारेण पुनः श्रीकृष्ण आह—त्वामिति। साह—नाहमिति। श्रीकृष्ण आह-त्वं मे इति। साह नेति ॥३७५॥

श स उ प्र क्रा—दृष्टान्त—अयि, राधे! मुझ को देखकर तुम्हारा अपाङ्ग क्यों अरुणित, आभुग्न एवं लज्जा से भग्न प्राय हुआ? स्पन्द हीन अधर पल्लव में कथनाकाङ्क्षा जैसे गूढ़ भाव से लक्षित हो रहो है, हास्य भी जैसे उसमें किञ्चित् अङ्कुरित हुआ है। अतएव मैं विचार करता हूँ तुम्हारे चित्त में प्रफुल्लता एवं बहिर्भाग में वामता विराजित है। श्रीकृष्ण के इस प्रकार वचन-चातुर्य को सुनकर श्रीराधा हास्य मुखी हो गई। यहाँ "अरुण" पद से को, "आभुग्न" पद से असूया, "भग्न" पद से व्रीड़ा है, इन सबों का शावल्य हुआ है, अधर को निष्पन्दता एवं विवक्षा की गूढ़ लक्ष्यता हेतु धृति एवं चपलता की सन्धि हुई, "हास्य जैसे किञ्चित् अङ्कुरित हुआ है" यहाँ हर्षोदय हुआ है। "हास्य मुखी हो गई" यहाँ कोप का प्रशम हुआ है ॥३७४॥

"प्रियतमे! तुम्हीं मेरा प्राण स्वरूप हो" हे विभो! कैसे मैं तुम्हारा प्राण स्वरूप हुई, "देखो, तुम को छोड़कर मैं मुहूर्तमात्र भी वर्त्तमान रह ही नहीं सकता हूँ। 'ना, ना, वह मैं क्यों? जो तुम्हारे हृदय में निवास करती है, वही तुम्हारे प्राण हेतु है।" "क्यों तुम्हीं तो सतत मदीय हृदय में निवास करती हो," ना, ना, मैं सतत तुम्हारे हृदय में, क्यों रहूँगी?" यह कह कर मानिनी अश्रु पूर्णाक्षी होने से श्रीकृष्ण उनको बाहु युगल के द्वारा हृदय में धारण किये थे, श्रीराधा भी समस्त अभिमान भूल गई।

इस श्लोक में "कैसे मैं तुम्हारा प्राण स्वरूप "यहाँ वितर्क एवं "विभो!" इस पद से असूया, इन दोनों की सन्धि, 'नहीं नहीं मैं क्यों? यहाँ दैन्य, "जो तुम्हारे हृदय में, निवास करती है, वही" यहाँ

ससप्रउ—कीदृग् वेणुमवीवदो व्रजपुरीत्यापृष्ट एव प्रियो
रुक्मिण्या व्रजकेलि कौतुक कथा संवेदना संविदोः ।
सन्धौ बन्धुरमानसः पुनरहो रोमाञ्चनेत्राम्बुनी
संवृण्वन् प्रकृतौ बभूव स पुनः—पारि—प्लवमाभवत् ॥

अत्र 'व्रजकेलि कौतुक कथा संवेदना सम्विदोः सन्धौ' इति स्मृति जड़तयोः सन्धिः, रोमाञ्चेति हर्षः 'नेत्राम्बु' इति विषादः, संवृण्वन्निति अवहित्था— तैः शाबल्यम् प्रकृतौ बभूवेति तत्तत् प्रशमः पारिप्लवात्मस्यौत्सुक्योदयः ॥३७६॥

ससप्रउ—लिखिष्यामीत्यग्रे स्फुरदभिनिवेशास्तं तरला
ततोऽश्रुस्नाताक्षी धिगिति विधिनिन्दां विदधती ।
अवष्टभ्य स्वान्तं प्रकृतिमिव याता क्षणमसौ
लिखन्ती प्राणेशं श्वसिति विसस्मार सकलम् ॥

हे कृष्ण ! त्वं व्रजभूमौ कीदृक् वेणुमवीवदः इति रुक्मिण्या आपृष्टः श्रीकृष्णो व्रज सम्बन्धि केलि कथायाः स्मरणं ज्ञानम्, एवं जडतावशात्संविद् ज्ञानाभावस्तयोः सन्धौ बन्धुर मानसः सन् पुनरहो जाते रोमाञ्चनेत्र जले संवृण्वन् प्रकृतः स्वस्थो बभूव स श्रीकृष्णः पुनश्च पारिप्लवात्मा चञ्चल चित्तोऽभवत् ॥३७६॥

माथुर विरहेणात्यन्त व्याकुला काचित् स्वचित्तस्य क्षणिकविनोदार्थं मग्ने प्रथमतः श्रीकृष्णं लिखिष्यामीति स्फुरदभिनिवेशो यस्याः सा, पश्चाद्वार्त्ता तरला अश्रुस्नाताक्षी चाभवत् च ततश्च लिखने

असूया, "प्राण हेतु" यहाँ उग्रता, इन सबों की शबलता हुई है। एवं अश्रु पूर्णाक्षी" यहाँ औत्सुक्य का उदय एवं "समस्त अभिमान विस्मृत हुई" यहाँ क्रोध का प्रशम हुआ है।

ये चतुर्विध प्रश्नोत्तर के उदाहरण हैं ॥३७५॥

स, श, प्र, उ का उदाहरण—व्रज में आप किस प्रकार वेणु वादन करते ? प्रियतमा रुक्मिणी इस प्रकार जिज्ञासा करने पर सहसा व्रजपुरी सम्बन्धिनी केलि कौतुक कथा का स्मरण होने से एवं उसी समय उक्त कथा समूह का स्मरण हेतु जड़ता उपस्थित होने पर ज्ञान एवं अज्ञान का सम्मिलन से श्रीकृष्ण प्रथम नितान्त अव्यवस्थित चित्त एवं पुनर्वार रोमाञ्च एवं वाष्प वारि सम्वरण पूर्वक प्रकृतिस्थ हो गये। किन्तु परक्षण में ही पुनर्वार चञ्चल चित्त हो गये थे।

इस श्लोक में "व्रज पुरी सम्बन्धिनी केलि कौतुक कथा का स्मरण, एवं उसी समय उसको स्मरण हेतु जड़ता का उदय" यह जड़ता का सन्धि, "रोमाञ्च" यहाँ हर्ष "वाष्पवारि" यहाँ विषाद, "सम्वरण पूर्वक" यहाँ अवहित्था, इन सब का शाबल्य, "प्रकृतिस्थ हुये थे" यहाँ उसका प्रशम, "चञ्चल चित्त" औत्सुक्योदय हुआ है ॥३७६॥

माथुर विरह में नितान्त व्याकुला किसी कामिनी क्षणिकाल चित्तविनोदन के अभिप्राय से प्रियतम

अत्रस्फुरदभिनिवेशेति स्मृतिः, आर्त्तेति आवेगः, तरलेति औत्सुक्यम्–एभिः शावल्यम् । अनष्टभ्य अश्रुस्नाताक्षीति विषादः, धिगिति विधिनिन्दामित्यसूया, तयोः सन्धिः, स्वान्तमित्यादि प्रशमः,–विसस्मार सकलमिति मोहोदयः ॥३७७॥

प्रसशउ— विश्रान्तः सखि संशयः-स रमते नैकापि तस्य क्षपा
व्यर्थेत्यालपन प्रयोग समये कृष्णं विलोक्या गतम् ।
हृष्टा किं श्रुतमश्रुतं किमथ वेत्याशङ्कमानानमद्
वक्त्रा तेन विचुम्बिताथ सुमुखी स्पन्देन मन्दाभवत् ।

अत्र विश्रान्तः सखि संशय इति वितर्क प्रशमः, स रमत इत्यसूया, नैकापि तस्य क्षपा व्यर्थेत्यमर्षः, अनयोः सन्धिः । हृष्टा इति हर्षः, श्रुतमश्रुतं वेति वितर्कः आशङ्कमानेति शङ्का, नमद्वक्त्रेति व्रीड़ा, एभिः शावल्यम् । स्पन्देन मन्दाभवदिति जड़तोदयः ॥३७८॥

विघ्नं दृष्ट्वा उपायान्तरमपश्यन्ती विघ्ननिर्मातु विधेर्निन्दां विदधती स्वान्तमवष्टभ्य मनः स्थिरीकृत्य क्षणं प्रकृति" स्वभावं प्राप्ता असौ सुस्था भूत्वा प्राणेशं लिखन्ती लिखन् समग्रे मूर्च्छोदयेन सकलं विसस्मार । शिव शिवेति खेदे ॥३७७॥

हे सखि ! संशयो विश्रान्तो गत इत्यर्थः । से श्रीकृष्ण स्त्रियाँ सह रमते, तस्यैकापि रात्रि स्तया सह रमणं विना न व्यर्थ । स्पन्देन मन्दा रहिता जड़ाभूदित्यर्थः ॥३७८॥

को प्रतिमूर्त्ति अङ्कण करने में प्रथमतः अत्यन्त अभिनिवेशवती होकर नितान्त आर्त्ता एवं तरला हो गई, एवं परक्षण में ही अश्रुधाराप्लुत होकर धिक्कार पूर्वक विधि को धिक्कार देने में प्रवृत्ता हो गई । अनन्तर अन्तः करण को संयम करके एक मुहूर्त्त प्रकृतिस्थ होकर जब प्राणेश्वर को प्रतिकृति लिखने में प्रवृत्त हुई, हरि हरि ! उस समय उसके समग्र स्मरण ज्ञान ही अन्तर्धान हो गये ।

उस श्लोक में "अत्यन्त अभिनिवेशवती' यहाँ स्मृति "आर्त्ता" यहाँ आवेग, एवं 'तरला' यहाँ ओत्सुक्य, इन सबों का शावल्य हुआ है, "अश्रुधाराप्लुत नयना यहाँ विषाद एवं धिक्कार पूर्वक विधाता निन्दन" यहाँ असूया, इन दोनों की सन्धिः, 'अन्तः करण संयमन करके' इत्यादि वाक्य में प्रशम' "समग्र स्मरण ज्ञान ही अन्तर्धान हो गये । यहाँ मोह का उदय हुआ है ॥३७७॥

प्रसशउ—का दृष्टान्त हे सखि ! मदीय संशय विदूरित हुआ है । निश्चय ही श्रीकृष्ण किसी कामिनी के सहित रमण प्रवृत्त है, एक रजनी भी उनको वृथा अतिवाहित नहीं होती है । इस प्रकार कथोपकथन समय में सहसा श्रीकृष्ण को समीप में उपस्थित देखकर सुन्दरी प्रथमतः हृष्टा एवं तत् समकाल में ही उन्होंने उक्त कथोपकथन को सुना है, अथवा नहीं, इस प्रकार शङ्कासे आकुल होकर नम्रमुखी हो गई, अनन्तर प्रियतम उसको ईदृश दशापन्ना देखकर परिचुम्बन करने पर वह सुमुखी भावोदय से स्पन्दन शक्ति शून्या हो गई ।

इस श्लोक में संशय विदूरित हुआ है ।" यहाँ वितर्क प्रशम, "अन्यत्ररमण प्रवृत्त हैं । यहाँ असूया "एक रजनी भी उनको वृथा अतिवाहित नहीं होती' यहाँ अमर्ष, एतदुभय की सन्धि, "प्रथमतः हृष्टा"

उग्रसञ्ञ—मनो रागज्ज्वालाज्ज्वरकवलितं भस्मतु चिरा

दयं प्रेम्णे बद्धोऽञ्जलिरजनि दुःखस्य विगमः।

गुरूणामाक्षेपः खलहसितमप्येतु पृथुता

मिति स्वालीवृन्दे रुदति समरोदीदथ वधूः।

अत्र रागेत्युत्कण्ठा, ज्वालेति ग्लानिः, कवलितमितिमोहः, "भस्मतु भस्मेवाचरतु' इति दैन्यम्—एभिः शावल्यम्, अयं प्रेम्णे बद्धोऽञ्जलिरजनि दुःखस्य विगम इति औत्सुक्य प्रशमः, गुरूणामाक्षेप इति शङ्का, खलहसितमित्यसूया-अनयोः सन्धिः, समरोदीदिति विषादोदयः। एते उदयोत्तराश्चत्वारः ॥३७८॥

अथालङ्कार साङ्कर्येण ये प्रकारा भवन्ति, तेषामपि दिग्दर्शनम् तदुक्तं (२४३ श्लोके) 'हुं मातः' इति त्रासः धूर्त्तयमित्यसूया, आप प्रियमित्यवहित्था, अत्र शावल्यं, मौग्ध्यालङ्कार सङ्कीर्णम्। तेषामपि सेङ्गित-निरिङ्गितत्वेन पुनर्यद् द्विविध्य मुक्तम्, तत्र निरिङ्गितः मुदाहृतम्, सेङ्गितस्य दिग् दर्शनं क्रियते।

तत्र (२७७ श्लोके) "बाहु - दक्षिण मालिकण्ठवलये' इत्यादौ सेङ्गितो विलास

काचित् स्वस्य देह त्यागं निश्चिन्वती सखीः सनिश्चयमाह—मन इति। अनुराग ज्वालारूप ज्वरेण ग्रस्तं मनश्चिरकालं व्याप्य भस्मतु, भस्मेवाचरतु, अहन्तु न जीविष्यामीति ध्वनिः। प्रेम्णेऽपि मयायमञ्जलिर्बद्धः। देहं त्यक्ष्यन्त्या मम दुःखस्यापि विगमोऽजनि। पृथुतां विस्तारतामेतु, प्राप्नोतु इति श्रुत्वा, आलीवृन्दे रुदति सति ॥३७९

यहाँ 'सने हैं, अथवा नहीं "यहाँ वितर्क, इस प्रकार शङ्कासे व्याकुला होकर" यहाँ शङ्का एवं "नम्रमुखी हो गई" यहाँ व्रीडा, इन सबों का शावल्य एवं "स्पन्दन शक्ति शून्या हो गई' यहाँ जड़ता का उदय हुआ है ॥३७८॥

श,प्र,स,उ, का उदाहरण—हे सखि! अनुराग ज्वालारूप ज्वर से कवलित इस चित्त चिरकाल के निमित्त भस्मसात् हो जाय, प्रेम के निकट मैंने अञ्जलि बन्धन पूर्वक उसको विसर्ज्जन किया, मेरा दुःख भी विदूरित हुआ। अधुना गुरुजन के आक्षेप वाक्य का एवं खल जनों के उपहास वाक्यों का भरि प्रचार हो, प्राण त्याग हेतु कृत निश्चय कामिनी का इस प्रकार करुण वाक्य को सुनकर निज सखि वृन्द रो उठने से वह भी अत्यन्त कातर होकर उससे भी अधिक जोर जोर से रोने लग गई।

इस श्लोक में "अनुराग" इस पद में उत्कण्ठा, "ज्वाला" इस पद से ग्लानि "कवलित" पद से मोह, "भस्मसात् हो" यहाँ ग्लानि, इन सबों का शावल्य हुआ है। प्रेम के निकट अञ्जलि बन्धन इत्यादि दुःख का विगम हुआ, इस वाक्य से औत्सुक्य प्रशम, "गुरुजन का आक्षेप वाक्य," यहाँ शङ्का एवं खल जनका उपहास वाक्य" यहाँ असूया, एतदुभय की सन्धि एवं 'रोदन करने लगी' यहाँ विषाद का उदय हुआ है। ये चार उदयोत्तर के उदाहरण हैं ॥३७९॥

नामालङ्कारः। तत्र च प्रौढमनोजविभ्रमभरैः, श्रान्तेव विभ्राजत इति श्रम गर्वयोः सन्धिः। एवमुदय शावल्यादीनां दिग्दर्शनम्।

यथा—निश्चितं परिसमापितमेव, प्रेमशास्त्र परिशीलनमालि।
श्यामनाम कथमद्य गृहीतं, वृत्तयो यदखिला: समुदीयुः॥

अत्राखिला वृत्तय इति सर्व एव प्रागनुभूत: निर्वेद विषाद व्याधिग्लान्युन्मादामर्षासूयादयः समान कालमुदितवन्तः। एवं "श्यामनाम्नि विरता भवशान्तिं, यान्तु हन्त हृदयस्य विकाराः इति प्रशमशावल्यम् ॥३८०॥

एवं सन्धि शावल्यं यथा—
उन्माद मोहावपि दैन्यचिन्ते, वितर्क शङ्के समकालमेव।
द्विशो द्विशस्तस्य कथा प्रसङ्गे पूर्वानुभूत्या कुरुतेऽतिदुःखम्।

अत्र भावशावल्यम् मौग्ध्यालङ्कारेण सङ्कीर्णं भवति। तेषामलङ्काराणामपि प्रेमशास्त्र परिशीलनं मया समापितमपि त्वदग्रे निश्चितं कृत्वा बहुधोक्तमपि हे आलि! तथापि मदग्रे श्यामनाम: त्वया कथं गृहीतम्, यतः कृष्णनाम्नो हेतु, भूयःसुम ग्लान्य द्यप्रोऽखिलाः वृत्तयः समुदीयुः 'एवमिति—पूर्व श्लोकस्यैवोत्तरार्धस्थाने यदि 'श्यामनाम्नि विरता भवशान्तिम्' इत्याद्यर्थं पद्यं पठ्यते तदा प्रशम शावल्यं भवतीत्यर्थः ॥३८०॥

अलङ्कार साङ्कर्य्य हेतु जो भेद होता उसका भी दिग् दर्शन करते हैं—पूर्वोक्त २५३ श्लोक में उक्त है—यह कौन है—जो तुम्हारे अन्तर से बाहर हो रहा है, यहाँ त्रास, 'यह कोई धूर्त्त होगा' यहाँ असूया एवं "भय प्राप्त हुआ" यहाँ अवहित्या है।

इस रीति से यहाँ मौग्ध्यालङ्कार का सङ्कर हेतु शावल्य हुआ है।

सेङ्गित एवं निरिङ्गित भेद से जो द्वैविध्य उक्त है, उसके मध्य में निरिङ्गित का उदाहरण प्रस्तुत हुआ है, सम्प्रति सेङ्गित का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

पूर्वोक्त २७७ श्लोक में उक्त है—किसी गोपी दक्षिण बाहु क्रीडालस भावसे सखी के कण्ठ देश में विन्यास पूर्वक यहाँ सेङ्गित विलास नामक अलङ्कार एवं "स्मेरविभ्रम हेतु परिश्रान्ता के समान शोभा पाने लगी। यहाँ श्रम एवं गर्व की सन्धि हुई है। इस प्रकार उदय शावल्यादि का दिग् दर्शन यह है—हे सखि! मैंने प्रेम शास्त्र का अनुशीलन निश्चय ही समापन किया है। तुमने क्यों अद्य श्याम नाम का उच्चारण किया? देखो, उस नाम के उच्चारण से मेरी अखिल वृत्ति समुदित हो गई

इस श्लोक में अखिल वृत्ति अर्थात् विषाद, व्याधि, ग्लानि, उन्माद, अमर्ष, एवं असूयादि पूर्व में जिसका अनुभव हुआ था, वे सब ही एक समय में उपस्थित हुये थे। इस प्रकार प्रतीत होता है।

एवं 'श्याम नाम्नि विरता भवशान्ति" सम्प्रति श्याम नाम ग्रहण से विरत हो जाओ' 'हाय! मदीय हृदय के समस्त विकार शान्त हो। इस श्लोक में प्रशम शावल्य हुआ है ॥३८०॥

द्विशो द्विश इत्यवस्था भेदात् । तथा हि विरहे उन्माद–मोहौ, विप्रलब्धावस्थायां दैन्य चिन्ते, वासकसज्जावस्थायां वितर्कशङ्के दुःखमेव कुरुतः, तत्तत् प्रसङ्गं त्यजतेत्यर्थः ।३८१।

एवं स्वबुद्धि कौशलादनुमेयाः सुबुद्धिभिः ।
ग्रन्थ गौरव भीत्यैव मयानोदाहृताः परे ॥३८२॥

अनेनैव हि मार्गेण कवयो भावकोविदाः ।
विदध्युर्भाव काव्यानि तेनायं प्रक्रमः कृतः ॥३८३॥

इति श्रीमदलङ्कारकौस्तुभे रसभाव--तद्भेद निरूपणो नाम
पञ्चमः किरणः ॥५॥

—※※—

तस्य कथा प्रसङ्गे उन्माद मोहाविति द्वौ द्वौ मम दुःखं कुरुतः । अतस्तत् प्रसङ्गं त्यजत इत्यर्थः ।३८१।

सन्धि शावल्य का उदाहरण—

हाय ! प्रियतम के कथा प्रसङ्ग में पूर्वानुभव का उदय होने के कारण उन्माद एवं मोह, दैन्य एवं चिन्ता, वितर्क एवं शङ्का, ये सब दो दो करके चित्त में उपस्थित होकर निवारुण दुःख को उद्दीप्त करते रहते हैं। अर्थात् विरह में उन्माद एवं मोह, विप्रलब्धावस्था में दैन्य एवं चिन्ता, एवं वासक सज्जावस्था में वितर्क एवं शङ्का इस प्रकार अवस्था भेद से दो दो करके उपस्थित होकर दुःख को उद्दीप्त करते हैं, अतएव तदीय प्रसङ्ग को तुम सब परित्याग करो, यही अभिप्राय है ॥३८१॥

सखी वृन्द निज निज बुद्धि कौशल के अनुसार इस प्रकार उदाहरण समूह संग्रह करें, ग्रन्थ गौरव भय से मैंने समस्त उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया ॥३८२॥

भाव कोविदकविकदम्ब—मत् प्रदर्शित पथ के पथिक होकर भाव प्रधान काव्यरचना में सक्षम होंगे, इस उद्देश्य से ही यह प्रथम भाव प्रबन्ध विवृत हुआ ॥३८३॥

इति श्रीमदलङ्कारकौस्तुभे श्रीहरिदासशास्त्रिकृतानुवादे रसभाव--
तद्भेदनिरूपणो नाम पञ्चमः किरणः ॥

—※※—

षष्ठः किरणः

अथ गुणविवेचनम्—

अथ (प्रथम किरणे ५म श्लोके) 'गुणा माधुर्य्याद्याः' इति कृतोद्देशस्य गुणस्य लक्षण परीक्षे करिष्यन् प्रथमतो लक्षण माह,—

रसस्योत्कर्षकः कश्चिद्धर्मोऽसाधारणो गुणः ।
शौर्य्यादिरात्मन इव वर्णास्तद्व्यञ्जका मताः ॥

आत्मन इति यथा शौर्य्यादिकमात्मन एव, नाकारस्य, तथा माधुर्य्यादिकं रसस्यैव, नत्वाकार रूपयः शब्दार्थयोः । नह्ययमाकारः शूरः, स्थूलत्वादितिसद्धेतुः, अस्थूलस्यापि शूरत्वदर्शनात्, यथा महा मतङ्गज पञ्चाननयोः ।

यत्तु वीरसू–सुतयोः शिशु यूनोगकारगत शूरत्वम्, तच्च वयः कृतमेव, तेनसव्यभिचार दोषादाकारस्य शौर्य्यादि गुणो न भवति, किन्तु तस्य व्यञ्जक आकारः, वर्णमयत्वात् अत

अथ गुणविवेचनम्—

अथ गुण रूप पदस्योद्देश लक्षण परीक्षेति त्रय एव व्यवहाराः । तत्र काव्यरूप पुरुष वर्णन प्रसङ्गे गुणा माधुर्य्यादया इत्यनेन गुणस्योद्देशः कृतः । संक्षेपतो नाममात्रेण कथन मुद्देशः । उदाहरणं परीक्षा, सा अग्रे वक्ष्यते । अधुना गुणस्य लक्षणं करोतीत्याह— अथेत्यादिना । यथा जीवात्मान उत्कर्षजनक आत्म निष्ठः कश्चिद् धर्म्म विशेष एव माधुर्य्यम् । यथा नानाविधासाधारण गुण क्रिया एवं आत्मन शौर्य्य व्यञ्जका स्तथा कठोर वर्णा भिन्नाः सुकुमार वर्णा एव रसनिष्ठ माधुर्य्य व्यञ्जका भवन्तीत्याह- वर्णा इति । तस्य माधुर्य्यस्य ।

नन्वनुमानादेव शौर्य्यमपि देह धर्म एव भवदित्याह—नहीति । नहि सद्धेतुरिति । तत्र हेतुः— यतोऽस्थुलस्य सिंहस्य शौर्य्यम्, तथास्थूलस्य मतङ्गजस्य न सिंहवत् शौर्य्यम्, वीरं सूते इति वीरसूस्तस्याः पुत्रयो शिशु यूनोर्मध्ये शिशोरपेक्षया युवा शूर इत्यत्र यद् देहगतं शूरत्वम्, तत्तु वयः कृत मेव, नतु गुणकृतमित्यतो निर्गुण कृतशौर्य्यमवाद दृष्टान्तो बोध्यः । तेन स्थूलत्व रूप हेतो व्यभिचार दोषात् स

माधुर्य्यादि गुण हैं—यह कह कर प्रथम किरण में गुणका नामोल्लेख किया गया है । अधुना उसका लक्षण--एवं परीक्षा करने के निमित्त प्रथमतः लक्षण का निर्देश करते हैं ।

आत्मा का उत्कर्ष जनक शौर्य्यादि वत् रसका उत्कर्षाधायक किसी असाधारण धर्म गुण नाम से अभिहित होता है । वर्ण समूह--उक्त गुण के माधुर्य्यादि का प्रकाश करते हैं । जिस प्रकार शौर्य्यादि आत्मा का ही उत्कर्षाधायक हैं, आकृति नहीं, माधुर्य्यादि गुण भी उस प्रकार रसका ही उत्कर्षाधायक है, आकार रूप शब्दार्थ का नहीं ।

उत्कर्षत्वं गुणत्वमिति मुख्यलक्षणम्, सदैकरूपस्यानन्दस्य रसत्वेनोत्कर्षाय कर्षयोः प्रमाणाभाव इति रस शब्दोऽत्र तदास्वादार्थः। तेन रसास्वादोत् कर्षकत्वं गुणत्वम् ।.१॥

गुणस्य व्यञ्जका वर्णाः

यथा अयं शब्दार्थव्यतिकरः काव्यतया व्यवहरणीयो रसात्मकत्वात्, इति रसात्मकत्व हेतुमतोरेवशब्दार्थयोः काव्यत्वव्यवहारस्तथाऽयं वर्णसमूहो मधुरं रसादि व्यञ्जकः, सुकुमारादित्वादिति सुकुमारत्वादि हेतुमतामेव वर्णानां रसस्य माधुर्य्यादि-- व्यञ्जकत्वे व्यवहारः। तेन समुचितमेव वर्णानां माधुर्य्यादि व्यञ्जकत्वम् ।

ननु उत्कर्षकत्वं गुणत्वमिति चेत्तदालङ्काराणामप्युत् कर्षकत्वं वर्त्तते, तेषामपि गुणत्वमस्तु ? सत्यम्, यथा हारादयो ह्यलङ्काराः कण्ठाद्यङ्गान्येवोपकुर्वन्ति, नात्मानम्, तथा अनुप्रास-- स्वभावोक्त्यादयोऽलङ्काराः शब्दार्थाविव, न तु रसम्। एवं चेत्तदा श्रुतिकटुत्व पुष्टार्थादि--

---

शौर्य्यादि गुणो देहस्य न भवति। तस्य शौर्य्यस्य नानाविधं गुणक्रिया विशिष्ट आकारो व्यञ्जक इत्यर्थः। अत इति—रसोत्कर्षजनकतावच्छेदक धर्मत्वं गुणत्वमित्यर्थः ॥१॥

नच गोपीभिः सह विहरति कृष्णः" इत्यत्र शृङ्गाररसात्मकं वर्त्तते, न तत्र काव्यत्व- व्यवहारः। अतोऽत्र व्यभिचारात् कथं रसात्मकस्य हेतुत्वमितिवाच्यम् यतोऽत्र हेतौ काव्यत्व जातिमत्वे इति विशेषणं देयम्, तथा च काव्यत्व जातिमत्त्वे सति रसात्मकत्वादिति हेतु प्रयोगो ज्ञेयः। 'गोपिभिः सह विहरति' इत्यत्र काव्यत्वजाते रभाव.देव न व्यभिचार इति भावः।

किन्तु लोक में इस प्रकार अनेक प्रयोग दृष्ट होते हैं कि—"इसका आकार शूर है" कारण, इस में विलक्षण स्थूलत्व दृष्ट होता है। किन्तु यह सद्धेतु नहीं है, कारण, अस्थूलत्व का भी शूरत्व दृष्ट होता है, देखो, अस्थूल सिंह में जो शौर्य्य है, अतिस्थूल मातङ्ग में वह नहीं है। वीर प्रसू रमणी का शिशु एवं युवा पुत्रद्वयके मध्य में भी जो आकार गत शूरत्व सुनने में आता है, वह भी वयः परिणाम के तारतम्य के कारण है। इस प्रकार उक्त हेतु व्यभिचारी हैं, अतः शौर्य्यादि गुण आकार के नहीं हो सकते है, किन्तु आकार उसके व्यञ्जक है। अतएव रस का उत्कर्ष धायकत्व ही गुणत्व है, यही गुण का मुख्य लक्षण है ॥१॥

किन्तु निरन्तर एकरूप जो आनन्द है, वही रस पदार्थ है, एवं उक्त पदार्थ के उत्कर्षापकर्ष के प्रति प्रमाण भी नहीं है, अतएव रस शब्द से यहाँ आस्वाद को जानना होगा। इस प्रकार रसास्वाद का उत्कर्षाधायकत्व ही गुणत्व है, एवं वर्ण समूह ही उक्त गुण के व्यञ्जक हैं।

जिस प्रकार रसात्मकता हेतु शब्दार्थ प्रपञ्च काव्य-रूप में व्यवहरणीय है, अर्थात् रसात्मकता हेतु विशिष्ट शब्दार्थ युगल ही काव्य रूप में व्यवहार हो सकता है, इस प्रकार सुकुमारतादि हेतु वर्ण समूह ही माधुर्य्यादि व्यञ्जक अर्थात् सुकुमारतादि विशिष्ट वर्ण समूह यथा ही रसगत माधुर्य्यादि व्यञ्जकत्व है, इस प्रकार व्यवहार है। अतएव, वर्णावली का ही माधुर्य्यादि व्यञ्जकत्व समुचित है।

उत्कर्षकारित्व ही यदि गुणत्व है, तो अलङ्कार समूह का भी उत्कर्ष कारिता हेतु उसका भी गुणत्व सिद्ध हो? सत्य है, हो सकता है, किन्तु हारादि अलङ्कार जिस प्रकार कण्ठादि अङ्ग की ही शोभा

दोषाणां शब्दार्थाश्रयत्वेन तदपकर्षकत्वमेवास्तु, कथं रसापकर्षकत्वम्, यन्मूला तेषां दोषता ?

उच्यते—यथैव शौर्य्यादयो गुणास्तथैव कातर्य्यादयो दोषा अप्यात्मन एव धर्मास्तस्यैवोत्कर्ष हेतव उपलभ्यन्ते। एवमेव माधुर्य्यादयो गुणाः श्रुति कट्वादयो दोषा अपि रसस्यैवेति।

देहस्य काणत्वखञ्जत्वादि दोषोऽपि काणोऽयं देह—इति न कश्चिदपि वदति, अपितु काणोऽयं देवदत्त इत्याह्व, नतु देवदत्तो देहः—देवदत्तस्य देहोऽयमिति प्रतीतेः, तेनोपचारादेव दोषाणां रसापकर्षकत्वम्, वस्तुतस्तु शब्दार्थयोरेव। एवं तर्हि अलङ्काराणामप्युपचाराद्रसोत्कर्षताऽस्तु, सति तेषामपि गुणत्वेन भूयताम् ? नैवम्, तेषां शब्दार्थावलङ्कृत्यैव उपक्षीणत्वात् कथं रसापेक्षत्वं येनोपचारेण भवितव्यमिति ॥२॥

वर्णा माधुर्य्यादि व्यञ्जकाः, सुकुमारत्वादिति ननु सुकुमारत्वं कोमलत्वम्, तस्य शिथिलत्वबत्। सुकुमारत्वं रञ्जकत्वम्, यथा (काव्यादर्श १।४३) "शिथिलं मालतीमाला

तयोर्देह रूपयोः शब्दार्थयोरपकर्षकत्वमस्तु, यन्मूलारसापकर्षकत्वमूलां तेषां श्रुतिकट्व पुष्टार्थादीनां दोषता। तथा च रसापकर्षकत्वं दोषत्वमिति दोष लक्षणत्वात्तेषां रसापकर्षकत्वा भावेन मास्तु दोषत्वमिति पूर्व पक्षः। ननु सुकुमारत्वं यदि कोमलत्वमुच्यते, तदा वर्णनिष्ठ कोमलत्वं शिथिलत्वमेव भविष्यति, तत्तु कठोरवर्ण भिन्ने सर्वत्रैव वर्त्तते ॥२॥

एवंचेद् यत्र कवितायां लकार बाहुल्यमात्रम्, तत्र माधुर्य्यं नास्ति, किन्तु भवंन्मते माधुर्य्य व्यञ्जका

शब्दार्थ पर ही वैचित्र्य वहन करते हैं, रस को पुष्ट नहीं करते हैं।

किन्तु ऐसा होने पर भी श्रुति कटुता अपुष्टार्थतादि दोष शब्दाश्रित होने के कारण शब्दार्थ का ही अपकर्षक हो सकते हैं। 'रसापकर्षक' कैसे कहा जा सकता है ? यन्मूलक उन सबकी दोषता है—उसका वर्णन करते हैं। शौर्य्यादि गुण के समान कातर्य्यादि दोष भी आत्मधर्म्म होने के कारण—उभय हो जिस प्रकार उसका उत्कर्ष एवं अपकर्ष का हेतु रूप में उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार माधुर्य्यादि गुण एवं श्रुति कटुतादि दोष भी क्रमशः रस का ही उत्कर्ष एवं अपकर्ष के साधक हैं।

देह के काणत्व खञ्जत्वादि दोष होने पर भी, यह देह काण' इस प्रकार कोई नहीं कहता है, देवदत्त काण' इस प्रकार ही कहता है, एवं "देवदत्त का देह' इस प्रकार लोक प्रतीति होने पर भी देवदत्त भी कभी देह नहीं हो सकता है। इस प्रकार उपचार हेतु दोष समूह रसका अपकर्ष कारी हैं, उस प्रकार उल्लेख होता है, वस्तुतः वे शब्दार्थ के ही अपकर्ष सम्पादक हैं। इस प्रकार अलङ्कार की जो रसोत्कर्ष कारिता है, वह भी उपचाराधीन हो, ऐसा होने पर उसका गुणत्व हो सकता है। किन्तु वह वास्तविक नहीं है। अलङ्कार समूह शब्दार्थ युगल को अलङ्कृत करके उपक्षीत होते हैं, सुतरां रसापेक्ष होकर रहने की सम्भावन उनसब में नहीं है। अतः उपचार कैसे हो सकता है ॥२॥

सम्पादन करते हैं, आत्मा को शोभा सम्पादन नहीं करते हैं, उस प्रकार स्वभावोक्ति अनुप्रासादि अलङ्कार

लोललिकलिला यथा" इत्याचार्य्य दण्डिनः।

अत्रापि—लीलालसललिताङ्गी, लघुलघुललनाललाम मौलिमणिः
ललितादिभिरालीभि विलसति ललितस्मित राधा।

तेन सौकुमार्य्यं नाम रञ्जकत्वम्। यदुक्तमन्यैः,—
"कर्त्तारः काव्यशोभाया धर्मा एव गुणाः स्मृताः।
अलङ्कारास्तदुत्कर्ष हेतवः स्युरिति क्रमः॥"

इति, तदपि नातिललितम्। यतः खलु गुणालङ्कारादि मद्वाङ् निर्मिति विशेषस्यैव काव्यत्वाङ्गीकारे न गुणालङ्कारादिभ्योऽन्यः काव्य नाम्ना पदार्थोऽस्ति, नापि काव्यादन्ये गुणालङ्काराः, के कस्य शोभायाः कर्त्तारो भविष्यन्तिः? ॥३-४॥

बहुतर जकार घटित कोमल वर्णा वर्त्तन्ते। इत्यतो सुकुमारत्वं न कोमलत्वमित्याह—न सुकुमारत्वमिति तस्य कोमलत्वास्य शिथिलत्वरूपत्वात्।

यथा लोलालिभिः कलिला युक्ता मालतीमालेत्यत्र दण्डिनोक्त पद्ये माधुर्य्याभावेऽपि कोमल वर्णा वर्त्तन्ते, एवमत्रापि शृङ्गार वर्णन प्रसङ्गे। ललनाया उत्कृष्ट मुकुटमणिः श्रीराधिका सखिभिः सह लघुलघु यथा स्यात्तथा विलसतीत्यत्र माधुर्य्याभावेऽपि बहुतर लकारघटित कोमलवर्णा वर्त्तन्ते। रञ्जकत्वमिति—चेतसश्चमत्कार कारित्वमित्यर्थः। यथाद्भुतवस्तु दर्शने सति नेत्रस्य स्फारता जनक चमत्कारोजायते, तथैवाद्भुत सुकुमार वर्णानां श्रवणे सति चित्तस्य स्फारता जनक चमत्कारो भवतीति ज्ञेयम्।

कस्यचिन्मते माधुर्य्यादा गुणाः काव्य पुरुषस्य शोभा कर्त्तारः। अलङ्कारास्तदुत्कर्षहेतवः। तन्मतं दूषयितुमुत्थापयति—यदुक्तमिति। एतन्मतं दूषयति—यत इति। गुणालङ्कार विशिष्टस्यैव तन्मते काव्यत्वाङ्गीकारे गुणालङ्कारावपि काव्यपुरुषान्तर्भूतावेव, तत् कथं गुणस्य काव्य शोभाकरत्वम्, कथं वालङ्कारस्य काव्योत्कर्षत्वम् ॥३-४॥

"सुकुमारतादि निबन्धन वर्ण समूह माधुर्य्यादि गुण का व्यञ्जक होते हैं।" यहाँ सुकुमारता शब्द का अर्थ कोमलता ही नहीं है, कारण, कोमलता—शिथिलता स्वरूप है। जिस प्रकार 'मालती माला' विलोल अलिकुल से कलित हुई है।" दण्डयाचार्य्य के उद्धृत कविता में अनेक कोमल वर्ण विद्यमान होने पर भी माधुर्य्य का विकाश नहीं हुआ है, किन्तु शिथिलता दोष हुआ है।

उस प्रकार 'ललना ललाम मौलिमणि स्वरूपा लोलालसललिताक्षी, ललितस्मिता श्रीराधा ललित स्मिता श्रीराधा ललितादि आलि वृन्द के सहित विलास कर रही है॥

इस श्लोक में अनेक कोमल वर्ण विद्यमान होने पर भी माधुर्य्य का उदय नहीं हुआ है। अतएव यहाँ सुकुमारता का अर्थ, चित्तरञ्जकता है। कतिपय व्यक्ति कहते हैं—

काव्य का शोभा कर धर्म ही गुण है, एवं अलङ्कार समूह समस्त उत्कर्ष के हेतु है, यही क्रम है।

इस मत भी सुन्दर नहीं है, कारण, गुणालङ्कारशाली वाङ् निर्मिति विशेष को काव्य स्वीकार करने पर गुणालङ्कारादि से भिन्न काव्य नामक पदार्थ का अथवा काव्य से अतिरिक्त गुणालङ्कारादि पदार्थ की सत्ता सिद्ध नहीं होती है, कौन किसकी शोभाकर होगा? ॥३-४॥

किञ्च, काव्य शोभायाः कर्त्तार इत्येकस्यैव काव्यस्य किं सर्वे गुणाः शोभाकर्त्तारः, किं पृथक् पृथक् ? आद्ये असमग्रगुणयोः पाञ्चाली गौड्योः काव्य शोभाकरत्वानुपपत्तिः। यदि वा पृथगेव तदा (प्रथमकिरणे १६ श्लोके) ऊर्ज्जत् स्फूर्जद् गर्ज्जनैः' इत्यादौ सत्यप्योजोगुणे नान्यशोभा, तेन वर्णा एव माधुर्य्यादि व्यञ्जकाः, माधुर्य्यादयो मधुररसाद्युत्कर्षका इतिस्थितम्।

ते माधुर्य्यादयः पुनः॥

अथ कति ते इत्याहु—

माधुर्यमपि चौजश्च प्रसादश्चेति ते त्रयः।
केचिद्दशेति ब्रूवत एष्वेवान्तर्भवन्ति ते॥

ते गुणाः सप्त, एष्वेव माधुर्य्यादिष्वेव। के ते सप्तेति दर्शयति,—

अर्थ व्यक्तिरुदारत्वं श्लेषश्च समता तथा।
कान्तिः प्रौढ़िः समाधिश्च सप्तैते तैः समं दश ॥५-७॥
तैर्माधुर्य्यादिभिः॥

स्वस्य शोभाजनकत्वाद्य भावात् दोषान्तर माह—किञ्चेति। अथैकस्य काव्य पुरुषस्य सर्वे गुणा एव शोभाकर्त्तारो नान्ये, किंवा गुण जन्य शोभां प्रति रीतेः कारणत्वमिति पृथक् पृथक् कारणमिति पक्षद्वयं क्रमेण दूषयति आद्य इति। गुणभिन्नयोः पाञ्चाली--गौड़ीस्वरूपरीत्योः काव्यशोभा करत्वानुपपत्तिः, नापि द्वितीय पक्ष इत्याह—यदि वेति। पाञ्चाल्यादीनां पृथक् शोभा जनकत्वाङ्गीकारे पाञ्चाल्यादीनामपि गुणत्वापत्तिः। यदि तत्र गुणत्व वारणाय गुणत्वापत्तिः, यदि तत्र गुणत्व वारणाय पाञ्चाल्यादीनामपि गुणत्वापेत्तिः। यदि तत्र गुणत्व वारणाय पाञ्चाल्यादि रीति भिन्नत्वे सति काव्य शोभाकरत्वं गुणत्व मित्युच्यते, तदा। ऊर्ज्जत् स्फुर्जत्' इत्यत्र ओजोरूप गुणे अव्याप्तिस्तत्र काव्यशोभा जनकत्वाभावात् माधुर्य्य प्रसाद गुणयोरेव काव्य शोभा जनकत्वम् न तु ओजोगुणस्येति ज्ञेयम्, पुनः स्वमत माह--ते इति। ते सप्त गुणाः ॥५-७॥

और भी कहते हैं—"काव्य का शोभाकर धर्म ही गुण है" इस लक्षण के अनुसार यावतीय गुण को क्या एकमात्र काव्य का शोभाकर समझना होगा ? अथवा प्रत्येक गुण ही काव्य का शोभाकर है, इस प्रकार जानना होगा ? प्रथम कल्प को स्वीकार करने से असमग्र गुण सम्पन्ना पाञ्चाली गौड़ी रीति का काव्य शोभाकरत्व नहीं होगा। द्वितीय कल्प में "जलाद मंडली समुतद्य विद्युद्दामों से दिग् दिगन्त को विद्योतित करके" इत्यादि कविता में ओ जो गुण विद्यमान होने पर भी काव्य की शोभा नहीं हुई है, देखने में आता है। अतएव वर्ण समूह ही माधुर्य्यादि गुणके व्यञ्जक हैं, एवं मधुर रसादि का उत्कर्ष ही माधुर्य्य है, यह स्थिर हुआ।

सम्प्रति माधुर्य्यादि के मध्य में कौन कौन उक्त गुण शब्द वाच्य है, उसका वर्णन करते हैं—माधुर्य्य ओजः एवं प्रसाद ये तीन गुण हैं, कतिपय व्यक्ति--दश गुण का वर्णन करते हैं। किन्तु उक्त तीनके अतिरिक्त जो सात अवशिष्ट हैं, उसका अन्तर्भाव उक्त माधुर्य्यादि गुणत्रय में ही होता है।

सप्तानां लक्षणमाह—

प्रसाद एवौजो मिश्रशैथिल्यात्मा भवेद् यदि।
तदार्थव्यक्तिरिष्यत विकटत्वमुदारता ॥
पदानामेक रूपत्वं सन्ध्यादावस्फुटे सति।
श्लेषो मार्गभिद एव समतौज्ज्वल्यमेव हि ॥
कान्तिः साभिप्राय तया समास व्यासयोः सतोः।
वाक्यार्थे पदविन्यासः पदार्थे वाक्यनिर्मितिः ॥
प्रौढ़िरारोहावरोहक्रमः समाधिरिष्यते ॥

तदन्तर्भावे युक्तिं वक्ति,—

तेष्वेवान्तर्भवन्त्येक एके वैचित्र्यबोधकाः।
एके दोषपरित्यागाद् गतार्था इति नो दश ॥
अर्थव्यक्तिः प्रसादान्तः प्रौढ़िर्वैचित्र्यबोधिका ॥

नतु गुण इत्यर्थः।

समता तु क्वचिद् दोषः,

समता तु क्वचिद् दोषोऽपि भवति। कुतइत्यत आह,—

वैषम्यं यत्र वाञ्छ्यते।
सजातीय-विजातीय-युगपद् वर्णने सति ॥

सप्तानामिति—परमत सिद्धानां सप्तानां लक्षण मात्रं कृतम्, नतु तेषामुदाहरणम्। अतस्तद् विना लक्षण व्याख्यादि सम्यकतया न भविष्यतीति ज्ञेयम्।

उक्त सातों के नाम इस प्रकार हैं—अर्थ व्यक्ति, उदारत्व, श्लेष, समता, कान्ति, प्रौढ़ि, एवं समाधि। पूर्वोक्त माधुर्यादि त्रयके सहित मिलित होकर ये समष्टि में दश होते हैं ॥५-७॥

क्रमशः उक्त विषयों के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—प्रसाद गुण यदि ओजोमिश्रित शिथिल्यात्मा होता है तो उसको अर्थ व्यक्ति कहते हैं। विकटत्व का नाम—उदारता है। सन्धि प्रभृति अस्फुट होने में पद समूह का जो एक रूपत्व प्रतीयमान होता है, वही श्लेष है। मार्गभिद का नाम समता है, औज्ज्वल्य ही कान्ति है, साभिप्रायता पूर्वक समास एवं व्यास स्थल में वाक्यार्थ में पद विन्यास, एवं पदार्थ में वाक्य रचना को प्रौढ़ि कहते हैं। आरोह एवं अवरोह का क्रम ही समाधि है। ये सात—जिस प्रकार युक्ति से पूर्वोक्त तीन में अन्तर्भुक्त होते हैं, उसका वर्णन करते हैं।

उसके मध्यमें एक उसके अन्तर्भुक्त है, एक वैचित्र्यमात्र बोधक है, एक दोष परित्याग के द्वारा गतार्थ होता है, इस रीति से इन सबके दशविध भेद की आवश्यकता नहीं होती है।

यत्र परस्पर विसदृशयोर्युगपद् वर्णने सति वैषम्यमभीष्टम्, तत्र समता तु दोषएव, यत्र न तथा तत्र गुणः ।

यथा—ऊर्द्ध्वोर्द्ध्व स्पर्धि-गोवर्द्धन शिखरवरोद्धार सारोद्धुरोऽहं
शङ्के पङ्केजनेत्रे तव कुचमुकुलालोकने जातकम्पः ।
उद्दण्डे कालियस्य स्फुटविकट फणामण्डले ताण्डवाढ्यः
सोऽहं राधेऽभिभूतस्तव तरलितया हन्त वेणी भुजङ्ग्या ॥

इत्यादिष्वसमतैव गुणः ॥८--१५॥

ग्राम्यकष्टत्वादि हानादपारुष्योररीकृतौ
औज्ज्वल्यरूपा या कान्तिः सा माधुर्यान्तरस्थिता ।
अन्ये त्वोजसि वर्त्तन्ते तेन तेन पुनर्दश ॥

अन्ये श्लेष समाध्युदारता ओजस्येवान्तर्भवन्तीत्यर्थः ।

नन्वेवं चेत् क्लिष्टत्वदोषनिरसनेनैव प्रसादगुणस्यादिमाधुर्य्य एव लब्धेः किं प्रसाद

यत्र न तथेति—न वैषम्यमभीष्ट मित्यर्थः । तत्र समता गुण एव वैषम्यवर्णनमेवाह—ऊर्ध्वोर्ध्वेति । ऊर्ध्वोर्ध्वस्थितान् मेघावीनपि स्पर्धते यो गोवर्धनो गिरिश्रेष्ठ स्तस्योद्धारणे सारोद्धुरः श्रेष्ठ भारवाहकोऽहम्, हे पङ्कजनेत्रे राधे ! तव कुचावलोकनेन जातकम्पः सन् शङ्के शङ्काविशिष्टो भवामीत्यर्थः । तथा तव तरलितया चञ्चलया वेणी रूपभुजङ्ग्याभिभूतः ॥८--१५॥

ग्राम्य कष्टत्वादि दोषाभावादपारुष्यस्याकठोरत्वस्याङ्गीकृतौ या कान्तिः सा माधुर्यान्तर्भूता, न तु पृथक् । नैवमिति—यथायं घटः, अयं घटः, इति पृथक् पृथक् व्यवहार एव घट पटयोः पृथक्त्वे प्रमाणम्, तत एव नैकस्मिन्नन्यस्यान्तर्भावः सम्भवति, तथैवायं प्रसाद गुणोऽयं माधुर्य्य गुण इति, पृथक् व्यवहार एव पृथक्त्वे प्रमाणमित्यर्थः । अन्यथा सर्वेषामेव पदार्थानां सर्वेष्वन्तर्भाव प्रसक्तेरनवस्था स्यादिति ज्ञेयम् ।

अर्थ व्यक्ति प्रसाद गुण में अन्तर्भुक्त होता है, प्रौढ़ि केवल वैचित्र्य का बोधक है, सुतरां उसका गुणत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता है । मार्ग भेद स्वरूप समता किसी किसी स्थल में दोष भी होता है । किस कारण से होता है—उस को कहते हैं, जहाँ परस्पर विसदृश पदार्थ का युगपद् वर्णन में वैषम्य ही वाञ्छनीय है, वहाँ समता दोषके मध्य में ही परिगणित होती है, तदतिरिक्त स्थल में उसका गुणत्व है । उदाहरण—

मैं ऊर्ध्वोर्ध्ववर्त्ति घनघटास्पर्द्धी गोवर्द्धन गिरि धारण करके धुर्य श्रेष्ठ रूप में ख्यात हूँ । किन्तु हे कमल नयने ! तुम्हारे कुच मुकुल विलोकन से सम्प्रति कम्पित एवं शङ्कित हो रहा हूँ ।

और भी प्रचण्ड कालिय सर्प का समुद्दण्ड स्फुट विकट फणा मण्डलोपरि ताण्डव कार्य्य में भी मेरा पाण्डित्य प्रकटित हुआ है, किन्तु हाय ! वही मैं तुम्हारी वेणी रूप विषधरी को अवलोकन कर अभिभूत हो रहा हूँ । इस श्लोक में असमता ही गुण है ॥८–१५॥

ग्राम्यता क्लिष्टतादि दोषाभाव हेतु अकठोरता का अङ्गीकार स्थल में जो औज्ज्वल्य रूपा कान्ति

गुणस्य पृथङ् निर्देशः ? नैवम्, प्रसादस्य स्वतः सिद्धत्वात् क्वान्तर्भावः ? अन्यथा अनवस्था-प्रसक्तेः, किञ्च, मतान्तरकथनमेवैतत् तेन दशविधत्वं न दुष्टमित्युभयमेवास्माकमभीष्टम् ।१६।

अथ माधुर्य्यादयः के त इत्याह, —

रञ्जकत्वं हि माधुर्य्यं चेतसो द्रुति कारणम् ।
सम्भोगे विप्रलम्भे च तदेवातिशयोचितम् ॥

च कारात् करुणादौ च ॥१७॥

चेतो विस्तार रूपस्य दीप्तत्वस्य हि कारणम् ।
ओजः स्याद् वीर-बीभत्स-रौद्रेषु क्रमपुष्टिकृत् ॥

दीप्तत्वं शैथिल्याभावो गाढ़तेत्यर्थः । तच्च चेतसो विस्तारहेतु विस्तारकारणं क्रमाद् वीरादिषु पुष्टिमर्हतीत्यर्थः ॥१८॥

श्रुति मात्रेण यत्रार्थः सहसैव प्रकाशते ।
सौरभ्यादिव कस्तूरी प्रसादः सोऽभिधीयते ॥

नन्वेवं चेत् सप्तानां गुणानामपि माधुर्य्यादिष्वप्यन्तर्भावो न सम्भवति, तेषामपि पृथक् पृथक् व्यवहारा वर्त्तन्ते एवेत्यत आह—किञ्चेति । उभयमिति त्रिविधत्वं सप्तविधत्वमित्युभयमित्यर्थः ॥१६॥

अथेति—ते माधुर्य्यादयः के किं स्वरूपा इत्याकाङ्क्षायां तेषां लक्षणमाह—रसनिष्ठमाधुर्य्यं रञ्जकत्वम्, तदेव किमित्यपेक्षायामाह चेतसो द्रुतिकारणमिति । क्रमपुष्टिकृदित्यस्य व्याख्या क्रमादिति ॥१७—१८॥

का आविर्भाव होता है, वह भी माधुर्य्य की अन्तर्वर्त्तिनी है । तद्भिन्न श्लेष समाधि एवं उदारता ओजो गुण में ही अन्तर्भुक्त होती है ।

यहाँ इस प्रकार प्रश्न हो सकता है कि—विलष्टताबोधनिरास द्वारा माधुर्य्य के मध्य में ही प्रसाद गुण को अन्तर्भुक्त करना समीचीन होने पर उसका पृथक् निर्देश क्या किया जाता है ? किन्तु इस प्रकार तर्क सङ्गत नहीं है । कारण, प्रसाद गुण—एक स्वतः सिद्ध पदार्थ है, उसका अन्तर्भाव किस में होगा ? इस प्रकार स्वीकार न करने पर समस्त पदार्थ का ही अन्तर्भाव समस्त पदार्थ में होगा, इस से अनवस्था दोष होगा । और भी मतान्तर का ही उल्लेख हम करते हैं, उस में गुण का दशविधत्व दुष्ट नहीं है, हमारे पक्ष में उभयमत ही अभीष्ट है ॥१६॥

सम्प्रति माधुर्य्यादि गुण का वर्णन करते हैं—रञ्जकता ही माधुर्य्य है, वह चित्त द्रवीभाव के प्रति कारण है, सम्भोग एवं विप्रलम्भ में एवं करुणादि रस में उक्त माधुर्य्य की विशेष उपयोगिता है । ओजो गुण चित्त विस्तार रूपदीप्तत्व का कारण है । वीर, बीभत्स एवं रौद्र रस में क्रमशः उसकी पुष्टिकारिता है । दीप्तत्व अर्थ में शैथिल्याभाव है, अर्थात् गाढ़ता है, वही चित्त का विस्तार के हेतु है, अर्थात् चित्त विस्फार का कारण है । वीरादि रस में क्रमशः उसकी पुष्टि कारित है, अर्थात् वीर की अपेक्षा बीभत्स, की अपेक्षा रौद्र में उसकी पुष्टि कारिता उत्तरोत्तर अधिक है ॥१७—१८॥

स सर्वेषु रसेष्वेव सर्वस्वपिच रीतिषु उपयुक्तः,

स प्रसाद नामा गुणः।

व्यञ्जकाः स्यु र्वर्णाश्च रचना अपि ॥

तेषामित्यर्थात् तत्र वर्णानां व्यञ्जकत्वमिदानीं दर्श्यते। रचनाया रीति निरूपणे दर्शयितव्यम् ॥१९--२१॥

स्पर्शाः स्वपञ्चमाधः स्था अटवर्गा लघु रणौ।

माधुर्य्य व्यञ्जका वर्णा नैकरूपाः क्रमेण चेत् ॥

नैकरूपा इति पृथक् पृथग् वर्गजा एव। अट वर्गा इति ट वर्गः केवलो वा स्वपञ्चमाधःस्थो वा ओजस्येव ॥२२॥

उदाहरणम्—विधाय पुष्पावचयं चलन्त्या, मञ्जीरनादो मदखञ्जनाक्ष्याः।

मन्दोऽप्यमन्दं हरिमञ्जनाभं कुञ्जशयं जागरयाञ्चकार ॥

'नैकरूपाः क्रमेण' इति एकरूपत्वे दूषणम् ॥२३॥

सौरभ्यादिति यथा कस्तूरीगन्धो वस्त्रादिभिरावृतोऽपिसहसा कस्तूरीं प्रकाशयति, तद्वदित्यर्थः। तेषां माधुर्य्यादीनाम् ॥१९--२१॥

स्पर्शा इति। काद्यो मकार पर्य्यन्ता वर्णाः स्पर्शा इत्यर्थः तत्र स्वस्य कवर्गस्य पञ्चम ङकारस्तस्याधःस्था ङ्क-ङ्ख-ङ्ग-ङ्घ वर्णामाधुर्य्य व्यञ्जका भवन्ति। एवं चवर्गादावपि ज्ञेयम्। अटवर्गा इति--टवर्गास्तु सर्वथैव न माधुर्य्य व्यञ्जकः रणौ रेफणकारौ लघु एव माधुर्य्य व्यञ्जकौ। चेद् यदि ते पञ्चमाधःस्थवर्णा एकरूप न भवन्ति, तदा माधुर्य्य व्यञ्जकाः, यदि च एकस्मिन्नेव काव्ये ङ्क ङ्क ङ्कादि सजातीय वर्णानां धारावाहिकतया निवेश श्चेत्तदा दोषएव उदाहरणे व्यक्ती भविष्यति। तस्मात् पृथग्वर्गजा एव पञ्चमाधःस्थ संयुक्ता वर्णा ग्राह्याः, न त्वेकवर्गजा इत्यर्थः ॥२२॥

विधायेति। पुष्प चयनं कृत्वाचलन्त्यास्तस्या नूपुर नादो मन्दोऽपि श्रीकृष्णममन्दं यथास्यात्तथा जागरयाञ्चकार ॥२३॥

जिस प्रकार कस्तूरी का सौरभ सहसा कस्तूरी को प्रकाश कर देता है,उसी प्रकार जहाँ श्रवण मात्र से ही सहसा अर्थ प्रकाशित हुआ है। उसको प्रसाद गुण कहते हैं। उक्त प्रसाद गुण समस्त रस एवं समस्त रीति के उपयोगी है।

वर्णावली एवं रचना समस्त गुणों की व्यञ्जिका होती है। उसके मध्य में वर्णका व्यञ्जकत्व सम्प्रति प्रदर्शित होता है, रचना का व्यञ्जकत्व रीति निरूपण स्थल में प्रदर्शित होगा ॥१९--२१॥

ट वर्ग भिन्न यावतीय स्पर्श वर्ण अर्थात् कराम से मराम पर्य्यन्त वर्ण समूह यदि स्वस्व वर्गीय पञ्चम वर्ण के अधःस्थ होते हैं तो वह भी लघु र एवं ण, ये सब वर्ण माधुर्य्य व्यञ्जक हैं। उक्त पञ्चमाधःस्थ वर्ण यदि धारावाहिक रूपसे पुनः पुनः एकरूप होकर ही सन्निविष्ट होते रहते हैं—तो वह माधुर्य्य व्यञ्जक नहीं होगा। केवल ट वर्ग अथवा स्व पञ्चमाधः स्थ ट वर्ग ओ जो गुण स्थल में हीं प्रशस्त है ॥२२॥

यथा—कान्ते निशान्त एकान्ते पादान्ते क्लान्तिमन्तति ।
अञ्जस्ते गञ्जनव्यञ्जी मञ्जरी मञ्जुभिः स्वनैः ॥
इत्यादेः खल्वनुप्रास रीतिरूढ़स्य वर्त्मतः ।
माधुर्य्य बहुलत्वेऽपि गौड़ीयम रीतिरिष्यते ॥२४--२५॥
किन्तु—जृम्भते तव कञ्जाक्षि कान्तिः काञ्चन बन्धुरा ।
अम्बुदोपरि शम्पेव नन्दनन्दन वक्षसि ॥
इत्यादौ शुद्धमाधुर्य्यम् ॥१६॥
अथौजोव्यञ्जका वर्णा उच्यन्ते,—
योग आद्य तृतीयाभ्यां चेद् द्वितीय--चतुर्थयोः ।
उपर्य्यधो द्वयोर्वापि रेफेण सह चेद् युतिः ॥
शषौ टवर्गश्चानन्त्यो वृत्तिदैर्घ्य तथौजसि ॥

एक वर्णस्य स जातीय वर्णानां निवेशे दोषो यथा—कान्ते—इति । कान्ते श्रीकृष्णे एकान्ते निशान्ते मन्दिरे त्वामन्विष्य पादान्ते कान्ति श्रममन्तन्ति बध्नति सति, अति अदि बन्धने धातु"। पादान्ते श्रमं प्राप्नुवति सतीत्यर्थः। तदा त्वन्मञ्जीर एव अञ्जः शीघ्रं तव गञ्जनस्यात्रैव त्वं वर्त्तसे इत्याक्षेपस्य व्यञ्जी प्रकाशकः । अनुप्रासरीतियुक्तस्यास्य मार्गस्य मधुरवर्ण बहुलत्वेऽपि गौड़ीया रीतिरेवात्र, नतु रसनिष्ठं माधुर्य्यमिति ज्ञेयम् ॥२४--२५॥

हे कञ्जाक्षि ! श्रीकृष्णस्य वक्षसि तव कान्ति र्जृम्भते प्रकाशते मेघोपरि शम्पा विद्युदिव, अत्रेदमेव शुद्धमाधुर्य्यम् । अयमेव अनुप्रास इति गुणालङ्कारयोरविवेको न वाच्यः । वर्णानामन्त्यमूर्ध्वत्वेनैव शृङ्गारोत्कर्षान्माधुर्य्यम् । अनुप्रासस्तु तत्तदनपेक्षोऽपि सिध्यतीत्यन्यो भेदोपलब्धेः ॥२६॥

योग इति । आद्येनाक्षरेण द्वितीयाक्षरस्य योगः, एवं तृतीयाक्षरेण चतुर्थाक्षरस्य योगः, रेफेण सह

उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—पुष्प चयन पूर्वक गमनावसर में मदखञ्जनाक्षी के चरण कमल से जो मन्द मन्द मञ्जीरनाद उच्चारित होने लगे, उसने कुञ्जशायी अञ्जनाभ नन्दनन्दन को अमन्द भाव से जागरित करा दिया ।

धारावाहिक रूप से एकरूप होने से जो दोष होता है, उसका उदाहरण—प्रस्तुत करते हैं ॥२३॥

कान्त एकान्त वर्त्ती निशान्त के अभ्यन्तर में तुमको अन्वेषण पूर्वक पादान्त में क्लान्ति अनुभव करते रहने से त्वदीय मञ्जीरं तत्क्षण सञ्जात मञ्जुस्वर से सत्वर तुम्हारी गञ्जना व्यञ्जन कर रहा है । इस प्रकार अनुप्रास रीति युक्त मार्ग मे मधुर वर्ण बहुल रूपसे प्रयुक्त होने-पर भी यह गौड़ी रीति ही हुई हैं, अर्थात् इसमें रसनिष्ठ माधुर्य्य उत्पन्न नहीं हुआ है ॥२४--२५॥

किन्तु, "अयि पङ्कज लोचने ! अम्बुदोपरि सौदामिनी के समान नन्दनन्दन के वक्षः स्थल में तुम्हारी काञ्चन बन्धुरा कान्ति कैसे सुन्दर रूपसे विजृम्भित है" इत्यादि श्लोक शुद्ध माधुर्य्य का ही उदाहरण स्थल है ॥२६॥

ककृखटं, रुक्खेला, अच्छं कच्छः, उत्थानं, ककुप्फेनः। एवं रुग्घासः, उज्झितम्, बद्धः, ककुब् भासः, अर्कः, शक्रः, शषौ स्पष्टौ। टवर्ग श्चानन्त्य इति किम्? रुट् रुड् ॥२७–२८॥

उदाहरणम्—ऊर्ध्वोर्ध्वं सर्वमूर्ध्ना मुकुटतटलुठद्रत्नदीप्तिच्छटाभि

श्छन्नं यत् पादपीठं प्रकटितपटिमप्रौढ़ि गर्भैर्महोभिः।

शर्वादे गर्वखर्वीकरणचल भुजादण्डशौटीर्य्य चण्डः

शिष्टाऽभीष्टं कृषीष्ट प्रचुरघनघृणा विक्रमचक्रपाणिः॥

एष ओजोमार्गः ॥२९॥

अटवर्गैररेफैश्च क्ख–ग्घाभ्याञ्च विवर्जितैः।

अयुक्तैश्च महाप्राणैर्मध्यतां प्रतिपद्यते॥

मध्यतां मध्यौजस्त्वम्, क्ख–ग्घाभ्यामिति अच्छादि वर्जनं न कार्यमित्यर्थः, महाप्राणैरिति ह कारेण सह वर्गचतुर्थैस्तैः; अयुक्तैः केवलैरित्यर्थः। चकारात् क्वचित् संयुक्तैश्च ॥३०॥

वर्णस्योपरि युतियोगः, यथार्कः, तथा वर्णस्याधोयोगे शक्रः। उपरि अधोदेशे च योगे रेफेण सह यथा दुर्ग्रहः। अनन्त्य इति–अकार सहित एव टठादयो वर्णा ओजोव्यञ्जकाः, नतु अकार रहिता रुट् रुड् इति वर्णाः ॥२७-२८॥

ऊर्ध्वोर्ध्वं यस्य पादपीठ सर्वेषां देवताराजप्रभृतीनां मूर्ध्ना मुकुट सम्बन्धिरत्नदीप्तिच्छटाभिस्तेजोभिः करणं महादेवादेरपि गर्व खर्वी करणे ख्यातो यो भुजादण्डस्तस्य शौटीर्यं पराक्रमे प्रचण्डश्चक्रपाणिः शिष्टानामभीष्टं कृषीष्ट। कथम्भूतः? प्रचुरमेघतुल्यकृपा विक्रमो यस्य सः। एष मध्यम ओज व्यञ्जक वर्णः ॥२९॥

करुणरसे कस्यचिन्मते चारुः स्यात्, कस्यचिन्मते न ॥३०-३१॥

सम्प्रति ओजो व्यञ्जक वर्णावली का वर्णन करते हैं। वर्ग के आद्य वर्ण के सहित द्वितीय वर्ण के सहित चतुर्थ वर्ण का यदि सम्मिलन होता है, एवं उपरि वा अधोभाग में अथवा उभयत्र ही यदि रेफ के सहित संयोग होता है, तादृश स्थल में, एवं अनन्त्य ट वर्ग, श, ष एवं दीर्घ समास स्थल में ओजो गुण की अभिव्यक्ति होती है। जिस प्रकार कक् खट रुक् खेला, अच्छ, कच्छ, उत्थान, ककुप् फेन रुग्घास उज्झित, बद्ध, ककुब् भास, अर्क, शक्र, दुर्ग्रह। अनन्त्य ट वर्ग अर्थात् अकार युक्त ट वर्ग, उसके विपरीत जिस प्रकार रुट् रुड्, इत्यादि ॥२७–२८॥

ओजो मार्ग का उदाहरण—ऊर्ध्वोर्ध्ववर्त्ती जिनके पाद पीठ देव नृपति साधारण के शिरः शोभि–मुकुट तट लुठित रत्नदीप्तिच्छटा से आच्छन्न होकर रहता है। जिनकी प्रभूत अनुकम्पा सम्पात से धराधर भी अधरीकृत हुआ है, जो प्रकटित पटुतातिशयशाली तेजः पुञ्ज के द्वारा शर्वादि के गर्व खर्व करण क्षम चञ्चल भुज दण्ड के पराक्रम से प्रचण्ड हुये हैं। वह चक्रपाणि शिष्टजन के अभीष्ट को परिपुष्ट करें ॥२९॥

ट वर्ग एवं रेफ शून्य, क्ख एवं ग्घ विवर्जित एवं असंयुक्त महाप्राण वर्ण मध्यमरूप ओजो गुण का व्यञ्जक होता है। हकार के सहित वर्गस्थ चतुर्थ वर्ण महाप्राण वर्ण, वह असंयुक्त अर्थात् केवल, क्वचित्

शृङ्गारेऽप्येष चारुः स्यात् करुणादौ भवेन्न वा ।
माधुर्य्य व्यञ्जकैर्वर्णै युक्तश्चेदतिसुन्दरः ।
गाढ़बन्धः स आख्यातः पाठे वदनपूर्त्तिकृत् ॥३१॥

यथा—कस्तूरी तिलकायितं त्रिजगतो सौभाग्यलक्ष्म्या घन
स्निग्ध श्याममपातयामिवधिकश्लाघ्यं मुहुः पातु वः ।
आभीरीस्तनकुम्भकुङ्कुमरसासङ्गेन सौगन्ध्यभाग्
ब्रह्मानन्द महासुधाम्बुधिरहः सन्दोहदोहं महः ॥३२॥

यथा वा—सान्द्रानन्दघनं घनाघनघटास्निग्धज्ज्वलश्यामल
ज्योत्स्नाजालजटालमालयं इवं प्रेम्णां त्रिलोकीश्रियः ।
कृष्णस्याङ्गमनङ्ग सङ्गरलसद् गोपाङ्गनापाङ्गक
व्यासङ्गेन तरङ्गितं मम मनः सङ्गित्वमङ्गीक्रियात् ॥३३॥

ब्रह्मानन्द रूपं महासुधाम्बुधेः सकाश दपि यो रहः सन्दोहो रहस्य प्रेमानन्द समूहं तं पूरयति यन्मा हस्तेजः स्वरूपं वस्तु तद् वो युष्मान् पातु । कथम्भूतम् ? मेघ तुल्य स्निग्ध श्यामं पुनश्चापालयाममत-रसमेक रसमित्यर्थः, पुनश्च त्रिजगतो सौभाग्यसम्पत्तिरूपाया नायिकायाः कस्तूरी तिलकायितम् ॥३२॥

यथा वेति । कन्दर्पयुद्धे लसद् गोपाङ्गनायाः स्निग्धापाङ्ग-व्यसनेन तरङ्गितं रूचलं त्रिलोकाया शोभा रूपस्य श्रीकृष्णस्यसङ्गत्वं मम मनः सङ्गित्वमङ्गीक्रियात् मम मनसि सदास्फुरत्वित्यर्थः । कथम्भूतम् ? सान्द्रानन्दनिविड़ं पुनश्च वर्षुकमेघ घटा तुल्य स्निग्ध श्यामल ज्योत्स्ना समूहे जटाल युक्तमित्यर्थः ॥३३॥

संयुक्त होने पर भी ओजो गुण का व्यञ्जक होता है । क् ख एवं ग घ वर्जित अर्थात् अच्छ, कच्छ इत्यादि विवर्जनीय नहीं है, यह मध्य मौजोव्यञ्जक वर्ण शृङ्गार रस में चारुतर होता है । करुणादि रस से उसकी चारुता किसी के मत में है, और किस के मत में नहीं है । माधुर्य व्यञ्जक वर्ण युक्त होने से वह अति सुन्दर होता है, वह गाढ़ बन्ध होने के कारण आख्यात होता है, एवं उसको पढ़ने से मनभर जाता है ॥३०-३१॥

त्रिजगत् की सौभाग्यलक्ष्मी के कस्तूरीतिलकायित, अम्बुद सदृश स्निग्धश्याम वर्ण, समधिक श्लाघ्य, नित्यनव रसालय वह तेजः पुञ्जमय पदार्थ, जो गोपाङ्गना वृन्द के कुच कुम्भ कुङ्कुम रसके संसर्ग से सौगन्ध्य शाली हो रहे हैं, ब्रह्मानन्द स्वरूप सुधा समुद्र की अतिगूढ़ प्रेमानन्द परम्परा जिनके द्वारा परिपूरित होता है, वह तुम सब की रक्षा सतत करें ॥३२॥

उदाहरणान्तर प्रस्तुत करते हैं—वर्षण शील जलद जाल के स्निग्धोज्ज्वल श्यामल ज्योतिः पुञ्ज के द्वारा जो समुज्ज्वलित है, स्मरसमर शोभित गोपसीमन्तिनी के अपाङ्ग व्यासङ्ग से जो तरङ्गित है, त्रिजगत् के प्रेम निकेतन, सान्द्रानन्द गहन वह श्रीकृष्ण कलेवर निरन्तर मदीय भव चिन्ता जर्जर इस हृदय मन्दिर में परिस्फुरित हो ॥३३॥

प्रसादस्य व्यञ्जिका तु केवलं रचना मता ।
न तत्र वर्ण प्राधान्यं प्रसादो विशदार्थता ॥

सर्वेष्वेव रसेषु प्रसादस्योपयोयुक्तत्वान्न वर्णगतनियमः ॥३४॥

उदाहरणम्—कोपे यथाभिलषितं न तथा प्रसादे,
वक्त्रं विधे सततमातनु मानसस्याः ।
इत्याकलय्य दयितस्य वचोविभङ्गीं
राधा विवर्त्तितविनम्रमुखी बभूव ॥३५॥

यद्यपि गुणपरतन्त्रा, रचनाद्यास्तदपि वक्त्रादेः ।
औचित्यात्तदधीना, भवन्ति तस्माद् गुणोऽपि तदधीनः ॥

तस्माद्धेतोर्वक्त्रादेर्वक्तृवाच्यबोद्धव्यानां तदधीनो वक्त्राद्यधीनः । उद्धते वक्तरि उद्धतमोजः, धीरोदात्ते वक्तरि मध्यममोजः, धीर ललिते वक्तरि माधुर्य्यम्, प्रसादस्तु सर्वत्रिक इति ।३६।

इति श्रीमदलङ्कारकौस्तुभे गुणविवेचनो नाम षष्ठः किरणः ॥६॥

विशदार्थ ताम्न कष्टं विना अर्थबोधकता, प्रसाद स्तस्य व्यञ्जिका रचना एव ।३४।

मान जन्य कोपे यथा तव वक्त्र मूर्ति ललितम्, तथा प्रसादे न । तस्मात् हे विधे ! अस्या मानं सदा विस्तारयेति श्रीकृष्णो वचसो भङ्गीमाकलय्य ॥३५॥

यद्यपीति सूत्रम् औचित्यात्यादिति यथा वक्तुरधीना रचनाद्यास्तद् युक्त पद्येऽपि ओजो माधुर्यादि गुणावयोऽपि भवन्तीत्युचितत्वादित्यर्थ ॥३६॥

इति सुबोधिन्यां षष्ठः किरणः ॥६॥

विशदार्थता को ही प्रसाद कहते हैं । समस्त रसों में उसकी उपयोगिता हेतु उस में वर्णगत विशेष नियम नहीं है । केवल रचना ही उक्त प्रसाद गुण की व्यञ्जिका है ॥३४॥

कोप के समय इनके मुख कमल जिस प्रकार सुललित होता है, प्रसाद समय में भी उस प्रकार सुन्दर नहीं होता है । इस हेतु हे विधे ! मेरा सविनय निवेदन, तुम सतत इन का मान विस्तार करो । दयित के इस प्रकार वचन भङ्गिको को सुनकर रसमयी राधिकाने निज मुख मण्डल को विवर्त्तित एवं विनमित किया ॥३५॥

यद्यपि रचनादि गुण परतन्त्र हैं, तथापि वक्ता,— वाच्य एवं बोद्धव्य के औचित्यानुसार रचना उस के ही अधीन होती है, अतएव गुण भी वक्ता प्रभृति का अधीन होना उचित है ।

जिस प्रकार उद्धत वक्ता स्थल में उद्धत ओजः, धीरोदात्त वक्ता के स्थल में मध्यम, ओजः एवं धीर ललित वक्ता के स्थल में माधुर्य्य ही विहित है । प्रसाद गुण सर्वत्र ही प्रशस्त है ॥३६॥

इति श्रीमदलङ्कार कौस्तुभे श्रीहरिदास शास्त्रिकृतानुवादे
गुण विवेचनो नाम षष्ठः किरणः ॥६॥

सप्तम किरणः

अथ शब्दालङ्कार-निर्णयः

अथ (प्रथम किरणे प्रथम कारिकायाम्) 'उपमितिमुखोऽलङ्कृति गणः' इति यदुक्तं तत्र मुख-शब्दस्य मुख्यार्थत्वादमुख्यस्य प्राप्तौ प्रथमतोऽमुख्यं शब्दालङ्कारमेवाह,—

एकेनार्थेन यत् प्रोक्तमन्येनार्थेन चान्यथा ।
क्रियते श्लेष काकुभ्यां सा वक्रोक्ति र्भवेद् द्विधा
श्लेषोऽपि च भवेद् द्वेधा सभङ्गाभङ्ग भेदतः ।
श्लेषेण काक्वा वा, श्लेषश्च द्विधा,— अभङ्गः, सभङ्गश्चेति ।।१--२।।

अत्राभङ्ग श्लेषेण यथा:—

कस्त्वं श्याम हरिर्बभूव, तदिदं वृन्दावनं निर्भृगं
हंहो नागरि माधवोऽस्म्यसमये वैशाखमासः कुतः ।
मुग्धे विद्धि जनार्दनोऽस्मितदियं योग्या वनेऽवास्थति
बलिंऽहं मधुसूदनोऽस्मि विदितं योग्यो द्विरेफो भवान् ।।३।।

अथ शब्दालङ्कारनिर्णयः

अथालङ्कारो द्विविधः—अर्थालङ्कारः शब्दालङ्कार श्चेति । तत्र पूर्वोक्तोपमितिमुखोऽलङ्कृतिगण इत्यत्रोपमिति प्रभृत्यर्थालङ्कारो मुख्यः, वक्रोक्त्यादि— शब्दालङ्कारो गौणः । अत आदौ गौणालङ्कार-मेवाह— अथेत्यादिना । अभिधा वृत्त्या एकेनार्थेन यद् वस्तु प्रोक्तम् श्लेष काकु रूपाभ्यां व्यञ्जनावृत्तिभ्यां प्रोक्तेनान्येनार्थेन तद् वस्त्वन्यथा क्रियते, तत्रस्थले शब्दनिष्ठवक्रोक्त्यालङ्कारो ज्ञेयः ।।१--२।।

-श्रीराधिका आह—हे श्याम ! त्वं कः ? अभिधावृत्त्या प्रत्युत्तरमाह— हरिरिति । पुनः श्लेषरूप व्यञ्जनावृत्त्या हरि- शब्दस्य सिंह परत्वमभिप्रेत्य श्रीराधिका पूर्वार्थमन्यथा करोति— बभूवेति । जनानर्दयतीति श्लेषेण जनपीड़कः, अतो वनेऽवस्थिति स्तव योग्यैव । द्विरेफो भ्रमरः श्लेषेण, द्वौ रेफौ

उपमा प्रमुख काव्य पुरुष के अलङ्कार समूह स्वरूप हैं ।' प्रथम किरण में इस प्रकार जो कहा गया है, इस में प्रमुख शब्द की मुख्यार्थता हेतु कतिपय अमुख्य अलङ्कार भी हैं, अतः उक्त शब्द इसका भी बोध होता है । अधुना प्रथमतः उक्त अमुख्य शब्दालङ्कार का विवेचन करते हैं ।

अभिधा वृत्ति के द्वारा एकार्थ में जो वस्तु उक्त होती है, श्लेष एवं काकु के द्वारा यदि तदितर अन्य वस्तु प्रतीत होती है । तो श्लेष मूला एवं काकु मूला--से द्विविध वक्रोक्ति होती है । श्लेष भी सभङ्ग एवं अभङ्ग भेद से द्विविध है ।।१--२।।

उनके मध्य में अभङ्ग श्लेष सम्पादित वक्रोक्ति का उदाहरण— "हे श्याम ! तुम कौन हो !"

सभङ्गो यथा — कान्ते कीर्त्तिरकीर्त्तिरेव वद मे किञ्चिज्जड़ेभ्यः परं
धीरा कापि भवत्यहो कथमहो बुद्धिर्भवेत् पूर्णिमा ।
का मेधा तव भूयसी न मदने त्वय्येव मे धारणं
तन्मा मास्पृश न स्पृशेयमिति स श्रीमान् जितो राधया ॥४॥

काक्वा यथा—न वदसि हरिणापि पृच्छ्यमाना, न बत विलोकयसे विलोक्यमाना ।
निजमभिमतमोह्यतामिदानीं, विधु वदने समय, स नो न भावी ॥

यत्रेति व्युत्पत्त्या त्वं वर्वरोऽपि यो हि गोपालकः, सहि वर्वरो भवतीति प्रसिद्धे. ॥३॥

'हे कान्ते' श्रीकृष्णेन सम्बोधिता मानिनी 'अहं ते न कान्ता भवामि' इत्यर्थं व्यञ्जयन्ती 'का अन्ते नाशे सति तिष्ठति' इति प्रश्नोस्योत्तरमाह— कीर्त्तिरकीर्त्तिरेव. मृतस्य जनस्य कीरर्य कीर्त्ती एव तिष्ठतः, नान्यत् किञ्चिदित्यर्थः, 'किञ्चिन्मे वद' इत्युक्ता सा 'त्वया सह सम्बन्ध एव मम नास्ति, अतएव किं वक्ष्यामि' इतीममर्थं व्यञ्जयन्ती चिद्वस्तु किमिति प्रश्नस्योत्तरमाह—जड़ेभ्यः परम्. जड़भिन्नमित्यर्थः । 'धी—बुद्धिः कथं राका पूर्णिमा भवेत्, का मेधा बुद्धिस्तव' इत्युक्ते: 'कामे कन्दर्पे मम धा धारणमित्युच्यते चेत् मम कन्दर्पे धारणं नास्ति, किन्तु त्वय्येव' इति प्रश्नस्योत्तरं लब्ध्वा यत् किञ्चित् सरसतायां तत्तस्मात् 'मामास्पर्श' इति प्रश्ने 'त्वामहं न स्पृशेयम्' इत्युत्तरं कुर्वत्या राधया जित एव ॥४॥

इदानीं मानस्य दार्ढ्य रूपं निजमभिमतमोह्यतां क्रियतामित्यर्थः । यस्मिन् समये रुङ्कृत मुरली

"सुन्दरि ! "मैं हरि हूँ" "यह वृन्दावन तो मृग शून्य हो गया है, यहाँ हरिकी सम्भावना कहाँ है ?" "अयि नागरि ! मैं माधव हूँ " असमय में माधव वा वैशाख मास की सम्भावना कैसे हो सकती है ?" "मुग्धे ! मैं जनार्दन हूँ " "ऐसा हो सकता है, ऐसा होने पर लोकालय में न रहकर इस वन में रहना ही ठीक है" "बाले ! मैं मधुसूदन हूँ" "उचित है—उपयुक्त द्विरेफ ही आय हैं ॥३॥

सभङ्ग श्लेष के द्वारा प्रकाशित वक्रोक्ति का उदाहरण—

'कान्ते' कह कर श्रीकृष्ण सम्बोधन करने से मानिनी राधिका 'का+अन्ते' अर्थात् अन्त का अवसान में कौन अवशिष्ट रहता है, इस अर्थ को लेकर कही थी—कीर्त्ति एवं अकीर्त्ति उभय ही रहती हैं, उत्तर में श्रीकृष्ण बोले—मेरे सम्बन्ध में किञ्चित् कहो, अन्त में कौन रहता है, इस विषय में मैंने कुछ भी नहीं पूछा । राधिकाने 'किञ्चित्' शब्द का 'किं+चित्' चित् कौन पदार्थ—इस अर्थ को लेकर उत्तर दिया—जड़ भिन्न जो वस्तु वही चित् है ।

श्रीकृष्ण, उनके इस प्रकार कथन वैचित्र्य से चमत्कृत होकर कहे थे—'धीरा कापि भवत्यहो' तुम अति धीरा वा पण्डिता हो । राधा—उक्त 'धीरा कापि' वाक्य का अर्थान्तर को लेकर बोली, धी अर्थात् बुद्धि कैसे राका अर्थात् पूर्णिमा हो सकती है ? श्रीकृष्ण,—पुनर्वार चमत्कृत होकर कहे थे—'का मेधा तव भूयसी' अर्थात् तुम्हारी मेधा कैसी विपुला है ? राधिका उक्त ' का मेधा तव' इत्यादि वाक्य का ही अर्थान्तर करके बोली—काममें मेरी धारणा नहीं है, तुम्हारे में ही मेरी धारणा है । इस प्रकार उत्तर से सन्तुष्ट होकर श्रीकृष्ण कहे थे—"तन्मामास्पृश" अर्थात् तुम मुझको स्पर्श करो । राधा उस वाक्य का ही 'मा' अर्थात् मुझ को स्पर्श न करो । इस प्रकार अर्थ करके बोली, तब तुम को स्पर्श नहीं करूँगी । इस प्रकार 'वाक् वैदग्ध्य से श्रीकृष्ण श्रीराधिका के द्वारा बारम्बार पराजित हो गये ॥४॥

अपितु भाव्येव; यदा तु भविष्यति, तदा वैकल्यञ्च द्रक्ष्याम इति भावः ॥५॥

अनुप्रास्यत इत्यर्थेऽनुप्रासो वर्ण साम्यतः ।

स जातीयं वर्णमनु सजातीयवर्णान्तरं प्रकर्षेणास्यत इति व्युत्पत्तिः ।६।

स च द्वेधा छेकवृत्तिभेदात्,

छेकानुप्रासो वृत्त्यनुप्रासश्चेति स द्वेधा ॥७॥

छेकः सकृत्तयां ।

एक वारानुन्यासेन छेकः स्यात् ॥८॥

यथा—धाम श्यामिदं श्रीदं जगतोऽविरतोदयम् ।

ध्येयं गेयञ्च सर्वेषां दृशोः प्रेम यशोमयम् ॥

अत्र मकारादीनां सकृदनुन्यासश्च ॥९॥

माधुर्य्य व्यञ्जकत्वेन स एव ह्युपनागरः ॥

स एव वर्ण विन्यासः ॥१०॥

ध्वनि भविष्यति, स समयो नोऽस्माकं न भावी ? अपितु भविष्यत्येव । तदा स्वयमेव मानं विहाय व्याकुला भूत्वा तन्निकटे गमिष्यसीत्यपि तव वैकल्यं द्रक्ष्यामः ॥५॥

अनुप्रास रूप शब्दालङ्कार माह—अन्विति । अनु पश्चात् प्रास्यते प्रकर्षेणास्यते क्षिप्यते इति व्युत्पत्त्या यत्र सजातीय वर्णस्य पश्चात् सजातीय वर्ण प्रक्षेप स्तत्रानुप्रासोऽलङ्कारो ज्ञेयः । सकृत्तया सकृत्तेन । तथा च यत्र सजातीय वर्ण द्वयस्य सकृत् प्रयोगः, तत्र छेकानुप्रासो ज्ञेयः ॥६-८॥

इदं श्यामं धाम श्रीकृष्णाख्यो देहो जगतः श्रीदं शोभादायकमित्यर्थः, सर्वेषां दृशोः प्रेम प्रेमास्पदमित्यर्थः । यशोमयं—यशः स्वरूपम् । आधिक्य विवक्षया धर्मनिर्देशः । अयं साक्षात् पाण्डित्यमितिवत् । अत्र मकार द्वयोर्यकार द्वयोश्च सकृदेव पाठः ॥९॥

काकु के द्वारा प्रकाशित अर्थ का उदाहरण—

सखी वृन्दा बोली थीं, राधे ! श्रीहरि जिज्ञासा करने पर भी कुछ भी नहीं कहती हो, कृष्ण--निरीक्षण करने पर भी एकवार दृष्टि पात नहीं करती हो, इस विषय में हम सब क्या कहें। अपना अनुभव को कहो, किन्तु हे विधु वदने ! हम सब को वह समय क्या नहीं मिलेगा ? यहाँ काकु लभ्य अर्थ यह है कि हमारा वह समय अवश्य ही आयेगा, एवं उस समय हम सब तुम्हारी विकलता को देखेंगे ॥५॥

अनु पश्चात् प्रास प्रकृष्ट रूप से निक्षेप—स्थापन, अर्थात् जहाँ सजातीय वर्ण के पश्चात् सजातीय वर्णान्तर का स्थापन किया जाता है, इस प्रकार व्युत्पत्ति के द्वारा अनुप्रास पद निष्पन्न हुआ है। छेकानुप्रास एवं वृत्त्यनुप्रास भेद से अनुप्रासालङ्कार द्विविध हैं। उक्त रीति से एकवार मात्र विन्यास होने पर उसको छेकानुप्रास कहते हैं ॥६-८॥

उदाहरण—त्रिभुवन को सौन्दर्य्य सम्पादक सतत समुदित यह श्यामधाम ध्येय, गेय, यशोमय एवं निखिल नेत्र का प्रेम निलय है। यहाँ मकार द्वय एवं यकार द्वय का एकवार ही पाठ हुआ है ॥९॥

यथा—अनङ्ग भङ्गलारम्भे सम्भेदः स्वेद कम्पयोः ।
शङ्के पङ्केरुहदृशो न रस्यानन्दमत्तता ॥११॥
एकस्यात्यथवाऽनेकस्याम्रेडिततया यदि ।
न्यासः स्याद् वृत्त्यनुप्रासः ॥१२॥
यथा—धामश्यामलमुद्दाम कामकोटि मनोहरम् ।
ध्येयं गेयं समास्थेयं समानेयञ्च मानसे ॥१३॥
अनेकस्य यथा—विविध वधूबधसाधो, विरम रमानाथ नाथ्यतां नाथ ।
कैतव विज्ञ समज्ञां, तव विज्ञातुं न विज्ञाऽहम् ॥१४॥
एष च द्विविधो भवेत् ।
माधुर्य्यौजोऽनुकूलत्वात्, ॥१५-१६॥

छेकानुप्रासस्यैव माधुर्य्य व्यञ्जक--वर्ण घटितत्वेनोपनागर इति संज्ञा भवेति ॥१०॥

श्रीकृष्णेन सह स्वयूथेश्वर्य्याः सम्भोगं गवाक्ष द्वारा पश्यन्ती काचित् सखी अन्यां सखीं प्रत्याह--कमलदृशोऽस्याः सम्भोगस्यारम्भे एव स्वेद कम्पयोः सम्भेद रूपो विघ्नो जातः । अतो विघ्नवशाद् वैपरीत्यादि घटित सम्पूर्ण सम्भोगोऽपि न भविष्यतीति । अतएव या आनन्दस्य मत्तता अतिशयः सा रस्या नेत्यहं शङ्के ॥११॥

एकवर्णस्यानेक वर्णस्य वा आम्रेडिततया द्वि स्त्रिरुक्ततया यदि न्यासः स्यात् । पूर्वोदाहरणे मकार बकारयोः सकृन्निवेशः, अत्रोदाहरणे मकाराणां यकाराणां पुनः पुन रुक्तिरिति ज्ञेयम् ॥१२॥

समास्थेयं सम्यग् विश्वसनीयमित्यर्थः ॥१३॥

काचित् मानिनी प्रार्थनां कुर्वन्तं श्रीकृष्णमाह—विविधेति हे देव मनुष्यादि वधूबधे साधो त्वं विरम । अथानन्तरं न नाथ्यतां न याच्ञा क्रियताम् । हे कैतवविज्ञ ! तव समज्ञां कीर्त्तिं विज्ञातुमहं न विज्ञा ॥१४॥

एष वृत्त्यनुप्रासः ॥१५-१६॥

माधुर्य्य व्यञ्जक वर्णघटित होने से वही उपनागर नाम से अभिहित होता है ॥१०॥

अनङ्ग देव के मङ्गलमय आरम्भ में ही जब स्वेद एवं कम्प का सम्भेद को देख रही हूँ । तब सरोरुहाक्षी की यह आनन्द मत्तता सुन्दर रसावह नहीं होगी, यह प्रतीत होता है ॥११॥

एक वर्ण अथवा अनेक वर्ण का यदि पुनः पुनः विन्यास होता है, तो उसको वृत्त्यनुप्रास कहते हैं ॥१२॥

एक वर्णका उदाहरण—यह श्याम काम, उद्दाम कामकोटि के समान कमनीय एवं हृदय में सतत ध्येय, गेय, समास्थेय एवं समानेय है ॥१३॥

अनेक वर्णों का उदाहरण–तुम विविध वधूओंका बध करने में सुदक्ष हो । हे रमानाथ ! क्यों अनाथ के समान अयथोचित प्रार्थना कर रहे हो, निवृत्त हो जाओ, हे कैतव विज्ञ ! मैं तुम्हारे यश को जानने के निमित्त अभिज्ञा नहीं हूँ ॥१४॥

क्रमेणोदाहरणे—अनङ्ग सङ्गरासङ्गे भङ्गिमेव स सङ्गमः।

सङ्गीतरङ्गी तन्वङ्गी सङ्गी रासङ्गतो हरिः ।।१७।।

उद्दण्डकामकण्डूलबाहुमण्डलचण्डिमा ।

श्रीखण्डपिण्डहिण्डीर पुण्डरीक यशा हरिः ।।१८।।

चकारात् पदावयजोऽपि च।

यथा—उद्दाम माधवी दामकण्ठ उत्कण्ठया हरिः।

राधां नाति दुराराधां ससार रससारवित् ।।१९।।

एवमोजस्यपि 'षष्ठ किरणे २९ श्लोकः' 'ऊर्ध्वोर्ध्व सर्वमूर्ध्नाम्' इत्यादि।

कोमलोलाट इष्यते ।

कोमलवर्णानुप्रासो लाटानुप्रासः ।

उदाहरणम्—(षष्ठ किरणे तृतीयः श्लोकः) 'लीलारस ललिताङ्गी लघु लघु ललनाललाम मौलिमणिः' इत्यादि।

एष कैश्चिच्छिथिल इत्युच्यते ।।२०।।

तात्पर्य्य मात्रभेदे स्याल्लाट इत्युच्यतेऽपरै ।।

रासं गतः स हरिः, कन्दर्पयुद्धा सङ्गे जङ्गमो भङ्गिमा इव। काम कण्डुया विशिष्ट—बाहु मण्डलस्य चण्डिमा यस्य, श्रीखण्डपिण्ड श्चन्दनपिण्डः, हिण्डीरः फेनः, पुण्डरीकः—श्वेतकमलम्, एषामिव श्वेतयशो यस्य ।।१९-२०।।

माधुर्य्य एवं ओजो गुणकी अनुकूलता हेतु भेद के कारण--यह अनुप्रास द्विविध हैं ।।१५--१६।।

प्रथमोक्त का उदाहरण—रास सङ्गत श्रीहरि, कृशाङ्गी वृन्द को सङ्गिनी करके सङ्गीत तरङ्ग में रङ्गमय हुए हैं। प्रतीत होता है, अनङ्ग संग्राम के प्रसङ्ग में भङ्गिमाने ही जैसे जङ्गम मूर्त्ति को धारण किया है ।।१७।।

द्वितीय का उदाहरण—भगवान् वैकुण्ठ नाथ काम कण्डूल उद्दण्ड बाहु मण्डल में प्रचण्ड हुये हैं, तदीय यशः पुञ्ज भी श्रीखण्ड पिण्ड, हिण्डीर (फेन) एवं पुण्डरीक के समान धवलिमा को धारण किया है ।।१८।।

उक्त अनुप्रासः पदावयव घटित भी होता है। उदाहरण—रससारविद् दामोदर उद्दाम माधवी दाम कण्ठ में धारण पूर्वक उत्कण्ठित हृदय में दुराराधा श्रीराधा के अनुसरण किये थे ।।१९।।

ओजो गुण के स्थल में भी इस प्रकार जानना होगा।

उदाहरण—ऊर्ध्वोर्ध्ववर्त्ति जिनके पादपीठ इत्यादि श्लोक है। कोमल वर्णघटित अनुप्रास को लाटानुप्रास कहते हैं। उदाहरण—ललनालल म मौलिमणि स्वरूपा लीला लसल लताङ्गीललितस्मिता श्रीराधा इत्यादि पूर्वोक्त श्लोक है। शिथिल बन्ध हेतु—कतिपय व्यक्ति इस को शिथिल कहते हैं ।।२०।।

शब्दार्थयोरभेदेऽपि तात्पर्य्यमात्रभिन्नत्वेलाटो विदग्धस्तस्य प्रियत्वात् लाटानुप्रास इत्यपरैरुच्यते ॥२१॥

पदस्याप्येषः,

एष लाटानुप्रासः। पदस्यापि, अपि शब्दात् पदांशानां पदाना मपि ॥२२॥

क्रमेणोदाहरणानि—कृष्णत्वेन सखि प्रादुर्भावो मन्ये मनोजनेः।

मनोजनेः पुनरियद् वैदग्धी वैदुषी कुतः ॥२३॥

रत्नानि रत्नाकर एव सन्ति, पुष्पाणि पुष्पाकर एवधत्ते।

गुणो गुणज्ञे लभते प्रकाशं, यशो यशोदा सुत सेवयैव ॥२४॥

पदानां यथा—येषां न वृन्दावन चन्द्रलीला, हृद्यस्ति तेषामपरैर्गुणैः किम्?

येषान्तु वृन्दावन चन्द्र लीला, हृद्यस्ति तेषामपरै र्गुणैः किम्? ॥२५॥

तत्रैव वृत्तावन्यत्र वा पुनः।

वृत्यवृत्योश्च वा नाम्नः सारूप्येस्यादथापरः॥

तत्रैव वा समासे ऽन्यत्र वा ऽसमासे, समासासमासयो र्वा, नाम्न एव, नतु पदस्य, सारूप्य सत्यपरो लाटानुप्रासः ॥२६॥

एष लकारघटितानुप्रासः। लकार बाहुल्येन शिथिल बन्धाच्छिथिल उच्यते। इतीदं पद्यं पूर्व्वमेवावरत्वेनोक्तम्। तस्य लाटस्यास्य पदानामनेकेषामपि ॥२१-२२॥

मनोजनेः कन्दर्पस्य कृष्णत्वेन प्रादुर्भावोऽहं मन्ये। हे सखि! कन्दर्पस्यापि पुनः कृष्णस्येव इयद् वैदग्धीनां वैदुषी पाण्डित्यं कुतः? अत्रैक पदस्यानुप्रासः। अस्यैव भिन्नार्थत्वे यमको भवतीति ज्ञेयम् ॥२३॥

पदांशानामुदाहृणमाह—रत्नाकरानीति। रत्नाकरे समुद्रे, पुष्पाकर उपवनादिः ॥२४-२५-२६॥

शब्द एवं अर्थ का भेद विद्यमान न होने पर भी जहाँ केवल तात्पर्य्य का भेद होता है, कोई कोई उस प्रकार कहते हैं। लाट अर्थात् अविदग्ध जन प्रिय होने के कारण—इस का नाम लाटानुप्रास है। एक पद में, पदांश में एवं बहु पद में भी होता है ॥२१--२२॥

क्रमपूर्वक उदाहरण—हे सखि! बोध होता है कि—कृष्ण स्वरूप में ही मनोभवका आविर्भाव हुआ है। अन्यथा मनोभव का इस प्रकार वैदग्धी विज्ञता कैसे सम्भव हो सकता है ॥२३॥

रत्नाकर में ही रत्न विराजित है, पुष्पाकर ही पुष्प समूह को धारण करता है। गुणज्ञ समाज में ही गुण समूह प्रकाशित होते हैं। यशोराशि भी यशोदाकिशोर की सेवा से ही सुलभ होती है ॥२४॥

जिसके हृदय में वृन्दावन चन्द्र की लीला विलास नहीं करती है। उसको अपर गुणों से क्या प्रयोजन है? किन्तु जिसके हृदय में वृन्दावन चन्द्र की लीला विराजित है, उसको अपर गुण से क्या प्रयोजन है? ॥२५॥

समास वा असमास में अथवा समासासमासस्थल में नाम वा प्रातिपदिक की एकरूपता होने पर

उदाहरणम्—हिम किरण किरण मधुरा, राका राकामृतांशुमुख भवतः।
विरहे विरहे मूर्च्छा, सख्यस्तां केवलं दहति ॥२७॥

नेह—सुहिम हिमकर मधुरा मधुराकारा निशा निशातेयं।
तव रुचिर चिरविलम्बे प्रदहति तां कृष्ण कृष्णवर्त्मेव ॥

इदन्तु यमकान्तर्गतमेव, भिन्नभिन्नार्थकत्वात्। तदेवं वर्णितश्छेक वृत्तिपदावयवैक-पदनाम सारूप्यात् षट् प्रकारोऽनुप्रासः ॥२८॥

यमकं त्वर्थभिन्नानां पदादीनां समाकृतिः।
क्वचिन्निरर्थकानाञ्च सार्थानर्थवतां क्वचित् ॥

परस्परमर्थगत भेदवतां पदादीनां नाम—पद—पदावयव वाक्यानां समा आकृतिः सारूप्य यमकम् ॥२९॥

एतच्च पादजत्वेन नवधा,

एतत् यमकम् ॥३०॥

नाम्नः प्रातिपदिकस्य समान रूपत्वेन तुनामविभक्ति घटित पदस्य। राकामृतांशुः पूर्णिमा चन्द्रः, तत्तुल्यमुखेति श्रीकृष्ण सम्बोधनम्। तव विरहे मूर्च्छारूप सख्याश्च विरहे राका पूर्णिमा तां दहति ॥२७॥

राकाकथम्भूता? हिमकिरणश्चन्द्रस्य किरणेन मधुरा इयं मधुराकाया वसन्त कालीन पूर्णिमाया निशा निशाता विरहिण्या दुःखदायकत्वेन तीक्ष्णा हे कृष्ण! हे रुचिर कृष्ण वर्त्मा अग्निरिव तां दहति। निशाकथम्भूता? सुमहिम चन्द्रेण मधुरा मधुरेत्यादि पदानां भिन्नाभिन्नार्थत्वाविदमुदाहरणं यमकान्तर्गतमिति ज्ञेयम्। अतोऽत्रोदाहरणे यमकत्वमनुप्रासत्वमुभयमपि वर्त्तते। एवमिति छेकानुप्रास एकः, वृत्यनुप्रासो द्वितीयः, लाटानुप्रासश्चतुर्विधः। एवं क्रमेण षट् प्रकारोऽनुप्रासः ॥२८—२९—३०॥

अपर प्रकार लाटानुप्रास होता है ॥२६॥

उदाहरण—हे पूर्णिमा चन्द्र वदन! हिमकर किरण समूह से माधुर्य्यमयी यह पूर्णिमा तुम्हारे विरह में एवं मूर्च्छारूपा सखी के विरह में उस कामिनी को दग्ध कर रही है ॥२७॥

सु महिम—हिमकर मण्डल में सुमधुरा यह मधुराका निशा निशात होकर तुम्हारे सुचिर विलम्ब हेतु, हे रुचिर—श्रीकृष्ण! कृष्णवर्त्म-अग्नि के समान निरन्तर उसको दग्ध कर रही है।

भिन्न अर्थ होने के कारण यह पद्य यमक का ही अन्तर्गत है, इस प्रकार छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास एवं पदावयव, एकपद, अनेकपद एवं नाम सारूप्य भेद से चतुर्विध लाटानुप्रास, समष्टि में षड् विध अनुप्रास का वर्णन हुआ ॥२८॥

परस्पर अर्थगत भेद विशिष्ट पद, पदावयव एवं वाक्य का समान रूप होने से यमकालङ्कार होता है। क्वचित् निरर्थक पदादि, कहीं तो कियदंश में निरर्थक एवं कियदंश में सार्थक, उक्त पदादि स्थल में भी यमक होता है ॥२९॥

यह यमक पाद घटित होकर नवधा होते हैं ॥३०॥

प्रथमस्य तु ।
द्वितीयेन तृतीयेन चतुर्थेनेति तत्त्रिधा ॥३१॥
द्वितीयस्तु तृतीयेन चतुर्थेनेति च द्विधा ।
तृतीयस्तु चतुर्थेनेत्येक एवेति षड्भिदः ॥३२॥
प्रथमस्त्रिष्वपीत्यन्त इति सप्त द्वयं पुनः ।
प्रथमस्तु चतुर्थेन द्वितीयस्तत् परेण च ।
प्रथमस्तु द्वितीयेन तृतीयस्तत् परेण च ॥

प्रथमो द्वितीयेन तृतीयेन चतुर्थेनेति त्रयोभेदाः । द्वितीयस्तृतीनयेचतुर्थेनेति च द्वौ । तृतीयश्चतुर्थेनेत्येकः । प्रथमस्त्रिष्वपीत्येकः । प्रथमश्चतुर्थेन द्वितीयस्तृतीयेनेत्येकः । प्रथमो द्वितीयेन तृतीयश्चतुर्थेनेत्येकः—एवं नव ॥३३॥

अर्ध श्लोके श्लोकयोश्चावृत्त्या द्वेधा भवेदथ ।
तेनैकादश भेदाः स्युः पद भागे च पूर्ववत् ।
नवधेति भिदा ज्ञेया विंशतिर्यमकोद्भवाः ॥

पादजत्वमेवाह—प्रथमस्येति । प्रथम चरणस्य द्वितीय चरणेन सह समानरूपत्वे एको यमकः, त्रिविधोऽपिभेदोज्ञेयः । प्रथम चरणं त्रिष्वपि चरणेषु वर्त्तते इत्येको भेदः । तेन सप्तभेदा भवन्ति । पुन भेदद्वयं भवति । तदेवाह—प्रथम चरणश्चतुर्थ चरणेन सह, द्वितीय चरणस्तृतीय चरणेन सहैकस्मिन्नेव पद्ये समानश्चेदेको भेदः । तथा प्रथम चरणो द्वितीय चरणो द्वितीय चरणेन सह, तृतीय चरणस्तु तत्परेण चरणेन सह, एकस्मिन्नेव पद्ये समानश्चेद् द्वितीयो भेदः, एवञ्च पूर्वैः सह नवधा भेदो भवति । एतत् सूत्रस्य विवरण माह—प्रथमद्वितीयेनेत्यादि ॥३१-३३॥

अर्ध श्लोक श्लोकयोश्चावृत्त्या पादस्य चरणस्यत्रिखण्डत्वे त्रिंशद् भेदा इत्यस्यार्थोऽग्रे उदाहरणे

परस्पर अर्थगत भेद विशिष्ट पद, पदावयव एवं वाक्य के समान रूप होने से यमकालङ्कार होता है । क्वचित् निरर्थक पदादि, कहीं पर कियदंश में निरर्थक—एवं कियदंश में सार्थक, उक्त पदादि स्थल में भी यमक होता है ।

यह यमक पाद घटित होकर नवधा होते हैं । प्रथम पाद का द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ—इन तीनों के सहित समानता के कारण त्रिविध भेद होते हैं । द्वितीय पाद का तृतीय एवं चतुर्थ—इन दो पाद के सहित द्विभेद होते हैं । तृतीय पाद का केवल चतुर्थ पाद के सहित होकर एक भेद होता है । इस प्रकार षड् भेद होते हैं ।

प्रथम चरण की समानता चरण त्रय में वर्त्तमान होने पर उस में एक रूप भेद होकर सप्तविध भेद सिद्ध होता है । प्रथम चरण--चतुर्थ चरण के सहित एवं द्वितीय चरण तृतीय चरण के सहित समान होने से एक भेद होता है । प्रथम चरण—द्वितीय चरण के सहित एवं तृतीय चरण चतुर्थ चरण के सहित समान होने से एकभेद होता है । इस रीति से नव भेद होते हैं ॥३१-३३॥

अर्ध श्लोक वृत्त्या च पुनरेकादश । पुन पादस्यभागे च यद्‌यमकं तत् पूर्ववन्नवधेति विंशतिर्भेदाः ॥३४॥

पादस्य तु त्रिखण्डत्वे त्रिंशद् भेदाः प्रकीर्त्तिताः ।
चतुः खण्डत्वे पुनः श्चत्वारिंशद् भवेद् भिदाः ॥''३५॥

दिङ्‌मात्र मुदाह्रियते—

सुरतरुरेष नतानां, सुरतरुचि र्गोपतरुणीनाम् ।
त्रिभुवनजनकमनीयो, जयतादाभीरराज--युवराजः ॥३६॥

सुरसार्थ भूषित पदै र्ब्रह्मादिभिरधिकभक्तिसन्नम्रैः ।
सुरसार्थं भूषित पदैः स्तवैः स्तुतः केशिहा जयति ॥३७॥

मन्मथनमदन्तरया, कुटिलोऽञ्जन कालकूटाक्तः ।
प्रियसख कटाक्षविशिखो मन्मथनमदं स राधया ससृजे ॥३८॥

जयति व्रजपतितनयो, नमदनमत्तुल्यकारुण्यः ।
न मदनमत्तुल्यहृता, काऽपि विना येन मां तुदसि ॥३९॥

व्यक्ति भविष्यति ॥३४--३५॥

नतानां भक्तानां सुरतरुः कल्पवृक्षः, गोपरमणीनां सुरते रुचिर्यस्तस्तथाभूतः ॥३६॥

सुराणां सार्थः समूहस्तेन भूषितौ पादौ येषां तं र्ब्रह्मादिभिः सुरसो योऽर्थस्तेन भूषितानि पादानि येषु तैः स्तवैः स्तुतः श्रीकृष्णः ॥३७॥

मन्मथेन कामेनाभिलाषेण नमत् नम्रम न्तरं यस्याः, तया राधया मम मथने मदो गर्वो यतस्तद् यथास्यात्तथा, स कटाक्ष रूपो बाणः ससृजे ॥३८॥

नमति नम्रे अनमति अनम्रे तुल्ये कारुण्यं यस्य सः । यद्वा, नमति नम्रे, अनमत् सुदृढ़ं तुल्यमेकरसं

अर्ध श्लोक की आवृत्ति एवं सम्पूर्ण श्लोक की आवृत्ति द्वारा द्विधा भिन्न होकर एकादश प्रकार होते हैं। एवं पदांश में पूर्वोल्लिखित नव भेद सिद्ध होते है, अतः विंशति प्रकार भेद होते हैं । समष्टि में विंशति प्रकार यमक के भेद होते हैं ॥३४॥

पाद की त्रिखण्डता स्थल में त्रिंशत् भेद एवं चतुः खण्डता स्थलमें चत्वारिंशत् भेद कीर्त्तित हुये हैं ।३५।

मूल श्लोक में प्रदत्त उदाहरण—समूह का उल्लेख करते हैं—प्रणत जन सुरतरुस्वरूप, गोपतरुणी-सुरत रुचिशाली, त्रिभुवन जन--कमनीय, आभीर राज युवराज की जय हो ॥३६॥

सुरसार्थ भूषित पद, भक्तिभरावनत पद्मासनादि कर्त्तृक सुरसार्थभूषित पद स्तव समूह से जो सतत स्तुत होते रहते हैं, इस प्रकार केशिनिसूदन की जय हो ॥३७॥

हे सखे ! मन्मथ—नमदन्तःकरणा श्रीराधा कर्त्तृक मन्मथन मद के सहित अञ्जन रूप कालकूट दिग्ध—अतिकुटिल--कटाक्षवाण मेरे प्रति विमुक्त हुआ है ॥३८॥

राधासुकुमार तनु—र्मदनबधानादुपैष्यति ग्लानिम् ।
बद्धोऽयमञ्जलिरिते, मदनबधार्थं न तां वितुदेः ॥४०॥
व्रजपतिनन्दन नन्दय, नन्दय वृषभानुनन्दिनी हृदयम् ।
मदन मदनोज्ज्वलमतुलं, मदमदौजः प्रसादमाधुर्य्यम् ॥४१॥
काननं जयति यत्र सदा सत्, कानं नन्दति यदेत्य सुखश्रीः ।
का न नन्दतनयस्य मनोज्ञा, काननं धयति वा न हि तस्य ॥४२॥

यथा वा—नवपयोधर कान्त विरम्यतां, न वप यौधरसं हृदि मान्मथम् ।
नवपयोधरकान्त स वै भवान्, नवपयोऽधरपः प्रतियोषिताम् ॥४३॥

कारुण्य यस्य सः । येन व्रजपति तनयेन विना हे मदन ! त्वं मां तुदसि, अतएव मत्तुल्या हता दुःखिता कापि न ॥३९॥

ममानवधानात् हे मदन ! तां बधार्थं त्वं न वितुदेः ॥४०॥

नन्दय नन्दयेति वीप्सा, मदन मत्ततयोज्ज्वलं मदेन गर्व्वेण नमति, भावाधिक्यात् गुणानि ओजः प्रसाद माधुर्य्याणि यत्र तद् हृदयम्, ओजो बलम् ॥४१॥

काननं वृन्दावनं जयति, सदा सद् वर्त्तमानं नित्यमित्यर्थः । यत् काननमेत्य प्राप्य का सुख श्रीर्न नन्दति, न वर्धते, अपि तु वर्धत एव सर्व्वैव सुखसम्पत्तिः । का वा गोपी नन्दतनयस्य न मनोज्ञा, अपितु सर्व्वैव । न केवलं मनोज्ञा, अपितु का वा नन्दतनयस्याननं न धयति, अपि तु सर्व्वैव ॥४२॥

हे नवपयोधर कान्त ! हे नवमेघ श्याम ! मान्मथं योऽधरसं हृदि न वप, न रोपय इत्यर्थः । नवपयोधरा कान्ता यस्य हे तादृश ! नवा नवीनास्तासां प प्राण शोषण, यतः 'पै ओ वै शोषणे' हे सञ्जीवन शोषकेत्यर्थः । यस्त्वं प्रतियोषितां मद्विपक्ष रमणीनामधरपः, अधरं पिबसीति ॥४३॥

व्रजराज कुमार की जय हो, विनत एवं उद्धत उभय विध जनके प्रति ही आप करुण हैं, मैं उनकी विरह भागिनी हो गई हूँ. मेरे तुल्य हतभागिनी और कौन है ? हे मदन ! तुम भी उपयुक्त अवसर प्राप्त कर मुझ को निपीड़न कर रहे हो ॥३९॥

राधा—अति सुकुमाराङ्गी मेरा अनवधान में ही वह ग्लानि प्राप्त कर रही है, हे मदन ! तुम्हारे समीप में यह अञ्जलि बन्धन कर रहा हूँ । तुम और उसको खरतर शर के प्रहार से बध न करो ॥४०॥

हे व्रजेन्द्र नन्दन ! वृषभानुनन्दिनी के उस मदनमदोज्ज्वल अतुल हृदय है, जहाँ मदाधिक्य से ओजः प्रसाद माधुर्य्य अधरीकृत होता है, उसको तुम अमन्द भावसे आनन्दित करो ॥४१॥

सतत विद्यमान् उस वृन्दावन की जय हो, जिसको प्राप्त करने से समस्त सुख सम्पत्ति सम्वर्द्धित होती हैं, वहाँ कौन गोपाङ्गना नन्दनन्दन को मनोज्ञा नहीं है, किसने वा उनका मुखचन्द्र को चुम्बन नहीं किया है ॥४२॥

उदाहरणान्तर—हे पयोधर कान्त ! तुम्हारी नव पयोधर कान्ता सुखी रहे, मेरे हृदय में योधरस आरोपण की आवश्यकता नहीं है, विरत होओ । तुम मादृश नवीना के प्राण शोषण में एवं विपक्षरमणी

कामन्दधाना हृदयेऽनुरागं, स्मरालसाङ्गी विदुनोति बाला।

स्मरालसाङ्गी कुरुतां मुकुन्द, कामन्दधाना न भवेद् विना त्वाम् ॥४४॥

समस्त कल्याण गुणैक वारिधे, समस्तवास्ते कतमस्त्रिलोक्याम् ।

नमामि मे माधव संप्रसीद, न मानिने घ्नन्तु दुरन्त तापाः ॥४५॥

यथा वा—सदानन्दमयं वपुस्ते, सदा सदासीनिकरः पुरश्च।

महो महोद्दामरसस्तथायं, महो महो भूरि तवैव कृष्णः ॥

पादजं नवधा यमकं दर्शितम् ॥४६॥

अथ पादभागजानि दर्श्यन्ते—

कलहं कलहंसानां कलहं क—लं—हंसकाः ।

अभ्यस्यन्तीव गोपीनां चरणाम्भोजवासिनः ॥४७॥

कामं यथेष्टं हृदयेऽनुरागं दधाना बाला दुनोति। अतस्तां स्मर, अङ्गी कुरु च। हे अलस ! त्वां विना का मन्दधाना न भवेत्, अपि तु सर्वैव, धानं धारणम्, मन्दं धारणं यस्याः, दुःस्थितेत्यर्थः ॥४४॥

त्रिलोक्यां तव समः कतम आस्ते, मे मह्यं प्रसीद, इमे दुरन्ततापा मां न घ्नन्तु, न खण्डयन्तु ॥४५॥

हे कृष्ण ! तव निश्चितमाश्चर्यं भूरि प्रचुरं महस्तेजोऽस्ति न केवलमिदमेव, अपितु तथायं मह उत्सव एवं महानुद्दामरसश्चै पुनरपि तव दासदासी निकरैः सह वर्त्तमानं पुरमस्ति, सदा कालत्रयेऽपि चिदानन्दमयं नित्यानन्दस्वरूपं वपुर्विग्रहं इत्यस्ति, अतस्तव समः कुत्रापि नास्तीत्यर्थः ॥४६॥

गोपीनां कलहंसकाः कं सुखं लान्तीति तथाभूता हंसकाः पादकटकाः कलहंसानां कादम्बानां कलहमभ्यस्यन्तीव, ते यथा परस्परं कलहायन्ते, तथा कलहायन्ते इव । कीदृशम् ? कलमव्यक्तमधुरध्वनिं जिहीते प्राप्नोतीति तथा तद्धन्तीति वा, हन्तारमित्यर्थः ॥३७॥

के अधर पान में विशेष दक्ष हो, यह मैं जान गई हूँ ॥४३॥

स्मरालसाङ्गी श्रीराधा हृदये प्रचुर अनुराग धारण कर क्लेश भोग कर रही है। हे अलस शिरोमणे मुकुन्द ! तुम उसका स्मरण कर ग्रहण करो, तुम को प्राप्त न कर कौन कामिनी दुःस्थिता नहीं होती है ? ॥४४॥

हे माधव ! तुम समस्त कल्याण गुणों का एक समुद्र स्वरूप हो त्रिलोकी के मध्य में समान कौन है, तुमको मैं नमस्कार करता हूँ। तुम मेरे प्रति प्रसन्न हो, ये दुरन्त ताप समूह जैसे मुझको व्यथा प्रदान करें ॥४५॥

हे कृष्ण ! तुम्हारा शरीर सदा सदानन्दमय है, पुर भी सदास दासी निकर—अर्थात् दास दासी निकर के सहित वर्त्तमान है। उत्सव भी अति उद्दाम रसमय, एवं तेज भी अति प्रचुर है। रस का अनुभव मैं कर रही हूँ।

पद घटित नवधा यमक का प्रदर्शन हुआ ॥४६॥

पाद भाग घटित यमक का प्रदर्शन कर रहे हैं—गोपी वृन्दों के चरण कमल व्यापी कलध्वनिमय

मधुरा मधुराकोयां रजनी सा यदजनि ।
मधु-राम-धुरा कासां तदा नासीद्धरेः पुरः ॥४८॥
साध्वसाध्वस्य दत्ताङ्घ्रि गुरूणामपि सन्निधौ
कृष्णं वीक्ष्योत्सुका सासीत् साध्वसाध्वविचारतः ॥४९॥
काञ्चीदाम्नो रवस्तस्या रणतोऽरणतोऽतनोः ।
रण-तोरणतो भूरिश्रिणः कृष्ण-मनोऽहरत् ॥५०॥
दृशोरगोचरेणैव हरिणा हरिणाक्षिते । कपोलभित्तिर्मानेभहरिणा हरिणाकृतिः ॥५१॥
अगोचरे सति हरौ वहत्येष मनो मम । मदनो-मदनोदेनाऽमदनोमदनोजसा ॥५२॥
सदासि दासीनिकरैः परिच्छदैः, सदा सदानन्दविलासिविग्रहः ।

मधुराकायाश्चैत्र पौर्णमास्या मधुरा रात्रिर्यदा अजनि, तदा हरेरग्रे कासां पीयमाने मधुभी रामधुरा रमणातिशयो नासीत् ॥४८॥

साध्वसाध्वनि साध्वस पथे न कदापि दत्तो अङ्घ्री यया सा गुरूणामप्यग्रे उत्सुका आसीत् । साधु च असाधु च तयोरविचारतः ॥४९॥

काञ्चीदाम्नः कथम्भूतस्य ? अरणतो गमनतो हेतो रणतः शब्दायमानस्य अतनोः कन्दर्पस्य रणतो-रणतोरण सम्बन्धिन स्तोरणाद् वन्दन मालायाः सकाशादपि भूरिश्रिणः भूयसी श्रीर्यस्य तस्य काञ्चीदाम्नो रवः श्रीकृष्णस्य मनोऽहरत् । न पुंसकाद् ह्रस्वोनुभागमश्च ॥५०॥

दृशोरगोचरत्वेनैव सता हरिणा श्रीकृष्णेन तव कपोलभित्ति हरिणाकृतिः पाण्डुच्छविरभूत् । कीदृशेन ? तव मान एव इभो हस्ती तस्य हरिणा तस्य हरिणा सिंहेन ॥५१॥

मदनो मनोवहति । केन ? मदनोदेन मत्तता खण्डनेन कीदृशः ? मदनोजसा मममाबल्येण (दुर्बलत्वेन) अमदनोऽहर्षणः मदिहर्षे ॥५२॥

हंसक (नूपुर)-समूह-कलहंसकुल-के-परस्पर-कलह-जैसे-अभ्यास-कर रहे-हैं ॥४७॥

मधु राकाकी मधुरा रजनीके समागममें हरिके सम्मुख भागमें कौन रमणी मधुपानसे अतिरमणीया नहीं हुई ? ॥४८॥

श्रीकृष्ण—दृष्टि गोचर होने से साहसवती श्रीमती राधिका साधु असाधु विचार रहिता होकर गुरु जन वृन्दके सन्निधान में ही निरतिशय उत्कण्ठिता हो गई ॥४९॥

गमन के समय में मधुर ध्वनि कारी अतनु का रण तोरण से भी प्रचुर कान्तिधारी तदीय काञ्ची कलाप की कलध्वनि ने श्रीहरि के अन्तः करण को हरण किया ॥५०॥

अयि हरिणाक्षि ! मानमतङ्गज के केशरि स्वरूप वह श्रीहरि नयन युगल के अगोचरीभूत होने पर भी तुम्हारी यह कपोलभित्ति हरिणकान्ति से मण्डित हो गई ॥५१॥

श्रीकृष्ण—दृष्टि के बहिर्भूत होने से मेरी विकलता को देखकर मदन मदीय विनोदन कार्य्य में तत्पर नहीं होता है, किन्तु प्रभूत मत्तता को खण्डत पूर्वक चित्त को दग्ध करने में प्रवृत्त होता है ॥५२॥

स दासदाक्षिण्य कृपादिभिर्गुणैः, सदासदारो विललास माधवः ॥५३॥
केशिनाकेशि नाथेन, कामिनाऽकामि नारदः ।
कामिना कामि ना वा श्रीः, केशिना केशिनाशिना ॥५४॥
रत्याऽविरत्या विवृता नवीनैः, रत्याविरत्यैविमनोजरागैः ।
रासेऽचरा सेचनकैः विलासैः, रासे च रासे चतुरा मृगाक्षी ॥५५॥
एवमष्टादश— मनोजहार प्रतिमा समाना, सरस्वती ते मदसुस्वरूपे ।
मनोजहार प्रति मा समाना, सरस्वती ते मदसु–स्वरूपे ॥५६॥

परिच्छदैः सद सदासन् आनन्द मयो विलासो विग्रहश्च यस्य सः, स माधवः, दा दानम्, आसो दीप्तिर्दाक्षिण्यञ्च तदादिभिर्गुणैः सन् आस् उपवेशो येषां ते दारा यस्य सः ॥५३॥

केशिनाशिना कृष्णेन का वा श्रीर्ना आमि न प्रापि, अपितु सर्वैवेत्यर्थः । अम् गतौ । अमा नो ना प्रतिषेधे' कामिना अभिलाषवता केशिना प्रकृष्ट केशेन, को ब्रह्मा तस्य ईश्वरेण वा, केशि कस्य जलस्य इट् ईश्वरो वरुणस्तस्मिन्, तथा नाकेशि इन्द्रे च न आदरोऽकामि, न चक्रे—इत्यर्थः । कुतः ? नाथेन सर्वेश्वरेण, कं सुखममितुं प्राप्तुं शीलं यस्य तेन, पूर्णसुखेनेत्यर्थः ॥५४॥

सा मृगाक्षी विलासैः कर्त्तृभिः, आसे "अस दीप्त्याधानयोः" आदधे इत्यर्थः । कीदृशैः ? आसेचनकैः "तदासेचनकं तृप्ते र्नास्त्यन्तो यस्य दर्शनात् ।" स्वा कीदृशी ? रासे अचला अचञ्चला,—रासे रस समूहे च चतुरा । अविरत्या—विरति रहितया रत्या प्रीत्या विवृता विशेषेण वृता । तथैव अत्याविः, अतिप्रकटं यथा स्यात्तथा नवीनैर्मनोजरागैः कर्त्तृभिः, अत्याविः अतिशयेन ररक्षे ॥५५॥

हे मदसुस्वरूपे मत् प्राण तुल्ये ते तव सरस्वती वाणी मे मनोजहार । कीदशी ? मामां प्रतिसमाना-सादरा, पुनः-कीदृशी ? मनोजस्य हार प्रतिमा मुक्ताहार तुल्या हृदय धारणार्हेत्यर्थः । समाना अवक्रा मदस्य मत्तताया यत् सुष्ठु स्वरूपं तस्मिन् सरस्वति समुद्रे इते सङ्गते, हे मूर्त्त मत्तता समुद्र प्रविष्टे–इत्यर्थः ॥५६॥

स दास दासी निकर समग्र परिच्छेद से परिवेष्टित, सदा सदानन्द विलासमय विग्रह दया दान दीप्ति दाक्षिण्यादि गुण गण विभूषित, सदार वह दामोदर कैसे सुन्दर विराजित हैं ॥५३॥

केशी— क–ब्रह्मा एवं ईश महादेव जहाँ निज अंश में विराजित हैं, एवं ना केशि—स्वर्गाधिपति–नाथ, का भी, वह कृष्ण आदर नहीं चाहते हैं, गोकुल-कामिनी कामुक, केशिनाशी, सुकेशधारी वह केशव कौन सम्पद के अधिकारी नहीं हैं ? अर्थात् पूर्ण हैं ॥५४॥

अविरत इति भाव विवृता, रस समूहे चतुरा, रासे अचरा—अर्थात् अचञ्चला,—वह मृगाक्षी नवीन मनोजराग कर्त्तृक अति प्रकट रूपमें अनुक्षण रक्षित हुई थी, एवं नयन युगल के आसेचनक विलास राशि में विशेष दीप्त हुई थी ॥५५॥

इस प्रकार अष्टादश भेद होते हैं— अयि मदसुख स्वरूपे ! मत् प्राण तुल्ये ! तुम मदसुस्वरूप अर्थात् साक्षात् मत्तनारूप समुद्र में प्रविष्ट हो तुम्हारी तुलना नहीं है, मनोज की मुक्ताहार सदृशी, अथच मत् प्रति

अर्द्धावृत्तिः ।

न वंशी कर मासाद्य यमानुजानिभङ्गतः ।
कस्या विशदतां याति मनोमानपरिप्लवम् ॥५७॥
न वंशीकर मासाद्य यमानुजनि भङ्गतः ।
कस्याऽविशदतां याति मनोमान परिप्लवम् ॥५८॥

श्लोकावृत्तिः । अयमेव समुद्गकः ।

एवं विंशतिः—आद्यन्तमध्य मेदेनक्रमादथ समुच्चयात् ।
अन्तादि भेदेन पुन र्बहुधायमकक्रिया ॥५९॥

क्रमेणोदाहरणानि, आदियमकं यथा—

कलाकलापेन गरीयसा हरि, र्न दीनदीप्तिः करुणारसाम्बुधिः ।
सुरासुराणां मुकुटाटवीमणिः, सदा सदानन्द चिदात्मको बभौ ॥६०॥

अथ सर्वास्त्राणां वैयर्थ्ये यथा ब्रह्मास्त्र प्रयोगः क्रियते, तथैव मानभङ्गार्थं नानाविधोपायानां वैयर्थ्ये सति श्रीकृष्णेनापि सङ्केत मुरलीवादन क्रियते, मुरली श्रवणमात्रेणापि विगत माना सा प्रहृष्टा बभूवेत्याह नेति । वंश्याः करं कलमासाद्य प्राप्य यम—नियमासनाद्यष्टाङ्ग योगस्य प्रथमो यमः, तस्मात् पश्चात् जनिरुत् पत्तिर्यस्य स नियमस्तस्यभङ्गतः, तथा श्रीकृष्णेन सह मया कदापि सङ्गो न कर्त्तव्य इति यो नियमस्तस्य मुरलीश्रवणेन भङ्गात्मानेन परिप्लवं चञ्चलं कस्या मनोविशदतां नयाति, अपि तु सर्वासामेव ॥५७॥

पुनस्तस्यैव श्लोकस्यार्थान्तरमाह—यमानुजनिर्यमुना पुण्यनदी तस्या भङ्गतस्तरङ्गात् जातो जो नवीनः शीकरो जलकण स्तमासाद्यमानेनाभिमानेनार्थाद् गर्वेण दोषेण वा परिप्लवं कस्य मानोऽविशदतां याति, अपि तु सर्वेषामेव,—यमुनाजल स्पर्शस्य सर्वदोषनाशकत्व प्रसिद्धेरिति भावः ॥५८–५९॥

आदियमकम्, अन्तयमकम् मध्ययमकं, आद्यन्त मध्ययमकम्, अन्तादि यमकमिति पञ्चभेदाः ॥५९॥

कलानां वैदग्धीनां गरीयसा कलापेन समूहेन न दीना अपि तु सर्वोत्कृष्टा दीप्तिर्यस्य स हरिः

सादरा सरला वाणी मदीय चित्त को अपहरण किया है ॥५६॥

अर्द्धावृत्ति का उदाहरण—वंशी की कल ध्वनि श्रवण कर यम एवं नियम भङ्ग होने से कौन कामिनी का मान परिप्लव को प्राप्त नहीं करता है ? एवं यमुना तरङ्ग के नवशीकर संस्पर्श से किस का मान परिप्लव चित्त—अविषाद भाव को प्राप्त नहीं करता है ॥५७॥

एवं यमुना तरङ्ग के नवीन शीकर संस्पर्श से किसका मान परिप्लव चित्त अविशदभाव को प्राप्त नहीं करता है ? ॥५८॥

इसका नाम—श्लोकावृत्ति है । यही समुद्गक नाम से अभिहित होता है ॥५८॥

इस प्रकार से यमके विंशति प्रकार भेद होते हैं । आदियमक, मध्ययमक, अन्तयमक, आद्यन्त यमक एवं अन्तादि यमकभेद से यमक अनेक प्रकार होते हैं ॥५९॥

अन्तयमकं यथा— रोषेण शश्वन्न हि नागरी गरीयसा कठोरत्वमुपेत्य भात्यभा ।

विहाय मानं हरिमानयाऽतया, धिया हि सर्वं भवतीहितं हितम् ।।६१।।

मध्य यमकं यथा— मदन सङ्गरसङ्गरसाकुला, भवविहारिणि हारिणि माधवे ।

कुसुम राजि विराजित भूषणा मधुपराग पराग पराचिता ।।६२।।

आद्यन्त मध्य यमकं यथा—

मासो मासो मरीच्यः समधुर-मधुर प्रेयसी प्रेय-सीमा ।

वृन्दा वृन्दावन श्रीरुपवन पवनभ्रान्तिरभ्रान्ति रम्या ।

सच्चिदानन्द स्वरूपः सदाबभौ ।।६०।।

गरीयसा शश्वद्रोषेण कठोरत्वमुपेत्य क्वापि नागरी नहि भाति । यतोऽभा,—विगत कान्ति का, तस्मान्मानं विहाय स्वनिकटं हरिमानय । अनयाधिया तव सर्वं हितमीहितम् वाञ्छितं भवति । वर्तमान सामीप्ये वर्त्तमानप्रयोगः ।।६१।।

हे विहारिणि ! सखो हारिणि माधवे सति मदन युद्धस्य सङ्गेयो रसस्तेनाकुला भव । कथम्भूता ? कुसुम श्रेणिभिर्विराजितं भूषणं यस्यास्तथा भूता सती । तथा मधुपानां सांगोरञ्जनं येभ्यस्तथाभूतैः सुगन्ध परागैः पराचिता व्याप्तासती च ।।६२।।

उद्दीपन विभावमाह - मास इति । मासश्चन्द्रस्य मरीच्यः किरणाः, मां शोभामस्यन्तीति मासः शोभा निक्षेपिका इत्यर्थः । "मासश्चन्द्रमासयोः पुमान्" इति मेदिनी । तथा वृन्दावनस्य श्रीः शोभा कीदृशी ? समधुरा शृङ्गार रस सहिता । एवं मधुराश्च याः प्रेयस्य स्ताभिः प्रेयं पूरयितुमर्हं सीमावृन्दं यस्याः सा । तथा च वृन्दावनीय शोभायाः सीमा-वृन्दोऽवधि समूहः प्रेयसीनिः सीहित्येनैवेति ज्ञेयम् । तथोप वनेषु पवनस्य भ्रान्ति भ्रमणम् । सा कीदृशी ? अभ्रान्ति रम्या अभ्रान्ति वृन्दावनीयोपवने सम मन्द गमनमेवोचितमिति या सावधानता तया रम्या ।

आदि यमक का उदाहरण—गरीयान् कला कलाप से अदीन दीप्ति शाली, सुरासुर मुकुट मण्डलमणि, सदासदानन्द चिदात्मा, करुणावरुणालय अर्थात् दया का समुद्र श्रीहरि कितनी मनोहर शोभासे शोभित हुये थे ।।६०।।

अन्त यमक का उदाहरण— वह नागरी गरीयान् रोष हेतु कठोरता को प्राप्त कर परिम्लान वलान्ति हो गई थी, पूर्ववत् और शोभित नहीं हुई । अधुना मान परिहार पूर्वक "हरिको ले आओ" इस प्रकार मति समुदित होने के कारण समस्त समीहित हितकर हो रहे थे ।।६१।।

मध्य-यमक का दृष्टान्त—राधे ! तुम कुसुम राजि विराजित भूषणा एवं मधुकर के अनुराग कर पराग से पराजित शरीरा हो गई हो । इस समय हे विहारिणि ! तुम मनोहारि मुरारि के मदन सङ्गर कालीन सङ्ग रस में समाकुला हो जाओ ।।६२।।

चन्द्रमा का किरण—कान्ति को विच्छुरित कर रहा है, वृन्दावन श्रीके सीमावृन्द— मधुर रस से सुमधुरा प्रेयसी गण में परि परि पूरित हुये हैं । उपवन पवन भी अभ्रान्ति रमणीय भाव से भ्रमण कर

नन्दानन्दाग्रकन्दः स्मरसमर समव्यूह हारीह हारी
सङ्गी सङ्गीत देव्या अहरहरहरद्रास राधां स राधाम् ॥६३॥

अन्तादि यमकं यथा—

न मानमाधेहि मनस्यदःस्यदः, शुभं शुभंयोः स्यति देवि तेऽविते।
अहो अहोरात्र कृतांऽरुषारुषाऽयशो यशोदांशुवि विद्युतेऽद्युते ॥६४॥

प्रतिपाद सर्वयमकं यथा—

मम त्वयाऽममत्वया न वेहितं न वेहितम्।
स्मराधिके स्मराधिके चर क्षमां च रक्ष माम् ॥६५॥

आलम्बन विभावमाह—इह समये स हरी राधामहरत्। कीदृशः ? नन्दः समृद्धो य आनन्द-स्तस्याग्रकन्दः प्रथममूलम्, तथा स्मरः समरे कन्दर्पयुद्धे समो मः शोभा तत् सहितो यो व्यूहो बलविन्यासस्तं हर्तुं शील यस्य सः, "व्यूहस्तु बलविन्यासः" इत्यमरः। तथा हारी हारवान्, तथा सङ्गीतदेव्याः सङ्गी। राधां कीदृशीम् ? अहरहः प्रति वासरमेव रासराधां रासस्य राधाः संसिद्धिर्यतस्ताम् ॥६३॥

दूती प्राह—न मानमिति। मनसि मानं न आधेहि। कुतः ? अदः स्यदः, अमुष्य मानस्य स्यदो वेगः, हे देवि ! ते तव शुभंयोः प्रशंसावत्याः शुभं मङ्गलं स्यति नाशयति, अहं शुभंयोर्युस् इतियुस्। शुभमिति मान्तमव्ययं प्रशंसा वचनम्। अहो इत्याश्चर्ये अहोरात्र कृतमर्मनः पीड़ा यतस्तया रुषा अविते रक्षिते इति सम्बोधनम्। तया एतोऽरुषया, रुषा त्वमधुनापि ज्वलिता नाभूरित्याश्चर्यम्। यशोदाभूवि श्रीकृष्णे अद्युते तव अयशो दुर्यश एवेदं वर्तते ॥६४॥

श्रीकृष्णोऽप्यगत्याह—मम त्वयेति। हे राधे ! त्वया मम हितं नवा ईहितं वाञ्छितं भवति। कुतः ? अममत्वया मयि ममत्वशून्यया।

ननु तर्हि मामुपेक्षस्व ? तत्राह—हे नवे नित्यनवीनत्वात् त्वं मे चेतो लोभयसीति भावः।

अयञ्च चेतः पीड़यसि चेत्याह—स्मरेण स्मरणेन आधिर्मनः पीड़ा कामोद्गमो यतो हे तथाभूते। यद्वा, स्मरेण कन्दर्पेण हेतुना आधिर्मनः पीड़ा यतो हे तथाभूते ! हे राधिके ! तस्मात् क्षमां चर प्राप्नुहि, मां च रक्ष, स्मेति पाद पूरणे ॥६५॥

रहा है, इस समय नन्द का आनन्द कन्द स्वरूप सङ्गीत देवी के नित्यसङ्गि स्वरूप, स्मरसमर के सुशोभन व्यूहहारी, हारधारी मुरारि राससिद्ध कारिणी श्रीराधा के चित्त को अहरहः हरण करने लगे ॥६३॥

अन्तादि यमक का उदाहरण—

हे देवि ! मनमें और मान को समाधान न करना। हे शुभान्विते। मानवेग वश से कदाचित् तुम्हारा अशुभ का विनाश हो सकता है। दिवस रजनि जनित मर्म पीड़ा हेतु रोष से तुम प्रज्वलित नहीं हुई हो, यह विचित्र है। जो भी हो अब यह अयश यशोदा किशोर को ही जायेगा—इस में सन्देह नहीं ॥६४॥

प्रतिपाद सर्वयमकका उदाहरण—अयि स्मराधिके राधिके ! तुम मेरे प्रति ममता शून्य होने से मेरा हित अथवा अहित कुछ भी सिद्ध नहीं हो रहा है। जो भी हो, हे नवीने ! अभी भी क्षमा अवलम्बन

सर्वयमकम्–यथा—

ससार सा ससारसाऽऽस–सार–सास–सारसा ।

ससार साससार सा स सारसास सास सार–सा ॥६६॥

प्रत्यक्षर यमकमपि केचिदिच्छन्ति । तद् यथा—

वि–वितत–नाना–माऽमा–विविध धना नावव्रश्याश्या ।

सा साधु धुतररारा मम वबले लेहि–हित–तनु–नु ॥–इत्यादि

एवं सप्तविंशति भेदाः । द्विखण्ड–त्रिखण्डादिकञ्च उक्तोदाहरणेष्वन्तर्भवतीति पृथङ् न दर्शितम्, तथाहि— (६४ श्लोके) 'अहो अहोरात्र कृताऽरुषा' इत्यादौ द्विखण्डम्, (६३ श्लोके)

ससारेत्यादि । सा राधा प्रति निकुञ्जाच्चचलति स्म । कीदृशी ? ससारसा स लीलाकमला, आस सारसा–ससारसा आ सम्यक् प्रकारेण आसो विक्षेपो यत्र, 'असुक्षेपणे' तथाभूते सारे गमने यः सासो निद्रा तस्य सारं बलं स्यति स्वीय प्रतिभया ह्रासयतीति सा । 'सृ गतौ, 'सस स्वप्ने' 'सोऽन्तकर्मणि' अत्र अन्त–कर्मशब्दस्य नाशो ह्रासश्चार्थः ।

ससारसा ससारसा. ससन्ति प्लुतं गच्छन्तीति ससाः, आ सम्यक् रसन्ति शब्दायन्ते इति आरसाः अस्यन्ति दीप्यन्तीति असाः, सारसा इचक्रवाका यतः, यां विलोक्येत्यर्थः ।

सा 'सस प्लुतगतौ' 'रस शब्दे' 'अस दीप्तौ' स श्रीकृष्णश्च, ससारेति पूर्वेणवान्वयः । कीदृशः ? सारसा ससारसा सारसानां पक्षिविशेषाणामासस्य उपवेशस्य सारं स्थैर्यं स्यति नाशयति स्वीयागमनेन चकितीकृत्येति भावः ॥६६॥

विवि ततेति— सा वनस्थली नाववश्याश्या नौ आवयोरवश्यमेव आश्या व्याप्या 'अशुङ् व्याप्तौ' विशेष्य नाम्ना ग्रहणम्, सङ्केतस्थलत्वात् । कीदृशी ? विभिः पक्षिभि वितता नाना मा शोभा यस्याः सा, अमा अपरिमिता अनुपमा वा विविधानि धनानि यस्यां सा, साधु धुततरारा साधु यथा स्यात्तथा धुततरोऽति खण्डित आरो गतिर्यस्याः । यां प्राप्य अन्यत्र गमनं नैव युज्यते इति भावः । सा वबले बलवती भवति स्म । मम लेहि हित तनु मम लेहिनी मन्मुख माधुर्य्यास्वादिनी हिता च तनुर्यस्याः, हे तथा भूते ! नु इति सम्बोधनम् ।

कर इस अधीन की रक्षा करो ॥६५॥

सर्व यमक का उदाहरण—प्रभात में लीला कमल पाणि वह कामिनी कुञ्ज वन से गमन करने लगी सारस पक्षिसमूह उसको समीपस्थ देखकर व्याकुल होकर कलरव करते करते प्रस्थान करने लगे ।६६

कोई कोई व्यक्ति प्रत्यक्षर यमक को मानते हैं । उसका उदाहरण—

विविध विहग सङ्कुला बहु विध सम्पत्ति शालिनी उस अनुपमा वनस्थली में गमन करने से अन्यत्र गमन करने की इच्छा नहीं होती है, अतएव हे सखि हमदोनों उस शोभामयी वनस्थली में अवश्य प्रवेश करेंगे । तुम्हारा कलेवर भी निरन्तर मेरा मुख माधुर्य्य का आस्वाद ग्रहण करने में तत् पर है ।

इस प्रकार सप्त विंशति भेद होते हैं । द्वि खण्ड त्रिखण्डादि भी उक्त उदाहरण में अन्तर्भुक्त होने के कारण उसका पृथक् उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया गया है, तथाहि—"अहो अहोरात्र कृतारुषा रुषा'

'मासो माऽसो मरीचयः समधुर मधुर प्रेयसी प्रेयसी' इत्यादौ त्रिखण्डम्, (६७ श्लोके) 'वि वितत नानामहिमा' इत्यादौ चतुः खण्डम्। एवमन्यान्यप्युह्यानि। गद्येषु तु नायं क्रमः। तत्र यथा सदामोदरे दामोदरे गुणसाराधिका सा राधिकाऽनुरज्यति स्मेति ॥६७॥

भिन्ना अप्यर्थ भेदेन युगपद् भाषण क्षमाः।
त्यजन्ति भिन्न रूपत्वं शब्दा यत्रश्लेष एव सः॥

अर्थ भेदेन शब्द भेदे इति न्यायात्। स्वर भेदेन भेदो नार्थ भेदेनेत्याशङ्क्याह—काव्ये स्वरस्यानुपयोगेन स्वरगत भेदाभावोच्च, केवलार्थ भेदेन भिन्ना अपि शब्दा युगपदेकदा यद् यद्यर्थान्तर भाषण क्षमाः सन्तोऽपि भिन्न रूपत्वं त्यजन्ति। अर्थद्वय श्लषणात् श्लेषः।६८।

स प्रकृति—लिङ्ग वर्ण—प्रत्यय, भाषा--विभक्ति पद वचनैः।
अष्ट विधो निरपक्ष--स्तुल्योभय वाच्य एव नवमः स्यात्॥

निरपेक्षः प्रकरणादि व्यतिरेकेणापि तुल्य वाच्यद्वयः॥६९॥

क्रमेणोदाहरणानि—मनरलुदन्ती क्षणदा वतेष्टा, विधौ विरुद्धे तमसि प्रवृद्धे।
तस्मिन् प्रसन्ने हरितः प्रसादं, धन्या लभन्ते तमसि प्रणष्टे॥

सदामोदर इति। राधिका दामोदरे श्रीकृष्णे रज्यति स्म। कथम्भूता? गुण साराधिका गुणेषु मध्ये ये साराभूता गुणास्तै राधिका। दामोदरे कथम्भूते? सदामोदरे सदा मोदं राति ददातीति तस्मिन् ॥६७॥

स्वरभेदेन शब्द भेदो नार्थ भेदेनेत्याशङ्क्याह–भिन्ना अप्यर्थ भेदेनेति ॥६८–६९।

इत्यादि श्लोक—द्विखण्डका दृष्टान्त है।

"मासो मासो मरीचयः समधुर मधुर" इत्यादि श्लोक त्रिखण्ड का उदाहरण है।

एवं 'विवि तत नाना मामा इत्यादि चतुः खण्डका दृष्टान्त, है, अन्यान्य अवशिष्ट का उदाहरण यथा स्थल में प्रस्तुत किया जायेगा। गद्य स्थल में किन्तु इस प्रकार नियम नहीं है। जैसे—सदामोदप्रद दामोदरे गुण साराधिका वह राधिका अनुरक्ता हुई थी ॥६७॥

काव्य में उदात्तादि स्वर की उपयोगिता नहीं है, स्वरगत भेद का भी अस्तित्व नहीं है, तब अर्थ भेद से शब्द भेद होता है—यह नियम सङ्गत है। उक्त नियम के अनुसार जो शब्द केवल अर्थ भेद से ही भिन्न होता है। रूपादि में उसका भेद अणुमात्र भी नहीं है। उक्त शब्द यदि एक समय में ही अर्थान्तर प्रकाशन में सक्षम होकर भी समान रूप में ही अवस्थान करता है, तो—अर्थ द्वय का श्लेष हेतु उसको श्लेषालङ्कार कहते हैं ॥६८॥

उक्त—श्लेष—प्रकृति, लिङ्ग, वर्ण प्रत्यय, भाषा, विभक्ति पद एवं वचन भेद से अष्ट विध होते हैं। प्रकरणादि व्यतीत भी तुल्य वाच्यद्वय होकर वह एकविध पद प्राप्त होता है। इस प्रकार श्लेष नवविध भेद विशिष्ट होता है ॥६९॥

अत्र ईक्षणद्रेति दाप्-लवने, क्षणदेति 'डुदाञ् दाने' इति प्रकृति भेदः। इष्टा इति पुंलिङ्गम् इष्टेति स्त्रीलिङ्गमिति लिङ्गभेदः। पुनः इष्टा इति बहु वचनम्, इष्टेत्येक वचनम्। तेन च वचन भेदः। विधाविति ओकारोकार सारूप्ये वर्ण भेदः। तुदन्तीति शतृ प्रत्ययः, 'तुदन्ति' इत्याख्यात प्रत्ययः, तेन प्रत्ययभेदः। हरित हरिति पञ्चमी, हरित इति जस् तेन विभक्ति भेदः। अनेनैकेन षड् भेदाः प्रदर्शिताः ॥७०॥

पुनरपि भङ्ग्यन्तरेण लिङ्ग वचन भेदं दर्शयति—

नीलाम्भोरुह गञ्जिनी रतिरण क्रीड़ा श्रमोद् गारिणी।
निद्रोद्भेद विलासिनी स्ववशताऽसङ्कोच--सञ्चारिणी ॥

मनस्तुदन्तीति। विधौचन्द्रे विरुद्धे तमसि अन्धकारे प्रवृद्धे सति इष्टादि क्षणदा उत्सव दातृतया यथार्थ नाम्नी रात्रि मनस्तुदन्ती स्यादिति प्रथमार्धस्य, तस्मिन् विधौ चन्द्रे प्रसन्ने तमसि प्रणष्टे सति धन्या हरितो दिशः कर्त्र्यः प्रसादं प्रसन्नतां लभन्ते इति द्वितीयार्धस्यान्वयः।

पक्षे, विधौ विधातरि विरुद्धे सति यस्मिन् सत्तमो गुणस्य वृद्धं तस्मिन् सति इष्टाः पदार्था ईक्षण वा ईक्षण च्छेदकाः सन्तो मनस्तुदन्तीति प्रथमार्धस्य, तस्मिन् विधौ प्रसन्ने सति तमसि प्रणष्टे सति हरितः कृष्णाद् धन्या जनाः प्रसादं लभन्ते इति द्वितीय स्यार्धस्यान्वय ॥७०॥

नीलाम्भोरुहेति। राधाया नयने तव क्षेमं विधत्तां कुरुतामिति परस्मैपदस्य द्विवचनम्। तथा हरेरपि तनुश्च तव क्षेमं विधत्तामित्यात्मने पदैकवचनम्, धाञ् धातोरुभयपदित्वात्। नयनयो स्तनोश्च विशेषणान्याह—नीलाम्भोरुहेत्यादि।

क्रमशः उदाहरणः—विधु की विरुद्धता हेतु तमोराशि प्रवृद्ध होने पर सब की अभीष्टा क्षणदा अर्थात् उत्सवदायिनी रजनी भी सम्प्रति मनः क्लेश दायिनी हो गई है।

अथ च विधि की विगुणता हेतु तमोगुण प्रवृद्ध होने से अभीष्ट पदार्थ समूह भी ईक्षणद अर्थात् स्नेह दृष्टि खण्डन कारी होकर मनस्ताप जनक हुये हैं।

अनन्तर वह विधु प्रसन्न होने पर तम पुञ्ज प्रणष्ट होने पर सुधन्य हरित् अर्थात् दिक् समूह प्रसन्न हो गये हैं। अथ च वह विधि प्रसन्न होने पर तमोराशि का प्रणाश होने से धन्य जन गण श्रीहरि से प्रसाद लाभ करते रहते हैं। इस श्लोक में उक्त—'ईक्षणदा' वा 'क्षणदा' स्थल में छेदनार्थ दा धातु एवं दानार्थ दा धातु का प्रयोग होने से प्रकृति भेद हुआ है। 'इष्टा' स्थल में 'पुरुषोत्तम लिङ्ग' एवं 'लक्ष्मी लिङ्ग' उभय भी उपयोगिता विद्यमान होने से लिङ्ग-भेद एवं बहु वचन एक वचन का समावेश होने से वचन भेद भी हुआ है।

मूलस्थ 'विधौ' यहाँ इ कार एवं उ कार के सारूप्य से वर्ण भेद हुआ है। 'तुदन्ती' यहाँ शतृ एवं आख्यात प्रत्यय भेद से प्रत्यय-भेद हुआ है। 'हरितः' यहाँ पञ्चमी एवं प्रथा के बहु वचन होने से विभक्ति भेद हुआ है। इस प्रकार इस श्लोक में ही षट् प्रकार भेद का उल्लेख हुआ है ॥७०॥

भङ्ग्यन्तर के द्वारा पुनर्वार लिङ्ग वचन भेद प्रदर्शित हो रहा है—श्रीराधा के लोचन युगल एवं

अन्योन्य प्रणय प्रकाशन विधावन्योन्य संह्लादिनी
राधाया नयने हरेरपि तनूः क्षेमं विधत्तां तव ॥७१॥

भाषाश्लेषः, यथा—उद्दाम कण्डूलकरमण्डलचण्डिमा ।
कालिन्दी कुञ्जरो धत्ते विहारं वारिमञ्जुलम् ॥७२॥

पदश्लेषो यथा—समराला सदैवेयं राधिके सर्वदारुणा ।
मतिश्च तव दृष्टिश्च समे एव बभूवतुः ।
कृष्णपक्षे बलवती दोषाकर पराङ्मुखी ।
समे द्वे तामसी रात्रिः सात्त्विकी च सतां मतिः ।

नेत्र पक्षे, स्ववशतेति—स्व कर्त्तृका या श्री–कृष्णनिष्ठवशीकृतता तस्या असंकोचो विस्तारस्तस्य सञ्चारिणी तनुपक्षे, स्वकर्त्तृका या जगन्निष्ठ वशीकृतता तस्या असङ्कोचो विस्तारस्तस्य सञ्चारिणी ॥७१॥

भाषाश्लेषः—शौरसेन्याः श्लेषः । उद्दामेति संस्कृत पक्षः सुगमः प्राकृत पक्षे तु हे चण्ड ! हे कोपने ! कालिन्दकुञ्जरोधसरते जुलं युगं तुम्हशो विहारं वारिमं धारयिष्ये । कथं वारयिष्यतीत्याह—तुलकरमं प्रस्तुतं कर्म मा डल मा दल, प्रस्तुतानुसारि कर्म कुर्वित्यर्थः प्रस्तुतकर्म्म कीदृशम् ? उद्दामकामकम् । कालिन्दी कुञ्जेति—उद्दामकामकर्मिति पक्षद्वयेऽपि समानार्थत्वाद् भाषासमावेशः अन्यत् सर्वमर्थ भेदाद् भाषाश्लेषः ॥७२॥

मानवतीं श्रीराधां प्रति श्रीकृष्ण आह—हे राधिके ! तव मतिश्च दृष्टिश्च समे एव बभूवतु । साम्ये हेतुमाह—इयं मतिर्दृष्टिश्च सर्वदारुणा सर्वस्मिन् काले दारुणा, सर्वदा अरुणा चासमराला दृष्टिपक्षे, सम्यक्

श्रीकृष्ण के कोमल कलेवर, जो नीलोत्पल के निन्दाकारी, सुरतश्रमोद्गारी, निःसङ्कोच से निखिल विश्व के स्ववशताप्रचारी, जो निद्रोदय में विलासशील, परस्पर के प्रति प्रणय प्रकार विषय में जो पारस्परिक प्रीति विधान में तत्पर हैं, वे तुम्हारे मङ्गल सम्पादन करें ॥७१॥

भाषाश्लेष का दृष्टान्त—उद्दामा काम कण्डूल कर मण्डल में जिसकी प्रचण्डता प्रकटित हुई है, वह कालिन्दी कुञ्जर श्रीकृष्ण मनोहर वारि विहार कृत्य समाधान किया ।

यहाँ मूल श्लोक—संस्कृत एवं प्राकृत—उभय भाषा में समरूप होने के कारण, भाषा श्लेष हुआ है । उक्त श्लोक के संस्कृत पक्ष का अर्थ उल्लिखित हुआ, प्राकृत पक्ष का अर्थ इस प्रकार है ।

अयि चण्डि ! तुम कालिन्दी के तट कुञ्ज को प्राप्त किये हो, तुम्हारे युगल विहार का आवरण सम्प्रति कर सकूँगा । अतएव उद्दाम काम सम्पाद्य प्रस्तावानुसारी कर्म का वर्जन तुम आलस्य से न करना ॥७२॥

पद श्लेष का उदाहरण—हे राधिके ! तुम्हारी मति एवं दृष्टि उभय ही समान हैं, कारण–उभय ही रोष हेतु जैसे समराल सम्यक् प्रकार से अराल वा कुटिल हैं, पक्ष में—समर अर्थात् युद्ध ग्रहण करते हैं, तो उस प्रकार, एवं उभय ही सर्वदारुण हैं, सब समय दारुण हैं, पक्ष में–सर्वदा अरुण वर्ण है ।

तामसी रात्रि एवं साधु वृन्द की सात्त्विकी बुद्धि उभय ही समान हैं, कारण, उभय ही कृष्ण पक्ष में

वाक्य गतत्वेनायं समोभयवाच्योदाहरणेषु द्रष्टव्यः। शब्दार्थश्लेषयोरयं भेदः—यत्र शब्दपरिवर्त्तनादि न श्लेषत्वभङ्गः, सोऽर्थश्लेषः। अन्यस्तु सभङ्गाभङ्गत्वाभ्यामेव शब्दश्लेषः। सचोक्तोदाहरणेषु शब्दपरिवृत्त्यभावात् ॥७३--७४॥

अर्थ श्लेषो यथा—विलोल संफुल्लकदम्बमालः, समुल्लसन्मञ्जुल-वर्हिवर्हः।
अशेषसन्तापहरोजनानां, कृष्णश्च मेघश्च सहोज्जिहीते ॥

अत्र कदम्बादि शब्दानां परिवृत्त्यापि न श्लेषत्वहानिरित्यर्थश्लेष एव ॥७५॥

अथ शब्दालङ्कारप्रस्तावे प्राप्तावसरतया चित्रकाव्यमपि प्रदर्श्यते।

तत्र यद्यपि—नटानाञ्च कवीनाञ्च मार्गः कर्कश एव यः।
रसाभि-व्यक्तये नासौ शक्ति ज्ञप्त्यै स केवलम् ॥७६॥
चित्रं नीरसमेवाहुर्भगवद्विषयं यदि।
तदा किञ्चिच्च रसवद्यथेक्षोः पर्वचर्वणम् ॥७७॥

तत्र किञ्चित् प्रदर्श्यते।

कुटिलेत्यर्थः। यदुक्तं मेदिनीकरेण—"अरालः कुटिलं षड्जरसे सार्मान दर्तिन" इति। मर्तिपक्षे, समरो युद्धं तदालातीति। कृष्णपक्षे—इति—कृष्णपक्षे शुक्लातिरिक्तपक्षे, भगवत्पक्षे च। दोषाकरश्चन्द्रः दोषोत्पत्तिस्थानञ्च ॥७३--७४॥

विलोलेति। माला स्रक् समूहश्च ॥७६-७७॥

बलवती एवं दोषाकर के प्रति पराङ्मुखी हैं। वाक्य गत होने के कारण—यही समोभय वाच्य हैं। शब्द श्लेष एवं अर्थ श्लेष यह भेद है, शब्द परिवर्त्तन से भी जिसका श्लेषत्व भङ्ग नहीं होता है, वह शब्द है, एवं जो शब्द परिवर्त्तन को सहन नहीं करता है, सभङ्ग अभङ्ग—द्विविध रूप से वही शब्द श्लेष है। शब्द श्लेष का विवरण—पूर्व पूर्वोदाहरण में लिखित हुआ है ॥७३--७४॥

सम्प्रति अर्थ श्लेष प्रदर्शित हो रहा है—कृष्ण एवं मेघ—समकाल में ही उदित हो रहे हैं, उभय ही विलोल संफुल्ल कदम्बमाल—कृष्ण उस प्रकार कदम्बमाल्य धारण किये हैं, मेघोदय से कदम्ब कुसुम समूह भी विकसित हुये हैं।

उभय के समागम से ही, मनोहर मयूर पुच्छ समूह समुल्लसित हो रहे हैं, उभय ही जन गण के अशेष सन्ताप संहारक है। यहाँ कदम्बादि पद का परिवर्त्तन से भी श्लेषत्व श्लेषत्वहानि नहीं होती है। अतः अर्थ श्लेष हुआ है ॥७५॥

शब्दालङ्कार वर्णन प्रसङ्ग में चित्र काव्य प्रदर्शन का अवसर प्राप्त होने से अधुना उसको दर्शाते हैं--

यद्यपि कवि एवं नट वृन्द का मार्ग अतिकर्कश है, वह रसाभिव्यक्ति के उपयोगी न होकर केवल शक्ति ज्ञापन उपयोगी होने से चित्र काव्य नीरस कथित होता है। तथापि वह भगवद् विषयक होने से इक्षु के पर्व चवण तुल्य कथञ्चित् मधुर बोध होता है, अतः उसका किञ्चित् प्रदर्शन करते हैं ॥७६--७७॥

तत्र प्रथमं प्रतिलोमानुलोमपादो यथा—

राधा साररसाधारा मारमाररमारमा ।
काशोदाररदाऽशोका सा ललास सलालसा ॥७८॥

प्रतिलोमानुलोम श्लोको यथा—

काऽऽधिदा सस्वभा राधे मानो माऽस्तु रमाधवे ।
वेधमारस्तु मानो माऽधेराभा स्वसदाऽधिका ॥७९॥

प्रति लोमानुलोमौ श्लोकौ यथा—

मानसाररसाधारा साऽयन्ती वनमालिना ।
संललास महामोदाप्ताऽऽश्वामाद–नि–साध्व सा ॥८०॥

राधेति । सा राधा ललास । कीदृशी ? साररसमा धारयतीति सा मारेण कामेन मां शोभां राति गृह्णातीति सा च, रमेव रमते इति रमा रमा च, सा काशेन दीप्तया उदारा रदा यस्याः सा । अशोका शोक रहिता, सलालसा स्पृहावती ॥७८॥

काधिदेति ! हे राधे ! का नारी आधिदा मनः पीड़ादायिनी सती, सस्वभा स्वभया, स्वकान्त्या सह वर्त्तमाना भवति ? अपि तु न कापीत्यर्थः । अतो रमाधवे श्रीकृष्णे मानो मास्तु, माने सति तस्याधिस्तवापि म्लानिरिति भावः । वेधमारस्तु मानो नोऽस्माकं वेधमारो विधाननाशः क्रियानाशस्तु मास्तु । 'विध विधाने' घञ् । तथा माधेराभा आधेर्मनः पीड़ाया आभा स्वसदाधिका स्वगता अधिका मास्तु 'सद्लृ गतौ' ॥७९॥

महामानवती राधा सम्प्रति किं करोतीति पृच्छन्तीं सखीं प्रति सखी प्राह—मानसार रसाधारा सा राधा मानस्य सारं रसं न धारयतीति तथा, यतो वनमालिना सह अयन्ती गच्छन्ती सती आशु शीघ्रं संललास । इ गतौ शत्रन्तः । कीदृशी ? महामोदाप्ता सा महामोदेन आप्ता दीप्ति र्यस्याः सा । आमादनिसाध्वसा–आ सम्यक् मादेन सौरभमत्ततया निसाध्वसा निर्भया, निशब्दोऽयं निषेधार्थः "यथा दीपो निवातस्थः" इतिवत् । अतोऽहं साधु यथास्यात्तथा असानि वर्त्ते, दतो दमाश्वासा दमेनैवाश्वासो यस्या साहं मत् कृतेन दमनेनैव सा मानं तत्याज, तेनैव ममाश्वासोऽभूदित्यर्थः ॥८०॥

उसके मध्यमें प्रतिलोमानुलोम पाद का उदाहरण यह है—
साररस के आधार स्वरूपा, स्मर अर्थात् कन्दर्प की सौन्दर्य सर्वस्वहरा, रमा के समान क्रीड़ा तत् परा, सुदीप्त दशन कान्ति शालिनी, शोक शून्या, सलालसा वह श्रीराधा विलास में आसक्त हुई थी ॥७८॥

प्रतिलोमानुलोम श्लोक का उदाहरण—हे राधे ! कौन कामिनी मनः पीड़ादायिनी होकर अक्षीण सौन्दर्य्य में विराजित है ? अतएव रमापति के प्रति मान से और प्रयोजन नहीं है. कारण, मानानुबन्ध से उनकी मनः पीड़ा एवं तुम्हारी म्लानि की सम्भावना हैं । हम सब की क्रिया लोप भी न हो, स्वगतमनः पीड़ा वर्धित न हो, यही कर्त्तव्य है ॥७९॥

प्रति लोमानुक श्लोक द्वय का उदाहरण—हे सखि ! वह राधा, अधुना मान का सारभूत रस को धारण नहीं कर रही है । कारण,वह सम्यक् सौरभ मत्तता हेतु निर्भय हृदय से वनमालि के सहित वन

साध्वसानि दमाश्वासा वामोहामसलालसम् ।
नालि मानवतीयं सा राधा साररसानना ॥८१॥

महासर्वतोभद्रं यथा—

सा राधा श्रीः श्रीराधा सा धामाकामा मा–कामाऽधात् ।
राकाधीमा माऽधीकारा श्रीमा मानेनेमामा श्रीः ॥८२॥

सर्वतोभद्रं यथा—

धाराऽसाररसा राधा रासलास्यस्य लासरा ।
सान्द्राकार–रकालासा रस्यस्य रस्यर ॥८३॥

ननु मा मृषा वादीः, तादृश मानस्य शीघ्रमेवोपशमं न सम्भावयामीति वदन्तीं प्रत्याह—वामोहामसलालसम्, अलसालसं यथास्यात्तथा ऊहां- वितर्कं मा वाः, किन्तु सलालसं यथास्यात्तथा ऊहां वितर्कं खण्डयेत्यर्थः । निश्चयं शृण्वित्याह नालीति । हे आलि ! सेयं राधा न मानवती, किन्तु साररसेन श्रेष्ठरसेन आनमतीति सा ॥८१॥

साधारेति । सा श्रीराधा साधारा श्रीः साधं सिद्धिमियर्त्ति प्राप्नोतीति राधारा, आ,सम्यक् श्रीः शोभा यस्याः स्तथाभूता भवतीत्यन्वयः । कीदृशी ? धामा कामा—धाम्नि निकुञ्ज गृहे अं श्रीकृष्णं कामयते इति सा । "शिलिकामिभिक्षिचरिभ्यो णः" इति ण प्रत्ययः ।

ननु किं स्वीय काम सुखार्थं कामयते इति ? तत्राह—माकामा, मेति निषेधे, न विद्यते कामः स्वसुख तात्पर्य्यं यस्याः सा, किन्तु कृष्णसुखार्थमेव तं कामयते इति ? तत्राह—मा कामा, मेतिनिषेधे, न विद्यते कामः स्व सुखतात्पर्य्यं यस्याः सा, रासविलाससिद्ध्यर्थमितिभावः ।

माधिकारा मा आधिर्मनः पीड़ा यस्याः, इ कन्दर्पं कं सुखञ्च आसम्यक्रातीति साच साच सा । अतएव तस्याः सर्वतः श्रेष्ठ्यात् श्रीमा सम्पत्तिरूपा लक्ष्मीः, मानेनादरेण, आ श्रीः आश्रयमाणा इमां राधा मेधात्, स्वसर्वसम्पत्तिसमर्पणेन पालयामास । इदं महासर्वतो भद्रम् ॥८२॥

धारासार रसेति । धाराणामासारः सम्पात इव रसो यस्यां सा राधा, "धारासम्पात आसारः",

---

वन में भ्रमण कर महामोद से विलास कर रही है । मत्कृत दमन से ही उसने मुझको परित्याग नहीं किया है ।

इस प्रकार आश्वास से आश्वस्त होकर मैं सुस्थचित्त हूँ । तादृश मानका आशु उपशम यदि असम्भव विवेचित होता है, तो आग्रह पूर्वक मेरा विचार को खण्डन करो । फलतः हे सखि ! श्रीराधा को साधारण मानवती न मानना, राधा साररस में वशीभूत होकर सतत आनत रहती है ॥८०--८१॥

महासर्वतोभद्र का दृष्टान्त—निकुञ्ज धाम में स्वकीय काम सुख में निरभिलाषा होकर श्रीकृष्ण के प्रति शुद्ध प्रीति सम्पादन में समुद्यता होने पर पूर्णमनोभिलाषिणी, चित्त प्रसाद शालिनी, कामसुख सम्पादिनी राधा समग्र सौन्दर्य्य, सम्यक् सिद्धि प्राप्त हुई थी । सम्पत्तिरूपा लक्ष्मी भी सम्मान के सहित उनका आश्रय ग्रहण कर उनको सर्वस्व समर्पण पूर्वक पालन कार्य्य में रत थी ॥८२॥

यथा वा—नालीकाननका ऽलीनालीवसाररसावली ।
कासा रसासारसाऽकानरसा मम साऽऽर न ॥८४॥

छत्र बन्धो यथा—

तनुतां तनुतां राधाकृष्णयोश्चरित श्रुतिः ।
हृत्तापानां सुधासिन्धुधारा तां नु ततां नुत ॥८५॥

इत्यमरः, धनुर्ज्या परिवृंहिताविवदायं धारासार शब्दो ज्ञेयः । रासलास्यस्य रासाख्य नृत्यस्य लासरा लासं कान्ति रातिददातीति तया विना तव रास विलासो न सिध्यतीति भावः ।

पुनः कीदृशी ? सालाङ्काररकालासा साराकारं राति ददातीति साराकाररो यः कालो यौवन समय स्तत्र आसः सम्यग् दीप्ति र्यस्याः, हे रस्यरस्यस्य रसेभ्यो हिता रस्याः रसिनो रमण पराश्च ये युवति जनास्तैः, अस्य गम्य हे तथाभूत ! हे रस्यर रस्यान् रसनीयान् विलासान् रातितेभ्यो ददातीति हे तथाभूत ! कृष्ण ! इदं सर्वतोभद्रम् ॥८३॥

वसन्ते रासोत्सवे प्रवृत्तस्य श्रीकृष्णस्य तत्र श्रीराधिकामपश्यतः स्वयमुक्तिरियम्—नालीकेत्यादि । सा मत् प्राण.धिकत्वेन. प्रसिद्धा श्रीराधा न आर, नागतवती । किम्भूता सा ? अकानरसा मद्विरहेव जन्येन अकेन दु खेन, "अकं पापदुःखयोः" इति मेदिनीस्मरणात, य आनो जीवनं स एव रसो विषं यस्यां सा, "रसो गन्ध रसे जले शृङ्गारादौ वीषे वीर्य्ये" इत्यादि मेदिनी ।

अतएव ममरसा सारसा रसस्य भृङ्गार सुखस्य आसारो वृष्टिस्तां स्यति खण्डयतीति विवप् । स्वरूपतस्तु सा किम्भूता ? का सा इति कासो दीप्तिरस्या अस्तीति बाहुल्यादाप् । तथा दीप्ति मतीत्यर्थः । पुनःकीदृशी ? आलीनाऽलीव साररसावली न लीनोऽलियस्तां त.दृशी साररसावलीव उत्तम मधुपङ्क्तिरिव । भ्रमरा दुष्ट-प्रचुर मधुधारेव परमानन्ददेत्यर्थः । पुनः कीदृशी ? नालीकाननका नालीकं पद्ममिवाननं यस्याः सेति बहुव्रीहौ कः ॥८४॥

तनुतामिति—राधा कृष्णयोश्चरितश्रुतिश्चरित श्रवणं हृत्तापनां तनुतां कृशतां तनुतां विस्तारयतु । कीदृशी ? सुधासिन्धु धारा नु भोः, तां ततां विस्तृतां नुत स्तुत । यद्वा, हर्षेण द्विरुक्तिः ॥८५॥

हे कृष्ण ! तुम जैसे रास वशम्वदा रमणी वृन्दके गम्य एवं रमणीय विलास राशि वितरण कारी हो, श्रीराधा भी उस प्रकार अविरल वारिधारा सम्पात सदृश अजस्र रस प्रवाह की आधारस्वरूपा है । रास लास्य की सौन्दर्य्य विधायिनी एवं मूर्ति माधुर्य्य प्रद यौवन समय जनित कान्तिच्छटा से सुशोभिनी है ॥८३॥

वसन्त कालीन रासोत्सव में प्रवृत्त श्रीकृष्ण राधिका को उपस्थित न देखकर स्वयं कहते हैं– पद्म वदना, सौन्दर्य्य सदना राधिका का समागम न होने से वह मेरी रसधारा की निरोधिनी हो गई है, मदीय विच्छेद वेदना से श्रीराधा का निज जीवन निश्चय ही अधुना विषमय प्रतीत होता है । वह सम्प्रति भ्रमर शून्या मधु धारा का आकार को प्राप्त हुई है ॥८४॥

छत्र बन्ध का उदाहरण—सुधा सिन्धु धारा के सदृश राधा माधव की चरित्र श्रुति हृदय ताप की खर्वता का विधान करे । तुम सब सर्वदा उक्त सुपवित्र सुविस्तृत चरित्र प्रशस्ति का स्तव करो ॥८५॥

खड्गबन्धो यथा—

राधामाधवयोः केलिः श्रुतिहृत् सुखदायिका ।
कामं तनोतु वः क्षेमं प्रेमानन्दौघनिर्भरा ॥८६॥
रासारम्भे नृत्य–गीत–वादित्रादि मनोहरा ।
राभस्यसारा सौभाग्योऽधरीकृतपराऽपरा ॥

मुरजबन्धो यथा (६६ श्लोके) "ससार सा" इत्यादि । एष एव गोमूत्रिका बन्धः, एष एव बद्ध–कवाटबन्धः, एष एव मुक्तकवाटः । एष एव शृङ्खलाबन्धः, एष एव द्व्यक्षरः ।८७

शङ्खबन्धो यथा—धेय माधुर्यमर्यादा राधा माधवं मार सा ।
सारमाऽवधमाधारा धेयमाधुर्यसौभगा ॥८८॥

पताकाबन्धो यथा—

रासतंसरसारम्भे राधा साररमाधवम् ।

राधामाधवयोः केलिलीला कामं यथा स्यात्तथा वो युष्माकं क्षेमं मङ्गलं तनोतु विस्तारयतु । कीदृशी ? श्रुति श्रवणं हृद् हृदयं तयोः सुखं ददातीति सा प्रेमानन्दौघः प्रेमानन्द समूहस्तं निःशेषेण बिभर्तीति सा ॥८६॥

रासारम्भ इत्यस्य पूर्वेणैवान्वयः । रासस्य नृत्य विशेषस्यारम्भे नृत्यं हस्त–पादादि चालना विशेषः, गीतं षड्जादि मिलनम्, वादित्रादि वीणादि तैर्मनोहरा राभस्यस्य कौतुकस्य सारः स्थिरो यस्यां सा । सौभाग्येनाधरी कृता अधः कृताः परे ब्रह्मानन्द वयोऽपरे सार्वभौम सुखादयो यया सेति केल्याः सकाशान्न केऽपीति भावः ॥८७॥

धेया धार्य्या माधुर्यमर्यादा यस्यां सा राधा माधवम्, आर जगाम । कीदृशी ? सारमावधमाधारा सारः श्रेष्ठोऽप्राकृतो यो मावस्तं धत्ते मां शोभामवति रक्षति, मावं कैशोरं तद्धत्ते, मां शोभामवति रक्षति, मावं कैशोरं तद्धत्ते, मां शोभां धारयतीति साच साच सा । धेयं परिदाह्यं माधुर्यं सौभगञ्च यस्यां सा । अत्र धारणे पोषणे च धाञ् कृत्य प्रत्ययान्तः ॥८८॥

खड्गबन्ध का उदाहरण—रासारम्भ में नृत्यगीत वादित्रादि मनोहरा, प्रेमानन्दौघनिर्भरा कौतुक सारा राधामाधव की मधुरलीला तुम सब का कल्याण करे । उक्त लीला श्रवण एवं हृदय सुख दायिनी है, एवं सौभाग्यातिशय से परानन्द एवं अपरानन्द से भी उत्कर्ष शालिनी हैं ॥८६॥

मुरज बन्ध का उदाहरण—'प्रभात में लीला कमल पाणि वह कामिनी कुञ्जवन से गमन करने लगी इत्यादि सर्व यमकोदाहरण द्रष्टव्य है ।

इसको ही गोमुत्रिका बन्ध, बन्धकवाट, मुक्तकवाट, शृङ्खल बन्ध, एवं द्व्यक्षर कहते हैं ॥८७।

शङ्ख बन्ध का उदाहरण—माधुर्यमार्यादा धारिणी, सौन्दर्य सौभाग्यशालिनी श्याममोहिनी राधिका,—सार शोभाकर कैशोरदशा में सुशोभिनी होकर श्रीकृष्ण समीप में समागत हुई थी ॥८८॥

पताका बन्ध का दृष्टान्त—संसार बन्धन का विनाश कारण, रसदीप्तिभाजन रास रूप श्रेष्ठ रस के

बन्धमाररसाधाराभेऽरं सारसतंसरा ॥

एष एव गदाबन्धश्च ॥८६॥

गर्भाक्षरो यथा—

कामत्रपाऽऽली लास्यराधिका । साऽध्वनि शातेनाऽरयराजते । ९०॥

पद्मबन्धो यथा—राधिका रुचिराकारा राकारासस्थली सरा ।

रासलीला परा सारारासारा गीः पिकाधिरा ॥९१॥

चक्रबन्धो यथा—यस्य श्रीतुलनां न कश्चन गमी भक्तौघतापर्दनो

ध्वस्तानावयवलच्छविः स नहि मां त्वं मुञ्च मोक्षम् ।

रासरूपो यस्तं सरसः, 'तसि अलङ्कारे, श्रेष्ठरस इत्यर्थः । तस्य आरम्भे राधा रमाधवं श्रीकृष्णम्—आर, सङ्गता बभूवेत्यर्थः । "ऋ गतौ" बन्धमाररसाधाराभे बन्धस्य संसारस्य मारोनाशो यस्मात्, रसस्याधार आभापि यस्य सच सच, तस्मिन् अयं शीघ्रम् आरेत्यनेन सम्बन्धः । सारसतंसं लीलाकमल श्रेष्ठं रातीति सा ॥८९॥

कामत्रपेति कामेन हेतुना या त्रपाली लज्जा श्रेणी तस्यालास्यं नृत्यं प्रामुलभ्यमिति यावत्, तत् राधयति साधयतोति सा, अतएवास्य श्रीकृष्णस्य शाते सुखरूपेऽध्वनि श्रीकृष्ण प्राप के सुख प्रदेऽभिसार मार्गे न राजते, लोकलज्जाभयादेवेति भावः । तेन चरण कष्ट प्रदे गुल्म लतातृण कण्टकाकुलं एवाध्वनि श्रीकृष्णमभिसरतीति । गर्भाक्षर इति एतान्येवाक्षराणि क्रमनैरपेक्ष्येण गर्भे निधाय कविना नानाछन्दोभिः श्लोकाः क्रियन्तामित्येतदप्येकं चित्रम् ॥९०॥

राधिकेति । राकायां रासस्थलीं सरतीति सा, सारारासारा सारं रसमियर्तीति सा, गीः पिकाधिरा गीर्भिः पिकानामप्याधिं रातीति सा ॥९१॥

यस्येति । यस्य श्रीयुक्तां तुलनां कश्चन केश्चिदपि न गमी, न गमिष्यति, यस्त्वं ध्वस्तानाक्य वलच्छविः—ध्वस्तम्, अनाक्यानामसुराणां बलं छविश्च येन सः । सत्वं मां न मुञ्च, हे मोक्षम ! मोदे

आरम्भ में लीला कमल कान्ति तिरस्कारिणी श्रीराधिका माधव के सहित सत्वर सम्मिलिता हो गई थी । इसको गदाबन्ध भी कहते हैं ॥८९॥

गर्भाक्षर का उदाहरण—मदन जनित विपुल लज्जाशालिनी श्रीराधा श्रीकृष्ण प्राप्ति साधक सुखकर अभिसार मार्ग को सुशोभित कर न सकी ॥९०॥

रुचिरा कारा राधिका राका रजनी में रासस्थली समागमन पूर्वक रासलीला परायणा हुई थी, एवं सारतर रासरस के अनुसारिणी होकर सुमधुर कण्ठस्वर से कोकिल कुल के मनः क्लेश को उत्पादन कर रही थी ॥९१॥

हे श्रीपते ! तुम्हारे श्रीसादृश्य को कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता है । तुम, भक्त वृन्दका आनन्द वर्धन एवं ताप विनाशन हो, प्रबल असुर वृन्द की शोभा सामर्थ्य को तुमने विनष्ट किया है । तुम्हारी व्रज केलि कथा को सुनकर मदीय मन में जो श्रद्धानदी प्रवाहित हुई है, मैं उस में अवगाहण करने में कौतुकी हूँ । हे परम नाथ ! सु विस्तृत भक्तिमार्ग में मैं कीलप्राय अति नीरस हूँ, मेरे तुल्य पातकी और कोई

सन्नाथ व्रजकेलि शब्दनमनः श्रद्धा नदी कौतुकी
कीलप्राय इहाध्वनीह सतते नो मत् समः पातकी ।।९२।।

अत्र—श्रीनाथपादकौतुक्य व्रतामोदी कविः शमी ।
यस्य ध्वस्ताऽच्छविः सन्नाऽश्रद्धा कश्चन तत् समः ।।९२।।

शार्ङ्गबन्धो यथा—श्रीकृष्ण गाथा नामेयं कर्मणा च-क्रवाचन ।
नासाद्यते पावनिका विना तस्य दयां हरेः ।।९३।।
कथमस्य कृपासिन्धोर्जनेषु च मिथो रतिः ।
जन्यते बहु जन्मान्ते सुकृतैः कारणायितैः ।।९५।।
चरणा सव लाभेन दारुणा करुणात्मताम् ।
मोहं हित्वा किल प्रैति तममुं सततं स्मर ।।९६।।
तस्य रूपं चेतसि च मन्त्रवत् सततं लिख ।
तेन साधुतया कृष्णे भविष्यति समागमः ।।९७।।

भक्त जनानां नन्दने समर्थ ! हे सतां नाथ ! इहाध्वनि भक्तिमार्गे सतते अविरते मत्समः कील प्रायः कील तुल्यः कोऽपि पातकी नास्ति । कीदृशः ? व्रजकेलि– शब्दनेन व्रजजस्य केलेः शब्देनैव या मनसि श्रद्धानदी तस्यां कौतुकी स्नातुं कौतुकवान्, तत्रात्यन्तायोग्योऽपीति भावः ।।९२।।

श्रीनाथस्य पादे पाद सेवायां कौतुक्यं कुतुकिनो भावः, तत्रैव व्रते आमोदी कविः पण्डितः शमी शान्तः, यस्याच्छविर्म्लानिता ध्वस्ता अश्रद्धा च सन्ना विशीर्णा, ततसमः कश्चन कोऽपि न भवेत् । पक्षे, कविः सदैन्यं स्वमेव वर्णयति—नाथस्य तवाख्यस्य श्रीगुरोः पादयोः कौतुक्यं पादौ ऽस्यैव संश्रयामीति यत् कौतुक्यं तस्मात् एव व्रते आमोदी, न तु तत् पादयोः कादाचित्कीमपि सेवामयमकरोदिति भावः । कविः श्रीमहाप्रभु कृपादत्त कवित्व शक्तिकः, शमी अनासक्तः, गुरु—कृष्ण–वैष्णव सेवायामप्यनासक्त इति भावः । अतएव यस्य छविर्भक्त संसदि ध्वस्ता श्रद्धा च सन्ना, तत्समो महाप्रभु भक्त मण्डले कोऽपि नास्ति, स एवैको निकृष्ट इति भावः ।।९३--९४--९५।।

नहीं है, तुम मुझ को परित्याग न करो ।।९२।।

जो सुकवि, शान्तचित्त एवं श्रीनाथ पाद सेवा कौतुक रूप व्रत में आमोदी, जिनकी म्लानता विनष्ट एवं अश्रद्धा विशीर्ण हुआ है, इस जगत् में किसी भी व्यक्ति के सहित उनकी तुलना नहीं हो सकती है ।।९३।

शार्ङ्गबन्ध का उदाहरण—त्रिभुवन पावनी श्रीकृष्ण नाम गाथाका लाभ श्रीकृष्ण की करुणा व्यतीत केवल कर्म के द्वारा नहीं हो सकता है । अनेक जन्म के पश्चात् उक्त कर्मिवृन्द की सुकृत राशि, कारण स्वरूप उन-कृपासिन्धु के सेवक वृन्द के प्रति किसी प्रकार यदि प्रीति उत्पादन करती हैं । उनके चरणासव लाभ हेतु कठोर चित्त व्यक्ति भी मोह त्याग कर करुणात्मता को प्राप्त करता है, अतएव उन उत्पादन माधव का ही सर्वदा स्मरण करो । तदीय दिव्यरूप को चित्त में मन्त्र के समान लिख रखो, उससे साधुता होगी, एवं साधुता होने से ही कृष्ण सङ्गलाभ होगा ।।९४--९५--९६--९७।।

एषु—श्रीनाथ पाद पाथोज--रसलालसं चेतसा

कृतेयं ततमोदा च स्वजने कविना कथा ॥९८॥ इति श्लोकान्तरम् ।

यथा वा—श्रीश प्रीतिः स्वनामाकृति-कथन विनाभाव पक्षे न विद्या ।

ऽऽमोद श्रद्धा कलापादपि सुखदमिथो भाव साम्राजतश्च ।

रम्या रम्यस्थलस्थ-प्रसर मद कलामोद--लक्ष्मीसमेत-

प्रेमासन्न--प्रणीत प्रणयिनि रुरुचे तातत्द्भा विसाभा ॥९९॥

अत्र च—श्रीनाथ पाद पाथोजं रसलालस चेतसा ।

भविता ततमोदस्थरसा सुकविना कृतिः ॥ इति श्लोकान्तरम् ॥१००॥

एकाक्षर पादो यथा—शंशीः शशी शशाशाशां पापोऽपपापपः पपिः ।

लोलो ललाल लीलालीं ययाऽयं योऽयया ययौ ॥१०१॥

दारुणेति—दारुणः कठोरोऽपि ॥९७--९८॥

श्रीश प्रीतिः श्रीकृष्णविषया प्रीतिः, स्वं स्वीयं यन्नामाकृत्योर्नामरूपयोः कथनं कीर्त्तनं तद्विनाभाव पक्षे न भवति, किन्तु तदविना भाव पक्षे एव भवतीत्यर्थः । विद्याया आमोदः सौरभ्यं जगद् व्यापि यश इत्यर्थः, श्रद्धायाः कलापः समूहश्च तयोर्द्वन्द्वैकत्वम्, तस्मादपि न भवति, तथा सुखदो यो मिथो भावः परस्पर प्रीतिस्तस्यापि साम्राजतः साम्राज्यात् (पा६ ४।१।१३०) "हायनान्त युवादिभ्यऽण्" । कीदृशी ? रम्या रमा शोभा तस्यां साधुः । रम्यस्थलं श्रीवृन्दावनं तत्रस्था ये प्रसरा जङ्गमाः पशुपक्षि--मृगादयस्तेषां मृगादय स्तेषां मदो भावोन्मादः कला वैदग्धी मोदो हर्षो लक्ष्मी शोभा तत् सहितो यः प्रेमा तमासन्नो--ऽनुगतो यः प्रणीतः प्रतिष्ठितः प्रणयिजन स्तत्र रुरुचे, रोचते स्म ; तातेति वात्सल्येन सम्बोधनम् । हे मत् प्रियशिष्य ! तस्य प्रणयिजनस्य भा शोभा विसाभा मृणाल सदृशी, अति निर्मलेत्यर्थः ॥९९॥

श्रीनाथेति । सुकविना कृतिः काव्यं भाविता आविर्भाविता । कीदृशी ? ततमोदस्थो विस्तृतानन्दस्थो रसो यस्यां सा । एवं शार्ङ्गबन्धस्यैव प्रपञ्चः ॥१००॥

काचित् कृष्णमभिसरन्ती अकस्माच्चन्द्रमुदितं वीक्ष्य अभिसर्त्तुमक्षमा अनुतपति—शंशीरिति ।

उक्त विषय में श्लोकान्तर यह है—श्रीनाथ के चरणारविन्द मकरन्दपान में सतृष्ण चित्त कवि कर्त्तृक स्वजन के समीप में यह विपुलाह्लादमयी कविता प्रचारित हुई ॥९८॥

यथा वा—श्रीकृष्ण की प्रीति तदीय नाम रूप कीर्त्तन के असद् भाव स्थल में विद्यमान नहीं होती है । विद्यामोद एवं श्रद्धा राशि के द्वारा एवं अतिसुखकर परस्परानुराग समृद्धि द्वारा भी सुलभ नहीं है ।

हे वत्स ! सुरम्य वृन्दावनावस्थित पशु पक्ष्यादि प्राणि वृन्द का भावोन्माद, प्रमोद, वैदग्धी एवं सौन्दर्य्य के सहित जो परम प्रेम, उक्त प्रेमके अनुगामी सुप्रतिष्ठित प्रणयि जनके सस्पृह हृदय में ही परम रमणीया मृणालधवला उक्त कृष्ण प्रीति प्राय प्रतिभिग्रत प्रकाशमाना है ॥९९॥

यहाँ पर श्लोकान्तर भी है—श्रीनाथ के पाद पद्म मधुपान में समुत्सुकचित्त होकर कविने प्रचुर आमोदमय इस सत् काव्य का प्रणयन किया है ॥१००॥

एकाक्षरो यथा——ना नाना नाऽनिनोऽनेना नानाऽनेनाऽननं नु नुः ।
नूनं नो नान्नू नऽनुनानऽनु नुन्न नून्निनीः ॥१०२॥

शशी चन्द्रः, आशां पूर्वदिशं शशसा प्राप, शश, प्लुतगतौ' पश्चिमायां दिशि अस्तीभूय पुनः प्लुतेनैव पूर्वां दिशं जगामेत्यर्थः। कीदृशः ? शंशीः शं कल्याणं तत्र शेते, नतु मत् कल्याणे जागर्तीत्यर्थः, 'शीङ् स्वप्ने' क्विबन्तः। यद्वा, मत् कल्याणस्य शीर्हिंसा यतः, 'शॄ हिंसायाम्' सम्पदादि क्विप्। शमिति मान्तमव्ययम्। दुःखेन शशिनमाक्षिपति——पाप इति। अपपापपः——अपगत पापानस्मद्विध युवती जनान् पापयतीति शोषयतीति सः। "पै ओ वै शोषणे' पुनः कीदृशः ? पापः आशाम् अस्मन्मनोरथ पिबतीति सः। 'न लोक' इत्यादिना षष्ठी निषेधः। अतएव लीलो युवति सतृष्णः कृष्णो लीलालीं ललाल कामितवान्। "लोलश्चल--सतृष्णयोः" इति, 'लीङ् श्लेषणे,' 'लल ईप्सायाम्' यः श्रीकृष्णो यया लीलाल्या सह अयं शुभावहं विधि सम्प्रयोगं ययौ प्राप। कीदृश्या ? न विद्यते या यानं यस्याः सा अया, तया अयया, सम्प्रयोगे स्थिरयेत्यर्थः' वाम्यमकुर्वत्यैवेति भावः। यद्वा, न यातीत्येषा तया ॥१०१॥

ना नानोदादि। नानानाना निनोनेना इति श्लेषः। ना पुरुषः, परमेश्वरो नाना न, भवति, किन्तु एक एवेत्यर्थः। कीदृशः ? अनिनो न विद्यते इनः प्रभुर्यस्मात्, स एक एव प्रभुरित्यर्थः। "इनः सूर्ये प्रभौ राज्ञि इत्यमरः। अनेनाः न विद्यते एन पापं यस्य, (छा० ८।१।५) "अयमात्मा अपहतपाप्मा" इति वत्। यद्वा, विषम जगत् स्रष्टावपि अनेना निरपराधः। एकस्यैव तस्य नानाविधजगत कारणत्व माह—नानाऽनेन। अनेन परमेश्वरेणैव नाना— नानाविधं मायिकं जगद् भवतीत्यर्थ। नुभीः, नु र्जीवस्य जड़स्यापि अननं जीवन मनेन परमात्मनैव भवति, किं पुनर्मायिकस्य नानाविध जगत इति भावः।

नूनमिति वितर्के, ऊनान् न्यूनान् नॄन् पुरुषान् अनूनान् अन्यूनांश्च पुरुषान् अनुलक्षीकृत्य ननुनुत भवति, "नुस्तुतौ" क्विपि नुत्, नुतं स्तुतं नुदति दूरीकरोतीति तथाभूतो न भवति।

अनुत्कृष्टमुत्कृष्टं वा पुरुषं देवादिकं कश्चिदीश्वर त्वेन स्तौतु, तत्राप्यसहिष्णुता यस्य नास्ति, अमात्सर्य्यादिति भावः। प्रत्युत न नु निश्चितम्, ऊन्निनी, उत् ऊर्ध्वं स्वर्गं महर्लोकादिकञ्च नितरां नयतीति सः। निकृष्टोत् कृष्टदेवोपासकानपि स एव स्वर्गादिकं फलं प्रापयति,—तस्यैव सर्वफलदातृत्वादि भावः ॥१०२॥

एकाक्षर पादका उदाहरण– हाय ! शशी, अधुना हमसब के शुभ साधन में उदासीन होकर सहसा पूर्वाशा में अर्थात् पूर्वदिक् में उदित हुये हैं। हम सब के अभिसार में विघ्न समुत्पादन कर एवं अपाप अङ्ग को विशोषण कर आशालता को मूलतः उन्मिलित किया है। वनमाली भी सम्प्रति विलोल चित्तसे आलिङ्गन दायिनी सुधीरा सखी की लालसा से वशीभूत होकर तदीय सङ्गति प्राप्त करने में समर्थ हुये हैं ॥१०१॥

एकाक्षर का उदाहरण– निखिल जगन्नाथ नाना नहीं हैं, किन्तु उन निष्कलङ्क निरञ्जन के द्वारा नाना जगत् का निर्म्माण हुआ है। उन करुणामय की करुणा से ही प्राणिवृन्द प्राणवन्तः हैं। न्यून हो वा अन्यून हो, जो कोई नर तदीय स्तुति विनति करे तो आप उसका प्रत्याख्यान नहीं करते हैं। प्रत्युत उन सब को ऊर्ध्व लोक में स्थान दान करते हैं ॥१०२॥

सिंहावलोक श्लोकान्तर गर्भो यथा--

तेजः किञ्चन तत्तदस्य सततं नव्याम्बुदाभं भज
स्निग्धं लोचनलोभदं चतुरता लीलाविलासावलि ।
अन्तश्चिन्तयतां रसस्य सरणिं श्रीराधिका प्रौढ़िम--
प्रेमार्द्रं रुचिरच्छवि स्मरवतीं क्रीड़ादधद् धामसु ॥१०३॥

अत्र--न काम्बुदाभं भज तत्तदस्य, लीला विलासावलिलोभश्च ।
श्रीराधिका प्रौढ़िमतं रसस्य, क्रीड़ां दधद्धाम सुरच्छविस्म ॥
इति श्लोकान्तर गर्भः ॥१०४॥

पुनरुक्त वदाभासः पुनरुक्त वदेव यः ॥१०५॥
तव तनु शरीर सदृशौं, काञ्चन कनकस्य वीरुधं नेक्षे ।
राधे सुमुखि भवत्या, मुखवदनङ्कोऽपि शुभ्रांशुः ॥१०६॥

तेजः किञ्चनेति । तेजः कथम्भूतम् ? अन्तश्चिन्तयतां जनानां रसस्य सरणिं वर्त्म । सरणिमित्यस्य तेजो विशेषणत्वेऽपि अजहल्लिङ्गत्वात्र क्लीवत्वम् । धामसु कुञ्जगृहेषु स्मरवतीं क्रीड़ांदधत् । सिंहावलोक न्यायेन यद् श्लोकान्तरं तदपि गर्भेयस्य स च श्लोको यथा ॥१०३॥

नवाम्बुदाभमिति । धाम तेजः, कीदृशम् ? श्रीराधिकाया या प्रौढ़ि स्तया मतां सम्मतां रसस्य क्रीड़ा दधत् परिपुष्णत् सुराणां सूर्य्यादीनामपि छविस्तेजो यस्मात्, (गी० १५।६) "न तद्भासयते सूर्य्यो न शशाङ्को न पावकः" इत्यादि, (कठ० २।२।१५) "न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्र तारकम्" इत्यादि, तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्" इत्यादि श्रुतेः । (गी० १५।१२) "यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्" इति ॥१०४-१०५॥

श्रीकृष्ण आह-- तवेति । हे राधे सुमुखि ! तव क्षीण शरीर सदृशौं कामपि कनकस्य वीरुधं नेक्षे । अत्र तनु शरीरयोरेकपर्य्यायत्वेन, एवं काञ्चन कनकयोरेकपर्य्यायत्वेन, च पुनरुक्तम् । तथा हे राधे ! भवत्या मुखवदनङ्को निष्कलङ्कोऽपि शुभ्रांशु श्चन्द्रो न भवतीत्यर्थः । अत्रापि मुख वदनयोः समान पर्य्यायत्वेन पुनरुक्तत्वं ज्ञेयम् ॥१०६॥

सिंहावलोक श्लोकान्तर गर्भ का दृष्टान्त--वह लोचन लोभनीय, लीलाविलास वैदग्ध्य निकेतन, नवीन नीरद निभ, भिन्न नित्यस्निग्ध, अपूर्व तेजः पदार्थ, जो अन्तः करण में चिन्तापरायण जन गण के पक्ष में रसके सृष्टि स्वरूप है, जो श्रीराधिका के प्रौढ़िम पूर्ण प्रेमसे आर्द्र है, वृन्दावन धाम में जो सचिरकाल रुचिरच्छवि होकर स्मर कल विस्तार कर विराजित है, हृदय धाममें अविराम उसकी अर्च्चना करो ॥१०३

यहाँ उसका गर्भस्थ श्लोकान्तर का अर्थ इस प्रकार है--पुरुषोत्तम के उस लीला विलास वलिमय, लोभ, प्रद, नव नीरदाभ तेजपुञ्ज, जो श्रीराधिका की प्रौढ़ि सम्मता रास क्रीड़ा को पोषण करते रहते हैं, सूर्य्यादि सुरवृन्द की प्रभा भी जिससे प्रभासित होता है,उसका भजन निरन्तर हृदयाभ्यन्तर में करो ।१०४।

जो पुनरुक्त के समान प्रतीयमान होता है--उसका नाम पुनरुक्त वदाभास है ॥१०५॥

अयं शब्दार्थ निष्ठोऽपि भवति ।

यथा—घन जलद रुचिर सुन्दर, धाममहः सञ्चयौघलिप्ताशः ।

विधुरमृतकरकलानिधि; रेष नभः पुष्करार्काशः ॥

अत्र शब्दवदर्थोऽपि पुनरुक्तवदाभासते, न तस्य पौनरुक्त्यम्, नभाः श्रावण स्तत् सम्बन्धि पुष्करं व्योम, तद्वत् आं सम्यक् काशः प्रकाशो यस्य स तथेति, कृष्ण पक्षे ऽनेनैव श्यामत्वोपलब्धेः । पुनर्घन जलदेत्यादिना पुनरुक्तवत् श्यामत्वमित्यर्थः प्रतिभासते, नतु पुनरुक्तः । वस्तुतस्तु नभः पुष्करा काशत्वस्य साध्यस्य घन जलदेत्यादि हेतुभूतम् । एवं चन्द्र पक्षेऽपि । तेनोक्तरूप शब्द परिवृत्तिवृत्तावपि विधुरिति नानाऽर्थस्य शब्दस्य स्थितौ तथा

घनेति । हे निविड़ जलदस्येव रुचिर सुन्दर श्रीकृष्ण ! पुनश्च हे सुन्दर देह ! एषस्त्वं विधुः । सर्वेषां संसार दुःखं विधुनोति हरतीति तथाभूतः सन् भासि । त्वं कथम्भूतः ? महः सञ्चयस्य कान्ति समूहस्य ओघेन वेगेन लिप्ता आशा दिक् येन सः । पुनः कथम्भूतः ? अमृतकरं कलानिधिः अमृतहरश्चासौ कलानिधिश्चेति, तथा कला वैदग्धी तस्या निधिरेव नभः पुष्करस्य श्रावण मास सम्बन्ध्याकाशस्येव आः सम्यक् काशः श्यामशोभायस्य सः ।

अत्र घन—जलद शब्दयो स्तथा रुचिर सुन्दरयोः, धाम-महसोः, सञ्चयौघयोरेक पर्य्यायत्वेन पुनरुक्त वदाभासत्वं ज्ञेयम् ।

चन्द्रपक्षे, हे निविड़ मेघेन सुन्दर !-किञ्चिद दूरवर्त्ति मेघेन चन्द्रस्य शोभातिशयो भवतीति सर्वैरेव दृश्यते इति ज्ञेयम् । कथम्भूतः ? अमृतकर कलानिधिः—अमृत किरणश्चासौ कलानिधिश्चेति तथा कला

अयि सुमुखि राधे ! तुम्हारे क्षीण तनु यष्टि के सदृश किसी कनकलता का निरीक्षण मैंने नहीं किया । एवं तुम्हारे मुख के सदृश निष्कलङ्क सुधांशु भी कहीं दृष्ट नहीं हुआ है ।

यह अलङ्कार शब्दार्थ निष्ठ भी होता है ॥१०६॥

उदाहरण—हे घन जलद जाल रुचिर सुन्दर द्युति परम पुरुष ! तुम विधु के समान दुःखान्धकार को विदूरित करके विश् वलयको तेज पुञ्ज के द्वारा विलिप्त किये हो । हे नाथ ! तुम अमृत कर हो, निखिल कला निधान एवं नभः पुष्कराकाश हो ।

इस श्लोक में शब्द के समान अर्थ भी पुनरुक्तवत् आभासित हुआ है । किन्तु वास्तविक उसकी पुनरुक्ति नहीं हुई । नभः शब्दसे श्रावण, एवं पुष्कर शब्द से गगन का बोध होता है । श्रावणमासीय गगन के तुल्य आकाश—अर्थात् आ सम्यक् काश-अर्थात् प्रकाश इस प्रकार अर्थ करना होगा । –

कृष्ण पक्षमें उक्त विशेषण के द्वारा ही श्यामत्व की उपलब्धि होने पर पुनर्वार "घनजलद जालरुचिर" विशेषण से श्यामत्व की पुनरुक्ति हुई है, इस प्रकार प्रतीत होता है, किन्तु वास्तविक पुनरुक्ति नहीं है । कारण, तुम निविड़ मेघ जाल के समान सुन्दर हो, इस हेतु श्रावण मासीय गगन के समान प्रकाशित हो रहे हो । इस प्रकार साध्य साधक भावसे उसकी व्याख्या करनी पड़ेगी ।

चन्द्र पक्ष में भी इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिये । चन्द्र एवं नभः – अर्थात् आकाश रूप सरोवर

विधार्थालङ्कारस्य स्थितत्वादर्थालङ्कारस्य प्राधान्यम् ॥१०७॥

इति श्रीमदलङ्कारकौस्तुभे शब्दालङ्कारनिर्णयो नाम सप्तमः किरणः ॥७॥

षोड़श भारास्तस्या निधिः। नभसि आकाशे पुष्करं श्वेत कमलमिव आ सम्यक् काशो दीप्तिर्यस्य, सरोवरे यथा श्वेतकमलं शोभते, तथैव नभोरूप सरोवरे चन्द्रोऽपीत्यर्थः ॥१०७॥

इति श्रीसुबोधिन्यां सप्तमः किरणः ॥

में, पुष्कर अर्थात् श्वेत पद्म के समान प्रकाशित होता है। अदूर में निविड़ जलदजाल उदित होने से चन्द्र को भी रुचिर बोध होता है।

इस श्लोक में उक्त विशेषण 'स्थित' शब्द समूह का परिवर्त्तन करने पर भी विधु—यह नानार्थ वाचक शब्द की स्थिति हेतु अर्थालङ्कार हुआ है। सुतरां अर्थालङ्कार का ही प्राधान्य है—यह कहना होगा ॥१०७॥

इति श्रीमदलङ्कारकौस्तुभे श्रीहरिदासशास्त्रिकृतानुवादे

सप्तमः किरणः ॥७॥

—**—

अष्टमः किरणः

—**—

अथार्थालङ्कारा उच्यन्ते—

यथाकथञ्चित् साधर्म्यमुपमा

उपमानोपमेययो यथा कथञ्चिद् येन केनापि समानेन धर्मेण सम्बन्ध उपमा। स चांशेन,

---

अर्थालङ्कार—निर्णयः

यथा कथञ्चिदिति सूत्रस्यार्थमाह—उपमानोपमेययोरित्यादिना। उपमानोपमेययोः सादृश्य सम्बन्ध उपमालङ्कारः। सादृश्य सम्बन्धमेवाह—यथा कथञ्चिदिति। एक--द्वयादि धर्मेण, नतु सकलेन धर्मेणेत्यर्थः। येन केनापीति साधारणेनापि धर्मेणेत्यर्थः। समानेनेति—उपमानोपमेयवृत्तिनेत्यर्थः। धर्मेणेति—धान्येन

शब्दालङ्कार निरूपण के पश्चात् अर्थालङ्कार का निर्णय करते हैं। उपमान एवं उपमेय का जिस किसी प्रकार से समान धर्म के द्वारा जो सम्बन्ध है, उसको उपमा कहते हैं। वह साधर्म्य सर्वांश

नतु सर्वरंशैः । सर्वांशत्वेनाभेदादुपमानोपमेय भाव न भवतीति ॥१॥

साभवेद् द्विधा

सा उपमा ॥२॥

पूर्णा लुप्तेति पूर्णातु धर्मेणेव–यथादिभिः

उपमानोपमेयाभ्याम्,

धर्मः सामान्य धर्मं आह्लादकत्वादिः । इव--यथा--वादय औपम्य वाचकाः । उपमानं चन्द्रादि, उपमेयं मुखादि, एतैर्युक्ता पूर्णा इत्यर्थः ॥३॥

इयमेवेव–वादिभिः ॥४॥

युक्ता श्रौती ॥५॥

इयमेव पूर्णा इव–यथा--वाऽऽदिभि र्युक्ता चेद् भवति, तदा श्रौती,। (पा० ५।१।११६) "तत्रतस्येव" इत्यनेन विहितो वतिश्च श्रौत्यामेव ।

समाद्यैस्तु सा स्यादार्थी च तद्धिते ॥६॥

धनवान् पुरुष इतिवदभेदे तृतीया ।

तथा चोपमानोपमेय वृत्त्येकद्वयादि साधारणधर्माभिन्नः सम्बन्धः सादृश्य सम्बन्ध इत्यर्थः । स च सम्बोन्धोऽंशेन एकद्वयादि धर्मेणेत्यर्थः, नतु सर्वैरंशैरिति, न तूपमान वृत्तिर्यावन्तो धर्मास्तैरित्यर्थः । अभेदादिति–स्वनिष्ठ----यावद्धर्मेण स्वसदृशं स्वयमेव, अतोऽभेदेनोपमानोपमेयभाव एव न सम्भवतीत्यर्थः ॥१--२॥

पूर्णा त्विति । यत्र वाक्ये आह्लादकत्वादि धर्म्म वाचकः शब्द, एवमौपम्यवाचकाश्चन्द्रादि निष्ठोपमानत्वबोधका इव यथादयः शब्दाः, एवमुपमानवाचकश्चन्द्रादि शब्दः, तथोपमेय वाचको मुखादि शब्दः, एतेसर्वेशब्दा यत्र वर्त्तन्ते, तत्रैव वाक्ये पूर्णोपमालङ्कारो ज्ञेय इति समुदायार्थः । किञ्च, औपम्य

में नहीं होता है, किन्तु अंश में ही होता है । इस प्रकार समझना होगा । सर्वांश में साधर्म्य होने से अभेद हेतु उपमान उपमेय भाव ही नहीं होगा ॥१--२॥

पूर्णा एवं लुप्ता भेद से उक्त उपमा द्विविध होती हैं । धर्म अर्थात् आह्लादकत्वादि साधारण धर्म, इव—यथा--वा इत्यादि औपम्य वाचक शब्द एवं उपमान चन्द्रादि एवं उपमेय मुखादि, ये सब विद्यमान होने से पूर्णोपमा होती है ।

यह पूर्णा ही इव वा इत्यादि शब्द युक्ता होने से श्रौती नाम से अभिहिता होती है ।

'तत्र तस्येव' इस पाणिनि सूत्रानुसार विहित वति प्रत्यय भी श्रौती स्थल में ही होता है ।

उक्त पूर्णा यदि सम, समान, सदृश, सदृक्ष, सदृक् तुल्य, सम्मित, निभ, चोर, बन्धु प्रभृति शब्द विशिष्ट होता है, तो उसको आर्थी कहते हैं,। एवं "तेन तुल्यं क्रिया चेत्" पाणिनि कृत इस सूत्रके अनुसार

सा पूर्णा समाद्यै र्युक्ता यदि भवति, तदा आर्थी। समादयस्तु सम-समान--सदृश--सदृक्ष--सदृक्--तुल्य--सम्मित--निभ--चौर--बन्धु प्रभृतयः । (पा० ५।१।११५) "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" इत्यनेन विहितेन वतिना चार्थी । तत्र "तेन तुल्यम्" इति तच्छब्द उपमान परः, तुल्यशब्द उपमेयपरः । तस्य तुल्यमित्यत्र विपर्य्ययः । उभयं तुल्यमित्युभयनिष्ठः ।

वाक्ये समासे चेत्येते षोढ़ा ॥७॥

एते श्रौती आर्थी च तद्धितादित्रिके षड् विधा भवन्ति। तद्धितन्तु वत्यादि । तद् यथा वति — कल्प — देश्य — देशीय – बहुच – प्रभृतयः । वाक्यं प्रसिद्धम्, समासश्च । तद्धितगा श्रौती, वाक्यगा श्रौती, समासगा श्रौती, तद्धितगा आर्थी, वाक्यगा–आर्थी समासगा आर्थी पूर्णा षड़ेव ॥

लुप्ता तु लोपतः
धर्मवाद्युपमानानामेक–द्वि–त्रि–क्रमेण हि ॥८॥

वाचका ये इव-यथा--सम--समान -सदृश--सदृक्षा इत्यादि शब्दास्तेषां द्वैविध्यं प्रकटय्य पूर्णाया अपि द्वैविध्यमाह—इयमेवेति ।

अत्र वतिप्रत्यये सूत्रद्वयं 'तस्य तुल्यम्' 'तेन तुल्यम्' इति च । तथा च 'तस्य तुल्यम्' इति सूत्रे विहित वति प्रत्यय श्रौत्यामेव पूर्णायां ज्ञेयः । अन्यस्तु आर्थी रूपायां पूर्णायां ज्ञेयः । विपर्य्यय इति—तस्योपमेयस्य तुल्यमुपमानमित्यर्थः । उभय तुल्यमित्युक्ते उपमानोपमेयोभयनिष्ठ धर्मं प्रतीयते लोपत इति कुत्रचिद् वाक्ये धर्मस्याह्लादकत्वस्य लोपः कुत्रचिद् धर्मस्य इवादेश्च द्वयोर्लोपः । कुत्रचिद् धर्मवाद्युपमानाना त्रयाणां लोपः । किन्त्विति—यत्र तस्योपमेयस्य तुल्यमित्यर्थे वतिप्रत्ययः, तत्रैव श्रौती लुप्ता । अत्र यदि धर्मलोपस्तदा वाक्यार्थ एव न सम्भवति । तद्यथा वक्ष्यमाणोदाहरणे--'त्वदाननस्य मधुरं लोचनानन्दि चन्द्रवत् ।

विहित वति प्रत्यय स्थल में भी आर्थी होती है । "तेन तुल्यं" इस पाणिनि में तत् शब्द उपमान पर है, एवं तुल्य शब्द उपमेय पर है । "तस्य तुल्यं" इस सूत्र में उसके विपरीत अर्थात् तद् शब्द उपमेय पर एवं 'तुल्य शब्द' उपमान पर होता है । उभय ही तुल्य हैं, इस प्रकार कहने पर सादृश्य उभय निष्ठ होता है ।

उक्त श्रौती एवं आर्थी प्रत्येक—तद्धितगत, वाक्यगत, एवं समासगत होकर षड् विध होती हैं । अर्थात् तद्धितगा श्रौती वाक्यगा श्रौति, समासगा श्रौती, एवं तद्धितगा--आर्थी, वाक्यगा आर्थी, एवं समासगा आर्थी—पूर्णा ये षड् विध होती हैं ।

वति, कल्प, देश्य, देशीय बहुच प्रभृति तद्धित प्रत्यय हैं ।

वाक्य एवं समास सुप्रसिद्ध है ।

धर्म, इवादि औपम्य वाचक शब्द एवं उपमान--इसके एक, दो, वा तीन का लोप होने से लुप्ता होती है । उक्त लुप्ता, धर्म लोप स्थल में पूर्णा के समान षड् विधा होनी चाहिये, किन्तु धर्म लोपस्थल में तद्धितगा श्रौती की असम्भाविता हेतु लुप्ता पञ्चविधा ही होती हैं ।

धर्मादीनामेकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा लोपतः लुप्ता भवतीत्यर्थः ।

धर्मलोपे क्रमेणैषा पूर्णावत् षड्विधोचिता ।
किन्तु तद्धितगा श्रौती लुप्तायां नेति पञ्चधा ॥

एषा लुप्ता तद्धितगादि-भेदेन पूर्णावत् षड्विधा भवितुमुचिता । श्रौती लुप्ता त्रिविधा, आर्थी लुप्ता त्रिविधेति । किन्तु धर्मलोपे तद्धितगा श्रौती लुप्ता न भवतीति पञ्च एव । वाक्यगा श्रौती लुप्ता, समासगा श्रौती लुप्ता, तद्धितगा आर्थीलुप्ता, वाक्यगा आर्थी लुप्ता, समासगा आर्थी लुप्तेति ॥९॥

क्यचि कर्माधारकृते कर्तृकर्मकृते णमि ।
क्यङि चेति पुनः पञ्चवादि लोपे यथा क्रमम् ।

कर्मकृते क्यचि, आधारकृते क्यचि, कर्तृकृते णमि णमुलि, कर्मकृते वा णमुलि क्यङि चेति सा लुप्ता पुनः पञ्चेति दश ॥१०॥

उपमानानुपादाने द्वैधं वाक्य-समासयोः

तत्र लुप्तायामुपमानानुपादाने सति वाक्यसमासयो निमित्तयोर्द्वैधं भवति ॥११॥

इवादेरनुपादाने द्वैधं स्यात् क्विप् समासयोः ।

पुनस्तस्यां इवादि लोपे क्विपि समासे च द्वैधम् ॥१२॥

अक्ष्णोश्च तव लालित्यं राधे नील सरोजवत् ।। इत्यत्र माधुर्यादि धर्मलोपे वाक्यार्थ सङ्गति नं स्यात् । तस्मात् तद्धितगा श्रौतीलुप्ता नास्तीत्यतो द्विधैव, अत श्रौती लुप्ता पञ्चधैव ॥३-९॥

णमीत्यस्य व्याख्या—णमुलि । यत्र वाक्ये समासे वा धर्मोपमानयोरुभयो लोपस्तत्र पुनर्द्वैविध्य मित्यर्थः । यत विवपि समासे च धर्मस्येवादेश्चोभयोर्लोपः, पुनस्तत्र द्वैविध्यम् । क्वचित् प्रत्यये उपमेयस्य

सुतरां श्रौती लुप्ता द्विविधा एवं आर्थी लुप्ता त्रिविधा है, अर्थात् वाक्यगा श्रौती लुप्ता एवं समासगा, श्रौती लुप्ता एवं तद्धितगा आर्थी लुप्ता एवं समासगा श्रौती लुप्ता एवं तद्धितगा आर्थी लुप्ता, वाक्यगा आर्थी, एवं समासगा आर्थी लुप्ता—इस रीतिसे पञ्चविध होती हैं ॥३--९॥

इवादि का लोप होने पर उक्त लुप्ता कर्म एवं आधार विहित क्यच् प्रत्यय, एवं कर्त्ता, कर्म्मविहित णमुल् प्रत्यय एवं कर्तृ विहित क्यङ् प्रत्यय स्थलमें पुनर्वार पञ्चविध होकर पूर्वोक्त पञ्चविधके सम्मिलन से दशविध होती हैं ।

उक्त लुप्तोपमा में उपमान का अनुपादान स्थल में वाक्य एवं समास निमित्त दो भेद होते हैं ।

इवादि का अनुपादान से क्विप् एवं समास स्थल में उक्त लुप्ता के पुनर्वार दो भेद होते हैं ।

धर्मोपमानयो लोपे द्वैधं वाक्यसमासयोः ।

पुनस्तस्या द्वैधमित्यर्थः ॥१३॥

धर्मेववादि लोपे तु द्वैधं स्यात् क्विप् समासयोः ।

पुनर्द्वैधमित्यर्थः ॥१४॥

उपमेयस्य लोपे तु स्यादेका प्रत्यये क्यचि ।

पुनरेका ॥१५॥

धर्मोपमेय लोपेऽन्या त्रिलोपे तु समासगा ॥१६॥

एवं दशैकादश च लुप्ता स्यादेकविंशतिः ।
पूर्णाः षडेव तेन स्युरुपमाः सप्तविंशतिः ॥

तत्र पूर्णादिक्रमेणोदाहरणानि ॥१७॥

तद्धितगा श्रौती पूर्णा यथा—

त्वदाननस्य माधुर्यं लोचनानन्दि-चन्द्रवत् ।
अक्ष्णोश्च तव लालित्यं राधे नीलसरोजवत् ॥

तत्र (पा० ५।१।११६) "तत्र तस्येव" इत्यनेन वतिः श्रौत्यर्थप्रतिपादकः" ॥१८॥

लोपे एकविधैव । धर्मोपमेययो द्वयोर्लोपे तु पुनरस्या एकविधा । तथा धर्मोपमेयोपमानधर्माणां लोपे समासगा लुप्ता एकविधैव, क्रमेण लुप्ता एकादश पूर्वोक्त दश च मिलित्वा—एकविंशति ज्ञेया ॥१०--१८॥

वाक्य एवं समास स्थल में धर्म एवं उपमान एतदुभय का लोप होने पर उसके दो भेद होते हैं । धर्म एवं इव-वा प्रभृति औपम्य वाचकका लोप होने पर क्विप् एवं समास स्थल में भी दो भेद होते हैं ।

उपमेय का लोप से क्यच्च प्रत्यय स्थल में एकभेद होता है । धर्म एवं उपमेय एतदुभय के लोप से भी एकभेद होता है, धर्म, उपमानवाचक एवं उपमान इन तीनों का लोप होने पर समास स्थल में भी एक भेद होता है ।

इस प्रकार एकादश एवं पूर्वोक्त दश, समष्टि में लुप्ता के एकविंशति एवं पूर्णा के षड् भेद होकर सप्तविंशति भेद उपमा के होते हैं ।

पूर्णादि क्रमसे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ॥१०-१७॥

तद्धितगा श्रौती पूर्णा का उदाहरण—हे राधे ! चन्द्रवत् तुम्हारे आनन का माधुर्य्य एवं नीलोत्पलवत् तुम्हारे नयनों का लालित्य,—लोक लोचन का परमानन्द का निदान स्वरूप है ।

इस श्लोक में चन्द्र एवं नीलोत्पल शब्द के उत्तर "तत्र तस्येव" इस सूत्र के अनुसार विहित वति प्रत्यय श्रौतीत्व का प्रतिपादक हुआ है ॥१८॥

वाक्यगा श्रौती पूर्णा यथा—

श्यामे वक्षसि कृष्णस्य गौरी राजति राधिका ।
कनकस्य यथारेखा विमले निकषोपले ॥

अत्र श्यामगौरत्वं धर्मः, यथा शब्द उपमावाची, उपमानं कनकरेखादि, उपमेयं राधादि । अत्र व्यङ्ग्यमपि धर्मान्तर—मुपमानगतम्, तद्यथा–कनकरेखा--निकषोपलयो निष्पन्दत्वेन राधाकृष्णयोरानन्दनिष्पन्दत्वम् ॥१९॥

समासगा श्रौती पूर्णा, यथा—

राधाकृष्णौ मम तड़िद् दाममेघाविवाक्षणोः, स्यातां तापप्रशमन कृतौपीतनीलप्रकाशौ ।
यावन्योऽन्यावयवरुचिभिः काञ्चनैरिन्द्रनीलै राक्लृप्तेन प्रकटमहसा निष्कराजेन तुल्यौ ॥

अत्र पूर्वार्द्धे इवेन नित्यसमासे विभक्त्यलोपः, पूर्वपदप्रकृतिः स्वरत्वञ्चेति इवेन समासः ॥२०॥

आर्थी तद्धितगा पूर्णा यथा—

कोमलं ते वपुस्तन्वि राधे भाति शिरीषवत् ।
परुषं वर्त्तते कस्मान्मनो दम्भोलिवत्तव ?

कनक रेखादीत्यादि पदेन निकषोपलञ्च ! 'राधादि' इत्यादि पदेन कृष्ण वक्षश्च ॥१९॥

राधाकृष्णौ ममाक्ष्णस्तापप्रशमनकृतौ स्याताम् । यौ राधाकृष्णौ परस्पराङ्गरुचिभिः स्वर्ण रिन्द्र नीलै श्चाक्लृप्तेन निष्कराजेन पदकश्रेष्ठेन तुल्यौ ॥२०॥

दम्भोलिवद् वज्रेण तुल्यम् । अत्र तेन तुल्यार्थत्वात् वतिः । अत आर्थी ज्ञेया । उत्तरार्धे निष्कराजेन तुल्यावित्यत्र समासगा भावाद्वाक्य गता आर्थी ज्ञेया ॥२१॥

वाक्यगा श्रौती पूर्ण का उदाहरण—कनक रेखा जिस प्रकार सुविमल निकषोपलोपरि परिस्फुट होकर विराजित है, गौराङ्गी राधिका उस प्रकार श्रीकृष्ण के श्यामल वक्ष स्थल में विराजत है ।

यहाँ श्यामत्व एवं गौरत्व धर्म है, जिस प्रकार शब्द— उपमा वाचक है, कनकरेखादि उपमान है, राधिका उपमेय है, यहाँ अन्य एकधर्म भी उपमान गत होकर व्यङ्ग्य हुआ है; कनक रेखा एवं निकषोपल की निष्पन्दता के द्वारा राधा कृष्ण की आनन्द निष्पन्दता सूचित हुई है ॥१९॥

समासगा श्रौती पूर्णा का दृष्टान्त—नव तड़िद्दाम एवं नवीन नीरद के समान पीतासित द्युति श्रीराधाकृष्ण-मदीय नयन युगल के ताप प्रशमन कारी हो, जिन्होंने परस्पर की अङ्गकान्तिच्छटा से स्वर्ण एवं इन्द्रनील मणि रचित पदकराज के सदृश शोभा को प्राप्त किया है ।

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में मूल श्लोकस्थित इव शब्द के सहित नित्य समास में विभक्ति का लोप नहीं हुआ है, एवं "पूर्व पदः प्रकृतिः स्वरत्वञ्च" इस सूत्र के अनुसार इव शब्द के सहित समास हुआ है ॥२०॥

आर्थी तद्धितगा पूर्णा का उदाहरण—अयि तन्वि राधिके ! तुम्हारा शरीर शिरीष कुसुमवत्

अत्र "तेन तुल्यं क्रियाचेत्" (पा० ५।१।११५) इत्यनेन वतिः। तेन तुल्यार्थत्वादार्थी। वाक्यगार्थी पूर्णा यथा 'राधां कृष्णौ मम नव तड़िद्दाम' इत्यादेरुत्तरार्द्धे "यादन्योन्यावयव रुचिभिः काञ्चनै र्नीलरत्नैराक् लृप्तेन प्रकटमहसा निष्कराजेन तुल्यौ"-अत्र वाक्यगतम्।२१

समासगा आर्थी पूर्णा यथा—

मृदुलमपि शिरीष तुल्यमङ्गं, कमलसमं विकसन्मुखं तवेदम्।
रसयति च वचः सुधासमानं, कथमशनिप्रतिमं मनो दुनोति?

इति पूर्णायाः षड् भेदाः ॥२२॥

अथ धर्मलोपे वाक्यगा श्रौती लुप्ता यथा—

राधे सुन्दरताङ्गेषु वाग् भङ्गी वदने तव।
मनसि प्रेम वैदग्धी सत्यं वच्मि सुधा यथा ॥२३॥

समासगा श्रौती लुप्ता यथा—भ्रुवौ तव धनुर्लते इव तदग्रतो लोचने
लसत् मदिर दम्पती इव पुरस्तयो र्नासिका।

हे राधे! तवाङ्गमिदं मुखञ्च सुधा समानं वचश्च मां रसयति, सुखयतीत्यर्थः। कथं वज्रतुल्यं तव मनो मां दुनोति॥२२॥

हे राधे! अहं सत्यं वच्मि, तवाङ्गेषु सुन्दरता सुधेवस्वाद्वी। अत्र स्वादुत्वबोधक—पदाभावादेव धर्मलोपो ज्ञेयः, तथापि धर्मवाचकपदस्याध्याहारादेव शाब्दबोधो ज्ञेयः। एवमुपमानादिलोपोऽपि बोध्यम्॥२३॥

धर्मलोपे समासगां लुप्तामाह— भ्रुवाविति। धनुर्लते इव, दक्षे मदिरदम्पती खञ्जन स्त्री पुरुषौ

सुकुमार है, किन्तु अन्तः करण क्यों कुलिशवत् कठोर रूप से प्रकाशित है?

यहाँ "तेन तुल्यं क्रियाचेत्" इस पाणिनि सूत्र के अनुसार उसके सहित तुल्य इस अर्थ में वति प्रत्यय होने पर आर्थी हुआ हैं। वाक्यगा आर्थी पूर्णा--यह है—

"नव तड़िद्दाम एवं नव नीरद के समान पीतासित द्युति" इत्यादि पूर्वोक्त श्लोक के उत्तरार्द्ध में जो परस्पर की अङ्ग कान्तिच्छटा से स्वर्ण एवं इन्द्रनीलमणि रचित पदकराज के तुल्य है। इत्यादि अंश है। यहाँ समासाभाव प्रयुक्त वाक्यगता आर्थी हुई हैं॥२१॥

समासगा आर्थी पूर्णाका दृष्टान्त—हे राधे! तुम्हारे शिरीष सदृश सुकुमार अङ्ग, पङ्कजोपम प्रफुल्ल मुख मण्डल एवं सुधा सहोदर वचन चातुरी,--मुझ को अनुरागरसार्द्र कर रही है,किन्तु तुम्हारा अन्तःकरण अशनि प्रतिम होकर क्यों मुझ को इस प्रकार व्यथित कर रहा है। इस प्रकार पूर्णाके षड् भेद होते हैं।२२

धर्म लोप में वाक्य गा श्रौती लुप्ता का उदाहरण—हे राधे! सत्य कहता हूँ। तुम्हारे सर्वाङ्ग में सुन्दरता, वदन-मण्डल में वाग्भङ्गि एवं हृदयाभ्यन्तर में प्रेम वैदग्धी-ये सभी सुधा तुल्य हैं। यहाँ "सुधा तुल्य स्वादु" इत्यादि स्वादुता बोधक पदका अभाव हेतु धर्म लोप हुआ है॥२३॥

स्मरेषुधिरिव स्फुरत् पुरटनिर्मिताऽधोमुखी
तदीय शिखरे न्यधाद् भमिव कः कृती मौक्तिकम् ? ॥२४॥

तद्धितगा आर्थी लुप्ता, यथा—
शिरीषकल्पान्यङ्गानि राधे सृष्ट्वा विधिस्तव ।
दम्भोलिदेश्यं धीराक्षि चेतो निरमिमीत किम् ? ॥२५॥

वाक्यगा आर्थी लुप्ता, यथा—तवास्यं समम्बुजेन मधुना सदृशं स्मितम् ।
राधिके सुधया तुल्या वाचि शब्दार्थमाधुरी ॥२६॥

समासगा आर्थी लुप्ता यथा—
कनकशम्भुसमौ वत ते कुचौ, मम करावपि नीरज सन्निभौ ।
त्वमसि चन्द्रकशेखरसेविनी, यदुचितं तदिहाद्दिश राधिके ॥२७॥

अर्थवादि--लोपे कर्मक्यचि यथा—
वाणीयति कटाक्षं ते कार्मुकीयति यो भ्रुवम् ।
वृथा कामः पुष्पवाणकार्मुको भुवि विश्रुतः ॥२८॥

इव चञ्चले स्मरस्य कन्दर्पस्य स्वर्ण निर्मिताधो मुखी इषुधि स्तूण इव नासिका मनोहरा । तस्यां नासिकायाः शिखरे अग्रभागे भमिव नक्षत्रमिव ॥२४॥

शिरीष कल्पानि शिरीषतुल्यानि कोमलानि, दम्भोलिदेश्यं वज्रतुल्यं कठोरमिति धर्मलोपो ज्ञेयः ॥२५--२६॥

चन्द्र शेखरो महादेवः, पक्षे, अहम् ॥२७॥

यः कामस्तव कटाक्षं वाणीयति वाणमिवाचरति, भ्रुवं कार्मुकमिवाचरति, स कामः पुष्पनिर्म्मितो

समासगा श्रौती लुप्ता का उदाहरण—सुन्दरि ! तुम्हारे भ्रू युगल धनुलता के समान हैं, उसके अग्रभागमें लोचन द्वय क्रीडाशील खञ्जन युगलके तुल्य हैं एवं उसके सामने नासिका रतिपति की स्वर्णमयी इषुधि के समान शोभित है । कौन कृती उसके शिखर देशके नक्षत्र के समान एक मौक्तिक का विन्यास किया है ? ॥२४॥

तद्धित गा आर्थी लुप्ता का उदाहरण—अयि धीराक्षि राधिके ! विधिने क्या तुम्हारे कलेवर को शिरीष कुसुम को अवलोकन कर एवं अन्तः करणको वज्र तुल्य निर्म्माण किया है ॥२५॥

वाक्यगा- आर्थी लुप्ता का निदर्शन यह है—राधिके ! तुम्हारे मुख मण्डल कमल तुल्य है, एवं ईषत् हसित मधु सदृश है, तथा वाक्य विन्यास में शब्दार्थ माधुरी सुधा के समान है । २६॥

समासगा आर्थी लुप्ता का उदाहरण—हे राधिके ! तुम्हारे कुच युगल कनक शम्भु सदृश हैं, मेरे कर द्वय भी सरोज सन्निभ हैं, तुम भी चन्द्र शेखर की सेवा परायणा हो— सन्देह नहीं है, अतएव यहाँ जो कर्त्तव्य है, उसका अनुष्ठान करने के निमित्त अनुमति प्रदान करो ॥२७॥

आधारक्यचि यथा—वनीयति गृहे राधा गृहीयति वनान्तरे ।
यावदालोकितः कोऽपि तया नवघनद्युतिः ॥२६॥

क्यङि यथा—हरीयते सा स च राधिकायते, निरन्तरं भावनयोभयोरुभौ ।
विपर्य्ययेणापि विपर्य्ययोत्थितां, वियोगबाधां सदृशीमुपेयतुः ॥३०॥

कर्म्मणि णमुलि, यथा—
राधे सुधाधामदर्शं पश्यन्मुखमिदं तव ।
कर्त्तरि णमुलि, यथा—कृष्णश्चकोरसञ्चारं सञ्चरत्येष लालसः ॥
—एवं दश ॥३१॥

उपमानानुपादाने द्विधा । वाक्यसमासयोः, यथा—
त्वदाननस्य सदृशं किमपीह न दृश्यते ।
—इति वाक्यगा ॥३२॥

वाण कार्मुकौ यस्य तथाभूतः सन् भुवि वृथाविख्यातः ॥२८॥

गृहे वनीयति वने इवाचरति, वनमध्ये गृहीयति–गृहे इवाचरति ॥२६॥

क्यङि यथेति । उभयो राधा कृष्णयोर्मध्ये सा राधा निरन्तरं श्रीकृष्णस्य भावनया हरीयते, अहमेव हरिरित्यात्मानं हरिमिवाचरति । तथा स च श्रीकृष्णोऽपि निरन्तरं श्रीराधिका भावनया राधिकायते, अहमेव राधिकेत्यात्मानं राधिकामिवाचरति । विपर्य्ययेण राधिकायाः श्रीकृष्ण रूपत्वस्य श्रीकृष्णस्य श्रीराधिकारूपत्वस्य च विपर्य्ययेण । विपर्य्ययोत्थितामिति श्रीराधिकायाः स्वस्य श्रीकृष्णत्व भावनया श्रीकृष्णविरहपीड़ाद्यभावेऽपि श्रीकृष्णस्य यथा राधिका विरह पीड़ा जायते, तत् सदृशी राधिका विरह पीड़ा राधिकाया भवत्येव । एवं श्रीकृष्णस्य स्वस्य राधिकात्वं भावनया राधिका विरह पीड़ाद्यभावेऽपि श्रीराधिकाया यथा कृष्ण विरह पीड़ा जायते, तत्त सदृशी श्रीकृष्ण विरह पीड़ा श्रीकृष्णस्य भवत्येवेत्यर्थः ॥३०

हे राधे ! सुधा धाम्नश्चन्द्रस्य दर्शनमिव तव मुखं पश्यन् ! कृष्णश्चकोरस्य सञ्चरणमिव

'इवादि लोप होने पर कर्मविहित क्यच् प्रत्यय स्थल में लुप्ता का उदाहरण—जो तुम्हारे कटाक्ष को लेकर बाण के समान एवं भ्रूलता को कार्मुक के समान व्यवहार करता है, वह कन्दर्प पुष्प बाण एवं पुष्प धन्वा रूप में वृथा भूतल में ख्याति लाभ किया है ॥२८॥

आधार विहित क्यच् प्रत्यय का दृष्टान्त—जिस समयसे राधिकाने घन श्याम रूप उस अनिर्वचनीय पुरुष को देखा है—उस दिन से गृह में अरण्य के समान आचरण एवं अरण्य में गृहके समान आचरण किया है ॥२६॥

क्यङ् प्रत्यय स्थल का दृष्टान्त—निरन्तर उभयने उभय की भावना करने पर राधिका भी अपने को कृष्णमान कृष्णवत् आचरण करने लगी, कृष्ण भी अपने को राधिका मानकर राधिका के समान आचरण करने लगे । विपर्य्यय में भी उभय ही विपर्य्ययोत्थित तुल्य रूप वियोग वेदना का अनुभव किये थे ॥३०॥

कर्म एवं कर्त्त विहित णमुल प्रत्यय स्थल का दृष्टान्त—राधे ! तुम्हारे सुधाकर दर्शनीय वदन

नहि त्वत्सदृशी क्वापि राधे कापि विलोक्यते ॥

—इति समासगा ॥

इवाद्यनुपादाने क्विप् समासगतत्वेन द्वैधं यथा—

अशनति कुसुममशनिः कुसुमति हालाहलत्यमृतम् ।
हालाहलमप्यमृतति, समयेऽस्या दुःखसुखवत्वे ॥३३॥

—इयं क्विब्गा ।

नव धाराधरश्याममभिराममिदं महः ।
आनयन्नयनानन्दं कस्य नो हरते मनः ? ॥३४॥

—इयं समासगा ।

धर्मोपमानयो र्लोपे द्वैधं यथा—

तम्मसि किंत्ति पिअन्ती, कट्ठरसं मुरलिवा अणे कण् ह ।

सञ्चरति ॥३१-३२॥

अस्या राधिकायाः समये श्रीकृष्ण विच्छेद समये दुःखमय वस्तुनः सुखद वे सति कुसुममशनिरिव भवति,—पुष्पस्योद्दीपनत्वेन वज्रतुल्य—तापकत्वात् । तथा अशनिः कुसुममिव भवति, वज्रस्य सद्यः प्राणहारकत्वेन विरहज्वाला निवर्त्तकत्वाद् वज्रः कुसुममिव भवतीति तस्या अभिप्रायः । अमृतस्य मरण निवर्त्तकत्वेनामृतमपि हालाहल तुल्य भवति, तथा हालाहलस्य सद्यः प्राणहारकत्वेन हालाहलमप्यमृत तुल्य भवति, जीवनापेक्षया मरणं तस्याः सुखदं भवतीति ज्ञेयम् ॥३३॥

नवीन मेघस्येव श्याममित्यत्र ज्ञेया ॥३४॥

"ताम्यसि किमिति पिबन् काष्ठं रसं मुरली वादने कृष्ण !
यस्यसमोनास्ति रसः स इह नगरे गृहे गृहे भवति ॥"

मण्डल को निरीक्षण करके श्रीकृष्ण लीलसा हेतु चकोर सञ्चार से इतस्ततः सञ्चरण करने लगे थे ।३१।

उपमान का अनुपादान स्थल में वाक्य गत एवं समास गत होकर जो द्विविध होते हैं, उसका उदाहरण—इस भू मण्डल में तुम्हारे आनन के तुल्य और कुछ भी दृष्टि गोचर नहीं होता है । यहाँ वाक्यगा हुई है ।

हे राधिके ! तुम्हारे सदृश मैंने किसी को कहीं पर नहीं देखा है । यहाँ समासगा है ॥३२॥

इवादिका अनुपादान स्थल में क्विप् एवं समास गत होकर जो द्विविध भेद हैं—क्रमशः उसके उदाहरण—

कृष्ण विच्छेद रूप दुःख कर समय में कुसुम भी इसके सम्बन्ध में अशनि के तुल्य एवं अमृत भी हालाहल के तुल्य आचरण करता है । एवं सम्मिलन रूप सुखद समय में अशनि भी कुसुम के सदृश हलाहल भी अमृत के तुल्य आचरण करता है ॥३३॥

यह नवीन नीरद श्याम अभिराम तेजः पुञ्ज नयनानन्द उत्पादन पूर्वक किसका चित्त हरण नहीं करता है ? यह समासगा है ॥३४॥

धर्म एवं उपमाण के लोप से जो द्वैविध्य होता है.— उसका उदाहरण —

जस्स समोणत्थि रसो, सो इह णअरे घरे घरे होइ ॥३५॥

अत्र यस्य समो नास्तीत्युपमानलोपो धर्मलोपश्च । इयं वाक्यगा । इहैव 'जच्छरिसो णत्थि रसो' इति पाठे समासगा । धर्मेव–वादि लोपे क्विप् समासगतत्वेन द्वैध यथा--

'अशनयति कुसुमम्' इत्यादौ 'हन्त कदाचिदपि तासाम्' इति चतुर्थ चरणे 'यदि स्यात्तदा' इवादि लोपे धर्म लोपे च क्विव्गा ।

राधे शारदपीयूषमयूखमुखि मौनताम् ।
मुञ्चपीयूषवचनैः सिञ्च मे कर्णयोर्युगम् ॥३६॥

बद्धो राधिकयाऽपाङ्गलतया कृष्ण कुञ्जरः ।
तत् केलिसाधनीभूतो न गन्तुं क्वचिदर्हति ॥३७॥

अत्रधर्मेव--वादिलोपे समासगा ।

उपमेय लोपे क्यचि तु एका यथा--

कोमलासि प्रकृत्यैव शिरीषादपि राधिके ।
अहो मानस्य माहात्म्यं येनत्वमशनीयसि ॥३८॥

अत्रात्मानमशनीयसीति वक्तव्ये आत्मशब्दस्योपमेयस्य लोपः ॥

अत्र यस्यसमो नास्तीत्युपमान लोपो धर्म लोपश्च, यत् सदृशो नास्ति रस इति पाठे यत् सदृश इति समासगा उपमा ज्ञेया । अशनयतीत्यत्र पद्ये चतुर्थ चरणे दुःख सुखदत्व रूप धर्म बोधक पदं विहाय हन्तेत्यादि चतुर्थ चरणे सति धर्म लोपोऽप्यस्मिन् पद्ये ज्ञेयः । शरत् कालीन चन्द्रमुखीत्यत्र समासगा तथा धर्म लोप इव लोपश्च, तथा 'कृष्णः कुञ्जरः' इवेत्यत्र धर्मलोप इवादि लोपश्च । तत्तस्मात् तव केलिसाधन भूतः कृष्णो गन्तुं नार्हतीति ॥३५--३७--३८॥

हे कृष्ण ! काष्ठ रसपान पूर्वक मुरली वादन में क्यों इतना क्लेश उठा रहे हो ? जिस के तुल्य रस और है ही नहीं, वह इस नगर के गृह गृह में विद्यमान है ।

इस श्लोक में "जिसके तुल्य" यहाँ 'यत् सदृश पाठ करने पर समासगा होती है ।

कुसुम भी अशनि के तुल्य एवं अमृत भी हलाहल के तुल्य आचरण करता है, इत्यादि पूर्व श्लोक में कृष्ण विच्छेद रूप दुःखकर समय में, एवं "सम्मिलन रूप सुखद समय में" इस अंश को परित्याग कर "हाय ! कभी उन सबों का" इस प्रकार पाठ करने से इवादि लोप एवं धर्म्मलोप स्थल में क्विप् प्रत्ययगा का उदाहरण होता है ।

अयि शरच्चन्द्र मुखि ! तुम मौनभाव को छोड़कर वचनामृत से मेरे श्रवण युगल को सेचन करो ।

राधिका ने अपाङ्गलता के द्वारा कृष्ण कुञ्जर को बन्धन किया है । अतएव वह तुम्हारा क्रीड़ा साधन होकर सम्प्रति अन्यत्र गमन करने में अक्षम है । यहाँ धर्म एवं इवादि का लोप से समासगा का उदाहरण हुआ है । क्यच् प्रत्यय स्थल में समासगा का उदाहरण,—राधिके ! तुम स्वभावतः ही शिरीष पुष्पाधिक सु कोमला हो, किन्तु मानका कैसा विचित्र माहात्म्य है कि—सम्प्रति तुम अशनि के तुल्य

धर्मोपमेयलोपे यथा–

जयतिमनोभवसिद्धिः, कापि शरच्चन्द्रमः समं दधती।

इत्यत्र उपमेयलोपे धर्मलोपश्च, 'शरच्चन्द्रसमललितास्य' इति यतो नकृतम्।

त्रिलोपे समासगा, पूर्वस्यैवोत्तरार्द्धम्।

चकित मृगशावनयना, नयनानन्दं सकोरोच्चैः ॥३९॥

अत्र मृगशावस्य नयने इवायते नयने यस्या इति समासे उपमानम्, तद्द्योतकमिवादि च तद्धर्मश्च, त्रयाणां लुप्ततेत्येकविंशतिः। पूर्णाभिः सह सप्तविंशतिः ॥

एकत्वमुपमेयानामुपमानामनेकता।
धर्मैकरूप्य वैरूप्ये द्विधा मालोपमा भवेत् ॥४०॥

उपमा, प्रपञ्चोऽयम्। उदाहरणम्—

मूलस्थितेनेव महोरगेण, लता दवेनेव कुरङ्ग बाला।

मनोभवस्य कन्दर्पस्य सिद्धिं रूपा कापि वजसुन्दरी जयति। कथम्भूता ? 'शरच्चन्द्रमसं दधती' इत्यत्र मुखपदस्य लालित्यरूप-धर्म बोधक—पदस्य च लोपो ज्ञेयः। शरच्चन्द्र ललितास्येत्युक्त उभयोरेव विद्यमानत्वात् धर्मोपमेययो लोपः। जयति मनो, भवसिद्धिः कापीति शरचन्द्रमसं दधतीति, पूर्वार्धस्योत्तरार्धं चकित मृग शावत्यादि ॥३९॥

यत्रोपमेयानामेकत्वमुपमानानामनेकत्वम् तत्र मालोपमा भवेत्। सा द्विविधा। यत्रोपमेयोपमानयोरेक एव धर्मस्तत्रैका। यत्रोपमेयस्यैको धर्म उपमानानामेको धर्मस्तत्रान्या। लता यथा मूलस्थितेन महासर्पेण

आचरण कर रही हो ?

यहाँ 'अशनि के तुल्य आचरण कर रही हो' इस वक्तव्य में उपमेयभूत आत्मन शब्दका लोप हुआ है।३५-३८

धर्मोपमेयलोप दृष्टान्त—मनोभव की सिद्धि स्वरूपा वह अनिर्वचनीया नारी है, जिसने शरच्चन्द्र को धारण किया है। उसकी जय हो।

यहाँ "शारद चन्द्र सदृश सुललित वदना" इस प्रकार नहीं कहा गया है। अतः यहाँ उपमेय एवं धर्म उभय का ही लोप हुआ है।

त्रिलोप स्थल में समासगा लुप्ता का उदाहरण—पूर्व श्लोक के उत्तरार्द्ध में है। यथा—

वह चकित मृग शावक नयना निरतिशय नयनानन्द विधान किया। यहाँ मृग शावक के नयन के तुल्य आयत नयन है, जिस के—इस प्रकार समास में उपमान एवं उपमानद्योतक इवादि एवं तद् द्योतिक धर्म, एतत् त्रय का ही लोप हुआ है। इस प्रकार लुप्ता के एकविंशति भेद होते हैं। पूर्णा के सहित मिलित होकर सप्तविंशति संख्या होती है।३९।

उपमेय की एकता एवं उपमान की अनेकता होने से मालोपमा होती है।

उक्त मालोपमा, धर्म की एकरूपता एवं नाना रूपता हेतु द्विविध होती है। उदाहरण—

हिमागमेनेव सरोजिनी सा, भवद् वियोगेन दुनोति राधा ॥

—अत्र धर्मैकरूप्यम् ॥४१॥

त्रैलोक्यसम्पदिव निर्भरगर्वहेतु माध्वीकपीतिरिव विह्वलताविधात्री ।
प्रस्वापनास्त्रफलिकेव मनोभवस्य, त्वं ज्ञानविप्लवकरी मम भासि राधे ॥

अत्र वैरूप्यं नानाविधत्वात् ॥४२॥

उपमेयस्योपमात्वमुत्तरोत्तरतो यदि ।
अभिन्नभिन्नहेतुत्वे द्विधा सा रसनोपमा ॥४३॥

यथा—आकृतिरिव ते प्रकृतिः, प्रकृतिरिव व्यवहृतिः सुमुखि !
व्यवहृतिरिव सत् कीर्त्ती, रम्या रमणी सभासु सखि राधे ॥४४॥

—अभिन्नधर्म्मा ।

दुनोति, एवं कुरङ्ग बाला यथा दावानलेन दुनोति, तथा हे कृष्ण ! सा राधा भवद् वियोगेन दुनोतीति । अत्रोपमेयोपमानानां तापाश्रयत्वरूपैकधर्मो ज्ञेयः ॥४०-४१॥

त्रैलोक्य-सम्पद् यथा निर्भराहङ्कार हेतुः, एवं माध्वीकस्य पीतिः पानं यथा विह्वलताकर्त्री, तथामनोभवस्य कन्दर्पस्य जृम्भणास्त्रस्य फलिका यथा विह्वलताकर्त्री, तथा त्वमपि मम ज्ञानस्य पूर्वापरानुसन्धानस्य विप्लवकरी नाशकरी ॥४२॥

उपमेयस्योपमानत्वमुत्तरोत्तरे यदि भवति, तदारसनोपमालङ्कारो ज्ञेयः । सा उपमा द्विधा । उपमानोपमेययोरभिन्न एको धर्मश्चेदुपमालङ्कारस्य हेतुस्तदेका । एवमुपमेयोपमानानां भिन्ना नानाधर्माश्चेद्धेतवस्तदा अन्या । एवं क्रमेण द्विधा रसनोपमा ॥४३॥

आकृतिरिव प्रकृती रम्या । प्रकृतिरिव व्यवहृति व्यवहारोरम्येत्यादौ सर्वत्र रम्यत्वरूप एकोधर्म्मः ॥४४॥

मूलस्थित महोरग के उत्पीड़न से लता के समान, दावानल के उपद्रव से हरिणी के समान, हिमागम से सरोजिनी के समान तुम्हारे विरह से राधा अतिशय विधुरा हो गई है । यहाँ धर्म की एक रूपता हुई है ॥४०--४१॥

त्रैलोक्य सम्पत्ति जिस प्रकार निरतिशय गर्वहेतु है, माध्वीक पान जिस प्रकार विह्वलता का निदान है, कन्दर्प के प्रस्वापनास्त्र की फलिका जिस प्रकार ज्ञान विप्लव करी है, हे राधे ! मेरे पक्ष में भी तुम उसी प्रकार हो । यहाँ धर्म की विविध रूपता हुई हैं ॥४२॥

उपमेय का उत्तरोत्तर उपमानत्व होने पर उस को रसनोपमा कहते हैं । अभिन्न धर्मता एवं भिन्न धर्म्मता हेतु उक्त रसनोपमा द्विविधा होती हैं ॥४३॥

उदाहरण—सखि सुमुखि राधिके ! रमणी मण्डल में तुम्हारी प्रकृति आकृति के अनुरूप है, व्यवहृति प्रकृति के समान हैं, एवं सत् कीर्त्ति व्यवहृति के समान रमणीया है । यहाँ धर्म अभिन्न हुआ है ॥४४॥

वपुरिव मधुरं रूपं, रूपमिवानन्ददायि गुणवृन्दम् ।
गुणवृन्दमिव विशुद्धं, यशः कृशाङ्गी--सभासु तव राधे ॥४५॥

— भिन्नधर्म्मा ।

एकस्यैवोपमानोपमेयमेयत्वेऽनन्वयोपमा ।

एक वाक्ये,

उपमानान्तराऽसम्बन्धोऽनन्वयः ॥४६॥

यथा—आलोकि सा बालकुरङ्गनेत्रा, राधेव राधा भुवनेऽद्वितीया ।
अद्यापि मे सन्ति मनोनिखाता--स्ते तत् कटाक्षा इव तत् कटाक्षाः ॥४७॥

विपर्य्यासे उपमेयोपमा द्वयोः ॥४८॥

द्वयोरुपमानोपमेययो विपर्य्यासे उपमेयोपमा ।

यथा—तनुरिव शोभा शोभेव तनुर्गरिमेव मधुरिमा तस्याः ।
अथ मधुरिमेव गरिमा, राधायाः किमपरं ब्रूमः ?॥४९॥

यथा वा—हरिरिव राधा राधेव हरिर्गरिमेव मधुरिम च तयोः ।
अथ मधुरिमेव गरिमा, महिमेव कृपा कृपेव महिमा च ॥५०॥

इयमेवान्योन्योपमा ।

वपुरिवेति । वपुर्यथा तव प्रत्यङ्ग सौष्ठवं तथा रूपमपिमधुरम् । रूपं यथा मधुरं तथा गुणवृन्दमपि आनन्ददायि । एवं क्रमेणात्रोपमा भिन्न धर्मा नानाधर्म्मा इत्यर्थः ॥४५--४६॥

तस्या राधायास्ते कटाक्षास्तस्या राधायाः कटाक्षा इवाद्यापि मम मनसि निखाता निमग्नाः सन्ति ।४७।

विपर्य्यासे उपमेयस्योपमानत्वे उपमानस्योपमेयत्वे सतीत्यर्थः ॥४८॥

इयमुपमेयोपमैवान्योन्योपमालङ्कारो ज्ञेयः ॥४९--५०॥

हे राधे ! कृशाङ्गी समाज में तुम्हारा रूप तुम्हारे शरीर के समान मधुर है, तुम्हारी गुण राशि तुम्हारे रूप के समान आनन्द दायक है, एवं तुम्हारा यशः तुम्हारी गुण राशि के समान विशुद्ध है । यहाँ भिन्न धर्म है ॥४५॥

एक वाक्य स्थल में यदि एक वस्तु का ही उपमानत्व एवं उपमेयत्व होता है तो उसको अनन्वयोपमा कहते हैं । उपमानान्तर के सहित सम्बन्ध न होने के कारण ही अनन्वयनामक अलङ्कार होता है ॥४६॥

सुन्दरी बाल कुरङ्ग नयना राधा के समान उस राधा को मैं निरीक्षण किया हूँ, उसका कटाक्ष के समान ही उसकी कटाक्ष च्छटा अद्यापि मेरे मन में निविष्ट होकर है ॥४७॥

उपमान एवं उपमेय का परस्पर विपर्य्यास होने पर उपमेयोपमा होती है ॥४८॥

उस सुन्दरी की शोभा तदीय तनुके समान है, तनुभी शोभा के समान है, एवं तदीय मधुरिमा--

उपमानस्य निन्दायामयोग्यत्वे निषेधतः ।
प्रशंसा योपमेयस्य सोपमेयोपमाऽपरा ॥५१॥

यत्रेति शेषः ।

यथा—कल्पद्रुमे स्थावरता दृढ़त्वं, चिन्तामणौकामगवीषु गोत्वम् ।
स्वभक्तसङ्कल्प विधे विधाने, हे नाथ कृष्ण त्वमिव त्वमेव ॥५२॥

अत्रोपमानस्य निन्दा ।

इन्दीवरं वा दलिताञ्जनं वा, नवाम्बुदो वा मघवन्मणिर्वा ।
कृष्णस्य धाम्नः सदृशं न किञ्चित्तदीयधामेव तदीयधाम ॥५३॥

अत्रायोग्यत्वे निषेधः ।

एवमन्येऽपि बहवः सन्ति, ग्रन्थ गौरव भयान्नोदाह्रियन्ते ॥

असम्भाव्यं समुद्भाव्योपमानेऽसम्भवोपमा ॥५४॥

या क्रियते इति शेषः ।

उपमानस्य निन्दायां सत्यां यत्रोपमेयस्य प्रशंसा एवमुपमानस्ययोग्यत्वे सति तस्य निषेधादुपमेयस्य प्रशंसा, सा अपरा उपमेयोपमा ॥५१-५२॥

मघवन्मणिरिन्द्रनीलमणिः । श्रीकृष्णस्य धाम्नः कान्तेः सदृशं न किञ्चिदस्ति ॥५३॥

असम्भाव्यमिति । उपमाने ऽसम्भाव्यं यद्वस्तुनः सम्भावना नास्ति तस्य सम्भवनं कृत्वा योपमाक्रियते सोऽसम्भवोपमा ॥५४॥

तदीय गरिमा के समान है, उसकी गरिमा भी उसकी मधुरिमा के समान है ॥४९॥

उदाहरणान्तर—राधा—हरि के तुल्य है, हरि भी राधा के सदृश है, उभय की मधुरिमा उभय की गरिमा के समान है, उभय की कृपा उनकी महिमा के समान है, दोनों की महिमा भी दोनों की कृपा के तुल्य है । यही अन्योन्योपमा है ॥५०॥

जहाँ उपमान की निन्दा के द्वारा उपमेय की प्रशंसा होती है, अथवा उपमान की अयोग्यता हेतु उसके निषेध के द्वारा उपमेय की प्रशंसा होती है, वहाँ और एक प्रकार उपमेयोपमा होती है ॥५१॥

उदाहरण—कल्पद्रुम में भी स्थावरत्व, चिन्तामणि में भी दृढ़त्व एवं काम धेनु में गोत्व है, अतएव स्वकीय भक्त के सङ्कल्प पूर्ण हेतु हे नाथ श्रीकृष्ण ! तुम तुम्हारे ही सदृशी हो । यहाँ उपमान की निन्दा हुई है ॥५२॥

इन्दीवर हो, अथवा दलिताञ्जन हो, नवाम्बुद हो वा इन्द्रनीलमणि हो श्रीकृष्ण के श्रीअङ्ग के सदृश कोई भी पदार्थ नहीं है, तदीय तनु तदीय तनुके सहित ही तुलनीय है ।

यहाँ और भी अनेक भेद हो सकते हैं, ग्रन्थ विस्तार हेतु वे सब उदाहृत नहीं हुये ॥५३॥

यथा—पूर्णः सदैवास्तु सुधामयूखः, कलङ्कहीनश्च सदैव भूयात् ।
नायं चकोरैरपि पीयतां च राधे त्वदास्येन तुलां बिभर्तु ॥५५॥
अयं चन्द्रः सदा चकोरैः पीतोऽपि यदि कदाचिच्चकोरैः न पीयतां तुलां न विभर्त्तु ॥५५॥

सम्भावनोपमानेनोपमेयोत्कर्षहेतुका ।
उत्प्रेक्षा नूनमित्यादि-शब्दद्योत्या ॥५६॥

उत्प्रेक्षानामालङ्कारः । सम्भावना हेत्वन्तरोपन्यासेन वितर्कणम् । नूनं, मन्ये, शङ्के, इव, ध्रुवम्, नु, किम्, किमुतेत्यादयो नूनमादयः ।

यथा—नष्टो नष्टः प्रतिकुहु मुहुः पूर्णतामेति चन्द्रो
राकां राकां प्रति न तु भवेदन्यरूपः कदापि ।

सुधामयूखश्चन्द्रः सदा अपूर्णोऽपि यदि कदाचित् सदापूर्णो भवति । हे राधे ! तवास्यवदास्येन तुलां बिभर्तु । अयं चन्द्रोऽमृतमयत्वेन चकोरैरपि सदा पीतोऽपि यदि कदाचिच्चकोरैः न पीयताम्, तथापि तुलां न बिभर्तु ॥"५५॥

उपमेयस्योत्कर्ष हेतुका या उपमानेन सह सम्भावना, सोत्प्रेक्षा ॥५६॥

प्रतिकुहु प्रति अमावस्यायां मुहुः सर्वस्यामेवामावास्यायामित्यर्थः । चन्द्रो नष्टो नष्टः, अवश्यं नश्यत्येव एवं राकां राकां प्रति सर्वस्यामेव पूर्णिमायां चन्द्रः पूर्णतां प्राप्नोति ।

कदापि कस्यामपि अमावास्यायां पूर्णिमायां वा चन्द्रोऽन्यरूपो न भवति । अत्र सर्वस्यामावास्यायां नाशे सर्वस्यामेव पूर्णिमायां पूर्णिमायां च पुराणादौ योऽन्यो हेतुः श्रूयते, स न, किन्तु मयेदं सम्भाव्यते—हे ललिते ! त्वन्मुखं वीक्ष्यवीक्ष्य विधाता अनुमासं मासे मासे तं चन्द्रं निर्मिमीते ।

अयं भावः—सर्वाङ्गनिर्माणं कृत्वा ललितामुखं दृष्ट्वा एतत् सदृश किञ्चिद् वस्तु निर्म्माणे विधातु

उपमान में जो असम्भाव्य है, उस वस्तु की सम्भावना करके जो उपमा प्रयुक्त होती रहती है, उसको असम्भाव्योपमा कहते हैं ॥५४॥

उदाहरण—राधे ! सदा अपूर्ण एवं सकलङ्क सुधाकर भी यदि कदाचित् सदा पूर्ण एवं निष्कलङ्क होता है एवं चकोर निकर भी तदीय सुधापान में विरत होते हैं, तो वहे तुम्हारे मुख की तुलना हो सकती है ॥५५॥

उपमेय के उत्कर्ष हेतु उपमान के सहित जो सम्भावना अर्थात् हेत्वन्तर उपन्यास द्वारा जो वितर्क करण है, उसको उत्प्रेक्षा कहते हैं ।

वह उत्प्रेक्षा नूनं, मन्ये, शङ्के, इव, ध्रुवं, नु, किं, किमुत, प्रभृति शब्द द्वारा द्योतित होती है ॥५६॥

उदाहरण—चन्द्र प्रति अमावस्या में विनष्ट होकर प्रति पूर्णिमा में सम्पूर्ण होता है । किसी अमावस्या वा पूर्णिमा में अन्यरूप नहीं होता है । हे ललिते ! इस विषय में अपर कोई हेतु है--यह प्रतीत नहीं होता है । मैं विचार करता हूँ—सुचतुर विधाता निश्चय ही तुम्हारे मुखमण्डल को निरीक्षण करके

नान्यो हेतु स्तविह ललिते वीक्ष्य वीक्ष्य त्वदास्यं
नूनं धाता तस्रति चतुरो निर्मिमीते ऽनुमासम् ॥५७॥

यथा वा (द्वितीय किरणे २८) 'उत्कीर्णेरिव' इत्यादि ।

यथा वा — जृम्भानुबन्ध विकसद् वन्दनोदराणां
चन्द्रः करेण कृपयेव कुमुद्वतीनाम् ।
निर्वाप्य गाढ़ विरहानल मुज्ज्वलन्तं
मङ्गार पुञ्जमिव कर्षति भृङ्गसङ्घम् ॥५८॥

यथा वा—श्रीवत्सस्य च कौस्तुभस्य च रमादेव्याश्च गर्हाकरो
राधापादसरोजयावकरसो वक्षःस्थलस्थो हरेः ।

रिच्छा यदा अजनि, तदा प्रतिपद्दिनमारभ्य पूर्णिमायां सम्पूर्ण चन्द्रं निर्माय ललितामुख सादृश्यमदृष्ट्वा दुःखेन पुनः प्रतिपद्दिनमारभ्य किञ्चित् किञ्चिद् विखण्डच अमावस्यायां पूर्ण निर्मितं सम्पूर्ण-चन्द्रं दूरीकृत्य पुनश्चन्द्रान्तर निर्माणे प्रवृत्तश्चतुरो विधाता अद्यापि मासे मासे एवमेव करोति, न तु निवृत्तो भवति ।५७।

यथा वेति । मुद्रित कलिकानां चन्द्र दर्शनेन मुद्रात्यागएव जृम्भारम्भस्तेन प्रकाशित वदनोदराणां कुमुद्वतीनां गाढ़ विरहानलरूपमुज्ज्वलन्तमङ्गार समूहं चन्द्रः कृपयेव स्वाकिरणं रूपं करेण निर्वाप्य पश्चात् कुमुद्वतीगर्भस्थितं ज्वालारहितम्, अतएव श्यामवर्णमङ्गार पुञ्जमिव भृङ्ग समूहं कर्षतीत्युत्प्रेक्षा ।

अत्र कुमुद्वती भ्रमरयोर्व्यवहारो यथा रात्रौ विकसितानां कुमुद्वतीनां मध्ये मकरन्दपानार्थं ये भ्रमराः प्रविष्टा आसन्, प्रातःकाले सूर्य्यदर्शनात् मुद्रितानां कुमुद्वतीनां मध्ये त एव भ्रमरा बद्धा बभूवुः । पुनः सन्ध्याकाले चन्द्र दर्शनाद् विकसितानां तासां मध्यान्ते भ्रमरा निर्जग्मुस्त एवाङ्गार पुञ्जत्वेनोत् प्रेक्षिता इति भावः ।।५८।।

श्रीकृष्णस्य वक्षः स्थलस्थः श्रीराधापाद सरोज यावकरसो वो युष्मान् पातु । कीदृशः ? श्रीवत्स कौस्तुभ लक्ष्मीरेखाणां गर्हां तिरस्कारं करोतीति श्रीकृष्णस्य वक्षःस्थ यावक शोभायां अग्रे कौस्तुभादय स्तिरस्कृता भवन्तीत्यर्थः । अत्रोत्प्रेक्षामाह—वक्षसः श्यामतारूपान्धकारं बन्दीकृतं प्रातः कालीन सूर्य्यद्युति मण्डलीव, ।

उसके अनुरूप निर्माण करने की इच्छा से प्रतिमास में उक्त पूर्णचन्द्र का निर्माण करते हैं । अपर उदाहरण—द्वितीय किरण के २८ श्लोक में "उत्कीर्णैरिव" है ।।५७।।

सुधाकर,—जैसे कृपापर वश होकर ही जृम्भारम्भ हेतु विकसित वदना कुमुदिनी वृन्दके प्रज्ज्वलित, गाढ़ विरहानल को करके द्वारा निर्वापित करके अङ्गार पुञ्जके समान भ्रमर सङ्घको समाकर्षण कर रहीं हैं ।।५८।।

अन्य उदाहरण—श्रीहरि के वक्षःस्थले स्थित राधापादसरोज शोभी यावक रस 'अलक्तक' जो, समीपस्थ श्रीवत्स, कौस्तुभ एवं कमलादेवी को भी पराजित करता है, जिसको देखने से बोध होता है, तिमिर समूह ही जैसे चतुरता पूर्वक अरुण किरण पुञ्ज को बन्दी किये हैं, अथवा-कालिन्दी का कृष्णवर्ण-

बालार्कद्युति मण्डलीव तिमिरैश्छन्देन बन्दीकृता
कालिन्द्याः पयसीव पीवविकचं रक्तोत्पलं पातु वः ॥

अत्र इवोत् प्रेक्षायाम्, तुल्यादौ सर्वत्र सम्भावनमेव ॥५९॥

स संशयः ॥६०॥

भेदानुक्तौ यदुक्तौ तु सन्देहः, ॥६१॥

सन्देहनामालङ्कारः ।

क्रमेणोदाहरणे–

राधे मुखं तव विधुर्नु सरोरुहं नु, नेत्रे च खञ्जन युगं नु चकोरकौ नु ।
मूर्त्तिश्च काञ्चन लतैव नु चन्द्रिकानु, धाता नु पञ्चविशिखो नु रसो नु वाद्यः ॥६२॥
मेघः किमेष स कथं धरणौ किमस्मि श्चन्द्रोऽयमस्य विगतः क्वनु वा कलङ्कः ।

ननु सूर्य्यमण्डलोदय नाश्योऽन्धकारः कथं सूर्य्यद्युति मण्डलीं बन्दी करोति ? तत्राह—छन्देनेति । श्रीकृष्णस्य वक्षःस्थल रूप महदाश्रयरूप चातुर्य्येणेत्यर्थः । उत्प्रेक्षान्तरमाह--कालिन्द्याः पयसि पीवं पुष्टं विकसितं रक्तोत्पलमिव ॥५६॥

स इति । उपमेये उपमानस्य भेदानुक्तौ सत्यां यः संशयः, स सन्देहा नामालङ्कारः किं वा उपमेये उपमानस्य भेदोक्तौ सत्यां यः संशयः-स सन्देह नामालङ्कार ॥६०--६१॥

हे राधे ! तव मुखं विधुर्वा कमलं वा, नु विकल्पे । अत्र संशये उपमेये मुखेचन्द्रस्य भेदोक्ति र्नास्ति । हे राधे ! तव आद्यः स्रष्टा किं विधाता, किंवा पञ्चबाणः, कन्दर्पः, किंवा रस शृङ्गारो एष श्यामसुन्दरः पदार्थः, किं मेघः ? अयं मेघश्चेत् स धरणौ कथम् ? अतो मेघो न भवति, तथा च अयं क इति सन्देहोऽत्र वर्त्तत एव । अत्रोपमेये उपमानस्य मेघस्य भेदोक्ति र्वर्त्तते ।

मुखं वीक्ष्याह—अस्मिन्निति । अस्मिन् श्यामसुन्दरे किं चन्द्रः ? अयं चन्द्रश्चेत्तदा अस्य प्रसिद्धस्य सकलङ्कस्य चन्द्रस्य कलङ्कः क्व गतः ? अयं निष्कलङ्को दृश्यते, स तु स कलङ्कः, अतः प्रसिद्धचन्द्रो न

सलिल में रक्तोत्पल जैसे परिणत एवं प्रफुल्ल हुआ है, वह तुम सबके विघ्नान्धकार विदूरित करे ।

मूल श्लोक में प्रयुक्त इव शब्द उत्प्रेक्षा व्यञ्जक है, इस रीति से सर्वत्र सम्भावना होती है ॥५९॥

उपमेय पदार्थ में उपमान भेद का अनुल्लेख स्थल में जो संशय होता है– उसको सन्देहालङ्कार कहते हैं। किंवा उपमेय में उपमान का भेद विद्यमान होने पर भी जो संशय उपस्थित होता है, वह सन्देहनामक अलङ्कार है ॥६०--६१॥

क्रमशः उदाहरण—राधे ! तुम्हारे मुखमंडल क्या पूर्ण चन्द्र है, अथवा प्रफुल्ल—अरविन्द है ? नेत्रद्वय क्या खञ्जन युगल अथवा चकोर युगल है ? यह मूर्त्ति क्या काञ्चन लतिका अथ वा शारद चन्द्रिका है ? और तुम्हारे विधाता क्या पञ्चशर है, अथवा शृङ्गार रस है ।

यह क्या मेघ है ? मेघ होने से धरातल में उसका सञ्चार कैसे सम्भव होगा ? पूर्णेन्दु भी वह कैसे होगा ? ऐसा होने पर उसका कलङ्क कहाँ गया ? विद्युन्माला क्या विलसित है ? उसकी भी स्थिरता

माला किमत्र तड़ितः स्थिरता क्व तस्याः, कृष्णः किमेष सुमुखः सखि पीतवासाः ।६३।

नात्र 'स कथं धरणौ' इति सन्देहोच्छेदः, अपि तु तत् परिपोष एव, एतेन निश्चयान्तोऽयं न भवति । 'कृष्णः किमेषः' इति किं शब्दो निश्चयं बाधते ।

स यथा—मेघो नायं व्रजपतिसुतोनापि सौदामिनीयं
पीतं वासः सुरधनुरिदं नैष वर्हावतंसः ।
वालाकीयं न खलु विततिः पश्य मुक्तावलीयं
विस्रब्धा त्वं विहर शरदि प्रावृषिः कोऽवकाशः ? ।।६४।।

रूपकं तु तत् । यत्तादात्म्यं द्वयोः ।।६५।।

द्वयोरुपमानोपमेययोः, अतिशयभेदादपह्नुत भेदत्वं तादात्म्यम् ।

तच्च द्विधैवेति विदुर्बुधाः
समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्त्ति च ।।६६।।
आरोप्यमाणश्चारोपविषयो यत्र शब्दगौ ।

भवति । तथा चायं क इति सन्देहो यथास्थित एव । पीताम्बरमालक्ष्याह—अत्र श्यामसुन्दरे किं तड़िद्गतो विद्युल्लताया माल -श्रेणी, तस्या विद्युल्लतायाः स्थिरता क्व ? अथवा, एष सुन्दर मुखयुक्तः पीतवस्त्र विशिष्टः कृष्ण किम् ? अत्रापि निश्चयो नास्ति । तस्मान्नायं निश्चयान्तसन्देहः, अत्र स कथं धारणाविति पदेन सन्देहच्छेदो न, अपि तु तस्य सन्देहस्य कस्यचित्मते निश्चयान्तसन्देहोऽप्यलङ्कारविशेषः ।।६२--६३।।

तन्मतेऽन्यत्रोदाहरणमाह—केचिदिति । वक्षःस्थले दृश्यमानेयं विततिः श्वेत वस्तुनो विस्तारो न वालाकी वकपङ्क्ति समूहः । तस्मान्मेघावयो वर्षाकाले प्रादुर्भवन्ति, सम्प्रति शरदि प्रावृषः वर्षाकालस्य कोऽवकाशः ? एवं सत्ययं श्रीकृष्ण एवेति विस्रब्धा विश्वस्ता सतीत्वमनेन सह विहर ।।६४।।

द्वयोरुपमानोपमेययोर्यत्तादात्म्यं तद् रूपकं—रूपकनामालङ्कारः । तथा च चन्द्रवन्मुखमित्यत्र उपमानोपमेययो भेद बोधक वति प्रत्ययोऽस्ति ।अतो न रूपकम्, किन्तु यत्र मुख चन्द्र इति मुखचन्द्रयोरभेद प्रतीति स्तत्रैव रूपकमित्यर्थः । यत्र त्वारोपविषयोपमेयबोधक—शब्दो वर्त्तते, किन्तु आरोप्य--माणोपमान बोधक शब्दः काव्ये नास्ति, अपितु अर्थ मर्यादया स शब्दोऽनुमेय एव, तस्मिन्नेव पक्षे कुत्रचित्

कहाँ है ? हे सखि ! तब क्या यह हमारे वह पीताम्बरधर, सुमुख श्यामसुन्दर है ?

इस श्लोक में "मेघसे धरातल में उसका सञ्चार कैसे सम्भव होगा ? इस उक्ति के द्वारा सन्देह का उच्छेद न होकर सन्देह का पोषण ही हुआ है । अतएव यह निश्चयान्त नामसे अभिहित नहीं हो सकता है । "तब क्या यह हमारे वही पीताम्बरधर है" यहाँ मूल श्लोकस्थ 'किम्' शब्द के द्वारा निश्चय का निषेध ही हुआ है ।

कतिपय व्यक्ति निश्चयान्त स्थल में भी सन्देहालङ्कार मानते हैं ।।६२--६३।।

उसका उदाहरण—यह मेघ नहीं है, यह व्रजराज तनय है, यह सौदामिनी भी नहीं है, तदीय पीत

तदादिः, ॥६७॥

आदि समस्तवस्तुविषयम्।

आरोप्यमाणः शाब्द आर्थश्च तत्परम् ॥६८॥

परम् एकदेशविवर्त्तित्वम्।

शाब्दः शब्दोपात्तः, आर्थोऽर्थगम्यश्च, कश्चिच्छाब्दः, कश्चिदर्थमर्यादयावसेय इत्येकदेश विवर्त्तित्वम् ॥

क्रमेणोदाहरणे—उदञ्चद् वक्षोजस्तवकनमिता बाहुविटप,
द्वयी दोले रम्या स्मितकुसुमसौरभ्य-सुभगा।
इयं सन्ध्यारागच्छविल-मृदुपाण्यङ्गुलिदला,
नवीना ते राधे विलसति तनूरत्नलतिका ॥६९॥

अत्र समस्तवस्तुविषयम्,–आरोप्यमाणारोपविषययोः शब्दोपात्तत्वात् ॥

चरणे उपमान बोधक शब्दोऽप्यस्ति, तत्रैकदेशे विवर्त्ति रूपकं ज्ञेयम्। एवं क्रमेण भेदद्वयं भवतीत्यर्थः ॥६५--६८॥

इयं तनुरूपा रत्नलतिका विलसति। कथम्भूता? स्तनरूप स्तवकेन नमिता। तनुरपि साहजिक लज्जया किञ्चिन्नम्रा भवति, पुनश्च बाहु एव शाखाद्वयी, तस्याः दोलन विषये रम्या लतापि शाखायाः किञ्चिच्चलने रमणीया भवति। हस्तयोरपि किञ्चिलने माधुर्य्योत्कर्षो भवतीति ज्ञेयम्। पुनश्च सन्ध्याकालीन रक्तच्छविं लान्तिगृह्णन्ति या मृदुपाण्यङ्गुलयस्त एव पल्लवा यत्र ॥६९॥

वसनमात्र है, यह इन्द्र धनु नहीं है, यह उनका बर्हावतंस है। यह बलाका–बक पङ्क्ति नहीं है, यह उनकी मुक्ताश्रेणी है। अतएव हे सखि! तुम विश्वस्ता होकर इनके सहित विहार करो, देखो, इस शरत् काल में प्रावट् कालकी सम्भावना कहाँ है? ॥६४॥

उपमान एवं उपमेय एतदुभय का जो तादात्म्य है, उसको रूपक कहते हैं। अतिशय अभेद हेतु भेदका अपह्नव करने का नाम तादात्म्य है।

यह रूपक समस्त विषय एवं एकदेश विवर्त्ति भेद से द्विविध हैं।

जहाँ आरोप विषय उपमेय एवं आरोप्यमाण उपमान—उभय ही शब्दोपात्त होते हैं, वहाँ समस्त वस्तु विषय रूपक होता है। एवं जहाँ आरोप्यमाण उपमान समुह के मध्य से कुछ शब्दोपात्त होता है, एवं कुछ आर्थ अथवा तात्पर्य्य गम्य होता है, वहाँ एकदेश विवर्त्ति रूपक होता है।६५--६८॥

क्रमिक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—हे राधि! तुम्हारी यह नवीना तनुरत्नलता,—समुन्नत पयोधर स्तवकभार से अवनमिता है, बाहु विटप युगल के सञ्चालन से सुललिता है, स्मित कुसुम सौरभ से सौभाग्ययुता है, एवं सन्ध्याराग रक्त-मृदु कराङ्गुलि दल से विराजिता है।

इस श्लोक में आरोप्यमाण एवं आरोप विषय शब्दोपात्त होने के कारण,—समस्त वस्तु विषय रूपक हुआ है ॥६९॥

प्रसूनैर्नानाभैः स्मितमलिनिमारुण्यपिशुनै-
र्लसन्नानाभावा मधुपगणझङ्कारकलहा ।
श्रिया सार्द्धं स्पर्धां वत विदधति गोकुलपते-
रुरस्यास्वाद्यानामुपरि वनमाला विजयते ॥७०॥

अत्र वनमालायां नायिकात्वेनारोपः, श्रियः प्रतिनायिकात्वेन, स चार्थ एव, प्रसूनानां स्मिताद्यारोपस्तु शाब्दः, इति एकदेश विवर्त्ति ।

आरोपविषयाभावेऽप्यारोप्यं यदि तत् परम् ॥७१॥

परमन्यप्रकार मित्यर्थः ।

यथा—मधुरिमरस वापीमत्तहंसी प्रजल्पः,
प्रणयकुसुम वाटी भृङ्गसङ्गीतघोषः ।

नानाभैः श्वेत-श्याम-रक्त नानावर्णैः प्रसूनैः लसन्नानाभावा, श्रीकृष्णस्य-उरस्या-उरसि भवा वनमाला स्वाद्यानामास्वाद्यानां वस्तूनामुपरि विजयते ।

प्रसूनैः कीदृशैः ? स्मितेत्यनेनः प्रसादः, मलिनिमेति वाम्यानु, आरुण्येत्यनुरागः तथा चैतेषां सूचकैरित्यर्थः ।

अत्र श्वेत पुष्पे स्मितत्वारोपः, श्याम पुष्पे वाम्यत्वारोपः, रक्त पुष्पेऽनुरागत्वारोपो बोध्यः । वनमालाया नायिकात्वारोपः रेखा रूपायालक्ष्म्या प्रति नायिकात्वारोपश्चार्थ एव, नतु शाब्दः तयो बोधक शाब्दभावात् ।

स्मितादि बोधक शब्दानां विद्यमानत्वात् । अतोऽत्र शाब्द आर्थश्चोभयमपि वर्त्तत इति एकदेश विवर्त्ति । यत्र तु केवलं शाब्द एव, तत्र समस्त वस्तु विषयं रूपकमिति भेदो ज्ञेयः ॥७०॥

आरोप विषयस्योपमेयस्याभावेऽपि यद्यारोप्यमुपमानं वर्त्तते, तदा तद्रूपकं परमन्यप्रकारमित्यर्थः ॥७१॥

मधुरिमेति—माधुर्यं रसस्य वापी तत्स्वरूपे श्रीकृष्णे या मत्तहंसी तस्याः प्रजल्प स्वरूपो वंशीनिनादो जयति, अत्रारोप विषयस्योपमेयस्य कृष्णस्य बोधक पदाभावादन्य प्रकार रूपकं ज्ञेयम् ।

स्मित, मालिन्य एवं आरुण्य सूचक विविधप्रभ प्रसूनपुञ्ज से विविध भाव सङ्कुला एवं मधुकर कुलके झङ्कार कलह से समाकुला होकर जो लक्ष्मी देवी के सहित सतत स्पर्द्धा करती है, अतिहृद्य आस्वाद्य समूह के शीर्षस्थान में अवस्थान कारिणी, गोकुल पति के वक्षःस्थल विलासिनी उस वनमाला की जय हो

इस श्लोक में वनमाला को नायिका रूप में एवं लक्ष्मी के प्रति नायिका रूपमें आरोप किया गया है। वह आर्थ वा तात्पर्य गम्य है, एवं श्वेत पुष्पादि को स्मितादि रूप में आरोप—शब्द गम्य है। इस रीति से एकदेश विवर्त्ति रूपक हुआ है ॥७०॥

आरोप विषय के अभाव से भी यदि आरोप्य की विद्यमानता हो तो वहाँ भी एक प्रकार रूपक होता है ॥७१॥

उदाहरण—माधुर्य्यरस सरसी का मत्त हंसीरव स्वरूप, प्रणय पुष्पोद्यान का भृङ्ग सङ्गीत स्वरूप,

सुरतसमरभेरी—भाङ्कृतिः पूतनारे
जयति हृदयदंशी कोऽपि वंशीनिनादः ॥७२॥

अत्र मधुरिमरसवाप्यादीनामारोप्याणामारोपविषयो नास्तीति ॥

उक्तं प्रसङ्गि,

प्रसङ्गि प्रकृष्टसङ्गवत् स जातीय बहुलमित्यर्थः । त्रिविध भेद मेव यदुक्तम् ।७३॥

निःसङ्गमेकमेव विवक्षितम् ।

एकमेव प्रधानत्वेन विवक्षितं तथाविध सजातीयशून्यं निःसङ्गम् ॥७४॥

यथा—न पश्यति न भाषते नच शृणोति न स्पन्दते,
निमीलति विघूर्णते पतति मूर्च्छतीयं यतः ।
तदेतदनुमीयते किमपि बाधते राधिकां,
मुकुन्दविरह–व्यथा विषविसर्प–विस्फूर्जितम् ॥७५॥

वंशी निनादः पुनः कथम्भूतः ? प्रणय रूप कुसुमस्य वाटी स्वस्वरूपे श्रीकृष्णो ये भ्रमरा स्तेषां सङ्गीत घोषस्वरूपः । पुनश्च राधा कृष्णयोः सम्भोग एव सुरत समर स्तत्र य भेरी तस्या भाङ्कार शब्द स्वरूपः ॥७२॥

उक्तं प्रसङ्गीति सूत्रम् । तत्र प्रसङ्गीत्यस्य व्याख्या प्रकृष्टसङ्ग वदिति । उक्त मित्यस्य व्याख्या त्रिविधमिति ।

तथा च पूर्वोक्त त्रिविधरूपकस्योदाहरणं पद्यत्रयमनेकरूपकविशिष्टमित्यर्थः । अत्र मधुरिमेति पद्ये उक्त वंशी निनादस्य हंसीप्रजल्पत्वादिना रूपकं सजातीयानेक रूपकालङ्कार विशिष्टं त्रयमस्त्यतः प्रसङ्गि, प्रकृष्टसङ्गविशिष्टमित्यर्थः । यत्रैकमेव रूपकं प्रधानत्वेन विवक्षितं पूर्ववत् सजातीय रूपकान्तरं नास्ति, तत्र निःसङ्गमेव तद्रूपकं ज्ञेयम् ॥७३—७४॥

तस्मादेतेदनुमीयते—श्रीकृष्ण विरह जन्य—व्यथारूपविषस्फोटस्य किमप्यनिर्वचनीयं विस्फूर्जित माटोपो राधिकां बाधते । अत्र केवलं व्यथाया विषविसर्पत्वारोपः, नतु सजातीय रूपकान्तरमस्तीति ॥७५॥

सुरतसमर भेरी का गभीर भाङ्कार 'शब्द' स्वरूप, पूतनाध्वंसी का वह हृदयदंशी अपूर्व वंशी निनाद विश्व विजयी हो ।

इस श्लोक में माधुर्य्य रस सरसी प्रभृति आरोप्य का आरोप विषय का उल्लेख नहीं है ॥७२॥

रूपके जो तीन भेद एवं उसके उदाहरण उल्लिखित हुये हैं। उसके प्रत्येक मे सजातीय अनेकरूप का समावेश है । उस को प्रसङ्गी नाम से कहा जा सकता है । जहाँ एक ही रूपक प्रधान रूप से विवक्षित होता है, तादृश सजातीय शून्य रूपक को निःसङ्ग कहते हैं ।।७४-७४॥

जब राधिका कुछ भी नहीं देख रही है, कुछ नहीं सुन रही है, कहती नहीं है, स्पन्दित नहीं हो रही है, केवल नयन निमीलन करके है, घूर्णित हो रही है, गिर रही है, मूर्च्छित हो रही है, इस से अनुमान होता

माला रूपकमन्यत्तु ज्ञेयं मालोपमानवत् ॥७६॥

यथा—श्रवसोः कुवलयमक्ष्णो, रञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम ।
वृन्दावनरमणीनां, मण्डनमखिलं हरिर्जयति ॥७७॥

यथा वा—सौटीर्यं स्मरभूपते र्मधुमदो लावण्यलक्ष्म्याः स्मयः
सौभाग्यस्य विलासभूर्मधुरिमोल्लासस्य ह्रासः श्रियः ।
अद्वैतं गुण सम्पदामुपनिषत् केलिविलासावलेः
सेयं लोचनचन्द्रिकाचयचमत्कारश्चकोरेक्षणा ॥७८॥

श्लिष्टस्य वाचकस्यानुरोधादारोप एव चः ।
सोऽन्यस्यारोप हेतुश्चेत् परम्परित नामकम् ॥७९॥

अन्यस्याश्लिष्टस्यारोपे यदि हेतुः स्यात्तदा रूपकं परम्परिताख्यम् ॥

अत्र यथा मालोपमानं पूर्वमुक्तम्, तथैव मालारूपकमप्यन्यज्ज्ञेयम्, ॥७६॥

व्रज सुन्दरीणामखिलमण्डन रूपो हरि र्जयति । कथम्भूतः ? श्रवसो र्नीलोत्पलरूपः ॥७७॥

सेयं चकोरेक्षणा राधिका मम लोचनचन्द्रिका चयजन्यो यश्चमत्कारस्तत्तुल्य चमत्काररूपा । तथात्र चमत् कार विशिष्टेत्यनुक्त्वा चमत्कार इति धर्म निर्देश आधिक्य विवक्षया । यथा देवदत्तः पण्डित इत्यनुक्त्वा साक्षात् पाण्डित्यमेवेत्युक्तिः पाण्डित्यातिशयं बोधयतीति बोध्यम् तथात्र चमत्काररूप धर्म निर्देशश्चमत्कारातिशयं बोधयतीति बोध्यम् । तथा कन्दर्प भूपतेः शौटिर्य्यं पराक्रमस्तद्रूपा इत्यर्थः ।

अत्रापि पराक्रमातिशयविवक्षया धर्म निर्देशः । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् । पुनश्च लावण्य सम्पत्ते र्मधुपान जन्य मत्ततारूपा, सौभाग्यस्य स्मयो गर्वरूपा, माधुर्य्योल्लासस्य विलास भूः, श्रियः शोभा सम्पत्ते ह्रासः, गुण सम्पदामद्वैतं द्वैताभावः अस्या गुण सम्पत्तुल्या कस्या अपि गुण सम्पन्नास्तीत्यर्थः ॥७८—७९॥

है कि वनमाली के विरह वेदना रूप विषविसर्प ही विस्फूर्ज्जित हो रहा है ॥७५॥

मालोपमा के समान मालारूपक भी एक प्रकार होता है ॥७६॥

उदाहरण—श्रवण युगल का नीलोत्पल, नयन युगल का अञ्जन, वक्षःस्थल का इन्द्रनील मणिदाम अधिक और क्या-व्रज रमणी वृन्दके अखिल मण्डन स्वरूप नन्द नन्दन की जय हो ॥७७॥

उदाहरण—मदीय लोचन युगल की सुचारु चन्द्रिका राशि के तुल्यचमत्कार कारिणी वह चकोराक्षी राधिका, कन्दर्प भूमि के पराक्रम स्वरूप, लावण्य लक्ष्मी के मधुमद स्वरूप, सौभाग्य समूह के गर्वस्वरूप, मधुरिमोल्लास के विलास भूमिस्वरूप, शोभा सम्पत्ति का ह्रास स्वरूप, गुण सम्पद का अद्वैत स्वरूप एवं केलि विलासावलिका उपनिषत् स्वरूप है । अर्थात् इस की गुण सम्पत्ति के तुल्य अपर किसी को भी गुण सम्पत्ति नहीं है ॥७८॥

श्लिष्ट वाचक के अनुरोध से जो आरोप है, वह यदि अपर का अर्थात् अश्लिष्ट का आरोप में निमित्त

यथा—पद्माननोत्सुकतया भ्रमरः कलाभिः, सर्वाभिरन्वित तया त्वमखण्ड इन्दुः ।
त्वन्मानसे कनकपङ्कजिनीतयाऽसौ, सा राधिका सुरमणी निकराधिकेव ।८०।

अत्र पद्मं पद्मा च, कलाश्चतुःषष्टिः कला चन्द्रस्य षोड़शो भागश्च, मानसं चित्तं मानससरश्च, सा राधिका सारेणाधिका सार्शधिका च । इत्येषां वाचकानामनुरोधाद् भ्रमरादि-शब्दानामारोपः ॥

भेदे सत्यपि तत् ॥८१॥

तत् परम्परितम् ।

यथा—रत्न स्तम्भौ व्रजमृगदृशां चित्तदोलोत्सवस्य
श्रीराधाया रतिजयकला-तोरणोत्तानदण्डौ ।
दैत्येन्द्राणां परिभव-महायज्ञ-नीलेन्द्र यूपौ
शुण्डे कामप्रमद-करिणोः कृष्ण बाहु स्मरामः ॥

पद्माननेनि श्लिष्टं पदम् । पद्माननेमेर पद्मानन तत्रोत्सुकतया हे कृष्ण ! त्वं भ्रमरः । अत्र पद्मा लक्ष्मीः, तस्या आनने कमलारोपः, अतोऽत्र परम्परित रूपकम् । तथा कलाभिरेव कलाभिः, अर्थे चतुःषष्टि कलायां चन्द्रस्य षोड़श भाग रूप कलारोपस्तेन श्लेषेण श्लिष्टरूप चन्द्रस्य कृष्णे आरोपः । एवं त्वन्मानसमेव मानसं तत्र कनक पङ्कजिनीतया स्वर्ण कमलिनीत्वेनासौ सा प्रसिद्धा राधिका स्वर्गाङ्गना निकरेभ्यो-ऽधिकेव । अत्र मानसं चित्तं तत्र मानस सरोवरारोप स्तेनाहोपेणाश्लिष्टायाः स्वर्णकमलिन्याः राधिकायामारोपः ।८०।

वेदेऽश्लिष्टे सत्यपि तत् परम्परित—रूपकं भवति ।८१।

बाहु कथम्भूतौ ? चित्तदोलनमेवोत्सवस्तस्य रत्न स्तम्भौ । श्रीराधायाः रतेर्या जयकला उत्कर्ष वैदग्धी—सैव तोरणं वन्दनमाला, तस्य बन्धनार्थमुत्तानदण्डौ । भिन्न शब्दस्याश्लिष्ट शब्दस्य वीच्यस्य

होता है, तो उसको परम्परित रूपक कहते हैं ।।७९।।

उदाहरण—हे कृष्ण ! पद्मानन के प्रति उत्सुकता हेतु तुम भ्रमर हो, सकल कला समन्वित होने के कारण तुम पूर्ण चन्द्र स्वरूप हो, एवं सुरमणी निकराधिका वह राधा भी त्वदीय मानस में कनक पङ्कजिनी नाम से प्रसिद्धा हैं ।

इस श्लोक में पद्मानन शब्द से पद्म का आनन बोध होता है, पक्ष में पद्मा । अर्थात् लक्ष्मी का आनन है, कला शब्द से चतुःषष्टि कला है; पक्ष में 'चन्द्र की षोड़श कला हैं, मानस शब्द से चित्त का बोध होता है, पक्ष में मानस सरोवर है, मूलस्थ सा राधिका शब्द से सार में अधिका अर्थ है, पक्ष में वह राधिका अर्थ है। ये सब श्लिष्ट वाचक शब्द के अनुरोध से अश्लिष्ट भ्रमरादि शब्द का आरोप श्रीकृष्ण में होने के कारण—परम्परित रूपक हुआ है ।।८०।।

भेद स्थल में—अर्थात् अश्लिष्ट शब्द स्थल में भी उक्त परम्परित रूपक होता है ।।८१।।

उदाहरण—व्रजसुन्दरी वृन्द के चित्त दोलोत्सव के रत्न मय स्तम्भ युगल स्वरूप श्रीराधाकी रति

अत्र चित्तदोलादे भिन्नशब्द-वाच्यस्योत्सवाद्यारोपेण बाह्वो रत्न-स्तम्भत्वाद्यारोपः सिद्धएव। आद्ययोर्मिश्रत्वम्, उत्तरयोः शुद्धत्वम्। रसना-रूपकमन्ये पठन्ति ॥८२॥

यथा——कुसुमस्मितैर्लतानां, स्मित कुसुमै र्गोपरमणीनाम्।

किसलय करै रमूषां, स करकिसलयैश्च पिप्रिये तासाम्॥

स कृष्णः, अमूषां लतानाम्, तासां गोपरमणीनाम् ॥८३॥

यातु प्रकृतस्यान्यथाकृतिः। साप‌ह्नुतिः।

अपह्नुति-नामालङ्कारः। अन्यथाकृतिः--प्रकृतं निषिध्यान्यस्य स्थापनम् ॥८४॥

यथा——ताम्राधरौष्ठदलमुन्नतचारुनासमत्यायतेक्षणमिदं तव नास्यमास्यम्।

बन्धुकयुग्म तिलपुष्प सरोजयुग्मैः, सं पूजितः स्वयमसौ विधिनैव चन्द्रः॥८५॥

चित्तदोलनादेः, अद्रियेरित्न स्तम्भ दण्डयोर्मिश्रत्वं, मालारूपकेन सह मिलनं ज्ञेयम्, धर्मैव रूप्यात्। तद् यथा चित्तस्यदोलनेन य उत्सव स्तस्य रत्नस्तम्भौ, रते र्या जयकला उत्कर्ष वैदग्धी, तत्र तोरणेति व्याख्याने मालारूपकम् ॥८२॥

लतानां कुसुम रूपस्मितैः कर्त्तृभिः स कृष्णोऽपि पिप्रिये, प्रीतियुक्तो बभूव। तथा गोपरमणीनां स्मित रूपकुसुमैः कर्त्तृभिः श्रीकृष्णः पिप्रिये। एवममूषां लतानां पल्लव करैः, तथा तासां व्रजसुन्दरीणां कर किशलयैः स कृष्णः पिप्रिये ॥८३-८४॥

-अधर-नासेक्षणादि विशिष्ट मिदं तवास्यं मुखं मुखं न भवति। बन्धुकेत्यादि पुष्पै करणैः विधिना चन्द्रः पूजितः ॥८५॥

विजय वैदग्धी के समुन्नत तोरण दण्ड द्वय स्वरूप, दैत्येन्द्र वृन्द के परिभवरूप महायज्ञ के इन्द्र नीलमणि निर्मित यूपद्वय स्वरूप एवं काम तथा प्रमद रूप कुञ्जर-द्वयके शुण्ड द्वय स्वरूप, श्रीकृष्ण के बाहुद्वय का स्मरण हम सब सतत करते हैं।

यहाँ अश्लिष्ट शब्द वाच्य चित्तदोलनादि के उत्सवादि रूप में आरोप हेतु बाहु का रत्न स्तम्भादि रूप में आरोप सिद्ध हुआ है। उसके मध्यमें प्रथमोक्त दो मिश्र हैं, एवं शेषोक्त दो शुद्ध हैं। कतिमय व्यक्ति रसनारूपक नामक का एक भेद स्वीकार करते हैं ॥८२॥

लतावेली का कुसुमरूप स्मित के द्वारा एवं गोपरमणीमण्डली का स्मित रूप कुसुम के द्वारा एवं उक्त लतावली का किसलय रूप करके द्वारा तथा उक्त गोपीमण्डली का कर रूप किसलय के द्वारा श्रीनन्दनन्दन अतिशय आनन्दित हुये थे ॥८३॥

प्रकृति की अन्यथाकृति—अर्थात् प्रकृत वस्तु का निषेध पूर्वक अप्रकृत का स्थापन को अपह्नुति अलङ्कार कहते हैं ॥८४॥

उदाहरण—राधे! अरुणाधरौष्ठ पल्लव से सुललित समुन्नत सुचारु नासिका सुशोभित, सुदीर्घ विलोचन विराजित तुम्हारे मुखमण्डल जो दृष्टि गोचर हो रहा है, यह तुम्हारे मुख मण्डल नहीं है। स्वयं

यथा वा—इदं ते लावण्यवततिफलयुग्मं ननु कुचौ
मते रज्जून्माथो नभसि तव राधे न वलयः ।
इयं नाभी मग्न--स्मर--फणिफणा नील मणितः
समुद्द् यान्ती कान्तिस्तव तनुरुहाणां न लतिका ॥८६॥

यथा वा—क्षीराब्धेः कतिवीचयः कतिलसद्रक्तोत्पलानां दल—
द्रोणो सञ्चय--वृष्टयः कतिमधून्मत्तालि विङ्छोलयः ।
हेलोदञ्चदवाञ्चतोर्नयनयोः कृष्णस्य नीलेक्षण—
व्यापारे कतिनोन्मिषन्ति विविधज्योतिविलासच्छलात् ॥८७॥

अनेकार्थप्रतिपादकता यदि ।
एकार्थस्य तु शब्दस्य तदाश्लेषः स कथ्यते ॥८८॥

हे राधे ! तव मध्यदेश रूपेनभसि वलयस्त्रिवल्यो न भवन्ति, किन्तु मतेः श्रीकृष्ण बुद्धे र्बन्धनार्थं रज्जुरूप उन्माथः कूटयन्त्रं भवति ।

तथेयं तनुरुहाणां लतिका रोमावली न भवति, किन्तु नाभीरूप ह्रदे मग्नः कन्दर्परूप सर्पस्तस्य फणास्थ–नीलमणेः सकाशात् समुद्द् गच्छन्ती कान्तिर्भवति ॥८६॥

हेलयोदञ्चत्तिरश्चीनयोः श्रीकृष्ण नयनयोर्नीलेक्षण व्यापारे सति विविधानां श्रीकृष्ण नेत्रस्थ--श्वेत-रक्त-श्याम--ज्योतिषां विलासच्छलात् क्षीर समुद्रस्य कतितरङ्गा नोद्गच्छन्ति, अपि तूद्गच्छन्त्येव ।

तथा च श्रीकृष्णस्य तिरश्चीनाव लोकन समये नेत्रस्थमिदं श्वेतरूपं न भवति, किन्तु क्षीर समुद्रस्य तरङ्गा एवं दृश्यमाना भवन्तीत्यपह्नु तिः । एवमुत्तर त्रापि ज्ञेया । तथैव नेत्रस्य मिदं रक्तरूपं न भवति, किन्तु प्रफुल्लरक्तोत्पलानां दलान्येव द्रोणी समूहा ः तेषां वृष्टयः कति नोन्मिषन्ति वसन्त समये उन्मत्तभ्रमर श्रेणयः ॥८७॥

एकार्थस्य शब्दस्यानेक पदघटित--वाक्यस्य यद्यनेकार्थ प्रतिपादकता ॥८८॥

विधाता ने बधुक युगल, तिलपुष्प एवं सरोज युगल से उस पूर्ण चन्द्र की पूजा किये हैं ॥८५॥

उदाहरणान्तर—हे राधे यह तुम्हारी लावण्य लतिका के फल युगल कुच युगल नहीं हैं, मध्यदेश रूप नभोदेश में श्रीकृष्ण की बुद्धि को बन्धन करने के निमित्त यह रज्जु रचित कूट यन्त्र है । त्रिवलि भङ्ग नहीं है, नाभि निमग्न फणी के फणामण्डल स्थित नीलमणि से उद्गत नील कान्ति है, तुम्हारी पल्लविता-लोमलतिका नहीं है ॥८६॥

अन्य उदाहरण—अवलीला क्रमसे उन्नमित एवं अवाममित श्रीकृष्ण नयन युगल में जब विलास विलोकन व्यापार समारब्ध होता है, तब उक्त नयन युग्म की श्वेत, रक्त, एवं श्याम प्रभा का प्रसार छल से क्षीर समुद्र की कितनी तरङ्ग उठती रहती हैं, कितना ही रक्तोत्पलदलरूप द्रोणी का वारि वर्षण होता हैं, कितनी मधुमत्त मधु व्रतावली विलसित होती है ॥८७॥

यथा—उदयति यस्मिन्नुदयति, तिरोभवत्यपि तिरोभवति ।
जगदेव तन्नतमसां नाशिनि कः कृष्ण तन्यतां कोपः ?

अत्रार्थस्यैवश्लेषो, न शब्दस्य, परिवृत्तिसहत्वात् । अत्र, वाक्यमेकार्थमेव, तच्च सूर्य्य प्रतिपादकम्, तत्रापि श्रीकृष्णं प्रति काप्यभिमानवती विचारेणाभिमानखण्डन--पूर्वकं वदति-यस्योदये सर्वोदयः, यस्य तिरोभावे सर्वतिरोभावः, तत्र त्वयि, तत्र त्वयि को नाम मे कोप--इत्यर्थान्तरम् । यथा (सप्तकिरणे ७४)--'विलोलसंफुल्लकदम्बमालः' इत्यादि ॥८६॥

श्लिष्टैर्विशेषणैरेव विशेष्यस्यान्यथास्थितिः

समासोक्तिः,

विशेष्यस्य केवलस्य श्लिष्टै विशेषणैरन्यथा स्थितिरन्यथा भाषणं समासोक्ति नामालङ्कारः ॥९०॥

यथा—त्वदङ्ग सङ्गेन विनैव राधे, क्षणे क्षणे ग्लाप्रति नन्दसूनुः ।
सदैव वक्षःस्थल--केलि योग्या, न रोचतेऽस्मै वनमालिकापि ॥

हे कृष्ण ! यस्मिन् सूर्य्ये उदयति सति जगदुदयति, एवम्भूते तमसां नाशिनि सूर्य्ये कः कोपस्तन्यताम् ? अत्रोदय तिरोभावादि-पदानां परिवृत्तिसहत्वान्न शब्द श्लेषः, अपित्वर्थ श्लेष एव । एवमत्रोदयाद्यनेक पद घटितमेकं वाक्यं सूर्य्य रूपैकार्थं प्रति प्रेतकम्, तत्रापि काप्यभिमानवती व्रजसुन्दरी विचारेण स्वस्या अभिमान खण्डन पूर्वकं श्रीकृष्णं प्रति वदति । अतएवैतद् वाक्यस्य श्लेषेण कृष्णरूपार्थान्तरमपिबुध्यते ।८९।

विशेष्यस्य—केवलस्य श्लिष्टस्य ॥९०॥

अत्र सदैव वक्षःस्थल केलियोग्येति--पदेन यथा वनमाला बोधो जायते, तथा श्लेषेण प्रतिनायिका बोधोऽपि जायते॥९१॥

एकार्थ शब्द की अनेकार्थ प्रतिपादकता स्थल में श्लेषालङ्कार होता है ॥८८॥

उदाहरण—जो तमोराशि विनाशी के उदय से इस जगत् उदित होता है, एवं तिरोभाव से तिरोहित होता है, हे कृष्ण ! उसके प्रति कौन कोप विस्तार कर सकता है ?

यहाँ शब्द का परिवृत्ति सहत्व प्रयुक्त शब्द का श्लेष हुआ है । वाक्य भी एकार्थक हुआ है, एवं उक्त वाक्य से सूर्य्य प्रतिपादित हुआ है, तथापि उक्त वाक्य से अन्य एकअर्थ प्रतिपादित हो रहा है कि--जैसे श्रीकृष्ण के प्रति अभिमानवती किसी व्रज युवती विचार पूर्वक अभिमान खण्डन कर कहती रहती है । जिसका उदयसे सबका उदय होता है, तिरोभाव से सब का तिरोभाव होता है । इस प्रकार तुम्हारे प्रति हम सब के कोप की सम्भावना कहाँ है ? "कृष्ण एवं मेघ समकाल में हो उदित हैं । उभय ही" विलोल संफुल्ल कदम्ब माल हैं" इस प्रकार सप्तम किरण में उदाहरण हैं ॥८९॥

श्लिष्ट विशेषण के द्वारा केवल विशेष्य का अन्य प्रकार भाषण होने पर समासोक्ति अलङ्कार होता है ॥९०॥

अत्र वनमालिकाया:, प्रतिनायिका एवं केवलेन वनमाला शब्देन नायाति, अपि तु सदैव वक्ष:स्थलकेलीत्यादिना विशेषणेनैव समास:--संक्षेप एतेनोक्ति: ।।८१।।

असम्बन्ध रूपं यत्त पमाकृति: ।।८२।।
निदर्शनैषा दृष्टान्तप्रायी, ।।८३।।

निदर्शना—नामालङ्कार: ।

यथा—क्व नाम कृष्णस्य कृपाकटाक्ष:, क्वतावदस्मिन् वत नोऽभिलाष:,
रत्नाकरस्योदरवर्त्ति रत्नं, वयं करेणैव जिहीर्षव: स्म: ।।८४।।

यथा वा—आकृष्यतां तक्षकमौलिरत्नमुल्लास्यतां हेमगिरि: करेण ।
आच्छिद्यतां केशरिकेशराली, न स्पृश्यतां केशव मत्सखीयम् ।।८५।।

मालारूपाप्येषा ।

यत्र क्रियैव हि । वक्ति स्वरूपं हेतुं च साऽन्या,
यत्र एकैव क्रिया स्वरूपं हेतुश्च वक्ति, सा अन्या निदर्शना ।।८६।।

यदुपमा कृत्यसम्बन्धरूपम्, एषा निदर्शना, किन्तु दृष्टान्तप्राया च ।।८२--८३।।

अस्मिन् कृपा कटाक्षे नोऽस्माकमभिलाष: क्व । अत्यन्तासम्भवे दमायां क्व द्वयम् समुद्रस्योदरवर्त्ति रत्नं वयं करेण जिहीर्षवो हस्त मिच्छवो भवामहत्यत्र दृष्टान्त प्रायत्वमुपमा कृतिरवं च वर्त्तते ।।८४।।

हेमगिरि: सुमेरु: करेणोल्लास्यतां ध्रियताम् । असाध्ये तक्षक फणास्य रत्नाकर्षण साहस: क्रियताम् । ततोऽपि असाध्ये मम सखी स्पर्शने कदापि साहसं मा कुर्व्विति भाव: । एषा निदर्शना मालारूपापि भवति ।।८५--८६।।

उदाहरण—हे राधे ! नन्दनन्दन, त्वदीय अङ्ग सङ्ग व्यतीत क्षण क्षणसे, ग्लानि को प्राप्त करते रहते हैं । सतत वक्ष:स्थल में केलि योग्या वनमालिका भी सम्प्रति उनको रुचिकरी नहीं हो रही है ।

इस श्लोक में वनमालिका के प्रति नायिकात्व की उपलब्धि केवल वनमाला शब्द नहीं होती है । सतत वक्ष:स्थल में "केलियोग्या' इस विशेषण के द्वारा उपलब्ध होता है । समास से अर्थात् संक्षेप से उक्ति का नाम समासोक्ति है ।।८१।।

असम्बन्धरूप उपमाकृति अलङ्कार विशेष को निदर्शना अलङ्कार कहते हैं । निदर्शना अलङ्कार-- अनेकांश में दृष्टान्त रूप में प्रतीयमान होता है ।।८२--८३।।

उदाहरण—श्रीकृष्ण की कृपा कटाक्ष कहाँ, एवं उक्त कृपा कटाक्ष की प्राप्त करने की इच्छा हम सब कहाँ ? हाय ! रत्न राजि रत्नाकर के अभ्यन्तर में विराजित हैं, हम सब दूर से उस सब को प्राप्त करने की कामना कर रहे हैं ।।८४।।

उदाहरण—भुजगराज तक्षक के फणामण्डल से वर रत्नाकर्षण करो, अथवा गिरिवर सुमेरु को

यथा—अभिवन्द्यवन्दनविपर्य्ययः सदा, विदधाति, नूनमियतीं हि यातनाम् ।
अधिकण्ठ सीम परिधाय राधिका, रमणीमणिर्न हि मणीकृता यतः ॥

अत्र यातनां विदधातीति क्रियास्वरूपं रमणीमणेर्मणीकरण विपर्य्ययरूपं हेतुञ्च वक्ति ॥९७॥

अप्रासङ्गिकस्य वाक् ।
प्रासङ्गि कथायां स्यादप्रस्तुतप्रशंसनम् ॥

अप्रासङ्गिकस्याप्राकरणिकस्यार्थस्य वाक् कथनं यत् प्रासङ्गिक कथायां तदप्रस्तुत प्रशंसा स्यात् ॥९८॥

कदाचित् श्रीकृष्णः श्रीराधिकां सङ्केत निकुञ्जस्थां विधाय तस्यां प्रतिपक्ष रमणी चन्द्रावलीकृत प्रतिबन्धक वशात्तन्निकटे गन्तुं न शशाक ।

तदा श्रीराधिका मानिनी बभूव । तस्या मान भङ्गार्थं कृतेऽपि नानायत्ने यदा मानशान्ति नं बभूव, श्रीकृष्णस्तदा खिन्नः सन् साहाय्यार्थं ललिता निकटे जगाम । तं प्रति ललिता प्राह—अभिवन्द्यति । 'वदि अभिवादनस्तुत्योः' । स्तुत्यर्हाणां वन्दने विपर्य्ययः, अनादरादिर्हि निश्चितमियतीं यातनां विदधाति यतस्त्वया गत रात्रौ अधिकण्ठसीम कण्ठसीमायां परिधाय राधिकारूप रमणी मणि नं हि कौस्तुभ मणिवत् कृता । अत्र यातना विधानरूपक्रिया स्वहेतु वक्ति--बोधयति । तथा च यातनाविधान क्रिया रूप कार्य्य लिङ्गेन रमणीमणेर्मणीकरणाभावरूपं कारणमनुमीयते इत्यर्थः ॥९७॥

प्रासङ्गिक कथायामप्राकरणिकस्य यत् कथनं तदप्रस्तुत प्रशंसा स्यात् स पञ्चधा सङ्गति । अतस्तस्याः पञ्चविधत्वमेवाह—कार्य्येति कार्य्ये प्रस्तुते अप्रस्तुतस्य कारणस्य प्रशंसेत्यर्थः ॥९८--९९॥

करके द्वारा उत्क्षेपण करो, किंवा कुपित केशरि को केशरावली की उत्पाटन करो, तथापि हे केशव ! मेरी सखी को स्पर्श न करो यह निदर्शना मालारूपा भी हुई है ॥९५॥

एकमात्र क्रिया ही जहाँ स्वकीय हेतु को व्यक्त करती है, वहाँ और एक प्रकार निदर्शना अलङ्कार होता है ॥९६॥

उदाहरण—वन्दनीय व्यक्ति की वन्दना विपर्य्यय ईदृश यातना का विधान करता है । कारण, राधिका रूप रमणी मणि को कण्ठदेश में स्थापन करके कौस्तुभ मणि के समान आचरण तुमने नहीं कर पाया यहाँ यातनाविधानरूपक्रिया, स्वकीय रूपको एवं रमणीमणि को मणीकरण रूप विपर्य्यय रूप हेतु को प्रकाश करती रहती है ॥९७॥

प्रासङ्गिक विषय में अप्रासङ्गिक -अर्थात् अप्राकरणिक अर्थ का कथन होने पर अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार होता है । कार्य्य में कारण का कथन, कारण में कार्य्य का कथन, विशेष में सामान्य का कथन, तुल्य में तुल्य का कथन, ये पञ्च प्रकार अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुतार्थ व्यञ्जित होकर पञ्चविध अप्रस्तुत अलंकार होते हैं ॥९८॥

कार्य्यकारणसामान्यविशेषेषु तदन्यधीः
प्रस्तुतेषु च तु तुल्ये च तुल्यगीः पञ्चधैव तत् ॥

तदप्रस्तुत प्रशंसनं प्रस्तुतेषु कार्य्यादिषु तदन्यगीः, कारणादि निरुक्तिः चकारादन्येषामप्रस्तुतत्व प्रसङ्गः, तुल्ये प्रस्तुते तुल्यस्याप्रस्तुतस्य गीश्चेति पञ्चम।

कार्य्ये कारणकथनं, कारणे कार्य्यकथनम्, सामान्ये विशेषकथनं, विशेषे सामान्यकथनम्, विशेषे सामान्यकथनम् तुल्ये प्रस्तुते-तुल्यस्याप्रस्तुतस्य कथनमित्यर्थः ९९॥

क्रमेणोदाहरणानि—

गेहेन किं तेन सदासितेन, दिनैर्वृथा तैः किमु यापितै र्वा।
न यत्र मे चन्द्रकशेखरस्य, यागोदयः सिध्यति साधु साध्व्यः ॥

अत्र गृहान्निशि कश्चिद् वनाय गच्छसीति कार्य्ये प्रश्ने प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य तत् कारणस्य प्रशंसा ॥१००॥

यथा वा—कुतः समागच्छसि राधिके त्वं यत्र स्थिता तस्य मुखं निरीक्षे।
क्व यासि मुग्धाक्षि समं सखीभि, र्न कस्य पुष्पावचयो ह्यभीष्टः।

सदासितेन बद्धेन बन्धनाधिकरणेन तेन गृहेण किम्? 'सिञ् बन्धेन' अधिकरणे क्तः। हे साध्व्यः! यत्र गृहे दिवसे वा मम चन्द्रशेखरस्य महादेवस्य, पक्ष—कृष्णस्य, यागोदयः—पूजोदयः। पक्षे, कन्दर्प यागोदयो न साधु सिध्यति। अत्रेति—कश्चित् प्रश्ने। तथा च हे सखि! रात्रौ गृहान्निःसृत्य किं वनाय गच्छसीति प्रस्तुतस्य कार्य्यस्य प्रश्ने अप्रस्तुतस्य तस्मिन् वनगमने कारणस्य गृहे कन्दर्प यागादिकस्य सिद्धेः प्रशंसा कथनमित्यर्थः ॥१००-१०१॥

कार्य्यमें कारण का कथन, कारणमें कार्य्य का कथन, सामान्य में विशेष कथन, विशेष में सामान्य कथन, तुल्य में तुल्य का कथन ये पञ्च प्रकार सेअप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुतार्थ व्यञ्जित होकर पञ्चविध अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार होता है ॥९९॥

क्रमशः उदाहरण—हे साध्वी वृन्द! मेरा वह सदासित अर्थात् सर्वदा ही जिस में बन्धन है, इस प्रकार गृह का क्या प्रयोजन है? वृथा अतिवाहित दिन समूह का भी क्या प्रयोजन है? जिस गृह में वा जिस दिवस समूह में मेरा चन्द्रकशेखर का यागोदय सम्यक् रूपसे सिद्ध नहीं होता है? यहाँ रात्रि काल में घरसे निर्गत होकर क्या वनको कोई जाते हैं? इस प्रकार प्रस्तुत प्रश्न रूप कार्य्य में अप्रस्तुत उक्त वन गमन रूप कारण की प्रशंसा की गई है ॥१००॥

राधिके! तुम कहाँ से आरही हो? एवं कहाँ जाऊगी? श्रीराधा की उक्ति यह है। जहाँ रहकर उनका मुख दर्शन कर सकूँगी। हे मुग्धाक्षि! तुम सखी वृन्द के सहित कहाँ जा रही हो? उत्तर में राधा बोली—पुष्प चयनकरना किस का अभीष्ट नहीं है?

इस श्लोक में कहाँ से आरही हो, कहाँ जाऊगी? इस प्रश्न से प्रस्तुत में अप्रस्तुत की, उसका कारण

अत्र कुत आगच्छसि क्व यासीति कार्य्ये प्रश्ने प्रस्तुतेऽप्रस्तुस्य तस्य तत् कारणस्य तन्मुखावलोकनस्य पुष्पावचयस्य च प्रशंसा । यत्र तन्मुखावलोकनं भवति, तत्रैव यामः, पुष्पावचयस्तु व्याज इति ध्वनिः ॥१०१॥

अस्ताचलं चुम्बति भानुबिम्बे गृहे गृहे गोकुल सुन्दरीणाम् ।
दिव्यानुलेपाभरणाम्बराणि, कृष्णाह्रियन्ते परितः सखीभिः ॥१०२॥

अत्र तदागमने प्रस्तुते कारणे कार्यमुक्तम् ॥१०२॥

अन्तर्लतागृहमनल्पतमं तमिस्त्र, मालिङ्गय सा तव तनुभ्रमतो वसन्ती ।
दैवोदितेन्दुकिरणे विरतेऽथ तस्मिन् मागाः प्रिय त्वमिति सीदति कृष्ण राधा ॥१०३॥

अनुरागिवधूमनोज्वर,—क्षतये त्वं ननु कृष्णभेषजम् ।
स कृती स सुहृत् स वत्सलः सुहृदाधि—प्रतिकारको हि यः ॥

हे कृष्ण ! दूतीं प्रति वनाद् गोष्ठं कृष्णः कदा आगमिष्यतीति त्वदागमन—कारण प्रश्ने कृते सति भानुबिम्बे अस्ताचलं चुम्बति सर्वे अस्तं गच्छति सति गृहे गृहे यूथेश्वरीणां सखीभिस्तासां वेशार्थं वस्त्राभरणा दीन्याह्रियन्ते इत्यप्रस्तुतस्य वस्त्राभरणाद्याहरणरूपकार्य्यस्य प्रशंसा तया दूत्या कृता । तथा च सन्ध्या काले वस्त्राभरणादि विशिष्टास्ताः सर्वा श्रीकृष्णं मिलिष्यन्तीति भावः ॥१०२॥

अन्तर्लतागृहं लतागृहमध्येऽनल्पतमं गाढं तमिस्त्रं तव तनुभ्रमत आलिङ्गय वसन्ती राधा दैवादुदित चन्द्रस्य किरणैस्तस्मिन् तमिस्त्रे विरते सति, 'हे प्रिय ! त्वमस्माद् गृहात् मागाः' इत्युक्त्वा सीदति । अत्र त्वदाकार सामान्ये सा रज्यतीति सामान्ये प्रस्तुते अप्रस्तुतस्य विशेषस्यान्धकारस्य कथनम् ॥१०३॥

सा न भविष्यति न जीविष्यति, तद्रूपेण भेषजेन औषधेन विना तस्या मनोज्वर-शमनं न सम्पत्

तन्मुखावलोकन की एवं पुष्प चयन की प्रशंसा हुई । जहाँ उनका मुखावलोकन होगा, वहाँ जाऊँगी, पुष्पावचयन छल मात्र ही है । यही ध्वनि है ॥१०१॥

हे कृष्ण ! भानुबिम्ब अस्ताचल चूड़ावल बी होने पर सम्प्रति सखीवृन्द, गृह गृह में गोकुल सुन्दरी-वृन्द के निमित्त दिव्य अनुलेपन एवं वसनाभरण संग्रह कर रही हैं ।

इस श्लोक में "हे कृष्ण ! तुम वनसे कब गोष्ठ में आओगे ? इस आगमन का कारण प्रश्न के द्वारा अप्रस्तुत वस्त्राभरणादि संग्रह रूप कार्य्य की प्रशंसा की गई है । सन्ध्या समय में वे वस्त्राभरणादि से भूषित होकर श्रीकृष्णके सहित सम्मिलित होंगी, यही श्लोक का भावार्थ है ॥१०२॥

हे कृष्ण ! लतागृह के अभ्यन्तर में श्रीराधा त्वदीय तनुभ्रमसे अनल्पतमतमोराशिके आलिङ्गन कर निवास कर रही थी । सहसा समुदित चन्द्र किरण से उक्त तमोराशि अपसृत होते देखकर—कहने लगी—"हे प्रियतम ! तुम इस कुञ्जगृह चले न जाओ" यह कह कर राधा अत्यन्त विषादापन्ना होने लगी ।

यहाँ तुम्हारे अनुरूप आकार में भी राधा अनुराग प्रकाश करती है, इस प्रस्तुत सामान्य में अप्रस्तुत अन्धकार रूप विशेष का कथन हुआ है ॥१०३॥

हे कृष्ण ! अनुरागिणी कामिनी का मानस ज्वर विनाश के सम्बन्ध में तुम भेषज स्वरूप हो, और

अत्र त्वां नीत्वा तस्या विरहज्वरं नाहं शमये, तदा सापि न भविष्यति, अहं च न कृतिनी, न सुहृत्, न वत्सला। तस्या मनोज्वर--शमनं विनात्वद्रूपेण भेषजेन न सम्पत्स्यते, तस्मात्वं शीघ्रमेव तत्र गन्तु मर्हसीति विशेषे प्रस्तुते सामान्य कथनम्। तुल्ये प्रस्तुते तुल्यस्या प्रस्तुतस्याभिधाने त्रयः प्रकाराः श्लेष समासोक्ति--सादृश्यरूपाः ॥१०४॥

क्रमेणोदाहरणानि—

लीलोऽपि पानविवशोऽपि तमः स्वरूपोऽप्याक्षिप्यते न सुमुखि भ्रमरः कदापि।
जात्यैव खेलनपरो व्रततीर्भजन् या, साग्रहो भवति तासु महागुणज्ञः ॥१०५॥

किं चातकीर्ष्वपि रसस्पृहयैकतानां, वर्षन्तमम्बुदमपि स्ववशे नयन्ती।
वात्येविधाय दृगगोचरमेतमासां, छन्नेन राजसि रजोभरनेन कामम् ॥

अत्र राधे त्यक्तानां गोपसुभ्रुवां कृष्णेन संभुक्तायाश्च मुख्यतमायाः प्रस्तावे चातकीनां नायिकात्वं वात्यायाश्च प्रतिनायिकात्वं विशेषणमाहात्म्याद्गम्यमिति समासोक्तिरूपः ।१०६।

किं केतकीं पुनरपि श्रयतां विदग्ध, भृङ्गो्यथास्वभिमतेति तएव श्र

स्यते। अप्रस्तुतस्य यः सुहृदां मनः पीड़ा प्रति-कारको न भवति, स कृती न भवतीति सामान्यस्य कथनम् ॥१०४-१०५-१०८॥

वे ही यथार्थ कृती, सुहृत् एवं वत्सल हैं, जो सुहृज्जनों की मनोवेदना का प्रतीकार करने में तत्पर होते हैं।

इस श्लोक में "यदि तुमको ले जाकर मैं उसकी विरहज्वर उपशम कर न सकूं, तो वह जीवित नहीं रहेगी, एवं मैं कृती, सुहृत्, वा वत्सला हूँ" इस प्रकार आप्य नहीं हो सकती हूँ, उसकी मानसज्वर प्रशमन भी औषधिस्वरूप तुम को छोड़कर हो ही नहीं सकता है। अतएव आशु गमन करना कर्त्तव्य है।

यहाँ प्रस्तुत विशेष स्थल में सामान्य का कथन हुआ है। प्रस्तुत तुल्य स्थल में अप्रस्तुत तुल्य का कथन से जो अप्रस्तुत प्रशंसा होती है। वह भी श्लेष है, समासोक्ति भी सादृश्याकार से त्रिविध होती है॥१०४॥

क्रमशः उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—सार्थवृन्द में शरीर धर्म हेतु यदि किसी प्रकार दोष दृष्ट होता है तो—विद्वान् व्यक्ति कभी भी तद् दोष दर्शी नहीं होते हैं। किन्तु महागुणज्ञ व्यक्ति उस में सार ग्रहण ही करते हैं। लता में देखो! चञ्चल, मधु पान विवश, तमः स्वरूप अर्थात् कृष्ण काय एवं जाति से ही खेलन परायण भ्रमर के प्रति आक्षेप गुणज्ञ व्यक्ति आक्षेप नहीं करता है। यहाँ कृष्ण एवं मानिनी के प्रस्ताव में भ्रमर एवं मालती का तुल्य कथन से श्लेष हुआ है ॥१०५॥

ऐसे स्पृहयैकताना चातकी होकर भी वर्षुक अम्बुद को यथा निजवश में ले आती है, किन्तु पवन के द्वारा परिचालित होकर अम्बुद कदाचित् दृग्गोचर होने पर यथेष्ट स्वच्छन्द रूप से आनन्दित करता है।

यहाँ कृष्ण के द्वारा परित्यक्त गोपललना वृन्द एवं कृष्ण के द्वारा संभुक्ता मुख्यतमा गोपाङ्गना के प्रस्ताव में चातकी समूह का नायिकात्व एवं वात्या का प्रति नायिकात्व का बोध विशेषण की महिमा से हुआ, इस रीति से यह समासोक्ति है॥१०६॥

विद्धः सकण्ठकशरैरदवनिम्रैव, सङ्गं तदैव नलिनीषु ययौ विहर्तुम् ॥

अत्र कलहान्तरितायाः कृष्णस्य च प्रस्तावे केतकी भृङ्गयो रभिधाने सादृश्यरूपः। इयञ्च वाच्य प्रतीयमानस्यानध्यारोपेण काचिदध्यारोपेणैव ॥१०७॥

सा यथा—त्वं कोऽस्यूषरदेशमेव सुधियो जानीत किं मां भवा

न्निर्वेदं तनुते शृणुध्वमभितोराजन्ति ता भूमयः।

या अम्भोधर—वृष्यमाणपयसाशस्यैरपूर्य्यन्तम

द्युम्नं सद्भिरपि प्ररोहति कवाप्येकं न बीजं यतः॥

अत्राचेतनस्योषर देशस्य प्रस्तुत—निर्विण्ण हरिभक्त पुरुषे आरोपेनैव प्रतिवचनोपपत्तिः।१०८।

न दोषदर्शी भवितेन विद्वान् वपुः स्वभावेन सतां वपुःषु।

युज्येत फेनादिभि रम्बुदोषैं रघोघ विध्वंस्यपि गाङ्गमम्भः॥"

अत्र श्लेषरूपः। तुल्ये प्रस्तुते तुल्यस्याप्रस्तुतस्याप्रस्तुतस्य कथनम् ॥१०९॥

साधूनां शरीरेषु वपुः स्वभावेन कामादि दोषाः दृश्यमानाअपि पण्डितस्तु तत्तद् दोषदर्शी न भविता। गङ्गाजले जलस्वभावेन फेनादि-दोषा-दृश्यमाना अपि तज्जलं अघप्रवाहरूपमघसमूहविध्वंस्यपि।

अत्र दोषदर्शि शब्दो नाना वाचकत्वात् श्लिष्टः। अत्रप्रस्तुते साधु शरीरे दोष दर्शनाभावेऽप्रस्तुतस्य साधु शरीर तुल्यस्य गङ्गाजलस्य पाप समूह नाशकत्व कथनम् ॥१०९॥

अलिगण से निपतित भृङ्ग कण्टक से क्षत होकर पुनर्वार क्या केतकी का भजन करता है, किन्तु वह नलिनी समूह में विहार करने के निमित्त आनन्द से चला जाता है।

यहाँ कलहान्तरिता नायिका एवं कृष्ण का प्रस्ताव में केतकी भृङ्ग का वर्णन हुआ है, अतएव उभय का सादृश्य यहाँ है, यह वाच्य प्रतीयमान रूप है, स्थल विशेष में अध्यारोप विहीन तथा अध्यारोप के द्वारा सम्पन्न है॥१०७॥

तुम कौन हो? ऊषर भूमि हो, तुमको सुधी व्यक्ति गण क्या नहीं जानते हैं? क्या तुम मुझको निर्विण्ण कर रहे हो? सुनो! अनेक भूमि जगत् में विद्यमान है, जो अम्भोधर के जलसिञ्चन के द्वारा शस्य श्यामला हो जाती है, किन्तु सज्जन गणों के द्वारा बीज वपन होने पर भी कभी भी एक बीज से अङ्कुरोद्गम ऊषर भूमि में नहीं होता है।

यहाँ अचेतन ऊषर देश का वर्णन प्रस्ताव में निर्विण्ण हरि भक्त पुरुष में आरोप के द्वारा ही प्रतिवचन की उपपत्ति हुई है ॥१०८॥

साधु वृन्द के शरीर में शरीर धर्म हेतु यदि किसी प्रकार दोष देखने आता है तो विद्वान् गण कभी तद् दोष दर्शी नहीं होते हैं। देखो! जलस्वभाव हेतु फेणादि दोष दृष्ट होने पर भी भागीरथी के जल तो पापराशि को विनष्ट करने में समर्थ होता ही है।

यहाँ प्रस्तुत तुल्यस्थल में अप्रस्तुत तुल्य का कथन श्लेष रूपमें सम्पन्न हुआ है॥१०९॥

हंहो प्रेम तवायशो विरचितं सद्योऽविनिर्गच्छता
येनानेन हतेन जीवितमिदं तद्येन सन्धार्य्यते ।
तस्यैवावधि वासरस्य सुमहान् दोषः शरीरान्तरे
तत् प्राप्तौ समयोऽधिकः किमवधाविरथं येनोह्यते ॥

अत्र समासोक्तिरूपः ।   ॥११०॥

चन्द्रादि–नानाविधरम्य वस्तुनः, सौन्दर्य्यमादाय मुखादि निर्ममे ।
यस्याः स्मरेण स्वयमेव तामसो, हिनस्ति तैरद्य हरेस्त्वया विना ॥१११॥

अत्र सादृश्यरूपः ।

प्रतीयमानस्यारोपानारोपाभ्यां पुनर्द्विधा ।

पुनरिदमप्रस्तुत प्रशंसनं द्विधा, प्रतीयमानस्यार्थस्यारोपानारोपाभ्याम् ॥११२॥

यथा—का त्वं पृच्छसि दुःखिनीं क्रिमिति मां कस्मादयं ते महान्
निर्वेदो ननु मुक्तिरस्मि तदहो सर्वोत्तमा त्वं नहि ।

माथुर विरहेण व्याकुला श्रीराधा स्वप्रेमाणं सम्बोध्याह--हंहो खेदे, हे प्रेम ! सद्यः श्रीकृष्णविच्छेद क्षणे ऽनिर्गच्छता येन जीवितेन तवायशो विरचितम्, तज्जीवितं येनावधि वासरेण धार्यते, तस्यैवावधि वासरस्य सुमहान् दोषः, यतः शरीरान्तरे तस्य कृष्णस्य प्राप्तौ अवधौ अवधि वासरे किमधिकः समयो भावीति येनावधि--वासरेण नोह्यते, न वितर्क्यते, तथा च देहानां सद्यः सुत्यजत्वाद् देहान्तरस्यापि शीघ्र भावित्वात् शरीरान्तरे तत्र स्वल्पः समयो-ऽविचारलब्ध इति भावः । अत्रेति श्रीकृष्ण विच्छेद समये प्राण गमन प्रतिबन्धकत्वरूप विशेषणेन विशेष्यस्यावधिवासरस्य वैरित्वारोप इति समासोक्ति रूप इत्यर्थः ।११०।

यस्या राधाया मुखादि, तां राधिकामसौ स्मरः कन्दर्पः चन्द्रादिभिः करणैरद्य हिनस्ति ।१११–११२।

माथुर विरह में व्याकुला राधा निज प्रेम को सम्बोधन कर कहती है— हाय ! प्रेम, मेरा यह जीवन--कृष्ण विच्छेद के समय निर्गत न होकर तुम्हारा जो अयश किया है, वह जीवन जिस अवधिदिन की अपेक्षा से रह रहा है, उस अवधिदिन का ही सुमहान् दोष है, इस प्रकार मैं मानती हूँ। कारण, शरीरान्तर ग्रहण कर कृष्ण सङ्ग लाभ करने के निमित्त अधिक समय लगेगा, इस सम्बन्ध में उसने विचार कर क्यों नहीं देखा है ?

यहाँ कृष्ण विच्छेद समय में प्राण प्रयाण की प्रति बन्धकतारूप विशेषण के द्वारा विशेष्यभूत अवधिवासर में वैरता आरोप हेतु समासोक्ति अलङ्कार हुआ है ।११०।

कन्दर्प चन्द्रादि विविधरम्यवस्तु सौन्दर्य्य समूह को ग्रहण कर जिसके मुखादि का निर्म्माण किया गया है, हे कृष्ण ! तुम्हारे विरह में निर्म्माण कर्त्ताने स्वयं ही उस उस वस्तुओं के द्वारा उसका प्राणापहरण करना आरम्भ किया है। यहाँ सादृश्यरूप हुआ है ।१११।

प्रतीयमान अर्थ का आरोप एवं अनारोप हेतु उक्त अप्रस्तुत प्रशंसालङ्कार दो प्रकार होते हैं ।११२।

दूरस्थामपि सादरोऽनुभजते भक्तिं मुकुन्दप्रियो
नोपेत्यार्थनकारिणीमपि दृशः-कोणेन मां वीक्षते ।

अत्र मुक्तेरपि भक्तिः सुरसेति प्रतीयमानस्यारोपः ॥११३॥

वहिश्चेदस्यान्तर्भवति यदि चान्तर्वहिरहो,जनः स्वस्मिन् देहे भवति घृणयाथूत्कृतिपरः ।
अभद्रं भद्रं ~~त्र~~ विरचिति विशेषोपधि.तर्हि, स्वतो भद्रं किञ्चिद् भवतिभगवत् भागवशतः ।
अत्र प्रतीयमानार्थस्यानारोपो वाच्यस्यैव प्राधान्यात् । अत्र प्रतीयमानार्थस्य देहे हेयत्वस्यानारोपोऽप्राधान्येन कथनम्,–वाच्यार्थस्यैव चमत्कारत्वेन प्राधान्यात् ॥११४॥

निगीर्णस्योपमानेनोपमेयस्य निरूपणम्

काचिद् देवता मुक्तिं पृच्छति – त्वं का ? मुक्तिराह--दुःखिनीं मामित्थं किमिति पृच्छसि ? पुनः पृच्छति—कस्मात्तवायं निर्वेदः ? ननु भो अहं मुक्तिरस्मि । तत्तस्मादहो त्वं सर्वोत्तमामवसि, कुतस्ते निर्वेद सम्भावना ? मुक्तिराह—हि निश्चितमहं सर्वोत्तमा न, तत्रहेतुः-दूरस्थामपि भक्तिं मुकुन्दप्रिय. सादरः सन् भजते । एत्यनिकटे गत्वा प्रार्थनाकारिणीमपि मां दृशःकोणेन न वीक्षते । मुक्तेः सकाशाद् भक्तिः सुरसेति प्रतीयमानस्यारोपः प्राधान्येन कथनम् ॥११३॥

देहस्य वहिर्भागो यदि अन्तर्भवति, तथा अन्तर्भागो यदि वहिर्भवति, तदा जनः स्वस्मिन् देहे घृणया । रचना विशेष एव उपाधि यत्र एवम्भूतं जगत् स्वतोऽभद्रं भद्रं न हि भवति । किन्तु उपाधिकृतं भद्रा--भद्रात्मकम् स्वरूपं भवति,– उपाधेरुभयात्मकत्वात् । सर्वथा किञ्चिद् भद्रन्तु भगवदंश वशादेव भवति,-- भगवद् भजनानन्दैः सर्वथा भद्ररूपत्वात् । अत्र प्रतीयमानार्थस्य देहे हेयत्वस्यानारोपोऽप्राधान्येन कथनम्, वाच्यार्थस्यैव चमत्कारत्वेन प्राधान्यात् ॥११४॥

एक देवताने मुक्ति को पूछा,—तुम कौन हो ? उत्तर में उसने कहा—मैं अति दुःखिनी हूँ, क्यों मुझ को पूछ रहे हो ? तुम्हारे मन में इतना निर्वेद क्यों ? उत्तर—"उसको क्या कहूँ ? मेरा नाम मुक्ति है" "यदि तुम मुक्ति हो तो सर्वोत्तमा हो" "मैं सर्वोत्तमा नहीं हूँ। देखो, मुकुन्द प्रिय भक्त वृन्द दूरवर्त्तिनी भक्ति का भी भजन, सादर से करते हैं । और मैं समीप में आकर स्वयं प्रार्थना करती रहती हूँ, तथापि मेरे प्रति वे नयन कोण से भी नहीं देखते हैं ।

यहाँ मुक्ति की अपेक्षा भक्ति सुरसा है, इस प्रतीयमान अर्थ का आरोप हुआ है ॥११३॥

शरीर का वहिर्भाग यदि अभ्यन्तर गत होता है, एवं अभ्यन्तर भाग यदि वहिः प्रकाशित होता है तो सभी व्यक्ति निज शरीर में घृणा हेतु थूत्कार करने में तत् पर होते हैं।

फलतः रचना विशेष से ही भद्र--अभद्र उपाधि का प्रयोग होता है, अन्यथा इस जगत् में भद्राभद्र कुछ भी नहीं है । केवल भगवान् के भजन प्रभृति सर्वथा भद्र रूप होने के कारण भद्रवृन्द ही सर्वथा भद्र नामसे अभिहित होते हैं ।

यहाँ वाच्यार्थ का ही प्राधान्य हेतु प्रतीय मानार्थ का अनारोप हुआ है, अर्थात् अप्राधान्य कथन हुआ है ॥११४॥

यत् स्यादतिशयोक्तिः सा, ॥११५॥

यथा—क्षितौ शोणाम्भोजे तदुपरि नवौ हैम कदलौ
तरू नीचीनाग्राविह कनकसिंहासनमिदम् ।
ततः शून्यं तस्योपरि सुमिलितं कोकमिथुनं
ततश्चन्द्रस्तस्मात्तम इति विधेः का नु घटना ॥११६॥

तदेवान्यतया यदि । निरूप्यते सा द्वितीया,

तदेव प्रकृतं वस्तु उपमानं वा ऽन्यदेवेदमिति यदि निरूप्यते, तदासाऽतिशयोक्तिर्द्वितीया भवति ॥११७॥

यथा—अन्ये श्रुति ते रसना च साऽन्या, चेतः सतां तत् पुनरन्यदेव ।
श्रीकृष्ण-शीतद्युति-नाम-लीला, रूपामृतं यानि सदा धयन्ति ॥११८॥

यथा वा—अन्यैवेयं कनक लतिका चन्द्रमाश्चायमन्य,
तस्मिन्नेतन्मदमदिरयोर्युग्मकं चान्यदेव ।

उपमानेन निगीर्णस्योपमेयस्य यन्निरूपणम्, सातिशयोक्तिः । निगीर्णं ग्रस्तम्, तथाचोपमानस्यैव प्रयोगः, ततुपमानेन ग्रस्तस्योपमेयस्य । यत्रोपमानस्य रक्तकमलस्यैव प्रयोगः, न तूपमेयस्य चरणस्येत्यर्थः ॥११५॥

क्षितौ पृथिव्यां, चरणद्वयस्थानीये रक्तकमले, तदुपरि ऊरुद्वयस्थानीयौ नवीन स्वर्ण कदलीवृक्षौ । कथम्भूतौ ? नीचीनाग्रौ ऊरुदेशस्योपरि स्थूलत्वमधः कार्श्यमित्यभिप्रायात् । इह तदुपरि नितम्ब स्थानीयं कनक सिंहासनम् । ततस्तस्योपरि मध्यदेशोपरि स्तनद्वयस्थानीयं चक्रवाक मिथुनम् मुखस्थानीयश्चन्द्र-स्तस्मात् केशस्थानीयं तम इति विधेः कोप्यनिर्वचनीया रचना घटना ॥११६--११७॥

प्रकृतं वस्तु उपमेयम् । तत्रादावुपमेयस्यान्यत्वमाह – अन्ये इति । यानि श्रवणेन्द्रियादीनि श्रीकृष्णस्य स्निग्ध कान्त्यादि अमृतं पिबन्ति ॥११८॥

उपमान के द्वारा यदि निगीर्ण अर्थात् शब्दोपात्त न होने से लुप्त प्राय उपमेय का निरूपण होता है तो उसको अतिशयोक्ति अलङ्कार कहते हैं ॥११५॥

उदाहरण—विधाता की कैसी विचित्र घटना है ? देखो, भूतल में दो रक्तोत्पल हैं, उसके ऊपर अधोमुख नव कनक कदली तरु युगल हैं, तदुपरि स्वर्ण सिंहासन है, तत् पश्चात् शून्य है, तदूर्ध्व में सुसम्मिलित कोकमिथुन हैं, उसके ऊपर पूर्ण चन्द्र है, तत् पश्चात् तमः पुञ्ज विराजित है ॥११६॥

उक्त प्रकृत वस्तु स्वरूप उपमेय अथवा उपमान यदि "यह अन्य वस्तु ही है" इस प्रकार निरूपित होता है, तो द्वितीय प्रकार अतिशयोक्ति होती है ॥११७॥

उदाहरण—श्रीकृष्ण चन्द्र के नाम लीलारूप अमृत पान जो सर्वदा करते हैं, उन साधुवृन्द के श्रवण भी अन्य प्रकार हैं, उनकी रसना भी पृथक् रसना है, एवं उनके चित्त भी स्वतन्त्र एक प्रकार चित्त है ।११८

अन्यैवेयं तदुपरि मनोजन्मनश्चापवल्ली,

राधानाम स्फुरतु मनसः केयमुन्मादवीथी ॥११६॥

यद्यर्थेन तु कल्पना ॥१२०॥

यद्यसम्भविनोऽर्थस्य सा तृतीया ॥१२१॥

यथा—पूर्णो यदि स्यादनिशं सुधांशुः, स चेत् कलङ्केन भवेद्विहीनः।

चकोर पेयोऽपि न चेदयं स्यात्त्वदास्य-दास्याय तदैव राधे ॥१२२॥

विपर्य्यये कार्यकारणयोरन्या,

अन्या चतुर्थी ॥१२३॥

यथा—अविद्ध एव प्रविवेश यत्कृता, सरोरुहाक्ष्या हृदि कृष्ण वेदना।

उपमानस्यान्यत्वमाह—अन्यैवेति। मदिरयोः खञ्जनयोः भ्रूवल्लीस्थानीया कन्दर्पस्य चापवल्ली धनुर्लता। राधानाम विशेष्यम् काप्यनिर्वचनीया मनस उन्मादश्रेणी, तथा च राधा नाम श्रवणमात्रेण श्रीकृष्णस्य मनस उन्मादपरम्परा जायत इत्यर्थः ॥११६॥

यद्यसम्भावितार्थस्ययदि-शब्द न कल्पना स्यात्तदा तृतीयातिशयोक्तिर्ज्ञेया ॥१२०-१२१॥

अयं चन्द्रश्चकोरेण न पेयो भवेदित्यनेन माधुर्य्यं सम्पूर्णत्वमुक्तम्। हे राधे। तवाएष चन्द्रस्त्वन्मुखस्य दास्याय स्यात् ॥१२२॥

आदौ कारणं विनैव कार्य्योत्पत्तिः, पश्चात् कारणोत्पत्तिः, अयमेव कार्य्य—कारणयोर्विपर्य्ययः। तत्र चतुर्थी अतिशयोक्तिर्ज्ञेया ॥१२३॥

हे कृष्ण ! सरोरुहाक्ष्याः श्रीराधायास्तव कटाक्ष शरेणाविद्ध एव हृदि यत्कृता तव कटाक्ष शरकृता

यह अन्य एक प्रकार कनक लतिका है, यह चन्द्र भी अन्य प्रकार चन्द्र है, एवं उस में जो प्रमत्त युगल दृष्ट होते हैं, वे भी अन्यविध खञ्जन है, उक्त खञ्जन युगल के उपरि भाग में मनोभव की जो धनुर्लता देखी जाती है, वह भी अन्यविध धनुर्लता होगी, फलतः श्रीराधानाम श्रवण मात्र से ही श्रीकृष्ण के मनमें एक उन्माद परम्परा की सृष्टि होती है ॥११६॥

यदि अर्थ के द्वारा यदि असम्भावित अर्थ की कल्पना की जाती है, तो– तृतीय प्रकार अतिशयोक्ति अलङ्कार होता है ॥१२०-१२१॥

हे राधे ! यदि सुधांशु-निरन्तर पूर्ण रहता है, एवं कलङ्क स्पर्श शून्य होता है, चकोर कुल भी कदाचित् तदीय सुधापान नहीं करते हैं, तब वह चन्द्र तुम्हारे आस्यमण्डल के दास्य कर्म्म के उपयुक्त है, विवेचित हो सकता है ॥१२२॥

कार्य कारण का विपर्य्यय होने पर चतुर्थ प्रकार अतिशयोक्ति अलङ्कार होता है ॥१२३॥

हे कृष्ण ! सरोरुहाक्षी श्रीराधा के हृदयदेश विद्ध न होते ही उसकी विषम वेदना प्रविष्ट हुई थी। सम्प्रति वही तुम्हारा कटाक्षशर उनके सुकुमार हृदय को गाढ़तर रूपसे विद्ध किया है ॥१२४॥

परं ततोऽनेन विलोचनाञ्चली, शरेण विद्ध हृदयं तदास्याः ॥१२४॥

प्रतिवस्तूपमा तदा ॥१२५॥

सामान्यस्य स्थिति र्वाक्य उपमानोपमेययोः ॥

उपमान--वाक्ये उपमेय–वाक्ये च सामान्यस्य साधारण धर्मस्य यदा स्थितिरित्यर्थः ॥१२६॥

अहमिव कथमिव सहते, राधा निविड़ानुरागभर--बाधाम् ।
नहि नव कुङ्कुमवाटी, दहन ज्वालेन भवति नो दग्धा ॥१२७॥

विभर्त्ति सर्वानमरात् समेरु स्तञ्चापरं चापि धरैव धत्ते ।
धराश्चधत्ते भुजगाधिनाथो, धुरन्धरैरेव धुरो ध्रियन्ते ॥१२८॥

एषा माला प्रतिवस्तूपमा ।

सर्वेषामेव धर्माणां दृष्टान्तः प्रतिविम्बवत् ।

सर्वेषामेव साधारण धर्माणा प्रतिविम्बवद् भासनं यत् तद् दृष्टान्त नामालङ्कारः ॥१२९॥

स च साधर्म्म्य–वैधर्म्म्य भेदेन द्विविधो मतः ।

स च साधर्म्म्येण वैधर्म्म्येण च ॥१३०॥

वेदना प्रविवेश । ततः परं तत् पश्चात् त्वया अनेन कठाक्ष शरेण करणेनास्या राधाया हृदयं बिद्धम् । अत्र कटाक्ष शरजन्य हृदय वेधरूप कारणोत्पत्तेः पूर्वमेव तादृश-वेध जन्यवेदनारूप कार्य्योत्पत्तिरित्यर्थः ॥१२४--१२५--१२६॥

मथुरास्थः श्रीकृष्णो व्रजादागतमुद्धवं प्रत्याह—अहमिति । नवीनकुङ्कुमस्य केशरस्याति सुकुमारत्वात् तस्य वाटी दहन ज्वालेन नहि दग्धानो भवति, अपि तु दग्धा भवत्येव । अत्रोपमेय वाक्ये राधेति उपमान वाक्ये दहन ज्वालेति एक एव साधारण धर्मः शब्दभेदेनोक्तः ॥१२७॥

सर्वान् देवान् सुमेरुर्विभर्त्ति, तञ्चसुमेरुमपरञ्च पर्वतं वहन्ती धरा पृथ्वी अस्ति । भुजगाधिनाथः

उपमान वाक्य में एवं उपमेय वाक्य में यदि साधारण धर्म की स्थिति होती है, तो उसको प्रति वस्तूपमा कहते हैं ॥१२५--१२६॥

राधा किस प्रकार मेरे समान उस निविड़ानुराग जनित बाधा को सहन करती रहती है । नवकुङ्कुम वाटिका तो दहन ज्वालासे दग्ध न होकर रह ही नहीं सकती है ॥१२७॥

सुमेरु यावतीय अमरमण्डली को धारण करता रहता है, धारा, उस सुमेरु को धारण करती है, एवं अन्य पर्वत समूह को भी धारण करती है । भुजगाधिराज तो उस धरा को धारण करते रहते हैं, अतः गुरुतर व्यक्ति वृन्द ही उस प्रकार गुरुतर भार को वहन करते हैं ।

यह माला प्रति वस्तूपमालङ्कार है ॥१२८॥

क्रमेणोदाहरणे—हरिसन्दर्शनसमये, द्रवति मनो मे कठोरमपि सुमुखि !
उदये सति चन्द्रमस–श्चन्द्रमणेः स्यन्दते स्वरसः ॥१३१॥
प्रेयसि नयन विदूरे, सति मम समुपैतिनयनयोरान्ध्यम् ।
उदये नहि तुहिनांशो र्मीलति नीलोत्पलश्रेणी ॥१३२॥

कारकैक्ये क्रिया बह्व्यो व्यत्ययेऽपि च दीपकम् ॥

व्यत्यये क्रियैक्ये बहूनि कारकाणीत्यर्थः ।

यथा—(अष्टम किरणे ७३) 'न दर्शयति न भाषते, न च शृणोति न स्पन्दते' इत्यादौ पूर्वार्द्धम् ॥१३३॥

कारकबाहुल्ये क्रियैक्यं यथा—
सुहृद्वियोगश्च महाज्वरश्च, विषञ्चपाकोन्मुखहृद्व्रणश्च ।

शेषः । धुरन्धरैरेव जनैर्धुरो भारा ध्रियन्ते । १२८–(१२९–१३०)॥

हरि सन्दर्शनेति । चन्द्रस्योदये सति चन्द्रमणेश्च श्च द्रकान्त शिलायाः स्वीयरसः स्यन्दते स्रवति । अत्र मनसः कठोरत्वं कृष्णसन्निधौद्रवत्वञ्चेति धर्मद्वयं दार्ष्टान्ते, दृष्टान्तेऽपि शिलायाः कठोरत्वं चन्द्र सन्निधौ द्रवत्वञ्चेति धर्मद्वयम् । अतोऽत्र धर्मद्वयस्योभयत्र प्रतिबिम्बवद् भासनमेकमजातीय—भासनमेव प्रतिबिम्बवद् भाषणमित्यर्थः ॥१३१॥

तुहिनांशोश्चन्द्रस्योदये सति नहि नीलोत्पल श्रेणी मीलति, नहि मुद्रिता भवतीत्यर्थः । तथा च यथा चन्द्रोदये सति नीलोत्पलानामान्ध्या भावस्तथा प्रेयसि श्रीकृष्णे नयनयो विदूरे सति मम नयन रूपाधिकरणे आन्ध्यं समुपैतीति वैधर्म्यम् । एवं सति तासां यथा चन्द्रोदये आन्ध्याभाव स्तथा कृष्णस्योदये ममाप्यान्ध्याभावः । अतः साधारण धर्मस्यैक जातीय भासनमिति ज्ञेयम् ॥१३२॥

कारकस्यैकत्वं क्रियाणां बहुत्वम्, अथवा क्रियाया एकत्वं कारकाणां बहुत्वमित्युभयत्रैव दीपकालङ्कारो ज्ञेयः । पूर्वार्धमिति–कारकस्यैकत्वं क्रियाणामनेकत्वमित्यर्थ ॥१३३॥

समस्त साधारण धर्म—प्रतिबिम्ब के समान प्रतिभात होने से उसको दृष्टान्त अलङ्कार कहते हैं । उक्त दृष्टान्त साधर्म्य वैधर्म्य भेद से द्विविध होते हैं ॥१२९–१३०॥

क्रमशः उदाहरण – हे सुमुखि ! हरि सन्दर्शन के समय में मेरे यह कठोर चित्त भी द्रवित होता है । चन्द्रमा का उदय से चन्द्रकान्त मणि स्वतः ही स्यन्दित होती रहती है ॥१३१॥

प्रियतम दूरवर्त्ती होने से ही मदीय नयन युगल में अन्धता उपस्थित होती है, देखो ! हिमांशु का उदय से नीलोत्पल श्रेणी कभी भी निमीलित नहीं रहती है । यहाँ साधारण धर्म का एक जातीय प्रतिभासन हुआ है ॥१३२॥

एक कारक स्थल में अनेक क्रिया होने पर अथवा एक क्रियास्थल में अनेक कारक होने से दीपक अलङ्कार होता है । उदाहरण—"जब राधिका कुछ भी नहीं देख रही हैं, नहीं सुन रही है, कुछ नहीं कह रही है" इत्यादि पूर्वोल्लिखित श्लोक का प्रथमार्द्ध है ॥१३३॥

महद्विनिन्दा च खलोदितञ्च, षड़ेव मर्म्माण्यवसादयन्ति ॥१३४॥

मालास्यात् पूर्वं पूर्वञ्चेदुत्तरोत्तरोत्तर मृच्छति ॥१३५॥

माला-मादीपकम् ।

यथा—आलोके सति सम्मदामृतनिधौ स्वान्तं तदैवाविशत्
स्वान्ते मन्मथ एष मन्मथ इदं क्रूरत्वमुच्चैस्तराम् ।
क्रूरत्वेऽपि च तस्य धैर्यहरता तस्यां समस्तेन्द्रिय
ग्लानिः का सखि सुस्थिताभिलषति श्रीकृष्णमालोकितुम् ॥१३६॥

प्रकृतानां चैकदोक्तिरुच्यते तुल्ययोगिता

चकारादप्राकृतानाञ्च, प्राकरणिकानामप्राकरणिकाञ्चेत्यर्थः ॥१३७॥

यथा—दृष्टिः शून्या गमनमलसं मानसं निर्व्यवस्थं,
देहः क्षामस्तव सखि मुखं केतकीगर्भपाण्डु ।

सुहृद् वियोगाद्यः षड़ेव कर्त्तारः साधूनां मर्माण्यवसादयन्ति, छिन्दन्तीत्यर्थः ॥१३४॥

पूर्वं पूर्वं वस्तु उत्तरोत्तरं वस्तु ऋच्छति प्राप्नोति चेत्तदा मालादीपकं स्यादित्यन्वयः ॥१३५॥

यस्य श्रीकृष्णस्य दर्शने सति आनन्द समुद्रे स्वान्तमनः तदैवाविशत्, मनसि कन्दर्पोऽविशत्, कन्दर्पे चेदं क्रूरत्वमुच्चैस्तरामतिशयेनाविशत् क्रूरत्वेऽपि च तस्य कन्दर्पस्य च धैर्य हरता अविशत् ।

तथा च कन्दर्पस्य तथा क्रूरत्वमजनि, यथा सोऽधीरः सन् सदा वाणं वर्षं करोतीति भावः । तस्यां धैर्य हरतायां सर्वेन्द्रिय ग्लानिरविशत् । तथा च स वाणं वर्षणं तथा अधीरो जातः, यथा सर्वेन्द्रियाणां ग्लानिरभवदिति भावः । एवं सति हे सखि ! सुस्थिता प्रकृतिस्थिता सतीका तथाभूतं श्रीकृष्णमालोकयितु मभिलषति ॥१३६-१३७॥

कारक अनेक होने पर किया का ऐक्य का दृष्टान्त—सुहृद्वियोग, सुदारुण ज्वर, सुतीक्ष्ण हलाहल, पाकोन्मुख हृदय व्रण, महत् व्यक्ति की निन्दा एवं खल का वाक्य ये छः पदार्थ ही हृदय के मर्म्म भेद करते हैं ॥१३४॥

पूर्व पूर्व वस्तु यदि उत्तरोत्तर वस्तु को प्राप्त करता है तो मालादीपक अलङ्कार होता है ॥१३५॥

उदाहरण—जिनका दर्शन मात्र से ही अन्तःकरण आनन्द सागर में निमग्न होते हैं, अन्तःकरण में मदन आविष्ट होता है, मन्मथ में क्रूरता प्रविष्ट होती है, क्रूरता में काम जनित धैर्य हरता का आविर्भाव होता है, धैर्य हरता में निखिलेन्द्रिय की ग्लानि उपस्थित होती है, हे सखि ! कौन व्यक्ति प्रकृतिस्थ होकर तादृश नन्दनन्दन का दर्शन करना चाहेगा ? ॥१३६॥

प्राकरणिक अथवा अप्राकरणिक पदार्थ समूह की एकदा उक्ति होने पर उसको तुल्ययोगिता कहते हैं ॥१३७॥

श्वासोदीर्घः परिजनगणे मौनमायामि राधे,

सर्वो धर्म्मः कथमयमभूदेकदैवान्यथैव ।।१३८।।

कुवलयहरिणाङ्गनादृगन्त स्मरशरमीन चकोर खञ्जरीटाः ।

नयन विलसितेन राधिकाया, युगपदपास्त समस्तसौभगाः स्युः ।।१३९।।

चकारेणापि साक्षेप्या, ।।१४०।।

सा तुल्ययोगिता ।

यथा—दृष्टं श्रीकृष्णवदनं हारितं च निजं मनः ।

लब्धः कोऽपि परानन्दो निपीतं च महाविषम् ।।१४१।।

व्यतिरेको विलक्षणः । उपमानात् ।।१४२।।

विलक्षण इति गुणेन दोषेण च ।

क्रमेणोदाहरणानि—(तृतीय किरणे १३) 'आशामित्रे विलसदुदयः' इत्यादि ।

यथा वा—राधे सुधांशुरेवायं सत्यमेव तवाननम् ।

दृष्टिरिति । मानसं मनः सम्बन्धि धैर्य्यादिकं निव्यवस्थं लौकिक व्यवस्थारहितं मुखं केतकी गर्भस्येव श्वेतम्, मौनमायामि दीर्घम् । अत्र सर्व एवार्थाः प्रकृताः ।।१३८।।

कुवलयं नीलोत्पलम्, हरिणाङ्ग नानां दृगन्तम्, कन्दर्पशराः, खञ्जरीटः खञ्जनः, एते राधिका नयन विलसितैः करणैरपास्त समस्त सौभगाः स्युः । अत्र सर्वं एवार्था अप्रकृताः ।।१३९।।

सा तुल्ययोगिता, चकारेणाप्याक्षेप्या ज्ञेया भवतीत्यर्थः । श्रीकृष्ण वदनं दृष्टम्, निजं मनश्च हारितमिति चकार सहिता तुल्य योगिता ज्ञेया ।।१४०--१४१।।

उपमानाच्चन्द्रादुपमेयस्य श्रीकृष्णस्य गुणेन करणेन वैलक्षण्यमाधिक्यं चेत्तदा व्यतिरेकालङ्कारो ज्ञेयः । अथवा,उपमानाद् विषादुपमेयस्य कृष्णेऽनुरागस्य दोषेण वैलक्षण्यं चेत्तदा व्यतिरेकालङ्कारो ज्ञेयः ।

हे सखि ! तुम्हारी दृष्टि शून्या, गमन अलस, मानस, अव्यवस्थ, देह क्षीण, मुख—केतकी गर्भ के समान पाण्डु, निश्वास दीर्घ एवं परिजन गण के प्रति सुदीर्घ काल मौनभाव,इस प्रकार यावतीय स्वभाव—एक समय में अन्य प्रकार हो गये ? ।।१३८।।

राधिका के नयन युगल के विलास वैभव से नीलोत्पल, हरिणी नयन, मन्मथशर एवं मीन, चकोर एवं खञ्जन के समस्त सौभाग्य विलुप्त हो गये हैं ।।१३९।।

समुच्चयार्थक चकार के द्वारा भी तुल्य योगिता बोधित होती है उदाहरण—

हाय ! श्रीकृष्ण के मुखमण्डल दृष्ट हुआ, निज चित्त भी अपहृत हुआ, एवं उससे जिससे परमानन्द हुआ उसी प्रकार विषपान भी हुआ ।।१४०--१४१।।

उपमान से गुण या दोष हेतु उपमेय का वैलक्षण्य प्रतीत होने पर व्यतिरेकालङ्कार होता है ।

उदाहरण—तृतीय किरण के १३ श्लोक—'आशामित्रे विलसदुदयः" अन्य उदाहरण—राधे ! तुम्हारे

किन्त्वसौ मलिनोऽङ्केन सुनिर्म्मलमिदं सदा ॥१४३॥

दुरापलोके च नवानुरागो, हालाहलञ्चापि समं विशाखे ।
अन्त्यन्तु मन्त्रौषधिरत्नसाध्यं, हा हन्त केनापि कदापि नाद्यः ॥१४४॥

द्वयोरुत् कर्षापकर्षार्थ शंसिनोः ॥१४५॥
हेत्वोरुक्तौ त्रयाणां वाऽनुक्तौ शब्दार्थशक्तिभिः ।
आक्षिप्ते सति च श्लेषे स स्याद् बहुविधः पुनः ॥

द्वयोरुपमेयोपमानयोरुपमेयस्योत्कर्षं उपमानस्यापकर्षः, तयोरुक्तौ द्वयोरुपमेयोपमानयोरुत्कर्षापकर्षयोरनुक्तिः, उपमेयस्योत्कर्षस्य वाऽनुक्तिः, उपमानस्यापकर्षस्य वाऽनुक्तिरिति त्रितयं मिलित्वा चत्वारो भेदाः । एते च शब्दप्रतिपादिता अर्थ प्रतिपादिताश्चेत्यष्टौ । आक्षिप्तेऽप्यौपम्ये चत्वारः, एवं द्वादश । पुनः श्लेषे द्वादशेति चतुर्विंशति भेदाः ॥१४६॥

आशामात्रे दिक् सामान्ये एव श्रीकृष्णस्योदयः, श्लेषेण, भक्तानां प्रार्थनाशा(?) एव तस्योदयः । चन्द्रस्य तु आशामात्रे उदयः, अपितु एकस्यां पूर्वस्यामेव दिशि ।

किन्त्वसौ चन्द्रोऽङ्केन कलङ्केन मलिनः, इदं तवाननन्तु सदा निर्म्मलम् । दुष्प्रापलोके श्रीकृष्णेन नानुरागश्च हलाहलश्च द्वयं समम् । अन्त्यं हालाहलं मन्त्रादिभिर्या चिकित्सा तया साध्यम् । आद्यः कृष्णे नवानुरागस्तु ॥१४२-१४४॥

द्वयोरुपमेयोपमानयोरुत्कर्षापकर्ष बोधकयो र्हेत्वोर्धर्मयोर्यत्रोक्तिस्तत्रैको व्यतिरेकालङ्कारः । त्रितयमिति । एवं यत्र द्वयोरुपमेयोपमानयोरुत्कर्षापकर्ष बोधक धर्मयोरनुक्तिस्तत्रैको व्यतिरेकः । तथा यत्रोपमेयस्योत्कर्षबोधक धर्मस्य वा अनुक्तिस्तत्रैको व्यतिरेकः । एवमुपमानस्यापकर्षबोधक धर्मस्य वाऽनुक्तिस्तत्राप्येको व्यतिरेकः । एवं मिलित्वा चत्वारो भेदाः । औपम्ये उपमान धर्मे आक्षिप्ते उपमान बोधकेवादि शब्दनन्तरेणाक्षेपाल्लभ्ये सतीत्यर्थः । तथा चौपम्य-बोधकेवादिशब्दाभाव विशिष्टस्य पुनश्चत्वारो भेदाः ॥१४६-१४६॥

वदन मण्डल सत्य ही सुधांशु है, तब सुधांशु सतत कलङ्क से मलिन है, और तुम्हारे मुखचन्द्र--सर्वदा सुनिर्म्मल है । यही भेद है ।

हे विशाखे ! दुर्लभ जनके प्रति नवानुराग एवं हलाहल उभय ही तुल्य पदार्थ हैं, किन्तु द्वितीय जो अन्तिम है—वह तो मन्त्र, औषधि एवं रत्नसाध्य है, किन्तु प्रथम किसी प्रकार से किसी भी समय में साध्य नहीं है ॥१४२—१४४॥

उक्त व्यतिरेक अलङ्कार अनेक प्रकार के होते हैं । अर्थात् उपमान—उपमेय एतदुभय का उत्कर्ष एवं अपकर्ष बोधक धर्म की उक्ति स्थल में एक प्रकार, उपमानोपमेय के उत्कर्ष की अनुक्ति, एवं उपमान के अपकर्ष की अनुक्ति, इस रीति से चार प्रकार होते हैं । उक्त चार प्रकार—शब्द प्रति पाद्यत्व एवं अर्थ

क्रमेणोदाहरणानि—आह्लादकस्य सुरभेर्मुखस्य तव राधिके !

चन्द्रस्य कमलस्येव नाङ्को न जलजन्मता ॥१४७॥

अत्रोपमेयस्योत्कर्षः, उपमानस्यापकर्षः । द्वयोरेवोक्तिः ।

तवाननस्योपमानं न चन्द्रो न च पङ्कजम् ।

अक्ष्णोरप्युपमानं ते न राधे खञ्जनादयः ॥

अत्र द्वयोर्ह्यनुक्तिः ॥१४८॥

मुखस्य तव पद्माक्षि कलङ्की न समः शशी ।

वचसो न च तुल्यं माक्षिकत्वेन माक्षिकम् ॥

अत्रोपमेयस्य नोत्कर्षोक्तिः ॥१४९॥

आह्लादकस्य सुरभेर्मुखस्य तव राधिके ! नोपमानं भवेदिन्दु न च पङ्केरुहं प्रिये ।

अत्रोपमानस्यापकर्षोऽनुक्तिः एते चत्वारो भेदाः ॥१५०॥

आह्लादकं सौरभवद्वदनं तव राधिके !

सकलङ्केन्दुवन्नैव स्थलजलाब्जवत् ॥

हे राधे ! आह्लादकस्य तव मुखस्य चन्द्रस्येव न कलङ्कः । चन्द्रे यथा कलङ्कस्तथा तव मुखे नास्तीत्यर्थः । एवं सौरभयुक्तस्य मुखस्य कमलस्येव न जल जन्मता ॥१४७--१४८॥

अत्रेति—द्वयोरुपमानोपमेययोर्द्वयनुक्तिः । उत्कर्षापकर्षानुक्तिः । माक्षिकं मधु, माक्षिकत्वेन--मक्षिका कृतत्वेन ॥१४९॥

प्रतिपाद्यत्व भेद से आठ प्रकार होते हैं । उपमान का धर्म आक्षेपलभ्य होने पर चार प्रकार होते हैं । इस प्रकार द्वादश, एवं श्लेष,हेतु,द्वादश—के योग से चतुर्विंशति भेद होते है ॥१४५--१४६॥

क्रमशः उदाहरण—हे राधिके ! तुम्हारे यह सर्वाह्लादक सुरभिमुख मण्डल में चन्द्रके समान कलङ्क नहीं है, पद्म के समान जल जृम्भता भी नहीं है ।

यहाँ उपमेय का उत्कर्ष एवं उपमान का अपकर्ष--दोनों की उक्ति हुई है ॥१४७॥

हे राधे ! चन्द्र वा पङ्कज, तुम्हारे आनन का उपमान नहीं है । एवं खञ्जन युगल को भी उपमान नहीं कहा जा सकता है ।

यहाँ उपमान एवं उपमेय--उभय का ही उत्कर्ष एवं अपकर्ष की अनुक्ति हुई है ॥१४८॥

हे कमलाक्षि ! कलङ्की शशाङ्क कभी भी तुम्हारे मुख सदृश नहीं है, एवं मक्षिका सञ्चित मधुभी कभी तुम्हारे वाक्य के समान नहीं हो सकता है ।

यहाँ उपमेय के उत्कर्ष की उक्ति नहीं हुई है ॥१४९॥

हे राधिके प्रिये ! पङ्कज अथवा पूर्णेन्दु कभी भी तुम्हारे यह परम आह्लादन सुरभि मुखमण्डल का उपमान नहीं हो सकता है । यहाँ उपमान का उपकर्ष की अनुक्ति है, ये चार भेद हैं ॥१५०॥

अत्र तुलार्थेन वतिनाऽर्थं प्रतिपाद्यमौपम्यम् । एतच्च पुनस्त्रयाणामनुक्तौ पूर्ववत् अनेन सह चत्वार इत्यष्टौ ॥१५१॥

शनैश्चलन्ती चरण द्वयेन सा, दासीकृताम्भोरुह काननश्रिणा ।
मुखेन राधा सहजामलत्विषा, जिगाय चन्द्रं समलं कलङ्कतः ॥

अत्रेवादि शब्दमन्तरेणाक्षिप्तोपमा । इयमपि पूर्ववदुत्कर्षाद्युक्त्यनुक्ति, श्चतुर्धा । तेन द्वादश भेदाः । एते च पुनः श्लेषगतत्वेन द्वेधेति चतुर्विंशतिः ॥१५२॥

कियन्त उदाह्रियन्ते—

कामकार्मुकमेवेदं राधे तव युगं भ्रुवोः । गुणस्या योगसंयोगौ यत्रनैवान्य चापवत् ।

अत्रेवार्थे वतिः, गुणशब्दः श्लिष्टः ॥१५३॥

सौरभवद् वदनं सौरभयुक्तं वदनम् । अत्रौपम्यमर्थं प्रतिपाद्यम्, नतु शब्द प्रतिपाद्यम्, शब्द प्रतिपाद्यन्तु वति प्रत्ययभिन्न स्थले पूर्वमुक्तमेव । त्रयाणामिति—कुत्रचिद् वति प्रत्ययस्थले उत्कर्षापकर्षयो द्वयोरनुक्तिः । एवं कुत्रचिद् वतिप्रत्यय स्थले उपमानस्यापकर्षानुक्ति रिति त्रयाणामित्यर्थः । पूर्वोक्ताह्लादकमिति पक्षे द्वयोरेवोक्ति रित्यनेन सह चत्वारो भेदा ज्ञेयाः ॥१५१॥

दासीकृता कमल काननस्य श्रीः शोभा येन तथाभूतेन चरण द्वयेन शनैश्चलन्ती सा राधा सहजामल त्विषा मुखेन करणेन कलङ्कात् समलं चन्द्रं जिगाय ॥१५२॥

हे राधे ! तव भ्रुवोर्युगं कन्दर्पस्य कार्मुकं धनुरेव, किन्तु नान्य चापवत् अन्य चापे गुणस्य प्रत्यञ्चायः कदाचिदयोगः, कदाचित् संयोगः । यत्र तव भ्रुधनुषि तौ नस्तः, किन्तु सदा गुणस्य संयोग एवं इति श्लेषेण, गुणस्य माधुर्यादेः ॥१५३॥

राधिके ! तुम्हारे यह सौरभवत् एवं आह्लाद जनक वदन मण्डल स कलङ्क सुधांशुवत् अथवा कमल वा स्थल कमलवत् है इस प्रकार बोध नहीं होता है ।

यहाँ तुल्यार्थ में विहित वति प्रत्यय द्वारा औपम्य तात्पर्य्य गम्य हुआ है ।

वति प्रत्ययस्थल में कहीं पर उत्कर्षापकर्ष उभय की अनुक्ति, कहीं पर उपमेय का उत्कर्ष की अनुक्ति, कहीं उपमान का उपकर्ष की अनुक्ति, इस रीति से तीन प्रकार, एवं अयि राधिके ! तुम्हारे यह सौरभवत् एवं आह्लादक मुख मण्डल इत्यादि श्लोक में कथित एक प्रकार मिलित होकर चार प्रकार हैं, पूर्वोक्त चार प्रकार के सहित मिलित होकर आठ प्रकार होते हैं ॥१५१॥

कमल कानन की कान्ति—जिस से दासी कृत हुई है, इस प्रकार तुम्हारे सुकुमार चरण युगल से मन्द मन्द सञ्चरण पूर्वक श्रीराधा ने सहज सुन्दर वदन मण्डल के द्वारा कलङ्कमलिन पूर्ण चन्द्र का पराजय सम्पादन किया है ।

इस श्लोक में सादृश्य बोधक शब्द के अभाव से उपमा आक्षिप्त हुई है, यह भी उत्कर्षादि की उक्ति अनुक्ति के भेद से पूर्ववत् चतुर्विध हैं । इस प्रकार द्वादश भेद सिद्ध हुआ । पुनर्वार श्लेष गतत्वरूप से द्विधा विभक्त होकर समष्टि में चतुर्विंशति भेद हैं ॥१५२॥

सदादानस्निग्धकरः श्रीकृष्णः परवारणः । नान्यवारणवद्बालेपद्मिनीगण भञ्जनः
अत्रतुल्यार्थे वतिः, दानकर वारणादि शब्दाः श्लिष्टाः ॥१५४॥

यथा वा — हरवन्न तनुशिवोऽयं, रविवन्न कुमुद्वतीग्लपनः ।
शशिवन्नाप्यनवस्थित, कलाकलापः स एष सखि कृष्णः ॥
अत्रापि तुल्यार्थे वतिः । तनुशिवादयः शब्दाः श्लिष्टाः ॥१५५॥

हे बाले अज्ञे ! अयं श्रीकृष्णः परवारणः—परान् शत्रून् वारयतीति, पक्षे मत्तहस्ती, कृष्णः कथम्भूतः ? सदा दानं यस्य तथाभूतः, हस्तिपक्षे घनं मद जलम्, करः शुण्ड । किन्तु श्रीकृष्णोऽन्यवारणवन्न भवति, यतः स पद्मिनीगण भञ्जनः, कृष्ण रूप वारणस्तु न पद्मिनीगण भञ्जनः । श्लेषेण, पद्मिनी सल्लक्षणा कान्तास्त्री ॥१५४॥

हे सखि ! अयं श्रीकृष्णो महादेववन्न तनुशिवः, तनौ देहे शिवा दुर्गा यस्य तथाभूतोऽर्धनारीश्वरो यथा महादेवस्तथाभूतो नेत्यर्थः । श्लेषेण, तनुः कृशः कल्याणं यस्य तथाभूतो न, अपितु वृहत कल्याण विशिष्ट इत्यर्थः । तथा सूर्यवन्न कुमुद्वतीग्लपनः, अपितु कुमुद्वतीनां हर्षकर । श्लेषेण, कौ पृथिव्यां मुत् प्रीति विद्यते आसां कुमुद्वतीनां हर्षवतीनां स्त्रीणामानन्दकर इत्यर्थः । शशी यथा नावस्थित एक रूपः कला कलापो यस्य तथाभूतः, तस्य तु कला कदाचित् ह्रसति, कदाचिद् वर्धते, अतएव न सदैक रूपः, कृष्णस्तु तथाभूतो न, अपितु सदैक रूप एव । श्लेषेण, कलावैदग्ध्यादयः ॥१५५॥

कतिपय उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—मुग्धे ! तुम्हारे भ्रूयुगल, निश्चय ही काम कार्मुक हैं, किन्तु अन्य कार्मुकवत् इस में गुण का संयोग नहीं है, कभी असंयोग भी नहीं है, यह सर्वदा ही गुणयुक्त है ।

इस श्लोक में गुण शब्द श्लिष्ट है, एवं इवार्थ में वति प्रत्यय हुआ है ॥१५३॥

अयि बाले ! पर वारण श्रीकृष्ण सदा दान शील एवं स्निग्ध कर है, वह अन्य वारणवत् पद्मिनी भञ्जन नहीं है ।

यहाँ तुल्यार्थ में वति प्रत्यय हुआ है, एवं वारणादि शब्द श्लिष्ट है, अर्थात् श्रीकृष्ण, पर वारण, अर्थात् शत्रुनिवारक है, पक्ष में पर वारण श्रेष्ठ हस्ती है, इस प्रकार दान शील—धनदाता, पक्ष में दानशील मद स्रावी है, कर शब्द से हस्त एवं शुण्ड का बोध होता है । पद्मिनी पद्मलता, एवं विशिष्ट लक्षणाक्रान्ता रमणी है ॥१५४॥

उदाहरणान्तर—हे सखि ! हमारे यह कृष्ण, हरवत् तनु शिव, किंवा रविवत् कुमुद्वती ग्लपन, अथवा शशिवत् अनवस्थित कलाकलाप नहीं है ।

तात्पर्य यह हे कि—महादेव जिस प्रकार तनु शिव है, अर्थात् तनु वा शरीर में शिवा है, जिनको, तादृश अर्द्ध नारीश्वर है, श्रीकृष्ण, उस प्रकार तनुशिव नहीं है । अथ च श्लेष पक्ष में—तनुशिव वा अल्प कल्याण विशिष्ट भी नहीं हैं, वह रवि के समान कुमुद्वती के ग्लानिजनक नहीं है । किन्तु कु वा पृथिवी में मुद्वती वा हर्षवती नारीगण के आनन्द जनक है । एवं शशि के कलासमूह जिस प्रकार अनवस्थित है, अर्थात् ह्रास वृद्धि शील है, उसकी सतत श्रेष्ठ कला उस प्रकार अनवस्थित अर्थात् अस्थिर रूप नहीं है । इस श्लोक में तनु शिवादि शब्द श्लिष्ट हैं ॥१५५॥

राधाश्लेषादिषु सदा निरतःसततोदयः ।
पूर्णः कलाभिरनिमं जिग्ये कृष्णः सुधाकरम् ।।१५६।।

अत्राक्षिप्तोपमा । राधादि--शब्दाः श्लिष्टाः । इत्यादयोऽनुसन्धेयाः ।

आक्षेपो वक्तुमिष्टस्य जो विशेष विवक्षया ।
निषेधो वक्ष्यमाणत्वेनोक्तत्वेन च स द्विधा ।।१६७।।

स आक्षेप--नामालङ्कारः ।

क्रमेणोदाहरणे—

दुर्लीललीलया त्वं, हरसि कटाक्षेण जीवितं सुदृशाम् ।
अविमृष्य कारिणीनामुचितमिदं किं भणिष्यामः ? ।।१५८।।

हिमकरकिरणासारो, घनसारो गन्धसारोऽपि ।
तव विरहे निर्दय तां, दहति किमेभिस्त्वयि प्रोक्तैः ।।१५९।।

अयं श्रीकृष्णः सुधाकरं चन्द्रं जिग्ये । जये कारणमाह -राधायामाश्लेषाधरपानादि कर्मसु सदा नितरां रतः । चन्द्रस्तु कदाचिद् राधानक्षत्रे कदाचिदश्लेषानक्षत्रे रतः, नतु सदा । अयं सततोदयः, चन्द्रस्य तु कदाचिदुदयः, कदाचिदनुदयश्च । अयं कलाभि र्वैदग्ध्यादिभिरनिशं सदापूर्णः, चन्द्रस्तु पूर्णिमायामेव ।।१५६।।

वक्तुमिष्टस्य सख्याः कृष्णे प्रीत्यतिशयस्य जो निषेधः । हे सखि ! निर्दये श्रीकृष्णे त्वया प्रीतिः कथं कृतेति यो निषेधः, स निषेध एवाक्षेपः । सत्वाक्षेपो वक्ष्यमाणत्वेनोक्तेन च द्विधा भवति ।।१५७।।

हे दुर्लील ! लीलया अवहेलया जीवितं हरसि, अविमृश्यकारिणीनां परामर्शं विनैव त्वयि प्रीति कारिणीनामिदं जीवनं हरणमुचितमेव, किं भविष्याम इति वक्ष्यमाणत्वेनाक्षेप उक्तः ।।१५८।।

हिमकर किरण श्चन्द्रस्तस्य किरणानामासारः धारासम्पातः, घनसारश्चन्दनो गन्धसारः, सुगन्धमात्र पदार्थः । तां मम सखीम् । त्वयि निर्दयत्वेन प्रसिद्धे एभिस्तस्या दाहकैः पूर्ण प्रोक्तैः किं किं प्रयोजनमित्यर्थः ।

सर्वदा राधाश्लेषादि-निरत, निरन्तर निखिल कलापरिपूर्ण, सततोदय श्रीकृष्ण-सुधाकरके पराजय सम्पादन किये हैं ।

इस श्लोक में श्रीकृष्ण, श्रीराधा का आश्लेष अर्थात् आलिङ्गनादि विषय में निरत एवं सुधाकर कदाचित् अनुराधा, कदाचित् अश्लेषा प्रभृति नक्षत्र विशिष्ट है, इस प्रकार व्याख्या करके शब्द समूह की श्लिष्टता को समझना होगा। यहाँ आक्षिप्तोपमा हुई है ।।१५६।।

विवक्षित विषय का विशेष प्रतिपादन हेतु जो निषेध है, उसको आक्षेप कहते हैं । वक्ष्यमाणग एवं उक्तग होकर उक्त आक्षेप अलङ्कार द्विविध होते हैं ।।१५७।।

क्रमशः उदाहरण – हे कठोर लीलाकारिन् ! तुम अवलीला क्रमसे कटाक्षवाण के द्वारा सुलोचनागण के जीवन-हरण करते रहते हो । अविमृष्य कारिणी के पक्ष उस प्रकार होना ही उचित है । इस विषय में

हेतुरूपक्रिया भावे फलं यत् सा विभावना ॥

विभावना नामालङ्कारः। फलं–प्राकट्यम्, अभावे निषेधे ॥१६०॥

यथा—प्रियालोके राधा कुसुमचयने कौतुकवती,
धुनीते सत्रासं करतलगतमदष्टापि मधुपैः।
अखिन्नापि श्रान्त्याश्रयति भुजयालीभुजशिरः।
परावृत्त्या पश्यत्यधृत वसनापि व्रततिभिः ॥१६१॥

विशेषोक्तिः कारणेषु सत्सु कार्य्यस्य नोदयः ॥१६२॥

विशेषोक्ति–नामालङ्कारः—

यथा—उदेतीन्दुः पूर्णो वहति पवनश्चन्दनवनात्,
कुहूकण्ठः कण्ठात् कलमविकलं निर्गमयति।

अत्रोक्तत्वेनाक्षेप उक्तः ॥१५९॥

कारण रूप क्रियाया अभावे सति यत् फलं भवति, तथा च कारणाभावे कार्य्योत्पत्तिर्विभावनालङ्कार इत्यर्थः ॥१६०॥

वृन्दावनमध्ये स्थिता श्रीराधिका अकस्मात्तत्र श्रीकृष्णदर्शने सति पुष्पावचयने कौतुकवती प्रवृत्तेत्यर्थः। भ्रमरैरदष्टापि रूप सत्रासं यथा स्यात्तथा भ्रमर विद्रावणार्थं करतलं धुनीते कम्पयते। अत्र भ्रमर दंशनरूप कारणं विनैव कार्य्यस्य करतल कम्पनस्योत्पत्तिः, श्रमजन्य स्वेद रूप कारणं विनैव श्रमदूरीकरणार्थं भुजया सखीस्कन्धं श्रयति।

व्रततिभिर्लताकण्टकै रनाकृष्ट वसनापि वस्त्राकर्षणार्थं परावृत्त्या सती पृष्ठ देशं पश्यति। प्रथमतोऽकस्मात् कान्तमिलने सति नायिकायाः स्वभाव एवायमिति भावः ॥१६१–१६२॥

इन्दुरुदेतीत्यादिनोद्दीपन द्वारा मात्र अङ्गे कारणमुक्तम्। कुहूकण्ठः कोकिलः। तथा प्रियसखीनां

अधिक और हम सब क्या कह सकते हैं ॥१५८॥

हे निर्दय ! तुम्हारे विरह में चन्दन, गन्धसार एवं हिमकर किरणासार भी सखी को सन्तप्त कर रहे हैं। तुम्हारे समीप में ये सब कहना निष्प्रयोजन है ॥१५९॥

हेतु व्यतीत कार्य्योत्पत्ति होने से इसको विभावना अलङ्कार कहते हैं ॥१६०॥

उदाहरण—प्रिय सन्दर्शन समय में श्रीराधा कुसुम चयन कौतुकवती होकर मधुकर कर्त्तृक अदष्टा होकर भी सत्राससे करतल कम्पन करने लगी, अखिन्ना होकर भी श्रमोपनोदन कामनासे बाहु द्वारा सखीके स्कन्ध देश को अवलम्बन करने लगी, एवं लताजाल से अलग्ना होकर भी मुह फेर कर अवलोकन करने लगी ॥१६१॥

कारण की विद्यमानता में भी कार्य्योदय न होने से विशेषोक्ति अलङ्कार होता है ॥१६२॥

उदाहरण—पूर्णेन्दु परमानन्द से उदित हो रहा है, चन्दन वन से सुमन्द पवन प्रवाहित हो रहा है,

प्रियालीनां मूर्द्धनः शपथरचना दन्ततृणता,
पादोपान्ते कृष्णस्तदपि तव मानो न विरतः ॥
एषानुक्तोक्ताचिन्त्य निमित्तत्वात् त्रिधा । अनुक्तनिमित्तता, तूक्त,--अन्ये दर्श्यंते ॥१६३॥

भक्तानुकम्पार्थमजोऽपि जातो लीलाकृते गर्भं जगच्चगर्भः ।
जगद्धितायैव जगत्त्रयस्य, पिता यशोदा--तनयो बभूव ॥

अत्राजत्वादेः कारणत्वेऽपि उक्त निमित्तत्वादजत्वादि-कार्य्यभावः ॥१६४॥

कृष्णस्य चञ्चल कटाक्षशरेण भिन्नं, शूलाकरोषि हृदयं त्वमनङ्ग किमः ।
भस्मीकृतस्य भवतो वृषभध्वजेन, किं भस्मसान्नहि कृतोऽवत बाहु दर्पः ॥

अत्राचिन्त्य निमित्तता ॥१६५॥

यथा संख्यं यथा संख्यं क्रमिकाणां यदन्वयः ।

क्रमिकाणां वाचकानां यथा संख्यं यद्यन्वयस्तदा ॥१६६॥

मूर्द्धनः शपथ रचना, तासां दन्त तृणता च । कृष्णोऽपि तव पादाब्जे पतितः । एषाविशेषोक्तिः।
अनुक्तेति—पूर्व श्लोके कारणसत्त्वेऽपि मानविरामरूपस्य कार्य्यस्यानुक्तौ किञ्चिन्निमित्तं नोक्तमित्यतोऽनुक्त निमित्ततोक्ता ॥१६३॥

लीलाकृते लीलाकरणाया जोऽपि जात इत्यजत्वं रूप कारण सत्त्वेऽपि जन्माभाव रूप कार्य्यस्याभावः । तत्र निमित्तं जगद्धितायेति । तथा गर्भे जगद् यस्य तथाभूतोऽपि गर्भे जातः, एवं जगत् त्रयस्य पिता सन्नपि यशोदासुतो बभूवेति सर्वत्र निमित्तं जगद्धितमितमिति ॥१६४॥

शूला करोषीति—"शूलात् पाके डाच्" शूलाग्रेण विद्ध्वा पचसीत्यर्थः । महादेवेन भस्मीकृतस्य तव

कोकिल कुल--कलकण्ठे द्वारा कुहुध्वनि करते रहते हैं । प्रियसखि वृन्द शिरः स्पर्श करके शपथ प्रदान एवं दन्त में तृण धारण कर शपथ कर रहा है, प्रिय कृष्ण चरणों में निपतित है, मानिनि ! तथापि तुम्हारा निदारुण मान का अवसान नहीं हुआ ।

यह विशेषोक्ति अनुक्तनिमित्ता, उक्तनिमित्ता एवं अचिन्त्य निमित्ता भेद से त्रिविधा होती है, उस के मध्य में अनुक्त निमित्ता का उल्लेख पूर्व में हुआ है, अवशिष्ट दो का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ॥१६३॥

उदाहरण—निखिल जगत् जिनके कुक्षिके कोण में निविष्ट होते हैं, वह भगवान् वासुदेव अज होकर भी भक्त गण के प्रति अनुकम्पा करने के निमित्त लीला च्छल से जन्म ग्रहण किये थे, एवं स्वयं जगत् पिता होकर भी जगत् त्रय के हित हेतु यशोदा तनय रूप में आविर्भूत हुये थे ।

यहाँ अजत्वरूप कारण होने पर भी जन्माभाव रूप कार्य्य का जो अभाव हुआ है; उस पक्ष में जगत् त्रय का हित साधन रूप निमित्त उक्त हुआ है ॥१६४॥

हे अनङ्ग ! श्रीकृष्ण के सुतीक्ष्ण कटाक्षशर से संभिन्न इस हृदय को क्यों तुम शूलीकृत कर रहे हो ? हाय ! भगवान् वृषभध्वज तुम्हारे सर्वाङ्ग को जो भस्मसात् किये थे, उससे तुम्हारे भुजवीर्य्य क्यों

क्रमिकाणां वाचकानां यथासंख्यं यदन्वयस्तदा यथासंख्यमित्यलङ्कारः ॥

यथा—गोपीश्च गोपतनयांश्च सुरद्विषश्च, रूपेण च प्रियतया च भुजौजसा च।

सम्मोहयंश्च रमयंश्च निसूदयंश्च श्रीगोकुलेन्द्रतनयो व्रजमध्यवात्सीत् ॥१६७॥

यस्मिन् विशेषः सामान्यं समर्थ्यते परेण यत्।

साधर्म्यादथ वैधर्म्यात् स न्यासोऽर्थान्तरस्य हि ॥

सोऽर्थान्तरन्यास-नामालङ्कार इत्यर्थः। परेणेति विशेषः सामान्येन, सामान्यं विशेषेणेत्यर्थः, साधर्म्याद्विशेषः ॥१६८॥

सामान्येन यथा—त्वमेवाद्या सृष्टिस्त्वयि भगवतः केलिशयनं,

त्वया सर्वो लोकः परिहरति तृष्णापरिभवम् ॥

बाहुदर्पो नहि भस्मसात् कृतः। अत्र देहस्य भस्मीभाव रूप कारण-सत्त्वेऽपि देहैक देश बाहुदर्प भस्मीभाव कार्य्यस्याभावः। तत्र निमित्तमज्ञेयम् ॥१६५--१६६॥

गोपी रूपेण मोहयन्, गोप तनयान् सखीन् प्रियतया प्रेम्णा रमयत् सुखयन्, सुरद्विषोऽसुरान् बाहु बलेन सूदयन् ध्वंसयन्॥१६७॥

यस्मिन् स्थले विशेष पदार्थः परेण विशेष पदार्थ भिन्नेन सामान्येन यत् समर्थ्यते, तथा च सामान्येन विशेष पदार्थो यत सिद्धो भवति, तादृश विशेष पदार्थ सिद्धिरेव अर्थान्तरन्यासालङ्कार इत्यर्थः ॥१६८॥

हे घन रस जल! आद्यासृष्टिरिति—प्रथमतो गर्भोद जलस्य सृष्टत्वात्। केलिशयनं—केलिशय्यात्वम्, भगवतो जलशायित्वेन प्रसिद्धेः। त्वया हेतुनाऽपूतोऽपवित्रो जनः पूतो भवति। नीचै भाविनोचत्वमागं प्राप्नोषि,—जलस्य नीचगामित्वप्रसिद्धेः। एतादृश सामान्यधर्मेण विशेष धर्म रूपार्थान्तर न्यासः। महतामिति—एष सर्वोत्कृष्टत्वेऽपि नीचस्वभावः, अहं निकृष्ट इति महिमा उत्कर्ष एवेत्यर्थः। वैधर्म्यविपीति अस्मिन् पक्षे सर्वगुण विशिष्टस्य नीचस्थल गामित्वरूप एषधर्मो महतां न महिमा, नोत्कर्षः,--इत्यर्थः॥१६९॥

नहीं दग्ध हुआ? यहाँ अचिन्त्य निमित्तता हुई है ॥१६५॥

क्रमशः उद्दिष्ट पदार्थ समूह का यदि यथाक्रम से अन्वय होता है, उस को यथा संख्य अलङ्कार कहते हैं ॥१६६॥

उदाहरण—गोकुलेन्द्र नन्दन श्रीगोविन्द,—गोपी वृन्द को, गोप कुमार को, एवं गीर्वाण वैरिवृन्द को अर्थात् असुरगण को, रूपलावण्य, प्रियता एवं भुजवीर्य्य से सम्मोहित, सुखित एवं निसूदित करके व्रज मण्डल में अधिष्ठित थे ॥१६७॥

साधर्म्य से अथवा वैधर्म्य से जहाँ सामान्य से विशेष, अथवा विशेष के द्वारा सामान्य समर्थित होता है, वहाँ अर्थान्तर न्यास अलङ्कार होता है ॥१६८॥

साधर्म्य में सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन का उदाहरण—

हे घनरस! तुम्हीं विधाता की आद्य सृष्टि हो, तुम्हारे में ही भगवान् की केलिशय्या आस्तृत है, तुम से ही

त्वयाऽपूतः पूतोभवति तदपित्वं घनेरसं,
क्रमान्नीचैर्भावं व्रजसि महतामेष महिमा ॥

महतां नैष महिमेति वैधर्म्यादपि । साधर्म्यात् सामान्यम्, ॥१६९॥

विशेषेण यथा—संक्षेपतस्त्वां ललिते भणामो, दुःखं हि नान्यत् प्रिय विप्रयोगात् ।
ते पामराहन्त सुहृद्वियोगात् प्रागेव येषां न समाप्तमायुः ॥

किन्तु ते तूत्तमा एव, सुहृद्वियोगात् प्रागेव येषामपयातमायुरिति वैधर्म्येऽपि ॥१७०॥

विरोधः स विरोधाभः,

विरोदाभ इति वस्तुतो न विरोधः, विरोध इव भासत इत्यर्थः ॥१७१॥

जाति र्जात्यादिभिर्गुणः ।
त्रिभिर्द्वाभ्यां क्रिया द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ॥

जात्यादिभिश्चतुर्भिर्जातिर्विरुध्यते । गुणो गुणक्रियाद्रव्यैः, क्रिया क्रिया द्रव्याभ्याम् द्रव्यं द्रव्येणेति दश ॥१७२॥

सुहृदः श्रीकृष्णस्य वियोगान्नान्यद् दुःखम् । ते पामरा दुःखिनः । अत्र सुख दुःखयोः साधर्म्यं । तेतूत्तमा इत्यत्र सुखदुःखयो वैधर्म्यम् ॥१७०॥

विरोध इति—जाति गुण क्रिया द्रव्याणां परस्परं यद् विरोध इव प्रतीयते, स विरोधाभासालङ्कार इत्यर्थः ॥१७१॥

निखिल लोक पिपासा क्लेश से मुक्त होते हैं । तुम्हारी प्रसन्नता से अपवित्र व्यक्ति पवित्र होता है । किन्तु आश्चर्य यह है कि—तथापि तुम निरन्तर निम्नभाव को ही प्राप्त करते हो, महत् लोकों की यही महिमा है । श्लोक के शेषांश में "यही महिमा महत् लोकों की है, अर्थात् "उत्कर्ष सूचक नहीं है" इस प्रकार पाठ होने पर वैधर्म्य में अर्थान्तर न्यास होता है ॥१६९॥

साधर्म्य में विशेष के द्वारा सामान्य का समर्थन इस प्रकार है—ललिते ! मैं सङ्क्षेप से सारकथा तुमको कहती हूँ, प्रिय वियोग की अपेक्षा दुःखकर अपर और कुछ भी नहीं है । हाय ! सुहृद् वियोग के पहले ही जिस की आयुः समाप्त नहीं होती है, वे सब पामर होते हैं ।

इस श्लोक के शेषांश में "वे ही पुण्यात्मा हैं, जिनकी आयुः सुहृद् वियोग के पूर्व में ही समाप्त हो जाती है । इस प्रकार होने पर वैधर्म्य में अर्थान्तर न्यास होता ॥१७०॥

जहाँ विरोध के समान आभास होता है, वहाँ विरोध नामक अलङ्कार होता है ॥१७१॥

जाति, गुण, क्रिया, एवं द्रव्य के सहित जाति का, गुण क्रिया एवं द्रव्य के सहित गुण का, क्रिया एवं द्रव्य के सहित क्रिया का, एवं द्रव्य के सहित द्रव्य का परस्पर विरोध प्रतीति होने से उक्त विरोधालङ्कार दशविध होते हैं ॥१७२॥

क्रमेणोदाहरणानि — हिमकर किरणासारो, घनसारो गन्धसारोऽपि ।
त्वयि मनसोऽन्तर्वर्त्तिनि, सम्प्रति दावानलस्तावान् ॥
इति जातिर्जात्या ॥१७३॥

गुणरत्नरोहणभुवः, कृष्ण तवाग्रे स्मरोऽपि बीभत्सः ।
रत्नाकरोऽपि गाधो, न रत्नसानुरलथोन्नतिमान् ॥
अत्र जातिर्गुणेन ॥१७४॥

यदङ्कमासाद्य विधूसराश्च, गोधूलयो भूषणतामुपेयुः ।
विभूषणानां मणयश्च जग्मु विधूसरत्वं स उपैति कृष्णः ॥
अत्रजातिः क्रियया ॥१७५॥

हे कृष्ण ! त्वयि मनसोऽन्तर्वर्त्तिनि स्मरणावस्थां प्राप्ते सति चन्द्रकिरणादयस्तावान् सर्वोऽपि शीतलपदार्थः सम्प्रति दावानलो बभूव । हिमकरकिरणत्वजातिदावानलत्व जात्योर्विरोधः । स आभास रूप एव, नतु वस्तुतो विरोधः । श्रीकृष्ण विरहे तेषामुद्दीपकत्वेन दावानलवत्तासां प्रतीति र्भवति, नतु वस्तुतो दावानलोभवतीति भावः ॥१७३॥

हे कृष्ण ! गुण रत्नस्य रोहणभुव उत्पत्ति स्थानस्य तवाग्रे कन्दर्पोऽपि बीभत्सः । अत्र कन्दर्पत्व जाति र्बीभत्सत्व गुणेन विरुध्यते ।

नहि कन्दर्पः कदापि बीभत्सो भवतीति विरोधः । गाम्भीर्य्यगुणेन समुद्रोऽपि न तत्तुल्य इत्याह — रत्नाकरोऽपि त्वदग्रे गाधोऽल्प एव, नत्वगाधः । अत्रसमुद्रत्वजातिरल्पत्व गुणेन विरुध्यते ।

नहि समुद्रः कदापि गाधो भवतीति विरोधः । तथा रत्नसानुः सुमेरुपर्वतस्त्वदग्रे नोन्नतिमान्— नोच्चतरः, अपि तु क्षुद्रतरएव, अत्र पर्वतत्वं जातिः क्षुद्रत्व गुणेन विरुध्यते । नहि पर्वतः क्वापि क्षुद्रतरो भवतीति विरोधः ॥१७४॥

यस्याङ्कमाश्रित्य धूसरा विवर्णा गोधूलयो भूषणतां भूषणधर्मं चाकचिक्यमुपेयुः, स श्रीकृष्णः, हे सखि ! उप समीपमेति आगच्छति । अत्र धूलित्व जाति र्भूषणस्थरत्न निष्ठ संयोत् पद्यमान चाकचिक्य क्रियया विरुध्यते ।

नहि धूलयः कदाचिदपि रत्ननिष्ठ नेत्रचमत्कारि चाकचिक्य क्रियाश्रया भवन्ति, यथा दीपानां प्रति क्षणं ज्वलनक्रिया उत्पद्यन्ते, तथोत्कृष्ट पद्मराग प्रभृति मणीनामेव, नतु धूलीनामिति ज्ञेयम् ॥१७५॥

क्रमशः उदाहरण—हे कृष्ण ! तुम, सम्प्रति चित्तमात्र के अन्तर्वर्त्ती अर्थात् स्मृतिपथवर्त्ती होने से हिमकर के किरणासार, घनसार, गन्धसार, समस्त पदार्थ ही दावानल हो गए हैं ।
यहाँ जाति के सहित जाति का विरोध हुआ है ॥१७३॥

हे कृष्ण ! गुणरत्न के उत्पत्ति क्षेत्र स्वरूप तुम्हारे समीप में कन्दर्प भी बीभत्स है, रत्नाकर भी गाध है, अर्थात् तल स्पर्श योग्य एवं सुमेरुपर्वत भी अनुन्नत बोध होता है ।
यहाँ गुण के सहित जाति का विरोध हुआ है ॥१७४॥

गत्वा कलावान् गुरुगोष्ठ्यलक्षितः,
कृष्णोऽपि विप्रोऽजनि भास्कराध्वरे ।
यन्मन्त्रपाठो मधुरोऽप्यभूत् कटु,
स्तस्याः समुद्यत्स्मरसज्वरस्पृशः ॥

अत्र पूर्वार्द्धे जाति द्रव्येण, उत्तरार्द्धे गुणो गुणेन ॥१७६॥

शीतलमपि मुरलीरुत मन्तर्मम सन्ततं दहति ।
तीक्ष्णोऽपि तव कटाक्षः, शीतलयति मानसं कृष्ण ॥

गुणः क्रियया ॥१७७॥

कठिनः शिलामयत्वाद् गोवर्धन एष भूभृतां नाथः ।
कृष्ण करे कुसुममयः, कन्दुक इव कोमलो भाति ॥

अत्र गुणो द्रव्येण । गोवर्धनो द्रव्यम्, नहि गोवर्धनत्वं जातिः ॥१७८॥

भास्कराध्वरे सूर्यपूजास्थाने गत्वा गुरुगोष्ठीभि र्जटिलादिरलक्षितः । श्रीकृष्णो वैश्यजातिरपि विप्रोऽजनि ।

नहि वैश्यजातिः कदापि ब्राह्मणो भवतीति विरोधः । मन्त्रपाठं श्रुत्वा समुद्यत् यः कन्दर्प ज्वरस्तेन स्पृष्टायास्तस्या राधाया मधुरोऽपि कटुरभूत् । अत्र माधुर्य्य गुणस्य कटुतागुणेन सह विरोधः ॥१७६॥

शीतलोऽपि मुरली शब्दो ममान्त दहति । अत्र शीतल गुणो दाहक्रियया विरुद्धो भवतीति ज्ञेयम् ।१७७।

पर्वतानां नाथो गोवर्धनः । अत्र काठिन्य गुणस्य कोमल द्रव्येण सह विरोधः ॥१७८॥

हे सखि ! जिनके अङ्ग सङ्ग को प्राप्तकर धूसर वर्ण गोधूलि पुञ्ज भी भूषण हो जाती है, एवं विभूषण स्थित समुज्ज्वलमणि समूह भी विधूसरत्व हो गई हैं, वह कृष्ण, तुम्हारे समीप में समागत हो रहे हैं ।

यहाँ क्रिया के सहित जाति का विरोध हुआ है ।१७५॥

कलाकुशली श्रीकृष्ण, गुरुगोष्ठी के अलक्षित रूपसे भास्कर पूजास्थल में गमन करके अपने को विप्र घोषित किये थे, एवं उस समय तदीय मन्त्रपाठ अतिमधुर होने पर भी उसको सुनने के निमित्त समुद्यत कन्दर्प बाधा राधा के पक्ष में वह अति कटुतर हुआ था ।

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में द्रव्य के सहित जाति का एवं उत्तरार्द्ध में गुण के सहित गुण का विरोध हुआ है ।१७६॥

हे कृष्ण ! तुम्हारे मुरलीरव सु शीतल होने पर भी निरन्तर मेरा अन्तःकरण दहन कर रहा है, एवं कटाक्ष सुतीक्ष्ण होने पर भी मेरा चित्त को सुशीतल कर रहा है ।

यहाँ क्रिया के सहित गुण का विरोध है ।१७७॥

शिला सङ्गति हेतु सुकठोर गोवर्धन गिरि, कृष्णकर में कुसुममय कन्दुक के समान कोमल प्रतिभात हो रहा है ।

जीवयति मूर्च्छयति च, पीवयति च सूक्ष्मयत्यपि च ।
तव मुरलीरव खुरली, नो जाने किं विजानाति ॥

क्रिया क्रियया ॥१७९॥

अनङ्गो यत्कटाक्षेण साङ्गीभवति तत्क्षणात् ।
ईक्षणं क्षणदः कृष्णो वीक्षितः क्षणदामुखे ॥

क्रिया द्रव्येण, अनङ्गो द्रव्यम् ॥१८०॥

त्वयि नयन वर्त्म वर्तिनि, सरसयति रतिं य एष रमणीनाम् ।
सति मनसोऽन्तर्वर्त्तिनि, कृष्ण स एव स्मरः कुलिशः ॥

द्रव्यं द्रव्येण । एवं दशभेदाः ॥१८१॥

हे कृष्ण ! तव मुरलीरवस्य खुरली अभ्यासः पुनः पुनर्वादनमिति यावत् अस्मान् जीवयति मूर्च्छयति च । एकस्मिन् काले जीवनक्रिया मूर्च्छन-क्रिययोः परस्परं विरोधः । प्राणानां सम्यक् चलनं जीवनम्, किञ्चित्-मात्र चलनं मूर्च्छेति भेदो ज्ञेयः । पीवयति पुष्टयति, सूक्ष्मयति कृशयति । अत्र स्थौल्य-कार्श्य क्रिययोः परस्परं विरोधः ॥१७९॥

अनङ्गमङ्गरहितं वस्तु, साङ्ग मङ्गजन्यक्रियायुक्तं करोतीति विरोधः । वस्तुतस्तु अनङ्गं कन्दर्पं साङ्गं सम्भोगस्य यावन्त्यङ्गानि तद्विशिष्टं करोतीत्यर्थः । क्षणदामुखे सन्ध्यायाम् । अस्माभिर्वीक्षितः सन् नेत्राणां क्षणद उत्सवदो भवतीत्यर्थः ॥१८०॥

हे कृष्ण ! सन्ध्याकाले व्रजागमन समये त्वयि नेत्र वर्त्मवर्त्तिनि सति यः कन्दर्पो व्रजसुन्दरीणां रतिं रमणं चाक्षुषसम्भोगमिति यावत् सरसयति आस्वाद विशिष्टां करोति, स एव स्मरस्त्वयि नेत्र द्वारा व्रजसुन्दरीणां मनसोऽन्तर्वर्त्तिनि सति दृढतत्स्पर्शोत्कण्ठया अशनिरभवत् । नहि रसास्वाद हेतुः कन्दर्पः कदापि वज्रो भवतीति विरोधः ॥१८१॥

यहाँ द्रव्य के सहित गुण का विरोध हुआ है । गोवर्धन एक द्रव्य है, किन्तु गोवर्धनत्व जाति नहीं है ।१७८

हे मुरलीधर ! तुम्हारी मुरली वादन लीला—हम सब को कभी जीवित कभी मूर्च्छित, कभी स्फीत, कभी तो कृशीकृत कर रही है, हे सखि ! मैं नहीं जानती हूँ, तुम्हारे वह यन्त्र क्या मोहनमन्त्र विज्ञात है ?

यहाँ क्रिया के सहित क्रिया का विरोध है ॥१७९॥

जिस की कटाक्षच्छटा अनङ्ग को भी साङ्ग करके विराजित है, उस लोचन लोभन नन्दनन्दन को मैंने आज निशामुख में देखा है ।

यहाँ द्रव्य के सहित क्रिया का विरोध हुआ है । अनङ्ग द्रव्य है ॥१८०॥

हे कृष्ण ! तुम नयन पथ वर्त्ती होने पर जो स्मर रमणी वृन्दको रतिको उल्लसित करता है, उस चित्त मध्यवर्त्ती होने पर वही उसी समय अनिवार्य वज्र होता हरता है ।

यहाँ द्रव्य के सहित द्रव्य का विरोध हुआ है । इस प्रकार विरोधालङ्कार होते हैं ॥१८१॥

स्वभावोक्तिः स्वभावस्य वर्णनं यत्,

यथा (पञ्चम किरणे ३३) 'आराज्जानुकरोपसर्पण परः' इत्यादि ॥१८२॥

यथा वा—जृम्भस्व तात मुखमाकलयामि दन्ताः, कत्युद्गतामवत इत्युदिते जनन्या ।
स्मित्वा विकाशित मुखस्य हरेर्जयन्ति, द्रोण प्रसूनकलिका इव केऽपि दन्ताः ।१८३।

यथा वा—स्वभावसुन्दरः कृष्णो राधा सहज सुन्दरी ।
अन्योऽन्यमनयोः प्रीतिरखिलोत्सवकारिणी ॥१८४॥

मुखे स्तुतिः ।

निन्दा वा हृदये व्याजस्तुतिः स्यात्तत्तदन्यथा ॥

मुखे स्तुति निन्दा वा हृदये तत्तदन्यथेति स्तुतेर्निन्दा, निन्दायाः स्तुतिरित्यर्थः ।१८५॥

क्रमेणोदाहरणे—न निस्पृह स्तत् सदृशो विरक्तः, स्वकीय-कीर्त्तावपि नानुरक्तः ।
दृङ्मात्र निष्पाद्य परोपकारे, न कृष्णकीर्त्तिं यदुरीकरोषि ॥

अत्र मुखे स्तुति रन्तर्निन्दा ॥१८६॥

आराविति-श्लोकस्य पूर्व-एव व्याख्या कृता ॥१८२-१८३-१८४॥

अति स्तुतिरिति—स्तुतिस्थाने निन्दा, निन्दा स्थाने स्तुति रित्यर्थः । तथा च मुखे स्तुति हृदये निन्देत्येकः पक्षः, एवं मुखे निन्दा, हृदये-स्तुतिरिति द्वितीयपक्षरिति भावः ॥१८५॥

स्तुतिरिति—स्तुति स्थाने निन्दा, निन्दास्थाने स्तुति रित्यर्थः । तथा च मुखे स्तुति हृदये निन्देत्येकः पक्षः, एवं मुखे निन्दा, हृदये स्तुतिरिति द्वितीय पक्ष इति भावः ।१८६॥

स्वभाव के वर्णन को स्वभावोक्ति कहते हैं ॥१८२॥

हे वत्स ! जृम्भा त्याग करो, अर्थात् जँमाई लो, मैं तुम्हारा मुख देखूँ । दाँत कितने निकले हैं ! जननी इस प्रकार कहने पर शिशु वेशी भगवान् हँसकर मुख विकास किये थे । उस समय उनके विकसित मुख मण्डल में द्रोण पुष्प कलिका के समान अति धवल क्षुद्र क्षुद्र कतिपयदन्त कितने शोभित हुये थे ।१८३।

उदाहरणान्तर—श्रीकृष्ण जिस प्रकार सहज सुन्दर, राधिका भी उस प्रकार स्वभाव सुन्दरी है, उनकी पारस्परिक प्रीति निरुपमा है, एवं अखिलोत्सव कारिणी है ॥१८४॥

मुख में स्तुति वा निन्दा, एवं हृदय में उस उस विषय की अन्यथा होने पर अर्थात् स्तुति स्थान में निन्दा एवं निन्दा स्थान में स्तुति प्रतीति होने पर व्याज स्तुति अलङ्कार होता है ॥१८५॥

हे कृष्ण ! तुम्हारे समान निस्पृह एवं वैराग्य शाली और कोई नहीं है । तुम स्वकीय कीर्त्ति में भी अनुरक्त नहीं हो, देखो कटाक्ष मात्र निक्षेप से, भी जो परोपकार सम्पादित होता है, तुम तो उस प्रकार कीर्त्ति उपार्जन करने में भी पराङ्मुख हो ।

इस श्लोक में बाहर स्तुति-अन्तर में निन्दा हुई है ॥१८६॥

त्वदङ्घ्रि मूलं भजतां मुकुन्द, लाभोऽस्तु दूरे वपुषो निजस्य ।
चिरन्तनस्यापि भवेद्विनाशः, स्वभाव एवैष तव प्रसिद्धः ॥

अत्र मुखे निन्दा, अन्तः स्तुतिः । उभयथैव व्याजस्तुतिः ॥१८७॥

यत्तु—वक्त्रं वो द्विजराज हिंसिमदिरालोलं दृशोर्युग्मकं
कान्तिः काञ्चन हारिणी विहरणं गुर्वङ्गनासङ्गतम् ।
सङ्गी पञ्चम एष पञ्च विशिखः शुद्धिस्तथापीह वो
दैत्यं यद्यघवधीद् वृषाकृतिमयं तेनैष दुष्टो हरिः ॥

इति यद्यपि व्याजस्तुतिस्तथापि शब्दालङ्कार एवासौ, तेनायमुभयथैव । इयं विदूषकस्यैवोक्तिः ॥१८८॥

त्वदङ्घ्रीति । चिरन्तनस्यानादि कालत एव प्राप्तस्य स्थूलसूक्ष्मदेहद्वयस्य नाशः; देहद्वयनाश एव मोक्षः । तथा च त्वद् भजनस्य कोऽप्यचिन्त्य प्रभावो यदयं भजनारम्भ कालएव भक्तस्य संसारं नाशयति ॥१८७॥

कदाचिदरिष्टासुर वधानन्तरं श्रीराधिका यूथ गतं श्रीकृष्ण मालोक्य श्रीराधिका ललिता प्रभृतीः स्वसखीः सम्बोध्य आह—(भोः सख्यः ! सत्प्रत्यद्य श्रीकृष्णेन गोवधः कृतः, तस्मादस्य स्पर्शो भवतीभिर्न कर्त्तव्यः' इति ब्रुवाणां राधिकां प्रति विदूषकः श्रीकृष्णस्यसखा मधुमङ्गल आह—यत्त्वति । भो राधिके ! यूयं महा पातकिन्यः, श्रीकृष्णेन तु जन्ममध्ये एकं पापं कृतम् । तदपि, पापाभास एव यतोऽयमसुरीमायया वृषाकृति भवतीति । तत्रतासां पञ्चमहापातकानि, हृदये प्रशंसा सत्त्वेऽपि निन्दामुखेनाह—वक्त्रमिति । वो युष्माकं वक्त्रं द्विजराजो ब्राह्मण श्रेष्ठस्तस्य हिंसकमिति ब्रह्महत्या, प्रशंसा, पक्षे, द्विजराज श्चन्द्रस्तस्य निन्दा

हे मुकुन्द ! जो तुम्हारे चरणारविन्द का भजन करते हैं, उनको अन्य लाभ होने की कथा तो दूर है, उनके चिरन्तन निज निज स्थूल सूक्ष्म शरीर भी विनष्ट होते है । इस प्रकार प्रसिद्ध स्वभाव तुम्हारा है । इस श्लोक में मुख से निन्दा एवं अन्तर से स्तुति हुई है । उभय यथा ही व्याजस्तुति है ॥१८७॥

हे सुन्दरी वृन्द ! तुम्हारे मुखमण्डल द्विजराजहिंसक है, नयन युगल मदिरालोल हैं, कान्ति-काञ्चन हारिणी है, विहार भी गुर्वङ्गना सङ्गत है, पञ्चम—महापातक रूप—पञ्चविशिख—तुम्हारे सङ्गी है, तथापि तुम सब पवित्र हैं, और मेरा सखा श्रीकृष्ण—वृषाकृति धारी अरिष्टासुर को विनष्ट किया है, इस हेतु वह सर्व दोष दुष्ट कैसे हुआ—यह आश्चर्य है ।

इस श्लोक के स्तुति पक्ष में द्विजराजहिंसक अर्थात् चन्द्र तुल्य, मदिरालोल अर्थात् मदिरा या खञ्जन तुल्य चञ्चल, काञ्चन हारिणी--काञ्चन के तुल्य मनोहारिणी, गुर्वङ्गना सङ्गत, गुरु जनके अङ्गन में ही आसङ्गत, पञ्च विशिख--कन्दर्प ।

निन्दा पक्ष में—द्विजराज हिंसक—ब्राह्मण हिंसक, मदिरालोल मद्यपान द्वारा चञ्चल काञ्चन हारिणी—सुवर्ण अपहरणकारिणी, गुर्वङ्गना सङ्गत-गुरुपत्नीगमन, पञ्चविशिख--पञ्चविशिख नामा किसी वस्तु ।

सहोक्तिः सा सहार्थेन शब्दे नैका क्रिया यदि ॥१८९॥

यथा—श्वासैः साधं विरहि सुदृशां दैर्घ्यमापू रजन्यः
साकं देहैरहह कृशतां वासराः सं प्रतीयुः ।
वाष्पाम्भोभिः सह हिम पयः प्रस्रवाः पेतुरुच्चै—
र्हा धिक् प्राणैः सह कमलिनी काननं म्लानमासीत् ॥१९०॥

विनोक्तिः सा विनैकेनान्यस्य चेत् सदसत्कृतिः ।

विनोक्ति-नामालङ्कारः । सत् कृतिः शोभनता, असत्कृतिस्तदन्येति द्विधा ॥१९१॥

क्रमेणोदाहरणे—विरहेण विनैव शोभते, ललिते प्रेम निसर्गशोभनम् ।

प्रयोजकत्वेन हिंसकम् । युष्माकं दृशोर्युगलं मदिरया लोलमिति सुरापानम् । पक्षे, मदिरः खञ्जन इतद्वदाचञ्चलम् । काञ्चन हारिणीति स्वर्णस्तेयम्, पक्षे, सुवर्णमिव मनोहारिणी । गुर्वाङ्गना सङ्गतमिति—गुर्वाङ्गना सङ्गमः । पक्षे, गुरुणामङ्गणे एवासङ्गतम्, कुलवतीत्वाद् वहिर्गमनाभावात् । अतो दूषोवा दैत्यो वेति तत्त्वं न जानीथेति ध्वनिः ।

पञ्च विशिखः, कश्चिन्महादस्युर्युष्माकं सङ्गी, एषः पञ्चमो महापातक रूपः । पक्षे, पञ्च विशिखः कन्दर्पः । उभयत्रेति—व्याजस्तुतौ शब्दालङ्कारे चाय प्रयोगो ज्ञेयः ॥१८८—१८९॥

विरहि सुदृशामिति विरह विशिष्ट व्रजसुन्दरीणां रजन्यः श्वासैः साधं दैर्घ्यमापुः विरहेण तासां रात्रयोऽपि दीर्घा बभूवुः, श्वासा अपि दीर्घा बभूवुरिति सहार्थक साधं शब्देनैका क्रियेत्यतः सहोक्त्यलङ्कारः वासरा इति कान्ति—विच्छेद जन्या, यादृशी पीडा रात्रौ, तादृशी दिवसे न भवति, अतस्तासां दिवसाः शीघ्रं यान्ति, तस्मादेव दिवसानामल्पत्वम् । हिमपयः प्रस्रवा रात्रि सम्बन्धि—नीहार प्रवाहाः, रात्रिशेषे, प्राणैः सहेति कमलिनीनां म्लानत्वं हिमघटाभिरेव ज्ञेयम् ॥१९०॥

विनोक्तिरिति—एकेन विना अन्यस्य शोभनता, तथैकेन विनान्यस्याशोभनता चेति द्विधेत्यर्थः ॥१९१॥

निसर्ग शोभनं स्वभाव सिद्ध शोभनं प्रेम । अतोऽत्र विरहाद्यपेक्षा नास्ति, कान्तेन सह विरह एवेत्यर्थः

विदूषकोक्त इस श्लोक में जिस प्रकार व्याजस्तुति हुई है, उसी प्रकार शब्दालङ्कार भी हुआ है । अतएव उभयत्र ही इस का प्रयोग हो सकता है ॥१८८॥

सहार्थक शब्द के सहित यदि एक क्रिया का सम्बन्ध होता है तो सहोक्ति अलङ्कार होता है ॥१८९॥

उदाहरण—विरहिणी व्रज कामिनी वृन्द के निश्वास के सहित रजनी दीर्घ हो गई । उन सब के शरीर के सहित दिनमान भी कृश हो गया, वाष्प धारा के सहित शिशिर धारा भी धरातल को प्राप्त हो गई । हा धिक् ! कमल कानन भी उन सब के प्राण के सहित म्लान हो गया था ॥१९०॥

एक को छोड़कर यदि अन्य की शोभनता वा अशोभनता होती है, तो विनोक्ति नामक अलङ्कार होता है । शोभनता एवं अशोभनता भेद से उक्त विनोक्ति अलङ्कार द्विविध होते है ॥१९१॥

क्रमशः उदाहरण—निसर्ग सुन्दर प्रेमपदार्थ विरह व्यतीत ही शोभित होता है, और यदि विरह

(क्रम शः)

असुभिश्च विनैव शोभते, विरहश्चेद्गत सम्भवद्दशः ॥१९२॥

विना राधां कृष्णो न खलु सुखदः सा न सुखदा
विना कृष्णं द्वाभ्यामपि वत विनान्या न सरसाः ।
विना रात्रिं नेन्दु स्तमपि न विना सा च रुचिभाक्
विना ताभ्यां जृम्भां दधति कुमुदिन्योऽपि नतराम् ॥१९३॥

समासमाभ्यां निमयः परिवृत्तिरुदीर्य्यते ॥

अर्थयोरर्थानां वा समेनासमेन वा निमयः परिवृत्तिः ॥१९४॥

यथा—हारादिभिः सत्रुटितै निजाङ्गाद् विभूषयामास पतङ्गपुत्रीम् ।
तस्याः सरोजादिभिरात्मनोऽङ्गं, राधालिवर्गो जलकेलि काले ॥१९५॥

यथा वा—एकाददुर्नूपुरनादशोभां, सन्याः प्रयाणक्रम मन्थरत्वम् ।
आभीर बाला कल हंस बाला समूहयोः किञ्चिन सख्यमासीत् ॥१९६॥

प्राणै विनैव प्रेमशोभते । विरहेऽपि प्राणास्तिष्ठन्ति चेत्तदा प्रेमैव नास्ति, कुतस्तस्य शोभनता चेति द्विधेत्यर्थः । विरहः कथम्भूतः ? सम्भवन्ती मरण पर्यन्ता दशायस्य तथाभूतः ॥१९२॥

द्वितीय पक्षमाह—विनेति । द्वाभ्यां राधा कृष्णाभ्यां विनालिन्योऽपि न शोभन्ते । तत्र दृष्टान्तमाह सा रात्रिस्तं चन्द्रं विना न रुचिभाक्, ताभ्यां विना कुमुदिन्योऽपि जृम्भां फुल्लतां न दधति । इयं दृष्टान्त मिश्रा विनोक्तिः ॥१९३॥

अर्थ द्वयस्य बहूनामर्थानां वा समेन वस्तुना असमेन वस्तुना वा निमयो विनिमयः परिवृत्ति नामालङ्कारः ॥१९४॥

पतङ्ग पुत्रीं यमुनाम्, तस्या यमुनायाः कमलैरात्मनोऽङ्गं विभूषयामास ॥१९५॥

होता है, तो वह प्राण व्यतीत शोभित होता है । कारण, जिस प्रिय विरह में दशम दशा की सम्भावना नहीं है, वह विरह पद वाच्य नहीं होता है ॥१९२॥

द्वितीय पक्ष को कहते हैं—राधिका व्यतीत कृष्ण भी हृष्ट प्रद नहीं हैं, कृष्ण व्यतीत राधिका भी सुख साधिका नहीं हैं, एवं उभय व्यतीत सखी गण भी सुख कारण नहीं है । देखो, रजनी के बिना रजनी-कर शोभाकर नहीं है, रजनी कर के बिना रजनी भी शोभाजननी नहीं है, एवं उभय को छोड़कर कुमुदिनी कभी भी प्रमोदिनी नहीं होती है ॥१९३॥

समान अथवा असमान पदार्थ के सहित दो वा अनेक पदार्थों का विनिमय होने से परिवृत्ति अलङ्कार होता है ॥१९४॥

उदाहरण—श्रीराधिका के सखीवृन्द,—जलकेलि के समय निज अङ्ग से परिच्युत हारादि भूषणों से यमुना को भूषित किये । यमुना ने भी निज सरोजादि अलङ्कारों के द्वारा उन सब के अङ्ग समूह को अलङ्कृत कर दिया ॥१९५॥

असमेन यथा—मनोरागं दत्वा चरणदल रागो मृगदृश,
त्वयादत्तो वक्षःस्थलमलति यः कौस्तुभ इव ।
रसं दत्वानीना त्वदधर पुटेनेक्षणमसी,
समं त्वद्वैदग्ध्यं त्वदवयववैदग्ध्यमपि च ॥१९७॥

अतीतानागतार्थानां साक्षात्त्वमिवभाविकम् ॥

भाविक नामालङ्कारः ॥१९८॥

क्रमेणोदाहरणे—प्रातः सखीनां पुरतः शुकीभिः, कथा तथा वल्लभयोरुदारा ।
व्यधायि तौ सा च निशा तयोः सा, केलिश्च साक्षादभवन् यथासाम् ॥१९९॥
इदानी मेव राधाया श्रूयंथागुणवत्यभूत् ।
तथा मन्ये स्मरस्येयं स्वं चापं त्याजयिष्यति ॥२००॥

एका व्रजबालाः स्वीय नूपुर नादशोभा बालहंस बालाभ्यो ददुः, तासां नूपुर शब्द समानाकार शब्दोच्चारण प्रसिद्धेः । अन्याः कलहंस बाला व्रजबालाभ्यः स्वीय गमन मन्थरत्वं ददुः ॥१९६॥

हे कृष्ण ! त्वया स्वीयमनोऽनुरागं राधिकायै दत्वा तस्या मृगदृशश्चरण सम्बन्धयङ्गुलि दलानां भावकराग आदत्त जगृहे, यो यावकरागः, कौस्तुभ इव तस्य वक्षःस्थलमलति भूषयति ।

एवं त्वदधर पुटेन स्वीय ताम्बूल रसं तस्या ईक्षणाय दत्वा ईक्षणस्य कज्जल रूप मसीं स्वयं जगृहे । अतस्तद् वैदग्ध्यं तवाधर रूपावयव वैदग्ध्यञ्चानयोः साम्यमेव ज्ञेयम् ॥१९७–१९८॥

प्रातः काले सखीनामग्रे कुञ्ज गृहे स्थिताभिः शुकीभिः पक्षिणीभी राधाकृष्णयोः रात्रि सम्बन्धि विलास कथा तथा व्यधायि, यथा आसां सखीनामेते साक्षादभवन् । तौ राधाकृष्णौ ॥१९९॥

अनागतार्थानां साक्षात्वमाह—इदानीं यौवनारम्भ एव यथा गुणवती अभूत्, तथा यौवने सतीयं च: कन्दर्पस्य स्वीयं चापमपि त्याजयिष्यतीत्यहं मन्ये ॥२००॥

उदाहरण—व्रज बाला एवं कलहंस बाला का उस समय परस्पर सखिभाव संघटित हुआ था, एकजन अपर को नूपुर ध्वनि माधुर्य्य प्रदान किया अपर व्यक्ति ने भी उसको गमन क्रम मन्थरवितरण किया ॥१९६॥

हे माधव ! तुमने राधिका को मनो राग प्रदान करके तदीय पादपल्लव राग को ग्रहण किया है, जो अभी भी तुम्हारे वक्षःस्थल में कौस्तुभ मणि के समान समुज्ज्वल है ।

एवं निज अधर पुट के ताम्बूल रस उनके नयनों में देकर, तदीय नयनों की उज्ज्वल कालिमा को लिया है, अतएव तुम्हारा वैदग्ध्य एवं तुम्हारे अधर पुटका वैदग्ध्य उभय ही समान है ॥१९७॥

अतीत एवं अनागत पदार्थ का साक्षात्कार के समान प्रतीयमान होने से भाविक अलङ्कार होता है ॥१९८॥

क्रमिक उदाहरण—प्रभात में शुकाङ्गना सखी गण के समक्ष में राधाकृष्ण की महती केलि कथा को

पद वाक्यार्थता हेतोः काव्यलिङ्गं प्रकीर्त्त्यते ॥२०१॥

पदार्थता, वाक्यार्थता च । पदार्थता च द्विधा,—एक पदार्थताऽनेकपदार्थता चेति !

क्रमेणोदाहरणानि—संसारालर्कदंष्ट्रातः पापाशीविषदंशतः ।

कृष्णनाम्निमहामन्त्रे सति माभैष्ट साधवः ॥२०२॥

अपारकरुणाम्बुधौ स्मरणमात्र सानुग्रहे,

विधि प्रभृति--पामरावधि--समान सम्भावने ।

तवाहमिति जल्पतामखिलकामकल्पद्रुमे,

हरौ निहित मानसा स्त्यजत देहबन्धं जनाः ॥२०३॥

वाक्यार्थता यथा वपुःस्थितया ज्ञातं कपटरहितं प्रेम नहि मे

सति प्रेम्णि प्रायो न भवति वियोगः प्रणयिनोः ।

पदार्थता रूप हेतोः सकाशाद् यत्र कार्य्यसिद्धिस्तथा वाक्यार्थता रूप हेतोः सकाशाद् यत्र कार्य्यसिद्धि स्तत्र काव्यलिङ्गालङ्कारो ज्ञेयः ॥२०१॥

संसार रूप उन्मत्त कुक्कुरदंष्ट्रात स्तथा पापरूप सर्पदंशतो मा भैष्ट । मयामावे कृष्ण नाम्नि इत्येकस्य पदस्य हेतुता । 'उन्मत्तः श्वा अलर्कः स्यात्' इत्यमरः ॥२०२॥

हे जनाः ! यूयमेवम्भूते हरौ निहितमानसाः सन्तो देह सम्बन्धं त्यजत । कथम्भूते हरौ ? ब्रह्म प्रभृति पामर—पर्य्यन्त सर्व जीवेषु समान सम्भावने तुल्य दृष्टावित्यर्थः । देहं सम्बन्ध त्यागे अपारेत्यादीनां चतुर्णां पदानां हेतुता ॥२०३॥

इस प्रकार बोली थी, जिस से सखीगण,—चरित्र नायक नायिका, उभयके उस रसः क्रीड़ा एवं उस रात्रि का प्रत्यक्षवत् अनुभव किये थे ॥१९९॥

श्रीराधिका की भ्रूलता सम्प्रति इस प्रकार गुणवती हुई, उस से प्रतीत होता है—कि समय में वह रतिपति के शरासन को परित्याग करावेगी ॥२००॥

हेतु की पदार्थता अथवा वाक्यार्थता होने से काव्य लिङ्ग अलङ्कार होता हैं । पदार्थता भी एक पदार्थता एवं अनेक पदार्थता भेद से द्विविध होती हैं ॥२०१॥

क्रमिक उदाहरण—जब कृष्ण नामरूप महामन्त्र निरन्तर जागरूक है, तब हे साधु वृन्द । संसार रूप उन्मत्त कुक्कुर दंष्ट्रा से एवं पाप रूप आशीविष के दंशन से और तुम सब को कोई भय नहीं है ॥२०२॥

जो अपार करुणा के पारावार स्वरूप है, जिनका स्मरण मात्र से जिनका अनुग्रह उच्छलित होता है, जो ब्रह्मादि पामर पर्य्यन्त सर्वत्र समदृष्टि सम्पन्न हैं, हे नाथ ! "मैं तुम्हारा ही हूँ" इस प्रकार स्तव करने से ही जो उसकी कामना को पूर्ण करने में कल्पद्रुम होते हैं, साधुगण ! तुम सब उन श्रीहरि के चरणार विन्द में अन्तः करण निहित करके विनश्वर देह बन्ध से विमुक्त हो जाओ । यहाँ देह सम्बन्ध त्याग में अपरेत्यादि चारों पदों की हेतुता है ॥२०३॥

अतः प्रेम्णोऽकीर्त्तिप्रकटननिमित्तममजनिः
कथं नु श्रोतव्यं दयित इति भूयो हरिवचः ॥२०४॥

विना वाचक-वाच्यत्वं यत्र वस्तु प्रतीयते । पर्य्यायोक्तं तत् ॥२०५॥

जहौ श्रीकृष्णमालोक्य स्थितिं स्वाभाविकीमपि ।
दर्पः कन्दर्प हृदये मानो मानवती हृदि ॥

अत्र कन्दर्पो निदर्पः, मानवत्योऽपि मानरहिताः, इति यद्यपि वस्तु शब्देनैव प्रतीयते, तथापि न वाचकमुखेन, न च वाच्यमुखेन । वाचकमुखेन चेदभविष्यत्तदा तस्यान्यार्थोऽभविष्यत् । अत्र वाचका एव शब्दाः, न तत्तार्थव्यञ्जकाः । एवं वाच्यमुखेन चेदभविष्यत्तदा अन्योऽप्यर्थोऽभविष्यत् । अयन्तु वाच्य एवार्थः, नतु व्यङ्ग्यः, तर्हि

माथुर विरह पीड़या व्याकुला सती श्रीराधिका आह— वपुरिति । हे दयिते इति पदघटितं श्रीकृष्णस्य सन्देश वचनं मया कथं श्रोतव्यम् ? यतो मयि तस्य दयितात्वमपि नास्ति । तद् विच्छेदेऽपि प्राणानां विद्यमानत्वादिति भावः । अत्र जनेः प्रेमाकीर्त्ति प्रकटन निमित्तत्वे वपुःस्थितयेत्यादि प्रथमार्धस्य हेतुता ।२०४।

विनेति—शब्दस्य शक्तिरूप-वाचकत्वं विना तथा शब्दजन्यार्थस्य वाच्यत्वरूप सामर्थ्यं विना यत्र किमपि वस्तु प्रतीयते, तत्र पर्य्यायोक्ति नामालङ्कारो ज्ञेयः ।२०५।

श्रीकृष्णमालोक्य कन्दर्पस्य हृदिस्थो दर्पः सर्वापेक्षया कन्दर्पोऽतिसुन्दर इति सर्वजन प्रसिद्धा या स्वाभाविकी स्थितिरासोत्तामपि जहौ । एवं मानवती हृदि मानः सुन्दरी स्त्री सर्वदा मानवती भवतीति या स्वाभाविकी स्थितिरासोत्तामपि जहौ । अत्र कन्दर्पो निदर्पः, मानवत्यो मानरहिता इति बोधस्तु शक्ति विनैव जायते ।

नहि एतादृशार्थे पद्यस्थस्य कस्यापि शब्दस्य शक्तिरस्ति । शक्तेरभावे वाच्यस्य सामर्थ्यं सुतरामेव नास्तीति । यदि शक्ति विना वाचक शब्देन तादृशार्थ बोधः स्वीक्रियते, तदेतद्व्यञ्जनान्तर-वस्तु प्रतीतिरपि स्वीक्रियताम् । ननु शक्ति व्यञ्जनयो रभावेऽपि मुख्यार्थस्य बाधादेव लक्षणया कन्दर्पो निदर्प एतादृशार्थ बोधो भविष्यति ।

माथुर विरह में व्याकुला राधा बोली—मेरा शरीर जब अक्षत भाव से अवस्थित है, तब मेरा प्रेम कपट शून्य नहीं है, वास्तव प्रेम विद्यमान होने पर कृष्ण प्रणयि युगल की वियोग सम्भावना होती है ? फलतः प्रेमकी अकीर्त्ति का विस्तार करने के निमित्त ही मेरा जन्म हुआ था । हाय ! "अयि दयिते !" इस प्रकार प्रियतम के सम्बोधन रूप सन्देश वाक्य कथा मैं सुन सकूँगी ? मुझ में उस प्रकार दयितात्व कहाँ है, जिस से मैं उस प्रकार आशा कर सकती हूँ ? यहाँ जगत् में प्रेमाकीर्त्ति प्रकटन निमित्त में "वपुः स्थित्येत्यादि" प्रथमार्ध की हेतुता है ।।२०४।।

शब्द की शक्तिरूप वाचकता व्यतीत एवं अर्थ की वाच्यता रूप सामर्थ्य व्यतीत वस्तु की प्रतीति होने से पर्यायोक्ति नामक अलङ्कार होता है ।।२०५।।

उदाहरण—श्रीकृष्ण की मधुर मूर्त्ति को अवलोकन कर कन्दर्प हृदय में दर्प एवं मानवती हृदय में

सबाधमिदमित्यपि न वक्तव्यम् ।

तथाहि, गवि शुक्ले चलति दृष्टे गौः शुक्लश्चल इति त्रितयविकल्पो यदेव दृष्टं तदेव विकल्पयति । तच्चाभिन्नासंसृष्टत्वेन दर्शनं भेदसंसर्गाभ्यां विकल्पयति ॥२०६॥

तथा हीति—दर्पस्याचेतनत्वे न स्वाभाविकी स्थिति त्याग कर्त्तृत्वासम्भवात् मुख्यार्थस्य बाधस्तत्रैव लक्षणायाः प्रवृत्तिः सम्भवतीत्याह—गवीति । शुक्लगुणविशिष्टे चलनक्रिया विशिष्टे गवि दृष्टे सति गौः शुक्लश्चल इति शब्द प्रयोगात् गोत्व जाति शुक्ल गुण चलन क्रियाणां विकल्प बोधो भवति । तत्र यदेव पिण्डमात्र पूर्वं दृष्टम्, तदेव विकल्पयति, तादृश बोधे विषयी करोतीत्यर्थः ।

अत्र गोपदस्य गोत्व—जाति रूपेण शक्तिः, न तु सास्नादि रूपेण पिण्डे शक्तिः । तत एव लक्षणादीनां सुतरां नावकाशः । एवं सति यथा शक्ति लक्षणा व्यञ्जना विना शब्द सामर्थ्यात् तादृश गोरूप वस्तु प्रतीयते, तथात्रापि कन्दर्पो निर्दर्प इति, वस्तु शब्द सामर्थ्यादेव प्रतीयते ।

यन्मते गो शब्दात् सास्नादि रूपेणादि पिण्ड बोधो भवति, तन्मतमालक्ष्योक्तम् । यथा जातिशक्ति वादिमते व्यक्तौ शक्ति विनाप्याक्षेप बलाच्छब्द बोधे व्यक्ति भानं भवति, तथैवात्रापि शक्त्यादिकं विनापि शब्द सामर्थ्यादेव तादृशार्थ भानं भवतीति ज्ञेयम् ।

अयं भावः—सामान्यतः पिण्डमात्रत्वेन प्रथमं दर्शनं क्षणान्तरे च गौरिति जात्यन्तरात् शुक्ल इति गुणान्तरात्, चल इति क्रियान्तर इति भेदेन तत् त्रितय संसर्गेण च तस्य विकल्पः स्यात् ।

ततश्च किमपि वस्तुमात्रमिदमित्यनेन यदेव स्यथापि तदेव गौः शुक्लश्चलोऽयमित्यनेनाप्यभिधीयते, नतु जाति गुण क्रियाः । तत्र जात्यादिनां भेद संसर्गयोरेव प्रतीतिमात्रमित्येतन्मात्रमधिकम् । एवमेव कन्दर्पमानवत्यो दर्पमान रहिते अभूतामिति, योऽयमर्थः, स एव दर्पः कन्दर्प इवाप्रे इत्यादिनाप्यभिधीयते, किन्तु वचन वैचित्र्यमात्रमत्राधिकम् । तदेवाश्रित्यालङ्कारः प्रवर्त्तते ।

यथा चतुर्थ्यातिशयोक्त्यलङ्कारस्थले शक्त्यादिकं विनैव कविनिर्म्माणस्य विधिकृत नियम राहित्येन, कारणोत्पत्तेः प्रागेव कार्य्योत्पत्तिरुक्ता तथात्रापि पर्यायोक्त्यलङ्कारे शक्त्यादिकं विनैव कन्दर्पो निर्दर्प इति वस्तु प्रतीतिर्भवतीति सर्वमनवद्यम् ॥२०६॥

मान निज स्वाभाविक स्थिति को परित्याग किया । इस श्लोक में कन्दर्प निर्दर्प हुआ है, एवं मानवती मान रहिता हुई है । इस प्रकार वस्तु शब्द के द्वारा ही प्रतीत होती है, तथापि वाचक मुख से अथवा वाच्य मुख से प्रतीति नहीं हुई है । वाचक द्वारा प्रतीति होने से उसका अन्य प्रकार अर्थ होता ।

यहाँ शब्द समूह वाचक होने पर भी उल्लिखित अर्थ का व्यञ्जक नहीं हुये हैं । एवं वाच्य रूपसे प्रतीति होने पर भी अन्य प्रकार अर्थ होता, किन्तु अर्थ से भी यहाँ वाच्य हुआ है, किन्तु व्यङ्ग्य नहीं है । कहा जा सकता । स्वभावतः अचेतन दर्प एवं मान पदार्थ का स्थान त्याग कर्त्तृत्व सम्भवपर नहीं हैं, अतः मुख्यार्थ बाधको स्वीकार कर लक्षणा को अङ्गीकार किया जाय, ऐसा नहीं कह सकते हैं । कारण, शुक्ल गुण विशिष्ट गुण क्रिया-विशिष्ट गोत्व जाति विशिष्ट गो पिण्ड को देखकर शुक्ल गो गमन कर रहा है, इस प्रकार प्रयोग तो प्रचलित है । गोपिण्ड को देखकर इस प्रकार प्रयोग में जिस प्रकार प्रथमतः गोत्व जाति, द्वितीय क्षण में शुक्ल गुण का बोध होता है, अनन्तर गमन क्रिया, इन तीनों का भेद एवं एकस्थान में उन तीनों का संसर्ग हेतु विकल्प उपस्थित होता है, एक अव्यवहित परक्षण में ही शुक्ल गो गमन कर

समृद्धिरुदात्तं वस्तुनः परा ॥२०७॥

यथा—मानः कामगवीषु नैव नतरां कल्पद्रुमेष्वादरो
लोष्टाणीव लुठन्ति हन्त परित श्चिन्तामणीनां गणाः।
शम्बूका इव वापिका परिसरे मुक्ताकिरः शुक्तयो
वीक्ष्यन्ते न जनैस्त्वमेव नगरि श्रीद्वारके निस्पृहा ॥२०८॥

प्रधानमपि यत्राङ्गम् ॥

यत्र प्रधानमप्युपलक्षणं तच्चोदात्तम्।

यथा—सेयं मथुरानगरी, सुरगुरुभिर्याचितो भगवान्।
यत्रावतीर्य्यशतशः, सुरद्विषो हेलया न्यवधीत् ॥२१०॥

अत्रसमस्तदैत्यहनन रूपो वीररसो गुणीभूतः।

यत्र वस्तुनः परा सर्वोत्कृष्टा सम्पत्ति स्तत्रोदात्तनामालङ्कारो ज्ञेयः ॥२०७॥

हे द्वारके नगरि! त्वमेव निष्पृहा, त्वन्नगरस्था जनानां निष्पृहत्वेन तव निस्पृहत्वम्। तव परिसरे 'ढिमा' इति प्रसिद्धानि लोष्टाणीव चिन्तामणीनां गणा लुठन्ति। अतएव कामधेनुषु जनानां नैवमान आदरः। वापिका तड़ागादि परिसरे 'सामुक' इति प्रसिद्धाः शम्बुका इव शुक्तयो जनै र्न वीक्ष्यन्ते। कथम्भूताः? मुक्ताकिरः, तथा च याभ्यो मुक्ता उत्पद्यन्ते, ताः शुक्तयोऽपि नवीक्ष्यन्त इत्यर्थः ॥२०८--२०९॥

सुरगुरुभि र्ब्रह्मादिभिर्याचितः सन् यत्र मधुपुर्य्याम्। अत्र मथुराया उत्कर्षार्थं प्रधानीभूतस्यापि श्रीकृष्णनिष्ठ--वीर-रसस्य गुणीभूतत्वं ज्ञेयम् ॥२१०--२११॥

रहा है, इस वाक्य से एक वस्तु मात्र का ज्ञानोत्पन्न होता है, उस ज्ञान में लक्षणा व्यञ्जना प्रभृति अवसर नहीं रहता है। उस प्रकार प्रस्तावित श्लोक में भी शब्द सामर्थ्य से ही उल्लिखित रूप वस्तु वा तात्पर्य्य की प्रतीति होगी, लक्षणा का प्रयोजन नहीं होगा ॥२०६॥

वस्तु की परम समृद्धि का वर्णन स्थल में उदात्तालङ्कार होता है ॥२०७॥

उदाहरण—हे श्रीपति राजधानि श्रीद्वारावती नगरि! तुम्हीं धन्य हो जो सब सुकृती यहाँ निवास करते रहते है, उन सब की निस्पृहता भी धन्य है, यहाँ कोई भी कामधेनु की कामना नहीं करते हैं, कल्पद्रुम के सङ्कल्प में कोई भी समाकुल नहीं है, चिन्तामणि गण ढेल के समान इधर उधर लुकड़ते रहते हैं, दीर्घिका परिसर में मुक्तागर्भ शुक्ति समूह शम्बूक के समान यथेच्छ विकीर्ण हैं, कटाक्षपात के द्वारा भी कोई निरीक्षण नहीं कर रहे हैं ॥२०८॥

प्रधान पदार्थ गुणीभूत होने से वहाँ पर भी उदात्तालङ्कार होता है ॥२०९॥

उदाहरण—वह यह मथुरा नगरी है, जहाँ भगवान् वासुदेव ब्रह्मादि सुरवृन्द की सविनय अभ्यर्थना से अवतीर्ण होकर शत शत बार देवद्वेषी दुर्दान्त दैत्यवृन्द को अवलीला क्रमसे विदलित किये थे।

यहाँ मथुरा के उत्कर्ष हेतु श्रीकृष्ण के समस्त दैत्यदलन रूप वीररस गुणीभूत हुआ है ॥२१०॥

एकस्मिन् यत्र साधके ।
साधकान्तर निर्देशः स समुच्चय इष्यते ॥

प्रकृत कार्य्यस्य एकस्मिन्नेव साधके सिद्धे सिद्धत्वोपयोगार्थं साधनान्तरनिर्देशः समुच्चयः ॥२११॥

यथा—दुरापोऽयं कृष्णः सहजतरलं मानसमिदं, सुदुर्व्वारः कामो गुरुतर करालो गुरुजनः ।
नवीनैषोत्कण्ठा नवमपि वयोनाऽऽप्ति चतुरः, सखीलोको हा धिक् भवतु कथमाधेरुपशमः ?

अत्राधेरुपशमाभावस्य कृष्णदुरापत्वमेव मुख्यं साधकम् । तत्रान्येषां साधकानामुपादानेनायं समुच्चयः । एष च सदसदुभययोगात् त्रिधा । सत् शोभनम्, असदशोभनम्, उभयं शोभनाशोभनम् ॥२१२॥

सद्योगे यथा—रूपं कूलं वल्लभदुर्लभत्वं, शीलं कला कान्तिरुदारता च ।
एकेन चैषामपराः सगर्वा, राधे समस्तैरपि ते न गर्वः ॥२१३॥

अत्राधेमनः पीड़ाया उपशमाभावे श्रीकृष्णस्य दुरापत्वमेव मुख्यं कारणम् ननु श्रीकृष्णस्य दुरापत्वे सति तस्मिन् मनो न देयमित्यपि न सम्भवतीत्याह-मम मानसं चञ्चलम् मद्वारणं मनो न स्वीकरोतीत्यर्थः । मन पीड़ायाः शान्त्यभावे गुणीभूत कारणान्तराण्यप्याह—सुदुर्वार इत्यादि । गुरुतर करालः कटूक्तिविष वर्षाकारी ॥२१२॥

एष समुच्चय—नामालङ्कारस्त्रिधा भवति । रूपमिति—स्त्रीणां गर्वे रूपं मुख्यं कारणम् । अन्येषाम् कुलादीनां गौणकारणत्वं ज्ञेयम् । वल्लभस्य कान्तस्य स्वनिष्ठ-दुर्लभत्वम् । अपराः स्त्रियः ॥२१३॥

प्रकृत कार्य्य का साधक विद्यमान होने पर उसका सिद्धत्व के उपयोगार्थ साधकान्तर का निर्देश होने पर समुच्चयालङ्कार होता है ॥२११॥

उदाहरण—श्रीकृष्ण अति दुर्ल्लभ हैं, चित्त स्वभावतः चञ्चल है, कन्दर्प अति दुर्वार है, गुरु जन वृन्द भी गुरुतर कठोर प्रकृति के हैं, उत्कण्ठा भी नवीना, वयस भी अभिनव है, सखी गण भी सम्पूर्ण चतुर नहीं हैं, हा धिक् ! इस प्रकार अवस्था में कैसे मेरी मनो वेदना का उपशम होगा ?

इस श्लोक में मनोवेदना का उपशम न होने के प्रति श्रीकृष्ण का दुर्लभत्व ही मुख्यसाधक है, यहाँ तद्भिन्न और भी कतिपय साधकों का निर्देश होने के कारण-समुच्चय अलङ्कार हुआ है । यह समुच्चय त्रिविध होते हैं ।

सत् अर्थात् शोभन का योग, असत् वा अशोभन का योग, एवं सदसत् का शोभन एवं अशोभन का योग है ॥२१२॥

सद् योग का उदाहरण—कुल, शील, सौन्दर्य्य, कला, कान्ति, उदारता एवं वल्लभ दुर्ल्लभता, इसके मध्य में एक गुण की विद्यमानता से ही नारी गर्विता होती है, हे राधे ! तुम्हारे में इसके समुदाय विद्यमान होने पर भी तुम्हारे में कुछ भी गर्व नहीं है, यह कैसा चमत्कार व्यापार है ? ॥२१३॥

असद् योगे यथा—

संसारमार्गो ह्यधमः स्वभावात्, कर्म्माणि तस्मिन् कटुकण्टकानि ।
गता गताभ्यामिह खेद एव, तथापि नास्मिन् कुजनो विरज्येत् ॥२१४॥

सदसद्योगे यथा—प्रियः प्रणय कोविदः प्रणयिनी सदैवोत्सुका,
खलः क्षतपराक्रमो गुरुजनः खलोक्ता सहः ।
गृहं गृहपतिच्युतं मनसिजस्य पञ्चेषवः ।
कलावति बहिश्चरा इव लसन्त्यमी पञ्च नः ॥

अत्र प्रियादयः सन्तः, खलोऽसन् ॥२१५॥

गुणो गुणक्रियाभ्याञ्च क्रियया च क्रियापरः ॥२१६॥

अपरः समुच्चय इत्यर्थः ।

संसारमार्गस्याधमत्वे तस्य स्वभाव एव मुख्य कारणम् । यथा हि जन्तूनां क्रूरत्वे तेषां स्वभावएव कारणम् । कर्म्मादीनां तु गौण कारणत्वं ज्ञेयम् ॥२१४॥

प्रियः श्रीकृष्णो मम प्रणय कोविदः । प्रणयिनी अहं सदैवोत्सुका क्षतो नष्टः पराक्रमो यस्य तथाभूतः खलजनः, यतो गुरुजनः खलस्य तस्य दुर्वादोक्तिं न सहते । ... पौर्णमासी मथुरां गतं गृहपतिना स्वामिना । अतोमद् गृहे श्रीकृष्णस्यागमनेऽवसरः । तस्मात् हे कलावति सखि ! नोऽस्माकममी पञ्च कन्दर्पस्य बहिश्चराः पञ्चबाणा इव लसन्ति । यत्रामीषां पञ्चानां समागमस्तत्रैव कन्दर्पस्य प्रादुर्भावस्तत्र मुख्यं कारणं श्रीकृष्णस्य प्रणयकोविदत्वमन्येषां गौणकारणत्वं ज्ञेयम् ॥२१५॥

यत्र गुणेन सह गुणो निर्दिष्टो भवति, एवं क्रियया सह गुणो निर्दिष्टो भवति, तत्रापरः पूर्वोक्त लक्षण युक्तात् समुच्चयाद् भिन्नः समुच्चय इत्यर्थः ॥२१६॥

असद् योग का—दृष्टान्त—यह संसार मार्ग स्वभावतः अधम है, उस में विविध कर्मबन्ध कटु कण्टक सदृश हैं, ईदृश कण्टकाकीर्ण पथ से, गमनागमन केवल क्लेशभोगमात्र ही है, तथापि इस में पामर लोकों में विराग उत्पन्न नहीं होता है ॥२१४॥

सदसद्योग का दृष्टान्त—मेरा प्रियतम प्रणयरसज्ञः, प्रणयिनी मैं भी सतत उत्सुका हूँ । खलजन भी हत विक्रम है, गुरुजन भी खलोक्ति के प्रति दृष्टि पात नहीं करते है । गृहपति भी सतत गृह के बाहर रहते है । हे कलावति ! ये पञ्च वाण जैसे मनसिज के बहिश्चर पञ्चवाण के समान विराजित हैं, इस प्रकार बोध होता है ।

इस श्लोक में प्रियतमादि सत् हैं, खल—असत् है ॥२१५॥

गुणके सहित गुण का अथवा क्रिया के सहित योग से एवं क्रिया के सहित क्रिया का योग से और एक प्रकार समुच्चय अलङ्कार होता है ॥२१६॥

गुणेन गुणो यथा--

व्रजपतिनन्दनं हृदयं राधायामेधिताभिलाषञ्च ।
साऽपि च भृशमनुरक्ता, तस्मिन्निति सहजभाव सार्वज्ञ्यम् ॥

अत्र साभिलाषत्वमनुरक्तत्वे गुणौ । अञ्चलेनान्यालङ्कारः, शुद्धोऽयं तथा न चमत्करोति । अतः सङ्करतयोदाहृतम् ॥२१७॥

गुणः क्रियया यथा---अरुणञ्च नील ललिन, प्रभमपि नयनं प्रियेमयि ते ।
आसन्नश्च मर्माय, हृदि कम्पश्चम्पकद्योते ॥२१८॥

क्रियया क्रिया यथा—हरिरभियास्यति मथुरामितिवार्त्ता नः श्रुती च विनिहन्ति ॥
मम तु सखी भवति न वेत्यपि शङ्का मे मनश्च मूर्च्छयति ॥२१९॥

एधितोऽभिलाषो यत्र, एवम्भूतं श्रीकृष्णस्य हृदयं श्रीराधिकायाम्, एवं सा राधापि तस्मिन् कृष्णेऽनुरक्ता । चकाराभ्यामभिलाषानुरागयोः साहित्यस्यापि बोधो भवति।

ननु राधिका कथं स्वविषयकं श्रीकृष्णस्य अभिलाषं जानाति ? श्रीकृष्णो वा स्वविषयकं राधाया अनुरागं जानाति ? तत्राह—सहजेति । राधामाधवयोर्यः स्वभावसिद्धो भावः प्रेमा तेन सार्वज्ञ्यमित्यर्थः ।

तथा च यथा योगिनो योग नेत्रेण अतीतानागतान् पश्यन्ति, तथा एतौ प्रेमनेत्रेण परस्परान् सर्वं पश्यतः इति भावः । एतत् पद्यस्याञ्चलेनान्यः समनामालङ्कारोऽपि ज्ञेयः ॥२१७॥

हे प्रिये चम्पक द्योते राधे ! तवनीलकमल प्रभं नयनं मयि विषये क्रोधवशादरुणञ्च, तद्दृष्ट्वा भयान्मम हृदि कम्प आसन्नश्च । अत्र हृदयनिष्ठ कम्प क्रियया सह नयननिष्ठारुण्य गुणो निर्दिष्टः ॥२१८॥

अक्रूरे व्रजे आगते सति ललिता स्वसखीमाह—श्रुती चेति । श्रुती कर्णौ । ममतु सखी श्रीराधिका एतद् वार्त्ता श्रुत्वा जीवति नवेति शङ्का कर्त्री मे मनो मूर्च्छयति । अत्र हननं क्रियया सह मूर्च्छन क्रिया निर्दिष्टा ॥२१९-२२०॥

व्रजेन्द्रनन्दन का हृदय भी राधिका में अनुरक्त था, राधिका भी व्रजेन्द्रनन्दन से एकान्त अनुरक्ता थी, उभय की पारस्परिक प्रीति को उभय ही जानते थे ।

यहाँ साभिलाषत्व एवं अनुरक्तत्व—गुण द्वय का योग हुआ है । इस श्लोक के शेष भाग में समनामक अलङ्कार हुआ है । वह तादृश—चमत्कारकारक न होने के कारण सङ्कर रूप में ही उसका उदाहरण प्रस्तुत किया गया है । ॥२१७॥

क्रिया के सहित गुण का उदाहरण—हे चारु चम्पक दाम गौरि ! तुम्हारे नीलनलिन प्रभा नयन अरुणवर्ण होकर मेरे प्रति निपतित हुआ, मेरा हृदय में समकाल में कम्प भी उपस्थित हुआ ॥२१८॥

क्रिया के सहित क्रिया का दृष्टान्त—श्रीहरि मथुरा पुरी गमन करेंगे, यह कठोर वार्त्ता भी मदीय कर्ण पथ को आहत कर रही है, मेरी सखी भी और जीवित रहेंगी अथवा नहीं, यह शङ्का भी साथ साथ मदीय चित्त को मूर्च्छित कर रही है ॥२१९॥

अनेकस्मिन् क्रमेणैकं पर्य्यायः,

एकं वस्तु क्रमेणानेकस्मिन् यदि भवति, आरोप्यते वा, तदापर्य्यायः ॥२२०॥

तत्र भवतीति पक्षे यथा—

एकस्त्वं निखिलबधू हृदि प्रविष्टः, संक्षोभं जनयसि गोकुलेन्द्र सूनो !
त्वामेकं नहि सकलाः प्रवेष्टुमर्हाः किं क्षोभं वत जनयन्तुचेतसस्ते ? ॥२२१॥

आरोप्यते इति पक्षे यथा—

मदनेनोज्झितं वाम्यं राधे गृह्णाति ते मनः ।
मनस्त्यजति ते रागं लोचने परिगृह्णतः ॥२२२॥

यथा वा—त्वयात्यक्तां राधे रुषमहह गृह्णाति मदन
स्त्वदक्षिभ्यां त्यक्तं परिवहति रागं तव मनः ।

कलहान्तरिता श्रीराधा कृष्णं प्रति भङ्ग्या तस्या कृतज्ञत्वमाह—एक स्त्वमिति । त्वमेकः सन् सर्वासां हृदि प्रविष्टः । वयं बह्व्योऽपि तवैकस्मिन् हृदि प्रवेष्टुं न शक्याः । तस्मात्तवैव सामर्थ्याधिक्यम् । एवञ्च प्रेमशून्येन त्वया सहास्माकं प्रीतिरनुचिते ते ध्वनिः ॥२२१॥

मानिनीं श्रीराधिकां प्रति श्रीकृष्ण आह— मदनेनेति । त्वया मयि क्रोध वृशान्मदनो वाम्यं ग्राहितः । तत एव त्वद् धृदये कन्दर्पावेशाभावान्मानोऽपि वर्त्तते, सम्प्रति मद्दुःखदर्शनात् करुणेन मदनेन त्वामनादृत्य वाम्यं त्यक्तम् ।

अतस्तद् हृदि सम्प्रति कन्दर्पावेशो दृश्यते । तदपि यत्त्वं मया सह न मिलसि, तत्र मद् दुःख दर्शनेऽपि कठोरं तव मन एव कारणम् । अतो मदनेन त्यक्तं वाम्यं जग्राह । तथा तव मनोरागं मद् विषयकानुरागम्, श्लेषेण रागं रक्तिमानं तव लोचने गृह्णतः । मद् विषयकस्य तव क्रोधस्यानु भावरूपमिति ज्ञेयम् । अत्र मदन निष्ठं वाम्यं मनस्यारोप्यते ॥२२२॥

मान भङ्गानान्तरं कहलान्तरितां श्रीराधां प्रति श्रीकृष्ण आह— त्वयेति । त्वं क्रोधं मदनो जग्राह । अतएव क्रुद्धः सन् त्वन्मिलनमप्राप्तं मां शरेण विद्धं करोतीति भावः । अक्षिभ्यां त्यक्तं रागं मनः परिवहति

यदि एक वस्तु क्रमशः अनेकस्थानों में स्थित वा अन्य कर्त्तृक आरोपित होती है तो, तादृशस्थल में पर्य्याय अलङ्कार होता है ॥२२०॥

क्रमिक उदाहरण—हे गोकुलेन्द्रनन्दन ! एकमात्र तुम्हीं निखिल व्रजबधू के हृदय में प्रविष्ट होकर, क्षुब्ध करते हो, किन्तु असंख्य वे एकमात्र तुम्हारे में प्रवेश करने के योग्य कभी भी नहीं हैं, कैसे तुम्हारे हृदय को क्षुब्ध करेंगी ? ॥२२१॥

निदारुण मदन जो वामता वितरण कर रहा है,—हे राधे ! तुम्हारा चित्त उसको ही ग्रहण कर रहा है, एवं तुम्हारे चित्त जो राग को परित्याग कर रहा है, तुम्हारे नयन द्वय उसी को ही परिग्रह कर रहे हैं ॥२२२॥

धिया कौटिल्यं ते परिहृतमपाङ्गोऽधिकुरुते ।
पुनः सन्धानार्थं किमुचित पदे न्यस्तमखिलम् ? ॥२२३॥

अन्यो विपर्य्ययात् ॥२२४॥

विपर्य्ययादुक्त प्रकारस्य वैपरीत्यादेकस्मिन्ननेकमित्यर्थः ।

यथा भवतीति पक्ष—

एकस्मिंस्तव हृदये व्रजेन्द्रसूनो, भूयस्योऽललितदृशः कृत प्रवेशाः ।
नास्त्यस्मिन्नवसर एव गाढ़ पूर्णे, तादृश्यो गुण बहुलाः कथं विशन्तु ? ॥२२५॥

आरोप पक्षे तु यथा—

शशिमुखी तव राधिके कटाक्षः, प्रथममभूदमृतद्रवातिवर्षी ।
अथ हृदि विनिविष्ट एव हालाहल परिदिग्ध शरायमाण आस्ते ॥२२६॥

अत्रैकस्मिन् कटाक्षेऽनेकस्यारोपः ॥

स्वीकरोतीत्यर्थः । तथा च क्रोधाभावान्नेत्रयो रागोगतः, मनसि चानुरागः प्रादुर्बभूवेति, भावः । बुद्धचा परिहृतंत्यक्त कौटिल्यमपाङ्गोऽधिकुरुते, जग्राहेत्यर्थः । पूर्वं मानसमये श्रीकृष्ण दर्शनमपि न कृतम् । अधुना तु प्रसन्नासती तथा तमपाङ्गेन पश्यतीति भावः ।

अत्रोत्प्रेक्षामाह—पुनर्मानसमये एतेषां पुनः सन्धानार्थं स्व स्वस्थाने स्थापनार्थमुचित पदे योग्यस्थाने किं त्वया अखिलं न्यस्तम् ॥२२३॥

अन्यः पर्य्यायालङ्कारः ॥२२४॥

श्रीराधिकायाः मानभङ्गार्थमुद्यतं श्रीकृष्णं प्रति ललिता आह—एकस्मिन्निति. तादृशी गुण बहुला राधा कथं विशतु ? गौरवें बहुवचनम् ॥२२५॥

परिदिग्धो लिप्तः ॥२२६॥

भिन्न निदर्शन—हे राधे ! तुमने जो रोष को परित्याग किया है, मदन को ग्रहण किया हैं, तुम्हारे नयन युगल जो राग को परित्याग किये हैं, तुम्हारे मन उसी को ग्रहण किया है, तुम्हारी बुद्धि ने जो कौटिल्य परिहार किया है, तुम्हारे अपाङ्ग उसको अधिकार करलिया है । हे सखि ! तुम पुनर्वार मान ग्रहण समय में सन्धानार्थ क्या तुमने—उन सब को निज निज स्थान में पुनर्वार स्थापन किया ? ॥२२३॥

उक्त प्रकार के वैपरीत्य से अर्थात् अनेक वस्तु के एकस्थान में घटना या आरोपण होने पर और एक प्रकार पर्य्यायालङ्कार होता है ॥२२४॥

क्रमशः उदाहरण—हे व्रजेन्द्र कुमार ! तुम्हारे एकमात्र अन्तःकरण में अनेक संख्यक सीमन्तिनी का प्रवेश हुआ है । वहाँ अणुमात्र भी अवकाश और है ही नहीं । तादृश गाढ़ पूर्ण स्थल में अनन्त गुण गौरव सम्पन्ना श्रीराधा का प्रवेश कैसे हो सकता है ? ॥२२५॥

हे शशि मुखि राधिके ! तुम्हारे नयन निक्षिप्त कटाक्ष प्रथमतः अमृत द्रववर्षी हुआ था, अनन्तर

साध्यसाधनसद्भावेऽनुमानमनुमानवत् ॥२२७॥

अनुमाने यथा त्रिविधो हेतुस्तथात्रापि ।

यथा—इन्दीवराक्षि भवदक्षि मनोभवस्य, वाणः सुधांशु सखि मानस भेदकत्वात् ।
येनाहतो मनसि गोकुलराज सूनुः, सन्धुक्षते नहि वहिः कुरुतेऽवहित्थाम् ॥२२८॥

अत्र भवदक्षि पक्षो मनोभवस्य वाण इति साध्यम्, मानस भेदकत्वादिति हेतुः ।

यथा वा—नाभी गृहं तव कलावतिमन्मथस्य लीलाग्नि होत्रभुजदर्पकृशानुशालि ।
एतद्वलग्न गगनाञ्चलचुम्बिचारु, गन्धोल्लसत्तनुरुहावलिधूमहेतोः ॥२२९॥

अत्र रूपक गर्भानुमानम् ।

अनुमानवदित्यस्य व्याख्या—अनुमानेत्यादि ॥२२७॥

हे इन्दीवराक्षि ! येन भवदक्षिरूपवाणेनाहतो विद्धः श्रीकृष्ण नहि सन्धुक्षते, न हि जीवति । हे सखे श्रीकृष्ण ! कथं भवानुन्मत्त इव दृश्यते—इति सखीभिः पृष्टोऽपि वहिस्त्वाहित्थामाकार गोपनं करोति, नतु तत्त्वं कथयति ॥२२८॥

कलावत्या नाभी एव मन्मथस्य गृहमिति रूपकं तदेव पक्षः, सम्भोगरूप लीला एव अग्निहोत्रम्, श्रीकृष्णस्य भुजदर्प एव तादृशाग्नि होत्रस्य कृशानुरग्निः, स एव साध्यम् । एतस्याः कलावत्या अवलग्नो मध्यदेशः, "वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः । आपञ्चापि हलन्तानां, यथा वाचा निशा दिशा" इत्यनेनाल्लोपः ।

स एव अत्यन्त क्षीणत्वेन गगन प्रदेशं स्तत्सम्बन्धिनो चारुगन्धेनोल्लसल्लोमावलिरेव धूमः, स एव हेतुः । तथा च याज्ञिक ब्राह्मणा यथा गृहादुत्थितं गगन प्रदेशे उड्डीयमानं सुगन्ध धूम विशेषं हेतु कृत्याग्निहोत्रीय वह्ने रनुमानं कुर्वन्ति, तथैव सख्योऽपि नाभिरूप गृहादुत्थित मध्य प्रदेश रूप गगन स्पर्शि सुगन्धरोमावलिरूपधूमविशेषं हेतु कृत्य सम्भोगरूपाग्निहोत्रीयस्य भुजदर्परूप वह्ने रनुमानं कुर्वन्तीत्यर्थः ॥२२९॥

हृदय में निविष्ट होकर सम्प्रति विषलिप्त शरके समान आचरण कर रहा है ।

यहाँ एकमात्र कटाक्ष रूप वस्तु में अनेक को आरोप हुआ है ॥२२६॥

अनुमान में जिस प्रकार त्रिविध हेतु होते हैं, उस प्रकार कार्य्य कारण के सद्भावस्थल में अनुमान अलङ्कार होता है ॥२२७॥

हे फुल्लेन्दीवर नयने ! चन्द्र वदने !, तुम्हारे नयन मानस भेदकता हेतु साक्षात मनोभाव के वाण स्वरूप हैं । जिस से आहत होकर गोकुलेन्द्रनन्दन जीवन आशा को छोड़कर बाहर केवल आकार गोपन कर हैं । इस श्लोक में राधिका के नयन पक्ष, मनोभव का वाण साध्य, मानस भेदकता हेतु है ॥२२८॥

उदाहरण—अयि कलावति ! तुम्हारी नाभि मन्मथ का आश्रय निकेतन है । उस निकेतन में स्मर लीला अग्निहोत्र स्वरूप है, एवं श्रीहरि के भुजवीर्य कृशानु स्वरूप है । कारण समुन्नत एवं सुगन्धि लोमावलि रूप धूमशिखा, मध्यदेश रूप गगन तल को स्पर्श कर रही है, यहाँ रूपक गर्भ अनुमान अलङ्कार

विशेषोक्तिः परिकरः स्यात् साकूतविशेषणैः ॥२३०॥

यथा—आत्मारामैर्विगत हृदय ग्रन्थिभिर्मुक्तबन्धै,
वेहाध्यासि प्रशमशमिभिः ब्रह्मभूयव्रजोद्धैः।
चित्ते चिन्त्य कथमपि चिरं धामयच्छयामलं तद्,
गोपस्त्रीणां कुचकलसयोनीलरत्नं बभूव ॥

अत्रात्मारामैरित्यस्य विशेष्यस्य सर्वाण्येव विशेषणानि साकूतानि ॥२३१॥

प्रकृतस्थगनं छद्मव्याजोक्तिरनिषेधभाक् ॥

अपह्नुति स्तुनिषेध पूर्वा, इयं तु न तथेत्यनिषेध भागितर्युक्तम्, छद्म पूर्वं च ॥२३२॥

यथा—अहो शैत्यस्य महिमा हिमानिल तवेदृशः।
—न शक्यते गोपयितुं कृतो येनाधर व्रणः ॥२३३॥

यत्र साकूतं विशेषणं विशेष्योक्तिः कथनं तत्र परिकरनामालङ्कारः ॥२३०॥

देहाध्यासिस्य प्रशमेन शान्त्या शमिभिर्जितेन्द्रियैः। अतएव ब्रह्म स्वरूप प्राप्तुर्वो दूरेरात्मारामैः कथमपि यथाकथञ्चिच्चित्ते चिन्त्य तत् श्रीकृष्ण स्वरूप श्यामलं धाम कान्ति विशेषस्तदेव गोपस्त्रीणां नीलरत्नं बभूव ॥२३१॥

यत्र प्रकृतस्य स्थगनं संवरणम्, तत्तु छद्म मिषमात्रम्, किन्तु प्रकृतार्थ एव वक्तुं स्तात् पर्यम्, तत्र व्याजोक्ति ज्ञेया। एषा अनिषेधभाक्। अपह्नुति स्थले तु प्रकृतार्थस्य निषेध पूर्वक संवरणम्। अत्र तु प्रकृतार्थस्य निषेधं विनैव संवरणमिति भेदो ज्ञेयः ॥२३२॥

हे शीतकालीन—हिमानिल! तव शैत्यस्य दृशो महिमा कियाम् वक्तव्यस्तथापि गोपयितु न शक्यते। येन तव शैत्येन जनानामधरे व्रणः कृतः। अत्र हिमपवनस्य सर्वेषामधर व्रण-जनकत्वेन

हुआ है ॥२२९॥

साभिप्राय विशेष के द्वारा विशेष्य की उक्ति होने पर परिकर अलङ्कार होता है ॥२३०॥

उदाहरण—जिन की हृदय ग्रन्थि विनष्ट हुई है, जो संसार बन्ध से विमुक्त हैं, देहाध्यास का प्रशमन से जो शमदमादि सम्पन्न एवं ब्रह्म भावे मग्न हैं, इस प्रकार आत्माराम व्यक्ति गण जिनकी श्यामल कान्ति का ध्यान चिरकाल चित्त क्षेत्र में करते रहते हैं, वह श्रीहरि व्रजसुन्दरी वृन्द के कुचरूप काञ्चन कलसोपरि नीलरत्न रूप में विराजित हैं।

इस श्लोक में "आत्माराम व्यक्ति गण" विशेष्य के अन्यपद समूह साभिप्राय विशेषण हुये हैं ॥२३१॥

जहाँ निषेध व्यतीत छल क्रमसे प्रकृत का आच्छादन किया जाता है, वहाँ व्याजोक्ति नामक अलङ्कार होता है।

अपह्नुति—निषेध पूर्वक होती है, यह उस प्रकार न होकर छद्म पूर्वक होता है ॥२३२॥

उदाहरण—हे हिमानिल! तुम्हारे शैत्य की ईदृश अपूर्व महिमा है। कि—जन गण के अधर में वह

यथा वा—अलमलमभिलाषेणामुना वारिखेला कुतुकिनि कमलानामाहृतेः कौतुकस्य ।
कलय कलितमङ्गं कण्टकैर्नाललग्नैः, शिव शिव परिदृष्टं षट्पदेनाधरोष्टम् ॥२३४॥

प्रश्नपूर्वकमाख्यानं तत् सामान्य-व्यपोहनम् ।
तस्य तस्यापि च ज्ञेये व्यङ्गत्वे स्यादथापरम् ।
अप्रश्नपूर्वकं वाच्यं परिसंख्या चतुर्विधा ॥

तस्य तस्य चेति प्रश्न पूर्वाख्यानस्य तत् सामान्यव्यपोहनस्य च व्यङ्ग्यत्वमप्रश्नपूर्वकस्य तत् सामान्य व्यपोहनस्य च वाच्यत्वं चेति चतुर्धा ॥२३५॥

क्रमेणोदाहरणानि—किं गेयं व्रजकेलिकर्म्म किमतिश्रेयः सतां सङ्गतिः
किं स्मर्त्तव्यमनन्त नाम किमनुध्येयं मुरारेः पदम् ।

दुःखवाधित्वावमाहात्म्यरूपप्रकृतार्थस्य संवरणम् । तत्तु मिषमात्रम्, किन्तु दुःखदत्वादमाहात्म्ये एव वक्तुस्तात्पर्य्यम् ॥२३३॥

श्रीराधिका काञ्चित् स्वसखीं स्तनाधरादौ सम्भोग चिह्नं दृष्ट्वा परिहसन्ती आह— हे जलखेला कुतुकिनि कमल हरण रूप कौतुकस्याभिलाषेण अलमलं कण्टकैः कलितं विद्धमङ्गं पश्य । तथा च त्वया कुञ्ज मध्ये जलक्रीड़ार्थमेव गतं, तत्र जलमध्ये स्थितानां कमलानामाहरणार्थं गतायास्तवाङ्गस्य कमल नालस्य कण्टकैः करणैः क्षतादिकं जातम् । एवं कमलस्थ भ्रमरैः स्तवाधरोष्ठं दष्टम् । अत्र प्रकृतार्थस्य श्रीकृष्णेन सह सम्भोगस्य संवरणमात्रम्, किन्तु तात्पर्य्यं तत्रैवेति भावः ॥२३४॥

यत्र प्रश्न पूर्वकमाख्यानम्, तत्र परिसंख्येत्येकम् । यत्र सामान्य धर्मस्य व्यापोहनं निषेधस्तत्रापि परिसंख्येति द्वितीयम् । एवं यत्र प्रश्न पूर्वकाख्यानस्य तत् सामान्य व्यापोहनस्य च व्यङ्ग्यत्वमेव, न तु वाच्यत्वम्, तत्रापरं तृतीयम् । यत्राप्रश्नपूर्वकस्य सामान्य व्यपोहनस्य च वाच्यत्वम्, प्रश्नपूर्वकत्वस्य व्यङ्ग्यत्वम्, तत् चतुर्थम् । एवं क्रमेण चतुर्धा परिसंख्या ज्ञेया ॥२३५॥

राधा कृष्णाभिधे महसी पीतश्यामकान्ती उपास्यमित्यर्थः ॥२३६॥

सैन्य कर्त्तृक समुत्पादित व्रज को किसी प्रकार से ही गोपन किया नहीं जा सकता है ॥२३३॥

उदाहरण—हे सलिल क्रीड़ा कुतुकिनि ! तुम को कमलाहरण रूप कौतुक का और प्रयोजन नहीं है । देखो, तुम्हारे सुकुमार अङ्ग कमल नाल लग्न कण्टक विद्ध हो गया है, एवं अधरोष्ठ मधुकर कर्त्तृक परिदष्ट हुये है ॥२३४॥

जहाँ प्रश्न पूर्वक आख्यान होता है अथवा उसका सामान्य धर्म्मका निषेध किया जाता है, जहाँ उक्त प्रश्न पूर्वक आख्यान वा तदीय सामान्य धर्म निषेध व्यङ्ग्य होता है, किंवा जहाँ अप्रश्न-पूर्वक का वाच्यत्व होता है, तादृश स्थल में परिसंङ्ख्या अलङ्कार होता है । उल्लिखित स्थल चतुष्टय भेद से परिसंख्या अलङ्कार चतुर्विध होते हैं ॥२३५॥

क्रमश उदाहरण—कीर्त्तनीय क्या है ? व्रज केलि कथा, अति श्रेयस्कर क्या है ? साधु सङ्ग,

क: स्थेयं व्रज एव, किं श्रवणयोरानन्दि वृन्दावन-

क्रीड़ा का किमुपास्यमत्र महसी श्रीकृष्णराधाभिधे ॥२३६॥

का विद्या हरि भक्तिरेव, न पुनर्वेदादि निष्णातता ।

कीर्त्तिः का भगवत् परोऽयमिति या ख्यातिर्न दानादिजा ।

का श्रीः कृष्णरति र्न वै धन-जन-ग्रामादि-भूमिष्ठता ।

किं दुःखं भगवत् प्रियस्य विरहो नो हृद् व्रणादि व्यथा ॥२३७॥

वक्रता मृगदृशां कचपाशे, पाणिपाद--नयनादिषु रागः ।

नीविकेश रसनादिषु बन्धः, सान्द्रचन्दनरसादिषु पङ्कः ॥२३८॥

अत्र क्व वक्रतेत्यादि प्रश्न पूर्वकाख्यानस्य तत् सामान्य व्यपोहनस्य च व्यङ्ग्यता । तथाहि क्व वक्रता ? मृगदृशां गोपीनां कचपाशे एव, नान्तः करणादौ कस्यापीत्यादि ।

वेदादिषु निष्णातता—पारङ्गतता ॥२३७॥

व्रजे वक्रता शब्दः स्त्रीणां केशपाशे एव श्रूयते, नान्यत्र । तथा च कुटिलान्तः करणजना व्रजे न सन्तीति ध्वनिः । राग शब्दो जनानां पाणि पाद नेत्रेष्वेव श्रूयते, नान्यत्र, तथा च व्रजे कस्यापि निगड़ादि बन्धनं नास्ति । तथा मृत्तिकादीनां पङ्कः कर्दमो नास्तीति ज्ञेयम् ॥२३८॥

हरि चरणयोः सानुरागे वैष्णवे आसक्तिः, न विषयरागे, न योगे, न ज्ञान कर्म्मादौ । प्रणयरभसस्य

स्मरणीय क्या है ? अनन्त देव के अनन्त नाम, ध्येय क्या है ? मुरारि के पाद पद्म, अवस्थान कहाँ करना चाहिये ? व्रज में, श्रवण युगल की परमानन्द प्रदायक कौन है ? वृन्दावन क्रीड़ा । उपास्य क्या है– राधा श्याम कान्ति धारी पीत एवं कृष्ण कान्ति ॥२३६॥

विद्या क्या है ? श्रीहरि भक्ति ही विद्या है, वेदादि में विचक्षणता विद्या नहीं है । कीर्त्ति क्या है ? यह परम भागवत है—इस प्रकार जो ख्याति–वही कीर्त्ति है, दानादि हेतु ख्याति कीर्त्ति नहीं है, श्री क्या है ? श्रीकृष्ण में रति ही श्री है, धन जन ग्रामादि बहुलता श्री नहीं है । दुःख क्या है ? भगवत् प्रियव्यक्ति का विरह ही दुःख है, हृदय व्रणादि व्यथा—दुःख नहीं है ॥२३७॥

व्रज में हरिण नयना ललना वृन्द के केश पाश में ही कुटिलता थी, कुटिलान्तः करण के मानव वहाँ नहीं था । उनके कर चरण--नयनादि में ही राग था, अन्यत्र नहीं, अर्थात् व्रज में विषय में रागयुक्त जन नहीं था । नीवि केश वसनादि में ही बन्धन था, अर्थात् व्रज में किसी के निगड़ादि बन्धन नहीं थे । निविड़ चन्दन रसादि में ही पङ्क था—अर्थात् मृत्तिका प्रभृति का पङ्क--कर्दम वहाँ नहीं था । इस प्रकार जानना होगा ।

यहाँ 'कुटिलता कहाँ है ?' इस प्रकार प्रश्न पूर्वक आख्यान के एवं ललनागण के केश पाश में कुटिलता थी, अर्थात् किसी के अन्तः करणादि में कुटिलता नहीं थी–यह सामान्य धर्म निषेध की व्यञ्जना हुई है ॥२३८॥

श्रीहरि के चरणारविन्दों में जिनका अनुराग है, इस प्रकार व्यक्ति में जिनकी आसक्ति है, विषय

अत्यासक्तिर्हरिचरणयोः सानुरागे न सर्गे
प्रीतिः प्रेमातिशयिनि हरेर्भक्ति योगे न योगे ।
आस्था तस्य प्रणयरभसस्योपदेहे न देहे
येषां ते हि प्रकृति कृतिनो हन्त मुक्ता न मुक्ताः ॥२३६॥

अत्र प्रश्न पूर्वकं व्यङ्ग्य तदन्य व्यपोहनं वाच्यमिति भेदः ।

यथोत्तरं पूर्वं पूर्वं हेतुकस्य तु हेतुता तदा कारण माला स्यात्,

पूर्व पूर्वस्य हेतुकार्यस्य उत्तरोत्तरं पदार्थस्य यदा हेतुता, तदा तदेवेत्यर्थः ॥२४०॥

यथा—सत्सङ्गमेनैव भवेद्विरागो, विरागतः स्यान्मनसो विशुद्धिः ।
मनोविशुद्ध्यैव हरेः प्रकाशो, हरेः प्रकाशेन कृतार्थता स्यात् ॥२४१॥

क्रिययान्योऽन्य कारणम् ॥२४२॥
वस्तुद्वयं तदान्योऽन्यम्, ॥२४३॥

वस्तुद्वयं यदि क्रिययाऽन्योऽन्य कारणं स्यात्तदाऽन्योन्यमित्युच्यते ।

यथा—राधाभासो मरकतमयीं कुरुते कृष्ण-कान्ति
कृष्णस्याभा अपि च हरितां कुरुते धामतस्याः ।

प्रेमातिशयस्योपदेहे उपयोगि सिद्धदेहे आस्था निरर्थत्व बुद्धिः, न तु पाञ्चभौतिके साधके देहे । तथा च के मुक्ता इति प्रश्नो व्यङ्ग्यः, तत्रोत्तरम्— येषां वैर्णवाविश्वासित्त्वादि रते एव प्रकृत्या स्वभावेन कृतिनो मुक्ताः न मुक्ताः मुक्ताभिमानिनो मुक्ता न भवन्तीत्यर्थः,—तेषां भक्त्यभावात् तथा चोक्तं श्रीवैष्णवे (भा० १०।२।३२) "येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनः" इत्यादौ तेषामधः पतनमेवोक्तम् ।२३६-२४०-२४१।

यदि वस्तुद्वयं स्वस्व क्रियया परस्परं कारणं भवति, तदा अन्योन्य नामालङ्कारः ॥२४२-२४३॥

में आसक्ति नहीं है, प्रेम प्रकाशशाली भक्ति योग में ही प्रीति है; योग में प्रीति नहीं है, भगवान् में प्रेमातिशय के उपयुक्त सिद्धादि देह में ही आस्था है, पाञ्चभौतिक देह में आस्था नहीं है, वे ही प्रकृतकृती एवं मुक्त पुरुष हैं, मुक्ताभिमानी व्यक्तिगण मुक्त नहीं होते हैं।

यहाँ प्रश्नपूर्वकत्व व्यङ्ग्य एवं सामान्य धर्म का निषेध वाच्य हुआ है ॥२३६॥

पूर्व पूर्व हेतुका पदार्थ को यदि उत्तरोत्तर हेतुता हो तो कारणमाला अलङ्कार होता है ॥२४०॥

उदाहरण—सत्सङ्ग से ही वैराग्य उत्पन्न होता है, वैराग्य से ही चित्त शुद्धि होती है, चित्त शुद्धि हेतु ही श्रीहरि का प्रकाश होता है, श्रीहरि प्रकाश से ही कृतार्थता प्राप्ति होती है ॥२४१॥

वस्तु यदि क्रिया के द्वारा परस्पर के प्रति कारण होता है—तो वहाँ अन्योन्य अलङ्कार होता

स्थाने स्थाने यदि निवसतः स्तौ तदा गौरनीला
वेकस्थाने यदि वत तदा तुल्यभासौ विभातः ॥२४४॥

प्रश्नस्योन्नयनं यदि।

उत्तर श्रुतिमात्रेणोत्तरं स्यात्,

प्रतिवचनश्रवणादेव पूर्व वचनस्योत्तरस्य यद्युन्नयनं भवति, तदाउत्तरालङ्कारः ॥२४५॥

यथा—भम कण्ह अण्णघरं, विरमदु दे कावि व अण परिपाडी।
अम्ह सही इध एक्का, ण एत्थ तुह ओसरो ठादु ॥
"भ्रम कृष्णान्य गृहं विरमतु ते कापि वचन परिपाटी।
मम सखी अत्रैका नास्तितवावसरः स्थातुम ॥"

अत्र सख्याः प्रति वचने कृष्णस्य कोऽपि प्रश्नः पूर्वं जात इति बुध्यते, न चैतदनुमानं

यदि श्रीकृष्णाद् दूर वर्तिन्यां श्रीकृष्ण कान्ती अकस्माद् दूरादेव राधाकान्तयः स्वक्रियया लगन्ति, तदा कृष्णकान्ति मरकतद्वयीं कुर्वन्ति। एवं तस्या राधाया धाम कान्ति दूरादेव श्रीकृष्णस्यामाः कान्तयः स्व क्रियया हरितो कुर्वन्ति। यदि तौ राधाकृष्णौ पृथक् तया स्व स्वस्थाने निवसत स्तदा गौर नीलोभवनः कान्तीनां परस्पर मिलनाभावाद् राधाकान्ति गौरवर्णा, श्रीकृष्णस्य कान्तिर्नील वर्णः इत्यर्थः।

यद्येकस्मिन् स्थाने तौ निवसेत स्तदा कान्तिनां परस्परप्राधान्येन स्वस्वक्रिययोपमर्दाभावाद् वर्णान्तराभावेन तुल्यभासौ तौ विभातः ॥२४४–२४५॥

भ्रमेति। "भ्रमकृष्णान्य गृहं विरमतु ते कापि वचन परिपाटी।
मम सखी अत्रैका नास्ति तवावसरः स्थातुम॥"

न चात्रानुमानालङ्कारो वक्तव्यः,—प्रति वचन प्रश्नयोः परस्पर व्यभिचारेण व्याप्त्यभावात्। नाप्यत्र काव्यलिङ्गालङ्कारो वक्तव्यः,—हेतौ ज्ञनकरूप हेतोस्तत्र च पदवाक्यार्थता, निष्पादकरूप हेतुत्वाभावादित्यर्थः।

है ॥२४२–२४३॥

उदाहरण—श्रीराधा की कान्ति श्रीकृष्ण कान्ति को मरकतमयी करती है। श्रीकृष्ण की आत्मा भी श्रीराधा के प्रभापुञ्ज को हरित वर्ण कर देती हैं। यदि पृथक् स्थान में वे उनका अवस्थान होता हैं तो, दिव्य गौर एवं नील कान्ति विलसित होती है। एवं यदि एकस्थाने स्थित होती है—तो तुल्य प्रभा से प्रभासित होती है ॥२४४॥

उत्तर श्रवण मात्र से प्रश्न का उन्नयन होने से उत्तरालङ्कार होता है ॥२४५॥

उदाहरण—हे कृष्ण! तुम अन्य निकेतन में भ्रमण करो, तुम्हारी वचन परिपाटी से कोई प्रयोजन नहीं है, मेरी सखी यहाँ एकाकिनी है, यहाँ तुम्हारा अवस्थान का अवसर नहीं है।

इस श्लोक में सखी के प्रति वचन श्रवण से बोध होता है कि— इसके पहले श्रीकृष्ण ने प्रश्न किया

वाप्त्यभावात् । न चापि काव्यलिङ्गम्, हेतोः पद वाक्यार्थताभावात् । ननु प्रश्नस्य प्रति वचनजनके हेतु तेनेदमलङ्कारान्तरमेव ॥२४६॥

प्रश्नतोऽपि वा ॥

प्रश्नतः पश्चादुत्तरं वा उत्तरम् ॥२४७॥

यथा—किं दुर्लभं यन्मनसो न गोचरः, किं प्रार्थनीयं क्वच यन्नलभ्यते ।
किं ह्लादकं यत् स्मरणेऽपि स स्यात्, तत्तच्च तत् किं व्रजराजनन्दनः ॥

अत्र चतुर्विध-परिसंख्यातो विलक्षणता । तत्र तत्र सर्वान्यव्यपोहे तात्पर्य्यं क्वचिद्वाच्यमुखेन क्वचिद् व्यङ्ग्यमुखेन । इह तु शुद्ध मुत्तरमिति भेदः ॥२४८॥

आकारेणेङ्गितेनापि सूक्ष्मार्थो यत्र लक्ष्यते ।
प्रकाश्यते वाऽन्यस्मै च स सूक्ष्मः कीर्त्यते द्विधा ॥२४९॥

एतदेवाह—नन्विति । प्रश्नं प्रतिप्रतिवचनं न जनको हेतुः, अपितु ज्ञापक एव हेतुः । काव्य लिङ्गे जनक रूपस्य हेतोरेव ग्रहणात् ॥२४६॥

प्रश्नानन्तरं यत्रोत्तरं करोति, तत्रोत्तर नामालङ्कारः ॥२४७॥

स ह्लादः, तथा च यस्य केवलस्मरणमात्रादेवानन्दः स्यात् स एवानन्द जनक इत्यर्थः । तत्तच्च वस्तु किमिति प्रश्नत्रयस्योत्तरं श्रीकृष्ण एवेति । तथा च यद पदार्थयो मनसः सास्ताविव मनोगोचरा भवन्ति यथा, तथा श्रीकृष्णो न, किन्तु यदि स कदापि मनो गोचरीभवति तदा तस्य कृपयैवेति ज्ञेयम् ।२४८।

आकारेण सम्भोगचिह्नेन यत्र सूक्ष्मोऽर्थो लक्ष्यते, अथवेङ्गितेन सूक्ष्मोऽर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते तत्र सूक्ष्मनामालङ्कारो ज्ञेयः ॥२४९॥

होगा । यहाँ यह अनुमान अलङ्कार नहीं है, कारण, प्रति वचन एवं प्रश्न का परस्पर व्यभिचार हेतु व्याप्ति का अभाव हुआ । काव्य लिङ्ग भी नहीं है, कारण, हेतु की वाक्यार्थता वा पदार्थता नहीं हुई है । एवं प्रति वचन प्रश्न के प्रति जनक हेतु भी नहीं हैं । सुतरां यह पृथक् अलङ्कार ही है ॥२४६॥

प्रश्न के अनन्तर जहाँ उत्तर होता है, वहाँ उत्तरालङ्कार होता है ॥२४७॥

उदाहरण—दुर्लभ पदार्थ क्या है ? जो मनो गोचर नहीं है, वही दुर्लभ है । प्रार्थनीय क्या है ? जो कहाँ भी उपलब्ध होता है, वही प्रार्थनीय है । आह्लादक पदार्थ वही है, जिसका स्मरण मात्र से ही आनन्द होता है, वही आह्लादक है । तादृश तत्तत् वस्तु क्या है ? व्रजराजनन्दन ही तादृश तत्तद् वस्तु हैं, यहाँ पूर्वोक्त चतुर्विध परिसंख्या से इस उत्तरालङ्कार की विभिन्नता हुई है । परिसंख्या के उक्त चतुर्भेद में अन्य तात्पर्य्य है । वह निषेध कहीं तो अर्थाङ्गमुख से होता है, कहीं तो व्यङ्ग्य मुख से होता है । यहाँ शुद्ध प्रश्न का शुद्ध उत्तर होने के कारण—उस से भेद हुआ है ॥२४८॥

जहाँ आकार के द्वारा सूक्ष्मार्थ लक्षित होता है, अथवा ईङ्गित से अपर के निकट सूक्ष्मार्थ प्रकाशित

क्रमेणोदाहरणे—राधायाः कर कमले, शिखण्डदलपक्ष्म लग्नमालोक्य ।
प्रातः सखी विदग्धा, लिलेख तत्रैव कार्मुकं सशरम् ॥

अत्र हि, विपरीतरते कृष्णकेशाकर्षणलग्न तद्बर्हावतंस पक्ष्म दर्शनेन पुरुषायितं तवेदं मयावगतमिति सख्या स्ववैदग्ध्यं प्रकटयितुं पुरुषस्यैव धनुर्धरत्वं सङ्गच्छते इति सशरं कार्मुकं लिखितमिति सूक्ष्मः ॥२५०॥

भवन प्राङ्गण सङ्गत मनङ्गरसमङ्गलं कृष्णम् ।
सकृदवलोक्य सलीलं, राधा पिदधेऽवगुण्ठनेन मुखम् ।

अत्र चन्द्रास्त समये समागन्तव्यमिति कृष्णं प्रति सङ्केतोऽनया प्रकटितः, स सूक्ष्मः ॥२५१॥

सारः सावधिरुत्कर्षो यदि भवेदुत्तरोत्तरम् ।

सारोऽलङ्कारः ॥२५२॥

यथा—वर्षेषु भारताभिधमिह सारो भारते च तीर्थानि ।
तीर्थेषु च मथुरिका, वृन्दारण्यं च मथुरायाम् ॥२५३॥

राधायाः कर कमले शिखण्डदलपक्ष्म मयूरपिच्छं लग्नमालोक्य, तत्रैव राधा करकमले तस्या चन्द्रिका मूर्त्तिं लिखित्वा पश्चात्तस्याः करे शर सहितं धनुर्लिलेख । विपरीतरते—विपरीतरमणे, तस्य श्रीकृष्णस्य चूडास्थ मयूरपिच्छ रूपस्यावतंसस्य शिरोभूषणस्य, सख्या श्रीराधायां स्व वैदग्ध्यं प्रकटयितुं तथा कार्म्मुकं लिखितमित्यर्थः ॥२५०-२५१-२५२॥

वर्षेषु मध्ये भारताभिधं वर्षं सारो भवति । भारतभूमिः सर्वोत्कृष्ट इत्यर्थः ॥२५३॥

होता है, तत्तत् स्थल में सूक्ष्मालङ्कार होता है ॥२४९॥

क्रमशः उदाहरण—सुचतुरा सखीने, प्रभात में श्रीराधा के कर कमल में मयूर पुच्छ पक्ष्म संलग्न देखकर, उस कर पल्लव में स शर शरासन लिख दिया ।

इस श्लोक में विपरीत सुरत के समय श्रीकृष्णकेशा कर्षण समय में तदीय बर्हावतंस पक्ष्म पाणि पल्लव में संलग्न हुआ है । इस प्रकार विचार कर सखी स्वयं उसकी पुरुषायित चेष्टा को समझ गई हैं, इस को विदग्धता के सहित समझाने के निमित्त उसने राधिका के उस हस्त में धनुर्वाण लिख दिया । कारण, धनुर्वाण धारण—पुरुष के पक्ष में ही सङ्गत है ॥२५०॥

अनङ्गरस का मङ्गलमय निकेतन नन्द नन्दन को निजभवन प्राङ्गण में सङ्गत देखकर श्रीराधा ने उनके प्रति एकवार मात्र सविलास दृष्टिपात पूर्वक—अवगुण्ठन के द्वारा मुख मण्डल को आवृत किया,

इस श्लोक में राधिका ने श्रीकृष्ण के प्रति चन्द्रास्त समय में जो समागमन सङ्केत को प्रकाश किया; वह अतिसूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्मालङ्कार हुआ है ॥२५१॥

उत्तरोत्तर जो सावधि उत्कर्ष है, उसका नाम सार, अलङ्कार है ॥२५२॥

उदाहरण—वर्ष के मध्य में भारत वर्ष ही श्रेष्ठ है, भारत वर्ष में तीर्थ समूह श्रेष्ठ हैं, तीर्थ समूह के

अत्यन्तभिन्नाधारत्वे युगपद् भाषणं यदि ।
धर्मयोर्हेतुफलयोस्तदा साऽस्यादसङ्गतिः ॥

यदाधारो हेतुस्तदाधारं फलमिति नियमः यथा—पापपुण्यकृते एकाधारे एव सुखदुःखे, तदन्यथाभावेऽसङ्गतिः तत्रापि युगपदेव हेतुः फलं च, न तु पापादिकृते दुःखादिवत् कालान्तरव्यवधानम् ॥२५४॥

यथा—तवाधरोष्ठे क्षतमञ्जनञ्च, मम व्यथार्त्तं मलिनञ्च चेतः ।
पीतस्त्वया ते वदनासवस्त्वं, मत्तः कुतोऽनर्थपरम्परेयम् ।

नायं विरोधः, सत्वेकाश्रयः ॥२५५॥

हेतु फल रूप धर्मयोरत्यन्तभिन्नाधारत्वे सति युगपदेकस्मिन्नेव काले यदि तयोर्भाषणं भवति, तदा असङ्गति नामालङ्कारः। यस्मिन्नेवाधारे हेतुस्तथा स एवाधारो यस्य तथाभूतं फलं भवतीति, तथा च यस्मिन्नेवाऽधिकरणे हेतुस्तस्मिन्नेवाधिकरणे फलोत्पत्तिरिति सर्वत्र नियमः। तदन्यथाभावः कारणस्याधिकरणं भिन्नं कार्यस्योत्पत्तेरधिकरणं भिन्नमित्यन्यथाभाव इत्यर्थः। यथा पापपुण्यजन्ये दुःख सुखे एकस्मिन्नेवात्मनि भवतः, तस्यान्यथाभावेऽसङ्गतिः स्यादिति। अत्रापि असङ्गतामपि असङ्गत्यन्तरमाह—युगपदिति, एकस्मिन्नेव काले हेतुः फलञ्च भवति ॥२५४॥

काचिन्मानिनी प्रातः काले मानभङ्गार्थमागतं कृष्णं तस्याधरे सम्भोगचिह्नं क्षतादिकं वीक्ष्याह—हे कृष्ण ! तवोष्ठाधरे क्षतमुत्पन्नम्, मम चेतो व्यथया आर्त्तं भवति। तथा तवोष्ठेऽञ्जनं लग्नम्, मम चेतो मलिनं भवति अतोऽसङ्गतिः। अत्रापि रात्रौ यस्मिन्नेव क्षणे तवाधरे तयाक्षतं कृतम्, तदैव तस्य स्मरणान् मम मनसि व्यथा जाता, न तु पापदुःखयोरिव कालव्यवधानमित्यसङ्गतिरपि न या।

मध्यमें मथुरा श्रेष्ठ है—मथुरा के मध्य में वृन्दारण्य श्रेष्ठ पदार्थ है ॥२५३॥

हेतु एवं फल रूप धर्मद्वय का अत्यन्त भिन्नाधारत्व स्थल में यदि समकाल में उत्पत्ति का कथन होता है, तो असङ्गति नामक अलङ्कार होता है।

हेतु का जो आधार है, फल का भी वही आधार होता है, यही नियम है। जिस प्रकार पाप पुण्य हेतु आत्मरूप एकमात्र आधार में ही सुख एवं दुःख होते हैं, उक्त नियम का जहाँ व्यतिक्रम होता है, वहाँ असङ्गति अलङ्कार होता है।

किन्तु पुण्य पाप कृत सुख दुःख जिस प्रकार कालान्तर में होता है, असङ्गति स्थल में उस प्रकार न होकर समकाल में ही कार्य कारण की स्थिति आवश्यक है ॥२५४॥

उदाहरण—हे कृष्ण ! तुम्हारे अधरोष्ठ में क्षत एवं अञ्जन विद्यमान है। किन्तु मेरा चित्त व्यथित एवं मलिन हुआ है। उसने तुम्हारा अधर पान किया है, किन्तु तुम मत्त हो गये हो, यह क्या अनर्थ परम्परा है ?

यह विरोधालङ्कार नहीं है, कारण—एकाश्रयत्व स्थल में ही विरोधालङ्कार होता है ॥२५५॥

कारणान्तर साहाय्यात् कार्य्यं यत् सुकरं भवेत्।
कर्त्तुं विना प्रयत्नेन स समाधिरितीर्य्यते ॥२५६॥

यथा—मयि व्यग्रे तस्याः प्रणयकलहम्लानमनसः,
प्रसादे राधायाः पद पतनमारिप्सितवति,
अकस्मादम्भोद व्यतिकरकृतः स्फूर्जथुरभूत,
सखे ! त्रासावेशात्सपदि विभ्रमकण्ठं धृतवती ॥२५७॥

श्लाघ्यत्वेन भवेद् योग्यो यदि योगस्तदा समम् ॥

सममित्यलङ्कारः ॥२५८॥

यथा—ललामं नारीणामियमहह पुंसामयमहो,
वयोऽस्या अस्यापि प्रकृति नव कैशोरकमिदम्।
प्रसूनेषोर्भाग्यान्मिलितमिव रत्नद्वयमिदं
न राधाकृष्णाख्यं भजतु कथमाद्योऽपि च रसः ॥

एवमश्लाघ्यत्वेऽप्यूह्यमुदाहरणम् ॥२५९॥

एवं लर्यि तवाधरासवः पीतस्त्वं मत्तः सम्भोगचिह्नं धृत्वा मानं भङ्गायमागतं मिदमेव मत्तत्क्रियं चिह्नमिदं भावत्काह्वय॥२५९–२६०॥

मयीति। हे सखे सुबल ! मानिन्याः श्रीराधायाः प्रसादे प्रसन्नतानिमित्तं तस्याः पादे पतनं आरिप्सितवति सत्यकस्मात् मेघसमूहे कृत स्फूर्जथुर्महान् गर्जनशब्दोऽभूत ॥२५७॥

श्लाघ्यत्वेनोभयोर्यदि योग्यो योगः संयोगो भवेत्, तदा सम नामालङ्कारो भवेत् ॥२५८॥

इयं राधा नारीणां ललामं शिरोभूषणम्। अयं श्रीकृष्णः पुंसां ललामम्। अस्याः श्रीराधायास्तथा अस्या श्रीकृष्णस्यापि प्रकृत्या स्वभावेनैव सदा नव कैशोरकमिदं वयः। कन्दर्पस्य भाग्यान्मिलितमिदं राधाकृष्णाख्यं रत्नद्वयम्। आद्यः शृङ्गारो रसः कथं न भजतु, अपितु भजत्वेवेत्यर्थः। एवमश्लाघ्यत्वेनोह्य उदाहरणं तत्तु श्रीकृष्णसम्बन्ध राहित्येन विभीतत्वाद् ग्रन्थकारेण परिहृतम् ॥२५९॥

१—कर्त्ता के प्रयत्न के बिना कारणान्तर की साहाय्य हेतु कार्य यदि सुकर होता है, तो तादृशस्थल में समाधि नामक अलङ्कार होता है ॥२५६॥

उदाहरण—हे सखे ! प्रणय कलह से कलुषित चित्ता राधिका की प्रसन्नता सम्पादनार्थ मैं व्यग्र होकर उनके चरण स्पर्श करने का उपक्रम करने पर अकस्मात् नभो मण्डल में मेघ मण्डलों का इस प्रकार प्रबल गर्जन हुआ, जिससे भीत होकर राधिका ने तत् क्षणात् मेरा कण्ठालिङ्गन किया ॥२५७॥

श्लाघ्यस्वरूप में उभय वस्तु का अनुरूप संयोग होने पर सम नामक अलङ्कार होता है ॥२५८॥

उदाहरण—श्रीराधा,--रमणी वृन्द की शिरोमणि स्वरूपा हैं, कृष्ण भी पुरुष वृन्द के शिरोरत्न

अत्यन्त वैसादृश्येन योगो यदति दुर्घटः ।
कर्त्तुः क्रियाफलाभावः प्रत्युतानर्थ सम्भवः ॥२६०॥
गुण क्रियाभ्यां ते एव कार्य्य कारणयोश्चयत् ।
परस्परं विरुध्येते विषमः सचतुर्विधः ॥२६१॥

ते—एव, गुणक्रिये—एव ।

क्रमेणोदाहरणानि— शिरीष कुसुमादपि प्रकृति कोमलं तद्वपुः
कुकूलविषशूलयोर्व्यतिकरोऽनुरागज्वरः ।
तथापि सहतेतरां तममुनैव राधा चिरं
न वाङ्मनस गोचरः सहजभाव बन्धक्रमः ॥२६२॥

संसार दावग्लपितं मनो मे, शिश्राय ताप प्रशमाय कृष्णम् ।

यत्र धर्मद्वयोरत्यन्त वैसादृश्येनाति दुर्घटो योगो भवति तादृश दुर्घटे सपि योगं कर्त्तुं जनस्य द्वयोर्योग करणरूप क्रियायाः सुखरूप फलाभावः प्रत्युत दुःखरूपानर्थस्य सम्भवश्च, तत्र विषम नामालङ्कारः । चतुर्विधो भवति । चतुर्विधत्वमेवाह—गुणक्रियाभ्यामिति ॥२६०-२६१॥

तस्या राधाया वपुः प्रकृत्या स्वभावेन यदा कोमलं भवति । कुकूल विषशूलयोस्तुषाग्नि विषाक्त शूलयोः समूह रूपः श्रीकृष्ण विषयकानुरागज्वरः । तथाप्यमुना वपुषा, तमनुरागज्वरं सहते नतुत्यजति । अतएव न वाङ्मनसेत्यादि सहज भावः स्वभाव सिद्ध प्रेमा । अत्र कोमल स्पर्शगुणेनानुरागरूप गुणो विरुध्यते ॥२६२॥

संसार रूप दावाग्निना ग्लानि युक्तं मम मनः श्रीकृष्णं शिश्राय । स श्रीकृष्णः निघृणः कृपारहितः

सदृश हैं, उभय के ही वयः क्रम स्वभावतः नव कैशोर है, पुष्पवाण के सौभाग्य हेतु ये रत्नद्वय परस्पर सुसम्मिलित हुये हैं । क्यों नहीं आद्य रस इन दोनों का भजन करेगा ?

ऐसे लाट्यस्थल में भी इस प्रकार उदाहरण प्रस्तुत करना कर्त्तव्य है ॥२५९॥

धर्मद्वय का अत्यन्त वैसादृश्य हेतु जहाँ योग नितान्त दुर्घट है, वहाँ उक्त योजन क्रिया हेतु सुखादि फलोत्पत्ति न होकर अत्यन्त अनर्थ की उत्पत्ति है, तो वहाँ विषम नामक अलङ्कार होता है । उक्त विषम अलङ्कार चार प्रकार होते हैं । गुण एवं क्रिया के सहित, यदि गुण एवं क्रिया का विरोध होता है—तो दो प्रकार एवं कार्य्य कारण निष्ठ गुण एवं क्रिया के सहित यदि, कार्य्य कारण निष्ठ गुण एवं क्रिया का विरोध होता है, तो दो प्रकार—समष्टि से चार प्रकार होते हैं ॥२६०-२६१॥

क्रमशः उदाहरण—श्रीराधा का शरीर स्वभावतः शिरीष कुसुम से भी सुकुमार है, श्रीकृष्ण विषयक अनुरागज्वर भी तुषाग्नि एवं विषाक्त शूल के समान सुदारुण है । तथापि श्रीराधा उसी शरीर के द्वारा ही उस प्रकार विषम अनुराग ज्वर को सुचिरकाल सहन करती रहती है । स्वभावसिद्ध सद्भाव बन्धन क्रम इस प्रकार ही वाक्य मन के अगोचर है ।

स निर्घृणस्तद्वत लब्धमात्रं समूलमुन्मूलितमेव चक्रे ॥२६३॥

अत्र क्रिया क्रियया ।

पीयूष वीरुधो बीजमेकमेवममान्तरे ।
अङ्कुराः किममीतस्माद्बहवो विषवीरुधाम् ? ॥२६४॥

अत्र कार्य्य भूतानामङ्कुराणां बहुत्वेन गुणेन कारणभूतस्य बीजस्यैकत्वं गुणो बाध्यते । पीयूष विषयोश्च कार्य–कारण रूपत्वाद् वैधर्म्यम् ॥

प्रेमबीजं परमानन्दस्यन्दि रोपितमन्तरे तस्याङ्कुराः कुकूलस्य स्फुलिङ्गाइवदाहकाः ।
अत्र कार्य्यस्य दहनक्रियया कारणस्य परमानन्दस्यन्दनक्रिया विरुध्यते ॥२६५॥

आधेयाधारयो भूयो मिथस्तत् प्रतियोगिनौ ।
ततोऽप्यधिकभूमानौ स्यातां यदधिकं भवेत् ॥

अधिकनामालङ्कारः ॥२६६॥

शरणार्थं लब्धमात्रं, तन्मुत समूलं वासनासहितमुन्मूलितं चकार । तथा च श्रीकृष्णचरणारविन्दाश्रयण मात्रेण संसारज्वालाया मूलभूतस्य मनो घटित लिङ्गदेहस्य नाशं चकारेत्यहो तस्यकृपालुतेति व्याजस्तुतिरपि ज्ञेया । अत्राश्रयण क्रिययोन्मूलनक्रिया विरुध्यते ॥२६३॥

पीयूष वीरुध्यं बीजं प्रेम, तत्तु एकमेव, तस्याङ्कुरा विरहजन्य ज्वालारूपा बहवः । एकस्य बीजस्य बहवोऽङ्कुराः न सम्भवन्त्यतो विरोधः, पीयूष विषयोरपि विरोधश्च । तस्य प्रेमणोऽङ्कुरा अनुरागाद्या दाहकाः, श्रीकृष्णेन सह विच्छेदादिति भावः ॥२६४–२६५॥

भूम्नो व्यापकयोः । तत् प्रति योगिनौ इति—आधेयस्य प्रतियोगी आधारः, आधारस्य प्रतियोगी आधेय इत्यर्थः । तथा चाधेयापेक्षया यत्राधारो व्यापको भवति, अथवा आधारापेक्षया यत्राधारो व्यापको

इस श्लोक में गुण के सहित गुण का विरोध हुआ है ॥२६३॥

संसार दावानल से ग्लानि प्राप्त होकर मेरा चित्त ताप प्रशमन हेतु श्रीकृष्णके पार्द पल्लव की छाया को आश्रय किया, किन्तु आप इस प्रकार निष्करुण हैं कि—आश्रय ग्रहण करने से ही उस चित्त को मूलतः उन्मूलित कर दिये हैं ।

इस श्लोक में क्रिया के सहित क्रिया का विरोध हुआ है ॥२६३॥

मेरा हृदय में अमृतलता का एक ही बीज था, उस बीज से विषलता विषलता के ये असंख्य अङ्कुर कैसे उद्भूत हुये ?

इस श्लोक में प्रेम अमृत लताr बीज है, उस से विरह हेतु ज्वालादि विविध अङ्कुर उत्पन्न हुये हैं, किन्तु कार्य्य भूत अङ्कुर के बहुत्व गुण के सहित कारण भूत बीजका एकत्व गुण की बाध्य बाधकता हुई है । अमृत एवं विषका कार्य्य कारण भाव हेतु वैधर्म्य हुआ है ॥२६४॥

परमानन्द निस्यन्दी प्रेम बीज को अन्तः करण में रोपन किया था । उसी के ही अङ्कुर समूह तुषाग्नि के स्फुलिङ्ग के समान दाह कारी हुये हैं । यहाँ कार्य्य भूत दहन क्रिया के सहित कारण भूत

क्रमेणोदाहरणे— अहो ते मनसः सुभ्रु विशालत्वमिदं महत्।

त्रिलोकधयां यो न मात्येष यत्र मातिरमापतिः॥

अत्राधेयस्य भूयस्त्वेऽपि आधारस्य ततोऽपि भूयस्त्वम् ॥२६७॥

आं वेद्मि यस्यां प्रतिरोमकूपं ब्रह्माण्डभाण्डानि समुल्लसन्ति।

तस्यां तनौ ते न ममौ मुकुन्द, तस्याः समालोक महोत्सवोऽयम्।

अत्राधार भूयस्त्वेऽपि आधेयस्य ततोऽपि भूयस्त्वम् ॥२६८॥

अपकार्य्यपकारार्थमसामर्थ्येन तत् प्रियम्।

हिनस्ति यत्तदीयोक्तिः प्रत्यनीकं स्तवो यदि॥

अपकारिणोऽपकारासामर्थ्येन तत् प्रियस्य योऽपकारस्तदुक्तिः स्तवरूपा यदि भवति, तदा प्रत्यनीकम् ॥२६९॥

यथा—माधुर्य्यमादाय तवाननेन, कलङ्कसारो विहितः शशाङ्कः।

तेनैष राधे तव वल्लभत्वादसन्निधाने तव मां हिनस्ति ॥२७०॥

भवति, तदा—अधिक नामालङ्कारः ॥२६६॥

अत्राधेयस्य श्रीकृष्णस्य, आधारस्य आधिक्यं मनसः ॥२६७॥

पूर्वरागानन्तरं श्रीराधया सह मिलनाज्जातं श्रीकृष्णस्यात्युत्सवं दृष्ट्वा पौर्णमासी सपरिहासमाह-आमिति। हे मुकुन्द ! तस्यां तव तनौ तस्या राधाया दर्शने जन्य महोत्सवो न ममौ स्थातुमवकाशं न लभते इत्यर्थः ॥२६८॥

अपकर्त्तुरपकारासामर्थ्येन तत् प्रियस्य यत्रापकारवर्णनम्, एवं तदुक्तिस्तद् वर्णनरूपोक्तिः स्तवरूपा भवति चेत्तदा प्रत्यनीकनामालङ्कारः ॥२६९॥

परमानन्दस्यन्दनक्रिया विरुद्ध हुई है ॥२६५॥

आधेय आधार के प्रतियोगी द्वय भी यदि इस से भी अधिक व्यापक होते हैं, तो अधिक नामक अलङ्कार होता है ॥२६६॥

क्रमिक उदाहरण—हे सुभ्रु ! तुम्हारे अन्तःकरण का विशालत्व क्या विस्मयकर नहीं है ? त्रिलोक में भी जिसका परिमाण नहीं होता है, वही त्रिलोकी तिलक रमापति उस अन्तःकरण में परिमित होकर हैं। यहाँ आधेय का अनेक विस्तार होने पर भी आधार की विपुलता उससे अधिक हुई है ॥२६७॥

हे मुकुन्द ! मैं समझ गई हूँ, तुम्हारे शरीर के प्रतिरोम कूप में अनन्त ब्रह्माण्ड विराजित हैं, वहाँ आज राधावलोकन जनित विपुल महोत्सव स्थान प्राप्त करने में असमर्थ है।

यहाँ आधार का बाहुल्य होने पर भी आधेय को ततोऽधिक विपुलता हुई है ॥२६८॥

अपकारि व्यक्ति का अपकार करण में असामर्थ्य हेतु उसके प्रिय व्यक्ति का यदि अपकार करण वर्णित होता है, एवं उक्त वर्णन यदि स्तव रूप होता है, तो वह प्रत्यनीक अलङ्कार होता है ॥२६९॥

तुल्येन लक्ष्मणाऽस्तोकेनान्यद् यदि निगूह्यते ।
सहजेनेतरेणापि तन्मीलितमपि द्विधा ॥

एकेन वस्तुनान्यद् वस्तु यदि तुल्येन अस्तोकेन चिह्नेन निगूह्यते, सहजेन स्वाभाविकेनेतरेणागन्तुकेन वा, मीलित नामालङ्कारः ॥२७१॥

क्रमेणोदाहरणे—स्वतश्चपले लोहिते सुमुखि राधिके ते दृशौ

गतं सहज सालसं प्रकृतिमन्दमन्दं स्मितम्
स्वभावि मृदु वक्रता-ललितमर्धमर्धं वचो,
मदश्च मदनश्च वा मधुमदश्च कलक्ष्यतीमम् ? ॥२७२॥

सञ्जातकम्पोत् पुलकां हिमागमे, स्नानोत्थितां कृष्णदृगन्त पातिनीम् ।
शीतार्दिता भाववती नु वेत्ति तां विज्ञापि न ज्ञातवती सखी सखी-
पूर्वत्र सहजमुत्तरत्रागन्तुकम् ॥२७३॥

हे राधे ! तवाननेन चन्द्रस्य माधुर्यमादाय चन्द्रः कलङ्कसारो विहित, कुतस्तेन हेतुनैष चन्द्र स्तव प्रियत्वान्मां तवासन्निधाने हिनस्ति, विच्छेद चन्द्रस्योद्दीपकत्वेन पीडाकरत्वं ज्ञ यमिति भावः ॥२७०॥

एकेनास्तोकेन महता तुल्येन चिह्नेन । कथम्भूतेन ? स्वाभाविकेन, अथवा, आगन्तुकेन, अन्यद् वस्तु निगूह्यते संवरणं क्रियते यदि, तदा स मीलित नामालङ्कारः ॥२७१॥

हे राधे ! तव नेत्रं स्वभावत चञ्चलं, तथा आरक्तञ्च भवति । एवं मत्तता जन्यमपि नेत्रस्य तद्द्वयं भवति । अतस्तव मदो यौवन मत्तता मदनः कन्दर्प विकारः मधुमदो मधुपान जन्यमत्तता, तथा चैतत्त्रयं को लक्षयतामित्यर्थः । अत्र च स्वभाव सिद्धेन महता नेत्रस्य चाञ्चल्येनारुण्येन च यौवन मत्ततादि जन्यं त्रयं संवृतं अभूत । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् । गतं गमनं स्वभावादेव तव मृदुता कदाचिद् वक्रता च, मत्तस्याप्येवं भवति ॥२७२॥

श्रीकृष्णे दृगन्त पातिनीम् । तथैव च स्नानादुत्थिता श्रीराधा यदा श्रीकृष्णं पश्यति, तदा द्विविधः

उदाहरण—हे राधे ! तुम्हारे वदन मण्डल-शशाङ्क के समग्र माधुर्य से प्रेहपूर्वक उसको कलङ्क सार किया है: उस हेतु वह शशाङ्क तुम्हारे असन्निधान में तुम्हारे प्रिय होने के कारण मुझ को अत्यन्त व्यथित कर रहा है ॥२७०॥

स्वाभाविक अथवा आगन्तुक, सदृश एवं अस्पष्ट चिह्न के द्वारा एक वस्तु के द्वारा यदि अन्य वस्तु निगूहित होती है. तो मीलित नामक अलङ्कार होता है ॥२७१॥

क्रमशः उदाहरण—अयि राधिके ! तुम्हारे नयन युगल स्वभावतः चञ्चल एवं लोहित हैं, गमन, सहज सुन्दर है, हास्य स्वभावतः मृदुमन्द है, वाणी भी प्रकृति सुकुमार, वक्रता ललित एवं असंयुक्त उच्चारित है । अत हे सुमुखि ! सखि ! तुम्हारे यौवनमद, मधुमद एवं मदन—कौन इन सब को लक्ष्य करने में समर्थ होगा ? ॥२७२॥

स्थाप्यते खण्ड्यते वापि पूर्वं पूर्वं परेण यत् ।
विशेषणतया वस्तु सा द्विधैकावली भवेत् ॥

परेण परेणेत्यर्थः ॥२७४॥

क्रमेणोदाहरणे— यस्यां रजन्यः समणि-प्रदीपा, मणि प्रदीपाश्च रतेऽप्यहार्याः ।
रतञ्च कृष्णप्रणयैकसारं, कृष्णश्च सर्वास्ववलासु तुल्यः ॥

अत्र स्थापनम् ॥२७५॥

प्रीति र्न सा प्रैति न या परं, जनु-र्न तज्जनुर्यन्न महाकुलोद्भवम् ।
महाकुलं तच्च न यत्र वैष्णवं, न वैष्णवः सोऽपि न यो व्रज प्रियः ॥

अत्र खण्डनम् ॥२७६॥

कम्पो जातः । किन्तु स्नानादुत्थितेन आगन्तुकेन कम्पेन श्रीकृष्ण दर्शन जन्य कम्प आवृतो बभूव अतः परम विज्ञापि सखी किमपि न ज्ञातवती ॥२७३॥

यदि परेण परेण विशेषणेन पूर्वं पूर्वं वस्तु स्थाप्यते, कि वा खण्ड्यते तत्रैकावली—नामालङ्कारः ॥२७४॥

यस्यां पूर्यां रात्रौ मणि प्रदीपाः सदा तिष्ठन्ति, अतस्तेषां नायिका कर्त्तृक निर्वाणा सामर्थ्यात् रतेऽपि रमणसमयेऽपि अहार्य्यं निर्वाणं कर्त्तुमशक्याः । रमणञ्च श्रीकृष्णेन सह प्रणयैक मूलम्, न तु कामोपाधिकम् ॥२७५॥

या अपरं स्वभिन्न जीव मात्रं न प्रैति, न व्याप्नोति, सा प्रीतिरेव न भवति । तथा च स्वस्मिन्नेव सर्वे प्रीतिं कुर्वन्ति । अतः सा प्रीतिरेव न भवतीति भावः । तज्जन्मैव न, यज्जन्म यन्महाकुलमवैष्णवं वैष्णव-सम्बन्धि न भवति न स वैष्णवोऽपि व्रजो प्रियोयस्य तथाभूतो न भवति ॥२७६॥

स्नानोत्थिता एवं तदनन्तर श्रीकृष्ण के लोचन गोचर में निपतिता होकर श्रीराधा कम्प एवं रोमाञ्च परिव्याप्ता हो गई । किन्तु वह शीतातुरा अथवा भाववती होकर उक्त कम्प एवं रोमाञ्च से अन्विता हो गई है, विज्ञा सखी भी उसको जानने में समर्थ नहीं हुई । यहाँ प्रथमोदाहरण में चिह्न सहज हैं, द्वितीय उदाहरण में आगन्तुक है ॥२७३॥

यदि उत्तरोत्तर विशेषण के द्वारा पूर्व पूर्व वस्तु स्थापित वा खण्डित होती हैं तो तादृशस्थल में एकावली अलङ्कार होता है, उक्त एकावली अलङ्कार द्विविध है ।२७४॥

क्रमिक उदाहरण— रजनी में जो नगरी मणिमय प्रदीप से शोभिता होती है, मणिमय प्रदीप पुञ्ज सुरतसमय में निर्वापण के अयोग्य होते हैं । उक्त सुरत समूह भी कृष्ण प्रणय सर्वस्व हैं, श्रीकृष्ण भी समस्त प्रणयिणी में तुल्य दृश्य होते हैं ॥२७५॥

जिस जन्म में निज शरीरवत् अपर के प्रति प्रीति न हो वह प्रीति ही नहीं है, जो जन्म महाकुल में गृहीत नहीं होता है, वह जन्म ही नहीं है । जो महाकुल सम्भूत व्यक्ति विष्णु परायण नहीं है, वह महाकुल ही नहीं है, एवं वह व्यक्ति विष्णु परायण नहीं है जो व्रजप्रिय नहीं है ।

यहाँ उदाहरण द्वय में प्रथम स्थापन एवं द्वितीय में खण्डन हुआ है ॥२७६॥

पूर्वानुभूय स्मरणं तत्समाने विलोकिते ।

स्मरणम्, ॥२७७॥

उदाहरणम्—विशकलमेकमदता, विलोलदीर्घंरथाङ्गयुगलेन ।

छिन्नार्धं हारराधा स्तन घंटयोः स्मारितः कृष्णः ॥२७८॥

भ्रान्तिमां स्तद्धीर तस्मिन् साम्यभाजि यत् ॥

साम्यं सादृश्यम् ॥२७९॥

यथा—तापिञ्छद्रुममञ्जरीति नखरै श्छित्वा श्रुतौ कुर्वते

यां काश्चित् कबरीभरे कुवलयश्रेणीति यां काश्चन ।

गाहन्ते कुलसुभ्रुवोऽपि यमुनाबन्येति यामङ्गने

कृष्णस्य व्रज रञ्जनी जयति सा तेजस्तरङ्गावलिः ॥२८०॥

यथा वा—पृष्ठे मणीन्द्रमहसि प्रतिबिम्बमेव, केशस्य केशपरिशेष इति भ्रमेण ।

उल्लासयन्त्य सकृदङ्गुलिपल्लवेन, सा व्यग्रधीरजनि केशव केशबन्धे ।२८१।

यत्र तत्सादृश्य वस्तु दर्शनात् तस्य स्मरणं भवति, तत्र स्मरणनामालङ्कारः ॥२७७॥

एकं विसशकलं मृणाल खण्डमवता भोजनं कुर्वता चक्र वाक् द्वयेन छिन्नार्धं हार विशिष्टयो राधास्तन घटयोः श्रीकृष्णः स्मारितः । अत्र स्मरणार्थक धातु योगे कर्मणि षष्ठी । अत्र मृणाल खण्ड दर्शनेन छिन्नार्ध हारस्य स्मरणं चक्रवाकद्वय दर्शनेन स्तनद्वय स्मरणं ज्ञेयम् ॥२७८॥

अतस्मिन् तद्भिन्ने अथच तत् सदृशे वस्तुनि यत्र तस्य बुद्धिस्तत्र भ्रान्तिमानलङ्कारः ॥२७९॥

श्रीकृष्णस्य तेजोरूप नद्या दूरदेश व्यापिनी तरङ्गा श्चलिजंयति यां तेजस्तरङ्गावलिं काश्चिद् व्रजस्त्रिय स्तमाल वृक्षस्य मञ्जरीति बुद्धया कर्णे कुर्वते, काश्चित् नीलोत्पलश्रेणीति बुद्धया काश्चिद् यमुनाया वन्या जल समूह इति बुद्धया स्व स्वाङ्गने एव गाहन्ते, अवगाहन्ते स्नानं कुर्वन्ति ॥२८०॥

सा व्रज सुन्दरी श्रीकृष्णस्य केश बन्धने कर्मणि व्यग्रधीरजनि । व्यग्रत्वे कारणमाह-मणीन्द्र इन्द्र

सदृश वस्तु विलोकन से पूर्वानुभूत पदार्थका स्मरण होने से स्मरण नामक अलङ्कार होता है ।२७७।

उदाहरण—चक्र वाक युगल सुदीर्घ एवं सुचञ्चल मृणालखण्ड भक्षण कर रहे हैं, यह देखकर श्रीकृष्ण के अन्तः करण में छिन्नार्द्ध हारधारी राधापयोधर युगल का स्मरण हुआ ॥२७८॥

सादृश्य हेतु अतद् वस्तु में तद् वस्तु बुद्धि होने पर भ्रान्तिमान् अलङ्कार होता है ॥२७९॥

उदाहरण—श्रीकृष्ण की वह व्रजरञ्जन कारिणी, दिगन्त व्यापिनी श्रीदेहदीप्ति लहरी, जिसको तमालतरु के तरुण पल्लव मानकर गोपी ने नखर के द्वारा छेदन करके कर्णावतंस किया, किसी गोपी ने कबरी में स्थापन करने के निमित्त उद्यम किया, कतिपय गोपीने यमुना जल राशि भ्रम से अङ्गन में अवगाहन स्नान करने का उपक्रम किया, वह इस त्रिलोक में अतुल उत्कर्ष को प्राप्त करे ॥२८०॥

उपमानस्य धिक्कार उपमेयस्तुतौ यदि ।
प्रतीपमुपमानस्य धिक्कृत्यै चोपमेयता ॥

उपमेयस्तुत्यर्थमुपमानधिक्कारो यदि, तदा प्रतीपम्, यदि वा धिक्कारायैव उपमानस्यैवोपमेयता, तदा चेति द्विविधम् ॥२८२॥

क्रमेणोदाहरणे—

तव जयति जगत्यां राधिके भ्रू विभङ्गे, किमिति कुसुमचापश्चायमन्यं विभर्त्ति ।
विलसति मुखविम्बे वेधसा वा किमर्थं, व्यरचि विधु विधाने निष्फलोऽयं प्रयासः ।२८३।
वरतनु ननु कृष्णो हन्तवैदग्ध्यमुग्ध शिव शिव भुवि भद्रे । भद्र भावेऽनभिज्ञः,
तव विगतकलङ्केनाननेन योऽयं शशिनमुपमिमीते नैवलज्जां करोति ।।२८४।।

मम वदनमेव नयनानन्दकमिति माकृथाः सुतनु गर्वम् ।

नीलमणि स्तद्वन्महस्तेजो यस्य तथाभूते पृष्ठे केशस्य प्रतिबिम्बमेव केशस्य परिशेषोऽग्रभागः इति भ्रमेणास कुतूहलासु यन्ती ऊर्ध्वं नयन्ती ॥२८१॥

तवेति । हे राधिके ! तव भ्रू विभङ्गे चापे विजयति सति किमर्थं कुसुमचापः कन्दर्पोऽयं चायं धनुर्बिभर्ति । अत्र राधिकाया भ्रू चापस्य स्तुत्यर्थं कन्दर्पचापरूपोपमानस्य धिक्कारः कृष्णेन कृतः। विधात्रा किमर्थं चन्द्र निर्माणेऽति निष्फलप्रयासो व्यरचि चक्रे ? अत्राप्युपमानस्य धिक्कारः ॥२८३॥

हे वरतनु राधे ! वैदग्ध्येन रहितो योऽयं श्रीकृष्णस्तव विगत कलङ्केन मुखेनचन्द्रमुपमिमीते न तु लज्जां करोति । तथा च तवमुखमुपमानं कृत्वा चन्द्रमुपमेयं करोतीत्यर्थः सर्वत्र मुखस्योपमानरूपश्चन्द्रः अत्र तु तस्य निन्दार्थं स उपमेयः कृतः ॥२८४॥

उदाहरण—इन्द्रनीलमणि प्रभ पृष्ठ देश में निपतित केश प्रतिबिम्ब को देखकर वह केश राशि का ही अग्रभाग है, यह मानकर वजाङ्गनाने आग्रहवती होकर अङ्गुलि बल से उठाकर केशव के उक्त केश कलाप को बन्धन करना आरम्भ किया ॥२८१॥

उपमेय के प्रशंसार्थ यदि उपमान को तिरस्कार किया जाय, अथवा तिरस्कार के अभिप्राय से उपमान को ही उपमेय रूप में कल्पना की जाय तो उस उस स्थल में प्रतीप नामक अलङ्कार होता है। वह द्विविध है ॥२८२॥

क्रमिक उदाहरण—हे राधिके ! तुम्हारे भ्रू भङ्ग भुवनमें विद्यमान रहते कुसुम शरासन क्यों कुसुम-शरासन को धारण करते हैं? एवं तुम्हारे मुखमण्डल विद्यमान रहते विधाताने क्यों विधु विधान में वृथा प्रयास परम्परा को स्वीकार किया ? ॥२८३॥

अयि वरतनु ! श्रीकृष्ण वैदग्ध्य विहीन एवं वस्तु के उत्कर्षापकर्ष विज्ञान में नितान्त अनभिज्ञ हैं, देखो, कलङ्क शून्य तुम्हारे मुख मण्डल के सहित कलङ्क पूर्ण पूर्णचन्द्र की उपमा देते हैं, एवं उससे लज्जित नहीं होते हैं ॥२८४॥

अपरोऽपि कश्चिदेवं, राकायां शरदि शीतांशुः ॥२८५॥

अहमेव दारुणतम, इति माकुरु कालकूट गुरुगर्वम् ।

त्वत्तोऽपि दारुणतमो दुर्लभलोके मनोरागः ॥

इत्याद्यपि तद् भेदान्तर्गतम् ॥२८६॥

प्रस्तुतस्याप्रस्तुतेन गुणैकत्व-विवक्षया।
ऐक्यं निबध्यते योगाद् यत् सामान्यं तदिष्यते ॥२८७॥

यथा–राधे तडिद् गौरि तवैष गण्डयोः, कर्णान्तलम्बीनवकेतकीच्छदः ।

न सौरभेणापि गतो विभिन्नतां, मधुव्रतेनैव विविच्य बोधितः ॥२८८॥

हे सुतनु ! शरत् काले राकायां पूर्णिमायां शीतांशुश्चन्द्रः, अतिशयोक्तिरेषा श्रीकृष्णे ।२८५॥

हे कालकूट ! अत्यन्तदुःखदत्वेन दारुणतमत्वाधिकगर्वम् । दुर्लभलोके श्रीकृष्णे । इत्यादि पद्य द्वयोक्तमुदाहरणमपि तद् भेदान्तर्गतं प्रतीप भेदान्तर्गतम् ॥२८६॥

यत्र प्रस्तुतस्या प्रस्तुतेन सह योगादगुणेनकरणेनैकत्वविवक्षयैक्यं निबध्यते वर्ण्यते, तत्र सामान्य नामालङ्कारः ॥२८७॥

हे तडिद् गौरि राधे ! तव गण्डयुग्मकर्णप्रान्तलम्बी नूतन कर्णक केतकीपत्रच्छदः पत्रम् । गण्ड केतकी पत्रयोरुभयोः सुगन्धत्वेन सौरभेणापि केतकीच्छदो भिन्नतां न प्राप्तः, किन्तु भ्रमरेणैव गण्डस्थलात् केतकी पत्रं भिन्नमिति विविच्य बोधितः, तथा च पूर्वानुभूते कर्णोत्पले पतितुमागतो भ्रमरः पश्चात् कर्णस्थ केतकी पत्र गन्धेनान्धः सन् पलायितः, तद्दृष्ट्वा सर्वेषामिदं केतकी पत्रमिति ज्ञानं जातमिति भावः, केतकी गन्धो भ्रमरस्यासह्य इति सर्वत्र प्रसिद्धः ।

अत्र प्रस्तुतस्य गण्डस्थलस्याप्रस्तुतेनागन्तुकेन केतकी पत्रेण सह योगात् पीतवर्ण—रूपगुणेनैकत्व विवक्षयैक्यं वर्णितम्, अतः सामान्य अलङ्कारः ॥२८८॥

हे सुतनु ! मदीय वचन ही सब नयनों का आतङ्क स्वरूप है, यह समझ कर गर्व न करना, और भी एक पदार्थ नयनानन्द कर है, वह है— शरत् कालीन पूर्णिमा के चन्द्रमा ॥२८५॥

"इस जगत् में मैं ही दारुणतम हूँ" हे कालकूट ! तुम इस प्रकार गर्व न करो । दुर्लभ जन श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग तुम से भी अधिक दारुणतम है ।

ये सब पद्य भी प्रतीप भेद के अन्तर्गत हैं ॥२८६॥

अप्रस्तुत के सहित प्रस्तुत के गुण के द्वारा एकत्व विवक्षा से जो ऐक्य वर्णित होता है, उसको सामान्य अलङ्कार कहते हैं ॥२८७॥

उदाहरण—हे विद्युद् दाम गौरि, श्रीराधिके ! तुम्हारे कर्णान्त विलम्बी जो कनक केतकी दल गण्ड युगल में विराजित है, वह वर्ण, सौरभ से गण्डस्थल से भिन्न नहीं है, किन्तु केवल भ्रमर ही उसके भेद की उपलब्धि करके असह्य गन्धातिशय से पलायन परायण होकर सब को उस भेद को समझा देता है ।२८८।

यथा वा— द्विरद रदन कलप्ते चारुपर्य्यङ्कराजे
कृतकशिपुनि तल्पे मल्लिका पत्रिकाभिः ।
शशिमहसि निदाघे प्राङ्गणे निर्वितानै,
जयति निरवलम्ब-स्वापशालीव कृष्णः ॥२८६॥

आधारस्य प्रसिद्धस्याभावेऽप्याधेय दर्शनम् ।
एकस्य युगपद् वृत्तिरनेकत्र स्वरूपतः ॥२६०॥
एकस्यैवातिचित्रस्य वस्तुनः करणेन हि ।
तत् सामान्यान्य वस्तूणां करणं स भवेत् त्रिधा ॥२६१॥
विशेषः ॥२६२॥

येन प्रयत्नेन चित्र वस्तु करणारम्भ स्तेनैव प्रयत्नेन तथाविधोऽशक्य वस्त्वन्तर मप्यारभत इति केचित् ।

क्रमेणोदाहरणानि—लोकान्तरान्तः सुहृदां गतानां, गिरश्च रूपाणि च केलयश्च ।
तथैव सन्तीह सुहृज्जनानां, मनस्यहो सौहृद ते प्रभावः ।

निदाघ- काले शशिनश्चन्द्रस्य श्वेतकिरणयुक्ते एवं निर्विताने उपरि चन्द्रातप रहिते प्राङ्गणे श्वेततल्पे श्रीकृष्णो जयति । कथम्भूतः ? चन्द्रिका प्राङ्गण शय्यानां सर्वासां श्वेतत्वेनैकधानिरवलम्बः स्वापशालीव, तथा च सर्वेषां श्वेतत्वेन रदनादीनां विशेष ज्ञानाभावात् श्रीकृष्णः शून्यप्रदेशे स्वपितीति बुध्यत इत्यर्थः । तल्पस्य श्वेतत्वमाह—द्विरदस्य हस्तिनः श्वेत दन्तेन -कलप्ते पुनश्च मल्लिकायाश्च श्वेत पुष्पैः कृतः कशिपुस्तूलिका यत्र तथाभूते ॥२८६॥

विशेष इति—विशेष नामालङ्कार इत्यर्थः । केचिदिति—केषाञ्चिन्मते येन प्रयत्नेनेत्यादि लक्षणाक्रान्तस्तृतीय विशेष नामालङ्कार इत्यर्थः ॥२६०—२६२॥

लोकान्तरान्तः परलोक मध्ये गतानां सुहृदां वाक्य रूपादयः सुहृज्जनानां मनसि तथैव विद्यमानत्वेनैव

उदाहरण – विशद शशि किरणोज्ज्वल निदाधकाल में निर्वितान- प्राङ्गण में, द्विरद-दन्त-रचित, मल्लिकादल से विचित्रित सुचारु पर्यङ्कोपरि श्रीहरि को शयान देख कर बोध होता है कि— आप अवलम्बन शून्य शून्योपरि ही शयन करते हैं ॥२८६॥

प्रसिद्ध आधार के अभाव से भी यदि आधेयका दर्शन होता है, अथवा एक वस्तु की अनेक स्थान में समकाल में स्वरूप में अवस्थिति होती है, किं वा किसी विचित्र वस्तु के करण के द्वारा यदि तत् साधारण अन्य वस्तु समूह का करण होता है, तो उक्त तीन स्थलों में त्रिविध विशेष नामक अलङ्कार होते हैं ॥२६०--२६२॥

अत्र प्रसिद्ध आधारः सुहृदेव, तदभावेऽपि आधेयानां रूपादीनां स्थितिः, नायं विरोधः; पूर्ववदेक-विषयत्वाभावात् ॥२६३॥

द्वितीयो यथा—राधाग्रतश्च परतोऽपि च पार्श्वतश्च, श्रोत्रे च चक्षुषि च वाचि च मानसे च।
केनाध्वनैष मदनो हृदिमे प्रविश्य, मां हन्ति हन्त किमियं न निराचकार ॥

अत्रैकस्यैव वस्तुनो युगपदेवानेकत्रस्थितिः ॥२६४॥

तृतीयो यथा—आनन्द निधिरमृतं, ह्रीः श्रीविद्या धृतिः पुष्टिः।

अनुकूलेन हि विधिना, त्वां ददता हन्त किं मे न दत्तम्? 'करणेन' इति करण मत्र क्रिया मात्रम्, न तु निर्म्माणमेव। तेन प्रतिकूलेन हि विधिना त्वां हरता हन्त किं हृतम्। अति निपुणेन हि विधिना, त्वां सृजता भुवि न किं सृष्टम्?" इत्यादीन्यपि। सर्वत्र चैवं

सन्ति। हे सौहृद! हे प्रेम! तवायं प्रभावः। अत्र विरोधालङ्कारो न सम्भवति, —एकस्मिन्नेवाधिकरणे सुहृज्जनमनसाञ्च भिन्नत्वाच्च न दोषः ॥२६३॥

मम सर्वेन्द्रियेषु राधा वर्त्तते, अतः इयं राधा कथं मदनं न निराचकार? अत्र वक्रोक्तिरपि ज्ञेया ॥२६४॥

अनुकूलेन विधिना मह्यं त्वां ददता किं न दत्तम्? अपितु आनन्द पद्म निधि प्रभृति सर्वमेव वस्तु मह्यं दत्तमित्यर्थः अत्र लक्षणस्थ करणेन हि पदेन क्रिया सामान्यमेव सम् न तु निर्म्माण मात्रम्। एवं सति अत्राद्भुत वस्तुनो दानक्रियया तत् सामान्यस्यैव दान क्रिया सिद्धिः। एवञ्च त्वां हरतेत्यनेन तद्धरण क्रियया सर्वेषां हरण क्रिया सिद्धिः।

ननु त्रिविधविशेषालङ्कारस्थले सर्वत्र वक्रोक्ति नामालङ्कार एव सम्भवति, किमत्र स्वतन्त्रालङ्कार

क्रमशः उदाहरण—लोकान्तर प्राप्त सुहृद वृन्दके वाक्य, रूप, एवं केलि विलासादि पूर्ववत् अविकल भाव से तदीय सुहृज्जन के अन्तः करण में रहते है। हे सौहार्द्द! हे प्रेम! तुम्हारा प्रभाव कैसा विचित्र है। यहाँ सुहृद ही प्रसिद्ध आधार है, किन्तु उसका अभाव होने पर भी आधेयस्वरूप तदीय रूपादि की अवस्थिति हुई है। यहाँ विरोध अलङ्कार है, नहीं कहा जा सकता है। कारण—यहाँ पूर्ववत् एकाधिकरण का अभाव है ॥२६३॥

द्वितीय निदर्शन—श्रीराधा, अग्र में पार्श्व में, श्रवण, नयन वाक्य एवं मन में सर्वत्र ही विराजित है, अथच कन्दर्प किस पथ से मदीय हृदय में प्रविष्ट होकर प्रहार कर रहा है। राधा जानकर भी प्रतीकार नहीं करती है।

यहाँ एक वस्तु की युगपत् अनेक स्थलों में अवस्थिति है। यहाँ वक्रोक्ति भी है। जानना होगा ॥२६४॥

तृतीय का उदाहरण—अयि राधे! तुम आनन्द, निधि,-अमृत, ह्री, श्री, विद्या, धृति, एवं पुष्टि स्वरूप हो, अतएव अनुकूल विधाताने तुमको मुझे देकर क्या नहीं दिया है?

इस में 'किसी विचित्र वस्तु के करण के द्वारा' इस स्थल में करण पद का जो उल्लेख है, उसका अर्थ क्रियामात्र है, केवल निर्म्माण उसका अर्थ नहीं है। अतएव प्रतिकूल विधाता ने तुम को हरण करके मेरा क्या नहीं हरण किया है? अति निपुण विधाता ने तुम को सृष्टि करके भूतल में क्या नहीं सृष्टि की

विधेषु स्थलेषु वक्रोक्ति रेवान्तर्भूता। तथापि किञ्चिद् वैलक्षण्यमाश्रित्य भेदः क्रियते। वस्तुतस्तु सर्वेष्वेवालङ्कारेषु वक्रोक्तिरेव वैचित्र्य कारिणी। यथोक्तम् "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्" इति ॥२९५॥

अन्यश्चोक्तम्— "वक्रोक्तिरेव काव्यानां सर्वालङ्कार भाजिका।
तस्मादेषा प्रयत्नेन सम्पाद्या कविपुङ्गवैः ॥" २९६॥

स्वगुणं त्यक्त्वा प्रगुणस्य समीपगम्।
तस्यैव गुणमादत्ते यद्वस्तु स्यात् स तद्गुणः ॥२९७॥

बिम्बाधरोष्ठमहसा समुदित्वरेण, वर्णान्तरे लसति दाडिमवीजबुद्ध्या।
नासावलम्बि गजमौक्तिकमुल्लिलेख, खेलाशुकः करमुपेत्य स राधिकायाः ॥२९८॥

न गृह्यते यदि गुणस्तस्य स स्यादतद्गुणः ॥२९९॥

करणेनेति ? तत्राह—सर्वेति । तथापि किञ्चिद् वैलक्षण्यं स्वीकृत्य विशेषालङ्कारः कृतः । अधुना वक्रोक्त्यलङ्कारः सर्वेष्वेवालङ्कारेषु वर्तते, अतोऽत्र न दोषः इत्याह वस्तुतस्त्विति ॥२९५॥

कविपुङ्गवैः—कविश्रेष्ठैः ॥२९६॥

प्रकृष्ट गुणस्य पदार्थस्य समीपगं वस्तु तस्यैव प्रकृष्ट गुण पदार्थस्यैव गुण मादत्ते ॥२९७॥

समुदित्वरेण सम्यगुदय शीलेन बिम्बाधिरोष्ठयोर्महसा कान्त्या राधिकाया नासिकालम्बि गजमौक्तिके वर्णान्तरे लसति सति खेलाशुको गृह पालितो शुको मौक्तिक मुल्लिलेख, स्वचञ्च्वा उल्लिखितं चकारेत्यर्थः ॥२९८-२९९॥

है ? इत्यादि उदाहरण उक्त सूत्र के अनुसार सिद्ध होगा। यहाँ वक्रोक्ति अन्तर्भूत है।

तथापि किञ्चित् वैलक्षण्य स्वीकार करके विशेषालङ्कारादि कल्पित स्वीकृत हुआ है। वस्तुतः समस्त अलङ्कार में ही वक्रोक्ति वैचित्र्य विधायिनी है।

पण्डित वृन्द के मत में वक्रोक्ति ही काव्य का जीवन स्वरूप है ॥२९५॥

अपर व्यक्ति के मत में वक्रोक्ति ही सर्वालङ्कार भाजिका है। अतएव सुकविकुल प्रयत्न पूर्वक उसका समावेश सम्पादन करें ॥२९६॥

गुणातिशय शाली वस्तु के समीपवर्ती होकर किसी वस्तु उक्त वस्तु का गुण ग्रहण करती है तो तद्गुण अलङ्कार होता है ॥२९७॥

उदाहरण—नासाग्र विलम्बी गज मौक्तिक, पक्व बिम्बाभ अधरोष्ठ से उद्गत सुरक्त प्रभा छटा से रक्तिमा प्राप्त होने पर क्रीडाशुक में उसके प्रति परिणत दाडिम बीज बुद्धि उदित होने से वह सत्वर श्रीराधा के कर से उपस्थित होकर चञ्चुपुट के द्वारा उस का स्पर्श करने लगा ॥२९८॥

उत्कृष्ट गुण शालि वस्तु के सन्निहित होकर भी यदि किसी वस्तु उसका गुण ग्रहण नहीं करती है

यथा—सदानुरक्ते मनसीह वर्त्तसे, तथापि च त्वं न दधासि रक्तताम् ।
सदानुषक्तं त्वयि नाथ कृष्ण हे, मनोऽपि नैव विभर्त्ति कृष्णताम् ॥३००॥

यथा वा—क्षीरोदधि-जठर भवः, सहजन्मा कालकूटस्य ।
तदपि च न सितो न शितिः, कौस्तुभ एवोऽस्वभावतोरक्तः ॥३०१॥

यद्वस्तु साधितं येन करणेन तदन्यथा ।
तेनैव यदि तस्य स्यात्तदा व्याघात इष्यते ॥३०२॥

यथा—सन्तापयामास य एव चित्तं, स एव भूयः शिशिरीचकार ।
न कालकूटो न सुधातरङ्गः, स कीदृशः केशिकृषः कटाक्षः ॥३०३॥

भक्तानामनुरक्ते मनसि सदा त्वं वर्त्तसे, तथापि रक्ततां न दधासि, किन्तु श्यामत्वमेव । तथा त्वयि सदासक्तं मम मनस्त्वदीय कृष्णतां न बिभर्त्ति, किन्तु रक्तत्वमेव ॥३००॥

क्षीर समुद्र जठर भवः कौस्तुभो न सितो न श्वेतवर्णः, तथा कालकूटस्य सह जन्मापि न शितिः—न श्यामः, किन्तु स्वभावतोरक्त एव ॥३०१॥

येनैव करणेन यद् वस्तु साधितं भवति, तेनैव करणेन तस्यान्यथाभावः स्याद् यदि, तदा व्याघात-नामालङ्कारः ॥३०२॥

कालकूटो वस्तु सामान्यं सन्तापयति, न शीतलीकरोति, तथा सुधातरङ्गोऽपि शीतलीकरोति न संतापयति । किन्तु य एव चित्तं सन्तापयामास, स एव भूयः शीतलीचकार । एवम्भूतः स कीदृशः पदार्थ इति प्रश्ने केशिकृषः केशिहन्तुः श्रीकृष्णस्य कटाक्ष इत्युत्तरम् ॥३०३॥

तो उसको अतद् गुण अलङ्कार कहते हैं ॥२९९॥

उदाहरण—हे नाथ श्रीकृष्ण ! तुम सतत इस अनुरक्तचित्त में रहते हो, तथापि तो रक्तभाव को धारण नहीं करते हो, एवं चित्त भी सतत तुम्हारे में आसक्त है, तथापि वह तो कुछ भी कृष्ण भावको प्राप्त नहीं किया ॥३००॥

निदर्शन—कौस्तुभमणि धवलोज्ज्वल क्षीरोद समुद्र के जठर से उत्पन्न हुआ है, एवं विकट कालकूट के सहित सहोदर भाव से सदा सम्पर्कान्वित है, तथापि वह धवल वा श्यामल कुछ नहीं हुआ है, वह स्वभावतः जिस प्रकार सुरक्त है, उसी प्रकार सुरक्त ही है ॥३०१॥

जिस के द्वारा जो वस्तु साधित होती है, उसके ही द्वारा यदि उस वस्तु का अन्यथा भाव साधित होता है, तो उसको व्याघात अलङ्कार कहते हैं ॥३०२॥

उदाहरण—जिसने चित्त को सन्तापित किया था, उसीने पुनर्वार उसी को इस प्रकार सुशीतल किया । हे सखि ! केशव के कटाक्ष जो किस प्रकार गुण सम्पन्न है, वह समझने में नहीं आता, वह कालकूट भी नहीं है, सुधा तरङ्ग भी नहीं है ॥३०३॥

उपमादय एतेऽमी व्याघातान्ताः क्रमेण हि।
द्विषष्टि संख्या एवैतेऽलङ्कारा बहवः पुनः॥३०४॥
संसृष्ट्या सङ्करेणापि भूयः संसृष्टिरप्यसौ।
क्रिया शब्दार्थोभयभूः सा क्रमेण प्रदर्श्यते।

शब्दः शब्दालङ्कारः, अर्थोऽर्थालङ्कारः, उभयं शब्दार्थालङ्कारः। एते भूयः क्रिया प्रधाना इत्यर्थः। एतेषामन्योन्य निरपेक्षत्वेन विशकलिततया अवस्थानं संसृष्टिः।

तत्र शब्दालङ्कार संसृष्टिर्यथा—(सप्तम किरणे ३६) (सुरतरुः) इत्यादौ यमकानुप्रासयोः संसृष्टिः ॥३०५॥

अर्थालङ्कार संसृष्टि यथा—

आलुम्पतीव परीतो मनसः प्रसादमालुञ्चतीव पदवीं नयनद्वयस्य।
उद्वेलकज्जल महोदधि वद् गभीरो, मोहान्धकार इव मोह इवान्धकारः।

अत्रोत्प्रेक्षा, समासगाऽन्योन्योपमाभिः संसृष्टिः ॥३०६॥

एते द्विषष्टि संख्या अलङ्कारा: पुनः संसृष्ट्या सङ्करेण च करणेन बहवो भवन्ति। असौ संसृष्टिरपि शब्दालङ्कारभूरर्थालङ्कारभूः शब्दार्थोभयालङ्कारभूस्त्रिरूपा संसृष्टिः क्रिया प्रधानेत्यर्थः। सा संसृष्टिः क्रमेण प्रदर्श्यते। संसृष्टे लक्षणमाह- एतेषामिति। नतानां भक्तानां सुरतरुः कल्प वृक्षः गोपरमणीनां सुरते रुचिर्यस्य तथाभूतः। अत्र सुरत शब्दस्य सापेक्षत्वेनैकदेशान्वयेऽपि न क्षतिः ॥३०४–३०५॥

उद्वेल उद्गत तीरमर्यादः कज्जल महोदधिः, श्याम समुद्रस्तद्वद् गभीर मोहान्धकारश्च, तथा च मोहोऽन्धकार इव, एवमन्धकारो मोह, इव, परस्परोपमालङ्कारः, मोहो विषयेऽत्यासक्ति रन्धकारश्च, मनसः प्रसादं लुम्पतीव। मोहे सति मनसः प्रसाद लोपो भवति, तथान्धकारेऽपि चौर सर्प वृश्चिकाद्यागमन शङ्कया मनसः प्रसन्नता न तिष्ठति।

उपमादि व्याघातान्त ये द्विषष्टि संख्यक अलङ्कार का वर्णन क्रमशः हुआ। संसृष्टि एवं सङ्कर द्वारा उक्त अलङ्कार अनेक प्रकार हैं। शब्दालङ्कार भू, अर्थालङ्कार भू एवं शब्दार्थोभयालङ्कार भू होकर संसृष्टि विविध प्रकार होती हैं, उक्त संसृष्टि–क्रिया प्रधान है, अलङ्कार समूह परस्पर निरपेक्ष रूपसे सम्मिलित होने के कारण--उस की संज्ञा संसृष्टि होती है। शब्दालङ्कार संसृष्टि का उदाहरण--सप्तम किरण के ३६ श्लोक में है। "प्रणत जनके पक्ष में सुरतरु स्वरूप, गोपतरुणी के सुरत रुचिशाली, त्रिभुवन जनक कमनीय आभीर राज युवराज की जय हो।

यहाँ यमक एवं अनुप्रास की संसृष्टि हुई है ॥३०४--३०५॥

अर्थालङ्कार संसृष्टि का निदर्शन "उद्वेल कज्जल महासमुद्र के समान सुगभीर मोह रूप अन्धकार एवं तादृश अन्धकार के समान सुगभीर मोह सब प्रकारसे मनःप्रसाद का अपहरण कर रहा है। एवं नयन

शब्दार्थालङ्कारयोः संसृष्टि र्यथा—

(पञ्चम किरणे २२) 'मेघे माधवनेमणावपि' इति । अत्रानुप्रासविरोधौ ॥३०७॥

सङ्करस्त्वङ्गाङ्गि भावः,

एषामलङ्कारानामङ्गाङ्गिभावः सङ्करः ॥३०७॥

स चानुग्राह्यानुग्राहक भावेन । यथा—

कपोलयोः कुण्डल पद्मराग--मयूखबिम्बं व्रजराजसूनोः ।
स्वचुम्बलग्नाधररागबुद्ध्या, स्ववाससा लुम्पति कापि मुग्धा ॥

अत्र तद् गुणोऽङ्गी, भ्रान्तिमानङ्गम्; उभयो रनुग्राहकानुग्राह्य भावेन सङ्करः ॥३०८॥

एवं नेत्र द्वयस्य पदवी मालुम्पतीव । अन्धकारे नेत्रद्वयस्य पदवी लोपाज्जनोऽन्धो भवति, तथा मोहे सति विषयेण जनोऽन्धः सन् पुरः सतोऽपि साधून न पश्यति, कंदर्पेण युमममपि न पश्यतीति भावः ३०६॥

मेघे इत्यादि पूर्वोक्त सम्पूर्ण श्लोकस्यार्ध श्लोकोऽयमिति ज्ञेयम् । मघवा इन्द्रस्तु सम्बन्धि मणौ इन्द्र नीलमणौ घृणाजनकः श्रीकृष्ण नीलिमा । अनुप्रासः शब्दालङ्कारः ॥३०७॥

स च सङ्करोऽनुग्राह्यानुग्राहक भावेन भवति—कपोलेति । कुण्डलस्य पद्मरागस्य रश्मिमानं कपोलौ गृह्णात्यतस्तद् गुण नामालङ्कारः, तादृशरश्मिन मुग्धायाः स्वीयाधररागस्य भ्रान्त्या भ्रान्तिमानलङ्कारः ॥३०८॥

युगल की पदवी को विलुप्त कर रहा है ।

यहाँ समासगा उत्प्रेक्षा एव अन्योन्योपमा की संसृष्टि हुई है ॥३०६॥

शब्दालङ्कार एवं अर्थालङ्कार संसृष्टि का दृष्टान्त—हे सखि ! यह कैसा विचित्र है ? अन्धकार एवं तेज:—ये दो परस्पर विरुद्ध पदार्थ यह श्रीकृष्ण रूप एकमात्र अधिकरण में एक समय में अवस्थान कर रहे हैं, देखो, इनकी अद्भुत नीलिमा असंख्य सुधाकर एवं प्रभाकर की प्रभा को अपहरण पूर्वक एवं मेघमण्डल एवं महेन्द्र नीलमणि में भी घृणा उत्पादन पूर्वक लोक लोचन के अपूर्व प्रीति विस्तारकारी आलोक रूप में विराजित है । यहाँ उत्प्रेक्षा समासगा—अन्योन्य-उपमा के द्वारा संसृष्टि हुई है ।

मेघे माधवते मणावपि घृणानिर्वाहको नीलिमा ।
सामानाधिकरण्यमत्र किमहो चित्रं तमस्तेजसोः ॥

यहाँ अनुप्रास एवं विरोधालङ्कार का समावेश हुआ है ॥३०७॥

ये सब अलङ्कार के अङ्गाङ्गि भाव को सङ्कर कहते हैं ॥३०७॥

वह सङ्कर अनुग्राह्यानुग्राहक भावस्थल में ही होता है । निदर्शन—व्रजराज कुमार के कपोल युगल में कुण्डलस्थित पद्मराग मणि की किरणच्छटा प्रतिफलित होने से किसी मुग्धा कामिनी निज चुम्बन लग्न अधर राग मानकर वसन के द्वारा अपनीत करने का प्रयत्न करे रही थी ।

यहाँ तद्गुण अङ्गी, एवं भ्रान्तिमान् अङ्ग है, एतदुभय के अनुग्राह्य अनुग्राहक भावसे सङ्कर हुआ है ॥३०८॥

यथा वा—निरस्य करलीलयातिमिरनील चेलाञ्चलीं,

रथाङ्ग मिथुनस्तनावपि निपीड्य जातस्मितः।

ह्रियेव निमिषत् कुशेशय दृशं स रागां प्रियः।

प्रियामिव सुधाकरो हरि हरिद्वधूं चुम्बति ॥

अत्र रूपकमुत्प्रेक्षा, श्लेष, उपमा, समुच्चयश्चेति परस्परमङ्गाङ्गि तयैव पञ्चालङ्कारा:। तथाहि तिमिरस्य नीलचेलत्वारोपाद्रूपकम्, ह्रियेवेत्युत्प्रेक्षा, करलीलयेति श्लेषः, प्रियप्रियामिवेत्युपमा, निरस्य निपीड्येति समुच्चयः। एषु यो मुख्यः, सोऽङ्गी अन्ये अङ्गानि।

एवं शब्दालङ्कार पक्षेऽपि यथा (सप्तम किरणे ६६) 'ससार सारससारसा'—इत्यादौ यमकानुप्रासद्व्यक्षरमुरजबन्धगोमुत्रिकाबन्ध-बन्ध कवाट-शृङ्खलादयः ॥३०९॥

बहूनां वा द्वयोश्च वा।

सहावस्थानबाधेन भवेन्नो वेत्यनिश्चये।

सङ्करोऽनिश्चयाख्यः स्याद् यथास्थानं प्रदर्श्यते ॥

द्वयो बहूनां वा अलङ्काराणां सहावस्थानबाधेनायं भवेन्न वा भवेदित्यनिश्चयेऽनिश्चयाख्यो द्वितीयः सङ्करः ॥३१०॥

सुधाकरश्चन्द्रः, हरेरिन्द्रस्य, हरित् पूर्वदिक्, सा एव वधूस्तां चुम्बति। अन्यो नायको मस्तकस्य पटं दूरीकृत्य चुम्बति, चन्द्रोऽपि सन्ध्याकालीनान्धकाररूप नील चेलाञ्चलीं, किरण एव करस्तस्य लीलया निरस्य दूरीकृत्य चुम्बति। पूर्वदिक् स्थित चक्रवाक मिथुन रूपस्तनावपि कर स्पर्शेन निपीड्य जातस्मितः, ज्योत्स्नैव चन्द्रस्य स्मितम्। अन्या नायिका चुम्बन समये मुद्रित नेत्रा भवति, इयमपि चन्द्रदर्शनान्मुद्रितं कुशेशयं कमलमेव, लज्जया मुद्रितादृक् यस्यास्तथाभूता ॥३०९–३१०॥

उदाहरणान्तर—करलीला से तिमिर रूप सुनील वसनाञ्चल निरास एवं चक्रवाक मिथुनरूप पयोधर युगल को निपीड़न पूर्वक सुधाकर, प्रियतम जिस प्रकार प्रियतमा को चुम्बन करता है, उसी प्रकार लज्जा हेतु जैसे निमीलितानयन कमला सरागा प्राचीवधू को परिचुम्बन करता है।

यहाँ रूपक, उत्प्रेक्षा, श्लेष, उपमा एवं समुच्चय अलङ्कारों का परस्पर अङ्गाङ्गि भाव से सङ्कर हुआ है।

तिमिर का आरोप नील वसन रूप में होने के कारण—रूपक, "लज्जा हेतु जैसे" यहाँ उत्प्रेक्षा, "प्रियतम जिस प्रकार प्रियतमा" को यहाँ उपमा, "निरास एवं निपीड़न पूर्वक" यहाँ समुच्चय है। इन सब के मध्य में जो मुख्य है, वही अङ्गी है, अन्यान्य अङ्ग हैं।

शब्दालङ्कारस्थल में भी उसी प्रकार है। जैसे "ससार सारससारसा" इत्यादि मूलस्थ श्लोक में यमक, अनुप्रास, द्व्यक्षर, मुरज बन्ध, गोमुत्रिकाबन्ध, बन्धकवाट, मुक्तकवाट एवं शृङ्खलादि का

यथा स्यान्नन्दस्यन्दी दृशि दृशि यथायं बहुकलो

यथा नक्षत्राणां प्रतिरपि यथा तापहरणः ।

यथायं भानोरप्युपरि परिवर्त्ती कथमहो

तथा नायं धात्रा विधुरनिशपूर्णो विरचितः ।

अत्र विशेषणस्य प्रस्तुतस्य चन्द्रस्य श्लिष्टैरेव विशेषणैरप्रस्तुतस्य कस्यचिद्धर्मस्य प्रतीति रूपा किं समासोक्तिः, किं वा तस्यैव चन्द्रस्याप्रस्तुतस्य प्रशंसनमुखेन कस्यचित् साधो स्तथाविधस्य कस्यचित् क्षीणतादि धर्मस्य प्रस्तुतत्वप्रत्यायिन्यप्रस्तुतप्रशंसेति—निश्चयाभावादनिश्चयसङ्करः । यत्रानुकूलता प्रतिकूलता वा स्फुटतया स्फुरति, तत्र निश्चयात् ॥३११॥

अनुकूलता साधकत्वम्, प्रतिकूलता बाधकत्वं यथा इदं ते रदन द्योतैरेतैरुपचितं स्मितम् । ज्योत्स्नेव मुखचन्द्रस्य काममामोदकं दृशोः ॥

आनन्दस्यन्दीति । अयं चन्द्रः सर्वेषां दृशि दृशि आनन्दस्यन्दी, तथा बहु कलायुक्तः । एवं भानोः सूर्यस्याप्युपरि परिभ्रमण कर्त्ता, सूर्यमण्डलस्योपरि चन्द्रमण्डलमिति प्रसिद्धम् । एवम्भूतोऽपि चन्द्रो विधात्रा सदा परिपूर्णो न कृतः ।

श्लिष्टैरेते विशेषणैश्चन्द्रनिष्ठस्याप्रस्तुतस्य तस्य कस्यचिद् धर्म विशेषस्य प्रतीत्या किं समासोक्ति नामालङ्कारः; किं वा तस्यैव चन्द्रनिष्ठ तादृशधर्म प्रतीत्यैव तथा विधस्य चन्द्रनिष्ठ तादृश धर्म विशिष्टस्य साधोर्देह निष्ठ क्षीणत्वादि धर्मस्य प्रस्तुतस्य प्रतीत्या अप्रस्तुत प्रशंसेति निश्चया भावादनिश्चय सङ्करो ज्ञेयः ।

यत्रेति—यत्र साधकता किंवा प्रतिकूलता स्फुटतया स्फुरति, तत्र एकतरालङ्कारस्य निश्चयात्

अनिश्चय सङ्कर: ॥३११॥

एतैरेव रदनद्यो तैं दन्तकिरणै रुपचितं शोभातिशयं प्राप्तं स्मितं दृशो रामोद जनकम् । मुख चन्द्रस्य

सङ्कर हुआ है ॥३१०॥

दो अथवा अनेक अलङ्कारों का एकत्र अवस्थान में बाधा हेतु यह अलङ्कार होगा, अथवा नहीं होगा, इस प्रकार अनिश्चय स्थल में अनिश्चय नामक द्वितीय सङ्कर होता है ॥३१०॥

उदाहरण—जैसे यह प्रतिमयनी से प्रीति धारा वर्षण कारी एवं सन्ताप हारी, बहु कलाशाली एवं अति बहु संख्यक नक्षत्र पति, जैसे भानुबिम्ब के ऊपर यह परि भ्रमण करता रहता है, विधाता ने तैसे इस सुचारु चन्द्रमण्डल को निरन्तर परिपूर्ण मण्डल करके सृजन नहीं किया ।

इस श्लोक में विशेष्य एवं प्रस्तुत जो, चन्द्र मण्डल है, उसके श्लिष्ट विशेषण समूह के द्वारा किसी अप्रस्तुत धर्म की प्रतीति रूपा समासोक्ति हुई है ।

अथवा चन्द्र मण्डल गत तादृश धर्म प्रतीति हेतु अप्रस्तुत चन्द्र की प्रशंसा द्वारा तादृश धर्म विशिष्ट किसी साधु के देहादि निष्ठ क्षीणतादि धर्म का कथन से अप्रस्तुत प्रशंसा हुई है ।

इसका निश्चय न होने के कारण अनिश्चय सङ्कर हुआ है ॥३११॥

अत्र प्रधानतया स्मितं मुख एवानुकूलम्, नतु चन्द्रे, तेनोपमायाः साधकम्, न रूपकस्य अतो मुखचन्द्रस्येति रूपकं न भवति तेन न सन्देहः, तदभावात् सङ्करोऽपि न ॥३१२॥

अहो वत महत्यस्य धृष्टताऽभीरुतापि च।
मुख चन्द्रे सत्ययं ते यदन्यश्चन्द्र उद्गतः ॥

अत्रान्यत्वं चन्द्रस्यानुकूलम्, नतु मुखस्य, तस्य तु प्रतिकूलमेव। तेन रूपकस्य साधकम्, नतु उपमायाः, तस्यास्तु बाधकम्।

"शास्त्रज्ञ भास्करं संज्ञा त्वामालिङ्गति सर्वदा" इत्यत्रालिङ्गनमुपमा बाधकम्। न हि सती स्त्री पतिसदृशेऽनुरज्यति। अतो रूपकस्यैव साधकम् ॥३१३॥

ज्योत्स्ना इव—
यत्रोपमानोपमेययोर्द्वयोरतिशयाभेदाद् भेद ज्ञानं न भवति, तत्र रूपकालङ्कारः। तत्र तु प्रधान तया निर्दिष्टः स्मित रूप धर्मोऽनुकूलतया मुख एव वर्त्तते, नतु चन्द्रे। अतः स्मितं रूप धर्मेण मुख चन्द्रयो भेद ज्ञानान्न रूपकम्, किन्त्वेकांशेन यथाकथञ्चित् साहश्यादुपमालङ्कार एव ॥३१२॥

अस्य चन्द्रस्याभीरुतापि च तव मुखरूपे चन्द्रे सत्यत्र मुखचन्द्रयोर्भेदास्फूर्त्या रूपकालङ्कार एव। अन्योमुख भिन्न श्चन्द्र उद्गत इत्यत्र मुखचन्द्रयोरत्यन्ताभेदान्न सादृश्यम्, अतो नोपमालङ्कारः। संज्ञा—सम्यग् ज्ञानरूपा स्त्री, शास्त्रज्ञ रूपं भास्करं सूर्यं त्वामालिङ्गति। अत शास्त्रज्ञ सूर्ययो रूपकमेव न तूपमा। शास्त्रज्ञ रूप पति सदृशे सती स्त्रीणामालिङ्गनमनुचितमिति सादृश्याभावान्नोपमालङ्कारः ॥३१३॥

जहाँ पर अनुकूलता वा प्रतिकूलता अर्थात् साधक वा बाधक धर्म परिस्फुट रूप से स्फुरित होता है, वहाँ उक्त अलङ्कार नहीं होता है।

उदाहरण—तुम्हारी दन्तकान्ति से उपचित यह मृदुस्मित मुखचन्द्र - ज्योत्स्ना के समान नयनों को प्रचुर आनन्द दायक हुआ है।

यहाँ प्रधान रूप में निर्दिष्ट हास्य मुख का ही अनुकूल है, चन्द्र का अनुकूल नहीं है, अतएव उपमा का ही साधक हुआ है, रूपक का साधक नहीं हुआ है। इस रीति से मुखचन्द्र स्थल में रूपक न होने से सन्देह नहीं हुआ है, एवं सङ्कर भी नहीं हुआ है ॥३१२॥

तुम्हारे मुखचन्द्र विद्यमान होने पर अपर एक चन्द्र उदित हुआ है, यह इसकी धृष्टता एवं निर्भीकता प्रशंसनीय है।

यहाँ अन्य चन्द्र का अनुकूल है, मुख का अनुकूल नहीं है, वस्तुत उसका प्रतिकूल है। अतएव वह यहाँ रूपक का ही साधक है एवं उपमा का बाधक हुआ है। "तुम शास्त्रज्ञ भास्कर हो, संज्ञा तुमको सर्वदा आलिङ्गन करके है ॥"

संज्ञा शब्द से सम्यक् ज्ञान एवं सूर्य प्रिया का बोध होता है। शास्त्रज्ञ भास्कर—यहाँ आलिङ्गन पदार्थ उपमा का बाधक है, कारण, सती स्त्री पति तुल्य पुरुष में अनुरक्त नहीं होती है। अतः वह रूपक का ही साधक हुआ है ॥३१३॥

कृशोदरि मुखेन्दुस्ते स्फुरत् कनककुण्डलः ।
दृशोरकृशमानन्दमुल्लासयति मे भृशम् ।

अत्र स्फुरत् कनककुण्डलत्वमिन्दौ प्रतिकूलम्, असम्भवात् इति रूपकस्य बाधकम्, उपमायास्तु साधकमिति न सङ्करः । एवमन्यदप्यूह्यम् ॥३१४॥

एकत्र विषये व्यक्तमुभयालङ्कृति र्यदि ।
तदापरः सङ्करः स्यादिति त्रिविध एव सः ॥

एकत्र विषये एकस्मिन्नेव पदे व्यक्तं स्फुटं यथा भवति ॥३१५॥

यथा—शैवाललक्षण विलक्षण लक्ष्म लक्ष्मीरुद्दण्डरश्मिबिसमण्डलमण्डयमानः ।
मग्नश्चिरं हरि हरित् सरसीरसेभ्यः, प्रत्युन्ममज्जशशनकैरमृतांशु हंसः ।

अत्र, रूपकानुप्रासावेकपदविषयौ, नतु संसृष्टिवत् पृथग्विषयौ । इति त्रिविधः सङ्करः । तेन शब्दालङ्कारोऽर्थालङ्कार उभयालङ्कारश्च संसृष्टि सङ्करत्वेन बहुविधा भवन्ति ॥३१६॥

अकृशमानन्दं—महानन्दम्" ॥३१४॥

सन्ध्या काले पूर्वदिशः सकाशादुद्गच्छन्तं चन्द्रं वर्णयति—शैवालेति हरि हरित्—पूर्वदिक् सैव सरसी तस्या रसेभ्यो जलेभ्य श्चन्द्ररूपो हंस उन्ममज्ज । आदौ चिरं कालं व्याप्य सरोवर जले निमग्नः, पश्चात्तस्मादुद्गत इत्यर्थः ।

अन्यो हंसः शैवाल मृणालाभ्यां शोभितः सन् सरोवरादुद्गच्छति, अयन्तु शैवाल मृणालाभ्यां शोभितः सन् सरोवरादुगच्छति, अयन्तु शैवाल लक्षणं शैवाल-स्वरूपं विलक्षण लक्ष्म चन्द्रनिष्ठ कलङ्क रूप चिह्नः तस्य लक्ष्मीः शोभा यस्य तथाभूतः । एवमुद्दण्ड रश्मय एव बिसमण्डलं मृणाल समूहस्तेन मण्डयमानश्चन्द्रः ॥३१६॥

हे कृशोदरि ! कनक कुण्डलसे कमनीय तुम्हारे मुखचन्द्र मदीय नयन युगल को आनन्दित करता है ।

इस श्लोक में कनक कुण्डल से कमनीयत्व असम्भवित हेतु चन्द्र में प्रतिकूल होने के कारण रूपक का बाधक एवं उपमा का शोधक हुआ है । अतएव सङ्कर नहीं हुआ है । इस रीति से अन्यान्य उदाहरण भी प्रस्तुत करना चाहिये ॥३१४॥

अपर इति पूर्वोक्त सङ्करात् भिन्नः सङ्कर इति । स सङ्कर स्त्रिविध ॥३१५॥

एक ही पद में यदि दो अलङ्कार परिस्फुट भावसे रहते हैं, तो वह भी एक प्रकार सङ्कर होता है । वह सङ्कर तीन प्रकार होते हैं ॥३१५॥

उदाहरण— अमृतांश हंस बहुक्षण निमग्न रहकर सम्प्रति शैवाल कलङ्क कलित कलेवर एवं उद्दण्ड मरीचि मृणाल मनोहर होकर प्राची सरसी सलिल से शनैः शनैः उन्मज्जन कर रहा है ।

इस श्लोक में एक पद में ही रूपक एवं अनुप्रास हुआ है, संसृष्टि के समान पृथक् पृथक् पद में नहीं

शब्दालङ्कृतयः शुद्धास्त्रिचत्वारिंशदीरिताः (४३) ।
ताः परस्पर संसृष्ट्या तावती गुणनेन हि ॥३१७॥
षड्विन्दु वसुचन्द्रा (१८०६) स्युश्चित्रं चेत्तत्र गण्यते ।
तदा तस्य बहुत्वेऽपि स्यादेकत्वं तेन तद्युतौ ॥३१८॥
मुनिविन्द्विभचन्द्राः (१८०७) स्युः सङ्करेण त्रिधा पुनः ।
चन्द्रपक्षाब्धिबाणाः (५४२१) स्युः शब्दालङ्कार संग्रहे ॥३१९॥
अर्थालङ्कृतयः शुद्धा द्विषष्टि स्तत् प्रभेदतः ।
अश्वनाग शशाङ्काः (१८७) स्यु स्तावता गुणनेन ते ॥३२०॥
इतरेतरसंसृष्ट्या ग्रहर्तु ग्रहसिन्धुभिः ।
युतोऽग्नि (३४९६९) स्ते च पुनः सङ्करेण त्रिरूपिणः ।
अश्वविन्दु ग्रहाम्भोधिविन्दुचन्द्राः (१०४९०७) प्रकीर्तिताः ॥३२१॥
शब्दालङ्कार संसृष्ट्या वाजिसिंधु मतङ्गजः ।
विन्दु वाजीभषड् बाणाः (५६८७०८४७) उभयालङ्कृतिग्रहाः ॥३२२॥

रसवत् प्रेयऊर्जस्वि समाहित समाख्यया ।
रसालङ्कृतयोऽप्यन्याश्चतस्रो रसपोषिकाः ॥

चित्र चित्रमिति । अत्र शब्दालङ्कारे चित्रं चित्र काव्यं चेद् गण्यते, तदा चित्रस्य बहुत्वेऽपि चित्रत्व-रूपेण ऐकध्येन विवक्षितम् । अत एकाङ्कस्य वृद्धिरित्याह—मुनीति ॥३१७–३२२॥
रस वादिति—ते चतस्रो रसालङ्काराः पूर्वोक्त द्विषष्टयलङ्कारेभ्यो भिन्ना ज्ञेयाः । अन्यो रसवत्

हुआ है । इस रीति से त्रिविध सङ्कर का उदाहरण प्रस्तुत हुआ ।

शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार एवं उभयालङ्कार की संसृष्टि एवं सङ्कर के योग से विविध अलङ्कार होते हैं ॥३१६॥

उदाहरण—शुद्ध शब्दालङ्कार ४३ हैं, उसकी पारस्परिक संसृष्टि के द्वारा उक्त संख्यक गुणन से १८०६ होते हैं । चित्र काव्य को यदि शब्दालङ्कार के मध्य में गण्य किया जाय तो बहुत्व स्थल में एकरूप मान लेने पर भी १८०७ होंगे । त्रिविध सङ्कर के द्वारा उसके त्रिगुणन से ५४२१ संख्यक शब्दालङ्कार का संग्रह होता है ।

शुद्ध अर्थालङ्कार ६२ हैं । किन्तु उक्त संख्यक प्रभेद से १८०७ संख्यक होते हैं । परस्पर संसृष्टि के द्वारा उसका तावत् संख्यक गुणन से ३४९६९ होते हैं, पुनः त्रिविध सङ्कर से १०४९०७ होते हैं । शब्दालङ्कार संसृष्टि के सहित मिलित होकर समवाय में ५६८७०८४७ संख्यक होते हैं ॥३१७–३२२॥

जहाँ शब्दालङ्कार एवं अर्थालङ्कार का निर्णय परिस्फुट रूप से नहीं हो पाता है केवल रस सामग्री

यत्र रसे स्फुटतया शब्दालङ्कारोऽर्थालङ्कारो वा निर्णेतुं न शक्यते, केवलं रसस्य सामग्री स्फुरति, तत्र रसालङ्कारा एव बोद्धव्याः। ते च यथायोग्यमेव सम्भवन्ति। शृङ्गारे प्रेय-ऊर्जस्वी, वीर–बीभत्स–रौद्रेषु अन्यान्येषु एतेऽपि सति सम्भवे शब्दार्थालङ्काराभ्यां संसृष्टौ भवन्तीत्यपि ज्ञेयम् ॥३२३॥

अथैषां कथ्यते दोषः

एषां शब्दार्थालङ्काराणाम्–३२४॥

वैफल्यं वृत्त्ययोग्यता।
प्रसिद्धेश्च विरुद्धत्वमनुप्रासे मलत्रयम्॥

मलोदोषः ॥३२५॥

क्रमेणोदाहरणानि—

वृन्दं वृन्दं वादयद् दुन्दुभीनां नन्दद् वृन्दं व्योम्निवृन्दारकाणाम्।
हर्षोत्कर्षान्माकमाकन्दवर्षैः, सान्द्रानन्दं नन्दसूनुं ववन्दे॥

अत्र माकन्द-शब्दो निष्फलः। अत्र च 'हर्षोत् कर्षादिन्दुकुन्द द्युतीनाम्' इति पाठे सर्वेषां देवानां शुक्लत्वमप्रसिद्धम्। तेन 'सीधुस्यन्दानन्दमन्दारवर्षैः' इति न्याय्यः पाठः ॥३२६॥

समाहितो अन्येष्वलङ्कारेषु ज्ञेयो। एतेषामलङ्काराणामुदाहरणे सम्भवे सति एते रसालङ्काराः शब्दार्था-लङ्काराभ्यां सह संसृष्टौ सत्यां बहवो भवन्ति। वैफल्यमपुष्टार्थत्वम्, वृत्त्ययोग्यता प्रतिकूलवर्णन्यासः। प्रसिद्धिविरुद्धत्वं स्पष्टम् ॥३२३–३२५॥

असुर वधानन्तरं देवानां श्रीकृष्णे भक्तिमाह--वृन्दमिति--वृन्दारकाणां देवानां नन्दद् वृन्दं समृद्धिमान् समूहः। देवानां तादृशवृन्दं कीदृशम्? दुन्दुभीनां युगलं युगलं वादयत्, तथा च एवम्भूतं देवानां वृन्दं हर्षोत्कर्षात् नन्दसूनुं ववन्दे। माकन्दानन्द-वर्षैः स्वर्गस्थाम्रफलानां वर्षैः सहेत्य पुष्टार्थत्वेन व्यर्थोऽयं प्रयोगः। इन्दु कुन्द द्युतीनामिति प्रयोगोऽपि सर्वेषां देवानां शुभ्रत्वाप्रसिद्ध्या न सम्भवति, तस्मात् सीधुस्यन्दानन्दमन्दार-वर्षैरिति पाठो न्याय्यः। एवं सति देवैर्यथा दुन्दुभि वादनं कृतम्, एवं वन्दनं कृतम् तथा श्रीकृष्णोपरि पारिजात पुष्पवृष्टिः रचितेति भावः ॥३२६॥

को स्फूर्ति की अनुभूति होती है, वहाँ रसालङ्कार जानना होगा। यथा योग्य स्थान में रसवत् प्रेय, ऊर्जस्वी एवं समाहित नामक रस पोषक चतुर्विध रसालङ्कार होते हैं, उसके मध्य में शृङ्गार में प्रेय, वीर बीभत्स रौद्र में ऊर्जस्वी एवं अन्यान्य रस में अन्य भी होते हैं, शब्दालङ्कार एवं अर्थालङ्कार के सहित संसृष्टि की सम्भावना होने से उसके अनेक भेद होते हैं ॥३२३–३२५॥

क्रमशः उदाहरण—असुर नाश हेतु हर्षोत्कर्ष के कारण वृन्दारक वृन्द,—आकाश मार्ग में युगल युगल दुन्दुभि वादन पूर्वक स्वर्गीय माकन्द वर्षण के सहित सान्द्रानन्द-नन्दनन्दन को वन्दना करने लगे।

वृत्ति विरोधो यथा—

प्रकाण्डभुजं दण्डीऽयं पुण्डरीकेक्षणः क्षणी ।
कुण्डलोद्भासि गण्ड श्रीः स्त्रीमण्डलममण्डयत् ॥

अत्र शृङ्गाररसे या वृत्तिस्तत्राऽयोग्यत्वम् ॥३२७॥

पादत्रयगतत्वेन यमनं यमकस्यतु ।
अप्रयुक्ततया दोषः ॥३२८॥

यथा—राधैव सौभाग्यविधौ समाना न कापि तस्या रमणी समाना ।
मयूख जालेन हि हीरकाणां भवन्ति मुक्तरुचयः समा_नः ॥३२९॥

उपमायान्तु हीनता ।
आधिक्यञ्च भवेज्जाति प्रमाणाभ्यां तदापि सः ॥३३०॥

क्षणीति--क्षणो--वसरस्तद्वान्, तथा च स्त्री मण्डलैः सह विहारे प्राप्तावसर इत्यर्थः । वृत्तिमाधुर्य व्यञ्जक पद न्यासः । अयोग्यत्वमिति--ओजोगुणाह वर्णन्यासात् ॥३२७॥

पादत्रय गतत्वेन यमकस्य यमनमपरमो दोषः । अप्रयुक्ततयेति—केनापि तस्याप्रयुक्तत्वादित्यर्थः ।३२८।

समाना मानसहिता राधैव सौभाग्य विधौ योग्या, सौभाग्याधिक्ये मानस्याप्य धिकत्वम्, अतोऽस्याः सौभाग्यमप्याधिकम्, मानोऽप्यधिकः । तत एवान्या रमणी अस्याः समाना न । तत्र दृष्टान्तः—हीरकाणां किरण जालेन सह मुक्तानां कान्तयः समा न भवन्ति । अत्र निषेधार्थको ना शब्दः ॥३२९॥

जाति प्रमाणाभ्यां उपमाया हीनतायां स दोषः । एवं जाति प्रमाणाभ्यामा धिक्येऽपि सः । तथा

यहाँ आम्रवाचक माकन्द शब्द निरर्थक हुआ है । इस श्लोक में इन्दुकुन्द द्युति वृन्दारक वृन्द इस प्रकार पाठ होने पर प्रसिद्धि विरुद्धता होती है । कारण समस्त देवों की शुक्ल वर्णता अप्रसिद्ध है । उक्त श्लोक में "शीधुस्यन्दी अमन्द मन्दार वर्षण के सहित सान्द्रानन्दनन्दनन्दन की वन्दना करने लगे" इस प्रकार पाठ से किसी प्रकार दोष नहीं होगा ॥३२६॥

वृत्ति विरोध का उदाहरण—प्रकाण्ड भुज दण्डशाली, कुण्डलोद् भासित गण्ड, पुण्डरीकेक्षण,—समुचित अवसर प्राप्त होकर स्त्री मण्डल को मण्डित करने लगे, यहाँ शृङ्गार रसोचित वृत्ति अर्थात् माधुर्य व्यञ्जक पदन्यास न होने के कारण वृत्त्ययोग्यता दोष हुआ है ॥३२७॥

यमक केवल पादत्रय गत होने से अप्रयुक्ततानामक दोष होता है ॥३२८॥

उदाहरण—समाना वा मानान्विता, राधिका ही सौभाग्यांश प्रधाना, अन्या ललना तद्विषयें उनकी समाना नहीं है । उदाहरण—मौक्तिक प्रभा कभी भी हीरक प्रभावली की समता नहीं हो सकती है ॥३२९॥

जाति, प्रमाण एवं धर्म के द्वारा हीनता की आधिक्य स्थल में एवं लिङ्ग, वचन, काल, पुरुष एवं विध्यादि के भेदस्थल में एवं असौम्य एवं असम्भाव्य स्थल में उपमा लङ्कार के अयोग्यता दोष होते हैं।

लिङ्गस्य वचनस्यापि कालस्य पुरुषस्य च ।
विध्यादेरपि भेदे चासाम्यासम्भाव्ययोरपि ॥३३१॥

चकाराद्धर्मं गतापि हीनताऽधिकता चेति त्रयोवशोपमा बोषाः ॥

क्रमेणोदाहरणानि—

'देवोऽयं पुष्पकोदण्डश्चण्डाल इव दारुणः ।' अत्र जात्या हीनता । 'चण्डांशुरिव तापकृत्' इति युक्तम् ।

'इन्दुरेष सुधाबिन्दुरिव सर्वरसायनः ।'—अत्र प्रमाण हीनता । 'इन्दुरेष सुधासिन्धो स्तरङ्गइवरङ्गदः' इति युक्तम् ।

'चण्डाल माखिदस्त्वन्तु भूदेव इव पावनः' अत्र जात्याधिक्यम् ।

'चण्डाल मा खिदस्त्वन्तु विष्णुभक्ततया शुचिः' इति शुद्धम् ॥

स्तनौ ते हिमवद् विन्ध्यौ पावनं मध्यमेतयोः ।
सत्यमेतत् किन्तु भूरि तयो र्नैवाणु चानयोः ॥

अत्र प्रमाणाधिक्यम् ॥३३२॥

पातालमिव नाभिस्ते सत्यं सुमुखि राधिके ।
तस्या उत्थित कालाहि रेव ते लोममञ्जरी ॥

अत्रापि तथा ॥३३३॥

लिङ्गादीनां भेदेऽपि सः । एवमसाम्ये चासम्भाव्ये च बोष इत्यर्थः । पुष्पकोदण्डः कन्दर्पः ॥३३०--३३१॥

तवस्तनौ हिमालयविन्ध्यपर्वताविव । एतयोः पर्वतयोर्मध्यस्थानं पावनमिति सत्यमेव, किन्तु तयोर्मध्यमन्तरं भूरिः अनयोः स्तनयोस्तु अण्वप्यन्तरं नैव । एतेन स्तनयोः परमनैविड्यमायातमिति भावः । "आर्य्यावर्त्तः पुण्य भूमिर्मध्यं विन्ध्यहिमागयोः" इत्यमरः ॥३३२॥

रोममञ्जरी रोमावली । तथा प्रमाणाधिक्यम् ॥३३३॥

मूल में लिखित चकार के द्वारा धर्मगत हीनता एवं अधिकता को भी जानना होगा ॥३३०--३३१॥

क्रमिक उदाहरण—यह देव कुसुमायुध चण्डाल के समान निदारुण है । यहाँ जातिगत हीनता हुई है । चण्डांशु के समान तापकारी है—इस प्रकार प्रयोग होना उचित है ।

यह इन्दु मण्डल, सुधाबिन्दु के समान सब का रसायन है । यहाँ प्रमाण हीनता है । यह "इन्दुमण्डल-सुधासिन्धु की तरङ्ग के समान रङ्ग दायक है" इस प्रकार प्रयोग होने से सुन्दर होता ।

हे चण्डाल ! तुम खिन्न न होना, तुम भी ब्राह्मण के समान पवित्रता कारक हो, यहाँ जाति गत आधिक्यरूप दोष हुआ है ।

हे चण्डाल ! तुम खेद न करना, कारण, विष्णु भक्ति हेतु तुम भी पवित्र हो, इस प्रकार कथन होने

सत्यं कूप इवायं ते राधिके नाभिमण्डलम् ।
रोमराजीरपीयं ते तज्जलोद्धाररज्जुवत् ।।

इति शुद्धम् ।।३३४।।

'कल्पवल्लीव राजन्ते राधासख्यो गुणाधिकाः' इति वचन भेदेऽशुद्धम् । 'कल्पवल्लय इवाभान्ति" इति शुद्धम् ।

'चिन्तामणिरत्नानीव राधे गुणास्ते खञ्जने क्षणे' अत्र लिङ्ग भेदः ।
'चिन्तामणीनां खनिवद्राधे तव गुणावलिः' इति शुद्धम् ।

अजं विशन्नन्दसुतः प्रदोषे, व्रजाङ्गनानां मुदमाततान ।
रथ्यां बलाराति दिगङ्गनायाः, कुमद्वतीनामिव शीतरश्मिः ॥

अत्र काल भेदस्तेनाशुद्धम् । 'व्रजाङ्गनानां भवति प्रमोदी' इति शुद्धम् । "भासि त्वं कल्प वल्लीव सर्वकामफलप्रदा'-अत्र पुरुष भेद स्तेनाशुद्धम् । 'कल्पवल्लीव भवती भाति सर्व फलप्रदा' इति शुद्धम् । 'कृष्णे प्रवहतु प्रीति स्तव गङ्गेव सन्ततम्' इत्यत्र विध्यादिभेदः, तेनाशुद्धम् । 'गङ्गेव प्रवहद्रूपा तव कृष्णे सदा रतिः' इति शुद्धम् । आदि शब्दादनुमतिरपि ।

तस्य कूपस्य जलोद्धाररज्जुवत् । गुणाधिक राधिका सख्यः कल्पवल्लीव अतो वचन भेदः ।३३४। बलाराति दिगङ्गनायाः पूर्व दिशो रथ्यां मार्गं विशन् शीतरश्मिश्चन्द्रो यथा कुमुद्वतीनां मुदमातनोतीति वर्त्तमानकालस्तथा कृष्णोऽपि गोपिकानां मुदमाततानेत्यतीतकाल इति काल भेदः । कल्पवल्ली यथा भाति तथा त्वमपि भासीति मध्यमपुरुषत्वेन कल्पवल्याः प्रथम पुरुषार्हत्वात् पुरुषभेदः । गङ्गा यथा सदा वहति,

---

से शुद्ध होता है ।

उक्त पर्वत द्वय के मध्य भाग पावन होने पर भी वह अत्यन्त विशाल है, किन्तु तुम्हारे स्तन द्वय के मध्य में अणुमात्र भी अवकाश नहीं है । यहाँ प्रमाणाधिक्य हुआ है ।।३३२।।

हे सुमुखि राधिके ! तुम्हारे नाभितल में पाताल के समान निम्न है, एवं उससे लोमावली भी काल सर्प के समान उत्थित हुई है । यहाँ पर भी उक्त दोष हुआ है ।।३३३।।

हे राधिके ! तुम्हारे नाभि मण्डल कूप के समान गभीर एवं उस नाभि के ऊपर रोमावली भी जलोद्धार रज्जु के समान शोभित है । इस प्रकार कथन होने से निर्दोष होता है ।।३३४।।

श्रीराधिका के गुणवती सखी समूह कल्पलता के तुल्य शोभित है, यहाँ वचन भेद से अशुद्ध हुआ है, कल्पलता वली के समान शोभित है, कहने पर निर्दोष होता है ।

हे खञ्जनाक्षि राधिके ! तुम्हारे गुण समूह चिन्तामणि श्रेणी के समान है । यहाँ लिङ्गभेद से दोष हुआ है । हे राधे ! तुम्हारी गुणावली चिन्तामणि श्रेणी की खनि के समान है, इस प्रकार कथन होने से शुद्ध होगा ।

चन्द्रमा पूर्वदिग् में उदित होकर जैसे कुमुदिनी वृन्द को आनन्दित करते हैं, तद्रूप मुकुन्द प्रदोष में

असाम्ये यथा—(काव्यालङ्कारे ४।२।१६) "ग्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थ रश्मिम्" इत्यत्र काव्यशशिनो केनाप्यंशेन साम्यं नास्ति । एवमर्थरश्म्योश्च । ३३५।।

असम्भाव्यं यथा—तवाननाविदं राधे निर्गतं मधुरं वचः ।

। आनन्दयति मे कर्णौ चन्द्राविव मधुक्षरत् ।।

चन्द्रान्मधुक्षरणमसम्भाव्यम्, कर्णयोरपि, मधुत आनन्दकत्वमसम्भाव्यम् । कर्णयोरपि मधुन आनन्दकत्वमसम्भाव्यम् । 'आस्वाद्यत्वमतीवैति पद्मादिव मधुक्षरत्' इति शुद्धम् ।३३६।

धर्म हीनता यथा—स पीतवासाः शिखिपिच्छ मौलि- विलोलहारोऽहरिरत्र काशे ।

तडिल्लताशक्र शरासनाभ्यां, विभूषितो नव्य इवाम्बुवाहः ।।

अत्र 'विलोल हारः' इत्यस्य बलाका रूप धर्म हीनता । तेन "विभूष्यमाणः क्षण रोचिरिन्द्र धनुर्बलाकाभिरिवाम्बुवाहः । "इति युक्तम् ।।३३७।।

तथा-कृष्णे तव प्रीति-र्वहतु,—अविच्छिन्नवानुमति- विभक्तिर्सप- । विततोऽर्थरूपो रश्मिर्यत्र, तथाभूतं काव्य ग्रन्थो ग्रथ्नामि- एवमर्थरश्म्योरपि केनाप्यंशेन साम्यं नास्ति ।।३३५।।

'चन्द्रात् क्षरन्मधु यथा कर्णयोरिति, उपमानस्य मधुत्वेनोपमेयस्य वचसोऽपि मधुत्वमारोपितं भवति । तथा सति मधुनः कर्णानन्दकत्वमसम्भवमित्यर्थः । तद्वचोऽतीव स्वाद्यत्वमेति प्राप्नोति ।।३३६-३३७।।

व्रज मण्डल में प्रविष्ट होकर व्रजाङ्गना गण को आनन्दित करते हैं ।

यहाँ काल भेद से अशुद्ध हुआ है, व्रजाङ्गना गण का प्रमोद वर्द्धन हो रहा है, कहने से शुद्ध होगा ।

कल्पवल्ली जिस प्रकार सर्वकाम फलप्रदा होकर शोभित है, तुम भी उसी प्रकार सर्वकाम फलप्रदा होकर शोभित हो रही हो । यहाँ पुरुष भेद है, अतएव अशुद्ध है । 'कल्पवल्लीव भवती भाति सर्वफलप्रदा इति शुद्धम् । श्रीराधिका कल्पवल्ली के तुल्य सर्वकाम प्रदा होकर शोभित है, इस प्रकार प्रयोग शुद्ध है ।

श्रीकृष्ण में तुम्हारी प्रीति गङ्गा के समान सतत प्रवाहित हो, यहाँ विध्यादि दोष हुआ है । गङ्गा जिस प्रकार अविच्छिन्न प्रवाहा है, कृष्ण पाद पद्म में भी तुम्हारी प्रीति वैसी हो । इस प्रकार कहने से शुद्ध होता है ।

'विध्यादि' यहाँ आदि पद से अनुमति का भी ग्रहण होगा । असादृश्यस्थल का उदाहरण काव्यालङ्कार ग्रन्थ के ४।२।१६ में इस प्रकार है । 'ग्रथ्नामि काव्य शशिनं विततार्थरश्मिम्' जिस की अर्थ रूप रश्मि विस्तृत है, इस प्रकार काव्य चन्द्र का ग्रथन मैं कर रहा हूँ । यहाँ काव्य के सहित चन्द्र का एवं अर्थ के सहित रश्मि का साम्य नहीं है ।।३३५।।

असम्भाव्य का निदर्शन—हे राधे ! चन्द्र मण्डल से क्षरित मधु धारा के समान तुम्हारे मुख निर्गत मधुर वाक्यपरम्परा मदीय कर्णयुगल को आनन्दित कर रही है ।

यहाँ चन्द्र से मधु क्षरण असम्भव होने के कारण, दोष हुआ है । पद्म से क्षरित मधु धारा के समान अतीव आस्वाद्य हुआ है । इस प्रकार होने से निर्दोष होगा ।।३३६।।

धर्म हीनता का उदाहरण—इन्द्र धनु एवं विद्युल्लता से विभूषित नवाम्बुवाह के समान शिखिपुच्छ

धर्माधिक्यं यथा—चामीकराभं वसनं वसानः, शिखण्ड चूडो हरिरावभासे ।

विभूष्यमाणः क्षणरोचिरिन्द्र धनुर्वलाकाभिरिवाम्बुवाहः ॥

अत्र वलाकारूप धर्माधिक्यम् ॥३३८॥

सारूप्ये लिङ्ग भेदस्तु न दोषो न च वा गुणः ।

सारूप्यं भिन्नलिङ्गत्वेऽपि एकाकारत्वम् ।।३३९॥

यथा—महारत्नैरिव गुणैः कृष्णरत्नाकरो भवान् ।

तवामृतमिवस्वादु व्याहारं वेद्मि राधिके ।।३४०॥

उत्प्रेक्षायां यथा शब्दः ।

दुष्ट इत्यर्थः । यथा शब्दस्य केवलं साधर्म्यमात्रपर्यवसायित्वादवाचकत्वमुत्प्रेक्षायाः । तस्यास्तु 'नूनं' 'मन्ये' 'ध्रुवम्' इत्यादयो वाचकाः ॥३४१॥

विद्युदिन्द्रधनुर्भ्यां भूषितो मेघ इव । अत्र श्रीकृष्ण निष्ठ विलोल हार रूपोपमेयस्योपमारूपस्य मेघनिष्ठ वलाकाधर्म हीनत्वाद्धर्म हीनता । क्षणरोचि विद्युत्, वलाका वकपंक्तिः, चामीकराभं सुवर्णाभम् ।

अत्रोपमेये श्रीकृष्णे विलोलहार-पदाभावात्, उपमायां वलाकारूप धर्मस्य सत्त्वाच्च धर्माधिक्यं ज्ञेयम् ॥३३८--३३९॥

हे कृष्ण ! महारत्नैरिव गुणैर्भवान् रत्नाकरः, अत्र रत्न शब्दोन पुंसकलिङ्गः, गुण शब्द पुलिङ्ग । तथापि तृतीयायां पुंनपुंसकयोरेकरूपत्वाद् रत्नै गुणैरित्येकाकारत्वम् । हे राधे ! तव व्याहारं वचन ममृतमिव स्वादुमहं वेद्मि । अत्रामृत शब्दो नपुंसक लिङ्गः, व्याहार—शब्दः पुंलिङ्ग । तथापि द्वितीयायाममृतं व्याहारमित्येकाकारत्वम् ॥३४०॥

यथेति यथा—शब्दः केवलं साधर्म्यमात्र वाचकः, नतूत्प्रेक्षावाचकः । तस्यास्तु उत्प्रेक्षायास्तु ।३४१।

मौलि, विलोलहारशोली वह पीताम्बर परम शोभित हैं।

यहाँ विलोल हार का उपमान भूत वलाका रूप धर्म न होने के कारण--धर्म हीनता हुई है । "इन्द्र धनु" विद्युल्लता एवं वलाकावली विभूषित नवाम्बुवाह के समान" इस प्रकार होने से शुद्ध होगा ॥३३७॥

धर्माधिक्य का उदाहरण—सुवर्ण वर्ण वसन परिधान पूर्वक वह शिखि पुच्छ शेखर श्यामसुन्दर, इन्द्र धनुः, विद्युल्लता एवं वलाकावली से विभूषित नवाम्बुदवाह के समान शोभित हुये थे ।

यहाँ वलाका रूप धर्म का आधिक्य हुआ है ॥३३८॥

भिन्न लिङ्ग होने पर भी समान रूपता स्थल में उसका दोष वा गुण नहीं होता है ॥३३९॥

उदाहरण—हे कृष्ण महारत्न के समान असंख्य गुण के द्वारा तुम रत्नाकर सदृश हो । हे राधिके ! तुम्हारी उक्ति अमृत के समान स्वादु है ॥३४०॥

उत्प्रेक्षालङ्कार में—यथा शब्द प्रयोग दोषावह है । कारण, यथा शब्द का केवल साधर्म्य

उदाहरणम् – चित्ते द्रवति तोयेन पूर्य्यते नयन द्वयम् ।
प्रियायोश्चित्तनयने संवादचतुरे यथा ॥

अत्र यथा–शब्द उत्प्रेक्षाया अवाचकः । तेन 'संवाद चतुरे इव' 'संवाद चतुरे ध्रुवम्' इति वा शुद्धम् ॥३४२॥

एवमन्येऽपि सूक्ष्मतः ॥

एवमन्येऽपि सूक्षतमा अलङ्कारदोषा सन्ति, तेषां केचिदग्रे दोष विवरणे दर्शयिष्यन्ते ।३४३।

इति श्रीमदलङ्कारकौस्तुभे अर्थालङ्कार निरूपणो नाम अष्टमः किरणः ॥८॥

चित्ते द्रवति सति नयनद्वयं जलेन पूर्यते । अतः प्रियाप्रिययोश्चित्त नयने संवाद चतुरे इव । तथा च यथा प्रीत्यापन्नयोः संवाद चतुरयोर्मध्ये एकस्यानन्दं ज्ञात्वा अन्यो हृष्टो भवति, तथा चित्तस्य द्रौत्यं ज्ञात्वा नयनं जलपूर्णं भवतीत्यर्थः ॥३४२--३४३॥

इति सुबोधिन्यामष्टमः किरणः ८

पर्य्यवसायिता हेतु वह उत्प्रेक्षा वाचक नहीं हो सकता है । नूनं, मन्ये, ध्रुवं इत्यादि शब्द ही उत्प्रेक्षा वाचक है ॥३४१॥

चित्त द्रवित होने पर नयन युगल भी वारि पूर्ण होते हैं । प्रिया के चित्त एवं नयन जैसे परस्पर संवाद निपुण हैं ।

यहाँ मूल श्लोक में यथा शब्द के परिवर्त्त में इव, ध्रुव, इत्यादि शब्द विन्यास करने से ही शुद्ध प्रयोग होता है । इस प्रकार और भी अलङ्कार-दोष सूक्ष्म रूप में होता है, उस का प्रदर्शन अग्रवर्त्ती दोष प्रकरण में होगा ॥३४३--३४३॥

इति अलङ्कारकौस्तुभे श्रीहरिदासशास्त्रि कृतानुवादे अर्थालङ्कार
निरूपणो नाम अष्टमः किरणः ॥८॥



नवमः किरणः

अथ रीतिनिर्णयः

अथ (प्रथमकिरणे १) सुसंस्थानं रीतिः इति यदुक्तम्, सा किं लक्षणा, कियत् प्रकारा वेति तामेव दर्शयति।

रीतिः स्याद्वर्णविन्यासविशेषो गुणहेतुकः ॥

गुणास्तूक्ताः। वर्ण विन्यासविशेष इति वर्णानां रसानुगुणगुणानुरोधोपाधिकरचना विशेष इत्यर्थः यद्यपिगुणविवेकेनैव सा लक्ष्यते, तथापि तद्विशेषबोधार्थं रीति किरण आरभ्यते ॥१॥

वैदर्भ्यादि-विशेषेण-चतुर्धा सा निगद्यते ॥

सा रीतिः, वैदर्भी, पाञ्चाली, गौड़ी, लाटीति चतुर्विधा। तासां क्रमेण लक्षणमाह ।२।

अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा समस्तगुणभूषिता।

अथ रीतिनिर्णयः

सा रीतिः किं लक्षणेति रीतिलक्षणं किमित्यर्थः, कियत् प्रकारा वेति रीतेः कियन्तः प्रभेदा सम्भवन्तीत्यर्थः प्रथमतो लक्षणमाह— रीतिरिति— गुण हेतुकः गुण व्यञ्जकः।

एतदेवोक्तं गुण किरणे (८।२१) "माधुर्यादीनां व्यञ्जकाः स्यु वर्णाश्च रचना अपि" इति। गुणा माधुर्यौजः प्रसादा गुणकिरणे उक्ताः, वर्णानां रचना विशेषो वर्ण विन्यास विशेषः, रसानामनुकूलोयो माधुर्यादि गुणस्तस्यानुरोध उदयः, स एव उपाधिः प्रयोजनं यस्य तथाभूतो रचना विशेष इत्यर्थः। स रचना विशेषस्तस्य गुणस्य विशेषबोधार्थमित्यर्थः ॥१-२॥

अवृत्तिरिति। वृत्तिः समासस्तद्रहितं केवलासमस्तपदघटित— वर्णनमेवोचितमित्यर्थः।

रीति सुसंस्थान स्वरूप है, इस का कथन पहले हुआ है, उसका लक्षण क्या है? वह कितने प्रकार हैं? उसका विवरण प्रथम किरण में नहीं हुआ है। अधुना उसका वर्णन करते हैं।

यद्यपि गुण विवेचन के द्वारा ही उक्त रचना विशेष का लाभ होता है, तथापि उसका विशेष बोधार्थ यह रीति किरण आरम्भ हुआ। वैदर्भी पाञ्चाली गौड़ी, लाटी भेद से उक्त रीति चतुर्विध हैं, क्रमशः उसके लक्षणों को कहते हैं ॥१--२॥

वैदर्भी, सा तु शृङ्गारे करुणे च प्रशस्यते ॥

समस्त गुणेति गुणास्त्रयो वा दश वा ॥३॥

यथा—आलोकनङ्कुटिलितेन विलोचनेन, सम्भाषणञ्च वचसा मनसाऽर्धमर्धम् ।
लीलामयस्य वपुषः प्रकृतिस्तवेयं राधे क्रमो न मदनस्य न वा मदस्य ॥

अत्रावृत्तिरल्पवृत्तिश्च । इकु–म्भाश्चेति माधुर्य्यव्यञ्जका वर्णाः, अर्धमर्ध मित्योजो व्यञ्जकौ द्वौ, अर्थ वैशद्यं प्रसादः, अनिष्ठुरत्वं सुकुमारता—इत्यादि समस्त गुणाः ॥४॥

न केवलमियं तथाविधवर्णविन्यासाद् वृत्त्यभावाच्च वैदर्भी, अपितु अर्थगतौदार्येणाप्यन्यथा—

मदनेन मदेन चालसो, वनितानि र्जनितातिलालसः ।
अतिमञ्जुनि कुञ्जमन्दिरे, रमतेऽसौ सखि नन्दनन्दनः ॥

इत्यत्राल्पवृत्तित्वात् तथाविधोपाधिगुणत्रयवत्त्वाच्च वैदर्भी यद्यपि, तथापि तथाविधार्थौदार्य्याभावान्न तथा शोभते ॥५॥

अल्पवृत्तिरिति—अल्पपद घटित समास एवोचितः, नतु बहु पद घटित दीर्घवृत्तिरिति भावः। समस्तेति—माधुर्य्योजः प्रसादास्त्रय एव गुणत्वयान्तर्भूता इति गुण किरणे उक्तम् । क्वाति स्वन्मतमालम्ब्य दश गुणा अपि समस्त गुणा इत्यर्थः ॥३॥

हे राधे ! तव वचसा सम्भाषणं तथा मनसा च सम्भाषणमर्धमर्धमेव । इयं प्रकृतः, स्वभाव एव, किन्तु तव मदनमत्तयोः क्रमोनास्ति कुटिलावलोकनादौ तयोः कारणत्वात् ।

अयं भावः—मूर्च्छित जनोऽधरसुधां पाययित्वा जीवयितुमेव योग्यः, नतु कटाक्षशरेण हन्तुम् । एवञ्च तस्य जीवने सति पश्चाल्लीलया कुटिलावलोकनरूपं शरप्रहारे कृतेऽपित्तदोष इति क्रमस्तयो र्नास्तीत्याक्षेप उक्तः ॥४॥

अधुना वैदर्भी लक्षणे अर्थ निष्ठ सौष्ठव वैशिष्ट्यरूप विशेषणान्तरं देयमित्याह—न केवलमिति । स्त्रीभिर्जनिता अतिलालसा यस्य तथाभूतो नन्दनन्दनोऽतिमञ्जुनि मनोज्ञे कुञ्जमन्दिरे न शोभते इत्यर्थः ॥५

समास रहिता वा अल्प समास युक्ता एवं समस्त गुण गुम्फिता रीति का नाम वैदर्भी है। वह शृङ्गार एवं करुण रस में प्रशस्त है गुण त्रिविध हैं, मतान्तर में दशविध हैं ॥३॥

उक्त रीति का उदाहरण यह है—हे राधे ! कुटिलीकृत नयन विलोकन एवं वाक्य एवं मनके द्वारा अर्ध अर्ध सम्भाषण, यह तुम्हारे लीलामय शरीर में प्रकृति सिद्ध हैं, मदन की मद की वह क्रम नहीं है । उदाहरण श्लोक में ङ्क, म्भ, ञ्च,—माधुर्य्य व्यञ्जक वर्ण है. अर्ध अर्ध—ओजो व्यञ्जक वर्ण है, एवं अर्थ वैशद्यरूप प्रसाद एवं अनिष्ठुराक्षरत्वरूप सुकुमारता—इत्यादि समस्त गुण ही विद्यमान है ॥४॥

केवल इस प्रकार वर्ण विन्यास एवं समासाभाव हेतु जो यह वैदर्भी रीति है, यह नहीं; अर्थगत सौदार्य्य भी इस रीति के प्रति कारण है ।

पाकोऽप्यस्याः सहायः स्यादाम्रवार्त्ताकुपाकवत् ॥

अस्या वैदर्भ्याः पाको निर्वाहः । सच द्विविधः–रसालपाको वार्त्ताकुपाकश्चेति । रसाल पाक एव सहायः स्यात्, शोभाकरत्वात्, नेतरः ॥६॥

पूर्वं पूर्वं दशायाश्चेदुत्तरोत्तर-रम्यता ।
तदा रसालपाकः स्याद्विपरीते तदन्यकः ॥७॥

क्रमेणोदाहरणानि—(४र्थ श्लोकः) 'आलोकनङ्कुटिलितेन' इत्यादौ चतुर्थचरणे रसाल पाकः । तत्रैव यदि 'लीलामयस्य वपुषस्तव राधिके यः, कोपक्रमो नु सहजः किमुकृत्रिमो वा ॥' अत्र सत्यामपि वैदर्भ्यां पाकेन वार्त्ताकु पाकता तेनास्या विरसत्वम् । एवं छन्दोऽप्यस्याः सहायतां व्यनक्ति, तच्च वसन्ततिलकोपेन्द्रवज्रादि ॥

रसाल आम्रस्तस्य पाक एवोत्तर काले शोभाकरः, नेतरः न वार्त्ताकुपाकः-वार्त्ताकोः प्रथमदशायामेव सौन्दर्य्यम्, पश्चद्दशायामत्यन्तवैरूप्यात्, स न शोभाकर इत्यर्थः पूर्व पूर्व दशायाः सकाशादुत्तरोत्तर रम्यता सुन्दरता यदि भवति, तदाम्रपाकः स्यात् । विपरीते पूर्वदशात उत्तर दशायामसुन्दरत्वे तदन्यको वार्त्ताकुपाकः । 'राधे क्रमो न मदनस्य नवा मदस्य' इति चतुर्थ चरणे रसालपाकः । यद्येतादृश चतुर्थ चरण स्थाने 'कोपक्रमो नु सहजः किमु कृत्रिमो वा' इति प्रयुज्यते, तदा पूर्व पूर्व-चरणापेक्षया चतुर्थ चरणस्य रमणीयत्वाभावात् तस्य वार्त्ताकुपाकतैव तस्य वार्त्ताकुपाकतया विरसत्वमेव । एवं सति वैदर्भी लक्षणे रसालपाक वैशिष्ट्यमपि विशेषणं देयमिति ज्ञेयम् ।

अन्यथा—हे सखि ! मद एवं मदन वश से अलस एवं वनिता गण कर्त्तृक जनित लालस नन्द नन्दन अति वञ्जुल कुञ्जमन्दिर में रमण कर रहे हैं ।

इस श्लोक में भी अल्पसमास हेतु एवं तथाविध वर्ण विन्यास जनित गुणत्रय सद् भाव हेतु वैदर्भी रिति को स्वीकार करना पड़ता है । किन्तु तथाविध अर्थो दार्य्य के अभाव से वह वैदर्भी तादृश शोभाकरी नहीं है ॥५॥

अतएव पाकको भी उस रीति का सहायक मानना आवश्यक है । पाक दो प्रकार होते हैं, आम्रपाक एवं वार्त्ताकुपाक । शोभाकरत्व हेतु रसालपाक को ही सहायक कहना पड़ेगा वार्त्ताकुपाक नहीं ।

कारण, पूर्व पूर्व दशासे उत्तरोत्तर रमणीयतास्थल में ही प्रथमोक्त पाक होता है, एवं उसके विपरीत स्थल में द्वितीय पाक होता है ॥६–७॥

प्रथमोदाहरण में "यह तुम्हारे लीलामय शरीर में ही प्रकृति सिद्ध है । मदन वा मद का वह क्रम नहीं है " यहाँ "यह तुम्हारा स्वाभाविक कोपक्रम है, अथवा कृत्रिम क्रोपक्रम है ?" इस प्रकार होने पर यद्यपि वैदर्भी रीति को स्वीकार किया जाता है, तथापि वार्त्ताकु पाक दशात उसकी विरसता ही हुई है, इस प्रकार कहना पड़ेगा ।

इस प्रकार वसन्त तिलक, उपेन्द्र वज्रादि छन्द भी वैदर्भी रीति का सहायक होते हैं, "एतानि तानि

यथा (पञ्चम किरणे २०१) "एतानि तानि नलिनी विपिनानि वाप्याम्' इत्यादि, यथा (४र्थ श्लोकः) आलोकनङ्कुटिलितेन इत्यादि च ।।७।।

यथा च — न वाग्मिनः सन्ति कतीह भूतले, भवन्ति सर्वे न हितप्रियोक्तयः ।
मयूर मुख्याः कति भान्ति पत्रिणः, परं पिका एव रुवन्ति पञ्चमम् ।।

अत्रापि रुवन्ति पञ्चमम्' इत्यनुस्वारस्तथाविधं नौजो बध्नाति, गुरुरप्ययं क्लीववद् भासते । तेन 'न भान्ति किं केकिमुखाः खगाः पिकाः, परञ्चते, पञ्चमगान चञ्चवः ।।" इत्येव शोभते । आदि शब्दात् रथोद्धतादि च ।।८।।

यथा—गाहते गहन मीहतेतरा मर्धमर्धमसमभिराममीहितम् ।
भासते वचन मुन्मदाकुलं, कोऽयमिन्दुमुखि मेघमेदुरः ? ।।९।।

यथा वा — इन्दु निन्दि वदनं मृदुस्मितं, कञ्जगञ्जि नयनं सु नासिकम् ।
स्निग्ध मुग्ध वचनं नवं नवं, मेघ मेदुर मुपास्महे महः ।।१०।।

एवमस्या वैदर्भ्याश्छन्दोऽपीति, तथा च वैदर्भी लक्षणे वसन्त तिलकोपेन्द्रवज्रादि वैशिष्ट्यमपि विशेषणं वेयमित्यर्थः । वसन्ततिलकोपेन्द्रवज्रयोरुदाहरणमाह— एवानीत्यादि ।।६--७।।

भूतले कति वाग्मिनः प्रशस्त वचन युक्ता न सन्ति, अपि तु सन्त्येव । एवं हितप्रियोक्तयः सर्वे न भवन्ति, अपितु भवन्त्येव । किन्तु परं केवलं पिका एवं पञ्चमं रुवन्ति । अत्रमनुस्वारः क्लीववद् व्यर्थं भाति । ते पिका एव पञ्चम गाने ख्याता इत्यर्थः ।।८।।

हे इन्दुमुखि ! मेघ इव मेदुरः स्निग्धः कोऽयं गहनवनं गाहते । एवमीहितं वाञ्छितमर्धं मर्धं यथा स्यात्तथा ईहते चेष्टते ।।९।।

मेघमिव स्निग्धं नवं नवं महस्तेजः स्वरूपं वस्तु वयमुपास्महे । कुथम्भूतम् ? कमलगञ्जि नयनं मुग्धं सुन्दरम् ।

नलिनी विपिनानि वाप्यां" इत्यादि श्लोक एवं "आलोकितङ्कुटिलितेन विलोचनेन" इत्यादि श्लोक वसन्त तिलक छन्दोबद्ध हैं ।।७।।

भूतल में कितने वाग्मी वर्त्तमान हैं, किन्तु वे सभी प्रिय एवं हितभाषी नहीं हैं, देखो ! मयूर प्रमुख कितने पक्षी ही देखे जाते हैं, किन्तु पञ्चमध्वनि केवल कोकिल से ही होती है ।

यहाँ "रुवन्ति पञ्चमम्" अनुस्वार तादृश ओजो व्यञ्जक नहीं है, गुरु होकर भी क्लीव के समान प्रतीत होता है । अतएव उक्तस्थल में "परञ्च ते पञ्चम गान चञ्चवः " इस प्रकार पाठ होने पर सुन्दर होगा

उपेन्द्र वज्रादि—आदि पद से रथोद्धतादि वृत्तको जानना होगा ।।८।।

उदाहरण—हे इन्दुमुखि ! नव घन स्निग्ध कान्ति यह किशोर कुञ्ज कानन को जा रहे हैं, गमन समय में अति रमणीय भाव से निज अभिप्रेत विषय की ईषत् ईषत् चेष्टा कर रहे हैं, एवं उन्मद–आकुल भावमय सुधा मधुर वाक्य प्रयोग कर रहे हैं. यह कौन हैं ? ।।९।।

अन्यत्र छन्दसि तथाविध रचनायामपि वैदर्भी न तथा चमत्करोति। यथा वैदर्भी गर्भिणीव स्फुरति रसमयी कामसू रुक्मिणीव' इति छन्दोदोषान्न तथा सुरसेति। एतच्छन्दस्तु गौड्यनुकूलम् ॥

यथा—'गौड़ी गाढ़ोपगूढ़-प्रकटहठघटागर्व गर्भेव गौरी।"

कथा प्रायो हि यत्रार्थो माधुर्य्य प्रायको गुणः।
न गाढ़ता न शैथिल्यं सा पाञ्चाली निगद्यते॥११॥

यथा—कान्ते कां प्रतिते बभूव मधुरं सम्बोधनं त्वां प्रति।
ज्ञातं किं कमनीयतानुगमिदं किं वा प्रियत्वानुगम्।

अन्यत्रेति—वसन्त तिलकादि भिन्ने छन्दसि वैदर्भी न चमत् करोति। गर्भिनी वैदर्भी सीता इव, तथा कामसू रुक्मिणीव रसमयी स्फुरति। अत्र छन्दोदोषादेव न वैदर्भी।

एवं छन्दसोऽनुकूलत्वं गौड़ीरीत्यामाह—यथेति। गाढ़ं यथास्यात् तथोपगूढ़ो गुप्तः प्रकट हठरूप गर्वो गर्भे यस्मास्तथाभूता इव॥१०-११॥

मानिनां श्रीराधिकां प्रति श्रीकृष्णं आह—हे कान्ते! राधाह—कां प्रति तव सम्बोधनम्? श्रीकृष्ण आह-त्वां प्रति। श्रीराधिकाह-ज्ञातमिति। कान्ता कमनीया भवति, प्रियापि भवद्‌तो मयि कमनीयतानुग

उदाहरणान्तर—इन्दु विनिन्दी वदन मण्डल से विराजित मृदु मधुर हास्य प्रभासे प्रभासित नीलोत्पल स्पर्द्धी नयन एवं सुन्दर नासिका से समलङ्कृत, स्निग्ध मुग्ध वदन विन्यास, विलसित, मेघ मदुर तरुण तेजः पुञ्ज को हम सब हृदय में स्थापन पूर्वक पूजन करने में प्रवृत्त होते हैं।

अन्य छन्दों के द्वारा उस प्रकार रचना होने पर भी यह रीति तादृश चमत्कार कारिणी नहीं होती है।

उदाहरण—गर्भिणी वैदर्भी के समान, तथा कामप्रसविनी रुक्मिणीके तुल्य कामप्रदा रसमयी यह वैदर्भी रीति अतिसुन्दर स्फूर्त्तिशालिनी होती है।

यहाँ छन्दोदोष के कारण तादृश सुरस नहीं हुई है। यह श्लोक स्रग्धरा छन्दो निबद्ध है, एवं गौड़ी रीति का ही अनुकूल है।

गाढ़ रूपमें गूढ़ प्रकट हठघटा रूप गर्व जिसके गर्भमें सर्वदा वर्त्तमान है, तादृशी गौराङ्गी के समान गौड़ीरीति भी गंभीर रूप से सुशोभित होती है।

जहाँ कथा प्राय एवं गुण माधुर्य्य प्राय होता है, वहाँ बन्धकी गाढ़ता भी नहीं है, शैथिल्य भी नहीं है, यह रीति पाञ्चाली नामसे अभिहिता है॥१०-११॥

उदाहरण—श्रीकृष्ण,—कान्ते, कह कर सम्बोधन करने से राधिका बोली; किस के प्रति तुम्हारा यह मधुर सम्बोधन है? यह सम्बोधन तुम्हारे प्रति है। उत्तर प्राप्तकर श्रीराधिका-बोली; समझ गई, किन्तु कान्ता शब्द का अर्थ रमणीय एवं प्रिया, इन दोनों अर्थ के मध्यमें कमनीयता के अनुसार अथवा प्रियताके अनुसार मेरे प्रति सम्बोधन हुआ है? उभयत्र ही मेरा तात्पर्य्य है।

तात्पर्य्यन्तु ममोभयत्र न न न भ्रान्तोऽसि नाहं तु सा
कासौ या हृदये तवास्ति हृदये नित्यं त्वमेवासि मे ।

इत्येवमनुसर्त्तव्यम् ॥१२॥

निष्ठुराक्षर विन्यासाद्दीर्घवृत्तिर्युतौजसा ।
गौड़ी भवेदनुप्रास बहुला वा,

यथा—'किं रे कष्टमरिष्ट दुष्ट तनुषे गोष्ठस्य नस्त्विष्टरे' इत्यादि । न केवलं निष्ठुराक्षर प्रायत्वमेकस्या लक्षणम्, अपित्वनुप्रासबाहुल्यमपि । तेन यस्य तस्य गुणस्यानुगुणो भवत्वनुप्रासस्तस्य बाहुल्यमेव गौड़ीं रीतिमनुबध्नाति । अतो (अष्टम किरणे ३२६) "द्वन्द्वं द्वन्द्वं वादयद् दुन्दुभीनाम्' इत्यादावपि गौड़ीत्वम् ॥१३॥

एवम्—(सप्तमकिरणे १७)—

अनङ्ग मङ्गरासङ्गे भङ्गिमेव स जङ्गमः । सङ्गीतरङ्गी तन्वङ्गीसङ्गी रासङ्गतो हरिः ।
किन्त्वत्र न गौड़ीत्वम् ॥१४॥

सम्बोधनं किम्बा 'प्रियत्वानुगम्' ? श्रीकृष्ण आह—तात्पर्य्यमिति । पुनः श्रीराधाह—न नेति । अहं सा कमनीया न, तव प्रियापि न । श्रीकृष्ण आह—असौ कमनीया प्रिया का ? श्रीराधाह—वेति । श्रीकृष्ण आह—हृदयेइति ॥१२॥

निष्ठुराक्षराणां विन्यासो यत्र, दीर्घा वृत्तिर्यत्र, एवम्भूता गौड़ी ओजसा गुणेन युता, तथानुप्रास बहुला वा भवेत् । अत्र वा शब्दो विशेषणसमुच्चयबोधकः, नतु विकल्पार्थकः । तेनेति—माधुर्य्यादि-गुण गतानां मध्ये यस्य गुणस्यानुकूलोऽनु प्रासो भवतु, तस्यानु प्रासस्य ॥१३॥

अनङ्गेति । रासंगतः सहरिः कथम्भूतः ? कन्दर्पयुद्धासङ्गे जङ्गमो भङ्गिमा इव । पुनः कथम्भूतः सङ्गीते रङ्गिण्यो या व्रज सुन्दर्य्य स्तासां सङ्गी । अत्र निष्ठुराक्षराणामभावान्न गौड़ी ॥१४॥

श्रीकृष्ण के इस उत्तर से श्रीराधा बोली, ना-ना ना तुमको भ्रम हो गया है, मैं कभी कमनीया नहीं हूँ, प्रिया भी नहीं हूँ । यदि तुम न हो तो, कौन है ?—इस प्रकार जिज्ञासा श्रीकृष्ण करने पर श्रीराधाने उत्तर दिया—जो तुम्हारे हृदय में निवास करती है, वह, श्रीकृष्ण बोले—तुम्हीं तो नित्य मेरे हृदयामें अवस्थित हो । इस प्रकार उदाहरण—अनुसरणीय है ॥१२॥

ओजो गुण शालिनी, दीर्घ समासयुता, अनुप्रास बहुला एवं कठोर वर्ण विन्यासमयी रीति को गौड़ी रीति कहते हैं । उदाहरण—रे दुष्ट अरिष्टासुर ! तू क्यों हमारे गोष्ठ में कष्ट विस्तार कर रहा है । इत्यादि ।

केवल निष्ठुराक्षर बाहुल्य ही इसका लक्षण नहीं है, अनुप्रास बाहुल्य भी इसके लक्षण के अन्तर्गत हैं । अतएव अनुप्रास जिस गुणके अनुकूल हो, अनुप्रास का बाहुल्य ही गौड़ी रीति का अनुबन्धी है । "द्वन्द्वं द्वन्द्वं वादयन् दुन्दुभीनां" इत्यादि श्लोक में गौड़ी रीति ही स्वीकार्य है ॥१३॥

किन्तु "अनङ्ग देव के मङ्गलमय आसङ्ग विषय में जङ्गम भङ्गिमा के तुल्य रास सङ्गत श्रीहरि,

वलगद् वल्गुवतंसमंसविगलन् मन्दारमालामिलद्रोलम्बद्रुतिलम्बमानसुमनोधूलिभिराधूसरः।
लीलाबन्धुरकन्धराञ्चलचलच्छ्रीकौस्तुभं भ्राजते धावन् धूतधरं धराधरधरो धाराधर श्यामलः॥

अत्र सत्यप्योजोगुणभूयिष्ठत्वे वृत्तिबाहुल्येऽपि अर्थकौमल्यप्रसादादिभिर्वैदर्भी मार्ग-पतितैवेयम् ॥१५॥

यथा वा—दाक्षिण्योत्सुकया गुणैरधिकया प्रेम्णा गतालीकया
लीलाकेलि पताकया कृतकया क्वचित् कौमुदीराकया।
दृक् कर्पूर शलाकया नवकया लावण्यवापीकया
कृष्णो राधिकायाऽन्वरञ्जि न कया जातं निरातङ्कया ॥१६॥

अधुना भीष्मेण सह युद्धे प्राप्तपराभवमर्जुनं वीक्ष्य क्रोधेन भीष्म वधार्थं शीघ्रं गच्छतः श्रीकृष्णस्य धावन क्रियां वर्णयति—वलगदिति। धाराधरो मेघस्तत्तुल्यश्यामलः श्रीकृष्णो धावन् सन् भ्राजते। धावन क्रियाया विशेषणत्रयमाह—वलगन् चाञ्चल्यं प्राप्नुवन् वल्गुवतंसो मनोहरि कर्णभूषणं शिरोभूषणञ्च यत्र तद् यथा स्यात्तथा। अवेत्यस्याकार लोपः। पुनश्च-धावन लीलया बन्धुरा उन्नता या कन्धरा तस्या अञ्चले चलन् श्रीकौस्तुभो यत्र, तद् यथा स्यात्तथा। श्रीकृष्णः कथम्भूतः? अंसाद् स्कन्धाद् विगलन्ती या मन्दार माला तस्यां मिलन्तो ये रोलम्बा भ्रमरास्तेषां मालाया श्चाञ्चल्येन एकत्र स्थातुमसमर्थानां द्रुतया मालया सह धावनेन लम्बमानानां पुष्पाणां धूलिभिरीषद् धूसरः पुनश्च-पर्वतधरः। इयं गौड़ी वैदर्भी मार्ग पतिता वैदर्भी लक्षण घटकीभूत विशेषण-विशिष्टापीत्यर्थः॥१५॥

राधया कृष्णोऽन्वरञ्जि, राधा श्रीकृष्ण मनुरक्तं चकारेत्यर्थः। अतः कया सख्या निरातङ्कया निःशङ्कया न जातम्? अपितु सर्व एव सख्यो निःशङ्का बभूवुरित्यर्थः। श्रीकृष्णो राधायानुरक्तो भविष्यति न वेति पूर्वं सखीनां या शङ्का आसीत्, साशङ्काऽधुना गतेति पर्य्यवसितार्थः।

राधया कथम्भूतया? वाम्यं त्यक्त्वा दाक्षिण्ये उत्सुकया। पुनश्च प्रेम्णा हेतुना गतालीकया निष्कपटया। पुनश्च लीलारूप ध्वजस्य केलि पताकया। पुनश्च कृतं कं सुखं यया तथा भूतया। पुनश्च

सङ्गीत रङ्गिणी गोप कृशाङ्गी वृन्द के सहित केलि प्रसङ्ग में परम शोभित हुये थे।

इस श्लोक में गौड़ी रीति नहीं हुई है, कारण, इस में कठोराक्षर का प्रयोग नहीं हुआ है॥१५॥

नव नीरद सुन्दर गोवर्द्धन धर भगवान् वासुदेव पदभरसे धरातल को विकम्पित कर धावित हो रहे हैं, धावन वेग से उनके शिरः शेखर कम्पित हो रहा है, स्कन्ध देश से स्खलित मन्दार माला में जो भ्रमरावली मिलित हैं, उसके भरसे लम्बमान पुष्प पुञ्ज की धूलि राशि से श्याम शरीर धूसरित हो रहा है, एवं धावनोन्नत कन्धरा प्रान्त में स्पष्ट होकर कौस्तुभ मणि कीदृशी कान्तिच्छटा से छुरित हो रही है।

यहाँ ओजो गुणों का प्राचुर्य्य एवं वृत्ति बाहुल्य होने पर भी अर्थगत कोमलता एवं प्रसादादि गुण के द्वारा इस कविता को वैदर्भी मार्गानुपातिनी कहनी पड़ेगी॥१५॥

उदाहरणान्तर—केलि पताका स्वरूपा गुणालिका श्रीराधिका, अधुना दाक्षिण्य हेतु समुत्सुका एवं प्रकृत पक्ष में प्रेमाधीन हेतु कापट्य परिशून्या, कदाचित् क्रीड़ाच्छल से कैतव पूर्णा होकर श्रीकृष्ण को

समन्ततः—

शैथिल्यं यत्र मृदुलै वर्णै र्लादिभिरुत्कटम्
सा लाटी स्याल्लाट जन प्रियानुप्रासनिर्भरा ॥

लाटो विदग्धः ॥१७॥

उदाहरणम्—लीला विलास लुलिता ललनावलीषु, लीलालकासु ललितालिरलं ललामम् ।
कीलालकेलिकलयाऽनिलचञ्चलायाः, काले ललौ मृदुलतां लवलीलतायाः ॥

अत्र केवलं शैथिल्यम्, लाटानुप्रास—बाहुल्येऽपि तथा ॥१८॥

उदाहरणम्—स्मेरारविन्द वदना—वदनारविन्द-सौन्दर्य्यकाम इव शारदशीतरश्मिः ।

चिच्छक्तिरेव कौमुदी तस्या राकया पूर्ण चन्द्रस्वरूपया नदकया नवीनया, स्वार्थे कः । लावण्यस्य धाण्वी यस्या इति बहुव्रीहौ । ह्रस्वत्व निषेधः ॥१६॥

समन्ततः सर्वत्र लकारादिभिर्मृदुलैर्वर्णै र्यत्रोत्कटं शैथिल्यं सा लाटी रीतिः । अनुप्रासानां निर्भरोऽतिशयो यत्र तथाभूता ॥१७॥

ललिता आलिर्यस्या सा राधा चञ्चलालकासु ललनासु मध्ये श्रीकृष्णेन सह लीला विलासे लुलिता मर्दिता सर्वापेक्षया अतिशयविलासवतीत्यर्थ । अतोऽलमतिशयेन ललामं सर्वासां शिरोरत्नम् एवम्भूता राधा जलकेलि कलया हेतुना अनिलेन चञ्चलाया लवलीलाताया मृदुलतां ललौ गृहीतवती ॥१८॥

लाटः कोमलः, तथा च कोमल वर्णानुप्रासेऽपि तथा शैथिल्यं ज्ञेयम् । ईषद् विकसितारविन्द तुल्य वदनाया राधाया वदनारविन्द सौन्दर्य्य कामना विशिष्ट इव शरत् कालीन चन्द्र आकाश वास रूप तपसा

परम अनुरञ्जित कर रही है, क्यों नहीं अनुरञ्जित करेगी ? वह विचित्र चित् कौमुदी पूर्णिमा को समाना, वयः क्रम से नवीना, लावण्य की पूर्ण व्यापिका एवं लोचन युगल की कर्पूर शलाका स्वरूपा । इन सब कारणों से सम्प्रति सखी वृन्द भी उनके सम्बन्ध में शङ्का शून्य हो गई हैं ।

इस कविता को भी वैदर्भीमार्गानुसारिणी ही कहनी होगी ॥१६॥

सर्वत्र लकारादि मृदुल वर्ण का बाहुल्य होने के कारण—जहाँ नितान्त बन्ध शैथिल्य अनुभूत होता है, अनुप्रास बहुला तादृशी रीति लाट अर्थात् विदग्ध जन प्रिय होने के कारण लाटी नाम से अभिहिता होती है ॥१७॥

उदाहरण - लीलालका ललनावली के मध्य में ललाम स्वरूपा, ललिता सङ्गिनी श्रीराधा ही वन मालि कर्त्तृक लीला विलास बाहुल्य से विलुलिता हुई थी, एवं वह जल केलि कला से अनिलचञ्चला लवलीलताकी मृदुलता को अवलम्बन करी थी ।

यहाँ केवल शैथिल्य हुआ है । लाटानुप्रास के बाहुल्य स्थल में उस प्रकार शैथिल्य होता है ॥१८॥

उदाहरण—फुल्लारविन्द वदना श्रीराधा के वदनारविन्द के सौन्दर्य्य लाभ हेतु शारद सुधाकर आकाशवास रूप तपस्या के सहित कलङ्कच्छल से जैसे धूमपान करना सुरु कर दिया है ।

आकाश वासतपसा सह संविधत्ते, धूमस्य पानमिव लक्षणलक्षणस्य ।।

एष लाटानुप्रासः, एषापि लाटी रीतिः ।।१६।।

इति श्रीमदलङ्कार कौस्तुभे रीति निरूपणो नाम नवमः किरणः ।।९।।

सह धूमस्य पानमिव विधत्ते । कथम्भूतं तस्य लक्षणम् ? कलङ्क रूप चिह्नं तल्लक्षणस्य—तत् स्वरूपस्य तथा च चन्द्रः स्वनिष्ठ कलङ्कचिह्न व्याजेन धूमपान रूपं तपश्चकारेत्यर्थः ।।१६।।

इति सुबोधिन्यां नवमः किरणः ।।९।।

इसका नाम लाटानुप्रास है । उक्त, कविता लाटी रीति से निबद्ध है ।

इति श्रीमदलङ्कार कौस्तुभे श्रीहरिदासशास्त्रि कृतानुवादे

रीति निरूपणं नाम नवमः किरणः ।।९।।

—※—

दशमः किरणः

अथ दोष निर्णयः

अथ, (प्रथम, किरणे ५), "यद्स्मिन् दोषः स्यात्छ्रवण कटुतादिः स न परः" इत्युद्दिष्टस्य दोषस्य लक्षण परीक्षे दर्शयितुं दोष किरणमारभते । कोऽसौ दोषः ?-इत्याह—

रसापकर्षको दोषः ।।१।।

अपकर्षकः स्थगनकारी । ननु रसस्यात्मनः स्थगनमित्याशङ्क्याह,—

अथ दोष निर्णयः

अस्मिन् काव्यपुरुषे स श्रवण कटुतादिरेव दोषः, न परः । तस्मादन्यः क्षुद्रतरदोषो—न दोषो भवतीत्यर्थः । इति प्रथम किरणे उद्दिष्टस्य दोषस्य लक्षणोदाहरणे दर्शयितुं दोषकिरणमारभते-नन्विति । काव्य पुरुषस्य रस एवात्मा, तस्य कथं स्थगनमित्यर्थः । तत्त्वविति-शब्दार्थाश्रयेण दोषेणात्मावस्थैव सङ्कोचः क्रियते । ननु शब्दार्थस्य वेत्यर्थः ।

इस ग्रन्थ के प्रथम किरण में लिखित है—काव्यपुरुष में श्रुति कटुतादि ही दोष पदवाच्य है, तद्भिन्न क्षुद्र दोष—दोष नहीं है, इस प्रकार उल्लेख के अनुसार दोष का लक्षण एवं परीक्षा प्रदर्शन हेतु दोष किरण का आरम्भ करते हैं ।

रसोऽत्रास्वाद उच्यते ॥२॥

अत्र दोष लक्षणे रस शब्देनास्वाद एवोच्यते। रस्यत इति रसः, नतु शृङ्गारादिक आत्मभूता रसः। यथा न काणत्वखञ्जत्वादिकमात्मनः कौरूप्य कारणम् अपितु देहस्यैव, तथात्र शब्दार्थयोरेव दोषः, नात्मभूतस्य रसस्य। तर्हि शब्दार्थापकर्षको दोषः' इत्येवास्तु लक्षणमित्याशङ्क्याह—

अपकर्ष स्तत्स्थगनम् ॥३॥

तस्यास्वादस्य स्थगनं सङ्कोचः। नहि शब्दार्थस्य वा तेन सङ्कोचः क्रियते, अपितु तत्तदा श्रयेण सता आस्वादस्यैव।

अतः सम्यगुक्तं 'रसापकर्षकोदोषः' इति। आस्वादश्च सहृदयान्तर्गत एव, येन शब्दा श्रयेणार्थाश्रयेण वा अपकर्षकेण तेषां जायमान आस्वादः सङ्कुच्यते, स एव दोषः॥

स च द्वेधा निरूप्यते।

यावदास्वादापकर्षको यत्' किञ्चिदास्वादापकर्षकश्च। यत्र सहृदयानामसहिष्णुता—भवति, स त्वाद्यः, यत्र सहिष्णुता स्यात्, सोऽन्त्यः॥४॥'

तथासति दोषस्य निकृष्ट लक्षण माह—येनेति। स च दोषश्च द्विधा निरूप्यते—यत्रेति। दोषस्योत्कटत्वे सहृदयानामसहिष्णुता, स यावदास्वादापकर्षकः, दोषस्याल्पत्वे सहृदयानां यत्र सहिष्णुता, तत्र स

दोष का स्वरूप क्या है ? उत्तर में कहते हैं—रसका जो अपकर्ष कारक वा स्थगित कारक, वही दोष है।

यहाँ शङ्का हो सकती कि—आत्म स्वरूप रसका स्थगित करण कैसे सम्भव होगा ? इस प्रकार शङ्का समाधानार्थ कहते हैं—रस शब्द से यहाँ रसास्वाद को जानना होगा।

काव्य के आत्मभूत शृङ्गारादि—यहाँ रस शब्दके वाच्य नहीं है। जिस प्रकार काणत्व खञ्जत्वादि, देह वैरूप्य के कारण हैं, आत्मा का नहीं उस प्रकार दोष भी यहाँ शब्द एवं अर्थ का ही है,—आत्म स्वरूप रस का नहीं है। ऐसा होने पर शब्दार्थ का अपकर्षक ही दोष है, इस प्रकार दोष लक्षण होता है। इस हेतु अपकर्ष शब्द का स्थगित करण इस प्रकार अर्थ किया गया है।

आस्वादन का स्थगन अर्थात् सङ्कोचन है। दोष,—शब्द का अर्थ का सङ्कोच सम्पादन नहीं करता है, किन्तु शब्दार्थाश्रित होकर आस्वादन का ही अपकर्ष साधन करता है।

अतएव जो रसका अपकर्ष-कारक है—वही दोष है, यह लक्षण सुन्दर ही हुआ है। उक्त आस्वादन भी सहृदय हृदयगत है।

स्थूल कथा यह है कि—जो शब्दाश्रित वा अर्थाश्रित होकर उसके आस्वाद को सङ्कुचित करता है, वही दोष है।

उक्त दोष, यावदास्वाद का अपकर्षक एवं किञ्चिदास्वाद का अपकर्षक होकर द्विविध होते हैं, उसके

श्रुति कट्वादयस्तत्रादावुच्यन्ते समासतः ।
पदे वाक्ये पदांशेऽमी अर्थेचेति चतुर्विधाः ॥

अमी श्रुतिकट्वादयः, ॥५॥

श्रवण कठोरमसं कृत, मसमर्थञ्चाप्रयुक्तनिहतार्थं ।
व्यर्थमवाचकमपि चानुचितार्थं ग्राम्यमप्रतीतञ्च ॥६॥
अश्लीलं सन्दिग्धं नेयार्थमथो समासगं क्लिष्टम् ।
अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमतिकृच्च षोड़शैतानि ॥७॥

एतानि षोड़श पदानि दुष्टानीत्यर्थः । 'अथो' इत्यारभ्य क्लिष्टादि-त्रितयं समासगमेव-असमस्तस्य क्लिष्टत्वासम्भवात् । श्रवणकठोरं श्रुतिकटु, असंस्कृतं च्युतसंस्कृति, व्यर्थं निरर्थकम् । अश्लीलन्तु त्रिविधम्-व्रीड़ा-जुगुप्साऽमङ्गलदायित्वात् ।

क्रमेणोदाहरणानि— शिरीष पुष्पादपि कोमलानि, राधे तवाङ्गानि कुरङ्गनेत्रे ।
स्तनद्वयं ते हृदयस्य शिष्यं, कठोर्यमुच्चै र्यदिदं बिभर्ति ॥

अत्र कठोर्यमिति श्रुतिकटु, तेन काठिन्यमिति पाठ्यम् ॥८॥

यत् किञ्चिदपकर्षकः ॥१--५॥

समासतः संक्षेपतः श्रुति कट्वादि दोषाणां षोड़श भेदानाह-स यथेति : व्रीड़ेति— अश्लीलं व्रीड़ादायि, तथा जुगुप्सादायि, तथा मङ्गलदायि । इत्येवं क्रमेण त्रिविध मित्यर्थः ॥६-७॥

स्तनद्वयमिति । यद् यस्मात् कठोरस्य हृदयस्य शिष्यमत इदं स्तनद्वयं कठोरत्वं बिभर्तीत्यर्थः ॥८॥

मध्य में सहृदय वृन्द की असहिष्णुता जहाँ होती है, वही प्रथम प्रकार है, एवं जहाँ सहिष्णुता होती है—वही द्वितीय प्रकार है ।

उसके मध्य में प्रथमतः श्रुति कटुतादि दोष का वर्णन सङ्क्षेप में कहते हैं, उक्त श्रुति कटुतादि दोष समूह पदगत वाक्यगत, पदांश गत, एवं अर्थगत होकर चतुर्विध होते हैं—॥१--५॥

उक्त दोष समूह षोड़शविध होते हैं,– श्रुतिकटु, च्युत संस्कृति, असमर्थ, अप्रयुक्त, निहतार्थ, व्यर्थ, अवाचक, अनुचितार्थ, ग्राम्य, अप्रतीत, अश्लील, सन्दिग्ध, नेयार्थ, क्लिष्ट, अविमृष्ट विधेयांश एवं विरुद्ध--मतिकृत ।

इन सब के मध्य में व्रीड़ा, जुगुप्सा एवं अमङ्गलदायित्वभेद से अश्लील त्रिविध एवं क्लिष्टतादि असमस्तपद में नहीं होते हैं, अतः क्लिष्ट अविमृष्ट विधेयांश एवं विरुद्धमति कृत् नामक दोषत्रय समासगत स्थल में ही होते हैं ॥६-७॥

क्रमशः उदाहरण समूह प्रस्तुत करते हैं— हे कुरङ्ग-नेत्रे राधिके तुम्हारे अङ्ग-शिरीष कुसुम से भी

ब्रूमः किमन्यैर्व्रजसुन्दरीजनैः, समं समत्वं तव देवि राधिके ।
वैदग्ध्यमध्यापयते वयोऽपरां वयस्त्वमध्यापयसे विदग्धताम् ॥

अत्राध्यापयत इत्यात्मनेपदं च्युत संस्कृति । तेन 'वैदग्ध्यमध्यापयतीतरां वयस्तदध्यापयसि त्वमग्रतः' इति पाठ्यम् ॥९॥

हंसीव हंसि मदमेदुरमन्दमन्दमालोकसे सचकितं हरिणाङ्गनेव ।
आभाषसे मृदुकलं ललिते पिकीव, लक्ष्मीं बिभर्षि सरसश्च वनस्य च त्वम् ॥

अत्र यद्यपि हंसीति 'हन हिंसागत्योः' इति हन्तिर्गत्यर्थेऽपि वर्त्तते, तथापि श्लेषादिकं विनाऽन्यत्र गमनार्थेऽसमर्थमिदम् । तेन 'हंसीव यासि' इति पठनीयम् ॥१०॥

राधे तवाङ्घ्रिपद्मोऽयं सत्यं दोहददैवतः ।
अकालेऽपि पदाघातादशोकः पुष्पितोऽभवत् ॥

हे देवि राधिके ! अन्यैः समं तव समत्वं किं ब्रूमः । यतोऽपरां व्रज सुन्दरीं वयः कर्त्तृ वैदग्ध्य मध्यापयते त्वन्तु वयोऽपि विदग्धतामध्यापयसे । अध्यापयत इति विशेषसूत्र बलात्, परस्मैपदिऽप्राप्त आत्मनेपदं च्युतसंस्कृति । तेनेति—तद्वयः कर्म एतद् वैदग्ध्यं त्वमध्यापयसि ॥९॥

हे ललिते ! त्वं सरसस्तडागस्य, वनस्य च शोभां बिभर्षि । तडागस्य शोभामाह—मदेन मेदुरं स्निग्धं यथा स्यात्तथा त्वं हंसीव हंसि गच्छसि । वनस्य शोभामाह—हरिणाङ्गनेत्यादि ॥१०॥

वृक्षाणां शीघ्र वृद्धौ तथा अकाले पुष्प फलोत्पत्तौ च कारणं औषधविशेषो दोहदं तस्य च प्रापको दोहद रूप देवता विशेषः । यस्य पाद पद्मस्याघातात् ॥११॥

कोमल है, किन्तु तुम्हारे स्तनद्वय कठोर हृदय के शिष्य होने के कारण इस प्रकार कठोर हैं । यहाँ 'कठोरयं' पद श्रुति कटु है, अतएव यहाँ 'काठिन्य' पाठ ही समीचीन है ॥८॥

हे देवि राधिके ! अन्य व्रजाङ्गना वृन्द के सहित तुम्हारी तुलना कैसे दे सकता हूँ ? यौवन उनसब को वैदग्ध्य अध्यापन करता है, किन्तु तुम तो यौवन को वैदग्ध्य अध्ययन कराती रहती हो ।

इस श्लोक में अधिपूर्वक अध्ययनार्थक इङ् धातु के उत्तर आत्मनेपद प्रयोग करने से च्युत संस्कृति दोष हुआ है ॥९॥

हे ललिते तुम हंसीके समान मदस्निग्ध मन्द मन्द गमन शीला हो, हरिणी के समान सचकित विलोकन एवं कोकिल के तुल्य मृदुकल स्वर से भाषण पूर्वक युगपत् सरोवर एवं कानन को धारण कर रही हो ।

हन् धातु के अर्थ हिंसा एवं गति—उभय अर्थ होने पर भी श्लेषादि व्यतीत गमन अर्थ में प्रयुक्त "हनन्" पद का स्वारसिक अर्थ बोध न होने के कारण असमर्थता दोष हुआ है, अतएव हंसी के समान गमन,—इस प्रयोग करना ही उचित है ॥१०॥

हे राधे ! तुम्हारे ये पाद पद्म—यथार्थ ही दोहद—दैवत हैं । कारण—इस में आघात से अशोकतरु अकाल में कुसुमित हुआ है ।

यहाँ मूल श्लोक के पद्म, एवं दैवत, शब्द में पुरुषोत्तम लिङ्ग का प्रयोग हुआ है, यद्यपि उक्त शब्द

अत्र 'वा पुंसि पद्मं नलिनम्' इत्यमरः 'पुंसि वा' इति यद्यप्यनुशासनं वर्तते, तथापि कविभिरप्रयुज्यमानत्वादप्रयुक्तम्। तेन 'राधे तव पद्माम्भोजे सत्यं दोहदं दैवतम्' इति पाठ्यम् ॥११॥

लाक्षारसेन तव शोणितमद्य वक्षस्तस्याः पदाम्बुरुहतो गलितेन कृष्ण।

आभाति फुल्लनवकोकनदावलीकः, शान्तोर्मिकी ह्रद इव द्युमणेः सुतायाः ॥

अत्र यद्यप्यरुणितादिपदसमानार्थकं शोणितपदम्, तथापि प्रसिद्धेन क्षतजार्थत्वेन अप्रसिद्धार्थो व्याहन्यत इति निहतार्थः। तेन लोहितमिति पाठ्यम् ॥१२॥

गुणास्त्वनेनैव तवाहिता हरे, प्राणेश्वरी जीवितवल्लभोऽसि यत्।

दोषोऽप्ययं किन्तु कुलाङ्गनातते, र्मनोमणिस्तेयकरत्वमेव च ॥

अत्र चकारः केवलं पादपूरणार्थत्वाद् व्यर्थं पदम्। तेन 'मनोमणिस्तेयकरत्वमेव ते' इति पाठ्यम् ॥१३॥

काचिन् मानिनी मानभङ्गार्थमागतस्य श्रीकृष्णस्य वक्षःस्थले सम्भोग चिह्नं दृष्ट्वा सक्रोधमाह लाक्षेति। तव वक्षः शोणितं लोहितं सत् आभाति। तत्र दृष्टान्तः—फुल्लकोकनदस्य रक्तोत्पलस्य श्रेणी यत्र तथाभूतो द्युमणेः सुतायाः यमुनायाः ह्रद इव। तथापीति शोणित पदस्य प्रसिद्धेन रक्तार्थत्वेनाप्रसिद्धोऽरुणितार्थो व्याहन्यते ॥१२॥

प्राणेश्वरी श्रीराधिका, तस्या जीविते वल्लभो यत् यस्मात्त्वं भवति। अनेनैव तव गुणा आहिताः स्थापिताः। किन्तु तव दोषोऽप्ययमस्ति, यतः कुलाङ्गनेत्यादि ॥१३॥

यद्यपि पुं लिङ्ग प्रयोग विकल्प से कोष ग्रन्थ में विहित है, तथापि कविगण कदापि उस का प्रयोग न करने के कारण—उस से अप्रयुक्तता दोष हुआ है, अतएव क्लीबलिङ्ग में परिवर्त्तित करके पाठ करना ही समीचीन है ॥११॥

उदाहरण—हे कृष्ण ! अद्य तदीय चरणारविन्द से विगलित लाक्षारस से तुम्हारे वक्षःस्थल शोणित होने के कारण प्रतीत होता है कि जैसे यमुना किसी तरङ्ग शून्य ह्रद में नव कोकनद समूह प्रफुल्ल हुये हैं।

यहाँ शोणित पद यदि अरुणितादि पद के समानार्थक है, तथापि उस का रुधिर यह अर्थ प्रसिद्ध है, एवं प्रसिद्ध अर्थ के द्वारा उक्त अप्रसिद्धार्थ व्याहत होने के कारण यहाँ निहतार्थता दोष हुआ है। इस हेतु उक्त श्लोक में प्रयुक्त शोणित पद के परिवर्त्त में 'लोहित' इस प्रकार पाठ करना कर्त्तव्य है ॥१२॥

हे कृष्ण ! इस से ही तुम्हारे अगणित गुणगण की सत्ता अनुभूत हो रही है, कि—तुम तुम्हारी प्राणेश्वरी के प्राण से भी प्रियतम हो गये हो, किन्तु कुलाङ्गना गण की मनोरूप माणिक्य अपहरणकारित्व रूप जो दोष है, वह भी विलक्षण रूप में तुम्हारे में व्यक्त हुआ है।

यहाँ के श्लोक में केवल पाद पूरणार्थ चकार प्रयुक्त होने से वह व्यर्थ हुआ है, एवं उससे व्यर्थ पदता दोष हुआ है। अतएव चकार स्थान में 'ते' इस प्रकार पाठ करना चाहिये ॥१३॥

यस्यामीक्षणकौमुदी प्रमुदिता हा हन्त साऽभून्निशा
योऽयं त्वद्विरहान्धकारगहनः सोऽभूदहो वासरः।
तद्रूपस्मरणे य इन्द्रियलयः सोऽभूदहो मूर्च्छनं
किं ब्रूयामविवेकतां तव विधे ब्रूमाय तुभ्यं नमः॥

अत्र पूर्वार्धे 'निशा' पदं केवलान्धकारेऽवाचकम्। एवं 'वासर' शब्दोऽपि केवलप्रकाशेऽवाचकः। ते नेदमवाचकम्। अतो 'हा हन्त सा तामसी, योऽयं तद्विरहान्धकारगहना ज्योत्स्नावती साऽभवत्।'

बिभर्षि नीलं वसनं यदेतद्धलञ्च पाणौ न कथं करोषि ?
जानातु लोकस्तव कृष्ण वेषाद्वर्षीयसि भ्रातरि भक्तिमत्त्वम्॥

अत्र 'हल' पदं कृष्णं प्रति साकूतत्वेनोचितमपि कृषककत्वव्यञ्जनया क्षेपेण तदेव बलदेवं प्रत्यनुचितमित्यनुचितार्थम्। तेन प्रकृतभङ्ग्यैव 'कथं न पाणौ मुषलं करोषि' इति प्रकृतार्थं प्रत्युचितमेव अत्रापि ध्वन्यन्तरसद्भावः॥१५॥

मथुरास्थः श्रीकृष्णः श्रीराधिकाविरहेण व्याकुलः सन् स्वगतमाह—ममेक्षणस्य कौमुदी रूपेण राधिका यस्यां निशि उदिता, सा निशा अन्धकाराऽभूत्। तस्या विरहान्धकारेण गहनो निविडो योऽभूत्, स मम वासरः प्रकाशोऽभूत् जरासन्धेन सह युद्धोद्यमादनेकविषये सर्वेन्द्रियाणि विक्षिप्त एव तिष्ठति, कथं लयः सम्भवतीति भावः। अत्र द्वितीये सा ज्योत्स्नावती निशा तामसी अन्धकारबहुला अभूत्। राधाया विरहान्धकारगहना या निशा सा ज्योत्स्नावत्यभवत्॥१४॥

भ्रमेण स्वीयं पीतवसनं विहाय विपक्षाया नीलवस्त्रमङ्गे निधाय मानभङ्गार्थं आगतं श्रीकृष्णं काचित् मानिनी साकूतमाह—बलदेवस्य परिधेयं वस्त्रं भवता यदि स्वीयाङ्गे करोषि, तदा तस्य हलमपि पाणौ कथं न करोषि ? वर्षीयसि ज्येष्ठे भ्रातरि। ध्वन्यन्तरेति—तदयथा, वरं मुषलाघातोऽपि सह्यः न तु विपक्षरमण्याः वस्त्रधारित्वमिति ध्वनिः॥१५॥

श्रीकृष्ण = राधिका विरह से व्याकुल होकर आप ही आप कह रहे हैं—हाय! मेरे नेत्र कौमुदी स्वरूपा प्राणाधिका जिस समय उदित होती, वह अभी निशा हो गई है। तदीय विरहान्धकार से जो निविड है, वही सम्प्रति वासर हो गया है। तदीय रूप राशि का स्मरण से जो इन्द्रिय लय होता, वही अधुना मूर्च्छा हो गई है॥१४॥

भ्रमसे निज पीत वसन को छोड़कर विपक्ष के नील वस्त्र धारण कर मानभङ्गार्थ आगत श्रीकृष्ण को एक मानिनी कही थी—हे कृष्ण! जब तुम नीलवसन धारण किये हो, तब हल धारण क्यों नहीं किये ? ऐसा होने पर तुम्हारे वेश को देखकर अनायास लोक जान जाते कि—ज्येष्ठ भ्राता के प्रति तुम्हारी भक्ति यथेष्ट है।

यहाँ कृष्ण के प्रति निगूढ़ अभिप्राय से हल पद प्रयुक्त होने पर—वह उचित होने पर भी कृषकत्व व्यञ्जना प्रयुक्त बलदेव के प्रति उक्त प्रयोग अनुचित हुआ है। अतएव हल पद के परिवर्त में "करतल में

वक्षोरुहौ काञ्चनपद्मकोरकौ, मुष्टि प्रमेयं तव सुभ्रु मध्यमम् ।
कटिश्च ते हेमशिलाविलासिनी, शशी मुखं पङ्कजमङ्घ्रियुग्मकम् ॥

अत्र 'कटि' शब्दो ग्राम्यः । एवमुत्तमनायिके नागरादि-शब्दोऽपि नागरिक-नागरयो रेकार्थत्वात् । तेन-श्रोणिश्च ते हेमशिलाविलासिनी' इति पाठ्यम् ॥१६॥

नामे न पच्यमाने वा न पक्वेऽप्ययमाशये । याति प्रेमरसः किन्तु दुर्जरोऽङ्ग विमर्दकः ?

अत्राशयशब्दस्तस्य त्रैविध्यञ्च वैद्यकशास्त्रे एव प्रतीतम् । अन्यत्र अप्रतीतमिति तथा । तेन 'नामोऽसौ पच्यमानश्च न पक्वश्च भवत्यसौ । एकावस्थः प्रेमरसो दुर्जरः प्राणपीड़कः ॥' इति पाठ्यम् ॥१७॥

अश्लीलन्तु त्रिविधमिति यदुक्तं तस्य भेदमाह । व्रीडादायी यथा—

लावण्यमन्यादृशमस्यथैव, माधुर्यमन्यद्धि गयं वपुश्च ।

हे सुभ्रु ! तव मुखं शशीचन्द्रः । नागरिक—शब्दो नगर सम्बन्धि वाचकः, तथा नागर—शब्दोऽपि अत उभयोरेकार्थत्वान्नागरादि—शब्दो ग्राम्य एव ॥१६॥

ज्वर जनको रस आमाशयं तिष्ठति । पच्यमानाशये सति, किं वा-पक्वाशयेसति याति । काश्चिद् रस आमाशयेऽपि यातीति वैद्यक शास्त्रे कथितम् । अयन्तु प्रेमरस आशये-आमे सति न याति, एवं पच्यमाने सति न याति, तथा पक्वेऽपि सति न याति ॥१७॥

यस्य कृष्णस्य-योगे-वियोगे चान्या दृश-लावण्यादयो भवन्ति; स श्रीकृष्णस्तवानुवर्ती । अतस्तव

भूषण धारण क्यों नहीं किये" इस प्रकार प्रयोग करने से ही वह प्रकृतार्थ के अनुकूल होता, एवं उसमें ध्वन्यन्तर का भी सद्भाव होता ॥१५॥

हे सुभ्रु ! तुम्हारे पयोधर युगल कनकमय कमल कोरक सदृश हैं, मध्यभाग-मुष्टि प्रमेय है, कटिदेश स्वर्णमयी शिला के समान है, मुख मण्डल शशधर के समकक्ष है, एवं चरण युगल-सरोरुह सदृश सु शोभन हैं । यहाँ 'कटि' शब्द प्रयोग से ग्राम्यता दोष हुआ है, अतएव कटिके परिवर्त्त में श्रोणि शब्द प्रयोज्य है, इस प्रकार उत्तम नायक में नागरादि शब्द प्रयोग भी दोषावह है, नागरि एवं नागर—उभय शब्द ही नगर सम्बन्धी—एकविध अर्थ प्रकाश करते हैं ॥१६॥

ज्वर जनक रस आमाशय में रहता हैं। पच्यमानाशय; किं वा पक्वाशय होने पर भी वहाँ नहीं जाता, एवं किसी रस आमाशय को जाता है । किन्तु दुर्जर एवं अङ्ग विमर्दक प्रेमरस आशय आम वा पच्यमान, अथवा पक्व होने पर भी गमन नहीं करता है ।

यहाँ आशय शब्द एवं उसके तीन भेद—वैद्यक शास्त्र में सु प्रतीत है, अन्यत्र अप्रतीत होने के कारण अप्रतीत-नामक दोष हुआ है ।

अतएव "दुर्जर प्राण पीड़क प्रेमरस-आम भी नहीं होता है, पच्यमान भी नहीं होता है, एवं पक्व भी नहीं है, एक प्रकार ही रहता है" इस प्रकार पाठ करना चाहिये ॥१७॥

पहले जो त्रिविध अश्लील की कथा कही गई है, उदाहरण के द्वारा उसके भेद को व्यक्त करते हैं—

योगे वियोगे च भवन्ति यस्य, स तेऽनुवर्त्ती किमतो भगं ते ?

अत्र 'भग' श्रीकामगमाहात्म्य' इत्यादिषु यद्यपि नेकेष्वर्थेषु वर्त्तते, तथाप्यत्रव्रीड़ाकरम्, किन्तु सुभगा, दुर्भगा—भगिनी—भगवतीत्यादिषु न तथा, शब्दस्य तथैव मर्य्यादा। तेन 'स एष कृष्णस्तव पार्श्ववर्त्ती' इति पाठ्यम्।

एवं लिङ्गपदमपि क्वचिद् व्रीड़ाकरम्, नतु सर्वत्र। उक्तश्च 'शिवलिङ्गस्य संस्थाने कस्यासभ्यत्वभावना' एवं योन्यादि--शब्दोऽपि क्वचिन्नापि यथात्मयोनि प्रभृतिः ॥१८॥

ब्राह्मण क्षत्रिय विट् वा शूद्रो वा निज धर्मतः।
न निस्तरति संसारं विना कृष्णाङ्घ्रिसेवनात् ॥

अत्र विश विशोर्भिन्न प्रकृतिकत्वेऽपि आकारैकत्येन विड़िति जुगुप्साकरम्। तेन 'वैश्यः' इति पाठ्यम् ॥१९॥

एवं वायु प्रभृति पदमपि, यथा—

रन्ध्रः प्रसूनस्य मसाक्षिलग्नासिति व्यथां कापि तथाभ्यनैषीत् ॥

भग माहात्म्यं किमु वक्तव्यम्। एवं योन्यादि— शब्दोऽपि, क्वचिन्नापि व्रीड़ाकरः ॥१८॥

विश् शब्दो वैश्यवाची, तथा विष् शब्दोऽपि विष्ठा वाची, अतस्तालव्य शकार मूर्धन्य षकारयोर्भेदेन विश् विषोर्भिन्न प्रकृति कत्वेऽपि प्रथमायाः एक वचने उभयो विड़ित्येकाकार एव प्रतीति रिति जुगुप्साकरम् ॥१९॥

उसके मध्य में व्रीड़ादायक का उदाहरण—

जिसके संयोग एवं विच्छेद से तुम्हारा लावण्य अन्य प्रकार होता है। यह माधुर्य्य अन्यथाभूत है, और यह शरीर भी भिन्न प्रकार होता है, वह कृष्ण ही तुम्हारे अनुगत होकर है। तुम्हारा भग अर्थात् माहात्म्य के सम्बन्ध में अधिक वक्तव्य क्या है ?

यहाँ भग शब्द श्रीकाम माहात्म्यादि नानार्थ का वाचक होने पर भी व्रीड़ाकर हुआ है। किन्तु सुभगा, दुर्भगा, भगिनी, भगवती प्रभृति स्थल में भग शब्द तादृश व्रीड़ाकर नहीं है। शब्द की मर्य्यादा ही इस प्रकार है। अतएव 'वह कृष्ण ही तुम्हारे पार्श्ववर्त्ती है, इस प्रकार पाठ करना कर्त्तव्य है। इस प्रकार, लिङ्ग पद भी क्वचित् व्रीड़ाकर होता है, किन्तु सर्वत्र नहीं, कहा भी है 'शिव लिङ्ग के संस्थान में किस व्यक्ति के मन में असभ्यत्व चिन्ता का उदय होता है ? इसी प्रकार योन्यादि शब्द भी कहीं पर व्रीड़ाकर नहीं है, जिस प्रकार आत्म योनि शब्द लज्जाकर नहीं है ॥१८॥

जुगुप्साकर का उदाहरण— ब्राह्मण, क्षत्रिय, विट् वा शूद्र जो कोई वर्ण हो, श्रीकृष्ण के पादपद्म की सेवा न करने से केवल निज धर्म पालन रूप धर्माचरण से संसारोद्धार नहीं होता है।

यहाँ वैश्य वाचक तालव्य 'श' कारान्त विश् एवं विष्ठा वाचक मूर्धन्य षकारान्त विष--एतदुभय की प्रकृति भिन्न भिन्न होने पर भी उभयका ही प्रथमाका एक वचन में 'विट्' एकविध रूप होने से जुगुप्साकर होता है। अतएव "वैश्य वा शूद्र" इस प्रकार पाठ करना ही समीचीन है ॥१९॥

मुखस्य वायुं ददता मुकुन्देनोदस्य तत्तत्र च सा चुचुम्बे ॥

अत्र 'वायु' प्रभृति शब्दो जुगुप्साजनक शब्दमर्यादया, तेन मुखानिलेनैव निरस्यता तत् कृष्णेन सा तव चिरं चुचुम्बे' इति पाठ्यम् ॥२०॥

अमङ्गलदायि यथा—

अहह हृदयबन्धोः कोऽपि शोकः कुकूलो ज्वलति किमपि मन्दं मन्दमेवातितीक्ष्णः ।
अपितु दहति सर्वाण्येव मर्माणि गाढं धगिति भवति दीप्तस्तज्जनस्यावलोके ॥

अत्र शोक इति करुण-रसस्थायित्वादमङ्गलं, मरण-रूपं प्रत्याययति, अतोऽमङ्गल-स्मरणादश्लीलम् तेन, 'प्रिय-विरह कुकूलः, कोऽपि नोच्चैः शिखोऽपि' इति वाच्यम् । एवं नाशादि-शब्दोऽप्यदर्शनवाच्यपि तथा ॥२१॥

कालिन्द्याः पुलिनाप्लावि काञ्चनं सतरङ्गकम् ।
द्योतते सुरतस्रस्ता वेणिः श्रोणिगतेव ते ॥

रज इति कापि व्रजसुन्दरी पुष्परजो समाक्षिप्तनेत्रमिरयवती पीड़ां तथा अभ्यनयीत, पीड़ाभिनयं तथा कृतवती, यथा मुखस्य वायु ददता मुकुन्देन तद्रज । उदस्य दूरीकृत्य सा व्रजसुन्दरी चुचुम्बे ॥२०॥

हृदय बन्धोः श्रीकृष्णस्य शोकः कुकूलस्तु अग्निरत एवातितीक्ष्णः किमपि मन्दं मन्दमेव ज्वलति, अपितु सर्वाण्येव मर्माणि दहति । किन्तु तस्य प्रिय जननिरमालोके सति धक् इति कृत्वा महान् दीप्तो भवति । तेनेति प्रिय विरहः एव तुषाग्निर्नोच्चैः शिखः किमपि मन्दं मन्दं ज्वलति । एवं श्रीकृष्णस्य दर्शने स्थले श्रीकृष्णस्य नाश इति प्रयोगो न कर्त्तव्यः ॥२१॥

श्रीकृष्ण आह—हे प्रिये ! यमुना पुलिनाप्लावि तथा च तरङ्ग सहित काञ्चन द्योतते ते तव इवेत

वायु प्रभृति शब्द के सम्बन्ध में भी उस प्रकार जानना होगा । उदाहरण— पुष्प पराग मेरे नयनों में गिर गया है, यह कह कर एक व्रजसुन्दरीने तज्जनित पीड़ा से इस प्रकार अभिनय किया कि— मुकुन्द मुख वायु प्रदान के द्वारा उसको विदूरित करके तदीय मुखार विन्द को सुचिर काल चुम्बन करने लगे ।।२०।।

अमङ्गल दायक का दृष्टान्त—हाय ! हृदय बान्धव के वह निदारुण शोकरूप तुषाग्नि धीरे धीरे ज्वलित होकर निखिल मर्मस्थल को गाढ़ दग्ध कर रहा है, एवं तदीय प्रियजनगण दर्शन समय में धक् धक् कर प्रज्वलित हो उठती रहती है ।

यहाँ शोक शब्द करुण रस का स्थायिभावत्व प्रयुक्त मरण रूप अमङ्गल प्रतीत कराता है, अतः अमङ्गल स्मरण हेतु अश्लील हुआ है । अतएव "प्रिय विरह एक अनिर्वचनीय तुषाग्नि स्वरूप है । वह उच्च शिखा विशिष्ट नहीं है, अथच अति तीक्ष्ण है" इस प्रकार पाठ करना पड़ेगा । एवं नाशादि शब्द भी अदर्शन वाचक होने पर भी उस प्रकार अश्लील के मध्य में परि गणित है ।।२१।।

श्रीकृष्ण कहे थे—हे प्रिये ! यमुना पुलिनप्लावी, तरङ्ग रङ्ग वर्त्तित काञ्चन, किस प्रकार अपूर्व कान्ति मण्डित है, जिस प्रकार, तुम्हारे विशाल, वसनावृत श्रोणिदेश में सुरत समय में स्खलित श्यामवर्ण वेणि विलम्बित हुई है ।

अत्र कस्य जलस्य अञ्चनं गतिः किं वा काञ्चनं कनकमिति सन्देहात् सन्दिग्धम् । तेन 'पुलिनप्लाविनी धारा घनवीचि यमस्वसुः' इति पाठे दोषान्तरञ्च नश्यति ॥२२॥

यथा वा—कृष्णोऽस्या वशवर्त्तीति वदनाद्वदनं गता ।

मुद्राञ्चन्द्रे पदं कृत्वा स्तुत्या कीर्त्तिः प्रयाति ते ॥२३॥

अत्र स्तत्येति तृतीयया किं स्तवेन किंस्तवार्हेति वा सन्देहः । तेन 'कीर्त्ति भ्रमति ते भुवि' इति वाच्यम् ॥२३॥

तव नयन चकोरी—पुच्छकच्छाभिघात, व्यथित हृदयवृत्तीनीव नीलोत्पलानि ।
कमलमुखि जनेभ्यो लज्जया न प्रकाशं, दधति दिवसमध्ये मुद्रितान्येव सन्ति ॥

अत्र पुच्छकच्छाभिघातेत्यादिना निर्जितत्वमेवलक्ष्यते । सा च लक्षणा दुष्टेव । उक्तञ्च 'कुमारिल भट्टस्य श्लोक वार्तिके' ।

वस्त्रे युक्त श्रोणि गता सुरतस्रस्ता श्यामवर्णा वेणिरिव । लोलात्तरङ्गेति काञ्चनमिति शब्दो नपुंसकः, वेणिरिति शब्दः स्त्री लिङ्गः । अत उपमायां लिङ्गभेद रूपो यो दोषः, सोऽप्यत्र पक्षे नास्तीत्यर्थः ॥२२॥

काञ्चनस्य कनकार्थत्वेन श्लोकार्थः सङ्गच्छते इत्यपरितुष्यन्नाह—यथा वेति । अत्र जलाञ्चनस्यार्थस्याप्रसिद्धत्वात् निहतार्थत्वमेवेत्यत आह—यथा वेति । ललिता श्रीराधां प्रत्याह—कृष्णो राधावशवर्त्तीति कीर्त्तिर्वदनाद् वदनं गता सती एकस्या मुखचन्द्रादन्यस्या मुखचन्द्रे परमास्पदं कृत्वा सर्वेषां मुखचन्द्रे प्रयाति, कीर्त्तिः कथम्भूता ? स्तुत्यास्तवार्हा, किं वा स्तुत्या स्तवेन सह प्रयातीति सन्देहः ॥२३॥

रात्रौ विकसितानि नीलोत्पलानि दिवसे मुद्रितान्येव सन्तीत्यत्र हेतुं श्रीकृष्णः प्रियां प्रत्याह—तवेति । हे कमलमुखि ! तव नयन रूप चकोर्योः पुच्छ देशाभिघातेन व्यथिता हृद् वृत्तयो येषां तथाभूतानीव नीलोत्

"यहाँ काञ्चन शब्द से व्यक्ति का अञ्चन अर्थात् गमन अर्थ का बोध होता है । अथवा काञ्चन शब्द से सुवर्ण का बोध होता है । इस प्रकार सन्देह होने से सन्दिग्ध होता है । अतएव 'पुलिन प्लाविनी तरङ्ग भङ्गमयी यमुना धारा' इस प्रकार पाठ करना कर्त्तव्य है । ऐसा होने पर उपमान उपमेय का लिङ्ग भेद रूप दोष भी परिहृत होता है ॥२२॥

उदाहरणान्तर—हे सखि राधिके ! श्रीकृष्ण तुम्हारे वशवर्ती मानकर तुम्हारी स्तुति के द्वारा कीर्ति, वदन से वदनान्तर में सञ्चरण शीला होकर एक मुखचन्द्र से अपर के मुखचन्द्र में पदार्पण पूर्वक सर्वत्र विचरण कर रही है ।

यहाँ मूल श्लोकस्थित स्तुत्या इस पद से स्तुति के सहित यह अर्थ—अथवा स्तुति योग्या यह अर्थ है, इसका निश्चय न होने के कारण सन्दिग्ध दोष हुआ है । अतएव "तुम्हारी कीर्ति, भूतलमें भ्रमण कर रही है" इस प्रकार समुचित पाठ है ॥२३॥

हे कमलमुखि ! नीलोत्पल समूह तुम्हारे नयन चकोरी के पुच्छ देश के व्यथित हृदय होकर ही जैसे, लज्जा हेतु दिवस में जनगण के समीप में प्रकाशित नहीं होते हैं, मुद्रित भाव से ही अवस्थान करते हैं ।

यहाँ "पुच्छ देश के अभिघात से" इस के द्वारा पराजितत्व ही लक्षित हो रहा है । किन्तु उस

"लक्षणा सा न कर्त्तव्या कष्टेनार्थगमो यतः । न यत्र शक्यसम्बन्धो न रूढिर्न प्रयोजनम् ॥"

तेन 'नेयार्थमिदम् ।' तेन 'तव नयन युग श्रीसाहचर्यं न लब्धा' इति पाठ्यम् ।२४-२५।

अथ क्लिष्टादीनि समासगतान्येव ।

यमुनाजनकज्योतिरुदयस्मित शालिभिः । त्वन्मुखस्य तुलामाप्तुमुदवासतपो दधे ।

अत्र यमुना, जनकः सूर्य्यः तस्य ज्योतिष उदयेन स्मित शालिनि पद्मानि तैरिति क्लेशत एवार्थावगतिरिति क्लिष्टम् ॥२६॥

नायं पौष्पो न खलु धनुषो नापि मौर्व्याश्च निघ्नो
मुग्धे दिग्धः किममृतरसेनैव किं वा विषेण ।
निर्मुक्तोऽपि, प्रकटमसकृद् वीक्ष्यते मुच्यमानो
राधे कोऽयं तव रतिपतेः षष्ठबाणः कटाक्षः ?॥

पलानि दिवसे लज्जया प्रकाशं न दधति । अत्र उत्पलानां दिवसे मुद्रने कारणं लज्जा, तस्याः कारणं प्रियाया नयनं कर्त्तृ के तेषां निर्जितत्वम्, तस्य बोधः पुच्छ कच्छाभिघातेत्यादिना न भवति ।

अतः पुच्छ कच्छाभिघातेत्यादिना लक्षणया निर्जितत्वबोधो भविष्यति । तत्र निर्जितत्वरूपेऽर्थे कस्यापि पदस्य शक्यसम्बन्धाभावान्न लक्षणा भवति । यदि यथाकथञ्चित् कष्टेन शक्य सम्बन्धं स्वीकरोति, तदा कष्ट गम्यत्वेयं लक्षणा दुष्टेत्यर्थः । चकोर्याः पुच्छाघातो नीलोत्पलेन सम्भवतीति लक्षणाभाव बीजं ज्ञेयम् ।२४-२५।

यमुनेति । कमलैस्त्वन्मुखस्य तुलनामाप्तुं जल वासरूपं तपो दधे ।२६।

हे राधे ! तवायं कटाक्ष रूपो बाणो न पौष्पः पुष्प सम्बन्धी न । न वा धनुषो निघ्नो वशः, नापि मौर्व्या ज्यायाऽवशः । किममृतरसेन दिग्धो लिप्तः, किं वा विषेण लिप्तः, त्वया सकृन्निर्मुक्तोऽपि स

प्रकार लक्षणा दुष्ट है, पूर्वाचार्य्योंने कहा है—जहाँ कष्ट से अर्थ बोध होता है, एवं जहाँ शक्य का सम्बन्ध नहीं है, अथवा रूढ़ि का प्रयोजन भी नहीं है, वहाँ लक्षणा करना उचित नहीं है ॥२४॥

अतएव यहाँ नेयार्थता दोष हुआ है. "तुम्हारे नयन युगल की लावण्य लक्ष्मी के सादृश्य लेश को प्राप्त करने में अक्षम है", इस प्रकार पाठ कल्पना श्रेयस्कर है ॥२५॥

क्लिष्टादि दोष समासगत होते हैं, क्रमिक उदाहरण—यमुना जनक ज्योतिः पुञ्जोदय से स्मित विशिष्ट गण तुम्हारे मुख मण्डल की तुलना को प्राप्त करने के निमित्त जल वासरूप तपस्यारम्भ किये हैं।

यहाँ यमुना का जनक सूर्य हैं, उनके ज्योति पुञ्ज के उदय से स्मित विशिष्ट अर्थात् पद्म, इस प्रकार कष्ट से अर्थावगति होने के कारण क्लिष्ट है ॥२६॥

हे मुग्धे राधिके ! तुम्हारे कुटिल कटाक्ष, रतिपति के अपूर्व षष्ठ बाण स्वरूप हैं। देखो, वह पुष्प निर्मित नहीं है, एवं धनुः वा मौर्वी का भी अधीन नहीं है, वह विषदिग्ध वा अमृत रससिक्त है, कुछ समझने में नहीं आता है, उस बाण को तुम एकबार छोड़ने पर भी पुनः पुनः मुच्यमान दृष्ट होता है।

यहाँ बाण का षष्ठत्व विधेय है, वह समास में गुणीभूत होने के कारण अविमृष्ट-विधेयांश नामक दोष

अत्र षष्ठत्वं विधेयम्, तत्तु समासे न गुणीभूतमित्यविमृष्टविधेयांशः । तेन 'मुग्धे' इत्यत्र 'राधे' इति कृत्वा 'षष्ठः कोऽयं नयनमयि ते पञ्चबाणस्य बाणः' इति पाठे साधु ।२७।

यथा वा—अकृतं सुकृतं किञ्चिद् तपश्च तथा तपः ।
भवेयं येन ते नाथ करुणालव भाजनम् ।।

अत्र नञः प्राधान्यम्, तस्य समासेन गुणीभावः । एवं लवस्य विधेयत्वेव समासेन गुणीभावः । तेन 'न कृतं सुकृतं किञ्चिन्न तपश्च तथा तपः । मयि येन भवेन्नाथ करुणाया लवोऽपि ते ।।" इति साधु ।।२८।।

तथा—(पञ्चम किरणे ७२) 'उदयति शशि श्रीराधाया न तन्मुख मण्डलम्' इत्यत्र नकारस्य प्राधान्याद् गुणः । यत्र तु विशेषाभिधानं तत्र नञः समासोऽपि न दुष्यति ।।२८।।

बाणोऽत्रकृन्मुच्यमान एव दृश्यते । कन्दर्प स्तावत् पञ्चबाणत्वेन प्रसिद्धः । तव कटाक्ष रूपः षष्ठो बाणः कोऽयमनर्थकारकः इत्यर्थः ।।२७।।

येन सुकृतेन तव करुणालवभाजनमहं भवेयम्, तत् सुकृतं किञ्चिदपि न कृतम् । अत्रोत्तरवाक्यगत यत् पदेन तत् पदापेक्षा नास्तीति भावः । अत्र नञ् तत्पुरुषे उत्तर पद प्राधान्याद् विधेयत्वं नञोऽप्राधान्यं दोषः ।।२८।।

कदाचिद् विरहजन्योन्मादेन चन्द्रादीन् श्रीराधावयवत्वेन ज्ञात्वा विधीर्षया धावन्तं श्रीकृष्णं प्रति मधुमङ्गल आह । कृष्ण पक्षे चतुर्थ्यां चन्द्र उदयति, न राधाया मुख मण्डलम् । एवं चन्द्रोदयात् तिमिरं स्खलति, न तस्याः कोमलनीलवस्त्रम् । हरितां दिशां चक्र समूहो हसति प्रकाशते, न तस्याः सखी समूह-, वेष्टिता राधा न भवतीत्यर्थः अत्र न कारस्य प्राधान्याद् गुण एव, नतु दोष इत्यर्थः । यत्र नञ् सहित समस्त पदार्थस्य विशेषाभिधानमपेक्षितं भवति, तत्र नञा सह समासोऽपि न दोषः ।।२८।।

हुआ है । अतएव मुग्धे—यहाँ राधे इस प्रकार परिवर्त्तन करके "तुम्हारे कटाक्ष पञ्चबाण के यह कया अपूर्व षष्ठबाण हैं । इस प्रकार पाठ करना ही कर्त्तव्य है ।।२७।।

उदाहरणान्तर—हे राधे ! जिससे मैं तुम्हारे करुणा भाजन हो सकूँ, इस प्रकार किसी प्रकार सुकृत भी अकृत है, एवं तपः भी अनाचरित है ।

यहाँ नञ् का प्राधान्य है, किन्तु समास में उसका गुणीभाव हुआ है, एवं कणा का विधेयत्व ही समुचित है, किन्तु समास में वह भी गुणीभूत हुआ है ।

अतएव हे नाथ ! जिससे मैं तुम्हारी करुणा के लेश भाजन हो सकूँ, इस प्रकार सुकृत भी कुछ भी नहीं किया गया है, एवं तदनुरूप तपः का आचरण भी नहीं हुआ है । इस प्रकार पाठ ही साधु है ।।२८।।

पञ्चम किरण के ७५ श्लोक में उक्त है—

"उदयति शशी श्रीराधाया न तन्मुखमण्डलं
स्खलति तिमिरं सारसाक्ष्या न नील निचोलकः ।
हसति हरितां चक्रं तस्या ननाम सखीगणो
भ्रमति भुवने ज्योत्स्नैवास्यै न साङ्गरुचिच्छटा ।।"

यथा—अमार्जित सुचिक्कणैरनभिषिक्त धौतोज्ज्वलै रभूषित मनोहरैरननुलिप्तसत् सौरभैः ।
तमालदल कोमलैर्नयनकौमुदीकन्दलै रहो किमिदमङ्गकैः स्फुरति नीलमाद्यं महः ॥

अत्र सुचिक्कणादि विशेषाभिधानेऽमार्जितादिषु नञः समासो गुण एव, तद्रूपत्वमेव--विधेयम् ! न तेन विधेयाविमर्षः । यथा (काव्यादर्शे २।२००) "अपीत क्षीवकादम्बम्" इति दण्डिपः ॥२९॥

यथा वा —अनासक्तः कर्म कुर्वन्नसक्तो विषयान् जुषन् ।
अप्रमत्तो भजन् कृष्णं न स तैस्तैर्निबध्यते ॥३०॥

यथा वा—अपूतः पूततां गच्छेदविज्ञो विज्ञतां व्रजेत् ।

अहो आश्चर्य्यम्, किमिदं श्रीकृष्ण स्वरूपमाद्यं नीलं महः कोमलाङ्गैः करणैः स्फुरति । कथम्भूतैः ? अमार्जितैश्च तत् सुचिक्कणैश्चेति, तथा च मार्जनं विनैव सुचिक्कणैरित्यर्थः । अभिषेकं विनैव धौतोज्ज्वलैः, अनुलेपैः विनैव सुगन्धैः, नेत्राणां प्रकाशिका या कौमुदी, तस्याः कन्दलैरङ्कुरस्वरूपैः ।

तद्रूपत्वमिति—अमार्जितैः सुचिक्कणत्वमेव विधेयम्, न मार्जनाभावो विधेय इत्यर्थः । अपीतेति—मद्यादिपानं विनैव क्षीवाणं मत्तं कादम्बं कलहंसमित्यादावपि पूर्ववत् पानाभावो न विधेयः, अतो नञा सह समासे न दोषः ॥२९॥

अनासक्त इति । अत्राप्यासक्त्यभावो न विधेयः, किन्तु आसक्त्यभावविशिष्ट कर्मकर्त्तृत्वमेव विधेयमिति भावः ॥३०॥

सुधाकर ही उदित हो रहा है, वह श्रीराधा का मुख मण्डल नहीं है । तिमिरभार ही स्खलित हो रहा है, वह हरिणाक्षी का नील निचोल नहीं है, दिग् वधू गण ही हास्य करती रहती हैं, वे श्रीमतीके सखी वृन्द नहीं हैं, ज्योत्स्ना जाल ही जगत् में व्याप्त है, वह तदीय अङ्ग की कान्तिच्छटा नहीं है ।

इस श्लोक में नञ् का प्राधान्य होने के कारण वह गुणीभूत हुआ है । अतएव दोष नहीं हुआ है । जहाँ नञ् के सहित समस्त पदार्थ का विशेष अभिधान प्रयोजन होता है, वहाँ नञ् के सहित समास होने से दोष वह नहीं होता है ॥२८॥

उदाहरण—अहो कितना सुन्दर नीलोज्ज्वल ज्योतिः अङ्ग विशिष्ट होकर स्फुरित है, अङ्ग समूह अमार्जित सुचिक्कण, अनभिषिक्त धौतोज्ज्वल, अविभूषित--मनोहर, अननुलिप्त-सुसौरभ एवं तमालदल-सुकोमल एवं निखिल जन नयन के कौमुदी कन्दल स्वरूप हैं ।

यहाँ सुचिक्कणादि रूप विशेष का अभिधान हेतु अमार्जितादि पद में नञ् के सहित जो समास हुआ है, वह गुण ही हुआ है । तद्रूपत्वविधेय होने के कारण यहाँ विधेयाविमर्ष दोष नहीं हुआ है । दण्डी ने भी काव्यादर्श में "मद्यादि पान न करके भी कलहंस कुल जहाँ उन्मत्त हैं" इस अर्थ में अपीत क्षीव कादम्ब' प्रयोग किया है ॥२९॥

जो अनासक्त होकर भी कर्म्माचरण, अलिप्त होकर विषय सेवन; अप्रमत्त होकर श्रीकृष्ण भजन करते हैं, उनको उस उस विषय में निबद्ध नहीं होना पड़ता है ॥३०॥

अगुणोऽपि गुणितामेति कृष्णे भक्तो भवेद् यदि ॥

यथा—(रघुवंशे १।२१) "अगृध्नुराददे सोऽर्थान्" इत्यादि कालिदासः ।

यत्र नञः प्राधान्येन दोषान्तरमापतति, तत्र दोष एव । यथा 'गिरो न हरि तत् परा दृगपि नो हरीक्षोत्तरा' इत्यादौ 'किं गिरो न हरितत् पराः, किं तत् परा गिरो न, कुत हरितत् पराश्चेत्' इति सन्देहः स्यात् । तेन 'गिरश्च हरितत्परा दृगपि चाहरीक्षोत्तरा' इति साधु ॥३१॥

विना शपथमालीनां विना कृष्णस्य नम्रताम्
न सम्मुखीनासीत्येष राधे कस्तव दुर्ग्रहः ?

अत्र 'दुर्ग्रहः' इति दुराग्रहार्थ वाची च, ग्रह वैगुण्यप्रतिपादकत्वेन विरुद्धमतिकृत् । 'विना शपथम्' इत्यत्रापि विनाश—शब्दोऽपि विरुद्धता । तेन 'ऋते शपथ मालीनाम्' इति पठित्वा 'राधे कोऽयं दुराग्रहः' इति पाठ्यम् ॥३२॥

अगृध्नुराकाङ्क्षा रहितः, तथा चाकाङ्क्षाभावो विधेय इति भावः । नञ इति—यत्र नञः प्राधान्यम्, तत्राविमृष्ट विधेय रूप दोषाभावेऽपि दोषान्तरमापतति, तत्र स एव दोषः । तदेवाह—गिर इति । किं गिरो हरितत् परा न, किंवा हरितत् परायास्ता गिरो न, किंवा एता गिरो न भवन्ति, यतो हरितत् परा इति सन्देह रूपो दोषः । तेनेति । तत्र हरितत् परत्वाभावो न विधेयः, किन्तु हरितत् परत्वाभाव विशिष्ट—वाक्यत्वमेव विधेयम् । एवं हरिदर्शनाभावविशिष्ट दृक्त्वमेव विधेयम् । एवं हरि दर्शनाभाव विशिष्ट दृक्त्वमेव विधेयम् । अतो नाविमृष्टविधेय दोषो नापि सन्देह दोषः ॥३१॥

आलीनां शपथं विना, एवं श्रीकृष्णस्य नम्रतां विना त्वं सम्मुखीनाम् नैव श्रेष्ठा भवसि, तथा च पूर्वं सम्मुखीनामानुकूल्यवर्तीनां प्रियाणां मध्ये त्वं श्रेष्ठा आसीः, इदानीं तु तथा न भवसीत्येष एव को दुराग्रह इत्यर्थः ॥३२॥

उदाहरणान्तर—श्रीकृष्ण में भक्तियोग होने पर अपवित्र भी पवित्र अविज्ञ भी विज्ञ, अगुणी भी गुणी होता है, "वह अगृध्नु होकर या अलुब्ध होकर अर्थ संग्रह करते थे—इत्यादि उक्ति कालिदास की है।

जहाँ नञ् का प्राधान्य हेतु दोषान्तर की उपस्थिति होती है, वहाँ वह दोष के मध्य में गण्य होता है।

वाणी हरितत् पर नहीं है, दृष्टि भी हरिदर्शन परायण नहीं है; इत्यादि स्थल में वाणी हरितत् परा नहीं है, यह अर्थ, अथवा जो हरि तत् पर, वह वाणी नहीं है, यह अर्थ, किंवा वह वाणी ही नहीं हो सकती है, वह हरि तत् परा इस प्रकार अर्थ, इस प्रकार विविध सन्देह उपस्थित होता है, अतएव अ-हरि तत् परा वाणी एवं अ-हरि परायणा दृष्टि—इस प्रकार पाठ ही साधु है ॥३१॥

हे राधे ! यह क्या तुम्हारा दुराग्रह है ? सखीवृन्द के बिना शपथ से एवं श्रीकृष्ण की बिना नम्रता से तुम कभी भी सम्मुखीना नहीं होना चाहती हो।

दुराग्रह अर्थ में यहाँ दुर्ग्रह पद का प्रयोग हुआ है। किन्तु 'ग्रह' वह 'वैगुण्य' प्रतिपादकत्व हेतु विरुद्ध मतिकृत् हुआ है।

यथा वा— समांसमीनावलिचारयद्भिर्गवां कुलं वल्लव बालवृन्दैः ।
वृन्दावने कौतुक केलिलीलः, पुनातु वः श्रीव्रजराज सूनुः ॥

अत्र मांसमीनावलिसहितमिति विरुद्धमतिकृत् । एवं 'अकार्यमित्रं भवानीपतिरम्बिका रमणः' इत्यादयोऽपि विरुद्धमति कृतः ! किं बहुना ? प्रियतमवल्लभतमा इत्यादयोऽपि प्रियान्तरं वल्लभान्तरं च प्रतिपादयन्ति, तेन तेऽपि तथा । प्रियतमाप्रभृतयस्तु न तथा, औचित्यादिति केचिदाहुः । वृषणवान्तादिशब्दास्तु न तथा, कविप्रयुक्तात् ॥३३॥

एषां समासगतत्वेन दिङ्मात्रमुदाहरणं क्रियते । समासगतं श्रुतिकटु यथा—

प्रचक्रमे विक्रमविक्रयं ध्रुवा, सुवक्रयाऽसौ रतिचक्रमक्रमात् ।
सुनिष्ठुरश्च्युत कटाक्षसौष्ठवो, गोष्ठाधिराजस्य सुते विसंष्ठुले ॥

समांसमीनेति । गवां कुलं चारयद्भिर्गोपबाल वृन्दैः सह केलिलोलः श्रीकृष्णो वो युष्मान् पुनाति । गवां कुलं कथम्भूतम् ? समांसमीनावलिः प्रतिवर्ष प्रसूता गो श्रेणीर्यत्र तथाभूतम् । "समांसमीना सा प्रोक्ता सूते या प्रतिवत्सरम्" इति शब्दार्णवः ।

न कार्यं किन्तु स्वतः सिद्धं मित्रम्, भवस्य पत्नी भवानी, तस्याः पतिरिति भवभिन्नोपपति बोधो जायते—इति विरुद्ध मतिकृत् । एवं रमण शब्दोऽपि उपपतिं व्यनक्ति । अतएव राधारमण इत्युच्यते, नतु रुक्मिणी रमणः । तेऽपि प्रियतमाद्योऽपि तथा विरुद्धमतिकृते; औचित्यात् कवि प्रयुक्तत्वेनोचितत्वात् ।३३।

प्रचक्रमे-इति । असौ राधिका श्रीकृष्णे स्व विक्रमस्य विक्रयोऽव्ययो यत्र तथाभूत रति चक्रं विपरीत संयोग समूहं प्रचक्रमे । अक्रमादिति-अक्रमं स्वक्रमविरुद्ध पुरुषक्रम मारुह्येत्यर्थः । ल्यब्लोपे पञ्चमी राधा कथम्भूता ? सुनिष्ठुरं यथास्यात्तथा च्युतं-निक्षिप्तं कटाक्ष सौष्ठवं यया तथाभूता । श्रीकृष्णे

विना शपथ से—यहाँ भी विना शब्द उस प्रकार विरुद्ध है, अतएव "सखीगण के शपथ के विना तुम सम्मुखीना नहीं होती है । "हे सखे ! तुम्हारा यह कैसा दुराग्रह" इस प्रकार पाठ ही कर्त्तव्य है ॥३२॥

उदाहरण—वृन्दावन में समांसमीनावलि विशिष्ट गोकुल के चारण में तत्पर गोप बालक वृन्द के सहित जो केलि कौतुक में सतत समुत्सुक है, वह व्रजराज तनय तुम्हारी रक्षा करे ।

यहाँ यद्यपि "प्रति वत्सर, प्रसव, करने वाली धेनु, उसकी श्रेणी" इस अर्थ में समांसमीनावलि पद प्रयुक्त हुआ है, किन्तु यह मांसमीनावलि—इस प्रकार अर्थ शिष्ट गण के चित्त में उदित होता है, अतः विरुद्ध मतिकृत् हुआ है ।

इस प्रकार अकार्य्यमित्र, भवानीपति, अम्बिका रमण प्रभृति शब्द भी विरुद्ध मतिकृत् हैं ।

अधिकन्तु प्रियतम, वल्लभतम, इत्यादि शब्द भी प्रियान्तर एवं वल्लभान्तर को प्रतिपादन करते हैं, अतः उक्त दोष समूह उक्त दोष दुष्ट हैं । किन्तु प्रियतमा प्रभृति शब्द औचित्य प्रयुक्त उक्त दोष दुष्ट नहीं हैं । यह मत आलङ्कारिक-विशेष-का है । कवि प्रयोग हेतु वृषण-वान्तादि शब्द को भी उस प्रकार जानना होगा ॥३३॥

अत्र परार्धे समासगतं श्रुतिकटु समुदायेनप्रतिकूल वर्णत्वात् प्रकृत रसाननुगुणः, विसंष्ठुल इति समाप्तपुनरात्तं चेति परिवृत्तौ मूलनाशः । एवमन्येऽपि यथास्थलमनुमेयाः ॥३४॥

एवमन्ये यथास्थलं ज्ञेया वाक्ये तथैव च ॥

च्युत संस्कृत्यसमर्थं निरर्थकं वर्जयित्वेवैते श्रुतिकट्वादयो दोषा अनुमेयाः ।

क्रमेणोदाहरणानि—'प्रचक्रमे विक्रम विक्रयम्' इत्यादि वाक्यमेव श्रुतिकटु ॥३५॥

यथा वा—कष्टमष्टापदस्येदं दौष्ठवञ्च सुधाद्युरः । वर्मणोह्यानपाङ्घृण्यातुण्डेन च तव प्रिये ॥

सुधाद्युरश्चन्द्रस्य, घृण्या किरणेन, अत्र वाक्य मेव तथा ॥३६॥

लेखं दुश्च्यवन प्रष्ठैः सुरज्येष्ठादिकैरपि । वन्द्यमानो विधू रातु शान्तंश्यतु च दुष्कृतम् ॥

कथम्भूते ? विसंष्ठुले पुरुषक्रमं विहाय स्त्री संस्थयास्थिते । शृङ्गार रसस्य प्रतिकूल वर्णत्वात् प्रकृतरसस्य शृङ्गारस्याननुगुणः । परिवृत्तौ निर्दूषण पद प्रयोगे मूलस्य समस्त श्लोकस्यैव नाशः स्यात् ॥३४॥

पदे दोषाणामुदाहरणमुक्त्वा वाक्येऽप्याह—वाक्य इति । च्युत संस्कृतादि त्रयाणामुदाहरणं पद एव सम्भवति, न तु वाक्य इत्याह च्युतेति ॥३५॥

हे प्रिये राधे ! तव वर्मणो देहस्यानया घृण्या किरणेन अष्टापदस्य सुवर्णस्य कष्टम् । एवं तव तुण्डेन मुखेन सुधाद्युरश्चन्द्रस्य दौष्ठवं दुष्ठुता, सौष्ठववत् दौष्ठवमित्यपि व्याकरण सिद्धम् ॥३६॥

दुश्च्यवन इन्द्रः प्रष्ठोऽग्रसरो येषां तथा सुरज्येष्ठो ब्रह्मा आदिः प्रधानं येषांतथाभूतैः लेखैः देवैः वन्द्यमानो

ये सब दोषों का समासगतस्वरूप में दिङ्मात्र उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

समास गत श्रुतिकटुका उदाहरण—श्रीराधिकाने विसंष्ठुल गोष्ठाधीशनन्दन श्रीकृष्ण के प्रति कुटिल भ्रु निष्ठ्यूतसुनिष्ठुर कटाक्ष सौष्ठव वृष्टि के सहित तदीय विक्रम विक्रय कारिणी सुरत क्रिया का विपरीत क्रमसे उपक्रम किया।

यहाँ भी श्रुति कटुदोष समासगत हुआ है, एवं प्रतिकूल वर्ण के बाहुल्य हेतु वह प्रकृत शृङ्गार रस का पोषण नहीं हुआ है, अपि च मूल श्लोक में विसंष्ठुल' स्थल में समाप्त पुनरात्त नामक दोष हुआ है। ये सब परिवर्त्तन पूर्वक निर्दोष पद विन्यास करने से भी समस्त मूल श्लोक का विनाश होगा।

इस रीति से अवशिष्ट उदाहरण समूह का अनुमान करना कर्त्तव्य है ॥३४॥

च्युत संस्कृति, असमर्थ एवं निरर्थक भिन्न ये श्रुति कटुतादि दोष समूह वाक्यं गत भी होते हैं। श्रीराधिका विसंष्ठुल गोष्ठाधीशनन्दन इत्यादि पूर्वोदाहरण सत्य वाक्य ही श्रुतिकटु हुआ है ॥३५॥

उदाहरण—हे प्रिये ! तुम्हारे वर्म्म के घृणि सङ्घात से अष्टापद को कष्ट हुआ है, एवं तुण्ड के द्वारा सुधाद्युवनकारिचन्द्रका भी दौष्ठव हुआ है।

यहाँ समग्र वाक्य ही श्रुतिकटु दोष दुष्ट हैं, इस वाक्य में वर्म्म अर्थ देह है, घृणि सङ्घात—किरण समूह हैं, अष्टापद सुवर्ण है, तुण्ड—मुख है, दौष्ठव—दुःस्थिता, अथवा सौष्ठव का अभाव को समझना होगा ॥३६॥

लेखै देवैः, दुश्च्यवन— इन्द्रः, सुरज्येष्ठो— ब्रह्मा: विधुः– श्रीकृष्णः, रातु–ददातु, श्यतु कृशं करोतु । अत्र लेखादि शब्दाः सुरादि वाचका अपि श्लेषादिकं विनाऽन्यत्र कविभिर प्रयुक्तत्वादप्रयुक्तास्तेन वाक्यमेवेदमप्रयुक्तम् ।।३७।।

क्षमा क्षमाधरानन्तमकरध्वजलङ्घिनः । प्लवन्ते शैव्यसुग्रीव मेघपुष्प बलाहकाः ।।

अत्र क्षमादयो बलाहकान्ताः शब्दाः क्षान्त्यादिभिः प्रसिद्धैर्निहतार्थाः । तथा हि—क्षमा-क्षान्तिः, क्षमाधरः क्षमी, अनन्तः परमेश्वरः, मकरध्वजः कामः, शैव्यः शिविपुत्रः, सुग्रीवो वानरराजः, मेघपुष्पं जलम्, बलाहको मेघः । एतैः प्रसिद्धैः पृथ्वी— पर्वत–व्योम- समुद्रा भगवतो हयाश्चत्वारश्चाप्रसिद्धा व्याहन्यन्ते ।।३८।।

यथा वा—सामुद्रं नवनीतं च महारिष्टश्च नन्दकः ।
'हरिवत्स शयासन्नो गता शातं सदैव वः ।।

विधुः श्रीकृष्णो युष्माकं शातं सुखं रातु ददातु, दुष्कृतं श्यतु कृशं करोतु, नाशयत्वित्यर्थः । "पुरोगाग्रेसर प्रष्ठा"--इत्यमरः ।।३७।।

क्षमादीन् लङ्घिनः शैव्यादयो भगवतश्चत्वारोऽश्वाः प्लवन्ते । तथा हि क्षमा पृथ्वी, क्षमाधरः पर्वतः, नास्ति अन्तं यस्यानन्तं व्योम, मकरध्वजः समुद्रः । क्षमाशब्दः शान्ति परत्वे प्रसिद्धः । क्षमां धरतीति क्षमाधरः क्षमी शान्तजनः । शिविराजस्य पुत्रः शैव्यः । क्षान्त्यादिभिरेतैः प्रसिद्धैरप्रसिद्धाः पृथ्व्यादयस्तथा भगवतश्चत्वारोऽश्वा व्याहन्यन्ते ।।३८।।

हरेः श्रीकृष्णस्य वत्सं वक्षःस्थलं तत्रासन्नः कौस्तुभः, एवं तस्य शयः पाणि स्तत्रासन्नो महारिष्ट

दुश्च्यवन प्रष्ठ सुरज्येष्ठादि लेखवृन्द वन्दक दीप्यमान भगवान् विधु तुम सबके सम्बन्ध में शात दान एवं दुष्कृत दूर करें ।

यहाँ दुश्च्यवन प्रष्ठ शब्द से 'दुश्च्यवन—अर्थात् इन्द्र का बोध होता है, 'प्रष्ठ' अग्रसर है, जिनका, इस प्रकार अर्थ बोध होता है । एवं लेख शब्द से देवता, सुरज्येष्ठ शब्द से ब्रह्मा, विधु शब्द से श्रीकृष्ण, एवं शात शब्द से सुख को जानना होगा ।

यहाँ लेखादि शब्द देवता वाचक होने पर भी श्लेषादि स्थल को छोड़कर कविगण अन्यत्र प्रयोग नहीं करते हैं, अतः इस वाक्य में अप्रयुक्तता दोष हुआ है ।।३७।।

क्षमा, क्षमाधर, अनन्त एवं मकरध्वज लङ्घन कारी शैव्य, सुग्रीव, मेघपुष्प एवं बलाहक धावित हो रहे हैं, अर्थात् भगवान् के शैव्यादि नामक अश्व चतुष्टय पृथिवी, पर्वत, आकाश एवं समुद्र को लङ्घन कर धावित हो रहे हैं ।

यहाँ, क्षमा शब्द से क्षान्ति, क्षमाधर- क्षमाशाली, अनन्त-परमेश्वर, मकरध्वज--काम एवं शैव्य–शिवि पुत्र, सुग्रीव–वानर राज मेघ पुष्प--जल, बलाहक--मेघ, ये सब प्रसिद्ध अर्थ के द्वारा उक्त श्लोक के अभिप्रेत पृथिवी, पर्वत, आकाश, समुद्र एवं भगवान् के अश्वचतुष्टय रूप—अप्रसिद्ध अर्थ समूह व्याहत होने के कारण निहतार्थता नामक दोष हुआ है ।।३८।।

अत्र सामुद्रं नवनीतं कौस्तुभः, महारिष्टि नन्दकः खड्गः, वत्सं वक्षः शयः पाणिः, एते सामुद्रलवण—नवनीत--महोत्पात--समृद्धि जनक—तर्णक--शयनैः प्रसिद्धैः निहता इति वाक्यमेव निहतार्थम् ॥३९॥

विष्णुस्यन्दन पर्णानां पृषदश्वेन धाविताः। निपेतुः काश्यपी कान्ताः कौण्डिन्याः करपीडने ॥

अत्र विष्णु स्यन्दनादयः शब्दा विष्णु रथादय इव गरुडाद्यर्थं न बोधयन्ति, तेनामी अवाचका इति वाक्यमेवावाचकम् । पर्णं पक्षः, धाविताः कम्पिताः, काश्यपीकान्ताः महीश्वराः, कौण्डिन्याः रुक्मिण्याः ॥४०॥

वलक्ष पक्षेऽयं दिवसपरिणामे शशधरो, दिविष्ठं कुष्ठं वा न किरण कलापं विकिरति।
तथापि द्रष्टृणां नयनकुसुमं व्योमसरसो, महाप्रोष्ठीवत्काकृतिरपि कुलोर्कप्रियतमः ॥

वायको नन्दकस्तन्नामा खड्गविशेषः। एतौ कौस्तुभ--नन्दकौ वो युष्माकं शान्तं सुखं एताम्, महारिष्टि महोत्पातः, नन्दकः समृद्धि जनकः, 'टु नदी समृद्धौ' इत्यस्यात्। वत्सस्तर्णको गोवत्सः, शयः नयनम्, एते प्रसिद्धाः। एतेऽप्रसिद्धाः कौस्तुभादयो निहताः॥३९॥

कौण्डिन्या रुक्मिण्या विवाहे विष्णुस्यन्दनस्य गरुडस्य पर्णानां पक्षाणां पृषदश्वेन पवनेन धाविताः कम्पिताः काश्यपी कान्ताः महीश्वरा राजानो निपेतुः। यथा विष्णुरथ शब्दो गरुड वाची, न तथा विष्णुस्यन्दन शब्द ॥४१॥

वलक्षे पक्षे शुक्लपक्षे दिवस परिणामे, अपराह्णे, अयं शशधरश्चन्द्रो दिविष्ठं यथा कुष्ठं पृथिवीस्थं किरणकलापं न विकिरति, तथापि द्रष्टॄणां जनानां नयनयोः सुखदायित्वाद् व्योमसरस आकाश रूप

उदाहरण—श्रीहरि के वत्स एवं शय के समासन्न सामुद्र नवनीत एवं महारिष्टि नन्दक, ये दोनों सतत तुम सब को सुखी करें, अर्थात् श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल में सन्निहित समुद्र--सम्भव कौस्तुभमणि एवं महारिष्ट प्रद नन्दक नामा खड्ग तुम सब को सुखी करें।

यहाँ सामुद्र शब्द से सैन्धव लवण, महारिष्टि--महोत्पात, नन्दक--समृद्धि जनक, वत्स—गोवत्स, शय--शयन—ये सब प्रसिद्ध अर्थ के द्वारा उक्त श्लोक के अभिप्रेत— सामुद्र शब्द से कौस्तुभ, महारिष्टि प्रद नन्दक शब्द से नन्दक नामक खड्ग, वत्स शब्द से वक्षःस्थल एवं शय शब्द से हस्त ये सब अप्रसिद्ध अर्थ व्याहत होने से समस्त वाक्य निहतार्थता दोष दुष्ट हुआ है ॥३९॥

कौण्डिनी के पाणि ग्रहण समये काश्यपीकान्त गण विष्णुस्यन्दन पर्ण के पृषदश्व से धावित होकर धरातल में निपतित हुये थे। अर्थात् रुक्मिणी के विवाह समय में भूपति वृन्द गरुड के पक्षपवन वेग से विकम्पित होकर धरातल में निपतित हुये थे।

यहाँ पर्ण शब्द से पक्ष, धावित कम्पित, काश्यपी कान्त—भूपति, कौण्डिनी--रुक्मिणी। किन्तु विष्णुरथादि शब्द जिस प्रकार गरुडादि बोधक हैं, विष्णु स्यन्दनादि शब्द उस प्रकार बोधक नहीं हैं, अतः वे वाचक नहीं हो सकते हैं। सुतरां उस प्रकार पद बाहुल्य से वाक्य अवाचक हुआ है ॥४०॥

अत्र पृथिवीस्थादि–वाचिनोऽपि कुष्ठादयो शब्दाः कुष्ठं व्याधिः, नयन कुसुमं–नयन व्याधिः, कु लोकः—कुजनः । इत्यनुचितार्थः प्रतिपादकाः, तेनेदं वाक्य मनुचितार्थम् ।।४१।।

खानापानादिसामग्री नाद्यापि वत साधिता
कृष्णोऽयमागत प्रायो भल्लं ते गल्लचर्वणम् ।।

अत्र खानपानादयः शब्दा ग्राम्याः ।।४२।।

कोषेभ्योऽन्नमयादिभ्यो विश्वादिभ्यश्च यः परः ।
स ते प्राणपतिः कृष्णः सौभाग्यं किमतः परम् ।।?

अत्र अन्नमयादयः पञ्च कोषाः, विश्व–तैजस–प्राज्ञाश्च त्रय आत्मानः, केवल वेदान्त शास्त्रमात्रप्रयुक्तत्वाद प्रतीताः, तेनेदमप्रतीतं वाक्यम् ।।४३।।

सरोवरस्य कुसुमं पुष्प तुल्यः । प्रोष्ठी शफरी मत्स्य विशेषः, तस्यावल्कं त्वक् । तथा च समुद्रस्थमहाप्रोष्ठी-वल्काकृतिश्चन्द्रः, कुलोकस्य पृथिवीस्थलोकस्य प्रियतम । अपराह्णे चन्द्रस्य शोभाया अभावात् मत्स्यस्य वल्काकृतित्वज्ञेयम् ।।४१।।

यशोदां प्रति श्रीनन्द आह—खानेति । वनाद् गोष्ठे श्रीकृष्ण आगत प्रायः । अद्यापि खानेत्यादि तव गल्ल चर्वणं भल्लम्, अहमेव श्रीकृष्णस्य भक्ष्य–भोज्य–सामग्री सम्पादिकेति वाग्डम्बरो वृथैवेत्यर्थः ।।४२।।

अन्नमयादि पञ्चकोषेभ्यः परः, एवं विश्वाद्यवस्थात्रय विशिष्ट जीवेभ्यः परस्तुरीयो यः श्रीकृष्णः, स ते प्राणपतिः । अत्रेति—अन्नमय—प्राणमय–मनोमय विज्ञानमयानन्दमया इति पञ्चकोषाः, तथा जीवात्मनो विश्वतैजसप्राज्ञा इत्यवस्था त्रयम् । तत्र जाग्रद् दशायां जीवात्मनो विश्व इति संज्ञा, स्वप्नदशायां तैजस इति संज्ञा, सुषुप्ति दशायां प्राज्ञ इति संज्ञा वेदान्त शास्त्रे एव प्रसिद्धाः, नान्यत्र ।।४३।।

शुक्लपक्ष के दिवस परिणाम के समय में शशधर आकाशस्थ वा कुष्ठ किरण निकर का विकिरण नहीं करता है । तथापि वह दर्शक वृन्द के नयन, कुसुम स्वरूप एवं गगन सरोवर स्थित महासफरी मत्स्य के वल्कल सदृश आकृति विशिष्ट होने पर भी कुलोक के अत्यन्त प्रीति जनक होता है ।

यहाँ कुष्ठ शब्द से पृथिवीस्थ, नयन कुसुम, शब्द से नयन–सम्बन्धीय पुष्प तुल्य प्रीति जनक एवं कुलोक शब्द से पृथिवीस्थ लोक को समझाना अभिप्रेत होने पर भी कुष्ठ शब्द से व्याधि विशेष, नयन कुसुम शब्द से नेत्र व्याधि विशेष, एवं कुलोक शब्द से कुत्सित व्यक्ति का बोध होता है ।

ये सब अनुचितार्थ प्रतिपादन हेतु वाक्य अनुचितार्थ दोष दुष्ट हुआ है ।।४१।।

वन से श्रीकृष्ण का आगमन समय प्राय हो गया है । हाय ! खान पानादि सामग्री अभी भी प्रस्तुत नहीं हुई हैं । तुमने जो कहा है—श्रीकृष्ण की भक्ष्य भोज्य सामग्री मैं ही सम्पादन करती हूँ, यह वाग्जाल मात्र ही है, अर्थात् वृथा है ।

यहाँ खान पानादि शब्द ग्राम्य हैं ।।४२।।

जो अन्नमयादि कोष पञ्चक से भिन्न है, एवं विश्व-तैजस प्राज्ञ नामक अवस्थात्रय विशिष्ट जीव से पृथक् है, वह श्रीकृष्ण तुम्हारे प्राणपति है, इस से अधिक सौभाग्य और क्या हो सकता है ?

अपानेनाभोजनेनामेहनेनापि खिद्यसे । किं ते तपस्विन् कष्टेन भज कृष्णं सुखीभव ॥
अत्रापानादयः शब्दा पानाद्यभाववाचिनोऽपि अपानादिकमर्थं बोधयन्तोऽश्लीलाः, व्रीडा व्यञ्जकत्वात् । अमेहनं स्नेहनाभावः ॥४४॥

वचो वान्तसमं तस्य प्रवृत्तिस्तस्य दुःखदा । उत्सर्गोऽपि विषं तस्य यो वैष्णव विनिन्दकः ॥
अत्र वान्तादयः शब्दा जुगुप्सादायिनः, प्रवृत्ति वार्त्ता, उत्सर्गो दानम् । पक्षे, विड् उत्सर्गबोधकम् इदन्तु जुगुप्सादायि । किन्तु वान्त--शब्दो वम् धातु--प्रयोगान्तरञ्चार्थान्तर--संक्रमित--ध्वन्यादौ न दोषः । यथा (अनर्घराघवे) "वान्तैरक्षरमूर्त्तिभिः सुकविना मुक्ताफलैर्गुम्फिता" इति मुरारिः ॥४५॥

"स्तिमित मृदुलक्षीणोद्वान्त— कान्तोरुपीन
स्तन जघन नितम्बश्चोतधारा प्रहारैः ।

अपानने पानाभ वेन, पक्षे अधो वायुना एवमभोजनेनेत्यनेन शब्दशक्त्याऽमेध्यभोजन मेवोच्यते । तथा अमेहनेन मेहनं स्निग्ध तैलादि सेचनं तदभावेन । पक्षे; मूत्रासेचनेन ॥४४॥

तस्य प्रवृत्ति वार्त्ता, तस्य उत्सर्गो दानम्, पक्षे, विड् उत्सर्गः । किन्त्विति— वान्तशब्दस्तथा वमधातु प्रयोगान्तरं वम उद्वान्त इत्यादि प्रयोगान्तरञ्च ध्वन्यादौ न दोषः । सुकविना वान्तैरक्षरमूर्त्तिस्वरूपै मुक्ताफलैः कविता गुम्फिता ॥४५॥

गोपिभिः सह श्रीकृष्णस्य जल क्रीड़ां वर्णयति–स्तिमितेति । जलेन स्तिमितकोमलसूक्ष्म परिधेय

यहाँ अन्नमयादि कोष पञ्चक एवं जीवात्मा के विश्वादि अवस्थात्रय—हैं, उसकी प्रसिद्धि केवल वेदान्त-शास्त्र में ही है, सुतरां अन्यत्र अप्रतीत होने से उल्लिखित वाक्य--अप्रतीत नामक दोष दुष्ट है ॥४३॥

हे तपस्विन् ! तुम, अपान अभोजन एवं अमेहन हेतु कष्ट उठा रहे हो, किन्तु कष्ट भोग से प्रयोजन क्या है ? कृष्ण भजन कर सुखी बनो ।

यहाँ अपान अर्थ से पानाभाव, एवं अमेहन अर्थ से मेहन अथवा तैलादि स्नेह का अभाव, कविका अभिप्रेत होने पर भी अपान शब्द से अधोवायु एवं मेहन शब्द से मूत्र क्षरण रूप अर्थ प्रसिद्ध होने से व्रीड़ा व्यञ्जकता प्रयुक्त उक्त वाक्य अश्लील हुआ है ॥४४॥

जो व्यक्ति वैष्णव निन्दा परायण है, उस का वाक्य,—वान्त सदृश है, उसको दुःखदायिनी है, उस का उत्सर्ग भी विषतुल्य है ।

यहाँ वान्तादि शब्द जुगुप्सा दायक हैं, प्रवृत्ति का अर्थ—वार्त्ता हैं, उत्सर्ग का अर्थ दान होने पर भी मलोत्सर्ग का बोध होता है, अतः वह भी जुगुप्सा दायक है ।

वान्त शब्द भी वमधातु निष्पन्न अन्यान्य पद का प्रयोग, अर्थान्तर संक्रमित ध्वन्यादि स्थल में दोषा वह नहीं होता है । इस सम्बन्ध में मुरारि कवि का प्रयोग भी इस प्रकार है—"सुकवि कर्त्तृक वान्त वा आविष्कृत अक्षर मूर्त्ति विशिष्ट मुक्ताफल निकर के द्वारा कविता रूप माला ग्रथित होती है ।" ४५॥

जितमपि भुजपाशैः कान्तमाबध्य शृङ्गा
　　हरण कुतुकखेलां सुभ्रुवो नाटयन्ति ॥"

इति कन्दर्पमञ्जरी ! "मा वम संवृणु विषमिदम्" इति सातङ्कं पितामहेनोक्तम्, (आर्य्यासप्तशत्याम्) "प्रातर्जयति सलज्जः कज्जलमलिनाधरः शम्भुः" इति गोवर्द्धनः ॥४६॥

सङ्केतं सा पितृवने चकाराद्य तपस्विनी। जीवितेशस्य संज्ञायै रङ्गिणी मङ्गलक्षये।
पितृवने—पितुरुद्याने, तपस्विनी—विरहिणी, जीवितेशः कान्तः, मङ्गलक्षये मङ्गलगृहे इत्यादिभिः श्मशान–यम–मङ्गलाभावाः प्रतीयन्ते, इत्यमङ्गलमश्लीलम् ॥४७॥

विद्वत् सभायां भासित्वं दोषाकर इवोज्ज्वलः।
विद्यया च तथा धीरः सुराचार्य्यः सुरालये ॥

वस्त्रैरुद् वान्ता या कान्तानामूरुवेशपीनस्तनजघननितम्बानां कान्तिधारा, तस्याः प्रहारै जितमपि श्रीकृष्णं भुजपाशैः करणैः कण्ठदेशमाबध्य जलयन्त्राहरण खेलां नाटयन्ति। "शृङ्ग प्रधाने शिखरे विषाणे जलयन्त्रके" इति। "विषं मा वम, किन्तु संवृणु' इति पितामहेनोक्तम् ॥४६॥

पक्षे,—पितृ वने श्मशाने, जीवितेशस्य यमस्य, मङ्गलक्षये मङ्गलाभावे ॥४७॥

विद्वदिति। तथा विद्यया च उज्ज्वलः, सुरालये—देवगृहे, सुराचार्य्यो बृहस्पतिरिव। अपरोऽपीति।

कन्दर्प मञ्जरी ग्रन्थ में लिखित है—सलिलार्द्र सूक्ष्म सुकोमल वसन कुसुक–उद्भ्रान्त, जो कमनीय ऊरुस्थल एवं पीण स्तन जघन नितम्ब बिम्ब के कान्ति पुञ्ज हैं, उसके प्रहार से सुभ्रू गण श्रीकृष्ण को निर्जित करके उनको भुजपाश से बन्धन पूर्वक उनके हस्त से जलयन्त्र आहरण रूप कौतुक क्रीड़ा का विस्तार किये थे।

गोवर्धनाचार्य्य की कविता भी इस प्रकार है—प्रभात में भगवान् पार्वतीपति की वन्दना के समय में उनके कज्जल मलिन अधर बिम्ब दर्शन से भीत होकर पितामह जैसे उनको कहे थे—"प्रभो नीलकण्ठ! प्रसन्न हो जाओ! कालकूट वमन और न करो, सम्वरण करो" नील कण्ठ—उतने ही लज्जित होने लगे थे। कारण, पार्वती के कज्ज्वल रञ्जित नयन चुम्बन से ही जो निज अधर मलिन हुआ है, एवं उससे ही पितामह को कालकूट उद्गिरण भ्रम हुआ है, उस को आप समझ गये ॥४६॥

अद्य वह तपस्विनी रङ्गिवृन्द के मङ्गलक्षय स्वरूप पितृवन में जीवितेश की संज्ञा के निमित्त सङ्केत किये। तात्पर्य्य यह है कि—अद्य वह विरहिणी रङ्गशालि जनके मङ्गल जनक गृह स्वरूप निज पिता के उद्यान में कान्त की संज्ञा हेतु सङ्केत किये।

यहाँ पितृवन शब्द से श्मशान, जीवितेश शब्द से यम एवं मङ्गलक्षय शब्द से मङ्गल हानि अर्थ प्रतीत होने से अमङ्गल रूप अश्लील हुआ है ॥४७॥

विद्वत् समाज में तुम दोषाकर के तुल्य उज्ज्वल रूपसे शोभित हो, एवं सुरालय में सुराचार्य्य के समान विद्याबल से विद्योतित होते हो।

अत्र किं दोषाणामाकरः किं वा दोषाकर श्चन्द्रः; किं सुराणामाचार्य्यः, किं वा सुरायामाचार्य्यः ? एवमपरोऽपि—इति सन्दिग्धं वाक्यम् ॥४८॥

हरिचरणरत्न किरणोज्जागरमम्भोदकुसुमजन्मनां गहनम् ।
अनुहरति प्रसवाशुगकूर्दन निद्रोत्थयुवतिमुखसुषमाम् ॥

अत्र हरिचरणं विष्णुपदम्बरं तस्य रत्नं मणिः, द्युमणिः सूर्य्य इत्यर्थः । उजागरं प्रफुल्लता, अम्भोदकुसुमजन्मानि कमलानि, प्रसवाशुगः कामः, कूर्दनं केलिः—इति नेयार्थः । इति वाक्यं नेयार्थम् ॥४९॥

श्रीकृष्णस्य जनानां निरुपधि निहिता पदाम्भोजे ।
शमयति सुकृतं जनयति दुष्कृतमेकान्ततनिर्मला हि मतिः ॥

अत्र श्रीकृष्णस्य चरणाम्भोजे निहिता जनानां मति र्दुष्कृतं शमयति, सुकृतं जनयतीति वक्तव्ये यथास्थितं क्लिष्टमिति वाक्यमेव क्लिष्टम् ॥५०॥

सुरालये मदिरालये ॥४८॥

सूर्य्योदयेन प्रफुल्लित कमलानां गहनं वनं कर्त्तृ कन्दर्प क्रीडा जन्य निद्रायाः सकाशादुत्थिता या युवतिस्तस्या मुखशोभां हरति । अम्भोद कुसुमं मेघपुष्पं जलमित्यर्थः, तस्माज्जन्म येषां तथा भूतानि कमलानि ॥४९॥

श्रीकृष्णस्य पदाम्भोजे निहिता जनानाञ्च मतिर्दुष्कृतं शमयति, सुकृतं जनयति ॥५०॥

यहाँ दोष समूह का आकर, इस अर्थ से दोषाकर अथवा दोषाकर चन्द्र है। सुरगण के आचार्य्य—इस अर्थ में सुराचार्य्य है, अथवा सुरायामिति से आचार्य स्वरूप—इस अर्थ में सुराचार्य एवं सुरवृन्द के आलय अर्थ में सुरालय, अथवा सुरा का आलय अर्थ में सुरालय होता है, इस प्रकार सन्देह होने से वाक्य भी सन्दिग्ध हुआ है ॥४८॥

हरि चरण रत्न के किरण जाल से जागरित अम्भोद कुसुम जन्मा के कानन प्रसवाशुग कूर्दन जनित निद्रा से उत्थित युवति जन के वदन सौन्दर्य्य का अनुकरण कर रहा है।

यहाँ हरि चरण शब्द से विष्णु पद वा आकाश है, उसको रत्न वा द्युमणि—के अर्थ से सूर्य्य का बोध होता है। उस सूर्य्य के किरण जाल से जागरित वा प्रफुल्ल जो अम्भोद कुसुम जन्मा वा मेघपुष्प जन्मा अर्थात् जलज पद वाच्य पद्म, उसका गहन, प्रसवाशुग वा पुष्पवाण धारी कन्दर्प का कूर्दन वा क्रीड़ा जनित निद्रा से उत्थित जो युवति जन, उसका मुख सौन्दर्य्य का अनुकरण कर रहा है—इस प्रकार अर्थ है।

किन्तु वाक्य के अधिकांश पद ही नेयार्थ होने के कारण—उक्त वाक्य नेयार्थ नामक दोष दुष्ट हुआ है ॥४९॥

श्रीकृष्ण के चरणाम्बुज में जन गणके अकपट से निहित नितान्त निर्म्मला मति—दुष्कृत को विदूरित करके सुकृत सञ्चय कर देती है।

नवं वयस्तेऽधिकसौकुमार्य्यता, प्रियानुरागामृतसिन्धुरत्नता ।
यथोत्तरं वृद्धिमती गुणावलिः का ते समाना भवतीह राधिके ? ।

अत्राधिकसौकुमार्य्यता प्रियानुरागेत्यादि च विधेयम्, तच्च समास गतत्वेनाविमृष्टम् । तेन 'नवं वयस्ते सुकुमारताधिका, प्रियस्य च प्रेम नवं नवं त्वयि' इति साधु ।।५१।।

असमासगतत्वेऽपि वाक्याविमृष्टविधेयांशत्वं द्रष्टव्यम् ।

यथा—सौभाग्यं मम पुनरेतदेव कृष्ण, यत् कान्तागणगणने ममापि लेखः ।
अत्रायं यदधिक आदरस्तदेतन्माहात्म्यं तव परमुत्तमं कृपायाः ।।

अत्र एतदेवेति विधेयम्, नत्वनुवाद्यम् । तत्तु पश्चान्निर्देशेनाप्यनुवाद्यमेव जातम् । तेन 'अस्माकं पुनरिदमेवसौभगं यत्, कृष्णे त्वज्जनगणने ममापि लेखः' इति पाठ्यम् ।

अत्रास्माकमिति बहुवचनं स्थाने विधेयतां याति, ममापीति एकवचनमपि स्थाने विधेयतां याति ।।५२।।

अधिकं सौकुमार्य्यं यस्यास्तस्या भावः सौकुमार्य्यता सौकुमार्य्यमेव, तत्तु एवं क्रमेण समासे गुणीभूतमेव । समास गतत्वं विनापि वाक्येऽविमृष्टविधेयांशत्वं सम्भवतीत्याह—असमासेति ।।५१।।

एतदेवे सौभाग्यं मम पुनरित्यन्वये एतदित्यस्य विवक्षितं विधेयत्वं न सम्भवति, पश्चान्निर्देशात् । किन्तु, अनुवादस्वरूपत्वमेव तस्य जातम् । अतः सौभाग्यमित्यस्य विधेयस्याविमृष्ट विधेयांशत्वम् । "अनुवाद मनुक्त्वैव न विधेयं प्रयोजयेत्" इति वचनात् । तस्मादस्माकं पुनरिदमेव सौभगमिति पाठे एतत् पदस्य पश्चान्निर्देशाभावाद् विधेयत्वं सिद्धमितिभावः । अत्र विधेयान्तरमप्याह—स्थाने प्रकृति प्रत्यय-मर्य्यादायाम्, अस्माकमित्यत्र बहु वचनस्यापि विधेयत्वं ज्ञेयम् ।

इस वाक्य के मूलस्थित संस्कृत-श्लोक में पद समूह की सन्निवेश जिस प्रकार हुआ है, उसमें उक्त पद समूह का परस्पर सम्बन्ध, विलुप्त होने के कारण, समग्र श्लोक क्लिष्ट हुआ है ।।५०।।

हे राधे ! तुम्हारे नवीन वयस, अधिक सौकुमार्य्यता एवं प्रियानुरागामृत सिन्धु रत्नता एवं उत्तरोत्तर वृद्धिमती गुणावली समस्त ही अलोक साधारण हैं, इस संसार में कौन तुम्हारी सदृशी हो सकती है ?

यहाँ अधिक सौकुमार्य्यता इत्यादि विधेय है । किन्तु अधिक हुआ है, सौकुमार्य्य जिसको वह अधिक सौकुमार्य्या है, उसका भाव अधिक सौकुमार्य्यता है, इस तात्पर्य्य से समास करने से विधेयांश है, उस समास में गुणीभूत हुआ है, एवं उससे अविमृष्ट विधेयांश नामक दोष हुआ है । अतएव उस वाक्य में "हे राधे ! तुम्हारा नवीन वयस, समधिक सुकुमारता, प्रिय के प्रति नव नव प्रेम " इत्यादि रूप परिवर्त्तन ही साधु है ।।५१।।

समासत्व व्यतीत भी वाक्य में अविमृष्ट विधेयांश दोष होता है । दृष्टान्त—हे कृष्ण ! मेरा सौभाग्य यही है कि—कान्तागण की गणना में मेरा उल्लेख होता है, उस में भी जो यह अधिक आदर है, यह तुम्हारी अपार कृपा का परम माहात्म्य है ।

यहाँ "यही मेरा सौभाग्य है" यहाँ "यही" यह एतत् पद विधेय है, किन्तु पश्चात् निर्देश हेतु यह

यथा वा—अपाङ्ग भङ्गेन धृतिंधुनोते, कालेन वेणोश्च ह्रियं लुनीते ।
कुलञ्च शीलञ्च पुनः पुनीते, स्पर्शेन योऽसौ पुरतः प्रियस्ते ॥

अत्र योऽसावित्येतयोः पदयोः पूर्वमनुवाद्यं द्वितीयन्तुविधेयम्, सन्निकृष्टतमत्वेन द्वितीय मेवानुवाद्यवत् प्रतिभासते। तेन 'स्पर्शेन यस्ते सखि सोऽभ्युपैति' इति वाच्यम् ।

एवं प्रस्तावतो यत्तदोः सम्बन्धोऽपि विचार्य्यते । तथा हि—यत्र हि प्रक्रान्त प्रसिद्धानुभूतार्थ विषय स्तच्छब्दः, तत्र हि यच्छब्दो नापेक्षितः स्यात् ॥५३॥

यथा—वृन्दावने चन्दन वातशीते, स चन्द्रिकायां निशि सुन्दरीभिः ।
कलिन्द-कन्या-पुलिनेऽतिरम्ये, स रासलास्योत्सव मातनोत् ॥

अयमर्थः—मम एकस्यां अपि त्वज्जन मध्ये लेखश्चत्तदा सखी सहितोनामस्माकं बहूनामिदं सौभगम्। अत्रास्मन्निष्ठ बहु वचनस्य विधानं तथात्वन्निष्ठैकत्वस्यापि विधानं ज्ञेयम् ॥५२॥

यः पुनः स्पर्शेन तव कुलं शीलं च पुनीते, असौ श्रीकृष्णः पुरतोऽग्रे वर्त्तते । अत्र य इत्यनुवादः, असाविति विधेयम् । अत्र यत्तदोरत्यन्त सन्निकृष्टत्वेनासाविति पदमनुवादवद् भासते ।

यत्र हीति—यत्र तच्छब्दः प्रक्रमवाची, तथा प्रसिद्धवाची, अथवा, अनुभूतार्थवाची, तत्तत्स्थले यच्छब्दापेक्षा नास्तीत्यर्थः ॥५३॥

चन्दन पवनेन शीतेत वृन्दावने तथा चन्द्रिका सहितायां निशि, एवं यमुनाया रम्ये पुलिने स पूर्व

अनुवाद्य हो गया है । अतएव "हमारा यही सौभाग्य है कि तवीय जन गण की गणना में मेरा उल्लेख होता रहता है । इस प्रकार पाठ करना होगा ।

यहाँ "हम सबके" इस अस्मद् शब्द के उत्तर में जो बहु वचन प्रयुक्त हुआ है, उसका विधेयत्व समुचित ही है, मेरा भी' इस अस्मद् शब्द के उत्तर एक वचन का भी विधेयत्व हुआ है ।

वाक्य का तात्पर्य्य यह है कि—"मैं" स्वरूप जो एक व्यक्ति है, इस एक व्यक्ति को भी गणना यदि त्वदीय जनगण के मध्य में हो, तो सखी के सहित हम सब हैं, हम सब का ही यह सौभाग्य है, सुतरां यहाँ अस्मन्निष्ठ बहु वचन एवं त्वन्निष्ठ एक वचन—उभय का ही विधेयत्व हुआ है ॥५२॥

उदाहरण—जो अपाङ्ग भङ्गि के द्वारा धैर्य्य को विधूनित, वेणुके कलस्वर से लज्जापहरण, एवं स्पर्श के द्वारा कुलशील पवित्र करता है, वही तुम्हारे प्रिय पुरोभाग में वर्त्तमान है ।

यहाँ के श्लोक में यद् एवं अदस् शब्द के प्रयोग से प्रथम अनुवाद्य; द्वितीय—विधेय, किन्तु अत्यन्त सन्निकृष्टता हेतु द्वितीय अनुवाद्य के समान प्रतीत हो रहा है, अतएव मूलानुरूप यत्तत् पद का परिवर्त्तन कर पाठ करना ही कर्त्तव्य है ।

प्रस्तावक्रम से यहाँ यत्तद के सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है । जहाँ तद् शब्द—प्रक्रम वाचक, प्रसिद्धि वाचक, अथवा अनुभूतार्थ वाचक होता है, वहाँ तद् शब्दको यद् शब्दकी अपेक्षा नहीं रहती है ।५३।

उदाहरण—चन्दन वातशीतल वृन्दावन धाम में ज्योत्स्नोज्ज्वला यामिनी में सुरम्य यमुना पुलिन में वह व्रज सुन्दरी गण के सहित रास लास्य का उत्सव किया था ।

अत्र 'स' इति प्रक्रान्तं श्रीकृष्णमेव प्रस्तौति । "स रासलीलां वितनोति कृष्णः" इति पाठे स इति प्रसिद्धिमात्रद्योतकम् ।।५४।।

सा कान्तिरेकान्तररसायनं दृशो, स वाग् विलासः श्रवसां सुधाश्रवः ।
तद्वीक्षितं प्रेमरसस्य दुर्दिनं, कदा पुनर्मे विषयो भविष्यति ।।

अत्र तच्छब्दोऽनुभूतार्थः । एवमस्मिन्नर्थे वीप्सापि दृश्यते ।।५५।।

ते ते कटाक्षः स स वाग्विलासः, स्तत्तत् स्मितं तत्तदसीम धाम ।
ते ते गुणा हन्त समस्तमेव, ममाधुना कृन्तति मर्म मर्म ।।

एवं चोत्तर वाक्यस्थो यच्छब्दः पूर्व वाक्यस्थ तच्छब्दं प्रति न साकाङ्क्षः ।।५६।।

यथा—त्रैलोक्य लक्ष्मी मुकुटैकरत्नं, श्रीकृष्ण एव प्रणयेन-सेव्यः ।—
येन स्वकीयं पदमादरेण, प्रदीयते मुक्त्यधिकं भजद्भ्यः ।।

प्रक्रान्तः, श्रीकृष्ण उत्सव मातनोत ।।५४।।

-सा अनुभूता कान्तिर्दृशामेकान्तरसायनम् । सोऽनुभूतो वाग् विलासः कर्णानां सुधाप्रस्रवण रूपः । तद्वीक्षितं प्रेमरूपस्य दुर्दिनं वर्षक मेघ--स्वरूपम् । एवम्भूतः कान्त्यादिः, कदा पुनरिन्द्रियाणां विषयो भविष्यति । एवमिति--अस्मिन्नर्थे अनुभूतार्थे ।।५५।।

अधुना माथुर विरहेण व्याकुला श्रीराधिका आह—तत्तत् सीमारहितं धाम प्रभावादि, "गृह--देह--त्विट्-प्रभावा धामानि" इति, समस्तमेव मर्म कृन्तति । शोके वीप्सावां द्विरुक्ति न दुष्यति ।।५६।।

त्रैलोक्यस्य शोभारूपाया लक्ष्म्या मुकुटस्यासाधारण रत्न स्वरूपः श्रीकृष्ण एव सेव्यः, येन मुक्त्यधिकं

यहाँ 'वह' शब्द से प्रक्रान्त श्रीकृष्ण का बोध होता है, वह श्रीकृष्ण-रासलास्य किया था, इस प्रकार पाठ करने से 'वह' तद् शब्द प्रसिद्धिमात्र का द्योतक होता है ।।५४।।

उदाहरण—लोचन युगल के एकान्त रसायन वह कान्तिच्छटा, कर्ण कुहर के सुधानिष्यन्द स्वरूप वह वाग्विलास एवं प्रेमरस वर्षण शील मेघसदृश वह विलोकन कब पुनर्वार मेरे इन्द्रिय वृन्द के विषय होगा ? यहाँ कान्तिच्छटा, वह वाग् विलास इत्यादि स्थल में जो तद् शब्द है, वह अनुभूतार्थ बोधक होता है ।

अनुभूतार्थ विषयक जो तद् शब्द—एवं उस की वीप्सा अर्थात् पुनः पुनः उच्चारण दृष्ट होता है ।।५५

उस उस कटाक्षच्छटा, उस उस वाग् विलास, उस उस मृदुहास्य, उस उस असीम प्रभाव तत्तत् गुण राशि, हाय ! समस्त ही अधुना मेरा मर्मच्छेद कर रहे हैं ।

उत्तर वाक्यस्थ यद् शब्द पूर्व वाक्यस्थित तद् शब्द साकाङ्क्ष नहीं हैं ।।५६।।

त्रैलोक्य लक्ष्मी के मुकुटस्थित अद्वितीय रत्न स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण ही प्रणय पूर्वक सेवनीय हैं, जो सेवक के सम्बन्ध में मुक्ति से अधिक स्वकीय पद प्रदान समादर पूर्वक करते रहते हैं ।

यहाँ उत्तर वाक्यस्य यद् शब्द तद् शब्द व्यतीत ही स्वच्छन्द से शोभित है ।

अत्रोत्तरपदस्थो यच्छब्दः स्वाच्छन्दिकृतैव शोभते। पूर्वं वाक्यस्थो यच्छब्द उत्तर वाक्यस्थं तच्छब्दं प्रति सापेक्षः। यथा-'येन स्वकीयं प्रणमादरेण' इत्याद्युत्तरमर्धं पूर्वार्धं यदि भवति, तदैव तच्छब्दाकाङ्क्षा तेन 'श्रीकृष्ण एव प्रणयात् स सेव्यः' इति चतुर्थं चरणं पाठ्यम् ॥५७॥

द्वयोरनुपादानेऽपि द्वयोरर्थः क्वचिदवगम्यते। यथास्मद् गुरवे, (श्रीनाथ विरचितायां श्रीचैतन्यमतमञ्जुषायाम्)

न वादिनि निग्रहः साध्यो न शिष्यानुग्रहोऽपि नः।
उभयायितरूपस्य मनसो ह्युभयं मतम्॥

अत्र यो वादी भवति तस्य जिगीषा मे नास्ति, यः शिष्यो भवति, तस्मिन्नप्यनुग्रहो नास्ति, किन्तु मन एव उभयायितम्। तेन तस्यैवोभयं निग्रहानुग्रहौ, इति वाक्यद्वये पूर्व-वाक्ये यत्तदोरभावेऽपि यत्तदर्थं प्रत्याय्यकत्वम् ॥५८॥

तथास्मिन्निति शब्दः स इत्यस्यार्थं नाभिधत्ते। यथा—

असौ गुणानां निकषो गुणानामुत पत्तिभूमिर्भवती च राधे।
जनस्तृतीयः कथमत्र योग्यो, येन द्वयोर्वैत्यमुरी क्रियेत ॥

स्वकीयपदं दीयते। तत्र पदं त्वनेन यच्छब्दक्रमेण शोभते। द्वयोर्यत्तदोरनुपादानेऽपि ॥५७॥

अथ ये पण्डिता स्ते वादिषु निग्रहं शिष्येष्वनुग्रहं कुर्वन्ति, एतद्द्वयमिदं तेषां साध्यम्, मम तु तद् द्वयं साध्यं न भवति, किन्तु मन्मन एव मम वादि। तथाहि 'रे मनस्त्वं भगवच्छ्रवण कीर्तन स्मरणादौ तिष्ठ, विषयेषु सदा मा तिष्ठ' इति मदाज्ञामस्वीकुर्वत् सदा विषयेषु तिष्ठति। अतो भगवच्चरणाश्रयण रूप बलेन तन्मनो निर्जित्य शिष्यं करिष्यामीति पश्चाद् भगवन्मधुर नाम कीर्तनादौ निमज्जन रूपानुग्रहं मनोरूप शिष्ये विधास्यामीत्याह न--वादीति। उभयायित रूपस्य वादिशिष्य स्वरूप मनसः उभयं निग्रहानुग्रहौ मतं मम सम्मतम् ॥५८॥

पूर्ववाक्यस्थ यद् शब्द उत्तर वाक्यस्थ तद् शब्द का साकाङ्क्षत होता है। जैसे पूर्वोदाहरण में "जो स्वकीयपद प्रदान समादर पूर्वक करते हैं" यह उत्तरार्द्ध यदि पूर्वार्द्ध होता है, तो तद् शब्द की आकाङ्क्षा उपस्थित होती है। तादृशस्थल में चतुर्थ चरण परिवर्तन करके "वह श्रीकृष्ण प्रणय पूर्वक सेवनीय हैं॥" इस प्रकार पाठ करना चाहिये ॥५७॥

— यद् एवं तद् एतदुभय के अनुपादान में भी स्थल विशेष में उभय की अर्थावगति होती है। जिस प्रकार गुरु चरण की उक्ति है – पण्डित गण के समान वादी के प्रति निग्रह एवं शिष्य के प्रति अनुग्रह करना मेरा साध्य नहीं है। किन्तु वादी वा शिष्य एतदुभय स्वरूप जो निज मन है, उसके प्रति निग्रहानुग्रह उभय करण ही मेरा अभिप्रेत है।

— यहाँ जो वादी है, उसके प्रति जिगीषा वा जो शिष्य है, उसके प्रति मेरा अनुग्रह नहीं है, किन्तु मन वादी एवं शिष्य उभय स्वरूप होने के कारण उसके प्रति निग्रहानुग्रह करना ही मेरा अभिप्रेत है। इस

अत्र स इत्यर्थे नासौ शब्दः अपितु प्रक्रान्ते एवार्थे यद्यपि 'यस्ते प्रियोऽसौ न जहाति पार्श्वम्' इति यच्छब्दानन्तरं व्यवहितोऽप्यसौशब्द स्तच्छब्द प्रतीतौ समर्थवद् भासते,तथापि विना तच्छब्दान्तरं न वाक्यार्थपरिपोष, तच्छब्दोपादानेनैव स स्यात् । यथा—'यस्ते प्रियोऽसौ स तवैव पार्श्वे' इति ॥५६॥

यस्तेमनोरत्नहरः सुनेत्रे, नवीन नीलाम्बुदरम्य कान्तः।

राकेन्दु निन्दाकरवक्त्र बिम्बो, मयायमालोकि वनं प्रयान्त्या ॥ इति ।

क्वचिदिदं शब्दवददः शब्दोऽपि तच्छब्दार्थं मभिधत्त इति यत् तत्तुनैक वाक्यस्थम् उत्तर वाक्यस्थमेव तथा, न तु योऽय सोऽसाविति यच्छब्द निकटत्वे सति प्रसिद्धार्थ बोधकमेव, यथा यच्छब्द निकटस्थ तच्छब्दः प्रसिद्धार्थमेवाभिधत्ते ॥६०॥

असाविति—असौ प्रक्रान्तः श्रीकृष्णो गुणानां स्वर्ण स्थानीयानां निकषः परीक्षा प्रस्तरः। हे राधे ! त्वं गुणानामुत्पत्ति भूमिः। अहन्तु गुण रहित स्तृतीयोजनः। अत्र दौत्य कर्म्मणि कथं योग्यो भवामि।

यद्यपि यस्ते प्रियः, असौ स श्रीकृष्णः पार्श्वं न जहाति, तथाप्यत्र तच्छब्दस्य प्रयोगं विना केवलमसौ शब्देन स इत्यर्थ बोधो न भवति। तस्मात् यस्ते प्रियोऽसौ, स तवैव पार्श्वे इति शुद्धम्॥५६॥

यस्ते मनोरत्नहरोऽयं स श्रीकृष्णो मया आलोकि, इत्यत्र इदं शब्दस्तच्छब्दार्थ बोधकः तद्वदेवः शब्दोऽपि यदुक्तम्, तत्तु नैक वाकयस्थम्, अपि तूत्तर वाक्यस्थमेव। न तु योऽयं सोऽसाविति यच्छब्द निकटत्वे सति तादृशस्थले प्रसिद्धार्थ बोध एव भवतीत्यर्थः ॥६०॥

वाक्य द्वयके मध्य में पूर्व वाक्य में यत्तद् के अभाव में भी उसकी प्रतीति होती है ॥५८॥

अदस् शब्द की प्रथमा विभक्ति के एक वचन में निष्पन्न असौ यह पद- तद् शब्द के प्रथमा का एक वचन में निष्पन्न सः—इस पद का अर्थ प्रकाश नहीं करता है। दृष्टान्त—

वह जिस प्रकार गुण राशि का निकष स्वरूप है, तुम भी गुणि गण खनि उत्पत्ति भूमि हो, मैं गुण हीन हूँ। तृतीय व्यक्ति किस प्रकार मुझको तुम्हारे दौत्य कर्मके उपयुक्त मानकर स्वीकार करेगा।

यहाँ मूल में 'स' इस अर्थ में असौ पद का प्रयोग नहीं हुआ है। प्रक्रान्त अर्थ में ही हुआ है। "यस्ते प्रियोऽसौ न जहाति पार्श्वं" यहाँ यद्यपि यद् शब्द के अनन्तर 'असौ' यह पद व्यवहित रूप में सन्निवेशित होकर तद् शब्द के प्रतीति विषय में समर्थ के समान बोध होता है, तथापि और एक तद् शब्द का प्रयोग व्यतीत वाक्यार्थ का पोषण नहीं होगा। केवल तद् शब्द का उपादान से ही वह होगा। अतएव "यस्ते प्रियोऽसौ स तवैव पार्श्वे" अर्थात् जो वह तुम्हारे प्रिय हैं वह तुम्हारे निकट है, इस प्रकार प्रयोग ही शुद्ध है।५९॥

हे सुलोचने ! नव नील नीरद वृन्द सुन्दर पूर्णेन्दुनिन्दि मुखमण्डल जो तुम्हारे चित्तरत्न चोर हैं, वन गमन समय में यह मदीय नेत्र पथ के अतिथि हुआ।

यहाँ इदम् शब्द जिस प्रकार तद् शब्दार्थ बोधक है, उस प्रकार क्वचित् अदस् शब्द भी तद् शब्दार्थ का वाचक होता है, यह जो कहा गया है, वह एक वाक्यस्थ होने से नहीं होगा, उत्तर वाक्यस्थ होने से

यद् यथा—राधामाधवयोर्यत्तत् प्रेमक्षेमकरं महत् ।
सत् किं वर्णयितुं शक्यं गिरादेव्यापि कर्हिचित् ?

अत्र तत् किमिति पुनस्तच्छब्देनैव निराकाङ्क्षम् ।

एवं प्रागुपात्तस्य यच्छब्दस्य वीप्सायामुत्तर वाक्यस्थ तच्छब्दस्यापि वीप्सा कर्त्तव्यैवेति न नियमः,—तदकरणेऽपि दोषाभावात् । यतो वीप्सा प्रतिपाद्यं यत् किञ्चिच्छब्दार्थ रूपं तदेवोत्तरं वाक्यस्थैक—तच्छब्देनैव समर्थ्यते, उत्तर वाक्यस्थित सामर्थ्यादेव ॥६१।

यथा—गुणः अपि क्वापि भवन्ति दोषा, दोषा अपि क्वापि गुणा भवन्ति ।
यो यो गुणस्ते स स तादृगेव दोषस्तु यो यो न च तस्य लेशः ॥

अत्र तृतीय चरणे द्वयोरपि वीप्सा, चतुर्थ चरणे यच्छब्दस्यैव । उक्तोदाहरण द्वये प्रम.ण्यम् ।

यच्छब्द निकटस्थ तच्छब्दस्य प्रसिद्धार्थं बोधकत्वे उदाहरणमाह—राधामाधवयोर्यत्तत् प्रसिद्धं प्रेम तत् किं वर्णयितुं शक्यम् ।

अत्र द्वितीय—तच्छब्देन सह यच्छब्दस्याकाङ्क्षा, तेनैव यत्‌पदं निराकाङ्क्षम् । अतः प्रथम तत्पदं प्रसिद्धार्थमेव । अथ यत्र पूर्वोक्तस्य यच्छब्द-द्वयस्य वीप्सायां पाठ स्तत्रोत्तरवाक्ये तच्छब्दस्य द्विः पाठः । कुत्रचित् पूर्ववाक्ये यच्छब्दस्य पाठद्वयेऽप्युत्तरवाक्ये तच्छब्दस्यैक एव पाठः । अतो न नियम इत्याह—एवमिति ॥६१॥

तदुभयस्योदाहरणमाह—गुणा इति । कस्यचित् पुरुषस्य पाण्डित्यादयो गुणा असत्सङ्गेन दोषा भवन्ति । उक्तं हि चतुर्थस्कन्धे—(३।१७) "विद्यातपोवित्तवपुर्वयः कुलैः सतां गुणैः षड्भिरसत्तमेतरैः" इति । एवं स्त्री-पुत्रादि—सहित-गृहरूप दोषा अपि सत्सङ्गेन गुणा भवन्ति । उक्तं हि दशमस्कन्धे—(१०।१४।३६) ब्रह्मणा "तावद् रागादयस्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्" इति । तव तु यो यो गुणः स स तादृगेव गुणरूप एव, न कदाचिद् दोषरूपः । अत्रोभयत्रैव वीप्सा ।

ही होगा । इस प्रकार जानना होगा । अन्यथा "योऽयं योऽसौ" इस प्रकार यद् शब्द निकट वर्त्ति स्थल में नहीं होगा । तादृशस्थल में वह यद् शब्द निकटस्थ तद् शब्दके समान प्रसिद्धार्थ बोधक ही होता है ॥६०॥

उक्त विषय का दृष्टान्त—राधा माधव के जो यह क्षेमकर सुमहत् प्रेम है, भगवती सरस्वती भी कभी उसका वर्णन करने में समर्थ है ?—यहाँ "उसका वर्णन करने में" यह द्वितीय तद् शब्द के द्वारा ही यद् शब्द की निरकाङ्क्षता हुई है । प्रथम तत् पद यहाँ प्रसिद्धार्थ मात्र है ।

इस प्रकार पूर्व वाक्यस्थ यद् शब्द की वीप्सास्थल में उत्तर वाक्यस्थ तद् शब्द की जो वीप्सा करनी ही पड़ेगी—इस प्रकार नियम नहीं है । कारण, वैसा न होने से भी दोष नहीं है । कारण, वीप्सा प्रतिपाद्य जो कुछ शब्दार्थ रूप वस्तु है, वह उत्तर वाक्यस्थ एक तद् शब्द के द्वारा ही समर्थित होती है । उत्तर वाक्य में अवस्थिति प्रयुक्त ही तद् शब्द की उस प्रकार सामर्थ्य होती है ॥६१॥

गुण भी कहीं पर दोष होता है, दोष भी कहीं पर गुण होता है, किन्तु तुम्हारे गुण जो जो है, वह तादृश ही होता है, एवं जो जो दोष शब्द से गण्य हैं, उसका लेश भी तुम्हारे में नहीं है ।

(रघुवंशे ६।६९) "यं यं व्यतीयाय पतिवरा सा, विवर्ण भावं स स भूमिपालः" इति कालिदासः। (मालती माधवे प्रथमाङ्के) "यद्यत् पापं प्रतिजहि जगन्नाथ नम्रस्य तन्मे" इत्यादि भवभूतिः ॥६२॥

पदाम्बुजद्वन्द्व परागवाही, सुपावनोऽयं तव मातरिश्वा।
ललाग हे वैष्णव पुण्ययोगात्, पूतः कृतार्थश्च कृतोऽस्मि तेन ॥

अत्र 'तव मातरिश्वाललाग' इति 'तव मातरि श्वा ललाग' इति विरुद्धत्वाद् विरुद्ध मतिकृद् वाक्यम् ॥६३॥

अथ पदांशेऽप्येते श्रुति कटवादय इति यदुक्तं तदुदाहृयते।
परमसहृदयत्वात् सर्वभूतप्रियत्वाद् भगवदनुगतत्वात् सर्वदा दुर्लभत्वात्।
जगति कति न धन्याः पुण्यदेहा दृगन्तैरपिघनमघभाजामप्यघं नाशयन्ति ?

अत्र 'त्वात् त्वात् त्वात् त्वात्' इति पदांशे श्रुतिकटुत्वम् ॥६४॥

एवं जो जो दोषस्तस्य त्वयि लेशोऽपि नास्ति, अत्र यच्छब्दे एकवीप्सा न तु तत् पदे। तच्छब्दस्य वीप्साकरणे तदकरणे च उदाहरणद्वयप्रमाणमाह यमिति। हे जगन्नाथ! नम्रस्य भक्तस्य यद् यत् पापं त्वं जहि तन्मे इत्यादीत्यत्र एक एव तच्छब्दः ॥६२॥

हे वैष्णव तव पदकमल परागवाही मातरिश्वा पवनो ममाङ्गे ललाग। तव मातरि कुक्कुरो ललागेति विरुद्धमतिकृत ॥६३॥

टीका—परमेति। जगति भवद्विधाः पुण्य देहा दृगन्तैः करणै निविडं पापिनां पापं न नाशयन्ति ? अपि तु नाशयन्त्येव ॥६४॥

उक्त उदाहरण श्लोकस्थ तृतीय चरण में उभय की ही वीप्सा एवं चतुर्थ चरण में केवल यद् शब्द की वीप्सा हुई है।

उस उदाहरण द्वय का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—कालिदास की उक्ति है— वह पतिम्वरा जिस जिसको अतिक्रम कर के चली उस उस भूपति विवर्ण भाव को प्राप्त किये थे। भवभूति ने भी लिखा है—हे जगन्नाथ! इस विनत जनका जो जो पाप है, तुम उसको विनष्ट करो ॥६२॥

हे वैष्णव! चरणारविन्द के परागवाही सुपावन त्वदीय यह मातरिश्वा पुण्य हेतु संलग्न है। अतः मैं पूत एवं कृतार्थ हो गया हूँ।

यहाँ "तव मातरि श्वा ललाग" स्थल में तुम्हारे ऊपर श्वा—अर्थात् कुत्ता लगा है। इस प्रकार विरुद्ध बुद्धि का उदय होने के कारण वाक्य भी विरुद्ध मतिकृत नामक दोष दुष्ट हुआ है ॥६३॥

कहा गया है—
पदांश में भी श्रुति कटुतादि जो दोष होते हैं, उसका उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ।
परम सहृदयत्व, सर्वभूत प्रियत्व, भगवदनुगतत्व एवं सर्वदा दुर्लभत्व हेतु इस जगत् में पुण्यात्मा

सत् प्रीतिमत्ता तव किं वदामः, सर्वत्र ते कृष्ण समैव दृष्टिः ।
स्वभावरागा न भवन्ति नूनं, क्वचिद्विरागाः क्वचिदूढ रागाः ॥

अत्र पदांशे 'मत्ता' शब्दः क्षीवार्थेन निहतार्थः । तेन 'प्रीतेः प्रभावं तव किं वदामः' इति पाठ्यम् ॥६५॥

तव तन्वङ्गि तरलैरपाङ्गानां तरङ्गकैः । पञ्चेषोरिषवः पञ्चराधे स्युः शतकोटयः ॥

इति पदांश गतम्, 'अपाङ्गानाम्' इति बहुत्वमनर्थकम् । तेन तव तन्वङ्गि निकरैस्तरङ्गाणामपाङ्गयोः' इति पाठ्यम् । यथा वा (पञ्चमे किरणे १७७) 'दूराद् द्राघयतेऽवगुण्ठन पटं वामाङ्गुलि पल्लवै, रस्यर्णे मयि सङ्कते कर युगेन' इत्यादि ।

हे कृष्ण ! तवसज्जनेषु प्रीति युक्तता किं वदामः, किन्तु सर्वत्र असज्जनेषु कंसादिष्वपि मोक्षदायकत्वात् समैव तव कृपामयी दृष्टिः । जगद्वर्त्तिनोजनास्तु सर्वत्र स्वभावसिद्धानुरागविशिष्टा न भवन्ति, किन्तु क्वचिद् द्वेषिषु विरागाः, क्वचिदनुकूलेषु जनेषु ऊढरागा भवन्ति ।

हे राधे ! तवा पाङ्गानां चञ्चलैस्तरङ्गैः करणैः पञ्चेषोः कन्दर्पस्य पञ्चवाणाः शतकोटयः स्युः ।

सुवलं प्रति श्रीकृष्णः । आह—दूरान्मयि दृष्टे सति स्वमस्तकस्थावगुण्ठन पटं द्राघयते, दीर्घं करोति ।

कितने ही धन्य व्यक्ति—कटाक्ष-मात्र से ही प्राप्ति-कृत्य के त्रिविड पापराशि को विनष्ट करते हैं ।

यहाँ 'स्यात्, स्यात्, स्यात्, इस प्रकार पद का पुनः पुनः प्रयोग होने के कारण श्रुति कटु दोष हुआ है ॥६४॥

उदाहरण—हे कृष्ण ! सज्जन के प्रति तुम्हारी प्रीतिमत्ता की कथा क्या कहूँ ? सर्वत्र ही तुम्हारी समदृष्टि है । साधारण जन गण स्वभावतः सर्वत्र समराग कभी भी नहीं हो सकते हैं, वे प्रियाप्रियभेद से स्थल विशेष में विरागशाली होते हैं ।

यहाँ प्रीतिमत्ता पदसे मत्ता इस अंश में 'उन्मत्त' यह अर्थ निहत है, अतः निहतार्थ दोष युक्त हुआ है । अतः उक्त स्थल में "तुम्हारी प्रीति का प्रभाव को क्या कहूँ ?" इस प्रकार परिवर्त्तन पूर्वक पाठ करना ही कर्त्तव्य है ॥६५॥

अयि कृशाङ्गि राधिके ! तुम्हारे अपाङ्ग समूह की तरल तरङ्ग से पञ्चेषु के पञ्चवाण जैसे शत शत कोटि होते हैं ।

यहाँ अपाङ्ग समूह के स्थल में बहुत्व अनर्थक हुआ है । अतएव "तुम्हारे अपाङ्ग द्वय के तरल तरङ्ग समूह से" इस प्रकार पाठ करना कर्त्तव्य है ।

पञ्चम किरण के १७७ में उक्त है—

दूराद् द्राघयतेऽवगुण्ठन पटं वामाङ्गुलि पल्लवै
रभ्यर्णे मयिसङ्गते करे युगेनाकल्पयंत्यञ्जलिं
आपृष्टानन पद्ममानमयति स्पृष्टा समुत्कण्ठते
वाक्षिण्यं किमु वामतां च सुहृदो नावैदि किञ्चिन्मया ॥

अत्र पल्लवैरिति बहुवचनमनर्थकम्। तेन "लीलाङ्गुलिमुद्रया प्रत्यासेदुषि मय्यसौ करयुगेन' इति पाठ्यम् ॥६६॥

विजेयः कामसमरे राधया माधवो मुदा। सखीमण्डल मध्येऽपि प्रजगल्भेन तत्रपे।
अत्र विजित इति क्त प्रत्यये वाच्ये विजेय इति कृत्य प्रत्ययोऽवाचकः, इति पदांशेऽवाचकः। तेन 'जितोऽपि स्मर संग्रामे' इति पाठ्यम् ॥६७॥

शिरीष-पुष्पादपि पेलवं वपु-र्दुनोति यस्याः शयनेऽपि कौसुमे।
आदर्श वच्छ्वास-समीरणादपि, प्रग्लायतीदं सहते तथा व्यथाम् ॥

अत्र पेलवमित्यश्लीलं व्रीड़ा जनकम्। तेन 'कोमलम्' इति पाठ्यम् ॥६८॥

विविष्ठानां क्लेशकराः शतशो दितिनन्दनाः। हता ह्येकेन हरिणा हरिणा हरिणा इव ॥
अत्र दिविष्ठा इति पदांशेऽमङ्गलाश्लीलम्। तेन 'देवतानाम्' इति पाठ्यम्। एवं पूयते

अर्पणं निकटे मयि सङ्गते सति मयि मां मा स्पृशेत्यर्थ ज्ञापकं करद्वयेनाञ्जलिं करोति। हे प्रिये! कुत आगत्य कुत्र यासीति मया आपृष्टा सती मुख पद्ममीषन्नमयति ॥६६॥

कामक्रीड़ा प्रचुरे जलयुद्धे होलिकोत्सवादौ राधया विजेयो विजितोऽपि माधवः 'अहमेव जितवान्' इति मिथ्या प्रजगल्भे न तु तत्रपे, लज्जां चकारेत्यर्थः ॥६७॥

यस्या राधायाः शिरीष पुष्पादपि पेलवं कोमलं वपुः पुष्प शय्यायामपि दुनोति, दर्पणवत् श्वास पवनेनापि म्लायति, एवम्भूतमपीदं वपुः श्रीकृष्णे मथुरां गते सति तथाविध विरह व्यथां सहते ॥६८॥

उदाहरण—हे सखे! सुनयना मुझ को दूर से देखकर वामाङ्गुलि पल्लव समूह से अव गुण्ठन वसन को दीर्घ करत करती रहती है। मैं निकटवर्त्ती होने पर कर युगल के द्वारा विनय व्यञ्जक अञ्जलि रचना करती रहती है। जिज्ञासा करने पर मुख कमल अवनमित करती है, स्पर्श करने पर कम्पित होती है। फलतः प्रिया के ये सब वामता अथवा दाक्षिण्य हैं, मैंने कुछ भी समझ नहीं पाया।

यहाँ "अङ्गुली पल्लव समूह के द्वारा" बहुत्व अनर्थक हुआ है। अतएव 'लीलामय अङ्गुलि मुद्रा के द्वारा अवगुण्ठन वसन को विलम्बित करती रहती है" इस प्रकार पाठ करना कर्त्तव्य है ॥६६॥

श्रीकृष्ण,—स्मरसंग्राम में श्रीराधा के द्वारा विजेय होने पर भी सखी-मण्डल के मध्य में आनन्द से प्रगलभता करने लगी, कुछ भी लज्जित नहीं हुई।

यहाँ 'विजित यह 'क्त' प्रत्यय वाच्य स्थल में विजेय यह कृत्य प्रत्यय अवाचक हुआ है। अतएव "श्रीकृष्ण काम संग्राम में श्रीराधा के द्वारा विजित होने पर भी" इस प्रकार पाठ करना होगा ॥६७॥

शिरीष पुष्प से भी पेलव जिसका शरीर कुसुम शयन में भी व्यथित होता, एवं आदर्श के तुल्य निश्वास पवन से भी म्लान होता, वही अधुना। तथाविध विरह व्यथा को सह्य कर रहा है।

यहाँ 'पेलव' यह पद व्रीड़ा जनक अश्लील हुआ है। अतएव उसका परिवर्त्तन पूर्वक 'कोमल' इस प्रकार पाठ करना कर्त्तव्य है ॥६८॥

अभिप्रेतादि शब्दाश्च ॥६९॥

मृगाक्षीणां कामरणे निश्चेष्टानां वपुस्पृशन् । स दक्षिणो जगत्प्राणः प्रणयी समपद्यत ॥

अत्र मरण इति पदांशेऽमङ्गलाश्लीलम् । तेन 'गोपिकानां रतिरणे निष्पन्दानाम्' इति पाठ्यम् ॥७०॥

नीलाश्महारो हरिणी दृशां-वत्सरुहोपरि । सरोजकोरकगतो भृङ्गसङ्घ इवाबभौ ।

अत्र वत्स शब्देन वक्षो लक्ष्यते, तच्च नेयार्थं पदांशगतमेव । तेन 'वक्षोरुहोपरि' इति वाच्यम् ।

यद्यपि पूर्वपद ,परिवृत्तिसहमुत्तरपद परिवृत्ति सह मुभयपदपरिवृत्तिसहञ्चेति प्रागेवोक्तम्, तथापि तेषां यथा प्रसिद्धि परिवृत्तिः कार्य्या । सा तु महाकवि प्रयोगतः सहृदय हृदयाऽदूषणाच्च समुचिता भवति । नहि सर्वाण्येकपर्य्यायोक्तानि पदानि परिवृत्ति क्षमाणि । यद्यप्ययमप्रयुक्त एव दोष स्तथापि पूर्वेर्नेयार्थतयाऽयं भेदो लिखित इति लिखितम् ॥७१॥

विविष्ठानां—देवानाम्, विलिनन्दना असुरा एकेन श्रीकृष्णेन हता, हरिणा सिंहेन हता हरिण्यो मृगा इव । पदांशे 'विष्ठा' इति निर्देशादश्लीलम् । पूयते इति, अभिप्रेत इत्यत्र प्रेत इति पदांशे अश्लीलम् ॥६९॥

दक्षिणो जगत् प्राणो दक्षिणानिलो मृगाक्षीणां रतिश्रमदूरी करणार्थं वपुः स्पृशन् सन् प्रणयी समपद्यत, प्रणयीति संज्ञां प्रापेत्यर्थः ॥७०॥

हरिणी दृशामिन्द्रनीलमणिहारो वत्सरुहयोः स्तनयोरुपर्य्यबभौ । कमल कलिका गतो भृङ्ग समूह इव । यद्यपि वत्सशब्दोवक्षः स्थलवाची, तथापि तस्य तत्र प्रयोगो नास्तीति नेयार्थत्वम् ।

अथ पूर्वोक्त द्वितीय किरणे दोषरहित शब्दानामेव त्रिविधा परिवृत्तिः कृता । अत्र तु श्रुतिकटुत्वादि

विविष्ठादि को दुःख दायक, शत शत दैत्य–हरि अर्थात् सिंह कर्त्तृक हरिण समूह के समान एक हरि कर्त्तृक निहत हुये थे ।

यहाँ विविष्ठादि पद में 'विष्ठा' यह पदांश जुगुप्सा जनक अश्लील है । अतएव उसके परिवर्त्त में 'देवता वृन्द को पाठ करना कर्त्तव्य है ।

इस प्रकार 'पूयते' 'अभिप्रेत' इत्यादि पद से भी पूय एवं प्रेत इत्यादि पदांश उक्त दोष दुष्ट हैं ।६९।

काम संग्राम में निश्चेष्ट मृगाक्षी वृन्द के वपुः को स्पर्श करके यह दक्षिण पवन उन सब का प्रणय भाजन हुआ है ।

यहाँ निश्चेष्ट स्थल में 'निष्पन्द' इस प्रकार पाठ करना होगा ॥७०॥

मृगाक्षि वृन्द के वत्सरुहोपरि नीलकान्त मणिमय हार कमल को वक्षस्थित भृङ्ग सङ्घ के समान शोभित हुआ था ।

यद्यपि पूर्व पद परिवृत्ति सह, उत्तर पद परिवृत्ति सह, एवं उभय पद परिवृत्ति सह है, इस प्रकार त्रिविध भेदका कथन पहले हुआ है, तथापि प्रसिद्धि के अनुसार उक्त परिवर्त्तन करना होगा, यह भी सहृदय

अथ वाक्येऽन्येऽपि दोषाः सन्तीति तानाह—

प्रतिलोमाक्षरमाहतनष्टविसर्गं च संहिता हीनम् ।
हतवृत्तं हीनाऽधिक-कथित पदं प्रस्खलत प्रकर्षञ्च ॥७२॥
स समास पुनरुपात्ते, नश्यन्मतयोग सङ्कीर्णे ।
अर्द्धान्तिरैकं वाचक मनभिहितार्थं प्रसिद्धिधृतमपि च ॥७३॥
अपदस्थपदसमासं, गर्भित--भग्नक्रमाण्यपि च ।
अमत परार्थञ्चेति, ज्ञेयं दोषान्वितं वाक्यम् ॥७४॥

एवमेकविंशतिर्दोषाः ।

प्रतिलोमाक्षरमुक्तरसानुगुणवर्णप्रतिकूलवर्णत्वम् यथा—

पुष्पकोदण्डकण्डूलप्रकाण्डभुजमण्डलम् । कम्बुकण्ठि समुत्कण्ठं कण्ठेऽकुण्ठा हरिं कुरु ॥

अत्र शृङ्गारे प्रतिकूल वर्णाः एते तु वीररौद्रावावनुकूलाः । एवं वीररौद्रादौ माधुर्यं

दोष विशिष्टानां पदानां प्रयोग एवानुचिता, कुतस्तेषां परिवृत्ति सम्भावनापीत्याह— यद्यपीति नहीति--एक पर्यायोक्तानां सर्वेषां पदानां मध्ये यानि दुष्टानि पदानि, तानि न परिवृत्ति क्षमानीत्यर्थः ।

ननु यद्यपि नेयार्थस्य स्वतन्त्रदोषत्वं न सम्भवति, अप्रयुक्त दोषस्य लक्षण एव तस्यान्तर्भाव सम्भवति, तथापि पूर्व पण्डितै रयं नेयार्थ रूप दोषः स्वतन्त्रतया लिखित स्तदभिप्रायेण मयापि लिखितमित्याह, यद्यप्ययमिति ॥७१--७४॥

प्रतिलोमेति । उक्त रसानां शृङ्गारादीनां माधुर्यादिव्यञ्जका ये अनुगुणा वर्णास्तेषां प्रतिकूलवर्णत्वं दोष इत्यर्थः । पुष्पकोदण्डः, कन्दर्पः । एवं सति, कन्दर्प कण्डू यादि-विशिष्ट प्रकाण्ड भुज मण्डलं यस्य,

---

हृदय का उद्वेग जनक न होने से एवं कवि प्रयोग सिद्ध होने से करना कर्त्तव्य है । पर्यायोक्त यावतीय पद का परिवर्त्तन नहीं होगा । उक्त दोष अप्रयुक्त है । किन्तु प्राचीन गण उसको नेयार्थ नामक दोष कहते हैं । मैंने भी उसके अनुसार ही लिखा है ॥७१॥

अधुना वाक्य गत दोष समूह का उल्लेख करते हैं, प्रतिलोमाक्षर, आहत नष्ट विसर्ग, संहिता हीन, हतवृत्त, हीनाधिक कथित पद, स्खलत् प्रकर्ष, समाप्त पुनरात्त नश्यन्मत योग, सङ्कीर्ण, अर्द्धान्तरैक वाचक अनभि हितार्थ, प्रसिद्धि धृत, अपदस्थ पद समास, गर्भित भग्नक्रम, अक्रम, एवं अमत पदार्थ- ये एक विंशति प्रकार दोष वाक्य गत होते है ॥७२--७४॥

पूर्वोक्त शृङ्गारादि रसके माधुर्यादि व्यञ्जक अनुगुण जो वर्णावली हैं, उसके प्रतिकूल वर्ण विन्यास होने से ही प्रतिकूल वर्णता नामक दोष होता है । उदाहरण—हे कम्बुकण्ठि ! तुम पुष्प कोदण्ड कण्डूल भुज दण्ड समुत् कण्ठ वकुण्ठ पति को अकुण्ठित भाव से कण्ठ देश में आलिङ्गन करो ।

व्यञ्जका वर्णाः प्रतिकूला इति बोद्धव्यम् ।।७५।।

आहत ओत्वं प्राप्तो विसर्गो यत्र । यथा—

श्यामोऽभिरामो रमणो मदनो मोदनो हरिः ।
मनो विनोदनो भाति सततं गोपं सुभ्रुवाम् ।।७६।।

नष्टोलुप्तो विसर्गो यत्र । यथा—

इत इत इत एहि देहि वाचं शशिमुखि तापसर प्रसीद कृष्णे ।
अयमपि भवताद् भवत् प्रसादान्मनसि गतव्यथ उत्क उन्मदश्च ।।

अत्राद्यन्त्ययोर्लुप्ता विसर्गाः ।।७७।।

संहिता सन्धिस्तया हीनं विसन्धि, रित्यर्थः । विवक्षितश्चेत् स सन्धिर्भवतीति वाक्यबलात् कृतो विसन्धिः, स सकृदपि दोषावहः, प्रगृह्यादि हेतकश्चेदसकृदेव । संहितायां हीनमित्यर्थे

तथाभूतं हरिं हे कम्बुकण्ठि राधे । अकुण्ठा असङ्कुचिता सती कण्ठे कुरु ।।७५।।

गोप सुभ्रुवां मनो विनोदनो हरिः सततं भाति ।।७६।।

हे शशिमुखि राधिके ! इत इत इत अत्रागच्छ, अत्रागच्छ, तापसर, दूरे मा गच्छ । हे इति । त्वदुक्तं मया कर्तव्यमिति वाचं मह्यं देहि । अयं श्रीकृष्णोऽपि गतव्यथो भवतु । इति वाक्यबलात् स्वेच्छया कृतो यो विसन्धिस्तस्य सकृत प्रयोगेऽपि दोषः । प्रगृह्यादि सूत्र हेतुकश्चेद् विसन्धि स्तदातस्यासकृत् प्रयोग एव दोषः, न तु सकृत प्रयोग इत्यर्थः ।

संहितायां हीनमिति सप्तमी तत् पुरुषेणार्थ कृते सति हीन शब्दस्य निकृष्टार्थत्वाद् दुःश्रवादि दोष द्वयं पूर्वोक्त तृतीया तत् पुरुष कृते संहितया रहितमित्यर्थेन विसन्धिरित्येको दोषः, मिलित्वा त्रिविधो दोषः ।७७

तव निष्कलङ्केऽस्मिन् मुखचन्द्रे उदिते सति स कलङ्की स चन्द्रः कथं न लज्जताम्, यत् उदेति ।।७८।।

यहाँ शृङ्गार रसमें उक्त रस को प्रतिकूल वर्ण विन्यास होने पर उक्त दोष हुआ है । उस प्रकार वर्णन रौद्र वीरादि रस के ही अनुकूल है । उसी प्रकार रौद्र वीरादि रस में माधुर्य व्यञ्जक वर्णावली प्रतिकूल है ।।७५।।

आहत अर्थात् जहाँ सन्धि में विसर्ग के स्थान में ओकार होता है, उसको आहत विसर्गता कहते हैं । दृष्टान्त—गोपिका गण के मनोविनोदन, तपोधन जन—चेतो रमण मनोभव विमोहन पयोदश्याम यशोदा नन्दन सतत सर्वत्र विराजित हैं ।।७६।।

जहाँ विसर्ग नष्ट अर्थात् लुप्त होता है, वहाँ नष्ट विसर्गता नामक दोष होता है । उदाहरण—हे इन्दु मुखि ! तुम इस ओर आओ, इस ओर आओ, दूसरी ओर न जाओ, बात कहो, कृष्ण के प्रति प्रसन्ना हो, कृष्ण, तुम्हारी कृपा से मनोव्यथा से मुक्त होकर तुम्हारे सम्बन्ध में उमना एवं उन्मत्त बनें ।

यहाँ मूलश्लोक में आद्यन्त विसर्ग लोप हुआ है ।।७७।।

संहिता शब्द से सन्धि का बोध होता है, उससे हीन, अर्थात् विसन्धि होने से ही संहिता हीन नामक

संहितायां दुःश्रवत्मश्लीलं चेति त्रिविधोऽयं दोषः। क्रमेणोदाहरणानि—

तवैतद्वदनमिन्दुनिन्दकं पङ्कजेक्षणे। सकलङ्को निष्कलङ्के कथमस्मिन्नलज्जताम्? अत्र 'चन्द्र निन्दकम्' इति पाठ्यम् ॥७८॥

कलङ्किनश्चन्द्रमसः सुभ्रवानन मिदं तव।
रुचिं बिभ्रदपि प्रायो निष्कलङ्कमितीर्यते॥

अत्र सुभ्रवा इति दुःश्रव्यम्। तेन राधे मुखम्' इति पाठ्यम् ॥७९॥

अलण्डमरुडाम्बर्यं तव मध्ये विराजिनि। स हरस्य कर ग्राह्यः कर ग्राह्यमिवं हरेः।
अत्र लण्डशब्दोऽश्लीलः। तेन 'वृथा डमरुडामर्य्यम्' इति पाठ्यम् ॥८०॥

हतवृत्तं छन्दोगतवैरूप्यं गुरौ लघुत्वम्। यथा—

शशिमुखि सखि राधिकेऽधिकासि, गुणविभवेन समस्तसुन्दरीभ्यः।
त्वयि निहतमना मनागपि श्रीव्रजपतिसूनुरुपैति नान्यपार्श्वम्।

हे सुभ्रु! कलङ्किनश्चन्द्रस्य रुचिं बिभ्रदपि तवाननं प्रायो निष्कलङ्कमिति प्रतीयते ॥७९॥

अलमिति। तवमध्यदेशे विराजिनि सत्यहमेव मध्यक्षीणमिति प्रसरीडामयं, प्रागल्भ्यमलं वृथा। यतः सऽमरुर्महादेवस्य कर ग्राह्यः, तव मध्यन्तु श्रीकृष्णस्य कर ग्राह्यमिति महान् भेदः ॥८०॥

गुरौ लघुत्वमेव छन्दोगत वैरूप्यम्। तथा च गुरुवर्ण स्थलेलघुवर्ण प्रयोग एव दोष इत्यर्थः। तत्

दोष होता है। इच्छाधीन सन्धि होती है, इस प्रमाण से स्वेच्छाकृत जो विसन्धि है, उसका, एकबार मात्र प्रयोग भी दोषावह होता है। किन्तु, प्रगृह्यादि सूत्रहेतुक यदि विसन्धि होती है, तो—उसका पुनः पुनः प्रयोग ही दोषावह है। "संहिता में हीन" इस प्रकार सप्तमीतत् पुरुष समास करने से उसमें दुःश्रव एवं अश्लीष ये दोषद्वय, एवं तृतीया तत् पुरुष समास लब्ध पूर्वोक्त विसन्धि नामक दोष, समष्टि से तीन प्रकार दोष होते हैं। क्रमिक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

हे अम्बुजेक्षणे! तुम्हारे वदन मण्डल इन्दुनिन्दक है; निष्कलङ्क—इस वदन मण्डल के समीप में सकलङ्क यह इन्दु मण्डल क्यों नहीं लज्जित होगा।

यहाँ मूलश्लोक में—इन्दु निन्दक स्थल में चन्द्रनिन्दक इस प्रकार पाठ करना होगा ॥७८॥

हे सुभ्रु! तुम्हारे यह आनन सकलङ्क वाला निधि की कान्ति को धारण करने से भी प्राय निष्कलङ्क शब्द से अभिहित होता है।

यहाँ मूल में "सुभ्र्‌वानन" पद है, उसमें दुःश्रवता रूप दोष होने से "हे सुभ्रु राधिके! तुम्हारा वदन इस प्रकार पाठ करना होगा ॥७९॥

तुम्हारे मध्य देश विराजमान होते हुये डमरु का आडम्बर निरर्थक है। कारण, डमरु श्रीहरि के कर ग्राह्य है, तुम्हारे यह मध्य देश—श्रीहरि के कर ग्राह्य है।

यहाँ 'अलण्डमरु पद से 'लण्ड' यह अंश, अश्लील है। अतएव मूलस्थ 'अल' शब्द के परिवर्त में

अत्र पादान्तो लघुर्गुरुर्वेति वाक्य बलात् कृतोलघुवर्ण विन्यासो हतवृत्ततां व्यनक्ति। तत्तु द्वितीयपादान्ते शोभते, नतु चतुर्थपादान्ते, बन्धशैथिल्यात्। प्रथमतृतीयपादान्ते तु नैव। एवमार्य्यासु च-गणकृता विरुद्धता ॥८१॥

एवमार्य्यासु च गणकृता विरुद्धता। यथा—

गोकुल ललना मण्डल रतिरण पाण्डित्य-मुग्धमधुर श्रीः।
श्रीव्रजराज कुमारो रास विलासे कुमारयति ॥

अत्र द्वितीय तृतीयगणौ स-कार भकारौ विरुद्धौ। तेन व्रज ललनामणिमालारतीत्यादि पाठ्यम् ॥८२॥

एवं रसाननुगुणं वृत्तं च हतवृत्तम्। पज्झटिकादि शृङ्गार करुणादौ विरुद्धम्, हास्य शान्तादौ न।

शृङ्गारे-यथा—हे सखि माकुरु मानमखर्वं, मानः-सौख्यं ग्रसति हि सर्वम्।
कुरु सानन्दं हृद्यममन्दं, रसभरकन्दं भज गोविन्दम् ॥८३॥

वाक्य द्वितीय पादान्ते एव शोभते, नतु चतुर्थाद्विषु ॥८१॥

रति रणपाण्डित्येन मुग्धा मनोहरा मधुरा च शोभा यस्य सः श्रीकृष्णः कुमारयति–क्रीडति ॥८२॥

हे सखि! अखर्वमत्युच्चं मानं माकुरु, अमन्दं यथास्यात्तथा गोविन्दं भज ॥८३॥

'वृथा' शब्द का पाठ करना आवश्यक होगा ॥८०॥

'हत वृत्त' शब्द से छन्दोगत वैरूप्य को समझना होगा, अर्थात् गुरुस्थान में लघुत्व। उदाहरण—शशिमुखि सखि राधिके! तुम गुण विभव से समस्त व्रज सुन्दरी से समधिका हो। व्रजराज तनय, तुम्हारे में चित्त निहित करके एक मुहूर्त्त भी अन्यत्र गमन नहीं करते हैं।

यहाँ पादान्त में स्थित गुरु विकल्प में लघु होता है, इस नियम से मूल श्लोक के प्रथम पाद के अंत में लघुवर्ण का विन्यास होने से हतवृत्तता दोष हुआ है। कारण, उक्त अनुशासन द्वितीय पादान्त में ही प्रयोज्य है; चतुर्थ पादान्त में वह होने से बन्ध शैथिल्य होने से नितान्त अशोभन होता है। प्रथम एवं तृतीय पादान्त में तो वह कर्त्तव्य नहीं है ॥८१॥

इस प्रकार आर्य्यादि मात्रावृत्त में गण कृत विरुद्धता भी दोषावह ही होता है। उदाहरण—रास विलास में गोकुल ललना मण्डली के सहित रतिरण पाण्डित्य में मुग्ध मधुर श्रीधारण पूर्वक श्रीव्रजराज कुमार क्रीड़ा किये थे।

यहाँ द्वितीय एवं तृतीय गण में अन्त्यगुरु सकार एवं आदि गुरु भकार होने से विरुद्ध हुआ है। अतएव व्रज ललनारूप मणि माला के सहित इस प्रकार पाठ परिवर्तन करना होगा ॥८२॥

इस प्रकार रस का प्रतिकूल वृत्त भी हतवृत्त है। पज्झटिकादि-छन्द शृङ्गार करुणादि रस में विरुद्ध है, हास्य शान्तादि रस में विरुद्ध नहीं है।

हीन पदं यथा—'कमलमुखि, विचित्रस्यावधिः, कोऽपि पृष्ठे, तरणि दुहितृ तीरोपान्तमद्य प्रयान्त्या'। अत्र मयेति हीनपदम्। तेन 'तरणि दुहितृतीरं' हन्त यान्त्या मयाद्य' इति पाठ्यम्।

कथित पदं यथा—'कलयति जलकेलि मत्तमातङ्ग केलिः। अत्र केलि केलिरिति कथित पदम्। तेन 'मत्तमातङ्गलीलः' इति शुद्धम् ॥८३॥

प्रस्खलत् प्रकर्षं पूर्वार्धे उत्कर्ष उत्तरार्धेऽपकर्षश्चेत् तदा प्रस्खलत् प्रकर्षवाक्यम्। पतत् प्रकर्षमित्यर्थः।

यथा—हरि हरि हरिणाक्षी लक्षवक्षोजहार त्रुटन पटिमशाटीपाटन प्रौढ़दर्पः।
अयमवयमुदारोऽलीकघट्टाधिपत्यं, कलयति पथि गव्ये दान लीलां दधानः ॥

अत्र पूर्वार्धापुत्तरार्धे पतन्नेव प्रकर्षः। अत्र समाप्त पुनरात्तत्वञ्च 'कलयतिपथिगव्ये' इत्यनेनैव वाक्यस्य समाप्तिः, 'दान लीलां दधानः' इति पुनरुपात्तम्। तेनोत्तरार्धं पूर्वार्धीकृत्य

विचित्रस्याश्चर्य्यस्य कोऽप्यवधिः ... मत्तहस्तिन इव केलिर्यस्य तथाभूतो जलकेलि कलयति-करोति ॥८३॥

हरिणाक्षी लक्षाणां स्तनोपरि हाराणां त्रुटन पटिम्ना, एवं तदुपरि शाटीपाटनेन च प्रौढ़दर्पोऽयं श्रीकृष्णोऽवयं निर्दयं यथा स्यात्तथा पथि गव्ये मिथ्याघट्टाधिपत्यं करोति। अत्र पूर्वार्धे यथा कोमल समस्त पदं तथोत्तरार्धे न, अतः पतत् प्रकर्ष दोष इत्यर्थः ॥८४॥

मूल श्लोक में शृङ्गार रस में पजमौटका निबद्ध होने के कारण हतवृत्तता का जो दृष्टान्त प्रदर्शित हुआ है, उस का आशय यह है—

हे सखि! गुरुमान ग्रहण न करो, कारण, मान ही समस्त सुख को प्राप्त करता है, अतएव हृदयको आनन्दित करो, एवं रतिरसकन्द श्रीगोविंद का भजन करो ॥८३॥

हीन पद का दृष्टान्त—हे कमल मुखि! यमुना पुलिन को प्रयाण करते करते अद्य आश्चर्य की एक शेष सीमा दिखाई पड़ी है। यहाँ 'मया' अर्थात् मेरे से—इस पद का प्रयोग नहीं हुआ है, अतः हीन पद हुआ है। अतएव मूलानुरूप उक्त श्लोक का पाठ परिवर्तन करना चाहिये।

अधिक पद का दृष्टान्त—यहाँ "नव जलधर कान्ति श्यामल यह किशोर" यहाँ नवजलधरकान्ति इस पद से ही अभिप्रेत सिद्धि हुआ है, अतः श्यामल पद अधिक दिया गया है। अतएव "नवकुवलयदाम श्यामल यह किशोर" इस प्रकार पाठ करना चाहिये।

कथित पद का दृष्टान्त—"मत्त मातङ्ग केलिकारी श्रीहरि जलकेलि करते रहते हैं।" यहाँ दोबार केलि पद का प्रयोग होने से कथित पदता दोष हुआ है। अतएव 'मत्तमातङ्ग लीला कारी'—इस प्रकार होगा ॥८३॥

प्रस्खलत् प्रकर्ष का, पतत् प्रकर्ष का उदाहरण—हरि हरि! लक्ष लक्ष हरिणाक्षी के वक्षोज युगलस्थित ग्रन्थि की छेदन पटुता से एवं तदुपरि साटी का पाटन अर्थात् छेदन पारिपाटी से प्रौढ़ दर्प प्रकाश कारी यह श्रीहरि दान लीला विस्तार कर पथ में पथ्य दिव्यके ऊपर मिथ्या घट्टाधिपत्य कर रहे हैं।

पाठ्यम् तथा सति दोषद्वयहानिः ॥८४॥

नश्यन्मतयोगोऽसम्मतो योगो यत्र, अभवन्मत योग इत्यर्थः । यथा—

यस्याज्ञा विधिमौलि माल्यमधुपी यं सेवते शङ्करो
यस्मिन् सर्वमिदं चराचरगुरौ कृष्णे त्रिलोकीयतः ।
येनाकारि समस्त दानव बधू वैधव्यमूर्वी भरम्
जो जह्रे बलिमर्पयन्ति विबुधा यस्मै स पायाज्जगत् ॥

अत्र 'कृष्णे' इति पदं विशेष्यं प्रथमान्तं यदि स्यात्, तदा भवन्मतयोगो भवति, यच्छब्दे निर्दिष्टस्य तच्छब्दार्थस्य कृष्ण पदस्य यच्छब्दार्थे एव प्रवेशेऽभवन्मतयोगः ॥८५॥

तेन — यस्याज्ञा विधिमौलिमाल्यमधुपी यं सेवते शङ्करो
येनाकारि समस्त दानवबधू वैधव्यं मूर्वी भरम् ।
यो जह्रे बलिमर्पयन्ति विबुधा यस्मै त्रिलोकी यतो
यस्मिन् सर्वमिदं चराचरमसौ कृष्णः स पायाज्जगत् ॥

इति शुद्धम् ॥८६॥

यस्याज्ञा ब्रह्मणो मस्तकस्थ मालाया मधुपी भ्रमरी, तथा सोऽपि यस्याज्ञां मस्तके बिभर्ति, दानव बधूतां वैधव्यं येनाकारि, पृथ्व्या भारं यो जहार, स श्रीकृष्णः पायादिति विशेष्यं कृष्ण पदं स्यात्तदा सम्मतयोगो भवति । अत्र तु कृष्णे इति सप्तम्यन्त पदस्य यस्मिन्निति सप्तम्यन्ते यच्छब्दार्थे प्रवेशेऽभवन्मत-योगरूपदोषः स्यादित्यर्थः । तथापीति—आदौ प्रथमा पश्चाद् द्वितीयेत्यादि क्रमोऽपेक्षितो भवति, तस्य भावात् विसक्तक्रमो दोषः स्यादित्यर्थः ॥८५-८६-८७॥

मूल श्लोक में पूर्वार्द्ध से उत्तरार्द्ध में रचना प्रकर्ष प्रतित वो हीन हुआ है। एवं "कलयति पथिमध्ये" अर्थात् पथ के मध्य में मिथ्या घटाधिपत्य कर रहे हैं, इसके द्वारा ही आकांक्षा समाप्त होने के पश्चात् "दान लीलां दधान" अर्थात् दान लीला विस्तार करके "इस अंश का पुनरुपादान हेतु समाप्त पुनरात्तो नामक दोष भी हुआ है। अतएव उक्त श्लोक के उत्तरार्द्ध को पूर्वार्द्ध करके पाठ करना कर्त्तव्य है। उससे उक्त दोष द्वय का संशोधन होगा ॥८४॥

अभिमत योग वा सम्बन्ध जहाँ नष्ट नहीं होता है, वा नहीं रहता है, तादृश स्थल में नश्यन्मत योग वा अभवन्मतयोग नामक दोष होता है। उदाहरण—जिनकी आज्ञा-विधाता की मौलिमाला का मधुकरी स्वरूप शङ्कर जिनकी सेवा करते हैं, जिन चराचर गुरु श्रीकृष्ण में दृश्यमान ये सब ही प्रतिष्ठित हैं, जिनसे त्रिलोक उद्भव हुआ है, जो समस्त दानव बधू का वैधव्य विधान पूर्वक भूभार हरण किये हैं, निखिल विबुधमण्डली जिन को बलि अर्पण करते हैं, वह जगत् की रक्षा करें।

यहाँ 'कृष्ण' यह पद प्रथमान्त एवं विशेष्य होने से मत योग होगा, यद् शब्द के द्वारा निर्दिष्ट जो तद् शब्दार्थ कृष्ण पद है, उसका प्रवेश यद् शब्दार्थ में होने से अभवन्मत योग हुआ है ॥८५॥

तथापि विभक्त्युपक्रमदोषः । तेन—

यो भक्त्यैव वशीभवेत् पशुपतिर्यं सेवते येन भूः ।
निर्भारा बलिमर्पयन्ति विबुधा यस्मै त्रिलोकी यतः ।
यस्याज्ञाविधि मौलि माल्य मधुपी यस्मिन् समस्तं जगत्
सोऽयं गोपवधू विलास रसिकः कृष्णोऽस्तु वः श्रेयसे ।

इति शुद्धम् ॥८७॥

यथा वा—मुञ्चति त्वयि दृशोः पदवीं मे, येन येन शृणु यद्यदवाप्तम्
जीवनेन कटुता मरणेन प्रार्थ्यता प्रियतया परिवादः ॥

अत्र शृण्विति क्रियायाः कर्मापेक्षित्वे जीवनादेः सर्वस्य कर्मत्वे द्वितीयान्तत्वं मतम्,

---

यथा वेति । राधे ! राधे त्वां विहाय मय्यन्तर्हिते सति तव कीदृशी दशाभूदिति श्रीकृष्णे पृष्टा सा तं प्रत्याह—मम दृशोः पदवीं त्वयि मुञ्चति सति मम देहस्थेन येन येन यद् यदाप्तं तत्तच्छृणु । जीवितेन कटुता प्राप्ता, त्वद दर्शन ज्वालया जीवनोऽत्यन्त कटुरभूदित्यर्थः । मरणेन प्रार्थ्यता प्राप्ता, तादृश कटुताया, असहिष्णुत्वेनाधुना मम मरणं भवत्विति जीवनकर्त्तृकं प्रार्थ्यता मरणेन प्राप्तेत्यर्थः । प्रियतया प्रेमणा परिवादः प्राप्तः, कान्तस्यादर्शनेऽपि या जीवति, तस्याः प्रेमाणं धिगिति परिवाद प्रेमा प्राप्त इत्यर्थः ।

द्वितीयान्तत्वमिति—कटुतां प्राप्तं जीवनमित्येव सम्मतं भवति । प्रथमान्तत्वमिति—जीवनः कटुतां प्राप्त इति शृणु, एतदपेक्षितो भवति । तदुभयाभावे कर्मत्वं प्रथमान्तत्वाभावे सति । वाक्यार्थ इचरितार्थ इति पाठात् केन किमवाप्तमित्येकाङ्क्षायां जीवनेनेत्यादि । लिङ्गस्य व्यत्ययं विनापि दोषाभावमाह—अवाप्तमिति । येन येन यद यदवापि, तच्छृणु, केन किमवापि ? इत्याकाङ्क्षायां जीवनेन कटुता अवापीत्यन्वये लिङ्ग व्यत्ययं विनैव दोषाभावो ज्ञेयः ॥८८॥

अतएव जिनको आज्ञा विधाता की मौलीमाला को मधुकरी है, शङ्कर जिन की सेवा करते हैं, जिन के द्वारा समस्त दानव वधूओं का वैधव्य निहित हुआ है, जिन्होंने वसुन्धरीक भार हरण किया है । विबुध मण्डली, जिनको बलि अर्पण करते हैं, जिनसे त्रिलोक का उद्भव हुआ है, जिनमें ये निखिल चराचर प्रतिष्ठित हैं, वह कृष्ण इस जगत् की रक्षा करें ।

इस प्रकार शुद्ध पाठ करना होगा । किन्तु उस से भी प्रथमाविभक्त का क्रमभङ्गरूप दोष विद्यमान होगा ॥८६॥

अतएव जो भक्ति से ही वशीभूत होते हैं, पशुपति जिनकी सेवा करते हैं । जिनके द्वारा धरा भार शून्या हो गई है । जिनको उद्देश्यकर विबुध मण्डली बलि-उपहार-अर्पण करते रहते हैं । जिनसे त्रिलोक का उद्भव हुआ है, जिनकी आज्ञा विधाता की मौलिमाला को मधुकरी है । जिनमे समस्त विश्व प्रतिष्ठित हैं, गोप वधू विलास रसिक वह कृष्ण तुम सब की मङ्गल प्रदान करें । यह पाठ ही शुद्ध है ॥८७॥

उदाहरण—हे नाथ ! आप मदीय दृष्टिपथ को परित्याग करने से देह सम्बन्धी गण जिस अवस्था को प्राप्त किये थे—उसको कहता हूँ, आप श्रवण करें ।

जीवन कटुता को प्राप्त किया था, मरण प्रार्थनीयता को प्राप्त किया, एवं प्रेम परिवाद को प्राप्त

वाक्यार्थ कर्मत्वे जीवनादेः प्रथमान्तत्वमेव, तदुभयाभावेऽभवन्मत योग इति केचित्। वस्तुतस्तु वाक्यार्थ कर्मत्वे येन येन यद् यदवाप्त तच्छृणवित्यनेनैव वाक्यार्थ श्चरितार्थः। पश्चात्-जीवनेन कटुताऽवाप्तेत्यादिना लिङ्ग व्यत्यये नान्वयेन नोक्त दोषः। अवाप्तमित्यत्र अवापीति चेत् क्रियते, तदा सुतरां न दोषः।।८८।।

यथा वा—स्वाभिरुप्य–कमलाकरजाते, पङ्कजे इव सह भ्रमराभ्याम्।

निःसरत्तर कृपामकरन्दे, माधवस्य नयने रुरुचाते।।

अत्र स्व शब्दो माधवे विवक्षितः। सतु वाक्यमर्यादया कर्त्तृगतत्वेन प्रतिभासमानो नयन भ्रमरगत एव जातः। तेनाभिरूप्येत्येव शुद्धम् ।।८६।।

सङ्कीर्ण यथा— माकुरु मानिनि कृष्णं, पदगत मुत्थाप्य विषमविषतीक्ष्णम्।

आलिङ्ग भुवन मङ्गल, मङ्गलमन्तमर्मल मानम्।।

अत्र वाक्यद्वयस्य पदानि व्यत्ययेन वाक्यद्वयान्त गतानि। एक वाक्यगत

स्फटिक वत् परकीय रूप ग्रहण समर्थ आभिरूप्य शब्दार्थः, तथासति स्वं श्रीकृष्णस्तत् स्वरूपो यं आभिरूप्यस्य कमलाकरः सरोवरस्तत्र जाते ताराःस्थानीय भ्रमर विशिष्टे पङ्कजे इव श्रीकृष्णस्य नयने। अत्रेति—चैत्रः स्वपुत्रं पश्यतीतिवत् सर्वत्र स्वशब्दः प्रथमान्तापदार्थ बोधी। अत्र तु प्रथमान्त पदार्थो भ्रमर विशिष्ट नयने एव। अतोदोष इत्यर्थः ।।८६।।

हे मानिनि! अन्तर्मल स्वरूपं मानं मा कुरु। एवं भुवनस्यमङ्गलानामपि मङ्गलं श्रीकृष्णमालिङ्ग। अत्र पूर्वार्धे उत्तरार्धे च वाक्य द्वयस्य पदानां व्यतिक्रमेणान्वयात् सङ्कीर्ण रूपोदोषो ज्ञेयः।

ननुकथं सङ्कीर्णस्य स्वतन्त्रं दोषत्वमुक्तम्? क्लिष्टदोषमध्ये एव तस्यान्तर्भाव सम्भवादित्यत आह एकेति। क्लिष्ट स्थले एक वाक्य गतार्थ पदानां क्लेशान्वये दोषः। अत्र तु वाक्यद्वय गतानां पदानां

किया था।

यहाँ कोई कोई व्यक्ति कहते हैं,—श्रवण करें' इस क्रिया में कर्म की आकाङ्क्षा विद्यमान है, अतः जीवन, मरण, एवं प्रेम पद की कर्मता प्राप्ति स्थल में उक्त पद समूह में द्वितीया विभक्ति होना समीचीन है। और यदि वाक्यार्थ की कर्मता हो तो जीवनादि की प्रथमान्तता सम्मता है, उक्त उभय का ही अभाव होने पर यहाँ अभवन्मत प्रोग हुआ है। वस्तुतः जो जो व्यक्ति, जिस जिस को प्राप्त किये थे—श्रवण करें, इस से ही वाक्यार्थ चरितार्थ हुआ है। पश्चात् जीवन के द्वारा कटुता को प्राप्त किये थे, इत्यादि लिङ्ग व्यत्यय कर अन्वय करने से उक्त दोष नहीं होता है। मूलोक्त--अवाप्त, इस क्रिया के स्थान में अवापि इस प्रकार पाठ करने से सुतरां दोष नहीं होगा।।८८।।

उदाहरण— स्व स्वरूप जो रमणीय सरोवर, उस में अविर्भूत भ्रमरालिङ्गित कमल युगल के समान करुणामकरन्द निष्यन्दशाली श्रीकृष्ण के नयन युगल परम शोभित हुये थे।

यहाँ स्व शब्द से श्रीकृष्ण ही विवक्षित है, किन्तु स्व शब्द वाक्य मर्यादा से सर्वत्र ही कर्त्तृ गत रूप

पदान्मुमन्योरसङ्कुलत्वेन तु क्लिष्टमिति भेदः ॥८०॥

अर्धान्तरैकवाचकं यथा —

किमिन्दुः किं सरसिजं किमास्यं ललिताङ्गि किम् ?
खञ्जनौ किं स्मरशरौ राधे किं लोचने तव ?

अत्रोत्तरार्धस्यैवं किमिति वाचकं पूर्वार्धान्ते ॥८१॥

पदान्तपतितं राधे पश्य कृष्णं रुषं त्यज । तन्मम श्रूयतां वाणी गाढो मानः परं विषम् ।

अत्र तच्छब्दः पूर्वार्धे वाक्यस्थः, तत् तस्माद् रुषं त्यजेत्यर्थः । स तूत्तरार्धविस्थ इति तथा ॥८२॥

अनभिहितं वाच्यं यथा —

क्वासौ हरिर्मम मनोरथ दूरवर्त्ती, क्वाहं न मे गुणलवो न कलाणुकश्च ।
किं दूति दूनयसि मां त्वमलीकयैव वाचा विचार्य कथं स वशो मम स्यात् ?

व्यतिक्रमणान्वये दोष इति भेदो ज्ञेयः ॥८०॥

किं खञ्जनौ किं स्मरशरावित्यत्र पूर्वार्धस्यान्तस्थेन किं शब्देन सहोत्तरवाक्यस्थ खञ्जना-विरहस्यान्वयादर्धान्तरैकवाचकदोषः ॥८१॥

हे राधे ! तत्तस्माद्रुषं त्यजेत्यत्र उत्तरार्धस्य तच्छब्देन सह पूर्वार्धान्तस्थस्य तत् शब्दस्यान्वयात्तथा स एव दोषः ॥८२॥

स हरिर्मम मनोरथस्यापि दूरवर्त्ती, मम गुणस्य लवोऽपि नास्ति, तथा कलाया अणुरपि नास्तीति

में भासमान होने से यहाँ कर्त्तृभूत जो नयन भ्रमर, तद्गत होकर भासमान हो रहा है। अतएव स्वशब्द को परित्याग पूर्वक — मूलस्थ रमणीयता वाचक अभिरूप्य शब्द प्रयुक्त होने से ही परिशुद्ध होता है ॥८६॥

सङ्कीर्ण का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं — हे मानिनि ! अन्तर्मल स्वरूप विषमविष तीक्ष्ण मान को अवलम्बन न करो, त्रिभुवन के मङ्गल के मङ्गल स्वरूप चरण में पतित श्रीकृष्ण को उत्थापन कर आलिङ्गन करो ।

यहाँ वाक्यद्वयगत पद कदम्ब का विन्यास विपरीत रूप से वाक्य द्वय के अन्तर्गत हो गये हैं, यदि एक वाक्य गत पद समूह का उक्त प्रकार परस्पर व्यत्यय पूर्वक विन्यास होता तो क्लिष्टता दोष होता। अतएव क्लिष्टता से इसका भेद सुस्पष्ट उपपन्न होता है ॥८०॥

अर्द्धान्तरैक वाचक का दृष्टान्त — अयि ललिताङ्गि राधिके ! यह इन्दु बिम्ब, कि वा सरसिज, अथवा, तुम्हारा आस्य है ? एवं ये दो क्या खञ्जन हैं, कि वा स्मरशर हैं, अथवा त्वदीय नयन हैं, कुछ भी निश्चय नहीं हो रहा है ।

यहाँ श्लोक के उत्तरार्ध में आकाङ्क्षित एक किम् शब्द श्लोक के पूर्वार्ध के अन्त में सन्निविष्ट हुआ है ॥८१॥

हे राधे ! देखो, श्रीकृष्ण, तुम्हारे चरणोपान्त में निपतित हैं, अतएव मेरी बात सुनो, रोष त्याग

अत्र मनोरथस्यापि दूरवर्त्ती गुणस्यापि लवः कलायां अप्यणुक इत्यवश्यवाच्य मनभिहितम् ॥६३॥

रणितादि नूपुरादिषु, विहङ्गादिषु कूजितादीनि ।
स्तनितादि च जलदादौ, भेर्य्यादिषु भाङ्कृतादीनि ॥६४॥
मणितादीनि च सुरते, रवादि भेकादिषु प्रसिद्धिरियम् ।
अस्या विपर्य्यये स्यात्, प्रसिद्धि धूत दूषणं वाक्ये ॥६५॥

यथा—धिनोति राधे मच्चित्तं मणि मञ्जीरयोस्तव ।
रवौ नवघनस्येव सन्तप्तानां श्रुतिद्वयम् ॥

अत्र रवशब्दो वचन निष्ठ एव ॥६६॥

अपदस्थमस्थानस्थं पदं यथा—

विवाह वेषेण तदा मुरारे र्बभूव या श्रीः कवयस्तु के ताम् ।
सैवर्त्तं भावीविव साभ्यसूया, सरस्वती क्वापि न तां व्यनक्ति ॥

पदैः श्रीकृष्णस्य सर्वथा ऽवश्यत्वमुक्तम् । तद्गुणाधिकाया नाभिमतम्, कथं स मम वशः स्याद् विचारयेत्युक्तं ॥६३-६४-६५॥

रवशब्द इति । सचेतनानां प्राणिनां वचने एव रव शब्दस्य प्रयोगः साधुः, न तु मञ्जीरयोः शब्दे । तत्र तु रणित शब्द एव साधुः । अतो दोष एव ॥६६॥

करो, कारण, वर्द्धमान विषमविष स्वरूप हैं ।

यहाँ मूल श्लोक के पूर्वार्द्ध में आकाङ्क्षित तद् शब्द—उत्तरार्ध के आदि में सन्निवेशित होने से उक्त दोष हुआ है ॥६२॥

अनभिहित वाच्य का उदाहरण—मदीय मनोरथ दूरवर्त्ती है, हरि कहाँ है ? मैं कहाँ हूँ, मुझ में गुणलेश—कला कणिका कुछ भी नहीं है । हे दूति ! क्यों तुम मुझको अलीक वाक्यसे व्यथित कर रही हो ? तुम इस समय विचार करो, किस से वह मेरा वशीभूत हो सकता है ।

यहाँ हरि मेरा मनोरथ से भी दूर में है, मुझ में गुण लेश भी नहीं है, कला कौशल की कणिका भी नहीं है, यही अवश्य वक्तव्य है, किन्तु यह अभिहित नहीं हुआ है, अतः अनभिहित वाच्यतात्मक दोष हुआ है ॥६३॥

नूपुरादि स्थल में रणितादि, विहगादि में कूजितादि, मेघादि में स्तनितादि, भेरी प्रभृति में भाङ्कृतादि, सुरते मणितादि एवं भेकादि में रवादि पद प्रयोग प्रसिद्ध है, उसका व्यतिक्रम होने से काव्य में प्रसिद्धि च्युत नामक दोष होता है ॥६४-६५॥

उदाहरण—हे राधे ! नवघनरव जिस प्रकार सन्तप्त जन गण के कर्ण युगल को आप्यायित करता

अत्र तां न व्यनक्तीति स्थानस्थितत्वम्; तदभावे तथा । तेन 'वाग्देवी तां क्वापि च न व्यनक्ति' इति वाच्यम् । यथा वा न मे वाणी वृन्दावन रमण लीलामृत ह्रदे; निमग्नाप्युत्थातुं प्रभवति कथं यातु परितः ।' इत्यादि । यत्तु (किरातार्जुनीये, ८-३७) स्रजं न काचित्'' इति, तत्र 'न काचिज्जहौ, अपि तु सर्वैव जहौ' इति विरुद्धार्थ जननम् ॥६७॥

अस्थानस्थसमासं यथा—

> किं लूमेन घनावलीं विधुनुषे किं रे क्षुरक्षोदनैः
> क्ष्मां क्षुम्नासि विनुद्यतां निजमहः-कण्डूः समासाद्य माम् ।
> इत्थं दोस्तट घट्टनोद्भट-करध्वान-प्रति ध्वानित-
> क्ष्माभृत् कन्दर वृन्दगर्भ मयते गोष्ठादरिष्टं हरिः ॥

विवाहेति । के पण्डितास्तां शोभां कवयस्तु वर्णयन्तु ? स पत्न भावात् शत्रु भावाविव सा स्वसूयां सरस्वती तां न व्यनक्ति । यदि सरस्वती तां कुत्रापि न व्यक्तीचकार, तदा पण्डितानां कुतस्तद् वर्णने सामर्थ्यमिति भावः ॥

परित्विति । अत्र 'काचिन्न जहौ' इत्यनुक्त्वा 'न काचिज्जहौ' इत्यत्युक्तोऽपि न दोषः । यतशिरश्चालनेन न जा अभावरूपोऽर्थो न जातः, अपितु अभावविरुद्धार्थस्य भावरूपार्थस्य जननमुत्पत्तिः ॥६७॥

श्रीकृष्ण आह—किं लूमेन लाङ्गुलेन मेघश्रेणी विधूनुषे कम्पयसि, क्ष्मां पृथ्वीं क्षुम्नासि क्षुब्धां करोषि, किन्तु मां समासाद्य निज तेजसः कण्डूया विनुद्यतां दूरी क्रियताम् । इत्थमनेन प्रकारेण वामहस्ततटे दक्षिण हस्तस्य घट्टनेन चालनेन जातो य उद्भट करध्वानस्तेन प्रतिध्वनितः गोवर्द्धन कन्दर समूहानां गर्भो

है, उस प्रकार तुम्हारी ये मणिमय मञ्जीर युगल का रव मदीय चित्त को परितृप्त कर रहा है ।

यहाँ रव शब्द प्राणि वृन्द के वचन को समझाने के निमित्त प्रयुक्त होता है, ऐसा न होकर सेघ मञ्जीरादि स्थल में प्रयुक्त होने से उक्त दोष हुआ है ॥६६॥

उदाहरण—विवाह वेष धारण करने उस समय मुरारि की जो अपूर्व शोभा हुई थी—उसका वर्णन कौन कर सकता है ? स्वयं सरस्वती भी जैसे सा पत्न्य भाव हेतु असूया के कारण व्यक्त नहीं किये ।

यहाँ मूल श्लोक में "न तां व्यनक्ति" स्थल में "तां न व्यनक्ति" इस प्रकार होने से ही स्थान स्थितत्व होता, वैसा न होने से उक्त दोष हुआ है; अतएव उक्त श्लोक के शेष चरण का परिवर्त्तन जिस प्रकार किया गया है, उसके अनुरूप पाठ ही साधु पाठ है ।

सन्निकर्ष स्थल में ही यथास्थान से विन्यास के वैजात्य से उक्त अस्थानस्थ पदता दोष होता है, विप्रकर्ष स्थल में नहीं । मूलस्थ "वाणी न कुत्रापि" इत्यादि चरण में उसका उदाहरण समझना होगा ।

उदाहरण—मेरी वाणी वृन्दावन रमण के लीलामृत ह्रद में निमग्न होकर उठने में भी समर्थ नहीं होती हैं, कैसे वह चतुर्दिक् में गमन करने में समर्थ होगी । मूल श्लोक में अनुसन्धान करना आवश्यक है । किन्तु "काचिन्न जहौ" इस प्रकार वक्तव्य स्थल में 'स्रजं न काचित् जहौ" इस प्रकार उक्ति में भी दोष नहीं हुआ है, कारण, कोई भी रमणी माला को परित्याग क्या नहीं करती है ? उक्त तात्पर्य का इस

अत्र क्रुद्धस्य भगवत उक्तौ न समासः। अक्रुद्धस्य तु वक्त्रन्तरस्योक्तौ स इति तथा, तेन 'किं लाङ्गुल विघटनक्षतघनव्यूहं क्षुरक्षोदन,--क्षुभ्यत् क्ष्मातटमुक्षलक्षयुगपत् संराव मभ्येषि रे। इत्थं दोस्तट—इत्यादि यदि स्यात्तदा न दोषः ॥९८॥

गर्भितं प्रकृत वाक्येऽप्राकृत वाक्यस्य गर्भस्थितिः।

यथा—झञ्झानिलमिव लवली, प्रणयलता न सहते दीर्घाम्।

प्रतिघां प्रियसखि तत्त्वं, वदामि तव माति कोपिनी भूयाः॥

अत्र 'तत्त्वं वदामि तव' इति वाक्यान्तरं गर्भितम्। अतः 'प्रतिघां मानिनि राधे तेन त्वं माति कोपिनी भूयाः' इति साधु ॥९९॥

यत्र तद् यथा स्यात्तथा अरिष्टासुरं गोष्ठात् अयते प्राप्नोति। वक्त्रन्तरस्य वर्णन कर्त्तुर्जनस्योक्तौ न समासः। रे अरिष्टासुर! किमूक्ष लक्षणस्य मत्तवृषभ, समूहस्येव युगपत् संरावो घोरशब्दो यत्र तद् यथा स्यात्तथा अभ्येषि, अभिमुखं गच्छसि। तथा लाङ्गुल विघट्टनेन क्षता मेघ समूहा यत्र तद् यथा स्यात्तथा। एवं क्षुर क्षोदनेत्यादि ॥९८॥

अति कोमला लवलीलता यथा झञ्झानिलं न सहते, तथैव प्रणय लतापि दीर्घां प्रतिघां रुषं न सहते। अतस्तव तत्त्वं वदामि; नाति कोपिनी त्वं भूयाः॥९९॥

प्रकार अनुवाद होने पर उसके तात्पर्य्य से माला को परित्याग ही किया है, इस प्रकार अर्थ बोध होता है। उससे नञर्थ अभाव का विपरीत भाव पूर्वार्थ प्रतीत होने से दोष नहीं होगा ॥९७॥

अस्थानस्थ समास का उदाहरण—क्यों लाङ्गुल चालन के द्वारा मेघमाला को कम्पित कर रहे हो, खुराघात से पृथिवी को क्यों क्षुब्ध कर रहे हो? मुझ को प्राप्त कर तुम्हारा तेजोगर्व प्रशमित हो, यह कह कर भगवान् श्रीकृष्ण दो दण्ड-द्वय के परस्पर विघटनोद्भूत उद्भट ध्वनि से गिरिगुहा गर्भ को गभीर रूप प्रतिध्वनित करके गोष्ठ से अरिष्टासुर को आक्रमण किये थे।

यहाँ कोपान्वित भगवान् की उक्ति में समास नहीं किया गया है। अथच इसकी रचयिता कुपित न होने पर भी, उनकी उक्ति में समास किया गया है। अतएव निम्नोक्त रूप में परिवर्त्तन करके उक्त दोष का संशोधन करना होगा।

हे दुरात्मन्! क्यों तू प्रचण्ड लाङ्गुल संघर्ष के द्वारा मेघमण्डल को विखण्डित एवं प्रखर क्षुर क्षोदन के द्वारा पृथ्वीतट को क्षुब्ध करके युगपत् वृषभनाद से—सगर्व गर्जन के सहित अभिमुख में धावित हो रहा है? ॥९८॥

प्रकृत वाक्य के अभ्यन्तर में जो अप्राकृत वाक्य का अवस्थान उसको गर्भित दोष कहते हैं।

उदाहरण—लवलीलता जिस प्रकार झञ्झा वायु का वेग को सहन नहीं कर सकती है, प्रणयलता भी उस प्रकार दीर्घ कालस्थायी रोष को सहन नहीं कर सकती है। अतएव प्रियसखि! मैं वास्तविक कहती हूँ, तुम कोपवती न बनो।

यहाँ "तुम को वास्तविक कहती हूँ, यह जो वाक्यान्तर है, यह गर्भित हुआ है। अतएव उक्त अंश

भग्नक्रमो भग्नप्रक्रम इत्यर्थः। स च कारणवचनपर्य्यायादि क्रमभङ्गादित्वेन बहुधा भवति। यथा—

काचिद्वीणां मूरजमपरा कापी वंशी दधाना, काश्चित्ताल कर किशलये तालधारित्वमाप्ताः।
चक्रुः सङ्गीतकविरचनां रासमध्ये कयाचिद् गानं नानास्वरपरिमलामोद मुच्चैर्वितेने॥

अत्र काचिदिति कारकक्रमभङ्गः। काश्चिदिति वचनक्रम भङ्गः। तेन काश्चिदिति स्थाने काचिदित्येव पाठ्यम्। आप्ता इत्यत्र विसर्गा भावश्च, चक्रुरित्यत्र चक्रे इति च। कयाचिदित्यत्र 'रासमासाद्य काचिद् गानं नानास्वर परिमलामोदमाविश्चकार' इति पाठ्यम्।

पर्य्यायक्रमभङ्गो यथा—'हरेकृपा कापि समुज्जिहीते, मुकुन्द भक्तेषु न चापरेषु।" अत्र पर्य्यायक्रमभङ्गः। तेन "हरिप्रियेष्वेव न चापरेषु' इति वाच्यम्' इदं मे प्राचीना देवतादि विषये रसं न मन्यन्ते, तेषां मतानुरोधेन लिखितम्। ते तु सत्यं व्याहरन्ति, श्रीभगवन्तं विना अन्येषां नामान्तराभावाद् भेद प्रतीतिः स्यादेव, तत्तन्नाम्ना प्रसिद्धस्य श्रीभगवतस्तु नामान्तराख्याने न पर्य्याय क्रमभङ्ग दोषः, तस्य नामानामनन्तत्वात्। अत्रतु सुतरां नदोषः, हरिमुकुन्दयोर्भेद प्रतीते रभावात्। अत्र कथित पदाशङ्कापि न कार्य्या' ॥१००॥

यथा च—

विषादे विस्मये हर्षे कोपे दैन्येऽवधारणे।

नानास्वराणां परिमलो यत्र एवम्भूतं गानं वितेने। हरेरिति। हरेः कृपा कापि, समुज्जिहीते, हरिभक्तेष्वित्येव पर्य्याय क्रमः। मुकुन्द भक्तेष्विति, पदेन तु तस्य भङ्गोजातः। अत्र कथित हरि पदस्य पुनः कथनात् या पौनरुक्त्या शङ्का साप्यत्र न कार्य्येत्याह—अत्रेति। उत्कर्ष वर्णने उद्देश्यस्य हरेरेव पुनः प्रतिनिर्देशः। अतोऽत्र न दोषः ॥१००--१०१॥

को परिवर्त्तन करने से ही वाक्य साधु होगा ॥६६॥

भग्नक्रम—अर्थात् भग्नप्रक्रम। यह दोष कारक--वचन एवं पर्य्यायादि के क्रमभङ्ग हेतु अनेक प्रकार होते हैं। उदाहरण—किसी ने वीणा, किसीने मुरज, किसीने वंशी एवं किसीने करतल से ताल प्रदान कर तालधारिणीत्व प्राप्त कर रास के मध्य में सङ्गीत गोष्ठी की रचना की, किसी कामिनी के द्वारा विविधस्वर परिमल पूर्ण सङ्गीत आरम्भ हुआ है, एवं प्रचुर प्रमोदामृत परिवेशित हुआ है।

'यहाँ किसी कामिनी के द्वारा' इस स्थल में कारक क्रमभङ्ग एवं 'किसीने वा' यहाँ वचन क्रमभङ्ग हुआ है। अतएव मूलस्थ श्लोक के काश्चित् स्थान में काचित्, 'प्राप्ताः' यहाँ विसर्ग लोप करके प्राप्ता इस प्रकार एवं चक्रुः स्थान में चक्रे, इस प्रकार पाठ करना होगा। एवं कारकादि का भङ्ग भी मूल के प्रदर्शित उपायों से संशोधन कर पाठ करना कर्त्तव्य है ॥१००॥

पर्य्याय क्रमभङ्ग का उदाहरण—हरि की अनिर्वचनीय कृपा मुकुन्द भक्त के प्रति ही होती है, अन्य

उद्देश्य प्रतिनिर्देश्य-विषये च प्रसादने ॥
अनुकम्पादिके चापि पौनरुक्त्यं न दुष्यति ॥ इति ॥१०१॥

अत्र उद्देश्य-प्रति निर्देश्यविषयत्वं ।

यथा—न भजति तपसाक्लमः क्लमत्वं, विषयभवं न सुखं सुखत्वमेति ।
विषमपि च विषस्य नाशकं स्यान्नहि सदृशे सदृशत्वमेव नित्यम् ॥

इत्यादौ पौनरुक्त्यं तच्छब्देन निर्देशो वा गुणः । आदि-शब्दादर्थान्तर-संक्रमितेऽपि ।

यथा—(तृतीय किरणे ५) 'फलमपि फलं माकन्दानाम्' इत्यादि ॥१०२॥

यत्र तु आरम्भ एव क्रमोनास्ति, तत्र भग्नक्रमदोषो नास्ति । यथा—
"आलिङ्गन् बाहुवाग्भिस्तनुमनुरमयन् नर्मदां तुङ्गभद्रां
चुम्बन् भद्रां विकर्षन् निरवधि सुरसो देविकाया रसेन ।

उद्देश्य—प्रतिनिर्देश्यस्योदाहरणान्तरमाह—यथेति । तपसा करणेन जातो यः क्लमोदुःखं तस्य वैषयिक दुःखसदृशत्वेऽपि न दुःखत्वम् । एवं विषय जन्यसुखस्य पारमार्थिक सुख सदृशत्वेऽपि न तस्य सुखत्वम् ।

तथा विषं दुःख जनकत्वेन द्वेष्यमपि कदाचिद् विषान्तरस्य नाशकमपि भवति । अतः सदा द्वेष्यमपि न भवति । एवं सति सदृशे सदृशत्वमेव नित्यमिति नियमो न कदाचिद् व्यभिचरति चेत्यर्थः । इत्यादौ पौनरुक्त्यं गुण एव । तथा पूर्वोक्तस्य पुनः सर्वनाम—तच्छब्देन निर्देशोऽपि गुण एव ज्ञेयः । आदि-शब्दादर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनावपि पौनरुक्त्यं न दोष इत्यर्थः ॥१०२॥

रमणी मण्डले श्रीकृष्ण रूपः सिन्धुः, कावेरी वारि खेलां करोति । "कावेरी स्यात्सदा सेवे हरिद्रापण्य योषितोः" इति । अत्र श्रीकृष्ण पक्षे हरिद्रा, सिन्धु पक्षे च वेश्या । किं कुर्वन्नित्यपेक्षायामाह—बाहुं प्रवातीति

के प्रति नहीं, यहाँ पर्याय क्रमभङ्ग हुआ है, अतएव हरिभक्त के प्रति कृपा सम्भवित होती है" इस प्रकार कहना ही ठीक है । यहाँ दो बार हरिपद का उल्लेख होने के कारण—कथित पदता नामक दोष की आशङ्का नहीं है । इस विषय में पूर्वाचार्यों की उक्ति यह है—

"विषाद विस्मय, हर्ष, कोप, दैन्य, अवधारण, प्रसादन, उद्देश्य प्रति निर्देश्य स्थल में एवं अनुकम्पादि स्थल में पुनरुक्ति दोषावह नहीं है ॥ यहाँ उद्देश्य प्रति निर्देश्य की विषयता हुई है ॥१०१॥

अपर उदाहरण—तपो जनित क्लेश कभी भी वैषयिक क्लेश के सहित तुलित नहीं हो सकता है । वैषयिक सुख भी पारमार्थिक सुखसदृश नहीं हो सकता है । विष भी कदाचित् विषका नाशक हो सकता है, अतएव सदृश वस्तु में सदृशत्व सर्वदा ही रहेगा—इस प्रकार नियम नहीं है ।

यहाँ पुनरुक्ति गुण है, एवं पूर्व कथित प्रवक्ता सर्वनाम तद् शब्द के द्वारा निर्देश भी गुण है । "अनुकम्पादि" यहाँ के आदि शब्द से अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि को जानना होगा । जिस प्रकार तृतीय किरण के पञ्चम श्लोक में उक्त है—"रसाल फल ही फल है" ॥१०२॥

वाङ्मत्याः केलिलुब्धो मुख निकट मिलच्चन्द्र भागोऽयमुच्चैः
कावेरी वारिखेलां कलयति रमणी मण्डले कृष्णसिन्धुः ।

एवमन्यदप्यूह्यम् ॥१०३॥

न विद्यते क्रमोयत्र तदक्रमम् । यथा—

इह मयि सुखं निद्रामाप्ते कया मम चोरिता
मणि मुरलिका हारः कण्ठात् स चाधिक दुर्लभः ।
निगदितमिति श्रुत्वा पत्युर्विहस्य विहस्य सा
निभृत निभृतं चेलाञ्चलया मुखेन्दुमपावृणोत् ॥

अत्र 'हारश्चायं मणीन्द्र कुलोज्ज्वल:' इति चकारस्थितो क्रमस्तदन्यथाऽक्रमः । एवम् 'इति निगदितं श्रुत्वा' इति क्रमस्तदन्यथाऽक्रमः । अस्थानस्थपदादत्रायं भेदः । तत्तु तथाभूतमप्यन्वय बोधं झटिति करोत्येव, इदन्तु न तथा ॥१०४॥

बाहुदा गोपी, तस्यास्तनु स्तनु मालिङ्गन् पक्षे—बाहुदा नदी । नर्मदा तुङ्गभद्रा भद्रेत्यादयो गोपीनां नाम विशेषाः, समुद्र पक्षे—नर्मदा प्रभृतय प्रसिद्धनद्यः । दिव्यतीति—देविका प्रेयसी, तस्याः शृङ्गारे रसेन सुरसः, पक्षे देविका—नन्दी विशेष स्तस्या रसेन जलेन । वाङ्मती—प्रकृष्ट वचोयुक्ता काचिद् गोपी, तस्याः केलिषु लुब्धः । पक्षे वाङ्मती नदी । मुख निकटे मिलन्ती चन्द्रभागा नाम्नी काचिद् गोपी यस्य सः । पक्षे—चन्द्र भागा नदी ॥१०३॥

पत्युः कुञ्जमध्ये गान्धर्वरीत्या विवाह कर्त्तुः श्रीकृष्णस्येति निगदितं श्रुत्वा, सा कात्यायनी व्रतपरा नन्दव्रजकुमारिका ॥१०४॥

जहाँ आरम्भ में क्रम देखने में आता है, वहाँ भग्न प्रक्रमतो दोष नहीं होता है । उदाहरण—

श्रीकृष्ण रूप सिन्धु बाहुदा का अङ्ग आलिङ्गन नर्म्मदा के सहित विहरण, तुङ्ग भद्रा को चुम्बन एवं भद्रा को आकर्षण पूर्वक देविका का रसास्वाद में नितान्त मुग्ध, एवं वाङ्मती के केलि विलास में एकान्त लुब्ध होकर एवं मुखारविन्द मिलन से चन्द्र भागा को आनन्दित करके रमणी मण्डल मध्य में कावेरी वारि क्रीड़ा में रत हुये हैं ।

यहाँ बाहुदा शब्द से बाहु दान कारिणी गोपी, पक्ष में बाहुदा नाम्नी नदी है । नर्म्मदा, तुङ्ग भद्रा, भद्रा, देविका, वाङ्मती, चन्द्रभागा ये सब सिन्धु गामिनी एक नदी के नाम हैं, पक्षान्तर में कतिपय गोपिका के नाम हैं, कावेरी भी नदी विशेष है, पक्षान्तर में हरिद्रा है । कावेरी वारि अर्थात् हरिद्रारञ्जित वारि है ।

अन्यान्य उदाहरण भी अनुसन्धेय है ॥१०३॥

जहाँ क्रम नहीं रहता है, उसको अक्रम नामक दोष कहते हैं । उदाहरण—

यहाँ मैं सुख पूर्वक निद्रागत होने पर किस रमणीने मेरी मणि मुरली एवं कण्ठसे हार हरण किया है, वह हार अति दुर्लभ है । प्रिय के वाक्य को सुनकर शशिमुखीने निभृत भावसे हँसते हँसते वसनाञ्चल

अमतो विरुद्धः परार्थः परस्य रसस्यार्थो यत्र तदमत परार्थम् । यथा—

हरिपरिचयान्नीवी मोक्षं गता गतबन्धन-शिचकुरनिकरो हारश्चायं गुणेन वियोजितः ।
दशन वसनं निर्लेपत्वं जगाम मृगीदृशां, सुरत रभसो ज्ञानाभ्यासादतीव विशिष्यते ॥

अत्र परार्थः शान्तरसः शृङ्गाररसे विरुद्ध इत्यमत परार्थम् । तेन 'इह विहरणे नीवी' इत्यादि पठित्वा चतुर्थ चरणे 'घनरसमयीभावः कामोत्सवश्च समोऽभवत्' इति पाठ्यम् ।१०५

एवं वाक्य दोषानुक्त्वा अर्थ दोषानाह—

कष्टोऽपुष्ट व्याहत,–पुनरुक्त–ग्राम्य–दुष्क्रमा अपि च ।
संशयितो हेतुरतः, प्रसिद्धि विद्या विरुद्धश्च ॥१०६॥

हरिपरिचयादिति । हरेः श्रीकृष्णस्य परिचयात् निविड़ संयोगात् मृगीदृशां नीवी मोक्षपदवीं गता, पक्षे, हरेर्नारायणस्य परिचयावन्तहृदये ध्यानात् ज्ञानाभ्यास विशिष्टो योगो मोक्षपदवीं गतः । किन्तु श्रीकृष्णस्य परिचयान्नीव्यावीनां मोक्षपदवी प्राप्तत्वे सति प्रकटितो यः सुरत–सम्बन्ध्यानन्द समुद्रस्तस्य परमाणुरपि ज्ञानाभ्यास जन्य—ब्रह्मानन्देनास्ति । एतदेवाह–सुरत रभस इति । तथा चोक्तं श्रीभक्ति रसामृतसिन्धु धृतं (१।१।३८)

पुराण वचनम् – "ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्ध गुणीकृतः ।
नैति भक्ति सुखाम्भोधेः परमाणु तुलामपि ॥" इति ।

घनरसमयी भावः सान्द्रानन्दमयी भावः, एवं कामोत्सवः, कामक्रीड़ा रूपो य उत्सव उत्कृष्ट यज्ञः, समोऽभवत् । तथा च काम क्रीड़ा जन्य सान्द्रानन्द कामक्रीड़ा च, अनयोः साम्यन्तु यथा कारणं तथैव कार्योत्पत्तिरित्यकारकानुरूपत्वमेव ज्ञेयम् ॥१०५॥

से मूर्त्ति-मण्डल को आवृत किया ।

यहाँ "मेरी मणि मुरली एवं मणि गणोज्ज्वल कण्ठ हार" इस प्रकार समुच्चय वाचक अव्यय प्रयुक्त होने से ही क्रमकी रक्षा होती है । उसकी अन्यथा होने पर अक्रम नामक दोष हुआ है । एवं मूल में "निगवित मि श्रुत्वा" इस प्रकार होने से ही क्रमरक्षा होती है । अस्थानस्थ-पद नामक दोष इस प्रकार होकर भी झटिति अन्वय बोध करा देता है, यह उस प्रकार नहीं है, यहीं उसके सहित इसका भेद है ।१०४।

परार्थ में जहाँ अपर रस का अर्थ अमत वा विरुद्ध होता है, वहाँ अमतपरार्थ नामक दोष होता है ।

उदाहरण—श्रीहरि के सहित परिचय होने से हरिणाक्षी वृन्द की नीवी मुक्त हुई, केश कलाप भी बन्धन मुक्त हो गये एवं हार भी गुणरहित हो गया । एवं अधर बिम्ब भी निर्लेप हुआ, अतएव सुरत सम्भूत आनन्द ज्ञानाभ्यास हेतु ब्रह्मानन्द से सर्वथा उत्कृष्ट है ।

यहाँ परार्थ शान्त रस है, उसका प्रवेश शृङ्गार रस में होने के कारण विरुद्ध हुआ है, अतः यहाँ अमत परार्थ दोष हुआ है । अतएव 'श्रीहरि के सहित विचार से इस प्रकार पाठ करके शेष चरण में "घनरसमयीभाव एव कामोत्सव तुल्य हुआ था" इस प्रकार पाठ करना कर्त्तव्य है ॥१०५॥

अनवी कृतः सनियमेऽनियमे ऽनियमस्तथा सनियमे च ।

सामान्ये सविशेषः, सामान्ययुतो, विशेषे च ॥१०७॥

साकाङ्क्षो निर्वाहे पूरणकारी विरूप सहचरितः ।

व्यङ्ग्यविरुद्धो विध्ययुक्तोऽनुवादायुक्तस्तथाऽश्लीलः ।

त्यक्त पुनः स्वीकृत इति, दुष्टा अर्थास्तु विंशतिस्त्रियुताः ॥१०८॥

प्रत्यकेनोदाहरणानि व्यक्तेत (सप्तम किरणे ५७) 'नवं शीकरमासाद्य' इत्यादि ।

अत्र यमानुजनिर्यमुना, पक्षे—नियमः यम नियमेति गणना क्रमादिति कष्टोऽर्थः ॥

किन्त्वयं चित्र काव्यादौ न दोषो न च वा गुणः ॥१०९॥

अपुष्टो यथा—कौस्तुभ महसा वक्षः, स्थलमवभाति रथिकाजानेः ।

उद्यद्दिनमणिकिरणैः, सति वितता गगन सरणीव ॥

अत्रातिविततत्वमपुष्टम् ॥११०॥

प्रत्येकेनेति—व्यस्तेन यथाक्रमं विनापि व्यस्त क्रमेण प्रत्येकेन श्लोकेन कष्टादि दोषानानुदाहरणमाहेत्यर्थः ।

नवं शीकरमिति—पूर्वं व्याख्यातमेव ॥१०६–१०९॥

रथिकाजानेः रथिकाजाया प्रेयसी यस्य तस्य श्रीकृष्णस्यातिविस्तृता गगन रूपा सरणिः पन्था

वाक्य दोष समूह का वर्णन करने के पश्चात अर्थ दोष समूह का वर्णन करते हैं । कष्ट, अपुष्ट, व्याहत, पुनरुक्त, ग्राम्य, दुष्क्रम, संशयित हेतुहत, प्रसिद्धि विरुद्ध, विद्या विरुद्ध, अनवीकृत, अनियम में सनियम, सनियम में अनियम, सामान्य में सविशेष, विशेष में सामान्य, आकाङ्क्ष, निर्वाह में पूरण कारी विरूप सह चरित, व्यङ्ग्य विरुद्ध, विध्ययुक्त, अनुवादायुक्त, अश्लील एवं त्यक्त पुनः स्वीकृत ये त्रयोविंशति प्रकार अर्थ दोष होते हैं । प्रत्येक का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।

सप्तम किरण के ५७ श्लोक में उक्त है—

"नवं शीकरमासाद्य यमानुजनि मज्जतः

कस्य विशदतां याति मनोमानपरिप्लवम् ॥"

वंशी ध्वनि श्रवण कर यम एवं नियम भङ्ग होने से किस कामिनी का मान परिप्लव चित्त विषद युक्त नहीं होता है । एवं यमुना तरङ्ग के नव शीकर स्पर्श से किस का मान परिप्लव चित्त अविशद भाव को प्राप्त नहीं करता है ।

यहाँ यम की अनुजा शब्द से यमुना, पक्ष में अर्थ है । नियम इस प्रकार गणन क्रमहेतु अर्थ अतिकष्ट साध्य हुआ है । किन्तु चित्र काव्य में यह दोष वा गुण नहीं है ॥१०६–१०९॥

अपुष्ट का उदाहरण—उदय कालीन दिनमणि के किरण से अति विस्तृत गगन सरणि के समान

व्याहतो यथा — यस्याश्चन्दने चन्द्रिका सरसिज प्रालेयवैषेपल—

स्पर्शादप्यधिकं त्वचो सुखकरः स्पर्शो निदाघाहनि ।

सेयं लोचने कौमुदी मम सखे राधा हिमस्या गमे

वक्षोज द्वितयोष्मणैव हरते शीतस्य भीतिं च मे ॥

अत्र चन्द्रिकायां अप्यधिको यस्याः स्पर्शः इति तस्या अपकर्षः सूचितः, पुनः सेयं लोचन कौमुदी' इति तस्या एवोत्कर्ष व्याहतोऽर्थः । तेन 'सेयं चित्तरसायनम्' इति पाठ्यम् ॥१११॥

पुनरुक्तो यथा — प्रेयसि राधिके कथं मम रो सति भूमावुपविश्यते । तथाहि—

ऊरू पीठमुरो विलासि शयनं लीलोपधानं भुजौ

खेलाब्जं करपल्लवो मणिमयादर्शः कपोलस्थली ।

आचम्यं वदनाम्बुजासवरसः स्वेच्छोपदंशोऽधरो

मम्मूत्तिस्तव वल्लभे मधुमती सिद्धिः स्वयं साधिता ॥

यशोवय कालीन रक्तसूर्य्य किरणैर्भाति ॥११०॥

सरसिजं कमलम्, प्रालेयं हिमकणा, निदाघाहनि--ग्रीष्मे, हिमस्यागमे शीतकाले वक्षोजद्वयस्योष्मणा शीतस्य भयं हरते । तस्याश्चन्द्रिकाया अपकर्षः सूचितः ॥१११॥

हे राधे ! मम वक्षःस्थलं तव विलास शय्या, एवं मम भुजौ सम्भोगलीलार्थं तकिया इति प्रसिद्ध-मुपधानम् । मम कर पल्लवं खेलाब्जं तव लीलाकमलम् । मम वदन कमलस्याधरामृत स्वरूपो च आसवो रसः, मादक मधु स एव तवाचम्यमाचमनीयम्, पेयमिति यावत् । मधु पानानन्तरं किञ्चिद् द्रव्य भक्षण-मपेक्षितं भवति, तत्स्थानीयो ममाधर एवेत्याह--स्वेच्छेति । तव स्वेच्छ यथेष्ट भोजनीयोपदंशो ममाधरः, भर्जित गोधूमादय उपदंशपद वाच्याः । अतएव मम्मूर्त्तिस्तव मधुमती सिद्धिः, कामोन्मत्तता जनकं यन्मादकं

कौस्तुभ मणि किरण से राधिका रमण का यह वक्षःस्थल अतिशय शोभित हुआ है। यहाँ अति विस्तृतत्व अपुष्ट हुआ है ॥११०॥

व्याहत का उदाहरण—हे सखे ! निदाघ दिवस में जिस का सुकोमल त्वक् का स्पर्श, चन्दन, चन्द्रिका, सरसिज, तुषार एवं करका स्पर्श से भी अधिक सुखकर है, वह मेरी लोचन चन्द्रिका श्रीराधा-हिमागम में पयोधर युगल की उष्णता के द्वारा हो मेरी शीत भीति को हरण कर रही है ।

यहाँ जिस का स्पर्श चन्द्रिका से भी सुखकर होने के कारण—चन्द्रिका का अपकर्ष सूचित हुआ है, उसका ही लोचन चन्द्रिका कहकर पुनर्वार वर्णन करने पर—उसका उत्कर्ष व्याहत हुआ है । सुतरां यहाँ व्याहतार्थता दोष हुआ है । अतएव 'रसायन स्वरूपा वह राधा" इस प्रकार पाठ करना होगा ॥१११॥

पुनरुक्त का उदाहरण—प्रेयसि राधिके ! मेरे ऊरुद्वय विद्यमान रहते हुये भूतल में क्यों उपवेशन कर रही हो ? देखो, प्रियतमे ! मेरा ऊरुस्थल तुम्हारा पीठ स्वरूप है, वक्षःस्थल—विलास शय्या है, भुज युगल—लीलामय उपधान है, कर पल्लव—लीलाकमल है, कपोलद्वय मणिमय मुकुर हैं, मुखारविन्द का आसव ही पानीय एवं अधर विम्ब ही स्वेच्छोपदंश हैं । अतएव मेरी मूर्ति तुम्हारी स्वयं साधित

अत्र कन्दर्पमञ्जरी नाटिकायां चूर्णिकायां 'प्रेयसि राधिके' इति सम्बोधने सति पुनः 'वल्लभ' इति सम्बोधनमर्थपौनरुक्त्यम्। तेन चूर्णिकायाम् 'अयि' -इति सम्बोधने सति दोषहानिः। 'मधुमती सिद्धिः' -इत्यत्रैव समाप्यते चेत्, तथापि 'स्वयं साधिता' इति निर्वाहे पूरणकारी दोषः। एवं 'मधुमत' इति सामान्ये सविशेषः। 'मन्मूर्त्तिरेव' इति विवक्षिते सति सनियमेऽनियमः। तेन 'मधुमती काऽप्येव सिद्धिः परा' इति चेत् क्रियते, तदा पुरणकारि-दोषहानिः। किन्त्वनियमे सति सनियमे दोषः। तन्त्रेण चत्वारो दोषा दर्शिताः। तेन 'स्वेच्छोपदंशोऽधरः, प्रायोऽयं मम विग्रहः खलु तव क्रीड़ोपहारः परः' इति पाठे सर्वदोष हानिः। किञ्चास्य तृतीय चरणं चेच्चतुर्थं चरणं भवति, तदा दुष्क्रमदोषोऽपीति। किञ्च, प्रायोऽयं मम काय एव हि मया भोगाय ते कल्पितः' -इति ग्राम्येऽपि। ११२॥

संशयितो सन्दिग्धो यथा—

नूदेहं मासाद्य निषेवणीयं, किमत्र तत्रोपदिशन्तु भव्याः।

वस्तु; तत् सम्पादनीया सिद्धिस्तद्रूपेत्यर्थः।

कथम्भूता मूर्त्तिः? स्वयं साधिता स्वतः सिद्धेत्यर्थः। सामान्ये--इति, पीठ शय्या लीलाकमलादि वस्तु सम्पादिनी या सिद्धिः, तद्रूपा श्रीकृष्ण, मूर्त्तिरिति; सामान्ये, वक्तव्ये मधुमतीति विशेष निर्देशात् सामान्य विशेष रूपो दोष जातयर्थः। मन्मूर्त्तिरेवेत्येवशब्दो नियमार्थः। मधुमती सिद्धिरित्यत्र एव शब्दा भावादनियमः। एवं सति सनियमेऽनियम रूपोदोषोज्ञेयः।

मधुमती सिद्धि स्वरूप है।

यहाँ कन्दर्प मञ्जरी नाटिका के चूर्णक में उक्त है—"प्रेयसि राधिके" इस प्रकार सम्बोधन करने के पश्चात् पुनर्वार 'देखो, प्रियतमे" सम्बोधन करने में पुनरुक्ति हुई है।

अतएव चूर्णकांश में, 'अयि' सम्बोधन होने से ही निर्दोष होगा। मधुमती सिद्धि--कहने से ही पर्याप्त होता, किन्तु उसका विशेषण स्वयं साधित पद का प्रयोग होने से वहाँ "निर्वाह में पूरण कारी" दोष हुआ है। एवं केवल सिद्धि--न कहकर मधुमती सिद्धि कहने से सामान्य में सविशेष नामक दोष हुआ है।

मेरी मूर्त्ति ही तुम्हारी मधुमती सिद्धि है—वक्तव्य स्थल में उस प्रकार निश्चयाभिधान न होने पर सनियम में अनियम नामक दोष हुआ है। यहाँ "मेरी मूर्त्ति तुम्हारे सम्बन्ध में अनिर्वचनीया एक मधुमती सिद्धि है, इस प्रकार जानना" इस प्रकार पाठ परिवर्त्तन करने से पूरण कारी दोष का निरास तो होता है, किन्तु उस से भी अनियम में सनियम रूप दोष रहता है। इस रीति से एक वाक्य में ही दोष चतुष्टय का उदाहरण प्रदर्शित हुआ।

यहाँ मेरा यह विग्रह तुम्हारे परम क्रीड़ोपहार स्वरूप हुआ है। इस प्रकार पाठ करने से समस्त दोष का परिहार होता है। मूलस्थ श्लोक के तृतीय चरण को यदि चतुर्थ चरण किया जाय तो उक्त स्थान में दुष्क्रम दोष भी होता है। एवं "मदीय समग्र शरीर तुम्हारे भोग सम्पादन हेतु मेरे द्वारा कल्पित हुई है", इस प्रकार पाठ करने से ग्राम्यता दोष भी होता है।११२॥

गोविन्द पादाम्बुहासवः कि, स्त्रीरत्न वक्त्राम्बुरुहासवः किम् ?

अत्र शान्त शृङ्गारयोः शान्तस्यैवोपदेश्यत्वादसन्दिग्धत्वे प्रश्नो दोषः ॥११३॥

हेतुहतो यथा—अपि देशः स किमास्ते, श्रवणशलाकेव कोकिलालपितिः ।

दावानलकीला इव, न यत्र सखि चन्द्रमसः पादाः ॥

अत्र कोकिल लपचादेः श्रवणसलाकादित्वे हेतुर्नोक्तिः । तेन 'प्रियविरहेण स देशः, श्रवण शलाकेव यत्र न पिकोक्तिः । न च दवदहनज्वाला, इव वा यत्रेन्दु दीधितयः ।' इति पाठ्यम् । अपि देशः स किमास्ते, श्रवण शलाकेव कोकिलालपितिः । दावानलकीला इव, दयित वियोगे न यत्र शशिभासः' ॥ इति चेत्तदाव्यङ्ग्यो विरुद्धो भवति, यस्मिन् देशे वल्लभान्तरं लभ्यते इतिव्यङ्ग्ये विरुद्धम् ॥११४॥

प्रसिद्धि विरुद्धो यथा—

त्वमनाकुलवकुलतरो, मत्तः खलु सुभग एवासि ।

मधुमती काप्येवेत्यत्र नियमः । मन्मूर्त्तिरित्यत्र एवशब्दाभावादनियमः । अतोऽनियमे सनियमरूपो दोषो ज्ञेयः ।

किञ्चास्येति—मन्मूर्त्ति स्तवेत्यादि चतुर्थ चरणद्वयं पश्चाद् प्रथाचम्यं वदनाम्बुजेत्यादि तृतीय चरणं पठ्यते, तदा दुष्क्रमो रूपो दोषो ज्ञेयः ॥११२-११३॥

अपि देश । इति । यस्मिन् देशे प्रिय विच्छेदे सति कोकिलालापः, श्रवण शलाका इव पीड़ा जनको न भवति, स देश उपदेश उपविश्यतामित्यत्र तद्देशे जिगमिषा नायिकाया अभिप्रायः । किन्तु तत्र पुरुषान्तरेण सह सङ्गे सत्येव कोकिलापादि दुःख जनको भविष्यतीति ध्वन्यर्थः। सतु रसशास्त्रे महान् विरुद्ध इत्यर्थः ।११४

श्रीकृष्ण आह—त्वमिति । हे अनाकुलतरो ॥११५॥

हे साधुवृन्द ! आप सब मुझ को उपदेश करें कि—इस संसार में मनुष्य शरीर प्राप्तकर श्रीगोविन्द के चरणार विन्द ही सेवनीय है, अथवा स्त्रीरत्न के मुखारविन्दमाध्वीक ही सेवनीय है ?

यहाँ शान्त एवं शृङ्गार के मध्य में शान्त ही उपदेष्टव्य है, इस में सन्देह नहीं है । इस प्रकार नि सन्दिग्ध विषय में संशयजनक प्रश्न करना ही दोषावह हुआ है ॥११३॥

संशयित अर्थात् सन्दिग्ध का उदाहरण-हे सखि ! उस प्रकार देश कहीं है क्या ? जहाँ कर्ण शलाका स्वरूप कोकिलालाप एवं दावानल ज्वाली स्वरूप इन्दु किरणावली विद्यमान नहीं है ।

यहाँ कोकिलालापादि की एवं श्रवण शलाकादि की स्वरूपता के प्रति हेतु का कथन नहीं हुआ है। अतएव "प्रिय विरह हेतु कोकिलालाप जहाँ कर्णशलाका स्वरूप एवं इन्दु किरणावली दावानल शिखा स्वरूप प्रतीयमान नहीं होता है ।- इस प्रकार देश नहीं है । इस प्रकार पाठ होना ही वाञ्छनीय है ।

"तादृश देश विद्यमान है क्या ? जहाँ प्रिय वियोग समय में भी कोकिलालाप श्रवण शलाका स्वरूप एवं इन्दु किरणावली दावानल ज्वाला स्वरूप प्रतीयमान नहीं होती है, इस प्रकार पाठ करने से व्यङ्ग्य विरुद्ध होता है ।"

अर्थात् जिस देश में वल्लभान्तर के सहित समागम की सम्भावना है-इस प्रकार रस शास्त्र में व्यङ्ग्य की प्रतीति होती है ॥११४॥

राधायाः पदकमलज, घातात् यदकाले फुल्लोऽसि ।।

अत्र पद्मिन्याश्चरणाघातेन रक्ताशोक एवाकाले फुल्लति, मुखमदिरा गण्डूषेण हि वकुल इति कविप्रसिद्धिः। तदन्यथा चेत् प्रसिद्ध विरुद्धोऽर्थः। तेन 'राधाया मुखमदिरा गण्डूष बलादकालफुल्लोऽसि त्वं' इति पाठ्यम्।

विद्या विरुद्धः शास्त्र विरुद्धो यथा 'अयं महात्मा परमतपस्वी, स्नायी निशीथेषु निशीथ भोजी' इत्यादौ, ग्रहोपरागादिकमन्तरेण रात्रिस्नानं विरुद्धम्। निशीथभोजनमपि तथा, यद्युपहास परमिदं तदा न दोषः, स्तुतिपरत्वे दोष एव।।११५।।

यथा वा—नखाङ्कितं दोस्तटमङ्गदस्यारोपेण गोपायति कापि गोपी।

उरोजयोः काचन चुम्बलग्नं, ताम्बूलरागं घुसृणैः पिनष्टि ।।

इत्यादाङ्गदस्थाने नखक्षतं स्तनयोश्च चुम्बनं कामशास्त्र विरुद्धम् ।। एवं यस्य यच्छास्त्रं तस्य तद्विरुद्धत्वं दोषः ।।११६।।

दोस्तटे स्थितं नखक्षतं चिह्नमङ्गदरूपालङ्कारेण गोपायति; कापि गोपी घुसृणैः कुङ्कुमैः पिनष्टि ।।११६-११७।।

हे वकुल पादप ! तुम मेरे समान आकुल चित्त नहीं हो, कारण मुझ से तुम निश्चय ही सौभाग्य शाली हो, कारण—श्रीराधा के चरण कमल के आघात से तुम अकाल में प्रफुल्लित हुये हो।

यहाँ पद्मिनी के पाद पद्म के आघात से रक्ताशोक ही अकाल में प्रफुल्ल होता है, एवं मुख मदिरा गण्डूष से वकुल वृक्ष ही विकसित होता है, इस प्रकार कवि सम्प्रदाय की प्रसिद्धि होने के कारण, उसको अन्यथा करने से प्रसिद्धि विरुद्धता हुई है। अतएव "श्रीराधा के मुखारविन्द के मदिरा गण्डूष से तुम असमय में प्रफुल्ल हुये हो" इस प्रकार पाठ परिवर्त्तन करना होगा।

विद्या विरुद्ध एवं शास्त्र विरुद्ध का उदाहरण यह है— यह महात्मा परमतपस्वी, यह निशीथ स्नायी एवं निशीथ भोजी है

यह उदाहरण—चन्द्र सूर्यादि उपराग व्यतीत रात्रि स्नान धर्मशास्त्र विरुद्ध है, निशीथ काल में भोजन भी इस प्रकार धर्म शास्त्र विरुद्ध है। उपहास हेतु उक्त कथन होने से उक्त प्रयोग दुष्ट नहीं होगा। स्तुति पर होने से ही दोषावह होगा।।११५।।

उदाहरण—किसी गोपी निज भुजतट को सखा के नखर से अङ्कित देखकर अङ्गदारोपण पूर्वक उसको गोपन कर रही थी, अपर गोपी स्तन तट में चुम्बन संलग्न ताम्बूल राग को कुङ्कुमलेपन के द्वारा आवृत कर रही थी।

इस श्लोक में अङ्गद के स्थान में नखक्षत एवं स्तनतट में चुम्बन काम शास्त्र विरुद्ध है। इस प्रकार जिसका नियामक जो शास्त्र है, उसका विरुद्ध आचरण करने से दोष होता है ।।११६।।

अनवीकृतो यथा—

जातं कुले धनवतां महतां ततः किं, शास्त्रेषु बुद्धि रखिलेषु कृता ततः किम् ?
पुण्यान्युरूणि विहितानि जनैस्ततः किं, विस्तारितं च भुवनेषु यशस्ततः किम् ?

अत्र "ततः किम्" इत्येतैरर्थोऽनवीकृतः । तेन 'कृष्णे रतिर्हि परमं पदमातनोति' इति नवीकृतः स्यात् ।

सनियमेऽपि दोषः 'मधुमती काप्येव सिद्धिः परा' इत्यत्र दर्शित अनियमस्य 'मन्मूर्त्तिरेव' इति यत्न कृतं तेन तत्र च दर्शितः । सामान्ये विशेषश्च (११२ श्लोके) 'मधुमती सिद्धिः' इत्यत्र च मधुमतीति विशेष निर्देशे दर्शितः । वस्तुतः सिद्धि सामान्यमेव निर्देष्टुं युज्यते ।११७

विशेषे सामान्यं यथा—

भाग्याधिक्यत उत्तरोत्तर समुत्कर्षाविधिभ्यो गुण
ग्रामेभ्योऽपि बलाधिकस्तनुमतां कोऽपि स्वभावोदयः ।
जन्मक्षीरनिधौ श्रियः सहगता श्रीकृष्ण वक्षःस्थले
वासोहस्त तथापि तस्य न मणेरश्मेति वादो हृतः ॥

भाग्याधिकयर्यात्, एवं गुण समूहेभ्योऽपि देहधारिणां कोऽपि स्वभावोदयो बलाधिक्यो भवति ।

अनवीकृत का दृष्टान्त— धनवान् एवं महान् वंशमें जन्म ग्रहण हुआ है, उससे क्या हुआ ? निखिल शास्त्र में निपुणता प्राप्त किया है, उस से भी क्या हुआ ? भूरि पुण्य सञ्चय हुआ है, उससे भी क्या हुआ ! त्रिभुवन में यशोराशि का विस्तार हुआ, उससे क्या हुआ ?

यहाँ उससे क्या हुआ ? इस प्रकार वाक्य का प्रयोग पुनः पुनः होने से अनवीकृत हुआ है । अतएव मूल श्लोक के चतुर्थ चरण में "कृष्ण में रति ही एकमात्र परम पद प्राप्ति का विधान है" इस प्रकार परिवर्त्तन करके अनवीकृत दोष का परिहार करना होगा ।

अनियम में सनियम रूप दोष का दृष्टान्त—यह है— "मधुमती काप्येव सिद्धिः परा" अर्थात् मेरी मूर्त्ति तुम्हारे सम्बन्ध में अनिर्वचनीया एवं मधुमती सिद्धि जानना, यहाँ उक्त दोष प्रदर्शित हुआ है। सनियम में अनियम रूप दोष भी "मन्मूर्त्तिरेव" अर्थात् मेरी मूर्त्ति ही तुम्हारी मधुमती सिद्धि स्वरूप है । इस प्रकार नहीं कहा गया है, उक्त स्थल में इसका कथन हुआ है ।

सामान्य में विशेष नामक दोष भी "मधुमती काप्येव सिद्धिः" अर्थात् तुम्हारे सम्बन्ध में अनिर्वचनीया एकसिद्धि है । यहाँ केवल सिद्धि न कहकर "मधुमती सिद्धिः" विशेष्य निर्देश का फल पहले कहा गया है । वस्तुत साधारण रूप से सिद्धि निर्देश करना उक्त स्थल में युक्ति युक्त है ।।११७।।

विशेष में सामान्य का उदाहरण—भाग्यातिशय अथवा उत्तरोत्तर उत्कर्षशाली गुण समूह हो, सर्वापेक्षा देहिवृन्द के पक्ष में स्वभाव ही बलवत्तर होता है । देखो ! क्षीर समुद्र में जन्म, भगवती कमला के सहित सोदर्यता, श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल में अवस्थान है, तथापि मणि का प्रस्तर अपवाद अपगत नहीं हुआ ।

अत्र विशेषे कौस्तुभे सामान्यस्य मणेर्निर्देशः। तेन 'वासे। यस्य तथापि कौस्तुभमणेस्तस्याश्मता नो गता' इति पाठ्यम् ॥११८॥

साकाङ्क्षो यथा—वृथाऽकृथा मानिनि मानमुच्चैः कृष्णोऽयमेताश्च वयं समरताः।
प्रसीद राधे विनिधेहि चित्ते, कृपामपारो गुणवारिधिस्ते ॥

अत्रायं कृष्णो नोपेक्षितुं योग्यः, नापि वयं क्लेशयितुं योग्या इत्याकाङ्क्षामपेक्षत इति साकाङ्क्षः।

निर्वाहे पूरणकारी तु (११२ तम श्लोके) 'मधुमती सिद्धिः स्वयं साधिता' इत्यत्र स्वयं साधितेति पूरणकारी मधुमती सिद्धिरित्येतावतैव निर्वाहः स्यात्। इममेव दोषमपदयुक्त इति पूर्वे पठन्ति ॥११९॥

विरूपसहचरितः सहचरभिन्न इत्यर्थः। स यथा—
स्तवेन लज्जा द्रविणैरमत्तता, श्रुतेन धैर्यं यशसाति नम्रता।
दोषेण तापः प्रणयेन वश्यता, सतामियं स्वारसिकी हि रीतिः ॥

अस्योदाहरणमाह—जन्मेति। अस्य मणेः प्रस्तर इति प्रवादो न गतः ॥११८॥

हे राधे! चित्ते कृपां निधेहि, यतस्ते तवापारो गुण समुद्रः। उक्तमिममेव दोषं पूर्वे पण्डिता अपदयुक्त इति संज्ञया पठन्ति ॥११९-१२०॥

यहाँ कौस्तुभ रूप विशेष का निर्देश समुचित होने पर भी सामान्य मणिरूप में निर्देश किया गया है, अतएव उक्त पाठ सामान्य मणि रूप में निर्देश किया गया है, अतएव उक्त पाठ परिवर्त्तन कर "तथापि वह मणिका प्रस्तर प्रवाद अपगत नहीं हुआ है। इस प्रकार पाठ करना कर्त्तव्य है ॥११८॥

साकाङ्क्ष का दृष्टान्त—हे मानिनि! वृथा गुरु मान कर रही हो, यह कृष्ण एवं हमसब सखी दुःखी हैं, हे राधिके! तुम प्रसन्ना हो, चित्त क्षेत्र में कृपा नदी प्रवाहित हो, कारण, तुम्हारे गुण समूह पारावार सदृश अपार हैं।

यहाँ कृष्ण हैं, उनको उपेक्षा करना उचित नहीं है, एवं हम सब सखी हैं, हम सब को क्लेश देना कर्त्तव्य नहीं है। इस प्रकार वाक्य अपेक्षित है—अतः साकाङ्क्षा हुआ है।

निर्वाह में पूरण कारी का दृष्टान्त— "मधुमती सिद्धि स्वयं साधिता" यहाँ "मधुमती सिद्धि" कहने से ही, प्रयोजन निर्वाह हुआ, पुनर्वार स्वयं साधिता इस विशेषण का प्रयोग होने पर वह पूरण कारी दोष हुआ है। पहले पण्डितों ने इस दोष को अपदयुक्त कहा है ॥११९॥

विरूप सह चरित अर्थात् सहचरभिन्न का उदाहरण—

साधु गणकी स्वाभाविक रीति यह है कि—वे स्तुति वाद से लज्जित होते हैं, धन राशि से मत्त नहीं होते हैं, किन्तु शास्त्र ज्ञान द्वारा धैर्य लाभ करते हैं, यशः कीर्त्तन से नम्रता को प्राप्त करते हैं, कदाचित् दोषाचरण से परिताप करते हैं, एवं प्रणय के द्वारा वश्यता प्राप्त करते हैं।

अत्र स्तवादिभिरुत्कृष्टैः सहचरं दोषतापयोर्निकृष्टयोर्विरूप्यम् । तेन 'दानैरतृप्तिः' इति पाठ्यम् । व्यङ्ग्य विरुद्धस्तु (११४ श्लोके) 'अपिदेशः स किमास्ते । किमास्ते श्रवण शलाका'-इत्यादौ प्रागेवदर्शितः ॥१२०॥

विध्ययुक्तो विधेयस्यान्यथा स्थितिमत्ता । यथा—

मुहुर्ललितया राधे त्वं प्रयत्नैः प्रबोधिता । त्वयाऽसमीक्ष्य कारिण्या तथापि क्रियते हठः ।

अत्र 'त्वं प्रयत्नैः प्रबोध्यसे' इत्येव विधेयम्, तदन्यथा स्थितौ विध्ययुक्तः ॥१२१॥

अनुवादायुक्तो यथा—

अपि परभृत तस्याः कण्ठनादेन तस्यां तव निपतितमक्षि प्रायसो विस्मयेन ।

विरहि हृदय कालव्याल मा वञ्चयेथाः, कथय कथमिदानीं लप्स्यते कुत्र राधा ?

अत्र 'विरहि हृदयकालव्याल' इति नानुवाद्यम्, कुतः कथयेति प्रार्थना फलाभावात् । तेन 'मम रुचि सदृशत्वान्मित्र' इत्यनुवाद्यम् ॥१२२॥

प्रबोधितेति । सर्वत्र विधेयस्य मुख्यत्वेन हि स्थितिरपेक्षिता भवति, अत्र तु विधेय रूपायाः प्रबोधन क्रियाया गौण कृदन्त प्रत्यय समभिव्याहाराद् गौणत्वमायाति, अतो विध्ययुक्त दोषो ज्ञेयः ॥१२१॥

हे परभृत ! कोकिल ! तस्या राधायाः कण्ठनादेन, तस्यां राधायां विस्मये न तवाक्षि निपतितम्, अतः कथय कुत्र राधा वर्त्तते । अथात्र पूर्वोक्त परभृत पदस्यानुवाद रूपं हे विरहि हृदय काल सर्पेति पदम्,

---

इस उदाहरण में स्तुति प्रभृति उत्कृष्ट सहचर के सहित दोष एवं परिताप रूप निकृष्ट वस्तु के सम्मिलन हेतु विरूप सहचरित दोष हुआ है । अतएव "दोषाचरण से परितप्त होना" यहाँ "दान में अतृप्त होते हैं' इस प्रकार पाठ करना कर्त्तव्य है ।

व्यङ्ग्य विरुद्ध का उदाहरण—"अपि देशः स किमास्ते" अर्थात् तादृश देश विद्यमान क्या है ? जहाँ प्रिय वियोग के समय भी कोकिलालाप श्रवण रूप में प्रतीयमान नहीं होता है, इसका प्रदर्शन पहले हुआ है ॥१२०॥

विध्ययुक्त- अर्थात् विधेय की अन्यथा स्थिति का दृष्टान्त हे राधे ! तुम ललिता के द्वारा अतिशय यत्न से पुनः पुनः प्रबोधिता हो । तथापि तुम असमीक्षाकारिणी होकर उसके ऊपर हठ कर रही हो !

यहाँ तुम अतिशय यत्न से प्रबोधिता होती रहती हो, यही विधेय है, अर्थात् यहाँ विधेय भूत प्रबोधन क्रिया की मुख्यत्व में स्थिति ही समीचीन है । वैसा न होकर गौण कृदन्त प्रत्यय के साहचर्य से गौणत्व प्राप्त होने से विध्ययुक्त हुआ है ॥१२१

अनुवादायुक्त का निदर्शन—हे परभृत ! वह सुकण्ठी प्रिया का कण्ठरव श्रवण से विस्मित होकर तुम्हारे नयन उनके ऊपर प्रायः ही निक्षिप्त होते रहते हैं । अतएव हे विरहि हृदय दंशन लोलुप काल विषधर ! मुझे वञ्चना न करके कह दो, कैसे किस स्थान में मैं प्रियतम को प्राप्त कर सकूँगी ।

यहाँ "विरहि हृदय देश न लोलुप काल विषधर" यह सम्बोधन पद कभी भी अनुवाद्य नहीं हो

अश्लीलो यथा—आदित्सयाऽंशुकानामुन्नतभुजं विरुद्धां कुमारीणाम् ।
पश्यति हरौ विरेजे गतवसनानामधोदृष्टिः ॥

अत्र 'नम्रादृष्टिः' इति विवक्षितम् । तत्राधो दृष्टिरिति यत् प्रतीयते, तदेवाश्लीलम् । तेन 'गत वसनानां नताहृष्टिः' इत्येव शुद्धम् ॥१२३॥

त्यक्तपुनः स्वीकृतो यथा—

न चन्द्रेणास्यन्ते तुलयितुमिदं साहसमिहो, ममारते तेनैषा स्तुतिरपि न चन्द्रानन इति ।
न चन्द्रो लज्जावांस्तदपि यदुदेति स्मितमुखो, धिगेनं यं शश्वद् ग्लपयति कुहूरात्रिरसती ॥

अत्र 'स्तुतिरपि न चन्द्रानन' इत्येवोपसंहारः कृतः, तथापि 'न चन्द्रो लज्जावान्' इति यदपरमुपक्रम्यते, तेन त्यक्तपुनः स्वीकृतता ॥१२४॥

उक्तास्त्रयोविंशतिर्दोषाः । येषु येष्वेते दोषा दर्शितास्तेषु तेष्वन्येऽपि दोषा बोद्धव्याः । तेन दोषा अपि सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया उक्तसंख्याः शब्दादिगता दोषा बहवो

तत्तु अयुक्तम्, अपकर्षं बोधकसम्बोधनपदानेतरं कथयेति प्रार्थनाया असङ्गतत्वेनैवाह । अत्रेति—यं चन्द्रमाभावास्या रात्रिः शश्वत् प्रतिमासे ग्लपयति) होन तेजस्कं करोति ॥१२२-१२३-१२४॥

सकता है। कारण, उस प्रकार अपकर्ष बोधक सम्बोधन करके उसके निकट प्रिया प्राप्ति हेतु प्रार्थना नहीं की जा सकती है। अतएव "मेरे कान्ति सादृश्य हेतु हे मेरे मित्र! तुम मुझे वञ्चना न करके कह दो" इस प्रकार पाठ परिवर्तन कर वहाँ पाठ करना होगा ॥१२२॥

अश्लील का दृष्टान्त—वसन ग्रहण की वासना से व्रज कुमारी गण निज निज भुजलता को उन्नमित किये थे, इस समय में श्रीहरि उन सब के समीप में नेत्र पात करने से उन विवसना वृन्द की तत्मुहूर्त्तजात अधोदृष्टि परम रमणीय हुई थी।

यहाँ नम्र दृष्टि कहना ही अभिप्रेत है, किन्तु प्रयुक्त पद की सामर्थ्य से "अधोदेश में दृष्टि" इस प्रकार प्रतीत होने पर अश्लील हुआ है। अतएव वहाँ 'अवनत दृष्टि' इस प्रकार पाठ करना समीचीन होगा ॥१२३॥

त्यक्त पुनः स्वीकृत का उदाहरण—चन्द्र के सहित तुम्हारे आनन की तुलना करने में मैं साहस नहीं करता हूँ, अतएव "चन्द्रानने" कह कर तुम्हें जो सम्बोधन करता रहता हूँ, यह भी तुम्हारे स्तुतिवाद नहीं है, किन्तु इस से भी चन्द्र लज्जित नहीं होता है, कारण उदय हो कर वह हँसमुख हो कर उदित होता रहता है। हाय! असती अमावस्या रजनी, जिसको प्रतिमास में ही विषम ग्लानि ग्रस्त होना पड़ता है, उसके हृदय में क्या कुछ भी धिक्कार बोध नहीं होता है।

यह भी तुम्हारा स्तुति वाद नहीं है", यह कह कर उपसंहार करना उचित था किन्तु "इस से भी चन्द्र लज्जानुभव नहीं करता है" कह कर तात्पर्यान्तर की प्रस्तावना होने से त्यक्तपुनः स्वीकृत नामक दोष हुआ है ॥१२४॥

भवन्ति । तथाहि—श्रुतिकट्वादयः षोड़श पद दोषाः । एते समास गतत्वेऽपि पुनः षोड़श । तेन पुनर्द्वात्रिंशत् । पदांशे त्रयोदश, वाक्ये षोड़शैव, एवमूनत्रिंशत् । पुनर्वाक्यमेव यद् दुष्टं तत्र प्रतिलोमवर्णादित्वेनैकविंशतिः । पुनरर्थ दोषास्त्रयो विंशतिः । एवं चतुश्चत्वारिंशत् । सर्वैकत्वे अष्टोत्तर शतं दोषाः । एते यथास्थिति सङ्कर संसृष्ट्या बहुधा वेति ॥

कर्णावतंसादिषु यत् कर्णादि शब्द ईक्ष्यते ।
तत् सान्निध्यादि बोधार्थं तज् ज्ञेयं न प्रयोजयेत् ॥

अवतंसादि शब्दः कर्णाद्याभरणार्थक एव, तथापि तेषु कर्णादि शब्दो यदीक्ष्यते, तत्तदा रूढ़त्वादि प्रतिपत्त्यर्थं ज्ञेयम् । न तद् दुष्टमित्यर्थः । तत् प्रयोजयेत् स्वयं कविना अप्रयोज्यम्, "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्" इति न्यायात् । यदि दृश्यते क्वापि, तदा न दूषयेदिति यावत्, आदि शब्दात् शिरः शेखरः श्रवण कुण्डलं धनुर्ज्या--एषु साङ्गत्यार्थः । मुक्ताहारः, पुष्पमाला, अनयो रन्यरत्नामिश्रत्वोत्कृष्ट पुष्पनिर्मितत्वे,—केवलहार—शब्देन केवलमाला--शब्देनैव तत्तत् प्रतीतेः । न प्रयोजयेदित्यस्यायमर्थो वा--इत्यादीनां कवि प्रयुक्तत्वात् कदाचित् प्रयोक्तव्यत्वञ्च न तिवत्यादिदिशा पादनूपुर जघन-काञ्च्यादि प्रयोक्तव्यमिति ।

तत्तद्रा रूढ़ ति—भूषणस्य कर्णादिसंलग्नत्वज्ञापनार्थकर्णादि पदं ज्ञेयमित्यर्थः । शेखर शब्देनैव शिरोभूषण मुच्यते, शिरः पदमाधिकम् । एवं कुण्डल शब्देनैव कर्णभूषण मुच्यते, कर्णपदमधिकम् । एवं

वाचमिति—त्रयोविंशति दोष का उल्लेख हुआ । जहाँ उक्त दोष होगा, वहाँ अन्य दोष भी होगा । इस रीति से विविध दोष सङ्कर एवं एकविध संसृष्टि के द्वारा उक्त दोष समूह अनेक होते हैं, कारण, श्रुति कटु प्रभृति षोड़श प्रकार पद दोष हैं, वे समासगत रूप में षोड़श विध होकर--द्वात्रिंशत् होते हैं, पदांश में त्रयोदश एवं वाक्य में षोड़श संख्यक-समष्टि में ऊनत्रिंशत् होते हैं । जहाँ वाक्य दुष्ट है वहाँ प्रतिकूल वर्णादि रूप में एकविंशति एवं अर्थ दोष भी त्रयोविंशति--इस प्रकार चतुश्चत्वारिंशत् दोष होते हैं, समस्त दोष को एकत्र करने से अष्टोत्तर शत संख्यक दोष होते हैं, उक्त दोष समूह संकर संसृष्टि क्रम से अनेक प्रकार होते हैं ।

अवतंसादि पद से यद्यपि कर्णाभरणादि अर्थ प्रतीत होते हैं, तथापि जहाँ "कर्णावतंस" प्रयोग होता है, वहाँ कर्णादि शब्द तद्रारूढ़ वा उस में अवस्थित हैं । इस प्रकार अर्थ बोध हेतु प्रयुक्त हुआ है, इस प्रकार जानना होगा । वह दुष्ट न होने पर भी कवि स्वयं प्रयोग न करें । कारण, पङ्क में मग्न होकर पश्चात् उस पङ्क को प्रक्षालन करने की अपेक्षा दूर से उसको स्पर्श न करना ही उत्तम है ।

इस प्रकार शिरः, शेखर, श्रवण, कुण्डल, धनु ज्या प्रभृति स्थल में आरूढ़त्वादि अर्थ बोध हेतु उस प्रकार प्रयोग हुआ है, जानना होगा ।

वाचं जगादेत्यादिषु—वाग्विशेषणार्थमेव वाचमित्यादि प्रयोगः, विशेषणाभावे तु वाचं जगदेति दोष एव, धात्वर्थेनैव तत् प्रतीतेः तत्रापि क्रिया विशेषणेनैव तदवगतेर्न तातेयं वाच मित्यादि प्रद्रमिति केचित्। तन्न। बहु विशेषणे क्रिया विशेषकं न चमत्कारि। एवं पद्भ्यां गच्छतीत्यादिष्वपि विशेषणे सति न दोषः। ख्यातेऽर्थे निर्हेतता न दोषः, ख्यातेरेव झटिति बुद्धेऽर्थे हेतुर्नापेक्षते।

श्रुति कट्वादीनां दोषाणां पर कथितानुकथने न दोषः। क्वचित् वक्त्राद्यौचित्येनानुकथनं विनापि गुणोऽपि, क्वचिन्न दोषो न गुणश्च।

वैयाकरणादौ वक्तरि रौद्रादौ रसे च गुणः। नीरसे न गुणो न दोषश्च। अत्राप्रयुक्त-निहतार्थौ श्लेषादौ न दुष्टौ। अश्लीलं तु शान्ते वक्तरि न दुष्टम्। यत्तु "द्व्यर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्य वस्तु" इति मुनिवचनबलात् 'करिहस्तेन सम्बाधे' इत्यादि केचित् पठन्ति, तदसत्, तस्याश्लीलत्व दर्थं दोष एव। किन्तु रहस्यवस्त्वीति यस्य शब्दवाच्यतायां दोषस्तदेव नत्वश्लीलम्।

ज्याशब्देनैव धनुषः प्रत्यञ्च चयते, धनुः पदमधिकम्। एवं ज्याशब्देनैव धनुषः प्रत्यञ्चोच्यते, धनुः पद

मुक्ताहार पद में अन्य रत्न मिश्रित न करके केवल मुक्ता ग्रथित हार एवं पुष्प माला पद से उत्कृष्ट पुष्प रचित माला का बोध होगा। कारण—केवल हार एवं केवल माला शब्द से भी मुक्ता एवं पुष्प की प्रतीति होती है। कविकृत प्रयोग के अनुसार उक्त मुक्ता हारादि पद का भी कभी कभी प्रयोग किया जाता है। किन्तु उक्त दृष्टान्तानुसार पाद नूपुर, जघन—काञ्ची इत्यादि पद कभी भी प्रयोगार्ह नहीं होते हैं।

"वाचं जगाद" अर्थात् 'वाक्य कहा' इत्यादि स्थल में वाक्य के विशेषणदानार्थ उस प्रकार प्रयोग किया जाता है। जिस प्रकार 'उसने अति मधुर वाक्य कहा" प्रयोग होता है। विशेषण के अभावस्थल में तादृश प्रयोग अर्थात् "वाक्य कहा" इस प्रकार प्रयोग नहीं होगा। 'उसने कहा'—इस प्रकार प्रयोग ही करना होगा। कारण, कथनार्थ धातु के द्वारा ही उक्त तात्पर्य की उपपत्ति होती है।

कतिपय व्यक्ति कहते हैं कि—क्रिया विशेषण के द्वारा ही जब चरितार्थता होती है, तब वाक्य को कर्मता स्वीकार पूर्वक उसका विशेषण प्रयोग नहीं किया जा सकता है। देखो, 'उसने अति मधुर भाव से कहा' इस वाक्य में क्रिया विशेषण के द्वारा ही उक्त तात्पर्य की सम्यक् उपपत्ति हुई है, किन्तु बहु विशेषण स्थल में क्रिया विशेषण चमत्कार जनक नहीं होता है, अतः उक्त मत सर्वथा युक्ति युक्त नहीं है। विख्यात अर्थ में हेतु शून्यता दोषावह नहीं है, अर्थात् ख्यातिहेतु झटिति अर्थ प्रतीति होने के कारण, वहाँ हेतु की अपेक्षा नहीं होती है।

श्रुति कटु आदि दोष की परोक्ति का अनुकथन स्थल में दोष नहीं होता है। कहीं पर वैयाकरणादि वक्ता होने से अथवा रौद्रादि रस वर्णनीय होने से अनुकरण व्यतीत भी श्रुति कटु आदि गुण होते हैं। क्वचित् नीरस प्रबन्ध में वह दोष भी नहीं होता है, गुण भी नहीं होता है। अप्रयुक्तता एवं निहतार्थ

सन्दिग्धमपिक्वचिदप्रस्तुत प्रशंसा व्याजस्तुत्यादि प्रतिपादकं यदि भवति, तदा न दोषः, प्रत्युत गुण एव। प्रतिपाद्य प्रतिपादकयोर्ज्ञापकत्वे सत्यप्रतीतो गुणः। अधम–प्रकृतिषु विदूषकादौ च ग्राम्यो गुणः। न्यूनपदं हर्ष–शोक–मत्तताधिक्ये सति गुणः। क्वचिन्न गुणो न दोषः। अधिक पदं विषादादौ गुणः, प्रायुक्तमेतत्, मत्ततायान्तु विशेषत एव। कथित पदं लाटानुप्रासेऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये विहितस्यानुवादे च गुणः।

पतत् प्रकर्षः क्रमेण क्रोधादि ह्रासे गुणः, भिन्न वाक्यतया रसभेदे च। समाप्त पुनरात्तं क्वचिन्न दोषो न गुणः। क्वचिदिति यत्र झटिति रसापकर्षं न स्यादिति विशेषण दानार्थ मेव, यत्र पुनर्दीयते न वाक्यान्तरत्वेन प्रकृत–वाक्य–परिपोषकत्वे सति गुणः। अन्येसर्वे दुष्टा एव ॥१२५॥

अथ रस दोषानाह—

रसानां शब्द वाच्यत्वं स्थायिनां व्यभिचारिणाम्।

मधिकम्। एवं तेषु शिर आदिषु आरूढ़त्वाद्यर्थः शिर आदि पद प्रयोगः। ... वाचमिति-मधुरां कोमलां वाचं जगादेत्यत्र मधुरादि विशेषणार्थमेव वाचमिति प्रयोगः। तत्रापीति-मधुरं यथा स्यात्तथा, कोमलं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणेनैव तदवगतेर्वाचमिति पदं न दातव्यमिति केचिद्वदन्ति। ख्यातेरेव हेतोर्झटिति अर्थे बुद्धे सति हेतुर्नापेक्षित इत्यर्थः।

श्रुतीति। न दोषः, न दोषत्वम्। क्वचिद्वैयाकरणादौ वक्तरि तथा रौद्रे च रसे श्रुतिकटुरनुकथनं विनापि गुणोऽपि भवति। किन्त्विति। यस्य शृङ्गाररसादेः शब्दवाच्यतायामिति। तथा च काव्ये शृङ्गार इति शब्दश्चेत्तदा दोष एवेत्यर्थः, न तु अर्थे दोषः। अतः शृङ्गारादि रहस्यवस्तु द्व्यर्थैः पदैः पिशुनयेत्। न त्वश्लीलमिति--काव्ये अश्लीलशब्दश्चेत्तदा दोषः।

एवमश्लीलार्थ बोधक द्व्यर्थपद प्रयोगोऽपि दोष इत्यर्थः। अतो मुनिवचनबलात् काव्येऽश्लीलार्थ बोधक द्व्यर्थपद प्रयोगोऽपि न कर्त्तव्य इति भावः। झटितीति—यत्र वाक्येसमाप्तावपि पुनर्विशेषण पदं वर्त्तते, अथच झटिति रसापकर्षो नास्ति, तत्र न दोष इत्यर्थः ॥२५॥

श्लेषादि स्थल में दोषावह नहीं होता है, एवं शान्त रस के वक्तास्थल में अश्लील भी दुष्ट नहीं है। परन्तु "द्व्यर्थ पद प्रयोग से रहस्य वस्तु की सूचना न करे" मुनि के अनुशासन से कतिपय व्यक्ति उसका उदाहरण—'करिहस्तेन सम्बाधे' श्लोक का पाठ करते हैं। वह सङ्गत नहीं है। तब मुनिने जो द्व्यर्थ पद द्वारा रहस्य वस्तु सूचना की कथा कही है, उसका तात्पर्य्य यह है कि—जिसकी स्व-शब्द वाच्यता से दोष होता है, उस शृङ्गारादि रहस्य वस्तु को द्व्यर्थ पद प्रयोग से सूचित करे। अश्लीलार्थ बोधक द्व्यर्थपद प्रयोग करना उस अनुशासन का तात्पर्य्य नहीं है। अप्रस्तुत प्रशंसा एवं व्याजस्तुति प्रभृति का प्रतिपादक होने पर सन्दिग्धता दोष न होकर गुण ही होता है। प्रतिपाद्य एवं प्रति पादक का ज्ञापकत्व स्थल में अप्रतीत नामक दोष भी गुण होता है। अधम प्रकृति विदूषकादि के वाक्य में ग्राम्यता दोष गुण के मध्य में गणनीय होता है। हर्ष, शोक एवं मत्तता का आधिक्य स्थल में न्यून पदता गुण ही है। विषादादि स्थल

विभावस्यानुभावस्य व्यक्तौ कष्टा च कल्पना ॥१२६॥
प्रतिलोमविभावादि ग्रहो दीप्तिरभीक्ष्णशः ।
वृथा विस्तार ह्रासौ तथाङ्गस्यातिविस्तृतिः ॥१२७॥
अङ्गिनोऽनभिसन्धानं प्रकृतीनां व्यतिक्रमः ।
अनङ्गस्य प्रकटनं रसदोषा इमे स्मृताः ॥१२८॥

तत्र रसानां शब्द वाच्यत्वं यथा—

राधा माधवयोरेव शृङ्गारः श्रुति रोचनः ।
वैदग्ध्यं यत्र पर्य्याप्तं कृतार्थश्च मनोभवः ॥

अत्र शृङ्गार शब्दः किन्तु 'विलास श्रुतिरोचनः' इति पाठ्यम । एवं रसादि शब्दश्च । एवं वीरादयश्च । रसादीनां शृङ्गारादि परत्व एव दोषः, नत्वास्वादादि परत्वे तस्य नानार्थत्वात् तेन सरसो रसवान् रसिक इत्यादौ न दोषः ॥१२८॥ ।

अथेति । विभावस्येति रस साक्षात्कारे रसान्तः पातितया विभावादि त्रयाणां समतया अभिव्यक्ति-रपेक्षिता भवति । यत्र तु अनुभावस्य चमत्कारातिशयेन तस्यैव रसे प्राधान्येनाभिव्यक्तिः न तु विभावादेः, विभावादय स्त्वनुभाव पर्य्यवसायिनो भवन्ति, तत्र विभावस्याभिव्यक्तौ कष्ट कल्पना, अतो रसादयो दोषो

में अधिक पदता गुण ही होता है । स्थल विशेष में वह गुण एवं दोष नहीं होता है । विषादादि स्थल में अधिक पदता गुण ही होता है । उसका कथन पहले हुआ है । मत्तता स्थल में वह विशेष रूप से गुण ही होता है । लाटानुप्रास, अर्थान्तर संक्रमित वाच्य एवं विहित के अनुवाद स्थल में कथित पदता गुण होता है । क्रमशः क्रोधादि का ह्रास स्थल में पतत् प्रकर्षता गुणत्व में पर्य्यवसित होता है । भिन्न वाक्यता हेतु रस भेदस्थल में समाप्त पुनरात्तता भी गुण होता है । कहीं पर गुण भी नहीं होता है, दोष भी नहीं होता है, अर्थात् जहाँ झटिति रसापकर्ष नहीं होता है । वहाँ दोष नहीं कहा जा सकता है । और जहाँ वाक्यान्तर रूप में प्रयुक्त न होकर केवल विशेषण हेतु प्रयुक्त होता है, तादृशस्थल में वह दूषण होता है । अस्थानस्थ समासता क्वचित् गुण होता है, अर्थात क्रोधादि के अयोग्यस्थान में भी क्रोधादि का अनुकरण करने से वह गुण मध्ये गण्य होता है, अवश्य विधेय रूप में प्रकृत वाक्य का परिपोषक होने पर गर्भितत्व गुण होता है, इसके अतिरिक्त स्थल में वे दोष ही होते हैं ॥१२५॥

अनन्तर रसदोष समूह का वर्णन करते हैं । रस समूह की एवं स्थायिभाव एवं व्यभिचारि भाव की स्व शब्द वाच्यता, विभाव एवं अनुभाव की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में कष्ट कल्पना, प्रतिकूल विभावादिका ग्रह एक ही रस की पुनः पुनः दीप्ति—अर्थात् उज्ज्वलता, वृथा विस्तार, वृथा ह्रास, अङ्ग की अति विस्तृति, अङ्गी का अनभिसन्धान, प्रकृति का व्यतिक्रम, अनङ्ग अर्थात् अङ्गभिन्न का प्रकटन, ये सब रस दोष होते हैं ।

उसके मध्य में रसादि की स्वशब्द वाच्यता का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—राधामाधव के शृङ्गार

चन्दनानिलचन्द्रांशु पुंस्कोकिल--कलस्वनैः । माधव्यां रजनौ राधा-कृष्णयो रतिरैधत ॥

अत्र रतेः स्थायिनः शब्द वाच्यत्वम्, ते 'प्रीतिरैधत' इति पाठश्चेम् । यत्र रति शब्दस्य स्थायिता न प्रतीयते, तत्र न दोषः, यथा भगवति रतिरस्तु ॥ १३०॥

आदर्शे स्वमुखालोके विस्मयोत्फुल्ल लोचना । देवादागतमालोक्य कृष्णं राधा ह्रियं दधे ॥

अत्र ह्री व्यभिचारि भावः । देवादागतं हरिं वीक्ष्य राधा नति मुखीबभौ इति शुद्धम् ।१३१।

यत्र तु स्व स्व व्यापारेण लज्जादयो व्यभिचारिणो बोधयितुं न शक्यन्ते, स्व शब्द वाच्यतयैव प्रतीयन्ते, तत्र न दोषः । यथा (पञ्चमकिरणे २८३) "तस्यास्त्रपाभय"-इत्यादि ।

ज्ञेयः । एवं विभावस्य चमत्कारातिशये अनुभावस्याभिव्यक्तौ कष्ट कल्पना ज्ञेया । दीप्तिरिति । पुनः पुनरेकस्यैव रूपस्य दीप्तिरौज्ज्वल्यमित्यर्थः ।।१२६--१२९।।

माधव्यामिति—वैशाखे सम्बन्धिन्यां रात्रावित्यर्थः ।।१३०।।

यत्र त्विति । यत्र वाक्ये व्यञ्जक एवाखिल व्यञ्जना वृत्तिरूप स्व स्व व्यापारेण लज्जादि व्यभिचारि भावान् बोधयितुं न शक्नुवन्ति, किन्तु लज्जादि-शब्देनवाभिधया लज्जादीनां प्रतीतिर्भवति, तत्र न दोष इत्यर्थः ।।१३१।।

ही प्रकृत श्रुति रसायन स्वरूप हैं, जहाँ वैवर्ण्य भी पर्याप्त है, एवं मनोभव भी कृतार्थ हुआ है ।

इस उदाहरण में शृङ्गार शब्द दुष्ट हुआ है, उसके परिवर्त्तन में विलास शब्द का प्रयोग ही समुचित है । इस प्रकार वीरादि शब्द प्रयोग भी दुष्ट है, रसादि शब्द नानार्थ वाचक हैं, उसके मध्य में शृङ्गारादि वाचक होने से ही दोषा वह होता है, आस्वादादि वाचक होने से दोषा वह नहीं होता है । सुतरां सरस, रसवान्, रसिक इत्यादिस्थल में रस शब्द का प्रयोग अनुचित नहीं है ।।१२६–१२९।।

चन्दन--पवन, चन्द्र रश्मि एवं पुंस्कोकिल के कल कूजन से माधवी रजनी में राधाकृष्ण की रति अतिशय वर्द्धित हुई थी ।

यहाँ रति स्थायि भाव है, अथच उसका उल्लेख स्वशब्द से हुआ है, सुतरां वह दुष्ट है । रति शब्द के परिवर्त्त में उक्त स्थल में प्रीति परिवर्द्धित हुई थी, इस प्रकार पाठ करना समीचीन है ।

जहाँ रति शब्द से स्थायिभाव की प्रतीति नहीं होती है, वहाँ दोष नहीं होता है । जिस प्रकार-- भगवान् श्रीकृष्ण में रति हो, यह वाक्य है ।।१३०।।

दर्पण में निज मुख कमल अव लोकन पूर्वक राधिका विस्मय से उत्फुल्ललोचना हुई थी, इसी समय सहसा श्रीकृष्ण को समागत देखकर वह नितान्त लज्जित हो गई ।

इस उदाहरण में लज्जा व्यभिचारि भाव है, उस की स्वशब्द वाच्यता दोषा वह है, अतएव सहसा श्रीकृष्ण को समागत देखकर वह अवनत मुखी हो गई, इस प्रकार पाठ परिवर्त्तन करना ही समीचीन है ।।१३१।।

जहाँ निज निज प्रयत्न के द्वारा लज्जादि व्यभिचारि भाव समूह के द्वारा बोध नहीं होता है, स्व वाच्यता के द्वारा ही उन सबको समझाया जाता है, वहाँ वह दोष जनक नहीं है ।

अत्र त्रपादीनां व्यञ्जक शब्दोपादाने उन्मादादिभिः सहारोप्यरोपकभावो न घटते यत्रान्योन्यं हेतु हेतुमद्भावस्तत्र च न दोषः।

यथा—औत्सुक्येनाजनि चपलता ह्रीस्तया प्रादुरासी-
च्चित्ते ग्लानिः समजनि तयाचेतयाभूद्विमर्शः।
हर्षस्तेन व्यजनि सुदृशां तेन चावेग एव
प्रादुर्भूतः प्रविशति हरौ कौण्डिनीं राजधानीम्॥

अत्र गुण एव॥१३२॥

विभावानुभावयोः कष्टकल्पना व्यक्ति यथा—

सा दक्षिणे मरुति वाति समुद्यतीन्दौ, कृष्णं विलोक्य रचनामवगुण्ठनस्य।
द्राघीयसीं विदधती भुजवल्लिमूल-व्यक्तां पयोधरतटीं पुनराववार॥

यथेति। तस्या राधाया लज्जादय एव किरकाः कलिका स्तैः कोरकितः कटाक्ष रूप दाहक पुष्पबाण विशेषः, सतून्मादादि विशिष्टोज्वर इव मे मम मनसि प्रविष्टाः। औत्सुक्येनेति। रुक्मिणी विवाहार्थं कुण्डिनीं हरौ प्रविशति सति सुन्दरीणामौत्सुक्येन चपलता अजनि, तया चपलतया लज्जा प्रादुरासीत्। तया लज्जया, एतया ग्लान्या, तेन हर्षेण, एवं रीत्या हेतु हेतु मद् भावः॥१३२॥

अवगुण्ठनस्येति। अत्रानुभावोऽवगुण्ठनस्य दीर्घीकरणम्। एवं पयोधर तस्या पुनः संवरणम्,

---

यथा—लज्जा, भय, विषाद, विवेक, धैर्य, दैन्य एवं अभिलाष भरसे मुकुलित उस व्रज सुन्दरी की कटाक्षच्छटा उन्माद, मोह, मद, दाह, विसर्प, शूल एवं तृष्णाविशिष्ट ज्वर रोग के समान मेरी आत्मा में प्रविष्ट हुई है।

यहाँ लज्जा प्रभृति का व्यञ्जक प्रयोग से उन्मादादि के सहित आरोप्य आरोपक भाव सम्पादित नहीं होता है।

जहाँ परस्पर कार्य कारण भाव की प्रतीति नहीं होती है, वहाँ भी वह बाधा वह नहीं होता है।

उदाहरण—रुक्मिणी के पाणि ग्रहणाभिलाष से भगवान् चक्रपाणि कुण्डिन राजधानी में प्रवेश करने से सुन्दर वृन्द के औत्सुक्य हेतु चपलता उपस्थित हुई। समकाल में ही चपलता से लज्जा, लज्जा से ग्लानि एवं ग्लानि से विमर्ष का उदय हुआ एवं विमर्ष से हर्ष तथा हर्ष से आवेग आविर्भूत होकर उन सब को व्याकुल किया था।

यहाँ उत्तरोत्तर हेतु हेतुमद् भाव हेतु उस प्रकार वर्णना गुण ही हुआ है॥१३२॥

विभाव एवं अनुभाव की कष्ट कल्पना का दृष्टान्त इस प्रकार है-मलय गन्ध वह--मन्द मन्द प्रवाहित एवं चन्द्रबिम्ब गगन मण्डल में समुदित होने से सुन्दरी श्रीराधाने कृष्ण चन्द्र को अवलोकन कर अवगुण्ठन की दीर्घता का विधान करते करते भुजलता के मूलदेश में व्यक्तीभूत स्तन तट को पुनर्वार आच्छादित किया।

इस उदाहरण में अवगुण्ठन को दीर्घीकरण एवं स्तन तट का पुनः पुनः सम्वरण रूप अनुभाव के

अत्रोद्दीपनविभावा आलम्बनविभावांश्चानुभावपर्य्यवसायिनः स्थिता इति कष्ट कल्पना । एवमनुभावाश्चालम्बन विभाव पर्य्यवसायित्वे दुष्टाः । ऊह्यमुदाहरणम् ॥१३३॥

प्रतिलोम विभावादिग्रहो यथा—

मुग्धे मा कुरु मानं, कलय कटाक्षेण पुण्डरीकाक्षम् ।
अनिल तरल नलिनीदल, जलकणमिव यौवनं विद्धि ॥

अत्र शृङ्गारे प्रति लोमस्य शान्तस्या नित्यता प्रकाशन रूपो विभावस्तत् प्रकाशितश्च निर्वेद इति दुष्टम् । एवं शृङ्गारे शान्तानुभावश्च प्रति लोमतया दुष्टः ।

अभीक्ष्णशो दीप्तिः, पुनः पुनरेकस्यैव रसस्यौज्ज्वल्यं कुमारसम्भवेरति विलापे वृथा विस्तारोऽकाण्डे प्रथनं वेणी संहारे द्वितीयेऽङ्के अनेक संक्षये प्रवृत्ते भानुमत्या सह दुर्य्योधनस्य शृङ्गार वर्णनम् ।

तयोश्चमत् कारातिशयेन प्राधान्येन रसेऽभिव्यक्ति, दक्षिणानिल चन्द्रोदय--रूपोद्दीपनादयोऽनुभाव पर्य्यवसायिनः, स्थिता इति कष्ट कल्पनया रसं दोषो ज्ञेयः ॥१३३॥

श्रीकेशवयो लक्ष्मीनारायणयो रित्यर्थः । विपरीअ रए लच्छी--विपरीत रते लक्ष्मीरित्यर्थः ॥ उक्त

चमत् कारातिशय हेतु प्राधान्य रूप में अभिव्यक्त होने के कारण चन्द्रोदयादि उद्दीपन विभाव अनुभाव पर्य्यवसायी हुआ है । इस प्रकार कष्ट कल्पना रूप रस दोष को जानना होगा । इस रीति से अनुभाव भी यदि आलम्बन विभाव पर्य्यवसायी होता है तो, वह दुष्ट होता है, उसका उदाहरण अनुसन्धेय है ॥१३३॥

प्रति कूल विभावादि का उदाहरण—अयि मुग्धे ! मान परिहार पूर्वक पुण्डरीकाक्षको कटाक्ष द्वारा भी निरीक्षण करो । यौवन पवन कम्पित—पद्म पत्र गत जलबिन्दु के तुल्य चञ्चल जानना चाहिये ।

इस उदाहरण में शृङ्गार विरोधी शान्तरस की अनित्यता का ख्यापन रूप विभाव एवं तद् द्वारा निर्वेद की अभिव्यक्ति होने से दुष्ट हुआ है । इस प्रकार शृङ्गार में शान्त रस का अनुभाव भी प्रति कूलता हेतु दुष्ट है ।

एक ही रस की पुनः पुनः दीप्ति का उदाहरण— कुमार सम्भव के चतुर्थ सर्ग के रति विलाप में है ।

वृथा विस्तार अर्थात् अनवसर में विस्तार—जिस प्रकार वेणी संहार नाटक के द्वितीयाङ्क में अनेक संशय उपस्थित होने पर राज्ञी भानुमती के सहित राजा दुर्य्योधन का शृङ्गार वर्णन किया गया है ।

वृथा ह्रास वा अनवसर में विच्छेद,—जिस प्रकार महावीर चरित नाटक के द्वितीयाङ्क में राघव एवं भार्गव का वीरत्व वर्णन प्रारम्भ होने से "मैं कङ्कण मोचनार्थ जा रहा हूँ" राघव की इस प्रकार उक्ति के द्वारा अनुचित समय में वीर रस का भङ्ग किया गया है । अङ्ग की अतिविस्तृति–जैसे हयग्रीव बध में हयग्रीव का वर्णन हुआ है । अङ्गी का अनभिसन्धान,— जैसे रत्नावली नाटिका के चतुर्थाङ्क में बाभ्रव्या गमन से सागरिका की विस्मृति हुई है ।

अनन्तर प्रकृति का व्यतिक्रम प्रकार का वर्णन करते हैं, प्रथमतः प्रकृति--त्रिविध हैं—दिव्य, अदिव्य एवं दिव्यादिव्य । एवं धीरोदात्तादि चतुर्विध नायक के मध्य में उत्तम, मध्यम, एवं अधम है, उस के मध्य

वृथा हासोऽकाण्डे छेदो यथा वीर चरिते द्वितीयेऽङ्के राघवन्-भार्गवयो वीररसे "कङ्कण मोचनाय गच्छामि" इति राघवोक्तौ।

अङ्गस्याति विस्तृति यथा—हयग्रीववधे हयग्रीवस्य ।

अङ्गिनोऽनभिसन्धानं रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यागमने सागरिका विस्मृतिः ।

प्रकृतीनां व्यतिक्रमस्तु यथा— प्रकृतयस्तावत् दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च । तथा धीरोदात्तादीनां प्रागुक्तानां चतुर्णाम्—उत्तमा मध्यमा अधमाश्च ।

अत्रोत्तमप्रकृते मध्यमाधमत्वेन च वर्णनं दुष्टम् ।

उत्तमदेवतानां पार्वतीपरमेश्वरादीनां शृङ्गारवर्णनम्च न कार्यम् । यत्तु कृतं कालिदासादिभि स्तद्दुष्टम् । तद्वर्णनं हि स्वपित्रोः शृङ्गार वर्णनमिव । एवं श्रीकेशवयोरपीति केचित् । केचित्तु वर्णयन्ति तयोरीश्वरत्वाद्वक्तव्यं नेति । वर्णनं यथा (काव्य प्रकाशे पञ्चमोल्लासे १३७) "विपरीतरते लक्ष्मी ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम् ।

हरे र्दक्षिणनयनं रसाकुला झटिति ढौकते।।" इत्यादि, "अन्धत्वमन्धसमये' इत्यादि च ।

राधामाधवयोस्तु वर्णनीयमेव,— सर्वेश्वरत्वेन देवतात्वाभावात्, विधिवाक्यञ्च (भा० १०। ३३।३९) "विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः,

श्रद्धान्वितोऽनु शृणुयादथ वर्णयेद् यः ॥ इत्यादि ।

ह्रोति। प्रसिद्धे श्रीकृष्णे औचित्य बन्धस्तु रसस्य परा सर्वोत्कृष्टोपनिषत् परमप्रमाणीभूत—वेद तुल्य इत्यर्थः ।।१३४।।

में उत्तम प्रकृति का मध्यम एवं अधम रूप में वर्णन, मध्यम एवं अधम प्रकृति का उत्तम रूपमें वर्णन, अधम का मध्यम प्रकृति रूपमें वर्णन एवं मध्यम प्रकृति का अधम प्रकृति रूप में वर्णन को प्रकृति व्यतिक्रम कहते हैं। वही दुष्ट है।

उत्तम देवता पार्वती परमेश्वर प्रभृति का शृङ्गार वर्णन भी कर्त्तव्य नहीं है; कालिदासादिने जो उस प्रकार वर्णन किया हैं, वह दूषणीय है। कारण, वह स्वीय जनक जननी के शृङ्गार वर्णन के समान है, एवं अनास्वाद्य है; इस प्रकार लक्ष्मी नारायण का उस विध वर्णन भी दोष वह है; कतिपय पण्डित का मत यही है, किन्तु उन सब के ईश्वरत्व प्रयुक्त देवता के मध्य में गणन न करके कुछ व्यक्ति उस प्रकार वर्णन किये हैं। जिस प्रकार। "विपरीत रते लक्ष्मीः" "अन्धत्वमन्धसमये" इत्यादि श्लोक हैं।

किन्तु राधा माधव का उक्त वर्णन सर्वतोभावेन करणीय है, कारण—उनके सर्वेश्वरत्व प्रयुक्त साधारण देवता के मध्य में गणन अकर्त्तव्य है। इस विषय में विधिवाक्य भी है। श्रीमद् भागवत के १०।३३।३९ में उक्त है। हे राजन्! भगवान् विष्णु की व्रजवधू वृन्द के सहित यह क्रीडा परम पवित्र है,

किन्तु यत्र यत्रास्यौचित्यं प्रतीयते, तत्तदेव न वर्णनीयमिति भावः ।।१३४।।

उक्तं हि ध्वनिकृता—

"अनौचित्यादृतेनान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् । प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ।।"

इत्यनङ्गस्य रसानुपकारकस्य प्रकटनं दुष्टम् । ऊह्यमुदाहरणम् ।।१३५।।

एकाश्रयत्वे रसयोर्न विरोधः प्रवर्त्तने ।
भिन्नाश्रयत्वे विरोधः शान्त-शृङ्गारयोर्यथा ।।

एकाश्रयत्वे हास शृङ्गारयोः, अद्भुत हासयोश्च, अद्भुत शृङ्गारयोर्वीर करुणयो नं विरोध एव । शान्त शृङ्गारयोः शृङ्गार करुणयोः, शृङ्गार बीभसयोः केवलं विरोध एव । शृङ्गार करुणयोरङ्गाङ्गिभावे न दोषः । यथा वनवासस्थ सीताया गर्भ दर्शनात् प्राक्शृङ्गार स्मृतिः । अत्र करुणोऽङ्गी, शृङ्गारोऽङ्गम् । शान्त शृङ्गारयोः क्वचिन्न दोषः । यथा—

निर्वाण निम्बरसमेव पिबन्ति केचिद् भव्या न ते रस विशेष विदो वयन्तु ।

उक्तं होति, प्रसिद्धे श्रीकृष्णे औचित्यबन्धस्तु रसस्यपरा सर्वोत्कृष्टोपनिषत् परमप्रमाणीभूत वेद तुल्य इत्यर्थः ।।१३५।।

एकाश्रयत्व इति । एक विषये हास-शृङ्गारयोर्न विरोधः, भिन्न विषये तु सुतरामेव विरोधो नास्ति ।

श्रद्धान्वित व्यक्ति यदि इस का श्रवण अथवा वर्णन करता है तो, श्रीविष्णु चरणों में पराभक्ति लाभ करता है, तथा उस के हृदय से काम वासना विदूरित हो जाता है ।

किन्तु जहाँपर अनौचित्य प्रतीत होता है, वहाँ उस उस विषयों का वर्णन न करे ।।१३४।।

ध्वनि कारने भी कहा है—अनौचित्य व्यतीत रसभङ्ग का कारण और कुछ भी नहीं है । प्रसिद्ध वस्तु के विषय में औचित्य के अनुसार निबन्धन-- रस का परम उपनिषत् स्वरूप है ।

अनङ्ग,—अर्थात् रसका अनुपकारक वस्तु का प्रकटन दुष्ट होता है, उदाहरण का अनुसन्धान करना कर्त्तव्य है ।।१३५।।

एक विषय को आश्रय करके उभय रसकी उद्भावना करने से उसके परस्पर विरोध नहीं होता है । जैसे हास्य एवं शृङ्गार की, अद्भुत एवं हास्य की, शृङ्गार एवं अद्भुत की, एवं वीर एवं करुण की एकाश्रयता के स्थल में विरोध नहीं है । किन्तु शान्त एवं शृङ्गार की शृङ्गार एवं करुण का, तथा बीभत्स शृङ्गार का परस्पर विरोध होता है । शान्त एवं शृङ्गार का विरोध भिन्न विषय में भी होता है ।

शृङ्गार एवं करुण के अङ्गाङ्गि भावस्थल में दोष नहीं होता है । जैसे वन वासस्था सीता का गर्भ को देखकर पूर्व शृङ्गार की स्मृति होती है । तादृश स्थल में करुण रस ही प्रधान है, शृङ्गार उसका अङ्ग है ।

कहीं कहीं शान्त एवं शृङ्गार की एकत्रावस्थिति दोषावह नहीं होती है, उदाहरण—कोई कोई

श्यामामृतं मदन मन्थर गोपरामा, नेत्राञ्जलीचुलुकितावसितं पिबामः ॥

अत्र पूर्वार्धे शान्तः, परार्धे शृङ्गारः, तथापि शुद्धम् । शान्तस्य व्यक्कृतत्वात् शृङ्गार एवंपुष्टः ।

प्रागुक्त लक्षणस्य रसस्यानन्दस्वरूपत्वेन प्रतिपादिते चैक्ये रसस्य रसेन विरोध इति यदिह प्रतिपाद्यते, तत्तु सामग्री भूतस्य स्थाय्यादेरेव, न तु रसस्य ।।१३६-१३७॥

इति श्रीमदलङ्कार कौस्तुभे दोष प्रदर्शनो नाम दशमः किरणः ॥१०॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

—※—

श्रीमतः कर्णपूरस्य चरणावनिशं भजे । निर्मितः कृष्ण कण्ठार्हो येनालङ्कारकौस्तुभः ।

पक्षाकाश युते नवाङ्क सहिते चन्द्रस्य चाङ्केन वै,
श्रीमद् राजवरस्य विक्रमरवे राज्यस्य वर्षाङ्कके ।
मासि प्रौष्ठ पदे तथातिशुभदे पक्षे तु कृष्णे शुभे,
स्वीयार्थं तु विलेखिता व्रजयुता मोहन–नाम्ना तु वै ।

भिन्न विषये शान्त शृङ्गारयो विरोधः, एक विषये तु सुतरामेव विरोधः ॥१३६॥

निर्वाणेति । उष्ट्रा यथा आम्र मुकुलं विहाय कटु कषाय कण्टकिताया लतां स्वादन्ति, तथा केचिद् 'भगवद् रूप गुण माधुर्यादिकं विहाय निर्वाण रूपं निम्बरसं पिबन्ति, ते अभव्या न रस विशेष विज्ञाः । वयं तु मदनेन मन्थरा या गोपाङ्गना नेत्राञ्जलि रूपा रसना तया चुलुकितमास्वादितं तत् एवावसितं ताभिः' स्वीयत्वेन निश्चितं यत् श्यामामृतं तत् पिबामः ॥१३७॥

सैदाबाद निवासि श्रीविश्वनाथाख्य शर्मणा ।
चक्रवर्तीति नाम्नेयं कृताटीका सुबोधिनी ॥

इति सुबोधिन्यां दशमकिरणः ॥१०॥

इति समाप्तेयं श्रीमदलङ्कार कौस्तुभ टीका श्रीसुबोधिनी ॥

क्योंकि निर्वाण रूप निम्बरस का ही सेवन करते हैं, वे भव्य वा रस विशेषविज्ञ नहीं हैं, किन्तु मदन मन्थरा गोपललनावली की नयनाञ्जलि के द्वारा जो गण्डूषीकृत होकर निःशेषित हुआ है, हम सब उस श्यामामृत पान से चरितार्थ होते हैं ।

इस उदाहरण के पूर्वार्ध में शान्त, एवं परार्ध में शृङ्गार होने पर भी वह शुद्ध हुआ है । कारण, यहाँ शृङ्गार कर्त्तृक शान्तरस व्यक्कृत एवं शृङ्गार परिपुष्ट हुआ है ।

पहले रसका जिस प्रकार लक्षण किया गया है, उस में उसको आनन्द स्वरूप कहा गया है । एवं उससे द्वारा यावतीय रस का ऐक्य ही प्रतिपादित हुआ है । सुतरां एक रस के सहित अपर रस का विरोध

द्वितीयायां तिथौ भूयो भूमिपुत्रयुते दिने । श्रीमद्राधाकुण्डतीरदक्षिणदिशि वासिना ।
भूदेवेन मया ह्यत्र श्रीमद्गोस्वामिख्यातिना । कौस्तुभाख्यमिदं रत्नं निर्मितं हस्तविद्यया ।

श्लोक चतुष्टयं लिपिकारमहोदयस्य
१६०२ तम विक्रमाब्दे लिखितेयं करलिपिः ॥

कैसे सम्भव होगा ?

इस विषय में सिद्धान्त यह है कि–रसके सामग्री स्वरूप स्थायिभावादि को लेकर ही विरोध होता है। वस्तुतः रस गत कोई विरोध नहीं है ॥१३६--१३७॥

इति श्रीकवि कर्णपूरकृतालङ्कार कौस्तुभे दोष प्रदर्शनोनाम दशमः किरणः ॥

वृन्दावननिवासि श्रीहरिदासाख्यशर्मणा
शास्त्रीतिख्यातनाम्नेयं कृता टीका विनोदिनी ॥

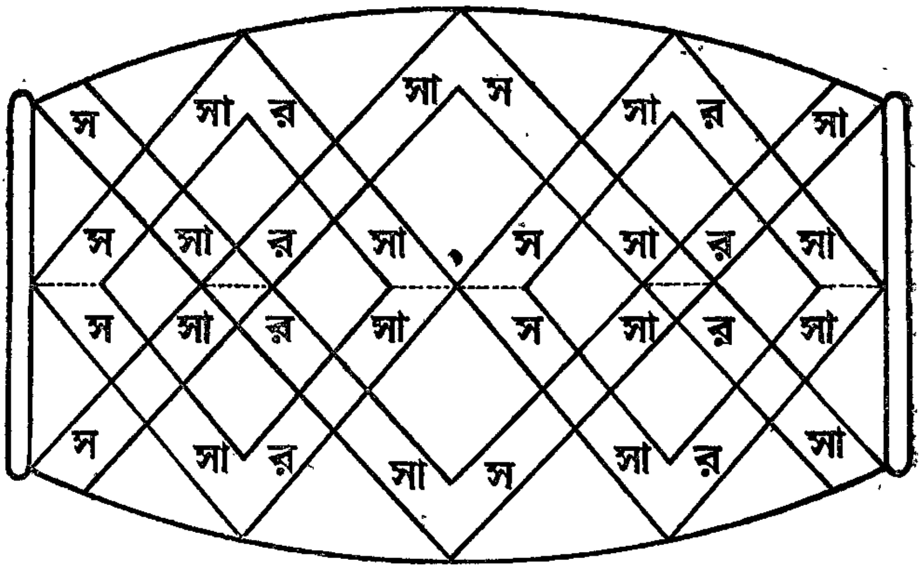
शकसंवत्सराः १९०६ । श्रीगौराङ्गाब्दः ५०२





শ্রীশ্রীমদলঙ্কার-কৌস্তুভে চিত্রকবিত্বানি

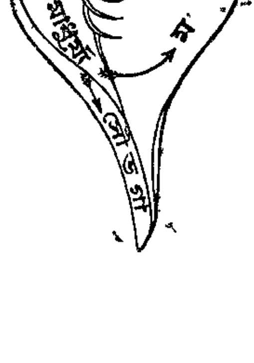
মুরজবন্ধঃ



সসার সা সসারসাঽঽস-সার-সাস-সারসা।
সসার সাসসার সা স সারসাস-সার-সা ॥

৬ (শ্রীমদলঙ্কারকৌস্তুভে ৮৪তম-পৃষ্ঠে)

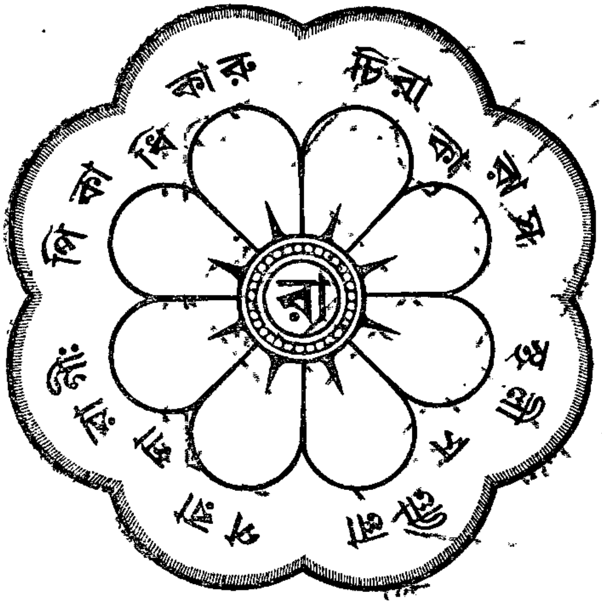
শঙ্খবন্ধঃ



ধেয়মাধুর্যমর্যাদা রাধা মাধবমার সা।
সারমাঽবধমাধারা ধেয়মাধুর্যসৌভগা ॥

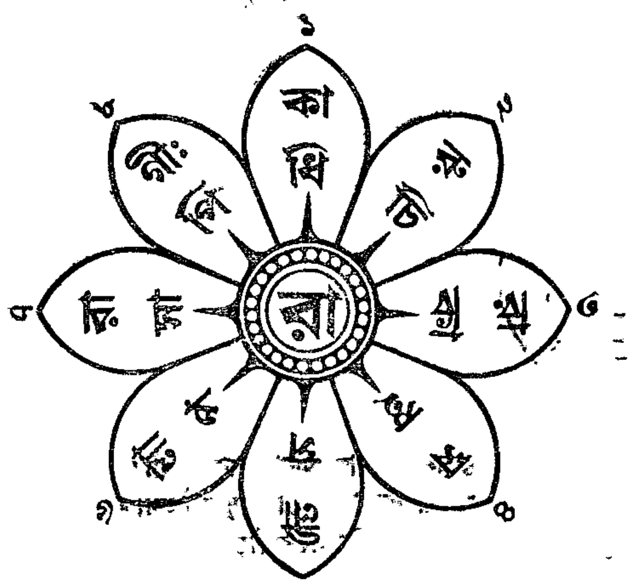
(শ্রীমদলঙ্কারকৌস্তুভে ৮৫তম-পৃষ্ঠে)

পদ্মবন্ধঃ



রাধিকা রুচিরাকারা রাকারাসস্থলীসরা।
রাসলীলাপরা সারা রাসারা গীঃ পিকাধিরা॥
(শ্রীমদলঙ্কারকৌস্তভে ৮৪তম-পৃষ্ঠে)

পদ্মবন্ধঃ



রাধিকা রুচিরাকারা রাকারাসস্থলীসরা।
রাসলীলাপরা সারা রাসারা গীঃ পিকাধিরা॥
(শ্রীমদলঙ্কারকৌস্তভে ৮৪তম-পৃষ্ঠে)

মহাসর্ব্বতোভদ্রম্

সা	ধা(ৎ)	রা	শ্রী(ঃ)	শ্রী(ঃ)	রা	ধা(ৎ)	সা
ধা(ৎ)	মা	কা	মা	মা	কা	মা	ধা(ৎ)
রা	কা	ধী	মা	মা	ধী	কা	রা
শ্রী(ঃ)	মা	মা	নে	নে	মা	মা	শ্রী(ঃ)
শ্রী(ঃ)	মা	মা	নে	নে	মা	মা	শ্রী(ঃ)
রা	কা	ধী	মা	মা	ধী	কা	রা
ধা(ৎ)	মা	কা	মা	মা	কা	মা	ধা(ৎ)
সা	ধা(ৎ)	রা	শ্রী(ঃ)	শ্রী(ঃ)	রা	ধা(ৎ)	সা

সাধারাশ্রীঃ শ্রীরাধা সা
ধামাকামা মা-কামাঽধাৎ।
রাকা ধীমা মাঽধীকারা
শ্রীমা মানেনেমামাশ্রীঃ ॥

(শ্রীমদলংকারকৌস্তুভে ৮৩তম-পৃষ্ঠে)

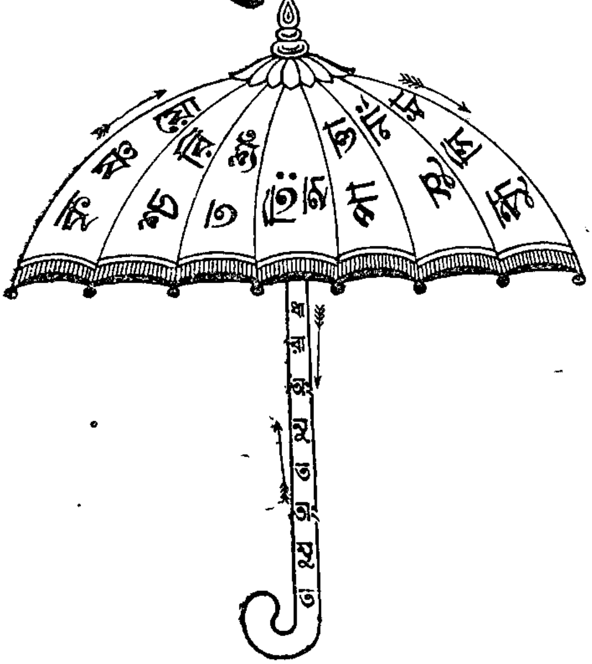
সর্ব্বতোভদ্রম্

ধা	রা	সা	র	র	সা	রা	ধা
রা	স	লা	স্ত	স্ত	লা	স	রা
সা	লা	কা	র	র	কা	লা	সা
র	স্ত	র	স্ত	স্ত	র	স্ত	র
র	স্ত	র	স্ত	স্ত	র	স্ত	র
সা	লা	কা	র	র	কা	লা	সা
রা	স	লা	স্ত	স্ত	লা	স	রা
ধা	রা	সা	র	র	সা	রা	ধা

ধারাঽসাররসা রাধা রাসলাস্তস্ত লাসরা।
সালাকার-রকালাসা রস্ত-রস্তস্ত রস্তর ॥

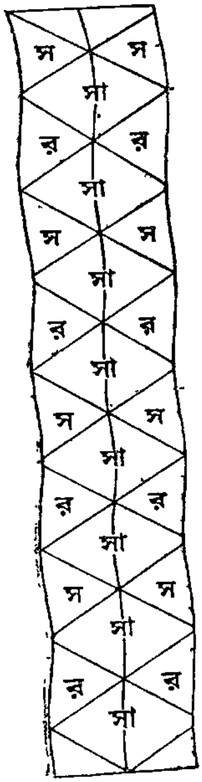
(শ্রীমদলঙ্কারকৌস্তুভে ৮৩তম-পৃষ্ঠে)

ছত্রবন্ধঃ



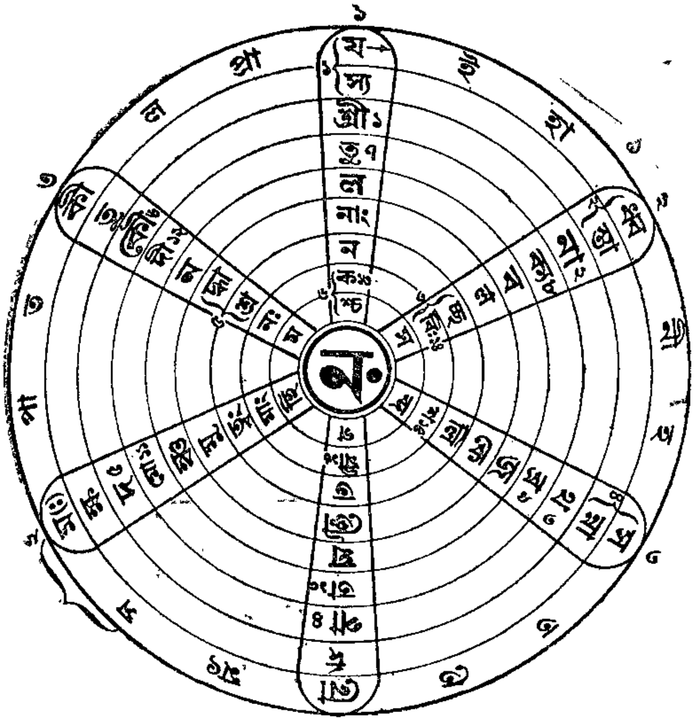
তনুতাং তনুতাং রাধাকৃষ্ণয়োশ্চরিতশ্রুতিঃ।
তৃষ্ণাপানাং সুধাসিন্ধুধারা তাং নু ততাং নুত॥
(শ্রীমদলঙ্কারকৌস্তুভে ৮৪তম-পৃষ্ঠে)

গোমূত্রিকাবন্ধঃ



সসার সা সসারসাঽঽস-সার-সাস-সারসা।
সসার সাসসার সা স সারসাস-সার-সা॥
(শ্রীমদলঙ্কারকৌস্তুভে ৮৪তম-পৃষ্ঠে)

চক্রবন্ধঃ



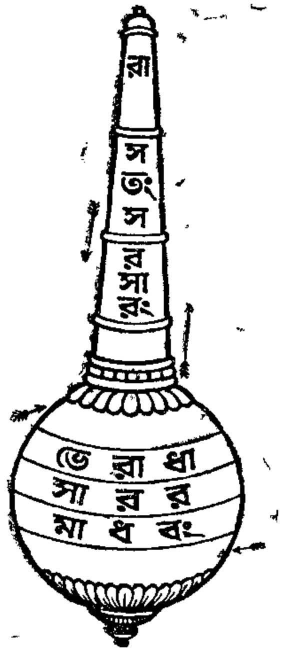
যস্য শ্রীতুলনাং ন কশ্চন গমী ভক্তৌঘ-তাপার্দনো
ধ্বস্তানাক্যবলচ্ছবিঃ স ন হি মাং ত্বং মুঞ্চ মোদক্ষম।
সন্নাথ ব্রজকেলিশব্দনমনঃ-শ্রদ্ধানদী-কৌতুকী
কীলপ্রায় ইহাধ্বনীহ সততে নো মৎসমঃ পাতকী ॥

অত্র—

শ্রীনাথপাদকৌতুক্যব্রতামোদী কবিঃ শমী।
যস্য ধ্বস্তাহচ্ছবিঃ সন্নাহশ্রদ্ধা কশ্চন মৎসমঃ ॥

(শ্রীমদলঙ্কারকৌস্তভে ৮৪তম-পৃষ্ঠে)

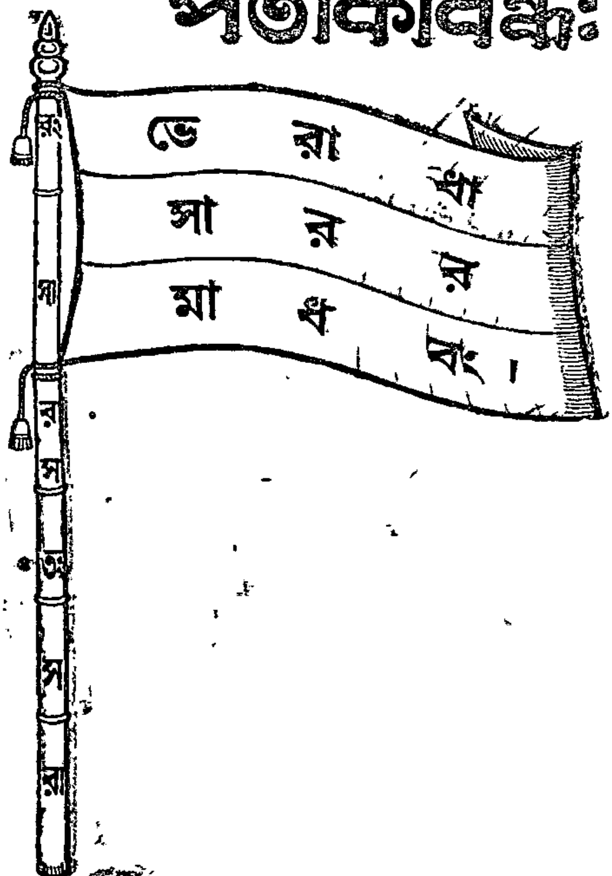
গদাবন্ধঃ



রাসতংসরসারম্ভে রাধা সাররমাধবম্।
[illegible]মার-রসাধারাভেহরং সাররসতংসরা ॥

(শ্রীমদলঙ্কারকৌস্তভে ৮৪তম-পৃষ্ঠে)

পতাকাবন্ধঃ



রাসভংসরসারম্ভে রাধা সাররমাধবম্ ।
বন্দমারে-রসাধারাংভেহরং সারসভংসরা ॥

(শ্রীমদলঙ্কারকৌস্তুভে ৮৪তম-পৃষ্ঠে)

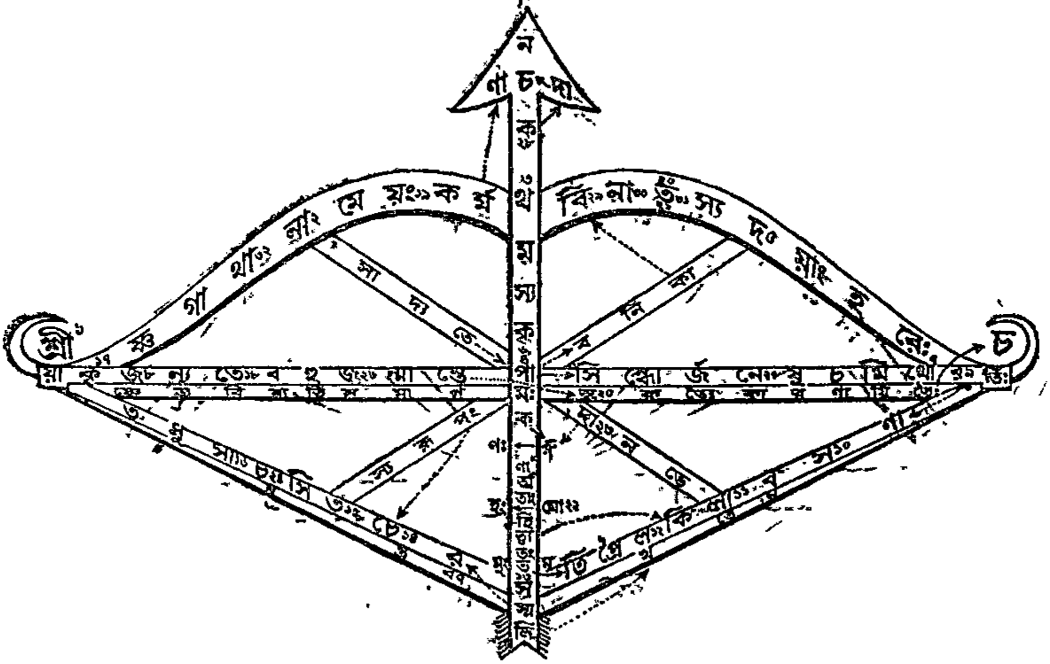
খড়্গাবন্ধঃ



রাধামাধবয়োঃ কেলিঃ শ্রুতিস্বচ্ছসুখদায়িকা ।
কামং তনোতু বঃ ক্ষেমং প্রেমানন্দৌঘনির্ভরা ॥
রাসারম্ভে নৃত্য-গীত-বাদিত্রাদি-মনোহরা ।
রাত্তস্তসারা সৌভাগ্যাহধরীকৃতপরাহপরা ॥

(শ্রীমদলঙ্কারকৌস্তুভে ৮৪তম-পৃষ্ঠে)

শার্ঙ্গবন্ধঃ *



শ্রীকৃষ্ণগাথা নামেয়ং কর্ম্মণা চ কদাচন। লীলাস্তুতে পাবনিকা বিনা তস্য দয়াং হরেঃ ॥
কথমস্তু কৃপাসিন্ধোর্জনেষু চ মিথো রতিঃ। জন্যতে বহুজন্মান্তে সুকৃতৈঃ কারণান্বিতৈঃ ॥
চরণাম্বুজলাভেন দারুণঃ করুণাম্বুভাক্। মোহং হিত্বা কিল প্রৈতি তমমুং সততং স্মর ॥
তস্য রূপং চেতসি চ মন্ত্রবৎ সততং লিখ। তেন সাধুতয়া কৃষ্ণে ভবিষ্যতি সমাগমঃ ॥

এষু—

শ্রীনাথপ্যারপাথোজ-রসলালসচেতসা। কৃতেয়ং ভক্তমোদা চ সুজনে কবিনা তথা ॥

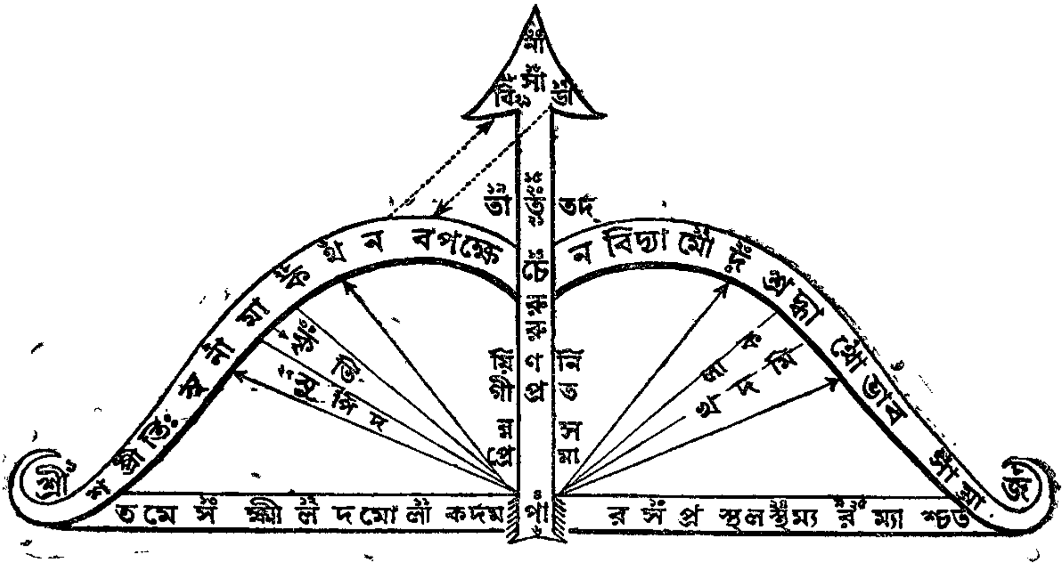
ইতি শ্লোকান্তরম্

(শ্রীমদলঙ্কারকৌস্তুভে ৮৪তম-পৃষ্ঠে)

---

* শার্ঙ্গবন্ধোহয়ং ভট্টপল্লীবাস্তব্যেন পণ্ডিতপ্রবরেণ এম্ এ ন্যায়তীর্থোপাহ্বয়েন শ্রীজীবদেবশর্ম্মণা রেখাভিরঙ্কিত-বিন্যাসেন সমুদ্ধৃতঃ, তদনুজ্ঞয়া সৌজন্যেন চ মুদ্রিতঃ।

শার্ঙ্গবন্ধঃ *



শ্রীশপ্রীতিঃ স্বনামাকৃতি-কথনবিনাভাব-পক্ষে ন বিদ্যা-
ঽঽমোদশ্রদ্ধাকলাপাদপি সুখদমিথোভাব-সাম্রাজতশ্চ ।
রম্যা রম্যস্থলম্ব-প্রসরযদকলামোদ-লক্ষ্মী-সমেত-
প্রেমাসম্ন-প্রগীত-প্রণয়িনি রুরুচে তাত তদ্ভা বিসাভা ॥

অত্র চ—

শ্রীনাথপাদপাথোজ-রসলালসচেতসা ।
ভাষিতা ভক্তমোদস্বরসা সুকবিনা কৃতিঃ ॥

ইতি শ্লোকার্থরম্ ।

(শ্রীমদলঙ্কারকৌস্তুভে ৮৪-৮৫তম-পৃষ্ঠয়োঃ)

---

* শার্ঙ্গবন্ধোঽয়ং ভট্টপল্লীবাস্তব্যেন পণ্ডিতপ্রবরেণ এম্.এ ন্যায়তীর্থোপাহ্বয়েন শ্রীজীবদেবশর্ম্মণা রেখাভিরক্ষর-বিন্যাসৈশ্চ সমুট্টঙ্কিতঃ, তদনুজ্ঞয়া যোজয়িত্বেন চ মুদ্রিতঃ ।